"અહો ! શ્રુતજ્ઞાનમ્" ગ્રંથ જીર્ણોદ્ધાર ૨૧૬

વ્યાકરણ

સિદ્ધહેમશબ્દાનુશાસન લઘુ વિવરણ ભાગ-૨

: દ્રવ્ય સહાયક :

પૂ. શાસનસમ્રાટ નેમીસૂરીશ્વરજી સમુદાયના
પૂ. આ. શ્રી શીલચંદ્રસૂરિજી મ.સા.ની પ્રેરણાથી
શ્રી મહુવા શ્વે. તપા. જૈન સંઘ
જ્ઞાનખાતાની ઉપજમાંથી

: સંયોજક :

શાહ બાબુલાલ સરેમલ બેડાવાળા
શ્રી આશાપૂરણ પાર્શ્વનાથ જૈન જ્ઞાનભંડાર
શા. વિમળાબેન સરેમલ જવેરચંદજી બેડાવાળા ભવન
હીરાજૈન સોસાયટી, સાબરમતી, અમદાવાદ-૫
(મો.) 9426585904 (ઓ.) 22132543

સંવત ૨૦૭૨ ઈ. ૨૦૧૬

श्री आशापूरण पार्श्वनाथ जैन ज्ञानभंडार

संयोजक – शाह बाबुलाल सरेमल - (मो.) 9426585904 (ओ.) 22132543 - ahoshrut.bs@gmail.com
शाह वीमळाबेन सरेमल जवेरचंदजी बेडावाळा भवन
हीराजैन सोसायटी, रामनगर, साबरमती, अमदावाद-05.

अहो श्रुतज्ञानम् ग्रंथ जीर्णोद्धार – संवत २०६५ (ई. 2009) सेट नं.-१

प्रायः अप्राप्य प्राचीन पुस्तकों की स्केन डीवीडी बनाई उसकी सूची। *यह पुस्तके www.ahoshrut.org वेबसाइट से भी डाउनलोड कर सकते हैं।*

ક્રમાંક	પુસ્તકનું નામ	કર્ત્તા-ટીકાકાર-સંપાદક	પૃષ્ઠ
001	श्री नंदीसूत्र अवचूरी	पू. विक्रमसूरिजी म.सा.	238
002	श्री उत्तराध्ययन सूत्र चूर्णी	पू. जिनदासगणि चूर्णीकार	286
003	श्री अर्हद्गीता-भगवद्गीता	पू. मेघविजयजी गणि म.सा.	84
004	श्री अर्हच्चूडामणि सारसटीकः	पू. भद्रबाहुस्वामी म.सा.	18
005	श्री यूक्ति प्रकाशसूत्रं	पू. पद्मसागरजी गणि म.सा.	48
006	श्री मानतुङ्गशास्त्रम्	पू. मानतुंगविजयजी म.सा.	54
007	अपराजितपृच्छा	श्री बी. भट्टाचार्य	810
008	शिल्प स्मृति वास्तु विद्यायाम्	श्री नंदलाल चुनिलाल सोमपुरा	850
009	शिल्परत्नम् भाग-१	श्रीकुमार के. सभात्सव शास्त्री	322
010	शिल्परत्नम् भाग-२	श्रीकुमार के. सभात्सव शास्त्री	280
011	प्रासादतिलक	श्री प्रभाशंकर ओघडभाई	162
012	काश्यशिल्पम्	श्री विनायक गणेश आपटे	302
013	प्रासादमञ्जरी	श्री प्रभाशंकर ओघडभाई	156
014	राजवल्लभ याने शिल्पशास्त्र	श्री नारायण भारती गोंसाई	352
015	शिल्पदीपक	श्री गंगाधरजी प्रणीत	120
016	वास्तुसार	श्री प्रभाशंकर ओघडभाई	88
017	दीपार्णव उत्तरार्ध	श्री प्रभाशंकर ओघडभाई	110
018	જિનપ્રાસાદ માર્તણ્ડ	શ્રી નંદલાલ ચુનીલાલ સોમપુરા	498
019	जैन ग्रंथावली	श्री जैन श्वेताम्बर कोन्फ्रन्स	502
020	હીરકલશ જૈન જ્યોતિષ	શ્રી હિમ્મતરામ મહાશંકર જાની	454
021	न्यायप्रवेशः भाग-१	श्री आनंदशंकर बी. ध्रुव	226
022	दीपार्णव पूर्वार्ध	श्री प्रभाशंकर ओघडभाई	640
023	अनेकान्त जयपताकाख्यं भाग-१	पू. मुनिचंद्रसूरिजी म.सा.	452
024	अनेकान्त जयपताकाख्यं भाग-२	श्री एच. आर. कापडीआ	500
025	प्राकृत व्याकरण भाषांतर सह	श्री बेचरदास जीवराज दोशी	454
026	तत्त्पोपप्लवसिंहः	श्री जयराशी भट्ट, बी. भट्टाचार्य	188
027	शक्तिवादादर्शः	श्री सुदर्शनाचार्य शास्त्री	214
028	क्षीरार्णव	श्री प्रभाशंकर ओघडभाई	414
029	वेधवास्तु प्रभाकर	श्री प्रभाशंकर ओघडभाई	192

030	**शिल्परत्नाकर**	**श्री नर्मदाशंकर शास्त्री**	**824**
031	**प्रासाद मंडन**	**पं. भगवानदास जैन**	**288**
032	**श्री सिद्धहेम बृहद्वृत्ति बृहन्न्यास अध्याय-१**	**पू. लावण्यसूरिजी म.सा.**	**520**
033	**श्री सिद्धहेम बृहद्वृत्ति बृहन्न्यास अध्याय-२**	**पू. लावण्यसूरिजी म.सा.**	**578**
034	**श्री सिद्धहेम बृहद्वृत्ति बृहन्न्यास अध्याय-३ (१)**	**पू. लावण्यसूरिजी म.सा.**	**278**
035	**श्री सिद्धहेम बृहद्वृत्ति बृहन्न्यास अध्याय-3 (२) (३)**	**पू. लावण्यसूरिजी म.सा.**	**252**
036	**श्री सिद्धहेम बृहद्वृत्ति बृहन्न्यास अध्याय-५**	**पू. लावण्यसूरिजी म.सा.**	**324**
037	વાસ્તુનિઘંટુ	પ્રભાશંકર ઓઘડભાઈ સોમપુરા	302
038	તિલકમઞ્જરી ભાગ-૧	પૂ. લાવણ્યસૂરિજી	196
039	તિલકમઞ્જરી ભાગ-૨	પૂ. લાવણ્યસૂરિજી	190
040	તિલકમઞ્જરી ભાગ-૩	પૂ. લાવણ્યસૂરિજી	202
041	સપ્તસન્ધાન મહાકાવ્યમ્	પૂ. વિજયઅમૃતસૂરિશ્વરજી	480
042	સપ્તભઙ્ગીમિમાંસા	પૂ. પં. શિવાનન્દવિજયજી	228
043	ન્યાયાવતાર	સતિષચંદ્ર વિદ્યાભૂષણ	60
044	વ્યુત્પત્તિવાદ ગુઢાર્થતત્ત્વાલોક	શ્રી ધર્મદત્તસૂરિ (બચ્છા ઝા)	218
045	સામાન્યનિર્યુક્તિ ગુઢાર્થતત્ત્વાલોક	શ્રી ધર્મદત્તસૂરિ (બચ્છા ઝા)	190
046	સપ્તભઙ્ગીનયપ્રદીપ બાલબોધિનીવિવૃત્તિઃ	પૂ. લાવણ્યસૂરિજી	138
047	વ્યુત્પત્તિવાદ શાસ્ત્રાર્થકલા ટીકા	શ્રીવેણીમાધવ શાસ્ત્રી	296
048	નયોપદેશ ભાગ-૧ તરઙ્ગિણીતરણી	પૂ. લાવણ્યસૂરિજી	210
049	નયોપદેશ ભાગ-૨ તરઙ્ગિણીતરણી	પૂ. લાવણ્યસૂરિજી	274
050	ન્યાયસમુચ્ચય	પૂ. લાવણ્યસૂરિજી	286
051	સ્યાદ્યાર્થપ્રકાશઃ	પૂ. લાવણ્યસૂરિજી	216
052	દિન શુદ્ધિ પ્રકરણ	પૂ. દર્શનવિજયજી	532
053	બૃહદ્ ધારણા યંત્ર	પૂ. દર્શનવિજયજી	113
054	જ્યોતિર્મહોદય	સં. પૂ. અક્ષયવિજયજી	112

શ્રી આશાપૂરણ પાર્શ્વનાથ જૈન જ્ઞાનભંડાર

સંયોજક – બાબુલાલ સરેમલ શાહ

શાહ વીમળાબેન સરેમલ જવેરચંદજી બેડાવાળા ભવન

હીરાજૈન સોસાયટી, રામનગર, સાબરમતી, અમદાવાદ-૦૫.

(મો.) ૯૪૨૬૫૮૫૯૦૪ (ઓ) ૨૨૧૩૨૫૪૩ (ઇ-મેલ) ahoshrut.bs@gmail.com

અહો શ્રુતજ્ઞાનમ્ ગ્રંથ જીર્ણોદ્ધાર – સંવત ૨૦૬૬ (ઈ. ૨૦૧૦) – સેટ નં-૨

પ્રાયઃ જીર્ણ અપ્રાપ્ય પુસ્તકોને સ્કેન કરાવીને ડી.વી.ડી. બનાવી તેની યાદી.

આ પુસ્તકો www.ahoshrut.org વેબસાઇટ પરથી પણ ડાઉનલોડ કરી શકાશે.

ક્રમ	પુસ્તકનું નામ	ભાષા	કર્તા-ટીકાકાર-સંપાદક	પૃષ્ઠ
055	श्री सिद्धहेम बृहद्वृत्ति बृहद्न्यास अध्याय-६	सं	पू. लावण्यसूरिजी म.सा.	296
056	विविध तीर्थ कल्प	सं	पू. जिनविजयजी म.सा.	160
057	ભારતીય જૈન શ્રમણ સંસ્કૃતિ અને લેખનકળા	ગુજ.	पू. पूण्यविजयजी म.सा.	164
058	सिद्धान्तलक्षणगूढार्थ तत्त्वलोकः	सं	श्री धर्मदत्तसूरि	202
059	व्याप्ति पञ्चक विवृत्ति टीका	सं	श्री धर्मदत्तसूरि	48
060	જૈન સંગીત રાગમાળા	ગુ.	श्री मांगरोळ जैन संगीत मंडळी	306
061	चतुर्विंशतीप्रबन्ध (प्रबंध कोश)	सं	श्री रसिकलाल एच. कापडीआ	322
062	व्युत्पत्तिवाद आदर्श व्याख्यया संपूर्ण ६ अध्याय	सं	श्री सुदर्शनाचार्य	668
063	चन्द्रप्रभा हेमकौमुदी	सं	पू. मेघविजयजी गणि	516
064	विवेक विलास	सं/ગુ.	श्री दामोदर गोविंदाचार्य	268
065	पञ्चशती प्रबोध प्रबंध	सं	पू. मृगेन्द्रविजयजी म.सा.	456
066	सन्मतितत्त्वसोपानम्	सं	पू. लब्धिसूरिजी म.सा.	420
067	ઉપદેશમાલા દોઘટ્ટી ટીકા ગુર્જરાનુવાદ	ગુજ.	पू. हेमसागरसूरिजी म.सा.	638
068	मोहराजापराजयम्	सं	पू. चतुरविजयजी म.सा.	192
069	क्रियाकोश	सं/हिं	श्री मोहनलाल बांठिया	428
070	कालिकाचार्यकथासंग्रह	सं/ગુ.	श्री अंबालाल प्रेमचंद	406
071	सामान्यनिरुक्ति चंद्रकला कलाविलास टीका	सं.	श्री वामाचरण भट्टाचार्य	308
072	जन्मसमुद्रजातक	सं/हिं	श्री भगवानदास जैन	128
073	मेघमहोदय वर्षप्रबोध	सं/हिं	श्री भगवानदास जैन	532
074	જૈન સામુદ્રિકનાં પાંચ ગ્રંથો	ગુજ.	श्री हिम्मतराम महाशंकर जानी	376

075	જૈન ચિત્ર કલ્પદ્રૂમ ભાગ-૧	ગુજ.	**श्री साराभाई नवाब**	**374**
076	જૈન ચિત્ર કલ્પદ્રૂમ ભાગ-૨	ગુજ.	**श्री साराभाई नवाब**	**238**
077	સંગીત નાટ્ય રૂપાવલી	ગુજ.	**श्री विद्या साराभाई नवाब**	**194**
078	ભારતનાં જૈન તીર્થો અને તેનું શિલ્પસ્થાપત્ય	ગુજ.	**श्री साराभाई नवाब**	**192**
079	શિલ્પ ચિન્તામણિ ભાગ-૧	ગુજ.	**श्री मनसुखलाल भुदरमल**	**254**
080	બૃહદ્ શિલ્પ શાસ્ત્ર ભાગ-૧	ગુજ.	**श्री जगन्नाथ अंबाराम**	**260**
081	બૃહદ્ શિલ્પ શાસ્ત્ર ભાગ-૨	ગુજ.	**श्री जगन्नाथ अंबाराम**	**238**
082	બૃહદ્ શિલ્પ શાસ્ત્ર ભાગ-૩	ગુજ.	**श्री जगन्नाथ अंबाराम**	**260**
083	આયુર્વેદના અનુભૂત પ્રયોગો ભાગ-૧	ગુજ.	**पू. कान्तिसागरजी**	**114**
084	કલ્યાણ કારક	ગુજ.	**श्री वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री**	**910**
085	**विश्वलोचन कोश**	**सं./हिं**	**श्री नंदलाल शर्मा**	**436**
086	કથા રત્ન કોશ ભાગ-1	ગુજ.	**श्री बेचरदास जीवराज दोशी**	**336**
087	કથા રત્ન કોશ ભાગ-2	ગુજ.	**श्री बेचरदास जीवराज दोशी**	**230**
088	હસ્તસઞ્જીવનમ્	સં.	**पू. मेघविजयजीगणि**	**322**
089	એન્દ્રચતુર્વિંશતિકા	સં.	**पू.यशोविजयजी, पू. पुण्यविजयजी**	**114**
090	સમ્મતિ તર્ક મહાર્ણવાવતારિકા	સં.	**आचार्य श्री विजयदर्शनसूरिजी**	**560**

श्री आशापूरण पार्श्वनाथ जैन ज्ञानभंडार

संयोजक – शाह बाबुलाल सरेमल - (मो.) 9426585904 (ओ.) 22132543 - ahoshrut.bs@gmail.com
शाह वीमळाबेन सरेमल जवेरचंदजी बेडावाळा भवन
हीराजैन सोसायटी, रामनगर, साबरमती, अमदावाद-05.

अहो श्रुतज्ञानम् ग्रंथ जीर्णोद्धार – संवत २०६७ (ई. 2011) सेट नं.-३

प्रायः अप्राप्य प्राचीन पुस्तकों की स्केन डीवीडी बनाई उसकी सूची। *यह पुस्तके www.ahoshrut.org वेबसाइट से भी डाउनलोड कर सकते हैं।*

क्रम	पुस्तक नाम	कर्त्ता / टीकाकार	भाषा	संपादक / प्रकाशक	पृष्ठ
91	स्याद्वाद रत्नाकर भाग-१	वादिदेवसूरिजी	सं.	मोतीलाल लाघाजी पुना	272
92	स्याद्वाद रत्नाकर भाग-२	वादिदेवसूरिजी	सं.	मोतीलाल लाघाजी पुना	240
93	स्याद्वाद रत्नाकर भाग-३	वादिदेवसूरिजी	सं.	मोतीलाल लाघाजी पुना	254
94	स्याद्वाद रत्नाकर भाग-४	वादिदेवसूरिजी	सं.	मोतीलाल लाघाजी पुना	282
95	स्याद्वाद रत्नाकर भाग-५	वादिदेवसूरिजी	सं.	मोतीलाल लाघाजी पुना	118
96	पवित्र कल्पसूत्र	पुण्यविजयजी	सं./अं	साराभाई नवाब	466
97	समराङ्गण सूत्रधार भाग-१	भोजदेव	सं.	टी. गणपति शास्त्री	342
98	समराङ्गण सूत्रधार भाग-२	भोजदेव	सं.	टी. गणपति शास्त्री	362
99	भुवनदीपक	पद्मप्रभसूरिजी	सं.	वेंकटेश प्रेस	134
100	गाथासहस्त्री	समयसुंदरजी	सं.	सुखलालजी	70
101	भारतीय प्राचीन लिपीमाला	गौरीशंकर ओझा	हिन्दी	मुन्शीराम मनोहरराम	316
102	शब्दरत्नाकर	साधुसुन्दरजी	सं.	हरगोविन्ददास बेचरदास	224
103	सुबोधवाणी प्रकाश	न्यायविजयजी	सं./गु	हेमचंद्राचार्य जैन सभा	612
104	लघु प्रबंध संग्रह	जयंत पी. ठाकर	सं.	ओरीएन्ट इन्स्टीट्युट बरोडा	307
105	जैन स्तोत्र संचय-१-२-३	माणिक्यसागरसूरिजी	सं,	आगमोद्धारक सभा	250
106	सन्मति तर्क प्रकरण भाग-१,२,३	सिद्धसेन दिवाकर	सं.	सुखलाल संघवी	514
107	सन्मति तर्क प्रकरण भाग-४,५	सिद्धसेन दिवाकर	सं.	सुखलाल संघवी	454
108	न्यायसार – न्यायतात्पर्यदीपिका	सतिषचंद्र विद्याभूषण	सं.	एसियाटीक सोसायटी	354
109	जैन लेख संग्रह भाग-१	पुरणचंद्र नाहर	सं./हि	पुरणचंद्र नाहर	337
110	जैन लेख संग्रह भाग-२	पुरणचंद्र नाहर	सं./हि	पुरणचंद्र नाहर	354
111	जैन लेख संग्रह भाग-३	पुरणचंद्र नाहर	सं./हि	पुरणचंद्र नाहर	372
112	जैन धातु प्रतिमा लेख भाग-१	कांतिविजयजी	सं./हि	जिनदत्तसूरि ज्ञानभंडार	142
113	जैन प्रतिमा लेख संग्रह	दौलतसिंह लोढा	सं./हि	अरविन्द धामणिया	336
114	राधनपुर प्रतिमा लेख संदोह	विशालविजयजी	सं./गु	यशोविजयजी ग्रंथमाळा	364
115	प्राचिन लेख संग्रह-१	विजयधर्मसूरिजी	सं./गु	यशोविजयजी ग्रंथमाळा	218
116	बीकानेर जैन लेख संग्रह	अगरचंद नाहटा	सं./हि	नाहटा ब्रधर्स	656
117	प्राचीन जैन लेख संग्रह भाग-१	जिनविजयजी	सं./हि	जैन आत्मानंद सभा	122
118	प्राचिन जैन लेख संग्रह भाग-२	जिनविजयजी	सं./हि	जैन आत्मानंद सभा	764
119	गुजरातना ऐतिहासिक लेखो-१	गिरजाशंकर शास्त्री	सं./गु	फार्बस गुजराती सभा	404
120	गुजरातना ऐतिहासिक लेखो-२	गिरजाशंकर शास्त्री	सं./गु	फार्बस गुजराती सभा	404
121	गुजरातना ऐतिहासिक लेखो-३	गिरजाशंकर शास्त्री	सं./गु	फार्बस गुजराती सभा	540
122	ऑपरेशन इन सर्च ऑफ संस्कृत मेन्यु. इन मुंबई सर्कल-१	पी. पीटरसन	अं.	रॉयल एशियाटीक जर्नल	274
123	ऑपरेशन इन सर्च ऑफ संस्कृत मेन्यु. इन मुंबई सर्कल-४	पी. पीटरसन	अं.	रॉयल एशियाटीक जर्नल	414
124	ऑपरेशन इन सर्च ऑफ संस्कृत मेन्यु. इन मुंबई सर्कल-५	पी. पीटरसन	अं.	रॉयल एशियाटीक जर्नल	400
125	कलेक्शन ऑफ प्राकृत एन्ड संस्कृत इन्स्क्रीप्शन्स	पी. पीटरसन	अं.	भावनगर आर्चीऑलॉजीकल डिपा.	320
126	विजयदेव माहात्म्यम्	जिनविजयजी	सं.	जैन सत्य संशोधक	148

श्री आशापूरण पार्श्वनाथ जैन ज्ञानभंडार

संयोजक – शाह बाबुलाल सरेमल - (मो.) 9426585904 (ओ.) 22132543 - ahoshrut.bs@gmail.com

शाह वीमळाबेन सरेमल जवेरचंदजी बेडावाळा भवन

हीराजैन सोसायटी, रामनगर, साबरमती, अमदावाद-05.

अहो श्रुतज्ञानम् ग्रंथ जीर्णोद्धार – संवत २०६८ (ई. 2012) सेट नं.-४

प्रायः अप्राप्य प्राचीन पुस्तकों की स्केन डीवीडी बनाई उसकी सूची। *यह पुस्तके www.ahoshrut.org वेबसाइट से भी डाउनलोड कर सकते हैं।*

क्रम	पुस्तक नाम	कर्त्ता / संपादक	भाषा	प्रकाशक	पृष्ठ
127	महाप्रभाविक नवस्मरण	साराभाई नवाब	गुज.	साराभाई नवाब	754
128	जैन चित्र कल्पलता	साराभाई नवाब	गुज.	साराभाई नवाब	84
129	जैन धर्मनो प्राचीन इतिहास भाग-२	हीरालाल हंसराज	गुज.	हीरालाल हंसराज	194
130	ओपरेशन इन सर्च ओफ सं. मेन्यु. भाग-६	पी. पीटरसन	अंग्रेजी	एशियाटीक सोसायटी	171
131	जैन गणित विचार	कुंवरजी आणंदजी	गुज.	जैन धर्म प्रसारक सभा	90
132	दैवज्ञ कामधेनु (प्राचिन ज्योतिष ग्रंथ)	शील खंड	सं.	ब्रज. बी. दास बनारस	310
133	करण प्रकाशः	ब्रह्मदेव	सं./अं.	सुधाकर द्विवेदि	276
134	न्यायविशारद महो. यशोविजयजी स्वहस्तलिखित कृति संग्रह	यशोदेवसूरिजी	गुज.	यशोभारती प्रकाशन	69
135	भौगोलिक कोश-१	डाह्याभाई पीतांबरदास	गुज.	गुजरात वर्नाक्युलर सोसायटी	100
136	भौगोलिक कोश-२	डाह्याभाई पीतांबरदास	गुज.	गुजरात वर्नाक्युलर सोसायटी	136
137	जैन साहित्य संशोधक वर्ष-१ अंक-१, २	जिनविजयजी	हिन्दी	जैन साहित्य संशोधक पुना	266
138	जैन साहित्य संशोधक वर्ष-१ अंक-३, ४	जिनविजयजी	हिन्दी	जैन साहित्य संशोधक पुना	244
139	जैन साहित्य संशोधक वर्ष-२ अंक-१, २	जिनविजयजी	हिन्दी	जैन साहित्य संशोधक पुना	274
140	जैन साहित्य संशोधक वर्ष-२ अंक-३, ४	जिनविजयजी	हिन्दी	जैन साहित्य संशोधक पुना	168
141	जैन साहित्य संशोधक वर्ष-३ अंक-१, २	जिनविजयजी	हिन्दी	जैन साहित्य संशोधक पुना	282
142	जैन साहित्य संशोधक वर्ष-३ अंक-३, ४	जिनविजयजी	हिन्दी	जैन साहित्य संशोधक पुना	182
143	नवपदोनी आनुपूर्वी भाग-१	सोमविजयजी	गुज.	शाह बाबुलाल सवचंद	384
144	नवपदोनी आनुपूर्वी भाग-२	सोमविजयजी	गुज.	शाह बाबुलाल सवचंद	376
145	नवपदोनी आनुपूर्वी भाग-३	सोमविजयजी	गुज.	शाह बाबुलाल सवचंद	387
146	भाषवति	शतानंद मारछता	सं./हि	एच.बी. गुप्ता एन्ड सन्स बनारस	174
147	जैन सिद्धांत कौमुदी (अर्धमागधी व्याकरण)	रत्नचंद्र स्वामी	प्रा./सं.	भैरोदान सेठीया	320
148	मंत्रराज गुणकल्प महोदधि	जयदयाल शर्मा	हिन्दी	जयदयाल शर्मा	286
149	फक्कीका रत्नमंजूषा-१, २	कनकलाल ठाकूर	सं.	हरिकृष्ण निबंध	272
150	अनुभूत सिद्ध विशायंत्र (छ कल्प संग्रह)	मेघविजयजी	सं./गुज	महावीर ग्रंथमाळा	142
151	सारावलि	कल्याण वर्धन	सं.	पांडुरंग जीवाजी	260
152	ज्योतिष सिद्धांत संग्रह	विश्वेश्वरप्रसाद द्विवेदी	सं.	ब्रीजभूषणदास बनारस	232
153	ज्ञान प्रदीपिका तथा सामुद्रिक शास्त्रम्	रामव्यास पान्डेय	सं.	जैन सिद्धांत भवन	160
	नूतन संकलन				
१	आ. चंद्रसागरसूरिजी ज्ञानभंडार – उज्जैन	हस्तप्रत सूचीपत्र	हिन्दी	श्री आशापुरण पार्श्वनाथ जैन ज्ञानभंडार	
२	श्री गुजराती श्वे.मू. जैन संघ-हस्तप्रत भंडार – कलकत्ता	हस्तप्रत सूचीपत्र	हिन्दी	श्री आशापुरण पार्श्वनाथ जैन ज्ञानभंडार	

श्री आशापूरण पार्श्वनाथ जैन ज्ञानभंडार

संयोजक – शाह बाबुलाल सरेमल - (मो.) 9426585904 (ओ.) 22132543 - ahoshrut.bs@gmail.com

शाह वीमळाबेन सरेमल जवेरचंदजी बेडावाळा भवन

हीराजैन सोसायटी, रामनगर, साबरमती, अमदावाद-05.

अहो श्रुतज्ञानम् ग्रंथ जीर्णोद्धार – संवत २०६९ (ई. 2013) सेट नं.-५

प्रायः अप्राप्य प्राचीन पुस्तकों की स्केन डीवीडी बनाई उसकी सूची। *यह पुस्तके www.ahoshrut.org वेबसाइट से भी डाउनलोड कर सकते हैं।*

क्रम	पुस्तक नाम	कर्त्ता / संपादक	विषय	भाषा	संपादक / प्रकाशक	पृष्ठ
154	उणादि सूत्रो ओफ हेमचंद्राचार्य	पू. हेमचंद्राचार्य	व्याकरण	संस्कृत	जोहन क्रिष्टे	304
155	उणादि गण विवृत्ति	पू. हेमचंद्राचार्य	व्याकरण	संस्कृत	पू. मनोहरविजयजी	122
156	प्राकृत प्रकाश-सटीक	भामाह	व्याकरण	प्राकृत	जय कृष्णदास गुप्ता	208
157	द्रव्य परिक्षा और धातु उत्पत्ति	ठक्कर फेरू	धातु	संस्कृत /हिन्दी	भंवरलाल नाहटा	70
158	आरम्भसिध्धि – सटीक	पू. उदयप्रभदेवसूरिजी	ज्योतीष	संस्कृत	पू. जितेन्द्रविजयजी	310
159	खंडहरो का वैभव	पू. कान्तीसागरजी	शील्प	हिन्दी	भारतीय ज्ञानपीठ	462
160	बालभारत	पू. अमरचंद्रसूरिजी	काव्य	संस्कृत	पं. शीवदत्त	512
161	गिरनार माहात्म्य	दौलतचंद परषोत्तमदास	तीर्थ	संस्कृत /गुजराती	जैन पत्र	264
162	गिरनार गल्प	पू. ललितविजयजी	तीर्थ	संस्कृत/गुजराती	हंसकविजय फ्री लायब्रेरी	144
163	प्रश्नोत्तर सार्ध शतक	पू. क्षमाकल्याणविजयजी	प्रकरण	हिन्दी	साध्वीजी विचक्षणाश्रीजी	256
164	भारतिय संपादन शास्त्र	मूलराज जैन	साहित्य	हिन्दी	जैन विद्याभवन, लाहोर	75
165	विभक्त्यर्थ निर्णय	गिरिधर झा	न्याय	संस्कृत	चौखम्बा प्रकाशन	488
166	व्योम वती-१	शिवाचार्य	न्याय	संस्कृत	संपूर्णानंद संस्कृत युनिवर्सिटी	226
167	व्योम वती-२	शिवाचार्य	न्याय	संस्कृत	संपूर्णानंद संस्कृत विद्यालय	365
168	जैन न्यायखंड खाद्यम्	उपा. यशोविजयजी	न्याय	संस्कृत /हिन्दी	बद्रीनाथ शुक्ल	190
169	हरितकाव्यादि निघंटू	भाव मिश्र	आयुर्वेद	संस्कृत /हिन्दी	शीव शर्मा	480
170	योग चिंतामणि-सटीक	पू. हर्षकीर्तिसूरिजी	आयुर्वेद	संस्कृत /हिन्दी	लक्ष्मी वेंकटेश प्रेस	352
171	वसंतराज शकुनम्	पू. भानुचन्द्र गणि टीका	ज्योतिष	संस्कृत	खेमराज कृष्णदास	596
172	महाविद्या विडंबना	पू. भुवनसुन्दरसूरि टीका	ज्योतिष	संस्कृत	सेन्ट्रल लायब्रेरी	250
173	ज्योतिर्निबन्ध	शिवराज	ज्योतिष	संस्कृत	आनंद आश्रम	391
174	मेघमाला विचार	पू. विजयप्रभसूरिजी	ज्योतिष	संस्कृत/गुजराती	मेघजी हीरजी	114
175	मुहूर्त चिंतामणि-सटीक	रामकृत प्रमिताक्षय टीका	ज्योतिष	संस्कृत	अनूप मिश्र	238
176	मानसोल्लास सटीक-१	भुलाकमल्ल सोमेश्वर	ज्योतिष	संस्कृत	ओरिएन्ट इन्स्टीट्यूट	166
177	मानसोल्लास सटीक-२	भुलाकमल्ल सोमेश्वर	ज्योतिष	संस्कृत	ओरिएन्ट इन्स्टीट्यूट	368
178	ज्योतिष सार प्राकृत	भगवानदास जैन	ज्योतिष	प्राकृत/हिन्दी	भगवानदास जैन	88
179	मुहूर्त संग्रह	अंबालाल शर्मा	ज्योतिष	गुजराती	शास्त्री जगन्नाथ परशुराम द्विवेदी	356
180	हिन्दु एस्ट्रोलोजी	पिताम्बरदास त्रीभोवनदास	ज्योतिष	गुजराती	पिताम्बरदास टी. महेता	168

श्री आशापूरण पार्श्वनाथ जैन ज्ञानभंडार

संयोजक – शाह बाबुलाल सरेमल - (मो.) 9426585904 (ओ.) 22132543. E-mail : ahoshrut.bs@gmail.com
शाह विमळाबेन सरेमल जवेरचंदजी बेडावाळा भवन
हीराजैन सोसायटी, रामनगर, साबरमती, अमदावाद-380005.

अहो श्रुतज्ञानम् ग्रंथ जीर्णोद्धार – संवत २०७१ (ई. 2015) सेट नं.-६

प्रायः अप्राप्य प्राचीन पुस्तकों की डिजिटाइझेशन द्वारा डीवीडी बनाई उसकी सूची।
यह पुस्तके www.ahoshrut.org वेबसाइट से भी डाउनलोड कर सकते हैं।

क्रम	पुस्तक नाम	कर्त्ता / टिकाकार	विषय	भाषा	संपादक / प्रकाशक	पृष्ठ
181	काव्यप्रकाश भाग-१	पूज्य मम्मटाचार्य कृत		संस्कृत	पूज्य जिनविजयजी	364
182	काव्यप्रकाश भाग-२	पूज्य मम्मटाचार्य कृत		संस्कृत	पूज्य जिनविजयजी	222
183	काव्यप्रकाश उल्लास-२ अने ३	उपा. यशोविजयजी		संस्कृत	यशोभारति जैन प्रकाशन समिति	330
184	नृत्यरत्न कोश भाग-१	श्री कुम्भकर्ण नृपति		संस्कृत	श्री रसीकलाल छोटालाल	156
185	नृत्यरत्न कोश भाग-२	श्री कुम्भकर्ण नृपति		संस्कृत	श्री रसीकलाल छोटालाल	248
186	नृत्याध्याय	श्री अशोकमलजी		संस्कृत /हिन्दी	श्री वाचस्पति गैरोभा	504
187	संगीरत्नाकर भाग-१ सटीक	श्री सारंगदेव		संस्कृत/अंग्रेजी	श्री सुब्रमण्यम शास्त्री	448
188	संगीरत्नाकर भाग-२ सटीक	श्री सारंगदेव		संस्कृत/अंग्रेजी	श्री सुब्रमण्यम शास्त्री	444
189	संगीरत्नाकर भाग-३ सटीक	श्री सारंगदेव		संस्कृत/अंग्रेजी	श्री सुब्रमण्यम शास्त्री	616
190	संगीरत्नाकर भाग-४ सटीक	श्री सारंगदेव		संस्कृत/अंग्रेजी	श्री सुब्रमण्यम शास्त्री	632
191	संगीत मकरन्द	नारद		संस्कृत	श्री मंगेश रामकृष्ण तेलंग	84
192	संगीत नृत्य अने नाट्य संबंधी जैन ग्रंथो	श्री हीरालाल कापडीया		गुजराती	मुक्ति-कमल-जैन मोहन ग्रंथमाला	244
193	न्यायबिंदु सटीक	पूज्य धर्मोतराचार्य		संस्कृत	श्री चंद्रशेखर शास्त्री	220
194	शीघ्रबोध भाग-१ थी ५	पूज्य ज्ञानसुन्दरजी		हिन्दी	सुखसागर ज्ञान प्रसारक सभा	422
195	शीघ्रबोध भाग-६ थी १०	पूज्य ज्ञानसुन्दरजी		हिन्दी	सुखसागर ज्ञान प्रसारक सभा	304
196	शीघ्रबोध भाग-११ थी १५	पूज्य ज्ञानसुन्दरजी		हिन्दी	सुखसागर ज्ञान प्रसारक सभा	446
197	शीघ्रबोध भाग-१६ थी २०	पूज्य ज्ञानसुन्दरजी		हिन्दी	सुखसागर ज्ञान प्रसारक सभा	414
198	शीघ्रबोध भाग-२१ थी २५	पूज्य ज्ञानसुन्दरजी		हिन्दी	सुखसागर ज्ञान प्रसारक सभा	409
199	अध्यात्मसार सटीक	पूज्य गंभीरविजयजी		संस्कृत/गुजराती	नरोत्तमदास भानजी	476
200	छन्दोनुशासन	एच. डी. वेलनकर		संस्कृत	सिंघी जैन शास्त्र शिक्षापीठ	444
201	मग्गानुसारिया	श्री डी. एस शाह		संस्कृत/गुजराती	ज्ञातपुत्र भगवान महावीर ट्रस्ट	146

श्री आशापूरण पार्श्वनाथ जैन ज्ञानभंडार

संयोजक – शाह बाबुलाल सरेमल - (मो.) 9426585904 (ओ.) 22132543. E-mail : ahoshrut.bs@gmail.com
शाह विमळाबेन सरेमल जवेरचंदजी बेडावाळा भवन
हीराजैन सोसायटी, रामनगर, साबरमती, अमदावाद-380005.

अहो श्रुतज्ञानम् ग्रंथ जीर्णोद्धार – संवत २०७२ (ई. 201६) सेट नं.-७

प्रायः अप्राप्य प्राचीन पुस्तकों की डिजिटाइझेशन द्वारा डीवीडी बनाई उसकी सूची।

क्रम	पुस्तक नाम	कर्त्ता / टिकाकार	भाषा	संपादक / प्रकाशक	पृष्ठ
202	आचारांग सूत्र भाग-१ निर्युक्ति+टीका	श्री शीलंकाचार्य	गुजराती	श्री माणेक मुनि	285
203	आचारांग सूत्र भाग-२ निर्युक्ति+टीका	श्री शीलंकाचार्य	गुजराती	श्री माणेक मुनि	280
204	आचारांग सूत्र भाग-३ निर्युक्ति+टीका	श्री शीलंकाचार्य	गुजराती	श्री माणेक मुनि	315
205	आचारांग सूत्र भाग-४ निर्युक्ति+टीका	श्री शीलंकाचार्य	गुजराती	श्री माणेक मुनि	307
206	आचारांग सूत्र भाग-५ निर्युक्ति+टीका	श्री शीलंकाचार्य	गुजराती	श्री माणेक मुनि	361
207	सुयगडांग सूत्र भाग-१ सटीक	श्री शीलंकाचार्य	गुजराती	श्री माणेक मुनि	301
208	सुयगडांग सूत्र भाग-२ सटीक	श्री शीलंकाचार्य	गुजराती	श्री माणेक मुनि	263
209	सुयगडांग सूत्र भाग-३ सटीक	श्री शीलंकाचार्य	गुजराती	श्री माणेक मुनि	395
210	सुयगडांग सूत्र भाग-४ सटीक	श्री शीलंकाचार्य	गुजराती	श्री माणेक मुनि	386
211	सुयगडांग सूत्र भाग-५ सटीक	श्री शीलंकाचार्य	गुजराती	श्री माणेक मुनि	351
212	रायपसेणिय सूत्र	श्री मलयगिरि	गुजराती	श्री बेचरदास दोशी	260
213	प्राचीन तीर्थमाळा भाग-१	आ.श्री धर्मसूरि	सं./गुजराती	श्री यशोविजयजी ग्रंथमाळा	272
214	धातु पारायणम्	श्री हेमचंद्राचार्य	संस्कृत	आ. श्री मुनिचंद्रसूरि	530
215	सिद्धहेम शब्दानुशासन लघुवृत्ति भाग-१	श्री हेमचंद्राचार्य	सं./गुजराती	श्री बेचरदास दोशी	648
216	सिद्धहेम शब्दानुशासन लघुवृत्ति भाग-२	श्री हेमचंद्राचार्य	सं./गुजराती	श्री बेचरदास दोशी	510
217	सिद्धहेम शब्दानुशासन लघुवृत्ति भाग-३	श्री हेमचंद्राचार्य	सं./गुजराती	श्री बेचरदास दोशी	560
218	तार्किक रक्षा सार संग्रह	आ. श्री वरदराज	संस्कृत	राजकीय संस्कृत पुस्तकालय	427
219	वादार्थ संग्रह भाग-१ (स्फोट तत्त्व निरूपण, स्फोट चन्द्रिका, प्रतिपादिक संज्ञावाद, वाक्यवाद, वाक्यदीपिका)	विविध कर्ता	संस्कृत	महादेव शर्मा	88
220	वादार्थ संग्रह भाग-२ (षट्कारक विवेचन, कारक वादार्थ, समासवादार्थ, वकारवादार्थ)	विविध कर्ता	संस्कृत	महादेव शर्मा	78
221	वादार्थ संग्रह भाग-३ (वादसुधाकर, लघुविभक्त्यर्थ निर्णय, शाब्दबोधप्रकाशिका)	विविध कर्ता	संस्कृत	महादेव शर्मा	112
222	वादार्थ संग्रह भाग-४ (आख्यात शक्तिवाद छः टीका)	रघुनाथ शिरोमणि	संस्कृत	महादेव शर्मा	228

अर्हम्

पूज्यपादाचार्यदेव श्रीमद् विजय दान-प्रेम-रामचन्द्र-भद्रङ्करसद्गुरुभ्यो नमः

कलिकालसर्वज्ञ-श्रीमद्हेमचन्द्रसूरिभगवत्प्रणीतं

श्री सिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासनम्

(स्वोपज्ञबृहद्वृत्ति तथा न्यायसारसमुद्धार (लघुन्यास) संवलितम्)

द्वितीयो भागः

आद्य-संपादक

शासन-सम्राट् पू. आचार्य देव श्रीमद् विजय नेमि सूरीश्वरजी महाराज साहेब
की प्रेरणासे प. पू. आचार्य देव श्रीमद् विजय उदयसूरीश्वरजी महाराज.

संपादक

सुविशाल गच्छाधिपति पूज्य आचार्यदेव श्रीमद् विजय रामचन्द्र सूरीश्वरजी
महाराज सा. के शिष्यरत्न अध्यात्मयोगी पूज्यपाद पंन्यास प्रवर
श्री भद्रंकर विजयजी गणिवर्य श्री के शिष्य-
प. पू. आचार्यश्री कुंदकुंद सूरीजीके शिष्य

पूज्य मुनिवर्य श्री वज्रसेनविजयजी म. सा.

सह संपादक

पूज्य मुनिराजश्री रत्नसेनविजयजी म.

प्रकाशक

भेरुलाल कनैयालाल रिलिजीयस ट्रस्ट

चन्दनबाला

बम्बई

प्रकाशक
शा. भेरुलाल कनैयालाल रिलिजीयस ट्रस्ट
चंदनबाला एपार्टमेन्ट
रीज रोड – वालकेश्वर
बम्बई – 400 006

प्रकाशन – तिथि
कार्तिक शुक्ला पूर्णिमा, २०४२
(कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य भगवंत की जन्म तिथि)

आवृत्ति – द्वितीया

मूल्य – ७०/– रुपये

: प्राप्ति – स्थान :
सरस्वती पुस्तक भंडार
११२, हाथीखाना, रतनपोल,
अहमदाबाद

☐

पार्श्व प्रकाशन,
नीशा पोल, झवेरीवाड,
अहमदाबाद–१

☐

जशवंतलाल गीरधरलाल
दोशीवाडानी पोल,
अहमदाबाद–१.

मुद्रक
गौतम आर्ट प्रिन्टर्स
नेहरु गेट के बाहर
ब्यावर
राज०

प्रकाशक की कलम से.......

सकल श्री संघ की सेवा में **'सिद्धहेम बृहद्वृत्ति लघुन्यास सहित'** महाग्रंथ के प्रथम भाग को प्रकाशन करने के बाद अल्प समय में ही यह द्वितीय विभाग को प्रकाशन करते हुए हम अत्यंत ही आनंद अनुभव कर रहे हैं। परम कृपालु महावीर देव जब बाल्यावस्था में थे तब **सौधर्मेन्द्र** ने आकर भगवान् से व्याकरण संबंधी जो प्रश्न किये थे। उन सभी का भगवान् ने संतोषप्रद समाधान किया था। बाल्यवय में भी प्रभु की अद्भुत ज्ञान-प्रतिभा को देखकर सभी दंग (आश्चर्य-चकित) रह गये थे। उस काल में सर्वप्रथम **जैनेन्द्र व्याकरण** प्रसिद्धि में आया--यह बात हम हर वर्ष पर्युषणों में सुनते आये हैं।

कलिकालसर्वज्ञ श्रीमद् हेमचन्द्रसूरिजी म. ने सिद्धराज की प्रार्थना को लक्ष्य में रखकर 'सिद्धहेमचन्द्र-शब्दानुशान का निर्माण किया। और उन्होंने इस ग्रन्थ के उपर लघुवृत्ति-बृहद्वृत्ति और बृहन्न्यास का भी निर्माण किया था। दुर्भाग्यवश आज वह बृहन्न्यास पूर्णरूप से उपलब्ध नहीं हैं। इस व्याकरण की बृहद्वृत्ति के ऊपर पू. आचार्य श्री **कनकप्रभसूरीजी म.** विरचितन्याससार समुद्धार (**लघुन्यास संज्ञक) उत्तम** विवरण ज्ञान भंडारों में आज भी मौजूद हैं। परन्तु आज उसकी हालत अत्यंत ही गंभीर हैं। पत्रे जीर्ण हो गए हैं तथा इसके साथ ही दुष्प्राप्य भी हैं। लेकिन जैन-शासन का सौभाग्य है कि उस हालत को देखकर पूज्य आचार्य श्री विजय **कुन्दकुन्दसूरीश्वरजी म.** के शिष्यरत्न पूज्य मुनिराज श्री **वज्रसेन विजयजी** म. सा. के हृदय में उसके पुनर्मुद्रण रूप जीर्णोद्धार करवाने की सद्भावना जगी।

दूसरी ओर सिद्धांत दिवाकर प. पू. आचार्यदेव श्रीमद् **विजय जयघोष सूरिजी** म. की ओर से हमारे ट्रस्ट के सदस्यों को इस ग्रन्थरत्न के जीर्णोद्धार के लिए पुनीत प्रेरणा प्राप्त हुई। विशालग्रन्थ रत्न का प्रकाशन करना, एक भगीरथ कार्य था और इस कार्य में प्राय: डेढ़ लाख रूपये से कम खर्च न था। हमारे ट्रस्ट के सदस्यों को पूज्य गुरुवर्यों की शुभ प्रेरणाओं से यह शुभ मनोरथ हुआ कि 'अपने ट्रस्ट के ज्ञाननिधि का सद्व्यय करके इस पुण्य कार्य का लाभ क्यों न उठाया जाय? और आज ऐसे महान् ग्रन्थरत्नों के पीछे अपना अमूल्य समय देने वालों की संख्या अत्यल्प होने से पूज्य मुनि भगवंतों की इस पवित्र भावना को सहर्ष क्यों न अपनायी जाय? और बस, हमने इस महाग्रन्थरत्न के जीर्णोद्धार में पूर्ण सहयोग देने का निश्चय कर लिया।

इस ग्रन्थरत्न के सुवाच्य पुन: संपादन के इस भगीरथ कार्य को परमपूज्य, गच्छाधिपति, संघ-हितवत्सल, आचार्यदेव **श्रीमद्विजय रामचन्द्रसूरीश्वजी** महाराजा की अनुमति और शुभाशीर्वाद से अतिपरिश्रम पूर्वक पूर्ण करने वाले परम पूज्य अध्यात्मयोगी पंन्यास प्रवर श्री **भद्रंकरविजयजी गणिवर्य** श्री के शिष्य-प्रशिष्य परमपूज्य विद्वद्वर्य मुनिराज श्री **वज्रसेन विजयजी महाराज** साहेब तथा परमपूज्य मु. श्री **रत्नसेन विजयजी** म. सा. के हम सदा ऋणी रहेंगे उनके इस भगीरथ कार्यकी हम बारंबार अनुमोदना करते हैं, एवं सकल श्री संघ को अर्ज करते हैं कि ऐसे संघरत्न मुनि भगवंतो, जो कि श्रुत-भक्ति से नि:स्वार्थ श्रुत सेवा कर रहे हैं......उन्हें पूर्ण सहयोग प्रदानकर श्रुत समृद्धि को युगोपर्यंत जीवनदान देकर आत्म कल्याण के पथमें आगे बढे।

लि.

श्री भेरुलाल कन्हैयालाल रिलिजीयस ट्रस्ट

ऐं नमः

किंचिद् वक्तव्यम्

"श्री सिद्धहैम बृहद्वृत्ति लघुन्यास" यह व्याकरणविषयक एक विशालकाय् ग्रन्थरत्न है। इसके संपादन के समय थोडा सा भूतकाल को याद किये विना इस संपादन की भूमिका को समजाना शक्य नहीं है।

आज से लगभग २८ वर्ष पहेले संवत् २०१३ की साल में पाटण श्रीसिद्धहैम लघुवृत्ति का अभ्यास मेरे संयम दाता, वात्सल्य महोदधि परम पूज्य पंन्यासजी **भद्रंकर विजयजी** गणिवर्य श्री और मेरे उपकारी पूज्य संयमगुरुदेव परम पूज्य आचार्य देव श्री **कुंदकुन्दसूरीश्वरजी** महाराज (उस समय मुनिराज) के आशीर्वादों से शुरू किया था। उस समय संदिग्धस्थानों को देखने के लिए पंडितजी 'सिद्धहैम बृहद्वृत्ति लघुन्यास' की प्रत का उपयोग करते थे। उस समय उस प्रत की जीर्ण शीर्ण अवस्था देखकर हमको मन में ऐसी भावना हुई के बड़े होकर इसका पुनर्मुद्रण करवाएगें, जिससे अभ्यासीओं को सुगमता प्राप्त हो सके।

बादमें यह बात विस्मृत हो गई। फिर से योगानुयोग इसी पाटण में संवत् २०३४ की साल में संघ स्थविर सुविशाल गच्छाधिपति परम पूज्य आचार्य देव **श्रीमद् विजय रामचन्द्रसूरीश्वरजी** महाराजा का सुविशाल मुनि परिवार के साथ चातुर्मास हुआ। उस समय परम पूज्य, परम गुरुदेव पंन्यासजी महाराज श्री **भद्रंकरविजयजी** गणिवर्य श्री आदिकी निश्रा में मुझे और मुनि श्री रत्नसेन विजयजी को भी रहने का अपूर्व लाभ मिला। उस समय मुनि श्री रत्नसेन विजयजी का बृहद्वृत्ति का वांचन चल रहा था। पूज्य पंन्यासजी महाराजश्री शरीर से अस्वस्थ होने के कारण मुझे तो समय का अभाव था। इस कारण मुनि श्री रत्नसेन विजयजी को मैंने सूचन किया कि बृहद्-वृत्ति के अभ्यास के साथ साथ लघुन्यास की हस्तलिखित प्रत को देखी जाय। उन्होंने मेरे सूचन का सहर्ष स्वीकार किया। और उस समय थोडे प्रकरणों को हस्तप्रत से मिलान कर लिया और बाद में इस कार्य के योग्य प्रयत्न जारी रखे।

इस दरम्यान मेरा २०३९ का चातुर्मास जामनगर में हुआ। इस ग्रंथ के पुनः मुद्रण की भावना हृदय में तो थी ही। उसमें परम पूज्य आचार्य देव श्री जयघोषसूरीश्वरजी महाराज की ओर से सुश्रावक **हिंमतलाल**जी को सूचन हुवा की इस ग्रंथ को "**श्री भेरुलाल कनैयालाल कोठारी रीलीजीयस** ट्रस्ट, चंदनबाला (बम्बइ)" की ओर से प्रकाशन का लाभ लेने जैसा है। इस बात को **ट्रस्ट** के ट्रस्टीओं ने तुरन्त ही स्वीकार लीया और यह कार्य गतिमान हुआ।

इसके बाद शरीर अस्वस्थ रहने के कारण इस कार्य में सहयोगके लिए मुनि श्री रत्नसेन विजयजी को कहा और उन्होंने भी इस कार्य में सहयोग देने के लिए अपनी प्रसन्नता बताई। संवत् २०४० के चातुर्मास में रतलाम चातुर्मास दरम्यान मेरी सूचनानुसार योग्य अशुद्धिपरिमार्जन के साथ तीसरे

अध्याय से सात अध्याय तक 'लघुन्यास' की प्रेस कोपी तैयार की। जिससे प्रिन्टींग आदि में अति सरलता रही। इस प्रकार अनेक महानुभावों की साहाय्य से संपादन कार्य प्रारम्भ हुआ।

कलिकाल सर्वज्ञ श्री **हेमचन्द्राचार्य** विरचित श्री **सिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासन** के ऊपर स्वोपज्ञ बृहद्-वृत्ति आज भी उपलब्ध हैं। उस बृहद्वृत्ति पर कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य श्री ने बृहन्न्यास (८४००० श्लोक प्रमाण) की रचना की थी। किन्तु दुर्भाग्य से वह ग्रन्थ पूर्णरुप से उपलब्ध नहीं है। उसका आंशिक भाग ही उपलब्ध हैं। उस बृहद्वृत्ति के क्लिष्ट स्थानों पर चान्द्रगच्छशिरोमणि परम पूज्य आचार्य देव श्रीमद् विजय **देवेन्द्रसूरीश्वरजी** महाराजा के शिष्य रत्न परम पूज्य आचार्य देव श्री **कनकप्रभसूरिश्वरजी** महाराज ने **'न्याससारसमुद्धार'** की रचना की है। सद्भाग्य से वह पूर्ण ग्रन्थ आज भी उपलब्ध है।

"श्री **सिद्ध हेमचन्द्रशब्दानुशासन** की बृहदवृत्ति और न्याससार समुद्धार का प्रथम मुद्रण शासन सम्राट् परम पूज्य आचार्य देव श्रीमद्विजय **नेमिसूरीश्वरजी** महाराजा का प्रेरणा से प. पू. आचार्य म. श्रीमद् विजय **उदय सूरीश्वजी** म० ने करवाया था। संवत् १९६२ में पोरवाडज्ञातीय **भगुभाई** आत्मज **मनसुखभाई** की ओर से प्रकाशन हुआ था।

इस ग्रंथ के पुनः प्रकाशन में उपर्युक्त पूर्व की आवृत्तियों का आधार लिया गया है। जहां-जहां मुद्रण संबंधी अशुद्धियां थी उन्हें भी परिमार्जित करने का शक्य प्रयत्न किया गया है। प्रत्येक सूत्र की बृहद्वृत्ति के साथ ही लघुन्यास हो तो अध्ययन में विशेष सुविधा रहेगी, इसलिए प्रत्येक सूत्र के साथ ही लघुन्यास लिया है। पूर्व प्रकाशित लघुन्यास में जहां-जहां साक्षी सूत्रों के सांकेतिक नाम दिए गए थे—उन सूत्रों के क्रमांक का भी इसमें निर्देश कर दिया है।

अध्ययन-अध्यापन में सुविधा की दृष्टि से इस महाकाय ग्रंथ को तीन भागों में विभक्त किया गया है।

प्रथम भाग-१ से १० पाद (ढाई अध्याय)।

द्वितीय भाग-११ से २० पाद (ढाई अध्याय) स्वोपज्ञ-उणादि, धातुपाठ।

तृतीय भाग-२१ से २८ पाद (दो अध्याय) लिंगानुशासन, सूत्रोंकाअकारादिक्रम।

आठ अध्यात्मक इस विशाल ग्रंथ को तीन भाग में प्रकाशित करने का निर्णय होने पर एक ही समय में अलग-अलग तीन प्रेसों में मुद्रण कार्य प्रारम्भ हुआ। आज इस बात का आनंद है कि-अठाइस वर्ष पहेले जो भावना बीज रूप से अंतर में पडी थी, वह आज एक विशाल वृक्ष रुप होकर फलीभूत हो रही हैं। अभ्यासीओं के लिए छत्तीस हजार से भी अधिक श्लोक प्रमाण और सोलहसो से भी अधिक पृष्ठ का विस्तार रखता हुआ यह **सिद्धहेमबृहद्वृत्ति लघुन्यास** ग्रंथ का प्रथमभाग प्रकाशित होने के बाद अल्प समय में ही दूसरा भाग प्रकासित हो रहा है। तीसरा भाग जल्दी प्रकाशित हो इसलिए प्रकाशक संस्था प्रयत्न कर रही हैं।

इस ग्रंथ के पुन: प्रकाशन के भगीरथ कार्य की निर्विघ्न समाप्ति के लिए परम पूज्य जिन-शासनप्रभावक, संघहितचिंतक, सुविशाल गच्छाधिपति, आचार्य देवश्रीमद् विजय **रामचन्द्रसूरीश्वरजी**

महाराज के शुभाशीर्वाद और परम पूज्य अध्यात्मयोगी निःस्पृह शिरोमणि परम गुरुदेव पंन्यास प्रवर श्री **भद्रंकरविजयजी** गणिवर्य श्री की सतत कृपा वृष्टि, परम पूज्य सौजन्यमूर्ति, आचार्य देव श्रीमद्विजय **प्रद्योतन सूरीश्वरजी** महाराज साहेब की सतत प्रेरणा और परम पूज्य उपकारी गुरुदेव आचार्य देव श्रीमद् विजय **कुन्दकुन्द** सूरीश्वरजी महाराज की अदृश्य कृपा और मेरे संसारी पिता पू. मुनिराज श्री **महासेन विजयजी** म. की सहानुभूति और मेरे गुरुबन्धु मुनिश्री **हेमप्रभविजयजी** की अपूर्व सहायता प्राप्त होती रही है। उन पूज्यों की असीम शक्ति के बल से ही यह कार्य निर्विघ्न परिपूर्ण हुआ है।

उन सब उपकारीयो के पावन चरणों में कोटिशः वंदना पूज्य कलिकाल सर्वज्ञ श्री **हेमचन्द्रसूरीश्वरजी** महाराजा की व्याकरण विषयक यह कृति कितनी सरल और सुगम है यह तो अभ्यास करने वाले ही समज सकते हैं। कहा भी है कि

व्याकरणात् पद सिद्धिः पदसिद्धेरर्थनिर्णयो भवति। अर्थात् तत्त्वज्ञानं तत्त्वज्ञानात् परंश्रेयः।।

अर्थात् "व्याकरण से पद की सिद्धि होती हैं। पदसिद्धि से अर्थ का निर्णय होता हैं। और अर्थ के निर्णय से तत्त्व की सिद्धि होती है। तत्त्वसिद्धि मुक्ति की प्राप्ति में हेतुभूत बन सकती है।। इस दृष्टि से व्याकरण के अध्ययन का महत्त्व है। अभ्यासी महात्माओं इस ध्येय पूर्वक इस ग्रंथ का अध्यन करेंगे तो संपादन का हमारा श्रम विशेष सफल होगा। वैसे तो श्रुत सेवा का अपूर्व लाभ मिलने से संपादन का श्रम सफल ही है।

यह दुसरे विभाग के प्रुफरीडींग आदि के लिये मुनिश्री **हितविजयजी** और मुनिश्री **अनन्तदर्शनविजयजी** का भी समय समय पर अपूर्व सहयोग रहा है।

इसके प्रिन्टींग में **गौतम आर्ट प्रिन्टर्स** (ब्यावर) के मालिक **श्रीफतेचन्दजी** जैन के अपूर्व सहयोग से यह कार्य इतना जल्दी हो रहा है।

इस ग्रंथ के प्रिन्टींग में मतिमंदता से दृष्टिदोष से या प्रेसदोष से कोई क्षतियाँ रही हो, वह सुज्ञजन सुधारने की कृपा करें। खास-खास अशुद्धियां का शुद्धिपत्र दिया गया है।

— **वज्रसेन विजय**

समर्पण

'नमस्कार महामन्त्र' जिनकी अंतरात्मा का सुमधुर संगीत था जिनकी आत्मा परमात्मा-चरणों में पूर्ण समर्पित थी, जिनकी वाणी में अमृत सा अद्भूत माधुर्य था जो सदा महामन्त्र की अनुप्रेक्षा में तल्लीन रहते थे सकल सत्त्व-हिताशय की पवित्र भावना से जो अत्यन्त भावित थे। जिनके शुभ सानिध्य में परम आनन्द की अनुभूति होती थी।

ऐसे परम पवित्र शुभनामधेय परम गुरुदेव निस्पृहशिरोमणि पंन्यास प्रवर श्री **भद्रङ्कर विजयजी** गणिवर्यश्री के पवित्र आत्मा को यह ग्रन्थ-रत्न समर्पित करते हुए हमें अत्यन्त ही आनन्द का अनुभव हो रहा है।

ओ परम गुरुदेव ! आपने हमारे जैसे अज्ञानी जीवों पर करुणा दृष्टि कर.. हमें संयम की नौका समर्पित की और आप स्वयं ही इस संयम-नौका के वाहक बने। आप ही के पुण्य प्रभाव से यह संयम नौका आगे बढ सकती हैं...आप जहाँ भी हो सतत कृपा दृष्टि करते रहो...और आपके उपकारों की ऋण मुक्ति के लिए जिन शासन की सेवा करने का सामर्थ्य प्रदान करते रहो।

चरणचञ्चरीक
मुनि वज्रसेन विजय
मुनिरत्नसेन विजय

अनुक्रमणिका

प्रकाश की कलम से		3
किञ्चिद् वक्तव्यम्		4
तृतीय–अध्याय :		
	तृतीयपाद :	१
	चतुर्थपाद :	४१
चतुर्थ–अध्याय :		
	प्रथमपाद :	७७
	द्वितीयपाद :	१०८
	तृतीयपाद :	१४०
	चतुर्थपाद :	१७०
पञ्चम–अध्याय :		
	प्रथमपाद :	२०८
	द्वितीयपाद :	२४८
	तृतीयपाद :	२७४
	चतुर्थपाद :	३०६
उणादिविवरण		३३९
धातुपाठ :		४८०

अर्हम्

।। अनंतलब्धिनिधानाय श्रीगौतमस्वामिने नमः ।।

। पूज्यपादाचार्यदेवश्रीमद् दान-प्रेम-रामचन्द्र-मद्रङ्करसद्गुरुभ्यो नमः ।

कलिकालसर्वज्ञ-श्रीहेमचन्द्रसूरिभगवत्प्रणीतं-

श्रीसिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासनम् ।

[स्वोपज्ञतत्त्वप्रकाशिकाभिधबृहद्वृत्ति-मनीषिकनकप्रभसूरि-विरचितन्याससारसमुद्धार (लघुन्यास)-संवलितम्]

तत्र-

[तृतीयाध्याये तृतीयपादः]

वृद्धिरारैदौत् ॥ ३. ३. १ ॥

आकार आर्, ऐकार, औकारश्च प्रत्येकं वृद्धिसंज्ञा भवन्ति । मार्ष्टि, पाच्यम्, दाक्षिः; कारयति, कार्यम्, आर्षम्; नाययति, नायकः, ऐन्द्रम्; लावयति, लावकः, औपगवः । वृद्धिप्रदेशाः—"मृजोऽस्य वृद्धिः" [४. ३. ४२] इत्येवमादयः ।। १ ।।

न्या० स०-वृद्धिरारैदौत्-वृद्धिशब्दस्य संज्ञात्वात् अनुवादविधित्वेन (विधेयत्वेन) च परनिपातः प्राप्नोति । आरैदौदित्यनूद्य एते वृद्धिसंज्ञा भवन्तीति ह्यभिधीयते । सत्यम्, मङ्गलार्थं निपातः ।

नन्वाकारोदयो द्वेधा तद्भाविता अतद्भाविताश्च, तद्भाविता वृद्धिसंज्ञया निष्पादिता; यथा-आश्वलायनः, कार्त्तवीर्यः, ऐतिकायनः औपगवः इत्यादिषु । अतद्भाविता यथा-राजा, प्राच्छर्यति, रैपात्रं, नौघोष इत्यादिषु । तत्र पूर्वेषामितरेतराश्रयदोषप्रसङ्गादितरेषु चरितार्थतया वृद्धिसंज्ञया न भाव्यमिति न वाच्यम् । सामान्येन भाविन्याः संज्ञाया आश्रयणात् नास्तीतरेतराश्रयप्रसङ्गो यथाऽस्य सूत्रस्य पटं वयेति । न चाकारादयः संज्ञा, वृद्धिशब्दः संज्ञीति विपर्ययोऽत्र युज्यते लाघवार्थत्वात् संज्ञाकरणस्य, न च समुदितानामारैदौतां संज्ञेयमिति वाच्यं 'वृद्धिर्यस्य स्वरेष्वादिः ६-१-८ इति दर्शनात्, न च समुदाय आदिस्वरो भवति ।

गुणोऽरेदोत् ॥ ३. ३. २ ॥

'अर् एद् ओद्' इत्येते प्रत्येकं गुणसंज्ञा भवन्ति । करोति, कर्तव्यम्, चेता, चेयम्, स्तोता, स्तोतव्यम् । गुणप्रदेशाः-"नामिनो गुणोऽक्ङिति" [४. ३. १] इत्येवमादयः ॥२॥

न्या० स०-गुणोऽरे०-गुणशब्दस्य पूर्वनिपातो मङ्गलस्यैवातिशयप्रतिपादनार्थः ।

क्रियार्थो धातुः ॥ ३. ३. ३ ॥

कृतिः क्रिया, प्रवृत्तिर्व्यापार इति यावत्, पूर्वापरीभूता साध्यमानरूपा साऽर्थोऽभिधेयं यस्य स शब्दो धातुसंज्ञो भवति । एधते, अस्ति, दीव्यति, सुनोति, तुदति, रुणद्धि, तनोति, क्रीणाति, सहति । आयादिप्रत्ययान्तानामपि क्रियार्थत्वात् धातुत्वम्-गोपायति, कामयते, ऋतीयते, जुगुप्सते, कण्डूयति, पापच्यते, चोरयति, कारयति, चिकीर्षति, पुत्रकाम्यति, पुत्रीयति, अश्वति, श्येनायते, हस्तयते, मुण्डयति । एवं जु-स्तम्भू-चुलुम्पादीनामपि-जवनः, स्तभ्नाति, चुलुम्पांचकार, प्रेङ्खोलयति ।

शिष्टप्रयोगानुसारित्वादस्य लक्षणस्याणपयत्यादिनिवृत्तिः, शिष्टज्ञापनाय चेदं लक्षणम्, एतदविसंवादेन च शिष्टा ज्ञायन्त इति ।

अन्वय-व्यतिरेकाभ्यां च धातोः क्रियार्थत्वावगमः, तथाहि-पचतीत्यादौ धातु-प्रत्ययसमुदाये संसृष्टक्रियाकालकारकाद्यनेकार्थाभिधायिनि प्रयुज्यमाने धातोरेव क्रियार्थत्वमवगम्यतेऽन्वय-व्यतिरेकाभ्यां नेतरेषाम् । पचतीति प्रयोगे द्वयं श्रूयते-'पच्' इति प्रकृतिः, 'अतिः' इति च प्रत्ययः, अर्थोऽपि कश्चिद् गम्यते विक्लित्तिःकर्तृत्वमेकत्वम्; पठतीत्युक्ते कश्चित् शब्दो हीयते कश्चिदुपजायते कश्चिदन्वयी, 'पच्' शब्दो हीयते पठ्' शब्द उपजायते 'अति' शब्दोऽन्वयी, अर्थोऽपि कश्चिद्धीयते कश्चिदुपजायते कश्चिदन्वयी, विक्लित्तिर्हीयते पठिरुपजायते कर्तृत्वमेकत्वं चान्वयी; तेन मन्यामहे-यः शब्दो हीयते तस्यासवर्थो योऽर्थो हीयते, यश्च शब्द उपजायते तस्यासावर्थो योऽर्थ उपजायते, यश्च शब्दोऽन्वयी तस्यासावर्थो योऽन्वयीति ।

ननु च कृतिः करोत्यर्थः क्रिया, तत्र युक्तं पचादीनां किं करोति ? पचति, किं करोति ? पठतीति करोतीत्यर्थगर्भितत्वात् क्रियात्वम्, अस्ति-विद्यते भवतीनां तु न युक्तम्, नहि भवति-किं करोति ? अस्ति भवति विद्यते चेति, तदयुक्तम्-न करोत्यर्थः क्रियाशब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तम्, अपि तर्हि कारकव्यापारविशेषः, व्यापारश्च व्यापारान्तराद् भिद्यत इत्यस्त्याद्यर्थोऽपि क्रियैव, करोत्यर्थस्तु क्रियाशब्दस्य व्युत्पत्तिनिमित्तमेव; एवं सति क्रियासामान्यवचनाः कृभ्वस्तयः क्रियाविशेषवचनास्तु पचादय इति सिद्धम् । तथा 'भावे घञ्' इत्युक्त्वा 'कारः, पाकः' इत्यादयोऽप्युदाह्रियन्ते । 'क्रियोपपदाद्धातोस्तुम्' इत्युक्त्वा 'योद्धुं धनुर्भवति, द्रष्टुं चक्षुर्जातम्' इत्याद्यप्युदाहरणं युक्तम् । यदाहुः-" यत्रान्यत् क्रियापदं न श्रूयते तत्रास्तिर्भवन्तीपरः प्रथमपुरुषे प्रयुज्यते" इति । क्रिया च द्वेधा सिद्ध-साध्यत्वभेदात्, तत्र सिद्धस्वभावोपसंहृतक्रमा परितः परिच्छिन्ना सत्त्वभावमापन्ना घञादिभिरभिधीयते, यदाह-"कृदभिहितो भावो द्रव्यवत् प्रकाशते" इति; तुमादिभिस्तु सत्त्वभावमनापन्नेति विशेषः;

साध्यमानावस्था पूर्वापरीभूतावयवा भूत-भविष्यद्-वर्तमान-सदसद्वाद्यनेकावयवरूपाऽऽख्यातपदैरुच्यते, यदाह–"पूर्वापरीभूतं भावमाख्यातेनाचष्टे" यथा च पचतीत्यत्र पूर्वापरीभावस्तद्वदेव 'जायते, अस्ति, विपरिणमते, वर्धते, अपक्षीयते, विनश्यति, भवति, श्वेतते, संयुज्यते, समवैति'इत्यादावपि साध्यत्वाभिधानेन क्रमरूपाश्रयणात् क्रियाव्यपदेशः सिद्धः, तदुक्तम्–

"यावत् सिद्धमसिद्धं वा, साध्यत्वेनाभिधीयते ।
आश्रितक्रमरूपत्वात्, तत् क्रियेति प्रतीयते ।" ।। ३ ।।

न्या० स०–क्रियार्थो०–पूर्वावयवयोगात्पूर्वाऽपरावयवयोगादऽपरा पूर्वा चासावपरा च पूर्वापरा अपूर्वापरा पूर्वापरा भूता **पूर्वापरीभूता,** तत्र पूर्वापरयोर्द्वयोरपि प्रथमोक्तत्वेन 'पूर्वापरप्रथम०' ३-१-१०३ इति शब्दपरस्पर्धेनाऽपरशब्दस्य पूर्वनिपाते प्राप्ते राजदन्तादित्वात् पूर्वस्य पूर्वनिपातः, तत्र पूर्वोऽवयवोऽधिश्रयणादिरपर उदकसेकादिस्तौ द्वावपि भागौ पाकक्रियायां स्तः, सा ह्यधिश्रयणोदकसेचनादि रूपा ।

साध्यमानरूपेति–साध्यमानं साधनायत्तं रूपं स्वरूपं यस्याः सा क्रिया, यथा–पचति कः ? चैत्र , किम् ? ओदनम् , कैः ? काष्ठैः क्व ? स्थाल्यां, कुतः ? कुशूलात् , कस्मै ? मैत्रायेति भावना ।

ननु पचतीत्यादिष्वस्तु क्रियात्वं भवतीत्यादिषु तु सत्ताया नित्यत्वेन साध्यमानत्वाऽभावात् तदभावे च पूर्वापरविभागावात् तदभावे च क्रियार्थत्वाभावे न प्राप्नोति धातुसंज्ञा ? सत्यं, आधेयभेदेन सत्तापि पूर्वापरीभूता साध्यमानरूपा, यथा–सैव देवदत्तसत्ता क्वचिद्गमनयुक्ता क्वचिद्भोजनयुक्ता क्वचिद्पठनयुक्ता, एवमनेकधा योजना कार्या ।

आयादिप्रत्ययान्तेति–ननु क्रियार्थे धातौ शिश्ये इत्यादिषु भावे तदर्थप्रत्ययस्यापि धातुत्वप्रसङ्गः । भावप्रत्ययो हि क्रियार्थ एव उत्पद्यते ततश्च 'आत् संध्यक्षर', ४-२-१ इत्यात्वप्रसङ्गः । आत्वे हि धातोर्विहितमनैमित्तिकं चेति । अतः प्रत्ययप्रतिषेधार्थं क्रियाविशेषकं प्रथमग्रहणं कर्त्तव्यं व्याख्येयं च प्रथमं यः क्रियामाहेति, प्राथम्यं चात्राभिधानापेक्षं ग्राह्यं, तेन किं सिद्धं ? अन्येनानभिहितां क्रियां य आह स धातुः । अयमर्थोऽन्येभ्यः क्रियाभिधायिभ्यो यः प्रथममाहेति । शिश्ये,-इत्यत्र तु शीत्यनेनाभिहितां क्रियां प्रत्यय आहेति, न तस्य धातुसंज्ञाप्रवृत्तिः । शब्दार्थापेक्षया प्राथम्यं घटते तत्र शब्दतश्चेत्पुत्रीयतीत्यादावपि न प्राप्नोति, नात्र प्रथममुच्चार्यमाणः पुत्रशब्दः क्रियामाह । अर्थतश्चेत् पुत्रीयतीत्यादौ प्रथमा आद्या क्रिया अप्रथेनापि क्येनाभिधीयते न तु द्वितीयेति सिध्यति धातुसंज्ञा ।

ननु प्रथमग्रहणे सति चिकीर्षतीत्यत्रापि न प्राप्नोति धातुसंज्ञा, यतोऽत्रापि सन् प्रत्ययो न प्रथमं क्रियामाह अपि तु कृइत्यनेनाभिहिताम् ? नैवं, करोत्यर्थोपसर्जनामिच्छामन्येन अनभिहितां सन्प्रत्यय आहेति स्यादेव धातुसंज्ञेति । अत्रोच्यते,–यथात्र प्रथमग्रहणे कृते 'शिश्ये' इत्यत्र धातुसंज्ञा न भवति तथा स्वार्थिकानामायादीनामपि न प्राप्नोति । गोपायति, कामयत इत्यादिषु अत्रापि अभिहिताया एव क्रियाया आयादिभिरभिहितत्वात् , तस्मादेवं व्याख्येयं–क्रियामेव प्राधान्येन योऽभिधत्ते स क्रियाभिधायी धातुसंज्ञः । गोपायतीत्यादावपि तदस्तीति सिद्धा धातुसंज्ञा । 'शिश्ये' इत्यादौ तु भूतानद्यतन परोक्षत्वादेरभि-

धानान्न धातुसंज्ञा । एतेन क्रियैवाभिधेया यस्य स धातुः एवं च कृत्वा, कर्त्तुमित्यादिषु भावे कृत् प्रत्ययान्तस्यापि न धातुसंज्ञा । किं चात्रान्यदपि उत्तरमस्ति साध्ये अव्ययसंज्ञया धातुसंज्ञाया बाधितत्वात्, 'इकिश्तिव्स्वरूपार्थे' ५-३-१३८ इति प्रत्ययान्तस्य सिद्ध-साध्ययोरभेदोपचारेण सिद्धरूपत्वात् । कर्त्तव्यं, भूयते इत्यादौ तु भावे त्याद्यन्तस्य क्रिया-र्थत्वेऽपि न धातुत्वं साहचर्यात्, यतोऽन्येषामलिङ्गसंख्यानामपदसंज्ञकानां धातुसंज्ञाप्रत्ययादि, अत्र तु लिङ्गसंख्यापदसंज्ञानां विद्यमानत्वात् ।

शिष्टप्रयोगानुसारित्वादिति–लक्षणात् पार्थक्येन शिष्यन्ते प्रतिपाद्यन्ते इति शिष्टा धातवस्तेषां प्रयोगः पाठस्तदनुसारित्वात् तत्सव्यपेक्षत्वात् ।

अस्य लक्षणस्य क्रियार्थो धातुरित्यस्येत्यर्थः, यद्येवं पाठ एवाऽस्तु किमनेन लक्षणे-नेति चेत् ? नैवं, पाठपठितानामपि क्रियार्थानामेव धातुत्वज्ञापनार्थत्वादित्याह-**शिष्ट-ज्ञापनायेति**–अयमर्थो लक्षणात् पृथक्पठिता अपि त एव शिष्टा धातवो ये क्रियार्थाः, तेन वावाप्रभृतीनां सर्वनामविकल्पाद्यर्थानां पाठाविसंवादित्वेऽपि लक्षणविसंवादित्वादाणपयत्या-दीनां तु क्रियार्थत्वेऽपि पाठविसंवादित्वाद्धातुत्वाभावः ।

अन्वयव्यतिरेकाभ्यामिति–अथ कथं प्रकृतिप्रत्ययसमुदायेऽपि प्रकृतेरेव धातुत्वम् ? इत्याह-**तथाहि-पचतीति**–अत्र पचिः पाके वर्त्तते, पाकशब्देन च सिद्धो भाव उच्यते, साध्याभिधायिनश्च धातुत्वमतः कथमिह धातुत्वम् ? (सत्यं,) अन्यथा वक्तुमशक्यत्वात् पाकशब्देनापि साध्यो भाव उच्यते साध्यावस्थामनुभूयैव हि सिद्धभावोऽपि भवतीति ।

संसृष्टक्रियेति–क्रिया च कालश्च कारकं च क्रियाकालकारकाणि तानि आदयो येषां, आदिशब्दादेकत्वादि, संसृष्टाश्च ते क्रियाकालकारकादयश्च ते च ते अनेकार्थाश्च । न एकोऽनेकः, अनेके च ते अर्थाश्च तान् अभिदधातीति ।

शब्दो हीयते इति जहाति शब्दं देवदत्तः, स एवं विवक्षते,-नाहं जहामि किंतु स्वयमेव हीयते ।

व्यापारविशेष इति–पचतीत्यादिषु हि तदस्ति इति धातुत्वं यतः, पचतीत्युक्ते, न पठति, न गच्छति, न किंचिदन्यद्व्यापारान्तरं विधत्ते किंतु पाकरूपविशेष एव गम्यत इति । ननु तथापि अस्त्यादीनां न प्राप्नोति क्रियात्वं सत्ताया व्यापारविशेषाभावात्, यतः सर्वोऽपि धात्वर्थोऽस्त्यादिभिर्व्याप्तः ? इत्यतो युक्तिमाह–

व्यापारश्चेत्यादिः–अयमर्थोऽस्त्येवैतत् तथापि पाकादेर्विशेषात् सत्ताया अपि विशेषो ज्ञायते स्वरूपेण, न हि स एव पाकः सैव सत्तेति, यथाऽनेकघटाच्छादक एकः पट-स्तेष्वनुष्यूतोऽपि तेभ्यो भिद्यते, न हि स एव पटः स एव घट इति, एवं कृतेऽपि तथा ।

भावे घञीति–यथा क्रियाशब्दस्य न करोत्यर्थः प्रवृत्तिनिमित्तं किन्तु कारकव्यापार-विशेषस्तथा भावशब्दे च न भवत्यर्थः प्रवृत्तिनिमित्तमपि तु कारकव्यापार एवेत्यर्थः, यदाह हरिः—

आख्यातशब्दे भागाभ्यां साध्यसाधनवर्त्तिता ।
प्रकल्पिता यथाशास्त्रे, स घञादिष्वपि क्रमः ।। १ ।।

साध्यत्वेन क्रिया तत्र, धातुरूपनिबन्धना ।
सत्वभागस्तु यस्तस्याः, स घञादिनिबन्धनः ।।२।।

तत्र सिद्धस्वभावेति– निर्द्धारणसप्तम्यन्तात् त्रप्, सिद्धसाध्यभेदयोर्मध्ये इत्यर्थः ।

परितः परिच्छन्नेति-निष्पन्नत्वात् सर्वात्मना ज्ञातेत्यर्थः परिनिष्ठितरूपा वेत्यर्थः ।

सत्वभावमापन्नेति—अयमर्थः पाक इत्यादौ प्रकृतिभागः साध्यरूपमर्थमाह प्रत्ययभागस्तु सत्त्वरूपताम् ।

भूतभविष्यदित्यादि—सर्वेषां द्वंद्वपूर्वो बहुव्रीहिः पृथगर्थत्वात्, भूतभविष्यद्वर्त्तमानाश्च ते सदसन्तश्चेति कर्म्मधारयपूर्वो वा, आदिशब्दात् प्रत्यक्षपरोक्षता ।

विपरिणमते इति—विपरिणमति देवदत्तः पदार्थं स एवं विवक्षते, नाहं विपरिणमामि स्वयमेव विपरिणमते, 'एकधातौ०" ३-४-८६ इत्यात्मनेपदं, किरादित्वाच्च क्याभावः एवमपक्षीयते इत्यत्रापि ।

यावत् सिद्धमसिद्धं वेति सिद्धं सत्तादि, असिद्धं तु कटादि । नन्वेवं तर्हि सत्तायाः साध्यमानता कया रीत्या ? उच्यते,-यथा एकस्मिन् स्थाने पाषाणखण्डं कस्तूरिका चास्ति, ततः कस्तूरिकामाहात्म्यात् पाषाणखण्डमपि सुगन्धि भवत्येवमत्रापि कस्मिंश्चिदेकस्मिन् पिण्डे पाकक्रिया सत्ता च विद्यते पाकक्रिया च पूर्वापरीभूता ततस्तस्या माहात्म्यात् सत्तापि पूर्वापरीभूता भवति इति साध्यमानत्वं किंबहुनाख्यातपदेन उच्यमानः सिद्धभावोऽपि साध्यरूपतां भजति तन्माहात्म्यात् ।

न प्रादिरप्रत्ययः ॥ ३. ३. ४ ॥

'प्रादिश्चाद्यन्तर्गणः, स धातुः,-धातोरवयवो न भवति-तं च्युदस्य ततः पर एव धातुसंज्ञो वेदितव्यः, अप्रत्यय.—न चेत् ततः परःप्रत्ययो भवति । अभ्यमनायत, अभिमिमनायिषते, अभिमनाय्य गतः, प्रासादीयत्, प्रासिसादीयिषति, प्रासादीय्य गतः । प्रादिरिति किम् ? अमहापुत्रीयत् । अप्रत्यय इति किम् ? 'औत्सुकायत, उत्सुसुकायिषते, उत्सुकायित्वा । 'अभिमनायादिः प्रत्ययान्तः स प्रादिसमुदायः क्रियार्थ इति तस्मिन् धातुसंज्ञे प्राप्ते प्रादिस्ततः प्रतिषेधेन बहिष्क्रियते, ततश्च तत उत्तर एव धातुरिति तस्याद् द्विर्वचनं च भवति, प्रादेश्चोत्तरेण समास इति क्त्वाया यबादेशः । असंग्रामयत शूर इति नायं सम् प्रादिः, किन्तु धात्ववयवः, यथा-विच्छाद्यवयवो विः, "संग्रामणि युद्धे" इत्यखण्डस्य चुरादौ पाठात् ॥ ४ ॥

न्या० स०-न प्रादि०–प्रासादीय्य गत इति–यद्यत्र धातुत्वं स्यात्तदा 'गतिक्वन्य' ३-१-४२ इति समासो न स्यात् 'नाम नाम्ना०' ३-१-१८ इत्यनुवर्त्तनात्, धातुत्वे च नामत्वं न स्यात् । **उत्सुसुकायते इति** 'नाम्नो द्वितीयात् ४-१-७ इति सु इति द्विरुक्तः, 'घुटस्तृतीयः' २-१-७६ इति कृतदस्थानतकारस्य परेऽसत्त्वात् 'न बदनम्' ४-१-५

इति द्वित्वाभावः, अन्वित्यधिकाराद् वा पश्चात् 'अघोषे' १-३-५० इति तः, ततः सुइत्यस्यैव द्वित्वम् ।

अवौ दा-धौ दा ॥ ३. ३. ५ ॥

'दा धा' इत्येवंरूपौ धातू अवानुबन्धौ दासंज्ञौ भवतः । दारूपाश्चत्वारः, धारूपौ द्वौ । दांम्-प्रणिदाता, देंङ्-प्रणिदयते, डुदांग्क्-प्रणिददाति, दोंच्-प्रणिद्यति; ट्धें-प्रणिधयति, डुधांग्क्-प्रणिदधाति । दाधारूपोपलक्षितस्य दासंज्ञावचनात् 'दो दें ट्धें' इत्येतेषां शिति दा-धारूपाभावेऽपि दासंज्ञा सिद्धा । दीङो दारूपस्य बहिरङ्गत्वान्न भवति, ततश्च 'उपादास्त' इत्यत्र "इश्च स्थादः" [४. ३. ४१] इतीत्वं न भवति । अवाविति किम् ? दांव्-दातं बर्हिः, दैव्-अवदातं मुखम् । अविति वकारो न पकारः, दातिर्दायतिश्च वकारानुबन्धौ, तेन प्रणिदापयति प्रणिधापयतीत्यत्र दासंज्ञायां सत्यां नेर्णत्वं सिद्धम् । दाप्रदेशाः- "ह्रो दः" [४. १. ३१] इत्यादयः ॥ ५ ॥

वर्त्तमाना-तिव् तस् अन्ति, सिव् थस् थ, मिव् वस् मस्; ते आते अन्ते, से आथे ध्वे, ए वहे महे ॥ ३. ३. ६ ॥

इमानि, वचनानि वर्तमानसंज्ञानि भवन्ति । वित्करणं "शिदवित्" [४. ३. २०] इत्यत्र विशेषणार्थम्, एवमन्यत्रापि वित्करणस्य प्रयोजनं द्रष्टव्यम् । वर्तमानाप्रदेशाः- "स्मे च वर्तमाना" [५. २. १६] इत्येवमादयः ॥ ६ ॥

न्या० स०-वर्तमाना-संज्ञिनां बहुत्वेऽपि संज्ञागतैकत्वाश्रयणात् वर्त्तमानेति संज्ञाया एकवचनं, वचनभेदेऽपि संज्ञासंज्ञिनिर्देशो भवत्यनवर्णा नामीतिवत् ।

सप्तमी-यात् याताम् युस्, यास् यातम् यात, याम् याव याम; ईत ईयाताम् ईरन्, ईथास् ईयाथाम् ईध्वम्, ईय ईवहि ईमहि ॥ ३. ३. ७ ॥

इमानि वचनानि सप्तमीसंज्ञानि भवन्ति । सप्तमीप्रदेशाः-"इच्छार्थे कर्मणः सप्तमी" [५. ४. ८९] इत्येवमादयः ॥ ७ ॥

पञ्चमी-तुव् ताम् अन्तु, हि तम् त, आनिव आवव आमव्; ताम् आताम् अन्ताम्, स्व आथाम् ध्वम्, ऐव् आवहैव् आमहैव् ॥ ३. ३. ८ ॥

इमानि वचनानि पञ्चमीसंज्ञानि भवन्ति । पञ्चमीप्रदेशः—"स्मे पञ्चमी" [५. ४. ३१] इत्येवमादयः ॥ ८ ॥

ह्यस्तनी-दिव् ताम् अन्, सिव् तम् त, अम्व् व म; त आताम् अन्त, थास् आथाम् ध्वम्, इ वहि महि ॥ ३. ३. ९ ॥

इमानि वचनानि ह्यस्तनीसंज्ञानि भवन्ति । ह्यस्तनी प्रदेशाः—"अनद्यतने ह्यस्तनी" [५. २. ७] इत्येवमादयः ॥ ९ ॥

एताः शितः ॥ ३. ३. १० ॥

एता वर्तमाना-सप्तमी-पञ्चमी-ह्यस्तन्यः शितः शानुबन्धा वेदितव्याः । शित्त्वाच्च शित्कार्यम्—भवति, भवेत्, भवतु, अभवत् ॥ १० ॥

अद्यतनी-दि ताम् अन्, सि तम् त, अम् व म; त आताम् अन्त, थास् आथाम् ध्वम्, इ वहि महि ॥ ३. ३. ११ ॥

इमानि वचनान्यद्यतनीसंज्ञानि भवन्ति । अद्यतनीप्रदेशाः—"अद्यतनी" [५.२.४] इत्यादयः ॥ ११ ॥

परोक्षा-णव् अतुस् उस्, थव् अथुस् अ, णव् व म, ए आते इरे, से आथे ध्वे, ए वहे महे ॥ ३. ३. १२ ॥

इमानि वचनानि परोक्षासंज्ञानि भवन्ति । परोक्षाप्रदेशाः—"श्रु-सद-वस्भ्यः परोक्षा वा" [५. २. १] इत्येवमादयः ॥ १२ ॥

आशीः-क्यात् क्यास्ताम् क्यासुस्, क्यास् क्यास्तम् क्यास्त, क्यासम् क्यास्व क्यास्म, सीष्ट सीयास्ताम् सीरन्, सीष्ठास् सीयास्थाम् सीध्वम्, सीय सीवहि सीमहि ॥ ३. ३. १३ ॥

इमानि वचनानि आशी संज्ञानि भवन्ति । कित्करणं "नामिनो गुणोऽक्ङिति" [४. ३. १] इत्यादिषु विशेषणार्थम् । आशीःप्रदेशाः—आशिष्याशीः—पञ्चम्यौ" [५. ४. ३८] इत्यादयः ॥ १३ ॥

श्वस्तनी-ता तारौ तारस्, तासि तास्थस् तास्थ, तास्मि तास्वस् तास्मस्; ता तारौ तारस्, तासे तासाथे ताध्वे, ताहे तास्वहे तास्महे ॥ ३. ३. १४ ॥

इमानि वचनानि श्वस्तनीसंज्ञानि भवन्ति । श्वस्तनीप्रदेशाः-"अनद्यतने श्वस्तनी" [५. ३. ५] इत्येवमादयः ॥ १४ ॥

भविष्यन्ती-स्यति स्यतस् स्यन्ति, स्यसि स्यथस् स्यथ, स्यामि स्यावस् स्यामस्, स्यते स्येते, स्यन्ते, स्यसे स्येथे स्यध्वे, स्ये स्यावहे स्यामहे ॥ ३. ३. १५ ॥

इमानि वचनानि भविष्यन्तीसंज्ञानि भवन्ति । भविष्यन्तीप्रदेशा -"भविष्यन्ती" [५. ३ ४] इत्यादयः ॥ १५ ॥

क्रियातिपत्तिः-स्यत् स्यताम् स्यन्, स्यस् स्यतम् स्यत, स्यम् स्याव स्याम; स्यत स्येताम् स्यन्त, स्यथास् स्येथाम् स्यध्वम्, स्ये स्यावहि स्यामहि ॥ ३. ३. १६ ॥

इमानि वचनानि क्रियातिपत्तिसंज्ञानि भवन्ति । क्रियातिपत्तिप्रदेशाः-"सप्तम्यर्थे क्रियातिपत्तौ क्रियातिपत्तिः" [५. ४ ९] इत्येवमादयः ॥ १६ ॥

त्रीणि त्रीण्यन्ययुष्मदस्मदि ॥ ३. ३. १७ ॥

सर्वासां विभक्तीनां त्रीणि त्रीणि वचनानि अन्यस्मिन्नर्थे युष्मदर्थे अस्मदर्थे चाभिधेये यथाक्रमं परिभाष्यन्ते । अन्यत्वं युष्मदस्मदपेक्षं संनिधानात् । युष्मच्छब्दोपसृष्टार्थो युष्मदर्थः, तेन भवच्छब्देनोच्यमानो न युष्मदर्थः । स पचति, तौ पचत ते पचन्ति; पचति पचतः, पचन्ति; स पचते, तौ पचेते, ते पचन्ते; पचते, पचेते, पचन्ते; भवान् पचति, भवन्तौ पचतः, भवन्तः पचन्ति इत्यादि । युष्मदि-त्वं पचसि, युवां पचथः यूयं पचथ; पचसि, पचथः, पचथ; त्वं पचसे, युवां पचेथे, यूयं पचध्वे; पचसे, पचेथे, पचध्वे । अस्मदि-अहं पचामि, आवां पचावः, वयं पचामः; पचामि, पचावः, पचामः; अहं पचे, आवां पचावहे, वयं पचामहे; पचे, पचावहे, पचामहे । एवं सर्वासु । द्वययोगे त्रययोगे च शब्दपराश्रयमेव वचनमतिदिश्यते-स च त्वं च पचथः, स चाहं च पचावः, स च त्वं चाहं च पचामः ।

कथमत्वं त्वं संपद्यते-अनहमहं संपद्यते-त्वद्भवति मद्भवति ? युष्मदस्मदोर्गौणत्वात् , त्वमादेशौ तु शब्दमात्राश्रयत्वाद् भवत एव ।

एहि मन्ये-रथेन यास्यसि, नहि यास्यसि यातस्ते पितेति प्रहासे यथाप्राप्तमेव प्रतिपत्तिर्नात्र प्रसिद्धार्थविपर्यासे किञ्चिन्निबन्धनमस्ति, रथेन यास्यसीति भावगमनाभिधानात् प्रहासो गम्यते, नहि यास्यसीति बहिर्गमनं प्रतिषिध्यते, अनेकस्मिन्नपि प्रहसितरि च प्रत्येकमेव परिहास इत्यभिधानवशात् 'मन्ये' इत्येकवचनमेव, लौकिकश्च प्रयोगोऽनुसर्तव्य इति न प्रकारान्तरकल्पना न्याय्या ।। १७ ।।

न्या० स०-त्रीणि बहुवचनं विभक्तित्रयेऽपि चरितार्थमिति कथं सर्वासामिति लभ्यते ? सत्यं, यद्येतदिष्टं स्यात्तदा विभक्तित्रयानन्तरमिदं सूत्रं कुर्यान्न सर्वविभक्त्यन्ते ।

अन्यत्वमिति—युष्मदस्मदी चाऽत्र सूत्रे संनिहितेऽतस्तदपेक्षयैवाऽन्यस्मिन्निति विज्ञायते । नन्वस्तु युष्मदस्मदपेक्षमन्यत्वं युष्मदस्मदोस्त्वत्र स्वरूपग्रहणमुतार्थग्रहणं स्वरूपेण चेत्; किमसि, विस्मरसि स्मरसायकान्, नास्मि, रमे, किं प्रतारयस्येवमिति युष्मदस्मदपेक्षमन्यत्वं युष्मदस्मदर्थप्रयोगे द्वितीयतृतीयत्रिके न स्याताम् ? इत्याह-**युष्मदर्थ** इत्यादि-नन्वर्थग्रहणे भवान् मन्यते इत्यत्रापि प्राप्नोति ? मैवं, भवच्छब्दस्य हि युष्मदर्थत्वाभावाद् द्वितीयत्रिकाप्रसङ्गः, भवच्छब्दो हि अन्यार्थो, न युष्मदर्थः, युष्मच्छब्दप्रवृत्तिं प्रति योग्यो हि युष्मदर्थो न च भवच्छब्देनाभिधीयमानो युष्मच्छब्दप्रवृत्तिं प्रति योग्यः, न हि कदाचिदेवं प्रयुज्यते त्वं भवान् पचसीति । एकेनैव तस्मिन्नुक्ते तत्रेतरस्य विषयाभावादित्याह-

तेनेत्यादि-भवच्छब्देनाभिधीयमाने युष्मदर्थाभिधायकस्यापि शब्दस्य न प्रतिषेधः । युष्मत्संबन्धेऽस्तिधातोर्वर्त्तमानासिवि प्रत्यये योऽसौ प्रयोगस्तत्सदृशत्वात् किं बहुनाऽस्येष्टत्वात् भवति ।

त्वं पचसीति-त्वमिति सामान्य उक्ते न ज्ञायते-किं गच्छसि, पठसीति विशेषार्थं पचसीति प्रयुज्यते । युष्मच्छब्दस्तु केनचिद् भ्रान्त्या पचसीति पदे भवदर्थेऽपि ज्ञाते तन्निरासाय त्वमिति प्रयोक्तुं युक्तः, यथा शंखस्य धवलत्वे सत्यपि भ्रान्त्या केनचित् पीतत्वे ज्ञाते पाण्डुर इति विशेषणमुपपन्नम् ।

कथमऽत्वं त्वमिति-अयमर्थः प्रकृतिविकृत्योरभेदविवक्षायां च्विः प्रत्ययस्त च किं प्रकृत्याश्रयणे प्रथमत्रिकेण भवितव्यमुत विकृत्याश्रयणे द्वितीयत्रिकेणेति ? उच्यते, प्रकृतेरेव संपत्तौ कर्त्तृत्वात् प्रथमेनैव भाव्यमित्याह—

त्वद्भवति मद्भवतीति-संपद्यते इत्यर्थकथनमिदमन्यथा कृ-भ्वस्तियोगाभावात् च्विर्न स्यात् !

युष्मदस्मदोर्गौणत्वादिति-अयमर्थः-अत्र पूर्वं अत्वंशब्देन सह संबन्धोऽतो युष्मच्छब्दस्य गौणत्वं, यदा तु त्वमित्यनेन प्रथमं संबन्धो विवक्ष्यते तदा भवत्येव, यद् वा युष्मदस्मदोरर्थस्य निषिध्यमानस्य कर्त्तृत्वे गौणत्वं यदा त्वनिषिद्धस्य कर्त्तृत्वं तदा भवत्येव ।

शब्दमात्राश्रयत्वादिति - अर्थाश्रयो हि शब्दानां गौणमुख्यव्यवहारो, न स्वरूपेण ।

यदाह-गौणमुख्यार्थाश्रयत्वात्तथाशब्दोऽपि व्यपदिश्यते, न च त्वमादेशविधावऽर्थचिन्ता कृतेति ।

एहि मन्ये रथेनेति – मध्यमोत्तमयोः प्राप्तयोरुत्तममध्यमविधानार्थं 'प्रहासे च च मन्योपपदे मन्यतेरुत्तम एकवच्च' इति परसूत्रमत्र प्रहासः, परिहासः, प्रहासे गम्यमाने मन्योपपदे धातौ मध्यमः पुरुषो भवति, मन्यतेश्चोत्तमः स च एकवद् भवतीति सूत्रार्थः । एहि, मन्ये ओदनं भोक्ष्यसे, न हि भोक्ष्यसे, भुक्तः सोऽतिथिभिः । एहि, मन्ये रथेन यास्यसि न हि यास्यसि, यातस्ते पिता । मध्यमोत्तमयोः प्राप्तयोरुत्तममध्यमौ विधीयेते । प्रहास इति किम् ? एहि, मन्यस ओदनं भोक्ष्ये इति सुष्ठु च मन्यसे, साधु च मन्यसे । न्यासः प्रहासे गम्यमान इति । यत्र भूतार्थाभावात् वञ्चनैव परं, तत्र वक्तुरभिप्रायाविष्करणेन प्रहासो गम्यते । मन्योपपदे इति मन्यतिरुपपदमुपोच्चारितं पदं यस्य स तथोक्तः । मध्यमस्य धातोर्विधानात् धातुरन्यपदार्थो विज्ञायते इत्याह-धाताविति स च एकवच्चेति । यत्र द्वौ मन्तारौ बहवो वा तत्रायमेकवद्भावो विधीयते, अन्यत्र तु वक्तुरेकत्वात् एकवचनं सिद्धम् । मन्य इति श्यनिर्देशो देवादिकपरिग्रहार्थः, तेन तनादिकस्य न भवति । सूत्रेऽन्ययुष्मदस्मदीति निर्देशस्यार्थपरत्वेऽपि शब्दार्थयोरभेदाच्छब्दपरत्वेन न 'त्यदादिः' ३-१-७ इत्येकशेषः, तत्रार्थपरत्वेन स्वीकृतत्वात् ।

एक-द्वि-बहुषु ॥ ३. ३. १८ ॥

अन्यादिषु यानि त्रीणि त्रीणि वचनानि उक्तानि तानि एक-द्वि-बहुत्वर्थेषु परिभाष्यन्ते–एकस्मिन्नर्थे एकवचनम्, द्वयोरर्थयोर्द्विवचनम्, बहुत्वर्थेषु बहुवचनम् । स पचति, तौ पचतः, ते पचन्ति इत्यादि । वचनभेदान्नान्यादिभिरेकादीनां यथासंख्यम् ।। १८ ।।

नवाद्यानि शतृ-क्वसू च परस्मैपदम् ॥ ३. ३. १९ ॥

सर्वासां विभक्तीनामाद्यानि नव नव वचनानि शतृ-क्वसू च प्रत्ययौ परस्मैपदसंज्ञानि भवन्ति । तिव् तस् अन्ति, सिव् थस् थ, मिव् वस् मस् एवं-सर्वासु । परस्मैपदसंज्ञाप्रदेशाः– "शेषात् परस्मै" इत्यादयः ।। १९ ।।

न्या०-स०-नवाद्यानि–नव नव वचनानीति–संज्ञिनां बहुत्वादगृहीतविप्सोऽपि नवन् शब्दो वीप्सां गमयति, एवं पराणीत्यत्रापि । नन्वनन्तरायाः क्रियातिपत्तेरेवाद्यानि परस्मैपदानीति कथं न लभ्यते ? सत्यं, लृदिद्द्युतादिसूत्रेषु अन्यासामपि विभक्तीनां परस्मैपदग्रहणात् ।

पराणि काना-ऽऽनशौ चात्मनेपदम् ॥ ३. ३. २० ॥

सर्वासां विभक्तीनां पराणि नव नव वचनानि काना-ऽऽनशौ च प्रत्ययावात्मनेपदसंज्ञानि भवन्ति । ते आते अन्ते, से आथे ध्वे, ए वहे महे, एवं-सर्वासु । आत्मनेपदप्रदेशाः– "सिजाशिषावात्मने" [४. ३. ३५] इत्यादयः ।। २० ।।

तत् साप्या ऽनाप्यात् कर्म-भावे कृत्य-क्त खलर्थाश्च ॥ ३. ३. २१ ॥

तद्-आत्मनेपदं, कृत्य-क्त-खलर्थाश्च प्रत्ययाः साप्यात्-सकर्मकाद् धातोः कर्मणि, अनाप्याद् अकर्मकादविवक्षितकर्मकाच्च भावे भवन्ति । क्रियते कटश्चैत्रेण, क्रियमाणः, करिष्यमाणः चक्राणः । भावे-भूयते भवता, भूयमानं भवता, सकर्मका अप्यविवक्षितकर्माणः कर्त्रेकनिष्ठव्यापारा अकर्मका भवन्ति, तेनैषां भावेऽपि प्रयोगः-क्रियते भवता, मृदु पच्यते भवता, पञ्च वारान् भुज्यते भवता । कृत्य-कार्यः, कर्तव्यः, करणीयो, देयः, कृत्यः कटो भवता, भवती शयितव्यम्, भवता शेयम्, भवता कार्यम्, कर्तव्यम्, करणीयम्; देयं भवता, कृत्यं भवता । क्त-कृतः कटो भवता, शयितं भवता, कृतं भवता । सकर्मकादपि क्लीबे क्तमिच्छन्त्येके- ग्रामं गतं भवता, ओदनं भुक्तं भवता । खलर्थ-सुकरः कटो भवता, सुशयं भवता, सुकरं भवता, सुकटंकराणि वीरणानि, ईषदाढ्यं भवं भवता, सुज्ञान तत्त्वं मुनिना, सुग्लानं कृपणेन । "काला-ऽध्व-भाव-देश वा०" [२. २. २३] इत्यादिना काला-ऽध्व-भाव-देशानां कर्मसंज्ञाया अकर्मकत्वस्य च विधानात् तद्योगे कर्मणि भावे चात्मनेपदादीनि भवन्ति-मास आस्यते, क्रोशो गुडधानाभिर्भूयते, गोदोहः सुप्यते, नदी सुप्यते, मास आसितव्यः, मास आसितः, मासो दुरासः; भावे-मासमास्यते, क्रोशमधीयते, ओदनपाकं स्थीयते, कुरून् सुप्यते, मासमासितव्यम्, मासमासितव्, मासं स्वासम् । भावे च युष्मस्मत्संबन्धनिमित्तयोः कर्तृ-कर्मणोरभावात् प्रथममेव त्रयं भवति, साध्यरूपत्वाच्च संख्यायोगो नास्तीति औत्सर्गिकमेकवचनमेव भवति । पाकः पाकौ पाकाः, पाको वर्तते, पाकं करोतीत्यादौ च नव्ययकृदभिहितो भावो द्रव्यवत् प्रकाशत इति संख्यया लिङ्गेन कारकैश्च युज्यते, त्यादिनेवाव्ययेनाभिहितस्त्वसत्त्वरूपत्वान्न युज्यते 'उष्ट्रासिका आस्यन्ते, हतशायिकाः शय्यन्ते' इति तु बहुवचनं कृदभिहितेनाभेदोपचाराद् भवतीति ।। २१ ।।

न्या०-स०-तत्साप्याऽनाप्या-तेनैषां भावेऽपीति-भावे क्रिया न स्वाश्रिता, न पराश्रिता किन्तु निराधारैव शाब्द्या वृत्त्या, आर्थ्या तु भवतीत्यपि ।

ग्रामं गतं भवतेति भवता कर्त्रा गतं वर्त्तते । कं ग्रामं 'वा क्लीब' २-२-९२ इति षष्ठ्यपि भवति, यथा ग्रामस्य गतमिति ।

मासमासितव्यमिति-द्वितीयाप्रदानकाले कर्म्मसंज्ञा षष्ठीप्रदानकाले तु न स्याद्वादात् ।

भावे च युष्मदस्मत्संबन्धेति युष्मदस्मदोर्यः संबन्धस्तस्य निमित्तयोः कारणभूतयोरित्यर्थः, यद्यपि नाऽकर्तृको भाव इति तथापि यत्र सामानाधिकरण्येनात्मनेपदाभिधेयः कर्त्ता कर्म्म वा भवति स संबन्धो ग्राह्यो, भावे तु न तादृशः धात्वर्थ एव तत्र विधानात्, यथा त्वं पाठ्यसे इत्यत्र कर्म्मरूपो युष्मदर्थः, आत्मनेपदेन प्रतिपाद्यते । त्वं पठसीति कर्तृरूपः, एवमहं पाठ्ये, अहं पाठयामीत्यत्रापि । ततश्च कर्म्मकर्त्रोः प्रतिपादित्वात् आत्मनेपदेन कर्म्मकर्तृकार्यं न भवतः, न तथा त्वया भूयते इत्यत्र भावप्रत्ययेन कश्चिदर्थः प्रतिपाद्यते । अतश्च युष्मदस्मदोऽतिरिक्तार्थप्रतिपादकत्वात् प्रथममेव त्रयम् ।

औत्सर्गिकमिति-एकवचनं च संख्याविशेषाणामभावेऽभेदैकत्वं तन्निबन्धनं न तु संख्यानिबन्धनं द्वित्वप्रतियोगि ।

त्यादिनेवाव्ययेनेतिः–यथा त्याद्यभिहितो भावोऽसत्त्वरूपतां भजति तथाऽव्ययेनापीत्यर्थः, अव्ययेनेति चोपलक्षणं तेन भावे कृत्यप्रत्ययान्तेनापि तथैव ।

बहुवचनमिति–आस्यन्ते, शय्यन्ते इत्यस्य अव्ययेनेव त्याद्यभिहित-भावस्येत्यर्थः ।

अभेदोपचारादिति–आस्यन्ते इत्येवंरूपस्य साध्यभावस्योष्ट्रासिकारूपेण सिद्धतारूयेन सहेत्यर्थः । 'कया युक्त्या आस्यन्ते' इति कोऽर्थः ? आसनानि वर्त्तन्ते किंविशिष्टानि ?, उष्ट्रासिका उष्ट्रासिकारूपाणि, एवं द्वितीयेऽपि ।

इङितः कर्तरि ॥ ३. ३. २२ ॥

इकारेतो ङकारेतश्च धातोः कर्त्तर्यात्मनेपदं भवति । इदित्-एधि-एधते, स्पर्धि-स्पर्धते, एधमानः, स्पर्धमानः । ङित्-शिङ् शेते, शयनः, ह्नुङ् ह्नुते, ह्नुवानः; महीङ्–महीयते, महीयमानः, कामयते, कामयमानः; श्येनायते, श्येनायमानः; पापच्यते, पापच्यमानः; उत्पुच्छयते, उत्पुच्छयमानः । एभ्य एव कर्तरीति नियमार्थं वचनम् ।। २२ ।।

न्या० स०–इङितः–भावकर्म्मणोः पूर्वसूत्रोपादानन्यादेव कर्तृग्रहणे सिद्धे तद्ग्रहणमुत्तरार्थं तेनोत्तरसूत्रेण कर्त्तर्येव विधानं, ततो व्यतिगम्यन्ते ग्रामा इत्यादिषु पूर्वेणात्मनेपदं सिद्धमन्यथा अगतीत्यंशेन निषेधः स्यादिति तत्र स्वयमेव कथयिष्यति ।

नियमार्थमिति–सतीत्यादिसूत्रैः परस्मैपदात्मनेपदविशेषरहितानां सामान्येन वर्त्तमानादिविभक्तीनां विधानादात्मनेपदे सिद्धे नियमः, प्रत्ययनियमश्चायं, एभ्य आत्मनेपदमेव न प्रत्ययान्तरमिति, विपरीतनियमो न 'इङितो व्यञ्जन०' ५–२–४४ इत्यादिकरणात्, कर्त्तर्येवात्मनेपदमेभ्य इत्यपि वैपरीत्यं न तत्साध्येत्यस्य व्यक्त्या प्रवृत्तेः ।

क्रियाव्यतिहारेऽगति-हिंसा--शब्दार्थ-हसो ह्-वहश्चानन्योऽन्यार्थे ॥ ३. ३. २३ ॥

इतरेण चिकीर्षितायां क्रियायामितरेण हरणं करणं क्रियाव्यतिहारः, तस्मिन् अर्थे वर्त्तमानाद् गतिहिंसाशब्दार्थ–हसवर्जिताद् धातोर्ह् वहिभ्यां च कर्तर्यात्मनेपदं भवति, न चेदन्योऽन्यार्थाः–अन्योऽन्येतरेतरपरस्परशब्दाः प्रयुज्यन्ते । व्यतिलुनते, व्यतिपुनते, व्यतिहरन्ते भारम्, संप्रहरन्ते राजानः, संविवहन्ते वर्गाः । हृ-वहोर्गतिहिंसार्थत्वात् प्रतिषेधे प्राप्ते प्रतिप्रसवार्थमुपादानम् । व्यतिहार इति किम् ? लुनन्ति, पुनन्ति । क्रियेति किम् ? द्रव्यव्यतिहारे मा भूत्–चैत्रस्य धान्यं व्यतिलुनन्ति अत्र लुनातिरुपसंग्रहात्मके लवने वर्तते । चैत्रेण यत् गृहीतं धान्यं पुरस्ताल्लवनेनोपसंगृह्णन्तीत्यर्थः । अगति–हिंसाशब्दार्थ-हस इति किम् ? । व्यतिगच्छन्ति, व्यतिसर्पन्ति, व्यतिहिंसन्ति, व्यतिघ्नन्ति, व्यतिजल्पन्ति, व्यतिपठन्ति, व्यतिहसन्ति । अनन्योऽन्यार्थे इति किम् ? अन्योऽन्यस्य व्यतिलुनन्ति इतरेतरस्य व्यतिलुनन्ति,परस्परस्य व्यतिलुनन्ति । क्रियाव्यतिहारो व्यतिनैव द्योतित

इत्यन्योऽन्यादिभिस्तत्कर्माभिसंबध्यते अन्योऽन्यस्य केदारमिति । कर्तरीत्येव ? तेन भाव-कर्मणोः पूर्वेणैव स्यादनेन मा भूत्, यदि ह्यनेन स्यात् तदा व्यतिगम्यन्ते ग्रामाः, व्यति-हन्यन्ते दस्यव इत्यत्रागतिहिंसाशब्दार्थहस इति प्रतिषेधः स्यादिति ।। २३ ।।

न्या० स०-क्रियाव्य०-अनेकार्थत्वात् हरणमित्यस्य करणं पर्याय: । तस्मिन्नर्थे इति-यदा अन्येन कर्त्तव्यां क्रियामन्य: करोति, तत्कर्त्तव्यां चेतरस्तदा क्रियाणां व्यतिहारे विनिमये इत्यर्थ: ।

संविवहन्ते इति-अनेकार्थत्वात् गत्यर्थोऽत्र वहि: । अत्र लुनातीति-अयमर्थ: व्यतिहृतं धान्यं लुनन्ति लवनेनोपसंगृह्णन्तीति द्रव्यमत्र व्यतिह्रियते न लवनक्रिया, न ह्यत्र व्यतिना लुनातिर्युक्तोऽपि त्वप्रयुक्तोऽपि गृह्णातिस्तस्य धान्यं कर्म्म न क्रियेत्याह-लुनातिरुपसंग्रहात्मके इति-उपसंग्रहस्य लवनपूर्वकलाभस्यात्मा यस्मात् लवनात् कोऽर्थ: लवनपूर्वकं लानमित्यर्थ: ।

क्रियाव्यतिहार इति-लौकिके शब्दव्यवहारे लाघवानादरादन्योन्यादिशब्दा उपसर्गाश्च क्रियाव्यतिहारद्योतनाय प्रयुज्यन्ते इति न पौनरुक्त्यं, अपौनरुक्त्यं माभूत् अत्र तु क्रियाव्यतिहारस्य व्यतिनैव द्योतितत्वात् क्व अन्योन्यादिशब्दा: संबध्यन्त इत्याह-क्रियाव्यतिहार इत्यादि । तत्कर्माभिसंबध्यते इति-अत्र क्रियाव्यतिहारो द्रव्यव्यतिहारश्च वर्त्तते ततः क्रियाव्यतिहारे प्राप्तम् ।

निविशः ।। ३. ३. २४ ।।

निपूर्वाद् विशः कर्तात्मनेपदं भवति । निविशते । न्यविशतेत्यटो धात्ववयवत्वान्न व्यवधायकत्वम् । मधुनि विशन्ति भ्रमरा इत्यादि [इत्यादौ] तु निविशोरसम्बन्धादनर्थक-त्वाच्च न भवति ।। २४ ।।

न्या० स०-निविश:—ने: परो विश् ने: संबन्धी विशित्यनन्तरानन्तरिसंबन्धो वा विधेय: ।

उपसर्गादस्योहो वा ।। ३. ३. २५ ।।

'उपसर्गात् पराभ्यामस्यत्यूहिभ्यां कर्तर्यात्मनेपदं वा भवति । विपर्यस्यति, विपर्य-स्यते; समूहति, समूहते, "संततं तिमरमिन्दुरुदासे" [माघे] । "यशः समूहन्निव दिग्विकीर्णम्" [किराते] । अस्येति श्यनिर्देशोऽस्त्यसतिनिवृत्त्यर्थः । उपसर्गादिति किम् ? अस्यति, ऊहते । अस्यतेरप्राप्ते ऊहतेश्च नित्यं प्राप्ते उभयत्र विभाषेयम् । अन्ये त्वकर्म-काभ्यामेवेच्छन्ति, प्रत्युदाहरन्ति च निरस्यति शत्रून्, समूहते पदार्थान् ।। २५ ।।

न्या० स०-उपसर्गा०:—

लेखयाविमलविद्रुमभासा-संततं तिमिरमिन्दुरुदासे ।
दंष्ट्रया कनकभङ्गपिशङ्ग्या, मण्डलं भुव इवादिवराहः ।। १ ।।

व्रीडानतैराप्तजनोपवीतः, संशय्य कृच्छ्रेण नृपैः प्रपन्नः ।
वितानभूतं विततं पृथिव्यां, यशः समूहन्निव दिग्विकीर्णम् ।। २ ।।

उत्-स्वराद् युजेरयज्ञ-तत्पात्रे ।। ३. ३. २६ ।।

उदः स्वरान्ताच्चोपसर्गात् पराद् युनक्तेः कर्तर्यात्मनेपदं भवति, अयज्ञतत्पात्रे–न चेद् यज्ञे यत् तत्पात्रं तद्विषयो युज्यर्थो भवति । उद्युङ्क्ते, उपयुङ्क्ते, नियुङ्क्ते । उत्-स्वरादिति किम् ? संयुनक्ति, निर्युनक्ति । अयज्ञ-तत्पात्र इति किम् ? द्वन्द्वं यज्ञपात्राणि प्रयुनक्ति । यत्र तु यज्ञ एव न तु तत्पात्रम्, तत्पात्रमेव वा न यज्ञस्तत्र भवत्येव । यज्ञे मन्त्रं रन्धनपात्राणि वा प्रयुङ्क्ते, यज्ञपात्राणि रन्धने प्रयुङ्क्ते । "युजिच् समाधौ" इत्यस्येदित्वादात्मनेपदविधानमनर्थकम् ।। २६ ।।

न्या० स०–उत्स्वराः—युजेरीदित्वात् फलवति सिद्धेऽफलवदर्थमिदम् । **युजिच् समाधाविति**–न च वाच्यं नियमो व्याख्यास्यतेऽयज्ञतत्पात्रविषय एवास्यात्मनेपदमिति, यज्ञपात्रविषयेऽस्य प्रयोगाभावात्, कथंचित् प्रयोगेऽपि वा नियमाद्विधिः श्रेयानिति भाष्यकारः ।

परिव्यवात् क्रियः ।। ३. ३. २७ ।।

'परि वि अव' इत्येतेभ्य उपसर्गेभ्यः पराक्रीणातेः कर्तर्यात्मनेपदं भवति । परिक्रीणीते, विक्रीणीते, अवक्रीणीते; सर्वत्रेगितः फलवतोऽन्यत्र विधिः । उपसर्गादित्येव ? उपरि क्रीणाति, गवि क्रीणाति, वनं बहुविक्रीणाति, अपचाव: क्रीणीवः । 'क्री' इत्यनुकरणमनुकार्येनार्थेनार्थवदितिनामत्वे सति ततः स्यादयः, ॐप्रकृतिवदनुकरणम्ॐ इति न्यायाच्च धातुकार्यमियादेशः । अत एव च ज्ञापकात्-प्रकृतिवदनुकरणे कार्यं भवति, तेन 'मुनी इत्याह' द्विष्पचतीत्याह इत्यादौ प्रकृतिभाव-षत्वविकल्पावपि सिद्धं भवति ।। २७ ।।

न्या० स०–परिव्यवा०–अन्यत्र विधिरिति–अत एव व्यावृत्त्युदाहरणेषु सर्वत्र परस्मैपदम् । **प्रकृतिवदिति**–वत्करणाच्च सर्वथा धातुत्वाभावान्न त्यादयः । **प्रकृतिभावषत्वेत्यादि** 'ईदेद्द्विवचनम्' १–२–३४ इति प्रकृतिभावः 'सुचो वा' २–३–१० इत्यनेन तु षत्वविकल्पः । द्विरिति, पचतीति च पृथक् केनापि प्रयुक्तं तद्द्वयमनुक्रियते, तत्र यथाऽनुकार्ये द्विष्पचतीत्यत्र षत्वं तथाऽनुकरणेऽपि, एवं प्रथमेऽपि यथानुकार्येऽसंधिस्तथानुकरणेऽपि ।

परा–वेर्जेः ।। ३. ३. २८ ।।

'परा-वि' इत्येताभ्यामुपसर्गाभ्यां पराज्जयतेः कर्तर्यात्मनेपदं भवति । पराजयते, विजयते । उपसर्गादित्येव ? सेना पराजयति, बहु विजयति वनम् ।। २८ ।।

न्या० स०–परावेर्जेः—जिरिति धातुत्वकरणेऽपि न धातुकार्यमियादेशः बाहुलकात् ।

समः क्ष्णोः ३. ३. २९ ॥

समः परात् क्ष्णौतेः कर्तर्यात्मनेपदं भवति । संक्ष्णुते शस्त्रम् । सम इति किम् ? क्ष्णौति । उपसर्गादित्येव ? आयसं क्ष्णौति ।। २९ ।।

न्या० स०-समः क्ष्णोः-ननु समो गमृच्छित्यत्रैव क्ष्णुग्रहणं क्रियतां किं पृथगारम्भेण ? नैवं, तत्र कर्म्मण्यसतीत्यनुवर्त्तनात्, इह तु संक्ष्णुते शस्त्रमिति सकर्म्मणोऽपि भवति ।

अपस्किरः ॥ ३. ३. ३० ॥

अपपूर्वात् किरतेः सस्सट्कात् कर्तर्यात्मनेपदं भवति । अपस्किरते वृषभो हृष्टः, अपस्किरते कुक्कुटो भक्ष्यार्थी, अपस्किरते श्वा आश्रयार्थी "अपाच्चतुष्पात् पक्षि-शुनि हृष्टाऽन्नाऽऽश्रयार्थे" [४-४-९६] इति स्सट् । सस्सट्कनिर्देशादिह न भवति-अपकिरति वृषभः । अपेति किम् ? उपस्किरति ।। ३० ।।

न्या० स०-अपस्किरः—वृषभो हृष्ट इति-'हृषच् तुष्टाविति' विस्मयार्थो विवक्ष्यते ततो 'हृषेः केश' ४-४-७६ इति इड्विकल्पः, अनेकार्थत्वात् 'हृषू अलीके' इत्येषोऽपि हर्षे ततस्तस्य क्ते रूपम् । तुषं हृषच् तुष्टावित्यप्यूदितं मन्यते नन्दी । हृष्टिरस्यास्तीति 'अभ्रादिभ्यः' ७-२-४६ इत्यप्रत्ययो वा, अन्यथा इट् स्यात् ।

उदश्चरः साप्यात् ॥ ३. ३. ३१ ॥

उत्पूर्वाच्चरतेः साप्यात्-सकर्मकात् कर्तर्यात्मनेपदं भवति । गुरुवचनमुच्चरते, मार्गमुच्चरते, व्युत्क्रम्य गच्छतीत्यर्थः; ग्रासमुच्चरते, सक्तूनुच्चरते-भक्षयतीत्यर्थः । उद इति किम् ? चारं चरति । साप्यादिति किम् ? धूम उच्चरति, शब्द उच्चरति, ऊर्ध्वं गच्छतीत्यर्थः ।। ३१ ।।

न्या० स०-उदश्चरः— व्युत्क्रम्य गच्छतीति-ननु चैवमपि व्युत्क्रमणस्य क्रियान्तरस्य धात्वन्तरार्थत्वान्न तत्कर्मणा चरिः सकर्मक इत्युदाहरणायोगः ? उच्यते, चरिरेवात्र व्युत्क्रमणोपसर्जनायां विशिष्टायां गतौ वर्त्तते, यथा 'जीव प्राणधारणे' इति जीवतिरेव विशिष्टे धारणे इति, तद्व्युत्क्रमणं चरावन्तर्भूतमिति, चरेरेवार्थ इति सकर्मक इत्यदोषः, प्रत्युदाहरणे तु गतिमात्रे वर्त्तते न व्युत्क्रमणाङ्गे धातूनामनेकार्थत्वादिति ।

समस्तृतीयया ॥ ३. ३. ३२ ॥

समः पराच्चरतेस्तृतीयान्तेन योगे सति कर्तर्यात्मनेपदं भवति । अश्वेन संचरते, रथेन संचरते । तृतीययेति किम् ? उभौ लोकौ संचरसि, इमं च मुं च देवल । किं त्वं करिष्यसि रथ्यया संचरति चैत्रोऽरण्ये ? इत्यत्र तु तृतीयान्तेन योगाभावान्न भवति ।।३२।।

न्या० स०-समस्तृती०-धातोस्तृतीयया योगाभावादित्याह **तृतीयान्तेनेति-उभौ लोकौ संचरसीति**-यद्यप्यत्र विद्यया तपसा वेत्यर्थादिह तृतीयान्तं गम्यते तथापि तृतीययेति सहयोगे तृतीया साक्षाद्योगप्रतिपत्यर्थं न गम्यमाने इति प्रत्युदाह्रियतेऽन्यथा करणमन्तरेण क्रियासिद्धेऽभावाद् व्यावृत्तिरेव न घटत इति भावः, न हि काचित् क्रिया करणमन्तरेण भवतीति। सह धनेन देवदत्तः संचरतीत्यत्र तु विद्यमानार्थतायां चरतेस्तृतीयान्तेन योगाभाव एव, तत्र हि तृतीयान्तं कर्त्रैव युक्तं न संचरतिना, न हि तद्धनं चैत्रेण सह संचरतीति।

क्रीडोऽकूजने ॥ ३. ३. ३३ ॥

कूजनमव्यक्तः शब्दः ततोऽन्यस्मिन्नर्थे वर्तमानात् संपूर्वात् क्रीडेः कर्तर्यात्मनेपदं भवति। संक्रीडते, संक्रीडमाणः, रमते इत्यर्थः। सम इत्येव? क्रीडति। अकूजन इति किम्? संक्रीडन्ति शकटानि, अव्यक्तं शब्दं कुर्वन्तीत्यर्थः॥ ३३॥

अन्वाङ्परेः ॥ ३. ३. ३४ ॥

'अनु आङ् परि' इत्येतेभ्य उपसर्गेभ्यः परात् क्रीडतेः कतर्यात्मनेपदं भवति। अनुक्रीडते, अनुक्रीडमाणः। आक्रीडते, आक्रीडमानः। परिक्रीडते, परिक्रीडमानः। उपसर्गादित्येव? माणवकमनुक्रीडति, माणवकेन सह क्रीडतीत्यर्थः, धातुना अनोरसम्बन्धाद् वा न भवति। एवं उपरिक्रीडति॥ ३४॥

न्या० स०-अन्वाङ्प०-माणवकमनुक्रीडतीति-अत्रानोर्माणवकेन योगादुपसर्गत्वाभावादुपसर्गानुवृत्तेरत्रनात्मनेपदम्। **अनोरसंबन्धाद् वेति**-उपसर्गनिरपेक्षमिदमुक्तं कोऽर्थः? उपसर्गाननुवृत्तावप्यन्वाङ्परेरिति आवृत्त्या संबन्धषष्ठ्या आश्रयणादनोर्धातुना संबन्धाभावात्तदभाव इति।

शप् उपलम्भने ॥ ३. ३. ३५ ॥

उपलम्भनेऽर्थे वर्त्तमानाच्छपतेः कर्तर्यात्मनेपदं भवति। उपलम्भनं-प्रकाशनं ज्ञापनम्। मैत्राय शपते, मैत्रं कश्चिदर्थं बोधयतीत्यर्थः, मैत्रमेवंभूतोऽसावित्यन्यस्मै प्रकाशयतीत्येके। अथवा स्वाभिप्रायस्य परत्राविष्करणमुपलम्भनं शपथ इति यावत्। मैत्राय शपते इति, वाचा मात्रादिशरीरस्पर्शनेन मैत्रं स्वाभिप्रायं बोधयतीत्यर्थः। प्रोषितस्य भावाऽभावोपलब्धौ कस्यचिदर्थस्यासेवनं चोपलम्भनम्-मैत्राय शपते इति, प्रोषिते मैत्रे तस्य भावेऽभावे चोपलब्ध सति तदनुरूपं किञ्चिदनुतिष्ठतीत्यर्थः। उपलम्भन इति किम्? मैत्रं शपति, आक्रोशतीत्यर्थः॥ ३५॥

न्या० स०-शप उ०-प्रकाशयतीत्येके इति-अस्मिन् व्याख्याने मैत्रशब्दान्मतान्तरेणैव चतुर्थी प्रयोज्यत्वाभावान्मैत्रस्य।

आशिषि नाथः ॥ ३. ३. ३६ ॥

आशिष्येवार्थे वर्तमानान्नाथतेः कर्तर्यात्मनेपदं भवति । सर्पिषो नाथते, मधुनो नाथते-सर्पिर्मे भूयान्मधु मे भूयादित्याशास्ते इत्यर्थः । आशिष्येवेति नियमः किम् ? याच्ञायां मा भूत्-मधु नाथति । ङित्करणं त्वस्यानप्रत्ययार्थम् ॥ ३६ ॥

भुनजोऽत्राणे ॥ ३. ३. ३७ ॥

त्राणात्-पालनादन्यत्रार्थे वर्तमानाद् भुनक्तेः कर्तर्यात्मनेपदं भवति । ओदनं भुङ्क्ते, परिभुङ्क्ते । अत्राण इति किम् ? महीं भुनक्ति-पालयतीत्यर्थः; "अम्बरीषश्च नाभागो बुभुजाते चिरं महीम्" इत्यत्र तु न पालनं भुजेरर्थः, किन्तु पालननिमित्तक उपकारः, धातूनामनेकार्थत्वात्, पालनेन महीमुपकृतवन्तौ मह्याश्रयं फलं स्वीकृतवन्ताविति वेत्यर्थः । उभयपदिनमेनमन्ये मन्यन्ते । भुनजिति श्नानिर्देश "भुजोंत् कौटिल्ये" इत्यस्य निवृत्त्यर्थः-ओष्ठौ निर्भुजति, कुटिलयतीत्यर्थः ॥ ३७ ॥

न्या० स०-भुनजो०:—

अरिषड्वर्गमुत्सृज्य, जामदग्न्यो जितेन्द्रियः ।
अम्बरीषश्च नाभागो, बुभुजति चिरं महीम् ॥ १ ॥

अमति गच्छति प्रतिष्ठां 'अमेर्वरादिः' ५५५ (उणादि) इति ईषप्रत्यये अम्बरीषो राजा, किं भूतो ? नाऽभागः, न विद्यते भागः पुण्यमस्य, न अभागो नाभागः, यद्वा न भागः पिता देवतास्य 'देवता' ६-२-१०१ इत्यण् ।

भुजोंत् कौटिल्ये इतीति-अथ ❀ निरनुबन्धग्रहणे ❀ इति न्यायादेवास्य न भविष्यति ? सत्यं, जात्याश्रयणेऽत्रापि स्यात्, न्यायानामनित्यत्वाद् वा ।

हृगो गतताच्छील्ये ॥ ३. ३. ३८ ॥

गतं प्रकारः सादृश्यमनुकरणमित्येकोऽर्थः, तच्छीलमस्य तच्छीलस्तस्य भावस्ताच्छील्यम्, उत्पत्तेः प्रभृत्याविनाशात् तत्स्वभावता । हरतेः प्रकारताच्छील्येऽर्थे वर्तमानात् कर्तर्यात्मनेपदं भवति । शब्दशक्तिस्वाभाव्याच्चानुपूर्व एव हरतिर्गतताच्छील्ये वर्तते । पैतृकमश्वा अनुहरन्ते, मातृकं गावोऽनुहरन्ते, पितुरागतं मातुरागतं गुणविषयं क्रियाविषयं वा सादृश्यमविकलं शीलयन्तीत्यर्थः । एवं-पितुरनुहरते, पितरमनुहरते; मातुरनुहरते, मातरमनुहरते । गतग्रहणं किम् ? पितुर्हरति, मातुर्हरति । ताच्छील्य इति किम् ? नटो राममनुहरति-नटो हि कञ्चिदेव कालं राममनुकरोतीत्यसातत्ये न भवति । यद्वा गमनं गतं, तस्य पित्रादेः शीलमस्य तच्छीलस्तस्य भावस्ताच्छील्यम्, गतेन-गमनेन ताच्छील्यं गतताच्छील्यं,- तस्मिन्नर्थे वर्तमानाद्धरतेः कर्तर्यात्मनेपदं भवति । पैतृकमश्वा अनुहरन्ते-पितुरागतं गमनमविच्छेदेन शीलयन्तीत्यर्थः । एवं-पितुरनुहरते, पितरमनुहरते । गतताच्छील्य इति किम् ?

धर्मान्तरेण पितरमनुहरन्ति। अथवा गते-गमने ताच्छील्ये च वर्तमानाद्धरतेरात्मनेपदं भवति-पैतृकमश्वा अनुहरन्ते, तद्वद् गच्छन्ति-तद्वच्छीलन्ति वेत्यर्थः ।। ३८ ।।

न्या० स०-हृगो गत-गम्यते ज्ञायते सदृशतया गतं कर्म्मेति व्युत्पत्त्या सादृश्यं तच्च तत् तेन वा ताच्छील्यं तस्मिन्। केवलोऽपि हरतिस्ताच्छील्ये उच्यते यथा पितुर्हरतीति, परं गतताच्छील्येऽनुपूर्व एव, अनुपूर्वो हरतिर्गतताच्छील्य एवोदेतीति वैपरीत्यं न, नटो राममनुहरतीत्यादौ गतताच्छील्यं विनापि सादृश्ये अनुपूर्वकहरतेर्दर्शनात्, एवं पितुरनुहरते इति प्रकाराऽनुकारसादृश्यानामैकार्थ्येऽपि शब्दशक्तिस्वाभाव्यात् सादृश्ये कर्म नास्तीति संबन्धेऽत्र षष्ठी।

तद्वद्गच्छन्तीति-पितुरागतं यथा भवति एवं गच्छन्तीत्यर्थे पैतृकशब्दात् क्रियाविशेषणादम्, तद्वदित्यत्र परार्थे प्रयुज्यमानः शब्दो वतिं विनापि वत्यर्थं गमयति। **तद्वच्छीलन्तीति**-तद्वच्चारित्रिणो भवन्ति, शील समाधौ शीलण् इत्यस्य वा णिचोऽनित्यत्वात्, नात्र ताच्छील्यं पूर्वोक्तमुत्पत्तेः प्रभृतीत्यादि।

पूजा-ऽऽचार्यक-भृत्युत्क्षेप-ज्ञान-विगणन-व्यये नियः ।। ३.३.३९ ।।

पूजाऽऽचार्यकभृतिषु यथासंख्यं कर्मकर्तृधात्वर्थविशेषणेषु गम्यमानेषु, उत्क्षेपादिषु च धात्वर्थेषु वर्तमानान्नयतेः कर्तर्यात्मनेपदं भवति। पूजा-सन्मानः-नयते विद्वान् स्याद्वादे, प्रमाणव्यापारवित् स्याद्वादे जीवादीन् पदार्थान् युक्तिभिः स्थिरीकृत्य शिष्यबुद्धिं प्रापयतीत्यर्थः, ते युक्तिभिः स्थिरीकृताः पूजिता भवन्ति। आचार्यस्य भावः कर्म वा-ऽऽचार्यकम्-माणवकमुपनयते, स्वयमाचार्यो भवन् माणवकमध्ययनाया-ऽऽत्मसमीपं प्रापयतीत्यर्थः। भृतिः वेतनम्-कर्मकरानुपनयते, वेतनेनात्मसमीपं प्रापयतीत्यर्थः। उत्क्षेपः ऊर्ध्वं नयनम्-शिशुमुदानयते, उत्क्षिपतीत्यर्थः। ज्ञानं प्रमेयनिश्चयः-नयते तत्त्वार्थे, तत्र प्रमेयं निश्चिनोतीत्यर्थः। विगणनम् ऋणादेः शोधनम्-मद्राः कारं विनयन्ते, राजग्राह्यं भागं दानेन शोधयन्तीत्यर्थः। व्ययो धर्मादिषु विनियोगः-शतं विनयते, सहस्रं विनयते, धर्माद्यर्थं तीर्थादिषु विनियुङ्क्त इत्यर्थः। एतेष्विति किम्? अजां नयति ग्रामम्। गित्वादफलदर्थ आरम्भः ।। ३९ ।।

न्या० स०-पूजाचार्यक० पूजादयोऽत्र नयतेर्विशेषणतयोपादीयमानाः केचित् साक्षाद्विशेषणभावमनुभवन्ति, केचित्तु पारंपर्येणेति विभज्याह-**पूजेत्यादिना** आचार्यकग्रहणात् आचार्यकर्म्म कुर्वन्नेवात्मनेपदविधौ कर्त्ता, अत एवाचार्य इति नोपात्तम्।

कर्तृस्थामूर्ताप्यात् ।। ३. ३. ४० ।।

कर्तृस्थममूर्त्तमाप्यं-कर्म यस्य तस्मान्नयतेः कर्तर्यात्मनेपदं भवति। श्रमं विनयते, क्रोधं विनयते-शमयतीत्यर्थः। कर्तृस्थेति किम्? चैत्रो मैत्रस्य मन्युं विनयति। अमूर्तेति किम्? गडुं विनयति, घट्टं विनयति। आप्येति किम्? बुद्ध्या विनयति। 'श्रमं विनयते'

इत्यादौ श्रमापगमादेः फलस्य कर्तृसमवायित्वात् सिद्धे आत्मनेपदे नियमार्थं वचनम्, व्यवच्छेद्य च प्रत्युदाहरणम् । शमयतिक्रियावचनादेव च नयतेरात्मनेपदं दृश्यते न प्रापणार्थात्, यथा—

"शिवमौपयिकं गरीयसीं, फलनिष्पत्तिमदूषितायतिम् ।
विगणय्य नयन्ति पौरुषं, विहितक्रोधरया जिगीषवः ।। १ ।।" [किराते]

यथा च कोपं शमं नयति, मन्युं नाशं नयति, प्रज्ञां प्रवृद्धिं नयति, बुद्धिं क्षयं नयति ।। ४० ।।

न्या० स०-कर्तृस्था०:-नियमार्थमिति-तेनात्र सूत्रे फलवत्तैव विवक्ष्यते । व्यवच्छेद्यमिति-तेन प्रत्युदाहरणेषु फलवत्त्वविवक्षायामपि नात्मनेपदम् ।

शदेः शिति ।। ३. ३. ४१ ।।

शदेः शिद्विषयात् कर्तर्यात्मनेपदं भवति । शीयते । शितीति किम् ? शत्स्यति ।।४१।।

म्रियतेरद्यतन्याशिषि च ।। ३. ३. ४२ ।।

म्रियतेरद्यतन्याशीर्विषयाच्छिद्विषयाच्च कर्तर्यात्मनेपदं भवति । अमृत, मृषीष्ट, म्रियते, म्रियेत, म्रियताम्, अम्रियत । अद्यतन्याशिषि चेति किम् ? ममार, मर्तासि, मरिष्यति, अमरिष्यत् । तिव्निर्देशाद् यङ्लुपि न भवति-मर्मर्ति ।। ४२ ।।

क्यङ्षो नवा ।। ३. ३. ४३ ।।

डाज्लोहितादिभ्यः क्यङ् षित् वक्ष्यते, तदन्ताद्धातोः कर्तर्यात्मनेपदं भवति वा । पटपटायति, पटपटायते; लोहितायति, लोहितायते; निद्रायति, निद्रायते ।। ४३ ।।

द्युद्भ्योऽद्यतन्याम् ।। ३. ३. ४४ ।।

बहुवचनं गणार्थम् । द्युतादिभ्योऽद्यतनीविषये कर्तर्यात्मनेपदं वा भवति । व्यद्युतत्, व्यद्योतिष्ट; अरुचत्, अरोचिष्ट । अद्यतन्यामिति किम् ? द्योतते । द्युति १ रुचि २ घुटि ३ रुटि ४ लुटि ५ लुठि ६ श्विताङ् ७ ञिमिदाङ् ८ ञिक्ष्विदाङ् ९ ञिष्विदाङ् १० शुभि ११ क्षुभि १२ णभि १३ तुभि १४ स्रम्भूङ् १५ भ्रंसूङ् १६ स्रंसूङ् १७ ध्वंसूङ् १८ वृतूङ् १९ स्यन्दौङ् २० वृधूङ् २१ शृधूङ् २२ कृपौङ् २३ इति द्युतादिः । प्राप्तविभाषेयम् ।।४४।।

वृद्भ्यः स्यसनोः ।। ३. ३. ४५ ।।

बहुवचनं पूर्ववत्, वृतादयो द्युताद्यन्तर्गताः पञ्च, तेभ्यः स्यकारादिप्रत्यये सन्प्रत्यये विषये च कर्तर्यात्मनेपदं भवति वा । वृतूङ् १-वर्त्स्यति, वर्तिष्यते, अवर्त्स्यत्, अवर्तिष्यत,

वर्त्स्यन्, वर्तिष्यमाणः; विवृत्सति, विवर्तिषते । एवं-स्यन्दौङ् २-स्यन्त्स्यति, स्यन्दिष्यते, सिस्यन्त्सति, सिस्यन्दिषते । वृधूङ् ३-वर्त्स्यति, वर्धिष्यते, विवृत्सति, विवर्धिषते, शृधूङ् ४-शर्त्स्यति शर्धिष्यते, शिशृत्सति, शिशर्धिषते । कृपौङ् ५-कल्प्स्यति, कल्पिष्यते, चिक्लृप्सति, चिकल्पिषते । स्य सनोरिति किम् ? वर्तते, वर्धते । इयमपि प्राप्तविभाषा ।। ४५ ।।

न्या० स०-**वृद्भ्यः स्य०-चिक्लृप्सतीति**-'दूरादामन्त्रस्य'-७-४-९९ इत्यत्र लृग्रहणेन ॐ ऋवर्णापदिष्टं कार्यं लृवर्णस्यापि ॐ इति लृतोऽपि 'ऋतोऽत्' ४-१-३८ ।

कृपः श्वस्तन्याम् ।। ३. ३. ४६ ।।

कृपेः श्वस्तन्यां विषये कर्तर्यात्मनेपदं वा स्यात् । कल्प्तासि, कल्पितासे । ४६ ।।

क्रमोऽनुपसर्गात् ।। ३. ३. ४७ ।।

अविद्यमानोपसर्गात् क्रमेः कर्तर्यात्मनेपदं वा भवति । क्रमते, क्रामति । अनुपसर्गादिति किम् ? संक्रामति । वृत्त्यादेरन्यत्रायमारम्भ इत्यप्राप्तविभाषा ।। ४७ ।।

न्या० स०-**क्रमोऽनु०:- अविद्यमानोपसर्गादिति**-बहुव्रीहिरयम् , यदि पुनर्न उपसर्गोऽनुपसर्ग इति तत्पुरुषो विधीयते, तदोपसर्गादन्योऽनुपसर्गस्तस्मात् परो यः क्रमिस्तत इति प्रतिपत्तौ केवलान्न स्यात् , प्रसज्याश्रयणे त्वऽसमर्थसमासः कष्टः स्यात् ।

वृत्ति-सर्ग-तायने ।। ३. ३. ४८ ।।

वेति निवृत्तम् । वृत्त्यादिष्वर्थेषु वर्तमानात् क्रमेः कर्तर्यात्मनेपदं भवति । वृत्तिरप्रतिबन्ध आत्मयापनं वा, शास्त्रेऽस्य क्रमते बुद्धिः-तत्र न हन्यते आत्मानं यापयति वेत्यर्थः । सर्ग उत्साहस्तात्पर्यं वा, सर्गेणातिसर्गस्य लक्षणादनुज्ञा वा-सूत्राय क्रमते, तदर्थमुत्सहते, तत्परो वाऽनुज्ञातो वा । तायनं स्फीतता संतानः पालनं वा, क्रमन्तेऽस्मिन् योगाः, स्फीता भवन्ति, संतन्यन्ते पाल्यन्ते वेत्यर्थः । वृत्त्यादिष्विति किम् ? क्रामति ।। ४८ ।।

न्या० स०-**वृत्तिसर्ग०**-विरोधिनामिति व्यावृत्तिप्रसङ्गे सूत्रत्वात् समाहारः कर्मधारयो वा । **वेति निवृत्तं**-व्यावृत्तेर्व्यवच्छेद्याभावात् अर्थविशेषोपादानाद् वा । **सन्तन्यन्ते इति**-संतानेन प्रवर्त्तन्ते कर्म्मकर्त्तरि कर्म्मणि वा तदा विस्तार्यन्त इत्यर्थ , सामर्थ्यादनेनैव अस्मिन् शब्दवाच्यत्वेन, पाल्यन्ते इति कर्म्मणि, न तु कर्मकर्त्तरि 'भूषार्थ' ३-४-९३ इति क्यनिषेधात् , अस्मिन् विषये आचार्येण योगा रक्ष्यन्ते इत्यर्थः ।

परोपात् ।। ३. ३. ४९ ।।

परोपाभ्यामेव परात् क्रमेर्वृत्त्यादिष्वर्थेषु कर्तर्यात्मनेपदं भवति । पराक्रमते, उपक्रमते । परोपादेवेति किम् ? अनुक्रामति । वृत्त्यादिष्वित्येव-पराक्रामति, उपक्रामति । अन्ये तु परोपाभ्यां परात् क्रमतेर्वृत्त्याद्यर्थाभावेऽपीच्छन्ति, तेन-पराक्रमते, उपक्रमते इत्या-

त्मनेपदमेव, वृत्त्यादिषु त्वन्योपसर्गपूर्वादपि पूर्वेण मन्यन्ते–निष्क्रमते, प्रतिक्रमते,–न प्रतिहन्यते इत्यर्थः ।। ४९ ।।

न्या० स०–परोपा०:–पराक्रामतीति–कोऽर्थः ? परावृत्त्या क्रामति शौर्यं वा कुरुते । उपक्रामति समीपे गच्छतीत्यर्थः ।

वेः स्वार्थे ।। ३. ३. ५० ।।

स्वार्थः पादविक्षेपः, तस्मिन् वर्तमानाद् वेः परात् क्रमेः कर्तर्यात्मनेपदं भवति । साधु विक्रमते गजः । स्वार्थे इति किम् ? अश्वेन विक्रामति, विक्रामत्यजिनसंधिः,–स्फुटतीत्यर्थः; विक्रामति राजा,–उत्सहते इत्यर्थः ।। ५० ।।

न्या० स०–वेः स्वार्थे–अश्वेन विक्रामतीति–नन्वत्रापि पादविक्षेप एव क्रमिर्वर्त्तते स च कर्तृकृतः करणकृतो वा भवतु ? सत्यं, ❀ गौणमुख्ययोः ❀ इति न्यायात् सर्वकारकप्रधानभूतकर्तृकृत एव गृह्यते, अत्र तु करणकृतः पादविक्षेप इति न भवति । विक्रामति राजेति–'परोपात्' ३-३-४९ एवेति नियमात् 'वृत्तिसर्ग' ३-३-४८ इत्यादिनापि न ।

प्रोपादारम्भे ।। ३. ३. ५१ ।।

आरम्भ आदिकर्म, अङ्गीकरणं चेत्यन्ये, तस्मिन् वर्तमानात् प्रोपाभ्यां परात् क्रमेः कर्तर्यात्मनेपदं भवति । प्रक्रमते, उपक्रमते भोक्तुम्,–प्रारभते अङ्गीकरोति चेत्यर्थः । आरम्भ इति किम् ? पूर्वेद्युः प्रक्रामति,–गच्छतीत्यर्थः; अपरेद्युरुपक्रामति–समीपमागच्छतीत्यर्थः । "परोपात्" [३. ३. ४९] इत्यनेनापि न भवति वृत्त्यादेरर्थस्याविवक्षितत्वात् । अन्ये तु स्वार्थविषय एवारम्भे मन्यन्ते, तेनोपक्रमते, प्रक्रमते–पादाभ्यां गन्तुमारभत इत्यर्थ इत्यत्रैव भवति, स्वार्थविषयारम्भादन्यत्र तु प्रक्रामति, उपक्रामति भोक्तुमित्यत्र न भवति ।। ५१ ।।

आङो ज्योतिरुद्गमे ।। ३. ३. ५२ ।।

आङः परात् क्रमेर्ज्योतिषां-चन्द्रादीनामुद्गमे-ऊर्ध्वगमने प्रधाने उपसर्जने वा वर्तमानात् कर्तर्यात्मनेपदं भवति । आक्रमते चन्द्रः, आक्रमते, सूर्यः,–उदयते इत्यर्थः; दिवमाक्रममाणेन केतुना, अत्र दिवमिति कर्मणा योगादुद्गमनोपसर्जनव्याप्तिवचनः क्रमिः । ज्योतिरुद्गम इति किम् ? आक्रामति माणवकः कुतुपम्,–अवष्टभ्नातीत्यर्थः । ज्योतिरिति किम् ? धूम आक्रामति,–उद्गच्छतीत्यर्थ; आक्रामति धूमो हर्म्यतलम्,–उद्गच्छन् व्याप्नोतीत्यर्थः । उद्गम इति किम् ? 'नभः समाक्रामति नष्टवर्त्मना, स्थितैकचक्रेण रथेन भास्करः ।" अत्र व्याप्तिमात्रं विवक्षितम्, न तूद्गमोपसर्जनव्याप्तिः । अन्ये तूद्गमोपसर्जनां व्याप्तिं पश्यन्तोऽसाधुमेनं मन्यन्ते ।। ५२ ।।

दागोऽस्वाऽऽस्यप्रसार-विकासे ॥ ३. ३. ५३ ॥

आङ्पूर्वाद् ददातेः कर्तर्यात्मनेपदं भवति, न चेत् स्वास्यप्रसारणं विकासश्चार्थो भवति । विद्यामादत्ते, धनमादत्ते । अस्वास्यप्रसार-विकास इति किम् ? उष्ट्रो मुखं व्याददाति,-प्रसारयतीत्यर्थः; कूलं व्याददाति, विपादिका व्याददाति, विकसतीत्यर्थः । स्वग्रहणमिति किम् ? व्याददते पिपीलिकाः पतङ्गस्य मुखम् । आङ इत्येव ? ददाति । फलवन्तोऽन्यत्रायं विधिः ॥ ५३ ॥

न्या० स०–दागोऽस्वा०–प्रसारणं प्रयोजकव्यापारः, विकासश्च कर्तृव्यापार इत्यनयोर्भेदः, विपूर्वात् कस गतावित्यतो घञि वृद्धौ विकासः ।

नु-प्रच्छः ॥ ३. ३. ५४ ॥

आङ्पूर्वान्नौतेः प्रच्छेश्च कर्तर्यात्मनेपदं भवति । आनुते शृगालः, उत्कण्ठितः शब्दं करोति, उत्कण्ठापूर्वके संशब्दे नौतेरयं विधिर्न सर्वत्र । आपृच्छते गुरून्, आपृच्छस्व प्रियसखम्" [मेघदूते] वियुज्यमानस्य प्रश्नेऽयं विधिः । आङ इत्येव ? नौति, प्रणौति, पृच्छति, परिपृच्छति ॥ ५४ ॥

गमेः क्षान्तौ ॥ ३. ३. ५५ ॥

क्षान्तिः कालहरणम्, तत्र वर्तमानाद् गमयतेराङ्पूर्वकात् कर्तर्यात्मनेपदं भवति । आगमयते गुरून्, कञ्चित् कालं प्रतीक्षते; आगमयस्व तावत्, कञ्चित् कालं सहस्वेत्यर्थः । क्षान्ताविति किम् ? आगमयति विद्याम्, गृह्णातीत्यर्थः । क्षान्तौ स्वभावाद् गमिर्ण्यन्त एव वर्तते ॥ ५५ ॥

ह्वः स्पर्धे ॥ ३. ३. ५६ ॥

आङ्पूर्वाद् ह्वयतेः कर्तर्यात्मनेपदं भवति, स्पर्धे गम्यमाने । स्पर्धः संघर्षः,-पराभिभवेच्छा, स धात्वर्थस्य विशेषणम्, धात्वर्थश्च ह्वयतेराङ्पूर्वस्य शब्द एव स्वभावात् । मल्लो मल्लमाह्वयते, स्पर्धमान आकारयतीत्यर्थः । स्पर्ध इति किम् ? गामाह्वयति ॥ ५६॥

सं-नि-वेः ॥ ३. ३. ५७ ॥

सं-नि-विभ्यः पराद् ह्वयतेः कर्तर्यात्मनेपदं भवति । संह्वयते, निह्वयते, विह्वयते ॥ ५७ ॥

उपात् ॥ ३. ३. ५८ ॥

उपपूर्वाद् ह्वयतेः कर्तर्यात्मनेपदं भवति । उपह्वयते । योगविभाग उत्तरार्थः ॥५८॥

यमः स्वीकारे ॥ ३. ३. ५९ ॥

उपपूर्वाद् यमः स्वीकारेऽर्थे वर्तमानात् कर्तर्यात्मनेपदं भवति । कन्यामुपयच्छते, वेश्यामुपयच्छते, उपायंस्त महास्त्राणि । स्विनिर्देशः किम् ? शाटकानुपयच्छति, नात्रास्वं स्वं क्रियते, स्वत्वेन तु निर्ज्ञातस्य ग्रहणमिति न भवति । उद्वाह एवेच्छन्त्यन्ये ॥ ५९ ॥

न्या० स०-यमः स्वी०-उद्वाह एवेच्छन्तीति-तन्मते वेश्यामुपयच्छते इत्यादि न भवति ।

देवार्चा-मैत्री-संगम-पथिकर्तृक-मन्त्रकरणे स्थः ॥ ३. ३. ६० ॥

एष्वर्थेषु वर्तमानात् उपपूर्वात् तिष्ठतेः कर्तर्यात्मनेपदं भवति । देवार्चायाम्-जिनेन्द्रमुपतिष्ठते ।

बहूनामप्यचित्तानामेको भवति चित्तवान् ।
पश्य वानरसंघेऽस्मिन् यदर्कमुपतिष्ठते ।। १ ।।

यदा तु नेयं देवपूजाऽपि तु चापलमिति विवक्षितं तदा न भवति-

"मैवं मंस्थाः सचित्तोऽयमेषोऽपि हि यथा वयम् ।
एतदप्यस्य कापेयं, यदर्कमुपतिष्ठति ।। १ ।।

मित्रतया मित्रं वा कर्तुमाचरणं मैत्री, उपस्थानस्य हेतुः फलं वा-महामात्रानुपतिष्ठते, रथिकानुपतिष्ठते । मैत्र्या हेतुना फलेन वाऽऽराधयतीत्यर्थः । संगम उपश्लेषः-यमुना गङ्गामुपतिष्ठते । पन्थाः कर्ता यस्यार्थस्य स पथिकर्तृकः, अयं पन्थाः स्रुघ्नमुपतिष्ठते । मन्त्रः करणं यस्यार्थस्य स मन्त्रकरणः ऐन्द्रया गार्हपत्यमुपतिष्ठते, सावित्र्या सूर्यमुपतिष्ठते, आराधयतीत्यर्थः; मन्त्रादन्यत्र भर्तारमुपतिष्ठति यौवनेन । करणग्रहणं किम् ? गायत्रीमुपतिष्ठति, अत्र मैत्री धात्वर्थविशेषणेनोपसर्जनं धात्वर्थः, शेषास्तु प्रधानम् ।।६०।।

न्या० स०-देवार्चा०—मित्रतया मित्रं वा कर्तुमिति-'अजर्यं संगतम्' इतिवत् संपूर्वस्य गमेर्मैत्र्यामपि दर्शनात् , मैत्रीसंगमयोरर्थाभेद इति, यः शङ्कते तं प्रत्युपश्लेषरूपात् संगमात् मित्रतयेत्यादिना मैत्र्या भेदं दर्शयति, विनापि हि संश्लेषेण मैत्रीत्यर्थः, मित्रस्य भावो मैत्री, सा उपस्थानस्य धात्वर्थस्य हेतुर्निर्वर्त्तिका, यदा हि रथिकानुपतिष्ठत इत्यत्रोपस्थाता मित्रं सत् उपतिष्ठते तदा मैत्री हेतुः, यदा तु प्रागमित्रः सन् मैत्र्यर्थं प्रवर्त्तते तदा मैत्री फलं, ततश्च कारणस्य फलस्य च क्रियां प्रति विषयत्वोपपत्तेरुपस्थानस्य विशेषणत्वेन मैत्री गौणो धात्वर्थो भवति ।

वा लिप्सायाम् ॥ ३. ३. ६१ ॥

उपपूर्वाद् तिष्ठतेर्लिप्सायां गम्यमानायां कर्तर्यात्मनेपदं भवति । भिक्षुको दातृकुलमुपतिष्ठति उपतिष्ठते वा, भिक्षां लभेयेति ।। ६१ ।।

उदोऽनूर्ध्वेहे ॥ ३. ३. ६२ ॥

अनूर्ध्वो य ईहश्चेष्टा, तत्र वर्त्तमानादुदः परात् तिष्ठतेः कर्तर्यात्मनेपदं भवति । मुक्तावुत्तिष्ठते, मुक्त्यर्थं चेष्टत इत्यर्थः । अनूर्ध्वेति किम् ? आसनादुत्तिष्ठति । ईहेति किम् ? आसनाद् ग्रामाच्छतमुत्तिष्ठति, सेनोत्तिष्ठति, उत्पद्यत इत्यर्थः ।। ६२ ।।

सं-वि-प्राऽवात् ॥ ३. ३. ६३ ॥

एभ्यः परात् तिष्ठतेः कर्तर्यात्मनेपदं भवति । संतिष्ठते, वितिष्ठते, प्रतिष्ठते, अवतिष्ठते ।। ६३ ।।

ज्ञीप्सा-स्थेये ॥ ३. ३. ६४ ॥

परपरितोषार्थमात्मरूपादिप्रकाशनं-ज्ञीप्सा, तिष्ठन्त्यस्मिन्निति स्थेयः,- रूढिवशाद् विवादपदे निर्णेता प्रमाणभूतः पुरुष उच्यते । ज्ञीप्सायां स्थेयविषयायां च क्रियायां वर्त्तमानात् तिष्ठतेः कर्तर्यात्मनेपदं भवति । तिष्ठते कन्या छात्रेभ्यः, तिष्ठते वृषली ग्रामेभ्यः, स्वाभिप्रायप्रकाशनेनात्मानं रोचयतीत्यर्थः । त्वयि तिष्ठते, मयि तिष्ठते, "संशय्य कर्णादिषु तिष्ठते यः" [किराते] कर्णादिस्थेयोपदिष्टं निर्णयतीत्यर्थः ।। ६४ ।।

न्या० स०-ज्ञीप्सा०-स्थेय इत्यत्र बाहुलकात् अधिकरणेऽपि 'य एच्चातः' ५-१-२८ इति यः, व्युत्पत्तिसमये आधारस्य निर्णेतृत्वं न विवक्षितमिति वाक्ये परस्मैपदमेव, अधिकरणस्य प्रत्ययार्थत्वेऽपि नास्याधिकरणमात्रे वृत्तिः, किं तर्हि क्वचिदेव ? इत्याह-**रूढिवशादित्यादि** ।

प्रतिज्ञायाम् ॥ ३. ३. ६५ ॥

प्रतिज्ञा अभ्युपगमः, तत्र वर्त्तमानात् तिष्ठतेः कर्तर्यात्मनेपदं भवति । नित्यं शब्दमातिष्ठते, तदतदात्मकं तत्त्वमातिष्ठते । स्वभावाच्चायमाङ्पूर्व एव प्रतिज्ञायां वर्तते । योगविभाग उत्तरार्थः ।। ६५ ।।

न्या० स०-प्रतिज्ञा०-तदतदात्मकमिति-एकशेषोऽनित्यः, शब्दप्रधानो वा निर्देशः शब्दार्थयोरभेदेन चार्थो वाच्यः, स चासावसश्च तदसः, स आत्मा यस्येति कर्मधारयपूर्वो वा बहुव्रीहिः ।

समो गिरः ॥ ३. ३. ६६ ॥

सम्पूर्वाद् गिरतेः प्रतिज्ञायां वर्तमानात् कर्तर्यात्मनेपदं भवति । स्याद्वादं संगिरते, प्रतिजानीत इत्यर्थः । प्रतिज्ञायामित्येव ? संगिरति ग्रासम् । गिर इति निर्देशाद् गणातेर्न भवति ।। ६६ ।।

न्या० स०-समो० ननु समं विना प्रतिज्ञायां गिरतेर्वृत्तिर्न दृश्यते, ततः किं सम्ग्रहणेन ? सत्यं, केवलोऽप्यन्योपसर्गपूर्वोऽपि च प्रतिज्ञायां वर्त्तते. उत्तरत्र पृथग्योगात् प्रतिज्ञायामिति निवृत्तमिति भणितेः, यदि ह्यन्योपसर्गपूर्वो न वर्त्तते तर्हि पृथग्योगादिति भणितेः किं फलम् ? ।

अवात् ॥ ३. ३. ६७ ॥

पृथग्योगात् प्रतिज्ञायामिति निवृत्तम्, अवपूर्वाद् गिरतेः कर्तर्यात्मनेपदं भवति । अवगिरते, अवादन्यत्र गिरति । गिर इत्येव ? अवगृणाति । अवपूर्वस्य । गृणातेः प्रयोगो नास्तीत्यन्ये ।। ६७ ।।

निह्नवे ज्ञः ॥ ३. ३. ६८ ॥

निह्नवोऽपलापः, तस्मिन् वर्तमानाज्जानातेः कर्तर्यात्मनेपदं भवति । शतमपजानीते, अपह्नुते इत्यर्थः, अपेन चास्यायमर्थोऽभिव्यज्यते । निह्नव इति किम् ? तत्त्वं जानाति । ६८ ।।

सं-प्रतेरस्मृतौ ॥ ३. ३. ६९ ॥

सं-प्रतिभ्यां पराज्जानातेरस्मृतौ वर्तमानात् कर्तर्यात्मनेपदं भवति । शतं संजानीते, अवेक्षते इत्यर्थः । शतं प्रतिजानीते, शतेन संजानीते,-अभ्युपगच्छतीत्यर्थः । अस्मृताविति किम् ? मातुः संजानाति, मातरं संजानाति,-स्मरतीयत्र्थः ।। ६९ ।।

न्या० स०-संप्रते०-शतेन संजानीते इति-'समो ज्ञोऽस्मृतौ वा' २-२-५१ इति वा तृतीया, तद्विकल्पे च पक्षे द्वितीया ।

अननोः सनः ॥ ३. ३. ७० ॥

सन्नन्ताज्जानातेः कर्तर्यात्मनेपदं भवति, स चेदनोरुपसर्गात् परो न भवति । धर्मं जिज्ञासते । अननोरिति किम् ? धर्ममनुजिज्ञासति । कथमौषधस्यानुजिज्ञासते ? अकर्मकात् "प्राग्वत्" [३. ३. ७४] इत्यनेन भविष्यति ।। ७० ।।

न्या० स०-अननोः-अकर्मकादित्यादि-सकर्मकादनेन आत्मनेपदं विधीयते न त्वकर्मकादिति प्रतिषेधाभावः, कथं पुनर्ज्ञायते अनेन सकर्मकाद्विधिरिति ? उच्चते, अकर्मकाद् ज्ञ इत्यनेन प्रागिष्टत्वात् सन्नन्तात् 'प्राग् व' ३-३-७४ इत्यनेनात्मनेपदे सिद्धे सकर्म्मकादेवाऽयं विधिरिति ज्ञायते ।

श्रुवोऽनाङ्-प्रतेः ॥ ३. ३. ७१ ॥

सन्नन्ताच्छृणोतेः कर्तर्यात्मनेपदं भवति, स चेदाङ्-प्रतिभ्यामुपसर्गाभ्यां परो न भवति। शुश्रूषते गुरून्, संशुश्रूषते शब्दान्। अनाङ्-प्रतेरिति किम्? आशुश्रूषति, प्रतिशुश्रूषति। 'चैत्रं प्रति शुश्रूषते' इति प्रतिना सम्बन्धाभावात् प्रतिषेधो न भवति ॥ ७१ ॥

स्मृ-दृशः ॥ ३. ३. ७२ ॥

स्मृ दृशिभ्यां सन्नन्ताभ्यां कर्तर्यात्मनेपदं भवति। सुस्मूर्षते पूर्ववृत्तम्, दिदृक्षते देवम् ॥ ७२ ॥

शको जिज्ञासायाम् ॥ ३. ३. ७३ ॥

शकिः स्वभावादन्यधात्वर्थानुसंहितः प्रवर्तते-शक्नोति भोक्तुमन्यद् वेति, ततो ज्ञानानुसंहितार्थात् सन्नन्तात् कर्तर्यात्मनेपदं भवति। विद्याः शिक्षते ज्ञातुं शक्नुयामितीच्छतीत्यर्थः। जिज्ञासायामिति किम्? शक्तुमिच्छति,-शिक्षति। "शिक्षि विद्योपादाने" इत्यनेनैव सिद्धे आमनुप्रयोगार्थं वचनम्, तेन 'शिक्षांचक्रे' इति भवति, न तु शिक्षांचकारेति। केचित् तु शकेः सन्नन्तस्यात्मनेपदमनिच्छन्तः शिक्षतेरेव जिज्ञासायामात्मनेपदमन्यत्र च परस्मैपदमिच्छन्ति ॥ ७३ ॥

न्या० स०-शको जि०:-धात्वर्थानुसंहित इति-शकिरन्यस्य धातोरर्थेन युक्त इत्यर्थः, यथा शक्नोति भोक्तुमित्यत्र भुज्यर्थेन युक्त इत्यर्थः। **विद्याः शिक्षत इति**-आत्मनेपदेनैव जिज्ञासाया अवगमात् जिज्ञासितुमिति न प्रयुज्यते। **आमनुप्रयोगार्थमिति**-यद्यदः सूत्रं व्यधास्यत तदा शकेर्धातोः सन्नन्तस्य 'आमः कृगः' ३-३-७५ इति आमः परात् कृग आत्मनेपदं नाऽभविष्यत्, ततः शिक्षांचक्रे इति न स्यात्, शिक्षेस्त्वामोऽसंभव एव एकस्वरत्वात्।

प्राग्वत् ॥ ३. ३. ७४ ॥

सनः प्राक् पूर्वो यो धातुस्तस्मादिव सन्नन्तात् कर्तर्यात्मनेपदं भवति, यत् पूर्वस्य धातोरनुबन्धेनोपपदेनार्थविशेषेण वाऽऽत्मनेपदं दृष्टं तत् सन्नन्तादतिदिश्यते। अनुबन्धेन-'शीङ्-शेते,' शिशयिषते; एधि-एधते, एदिधिषते; लोलूयते, लोलूयिषते; श्येनायते, शिश्येनायिषते उपपदेन-निर्विशते, निर्विविक्षते; अश्वेन संचरते अश्वेन संचिचरिषते। अर्थविशेषेण-शास्त्रेऽस्य क्रमते बुद्धिः, चिक्रंसते उभयेन,-आक्रमते चन्द्रः, आचिक्रंसते। यत् पुनः सप्रत्ययधातुनिमित्तं तन्नातिदिश्यते शिशत्सति, मुमूर्षति, अत्र हि न शदि-म्रियती एव निमित्ते, किं तर्हि? शिदाशीरद्यतन्योऽपि। अनुबन्धादिनिमित्तमपि यद् विशेषविधानबाधया प्राग् न दृष्टं तन्नातिदिश्यते, यथा-अनुकरोति, अनुचिकीर्षति; पराकरोति, पराचिकीर्षति। तिजादीनां स्वार्थविशेषेषु केवलानामप्रयोगात् सन्नन्तसमुदायार्थमेव अनुबन्धविधानम्, तेन 'तितिक्षते, जुगुप्सते, मीमांसते, इत्यादौ प्रागदृष्टमप्यात्मनेपदमनुबन्धसाम-

र्थ्यात् भवति, यथा कुस्मि-चित्रङ्-महीङ्-हृणीङामनुबन्धो णिच्-क्यन्-यगन्तसमुदायार्थः-विकुस्मयते, चित्रीयते, महीयते, हृणीयते । अवयवे वा कृतं लिङ्गं समुदायस्य विशेषकं भवति, यद्येवं तितिक्षयति, जुगुप्सयति, मीमांसयतीत्यत्रापि प्राप्नोति ? नैवं, अवयवे कृतं लिङ्गं तस्यैव समुदायस्य विशेषकं भवति यं समुदायं सोऽवयवो न व्यभिचरति, यथा-गोः सक्थनि कर्णे वा कृतं लिङ्गं-चिह्नं गोरेव विशेषकं भवति, न गोमण्डलस्य, सन्नन्तं च समुदायं तिजादयोऽर्थविशेषेषु न व्यभिचरन्ति, णिगन्तं पुनर्व्यभिचरन्ति । ननु सन्नन्तमपि व्यभिचरन्ति-तेजयति, गोपायति, मानयतीति ? नैवम् ,-अर्थविशेषेषु न व्यभिचार इत्युक्तत्वात् । "गुप्-तिजो गर्हा-क्षान्तौ" [३. ४. ६] "शान्-दान्-मान्-बधान्निशानाऽऽर्जव-विचार-वैरूप्ये" [३. ४. ८] इति हि वक्ष्यत इति ।। ७४ ।।

न्या० स०-प्रागवत्-अनुबन्धादिनिमित्तमपीति-आदिपदात् 'गन्धनावक्षेप०' ३-३-७६ इत्यादिना कृगो धातोर्गन्धनाद्यर्थनिमित्तं 'परानोः कृगः' ३-३-१०१ इत्यादि-विशेषविधान-बाधितं सत् , प्राग् न दृष्टं तदपि नातिऽदिश्यते । सन्नन्तसमुदायार्थमेवेति-अर्थ विशेषेषु इद-मेव फलमन्यत्र त्वनाद्यपीति एवकारार्थः । अनुबन्धविधानमिति-न च वाच्यं क्षान्त्याद्यर्था-भावे अनुबन्धादात्मनेपदं भविष्यतीति, एषामर्थान्तरेपि त्यादयो नाभिधीयन्ते इति भणनात् 'इङितो व्यञ्जनाद्य०' ५-२-४४ इत्यादौ चरितार्थमिति चेत् ? न, तदा 'भूषाक्रोध०' ५-२-४२ इत्यादौ स्वरूपेण ग्रहणं कुर्यात् किं व्याप्तिपरेणानुबन्धेन ।

अवयवे वा कृतमिति-भवत्वनप्रत्ययेऽनुबन्धस्य चरितार्थत्वं तथाप्यात्मनेपदं भवती-त्यभ्युपगम्यमाह ।

आमः कृगः ।। ३. ३. ७५ ।।

आमः परादनुप्रयुज्यमानात् करोतेराम एव प्राग् यो धातुस्तस्मादिव कर्तर्यात्मने-पदं भवति । भवति न भवति चेति विधि-प्रतिषेधावतिदिश्येते, यथा-उशीनरवन्मद्रेषु यवाः सन्ति न सन्तीति । 'ईहांचक्रे ईक्षांचक्रे' इत्यफलवत्यपि भवति, 'बिभयांचकार, जागरांच-कार' इति फलवत्यपि न भवति । यत्र तु पूर्वस्मादुभयं तत्र फलवत्यफलवति चोभयं भवति-बिभरांचक्रे, बिभरांचकार; पाचयांचक्रे, पाचयांचकार । कृग इति किम् ? करोतेरेव यथा स्यादिह मा भूत्-ईक्षामास, ईक्षांबभूव ।। ७५ ।।

गन्धनाऽवक्षेप-सेवा-साहस-प्रतियत्न-प्रकथनोपयोगे ।।३. ३. ७६।।

गन्धनादिष्वर्थेषु वर्तमानात् करोतेः कर्तर्यात्मनेपदं भवति । गन्धनं-द्रोहाभिप्रायेण परदोषोद्घाटनम् , प्रोत्साहनादिकमन्ये । उत्कुरुते, उदाकुरुते माम् , अध्याकुरुते जिघांसुः, अपकर्त्रे कथयतीत्यर्थः । अवक्षेपणं अवक्षेपः, कुत्सनं भर्त्सनं वा, दुर्वृत्तानवकुरुते, कुत्सयती-त्यर्थः; श्येनो वर्तिकामपकुरुते, भर्त्सयतीत्यर्थः । सेवा-अनुवृत्तिः, महामात्रानुपकुरुते, सेवते इत्यर्थः । साहसम्-अविमृश्य प्रवृत्तिः, परदारान् प्रकुरुते, विनिपातमविभाव्य तान् अभि-गच्छतीत्यर्थः । प्रतियत्नः-सतो गुणान्तराधानम् , एधोदकस्योपस्कुरुते, तत्र गुणान्तरमाद-धातीत्यर्थः । प्रकथनं-कथनप्रारम्भः प्रकर्षेण कथनं वा, जनवादान् प्रकुरुते, कथयितुमारभते,

प्रकर्षेण कथयति वेत्यर्थः । उपयोगो-धर्मादौ विनियोगः, शतं प्रकुरुते, धर्मादौ विनियुङ्क्ते इत्यर्थः । एष्विति किम् ? कटं करोति । अफलवत्कर्त्रर्थ आरम्भः ।। ७६ ।।

न्या० स०-गन्धनावक्षे०:-प्रोत्साहनादिकमिति-आदेरव्याबाधाऽनुज्ञोदयः, तथा च पठन्ति तथ्येनातथ्येन वा गुणेन प्रोत्साहनं गन्धनम् । भर्त्सयतीति-राजृग् टुभ्राजि दीप्ताविल्यत्र भ्राजिग्रहणेनात्मनेपदाऽनित्यत्वज्ञापनात् परस्मैपदमत्र ।

अधेः प्रसहने ।। ३. ३. ७७ ।।

अधेः परात् करोतेः प्रसहने वर्तमानात् कर्तर्यात्मनेपदं भवति । प्रसहनं-पराभिभवः परेणापराजयो वा, तं ह्याधिचक्रे तं प्रसेहे तमभिभूतवान् तेन वा न पराजित इत्यर्थः । अथवा सहनं-क्षमा तितिक्षोपेक्षेति यावत्, प्रकर्षेण सहनं-प्रसहनम्, तच्च द्विधा-शक्तस्याशक्तस्य च, "भवादृशाश्चेदधिकुर्वते परान्, 'समर्था अपि यद्युपेक्षन्ते तदा' निराश्रया हन्त ! हता मनस्विता" [किराते], 'अधिचक्रे न यं हरिः' सोढुमशक्तः सन् तेन न्यक्क्रियते । प्रसहन इति किम् ? तमधिकरोति । अधेरिति किम् ? शत्रून् प्रकरोति ।। ७७ ।।

दीप्ति-ज्ञान-यत्न-विमत्युपसंभाषोपमन्त्रणे वदः ।। ३. ३. ७८ ।।

दीप्त्यादिष्वर्थेषु गम्यमानेषु वदतेः कर्तर्यात्मनेपदं भवति । दीप्तिर्भासनम्, सा च कर्तृविशेषणं वा, वदनक्रियासहचारिणी धात्वर्थो वा, केवलैव वा धात्वर्थः । वदते विद्वान् स्याद्वादे सम्यग्ज्ञानादनाकुलकथनाच्च विकसितमुखत्वाद् दीप्यमानो वदतीति, वा वदन् दीप्यते-इति वा, दीप्यत एव वेत्यर्थः । ज्ञानमवबोधः, तच्च वदिक्रियाया हेतुर्वा, विषयि वा फलं वा, केवलमेव वा धात्वर्थः । वदते धीमांस्तत्त्वार्थे, ज्ञात्वा वदतीति वा; जानाति वदितुमिति वा, वदन् जानातीति वा, जानात्येवं वेत्यर्थः । यत्न उत्साहः, स च धात्वर्थस्य विषयो धात्वर्थः एव वा; श्रुते वदते, तपसि वदते, तद्विषयमुत्साहं वाचाविष्करोति, तत्रोत्सहते इति वेत्यर्थः । नानामतिर्विमतिः, सा च धात्वर्थस्य हेतुः, धात्वर्थ एव वा; धर्मे विवदन्ते, विमतिपूर्वकं विचित्रं भाषन्त इति वा, विविधं मन्यन्त इति वेत्यर्थः । उपसंभाषोपसान्त्वनमुपालम्भो वा धात्वर्थ एवायम्; कर्मकरानुपवदते, उपसान्त्वयति, उपलभते वेत्यर्थः । उपमन्त्रणं रहसि उपच्छन्दनम्, तदपि धात्वर्थ एव; कुलभार्यामुपवदते, परदारानुपवदते, रहस्युपलोभयतीत्यर्थः । दीप्त्यादिष्विति किम् ? यत्किञ्चिद् वदति ।। ७८ ।।

न्या० स०-दीप्तिज्ञान०:-उपच्छन्दनमिति-छन्दसोपचरति णिच्, उपच्छन्द्यते अनटि ।

व्यक्तवाचां सहोक्तौ ।। ३. ३. ७९ ।।

व्यक्ता व्यक्ताक्षरा वाग् येषां ते व्यक्तवाचः, रूढ्या मनुष्यादय एवोच्यन्ते; तेषां सहोक्तौ-संभूयोच्चारणे वर्तमानाद् वदेः कर्तर्यात्मनेपदं भवति । संप्रवदन्ते ग्राम्याः, संप्रवदन्ते पिशाचाः, संभूय भाषन्त इत्यर्थः । व्यक्तवाचामिति किम् ? संप्रवदन्ति कुक्कुटाः,

संप्रवदन्ति शुकाः । शुकसारिकादीनामपि व्यक्तवाक्त्वात् सहोक्ताविच्छन्त्यन्ये,-संप्रवदन्ते शुकाः, संप्रवदन्ते सारिकाः । सहोक्ताविति किम् ? चैत्रेणोक्ते मैत्रो वदति ।। ७९ ।।

विवादे वा ॥ ३. ३. ८० ॥

विरुद्धार्थो वादो विवादः, व्यक्तवाचां सहोक्तौ विवादरूपायां वर्तमानाद् वदेः कर्तर्यात्मनेपदं वा भवति । विप्रवदन्ते विप्रवदन्ति वा मौहूर्ताः, परस्परप्रतिषेधेन युगपद् विरुद्धं वदन्तीत्यर्थः । विवाद इति किम् ? सम्प्रवदन्ते वैयाकरणाः,-सह वदन्तीत्यर्थः । व्यक्तवाचामित्येव ? सम्प्रवदन्ती शकुनयः, नानारुतं कुर्वन्ति जातिशक्तिभेदात् । सहोक्तावित्येव ? मौहूर्तो मौहूर्तेन सह क्रमेण विप्रवदति,-विरुद्धाभिधानमात्रमिह विवक्षितं, न तु विमतिपूर्वकम् , तेन विमतिलक्षणमप्यात्मनेपदं न भवति ।। ८० ।।

न्या० स०-विवादे०-सह वदन्तीत्यर्थ इति सहशब्देनापि सहोक्तावुक्तायां व्यक्तवाचामित्यनेनापि नात्रात्मनेपदम् । **संप्रवदन्ति शकुनय इति**-व्यक्तवाक्कत्वे सति विवादविवक्षेति न ह्यङ्गविकलता, विवादाभावेऽपि परस्परं स्वरभेदात् विवादोऽप्यस्ति वा ।

अनोः कर्मण्यसति ३. ३. ८१ ॥

व्यक्तवाचामित्येवाऽनुवर्तते, व्यक्तवाचां सम्बन्धिन्यर्थे वर्तमानादनुपूर्वाद् वदेः कर्मण्यसति कर्तर्यात्मनेपदं भवति, अनुः सादृश्ये पश्चादर्थे वा । अनुवदते चैत्रो मैत्रस्य,-यथा मैत्रो वदति तथा चैत्रो वदतीत्यर्थः, अनुवदते आचार्यस्य शिष्यः, आचार्येण पूर्वमुक्ते पश्चाद् वदतीत्यर्थः । कर्मण्यसतीति किम् ? उक्तमनुवदति । व्यक्तवाचामित्येव ? अनुवदति वीणा । कथं 'वाचिक-षडिकौ न संवदेते' इति ? मिथो विरुध्येते इत्यर्थः; विमतिविवक्षायां भविष्यति । अकर्मकादित्यनुक्त्वा 'कर्मण्यसतीति' इति निर्देश उत्तरत्र शब्दे स्वेऽङ्गे च कर्मणीति लाघवेन प्रतिपत्त्यर्थः ।। ८१ ।।

न्या० स०-अनोः कर्म०-व्यक्तवाचामित्येवेति-पूर्वसूत्रे व्यक्तवाक्सहोक्तावित्येवमकरणात्, एकस्यैव अनुवर्त्तनार्थमेव हि भिन्नविभक्तिकनिर्देशः । **कथं वाचिकषडिकाविल्यादि**-वागाशिष् वागाशीर्दत्त इति वा प्रकृतिः, अनुकम्पितो वागाशीर्वागाशीर्दत्तो वा 'अजातेर्नाम्नः' ७-३-३५ इतीके 'षड्वर्जैकस्वर०, ७ ३-४० इत्यादिना आशीरादिलोपः, एवमनुकम्पितः षडङ्गुलिः षडङ्गुलिदत्तो वा 'अजातेः' ७-३-३५ इतीके 'द्वितीयात्-स्वरादूर्ध्वम्' ७-३-४१ इति ङ्गुलिलोपे वाचिकषडिकाविति । ननु षडिक इत्यत्र पदसंज्ञायाः सित्येवेति नियमेन निवर्त्तितत्वात् पदान्तत्वाभावात् डत्वं न प्राप्नोति, न च वाच्यं 'स्वरस्य०' ७-४-११० इति परिभाषया स्थानिनाकारेणासित्प्रत्ययस्य व्यवधानं 'न संधि०' १-३-५२ इत्यस्यावस्थानात् ? सत्यं, 'षड्वर्ज०' ७-३-४० इत्यत्र षड्वर्जनं ज्ञापयति, नात्र स्थानित्वप्रतिपत्तिः । ननु 'प्रत्ययः प्रकृत्यादेः' ७-४-११५ इति न्यायात् सित्येवेत्यस्याऽवकाशो न हि ? सत्यं, षड्वर्जनं ज्ञापयति अवयवस्यापि नियमो भवति । तेन वाचिक इत्यत्र 'चजः कगम्' २-१-८६ इति न भवति ।

मिथो विरुध्येते इति-यथा वाचिक इति निष्पद्यते तथा षडिक इति न सिध्यति, तथाहि 'द्वितीयात्स्वरादूर्ध्वम्' ७-३-४१ इति कृते वाचिक इति न सिध्यति, एकस्वरादूध्व लोपेकृते षडिक इति न इति महाभाष्यविचारः **विमतिविवक्षायामिति**-शब्दपक्षे शब्द-शब्दवतोरभेदोपचारेण ।

ज्ञः ॥ ३. ३. ८२ ॥

जानातेः कर्मण्यसति कर्तर्यात्मनेपदं भवति । सर्पिषो जानीते, मधुनो जानीते । कथमत्र जानातिरकर्मकः ? उच्यते, नात्र सर्पिरादिज्ञेयत्वेन विवक्षितं किं तर्हि प्रवृत्तौ करणत्वेन ? सर्पिषा मधुना वा करणेन भोक्तुं प्रवर्तत इत्यर्थः, अत एव "अज्ञाने ज्ञः षष्ठी" [२. २. ८०] इति षष्ठी; मिथ्याज्ञानार्थो वा जानातिः,-सर्पिषि रक्तः प्रतिहतो वोदकादिषु सर्पिष्टया ज्ञानवान् भवतीत्यर्थः, मिथ्याज्ञानं चाज्ञानमित्यज्ञानार्थत्वे पूर्ववदेव षष्ठी; अथवा सर्पिः संबन्धि ज्ञानं करोतीति विवक्षायां ज्ञानार्थोऽपि जानातिरकर्मकः, तदा तु सम्बन्धे षष्ठी । कर्मण्यसतीत्येव ? तैलं सर्पिषो जानाति, तैलं सर्पिष्टया जानातीत्यर्थः; स्वरेण पुत्रं जानाति । केचित् तु-ज्ञानोपसर्जनायां प्रवृत्तावेवाकर्मकाज्जानातेरात्मनेपदमाहुः, अत एव ते-'संभविष्याव एकस्यामभिजानासि मातरि" 'अभिजानासि मैत्र ! कश्मीरेषु वत्स्यामः' इत्यादौ प्रवृत्त्यर्थाभावादात्मनेपदाभावं मन्यन्ते; "ज्ञास्ये रात्राविति प्राज्ञः" इत्यत्रापि ज्ञात्वा प्रवर्तिष्य इति व्याचक्षते; "जाने कोपपराङ्मुखी" [अमरुशतके] इत्यत्र तु "ज्ञोऽनुपसर्गात्" [३ ३. ९६] इत्यनेनात्मनेपदमिच्छन्तीति ॥ ८२ ॥

न्या० स०-ज्ञः-प्रतिहतो वेति-प्रतिपूर्वको हनिर्द्वेषे वर्त्तते अकर्मकश्च, ततः कर्त्तरि क्तः, प्रतिहतिरस्यास्ति अभ्राद्ये वा, कर्मकर्त्तरि वा । **तदा तु संबन्धे इति**-न माषाणामश्नीयादितिवदित्यर्थः । **संभविष्याव इति**-'अयदि स्मृत्यर्थे' ५-२-९ इत्यनेन भविष्यन्ती स्यावस् । **अभिजानासि मातरीति**-तन्मते इत्युल्लेखेनेति विवक्षायामऽकर्म्मकत्वमन्यथा द्व्यङ्गविकलता स्यात्, स्वमते तु वाक्यार्थस्य कर्मत्वविवक्षायां सकर्म्मत्वान्नात्मनेपदं, ते हीत्थं व्याख्यान्ति-अभिजानासि स्मरसि, केनोल्लेखेन कोपपराङ्मुखीति, अनेन व्याख्यानेन 'ज्ञः' ३-३-८२ इत्यनेनाप्यात्मनेपदं वाक्यार्थकर्म्मणि तु 'ज्ञोऽनुपसर्गात्' ३-३-९६ इत्यनेन ।

उपात् स्थः ॥ ३. ३. ८३ ॥

उपपूर्वात् तिष्ठतेः कर्मण्यसति कर्तर्यात्मनेपदं भवति । भोजनकाल उपतिष्ठते, योगे योग उपतिष्ठते, ज्ञानमस्य ज्ञेयेषूपतिष्ठते, संनिधीयत इत्यर्थः । कर्मण्यसतीत्येव ? राजानमुपतिष्ठति ॥ ८३ ॥

न्या० स०-उपात्स्थः-संनिधीयत इति-कर्मकर्त्तरि धीङ्च् अनादरे इत्यस्य वा रूपमिदम् ।

समो गमृच्छि-प्रच्छि-श्रु-वित्-स्वरत्यर्ति-दृशः ॥ ३. ३. ८४ ॥

समः परेभ्यो गमादिभ्यः कर्मण्यसति कर्तर्यात्मनेपदं भवति । संगच्छते, समृच्छते, समृच्छिष्यते, संपृच्छते, संशृणुते, नित्यपरस्मैपदिभिः साहचर्यात् ज्ञानार्थस्यैव विदेर्ग्रहणम्-संवित्ते, संस्वरते, अर्तीति सामान्यनिर्देशात् भ्वादिरदादिश्च गृह्यते-समृच्छते, समियृते, संपश्यते, स्वरत्यर्त्योस्तिव्निर्देशो यङ्लुप्निवृत्त्यर्थः । कर्मण्यसतीत्येव ? संगच्छति सुहृदम् ।८४।

न्या० स०-**समोगमृ०-समृच्छिष्यते इति**-समृच्छे इत्यस्य ऋच्छेरर्तेश्च रूपसाम्यात् ऋच्छेरभिव्यक्त्यर्थं समृच्छिष्यते इति द्वितीयमुदाहरणम् । **सामान्यनिर्देशादिति**-यद्यपि सामान्यनिर्देशात् ऋश् गतावित्यस्यापि क्रैयादिकस्य ग्रहणं स्यात् , तथापि साम्यात् ह्रस्व एव गृह्यते परस्परं ह्रस्वत्वेन नियमितत्वात् । **यङ्लुप्निवृत्त्यर्थ इति**-तेन स्वरते: संसरिस्वर्त्ति, संसस्वर्त्ति, संसरीस्वर्त्ति अर्त्तेस्तु रिरीआगमे 'पूर्वस्य' ४-१-३७ इति इयादेशे समरियर्त्ति, समरियरीति र् आगमे समरर्त्ति इति, अन्येषां यङ्लुप्यपि संजंगते, संपरीपृष्टे, संशोश्रुते संवेवित्ते, संदरीदृष्टे इत्यात्मनेपदमेव, ऋच्छेस्त्वसंभवो यङः ।

वेः कृगः शब्दे चानाशे ॥ ३. ३. ८५ ॥

विपूर्वात् करोतेरनाशेऽर्थे वर्तमानात् कर्मण्यसति शब्दे च कर्मणि कर्तर्यात्मनेपदं भवति । कर्मण्यसति-विकुर्वते सैन्धवाः, साधु दान्ताः,-शोभनं वल्गन्तीत्यर्थः; ओदनस्य पूर्णाश्छात्रा विकुर्वते,-निष्फलं चेष्टन्त इत्यर्थः । शब्दं कर्मणि-क्रोष्टा विकुरुते स्वरान्, नानोत्पादयतीत्यर्थ । शब्दे चेति किम् ? विकरोति मृदम् । अनाश इति किम् ? विकरोत्यध्यायं, विकरोति शब्दं विनाशयतीत्यर्थः ॥ ८५ ॥

न्या० स०-**वेः कृगः—विकुर्वते सैन्धवा इति**-ननु विकारहेतौ सति विक्रियन्ते इत्यादौ कथं क्यः 'णिस्नुश्र्यात्मने' ३-४-९२ इत्यधिकारे 'भूषार्थ' ३-४-९३ इति निषेधात् ? सत्यं, अत्र कर्मणि क्यः कर्त्ता तु विकार एव ।

आङो यम-हनः स्वेऽङ्गे च ॥ ३. ३. ८६ ॥

आङः पराभ्यां यमि-हनिभ्यां कर्मण्यसति कर्तुः स्वेऽङ्गे च कर्मणि कर्तर्यात्मनेपदं भवति । आयच्छते, आहते । स्वेऽङ्गे आयच्छते पादम्, आहते शिरः । स्वेऽङ्गे चेति किम् ? आयच्छति रज्जुम्, आहन्ति वृषलम् । स्व इति किम् ? आयच्छति पादौ चैत्रस्य, आहन्ति शिरो मैत्रस्य । अङ्ग इति किम् ? स्वामायच्छति रज्जुम्, स्वं पुत्रमाहन्ति । स्वाङ्ग इति समस्तनिर्देशे पारिभाषिकस्वाङ्गप्रतिपत्तिः स्यादित्यसमस्ताभिधानम् ॥८६॥

न्या० स०-**आङो यम०:-पारिभाषिकस्वाङ्गेति**-ततश्चायच्छति पादौ चैत्रस्येत्यादावप्यात्मनेपदप्रसङ्गः ।

व्युदस्तपः ॥ ३. ३. ८७ ॥

व्युद्भ्यां परात् तपेः कर्मण्यसति, स्वेऽङ्गे च कर्मणि कर्तर्यात्मनेपदं भवति ।

वितपते उत्तपते रविः दीप्यत इत्यर्थः । स्वेऽङ्गे-वितपते, उत्तपते पाणिम्, तापयतीत्यर्थः । व्युद इति किम् ? निष्टपति । स्वेऽङ्गे चेत्येव ? वितपति पृथिवीं सविता, संतापयतीत्यर्थः; उत्तपति सुवर्णं सुवर्णकारः, द्रवीकरोतीत्यर्थः । स्व इत्येव ? उत्तपति पृष्ठं चैत्रस्य । अङ्ग इत्येव ? स्वं सुवर्णमुत्तपति । इह 'दीप्यते ज्वलति भासते रोचते' इत्येष्वर्थेषु तपिमकर्मकं स्मरन्ति, यथा-वहति भारमिति प्रापणे वहिं सकर्मकं, स्यन्दने त्वकर्मकम्-वहति नदी, स्पन्दत इत्यर्थ ॥ ८७ ॥

न्या० स०-व्युदस्तपः दीप्यते सामान्येन दीप्तो भवति, ज्वलति ज्वालावान् भवति, भासते उद्भूतरूपो भवति, रोचते किरणवान् भवति ।

अणिकर्मणिक्कर्तृकाण्णिगोऽस्मृतौ ॥ ३. ३. ८८ ॥

"प्रयोक्तृव्यापारे णिग्" [३. ४. २०] इति वक्ष्यते, अणिगवस्थायां यत् कर्म तदेव णिगवस्थायां कर्ता यस्य सोऽणिक्कर्मणिक्कर्तृकः, तस्मात्, णिगन्ताद् धातोरस्मृतौ वर्तमानात् कर्तर्यात्मनेपदं भवति । आरोहन्ति हस्तिनं हस्तिपकाः आरोहयते हस्ती हस्तिपकान्, आस्कन्दयत इत्यर्थः, पश्यन्ति राजानं भृत्याः, दर्शयते राजा भृत्यान् भृत्यै-रिति वा; पिबन्ति मधु पायकाः, पाययते मधु पायकान् । अणिगिति किम् ? आरोहन्ति हस्तिनं हस्तिपकाः, आरोहयति हस्तिपकान् महामात्रः, आरोहयन्ति महामात्रेण हस्तिपकाः; प्रथमणिगन्तकर्मणि द्वितीयणिगन्तकर्तर्यपि मा भूत् । णिग्करणं किम् ? गणयति गणं गोपा-लकः, गणयते गणो गोपालकम्, इति णिजन्तकर्मणिक्कर्तृकादपि णिगन्तात् प्रतिषेधो मा भूत् । कर्मेति किम् ? करणादेः कर्तृत्वे मा भूत्-पश्यन्ति भृत्याः प्रदीपेन, दर्शयति प्रदीपो भृत्यान् । णिगिति किम् ? यस्याणिगन्तस्यैव कर्म कर्ता भवति, ततो णिगन्तान्मा भूत्-लुनाति केदारं चैत्रः, लूयते केदारः स्वयमेव, तं प्रयुङ्क्ते-लावयति केदारं चैत्रः । कर्तृग्रहणं किम् ? आरोहन्ति हस्तिनं हस्तिपकाः, तानेनमारोहयति महामात्रः । णिग इति किम् ? आरोहन्ति हस्तिनं हस्तिपकाः, तानारोहयते हस्तीत्यणिगवस्थायां मा भूत् । प्रत्यासत्तेश्च यस्यैव धातोरणिगवस्था तस्यैव धातोर्णिगवस्था गृह्यते न धात्वन्तरस्य, तेनेह न भवति-आरुह्यमाणो हस्ती चेतयति पृष्ठं मूत्रेण । 'हस्तिपकैरारुह्यमाणो हस्ती स्थलमारोहयति मनुष्यान्' इत्यत्र तु सदृशधातुप्रयोगेऽपि पूर्वो हस्तिपककर्तृको रुहिः परश्च मनुष्यकर्तृक इति साधनभेदात् क्रियाभेदे धातुभेदः । अस्मृताविति किम् ? स्मरति वनगुल्मं कोकिलः, स्मरयत्येनं वनगुल्मः ।

कथं हन्त्यात्मानं, घातयत्यात्मेति, अत्र ह्यात्मनोऽणिक्कर्मणो णिक्कर्तृत्वमस्तीति; नैवम्-द्वावात्मानौ-शरीरात्माऽन्तरात्मा च, तत्र भेदेनैव लोके नित्यमयं प्रयोगः, हन्त्यात्मान-मिति शरीरात्मनोऽन्तरात्मनो वा कर्मत्वम्, घातयत्यात्मानमित्यपि तस्यैव कर्मत्वं न कर्तृ-त्वमिति । ननु यदि अणिक्कर्मणो णिक्कर्तृतायां णिगन्तादात्मनेपदमिष्यते तर्हि शुष्यन्त्यातपे व्रीहयः, शोषयते व्रीहीनातपः' इत्यादावधिकरणादेः कर्तृतायामात्मनेपदं न प्राप्नोति ? न, फलवत्कर्तरि भविष्यति । यद्येवमारोहयते हस्ती हस्तिपकानित्यादावपि तथैवास्तु, सत्यम्-किन्तु फलवतः कर्मस्थक्रियाच्चान्यत्रायं विधिः, तथाहि-'लावयते केदारः, भूषयते

कन्या, कारयते कटः, गमयते गणः, आरोहयते हस्ती स्वयमेव' इत्यादौ कर्मस्थक्रियत्वात् "एकधातौ कर्मक्रिययैकाकर्मक्रिये" [३. ४. ४६] इत्यनेनैवात्मनेपदं भवति ।

नन्वारोहयते हस्ती स्वयमेवेत्यस्य आस्कन्दयते' इति किलार्थः, तत् कथं कर्मस्थक्रियता रुहेः ? उच्यते,-यदा न्यग्भावनार्थोऽयं तथा कर्मस्थक्रियत्वम्, तथाहि-'आरोहन्ति हस्तिनं हस्तिपकाः' इति न्यग्भवनोपसर्जने न्यग्भावने रुहिर्वर्तते, स द्वितीयस्यामवस्थायाम् आरुह्यते हस्ती स्वयमेव' इत्यस्यां कर्मकर्तृविषयो न्यग्भवनमात्रवृत्तिर्भवति, अथ चतुर्थ्यामन्तर्भूततृतीयायाम् 'आरुह्यमाणं प्रयुञ्जते' इति हस्तिपकव्यापारप्रधानायां णिगन्तः सन् 'आरोहयन्ति हस्तिनं हस्तिपकाः' इत्यस्यां शुद्धारोहतिवन्न्यग्भवनोपसर्जने न्यग्भावने वर्तते, पुनर्यदा अस्यैव प्रयोजकव्यापाराविवक्षा तदा 'आरोहयते हस्ती स्वयमेव' इत्यस्यां पञ्चम्यामवस्थायाम् 'आरुह्यते हस्ती स्वयमेव' इतिवन्न्यग्भवनलक्षणस्य विशेषस्य हस्तिसमवेतत्वेनोपलम्भात् 'लावयते केदारः' इत्यादाविवकर्मस्थक्रियत्वमस्त्येवेति न किञ्चिदनुपपन्नम् । तदुक्तम्-

> **"न्यग्भावना न्यग्भवनं, रुहौ शुद्धे प्रतीयते ।**
> **न्यग्भावना न्यग्भवनं, ण्यन्तेऽपि प्रतिपद्यते ।।**
> **अवस्थां पञ्चमीमाहुर्ण्यन्ते तां कर्मकर्तरि ।**
> **निवृत्तप्रेषणाद् धातोः प्राकृतेऽर्थे णिगुच्यते ।।२।।" इति ।। ८८ ।।**

न्या० स०-**अणिक्कर्म०-आरोहयते हस्तीति**-अत्राऽनुकूलाचरणं पादार्प्पणशिरोऽधूननादि । **आस्कन्दयत इति** हस्तिन उपर्यागच्छन्ति तानुपर्यागमयतीत्यर्थः, अत्राप्येतेनात्मनेपदम् । **पाययते मधु पायकानिति**-'चल्याहारार्थ' ३-३-१०८ इति परस्मैपदे प्राप्ते 'परिमुह' ३-३-९३ इत्यनेन फलवत्यात्मनेपदमित्यत्र त्वऽफलवत्यप्यनेन । **आरोहयन्ति महामात्रेण हस्तिपका इति**-आरोहयति हस्तिपकान् महामात्रस्तमारोहयन्तं हस्तिपकाः प्रयुञ्जते इति वाक्यं, हस्तिपकानारोहयन्तं महामात्रं हस्त्येव प्रयुङ्क्ते इति वाक्ये द्वितीयणिगि अणिक्कर्मणो हस्तिनः कर्तृत्वेऽपि नात्मनेपदं, प्रत्यासत्तेर्न्यायात् यदि अनन्तरे णिगि कर्मणः कर्तृत्वमत्र तु द्वितीये णिगि । **लूयते केदार इति**-ननु लूयते केदार इत्यादाविव आरोहयते हस्ती हस्तिपकान् इत्यादावपि यदेव पूर्वं कर्म तदेव कर्त्तेति 'एकधातौ' ३-४-८६ इत्यनेन कर्मकर्त्तर्येवात्मनेपदं भविष्यति किमनेन ? सत्यं, अकर्मकक्रियत्वाभावान्न, अत्र कर्म्मणः प्रयोजकव्यापारात् कर्तृत्वं, एकधाताविवत्यत्र तु सौकर्यादित्यऽनयोर्भेदः । **णिग इति किमिति**-तदा णिगि णिग्विषये कर्त्ता यस्येति व्याख्येयम् । **आरोहयन्ति हस्तिनमिति**-अत्रारोहयते हस्तीत्यर्थे विवक्षिते आत्मनेपदं प्राप्तं तत् णिग इति व्यावृत्त्या निषिध्यते । **आरुह्यमाणो हस्तीत्यादि**-सिञ्चति मूत्रं कर्तृपृष्ठं कर्मतापन्नं तत् सिञ्चत् हस्ती प्रयुङ्क्ते **सदृशधातुप्रयोगेऽपीति**-यथा ग्लानाय मुद्राः प्रत्यहं दीयमानाः सादृश्यात्त एव मुद्रा दीयन्ते इति व्यवह्रियते तथा (अत्रापि कर्तृभेदेन) भिन्नोऽपि रुहिः सादृश्यादेकीक्रियते ।

कथं हन्ति आत्मानमिति-य एव आत्मा अणिक्कर्म स एव णिक्कर्त्तेत्यात्मनेपदं प्राप्नोतीति पराशयः । **घातयत्यात्मेति**-हन्त्यन्तरात्मानं बाह्यं वा चौरसत्कं राजा तमेकं

घ्नन्तमपरो बाह्य आन्तरो वा प्रयुङ्क्ते इति स्थितिः। **फलवत्कर्त्तरीति**-कृषीवलादेः प्रशंसादिकमातपस्य फलम्।

अनेनैवात्मनेपदं भवतीति-न त्वनेनाऽप्राप्तेः कर्म्मणः कर्तृत्वाभावात् तथा कर्म्मस्थ-क्रियेऽप्राप्तिं दर्शयति। कया युक्त्या लुनाति केदारं चैत्रः ? स एवं विवक्षते-नाहं लुनामि, लुयते केदारः स्वयमेव। तं स्वयमेव लूयमानः चैत्रः प्रयुङ्क्ते, लावयति केदारं चैत्रः, स एवं विवक्षते नाऽहं लावयामि,-अपि तु लावयते केदारः स्वयमेवेत्यनया प्रक्रिययाऽनेन न प्राप्नोति, अणिक्कर्मणोऽणिग्येव कर्तृतायाः सद्भावात्। एवं भूषयते कन्या इत्यादिष्वपि। एतद्वृत्त्यभिप्रायेण कृतम्। यदा तु लुनाति केदारं चैत्रः तं लुनन्तं मैत्रः प्रयुङ्क्ते, लावयति केदारं चैत्रेण मैत्रः, स एवं विवक्षते नाहं लावयामि चैत्रेण, लावयते केदारः स्वयमेवेति प्रक्रिया क्रियते तदाऽनेनापि प्राप्नोति अणिक्कर्मणो णिक्कर्तृतायाः सद्-भावात्, परं तदापि परत्वादेकधातावित्यनेनैव भवति, एवमन्येष्वपि। अत्र निर्वर्त्तना भूयोऽपि निर्वर्त्तना ततो निर्वर्त्तनम्। नन्वारोहयते हस्ती स्वयमेवेत्यस्यां पञ्चम्यावस्थायां प्रयोजकव्यापारेऽविवक्षित निमित्ताभाव इति न्यायात् णिगोऽप्यभावः प्राप्नोति ? नैवं, 'णिस्नुश्र्यात्मनेपद०' ३-४-९२ इति सूत्रे ण्यन्तानामेव ञिक्ययोर्निषेधात्।

तत्कथमिति-गत्यर्थानां कर्तृनिष्ठव्यापारत्वेन कर्मस्थक्रियत्वासंभव इति पारायणं, यतो गम्यते ग्रामः स्वयमेवेति न भवति, कर्तृसमवेतत्वात् गमनक्रियायाः। आस्कन्दनक्रिया हि हस्तिपककर्तृसमवेता न हस्तिकर्मयुक्तेति कथं कर्म्मस्थक्रियता रुहेरिति पराशयः।

न्यग्भवनोपसर्जने इति-अण्यन्तस्य न्यग्भवनं गौणत्वान्न विवक्ष्यते, ण्यन्तस्य तु गौणमपि पार्थक्येन विवक्ष्यत इति पञ्चैवावस्था न षट्।

अन्तर्भूततृतीयायामिति-अन्तर्भूतन्यग्भवनरूपतृतीयावस्थायामित्यर्थः। **तामिति**-यत्तदोर्नित्याभिसंबन्धात्। यस्यां किमित्याह-**कर्मकर्तरि** विवक्षिते। **निवृत्तप्रेषणा** निवृत्त-प्रयोजकव्यापारात्। **धातोः प्राकृतेऽर्थे** न्यग्भवनरूपे **णिजुच्यते** णिजिति मतान्तरेण, स्वमते तु णिगेव।

प्रलम्भे गृधि-वञ्चेः ॥ ३. ३. ८९ ॥

गृधि-वञ्चिभ्यां णिगन्ताभ्यां प्रलम्भे-वञ्चने वर्तमानाभ्यां कर्तर्यात्मनेपदं भवति। बटुं गर्धयते, बटुं वञ्चयते, विप्रतारयतीत्यर्थः। प्रलम्भ इति किम् ? श्वानं गर्धयति, प्रलोभ-यतीत्यर्थः, अहिं वञ्चयति, गमयतीत्यर्थः। णिग आत्मनेपदविधानं सर्वत्राफलवदर्थम् ॥८९॥

न्या० स०-प्रलम्भे०-बटुं वञ्चयते इति-वञ्चिणो णिजि सिद्धं णिगन्तस्य तु विध्यर्थं चौरादिकादेव णिचि णिगन्तादात्मनेपदमित्येके। णिगन्त एव चाऽयं प्रतारणे वर्त्तते स्वभावात्। **श्वानं गर्द्धयतीति**-अत्र फलवत्त्वेऽपि नात्मनेपदं, 'अणिगि प्राणि०' ३-३-१०७ इति निषेधात्। **अहिं वञ्चयतीति**-अकर्म्मकत्वाद्णिगि प्राणीति निषेधः, सकर्म्मकत्वे तु फलवत्यात्मनेपदं भवत्येव।

लिङ्-लिनोर्चाऽभिभवे चाच्चाऽकर्तर्यपि ॥ ३. ३. ९० ॥

लीयति-लिनातिभ्यां णिगन्ताभ्यामर्चाऽभिभवयोः प्रलम्भे चार्थे वर्तमानाभ्यां कर्तर्यात्मनेपदं भवति, अनयोश्चान्तस्याकर्तर्यप्याकारो भवति । जटाभिरालापयते, परैरात्मानं पूजयतीत्यर्थः, श्येनो वर्तिकामपलापयते, अभिभवतीत्यर्थः; कस्त्वामुल्लापयते ? वञ्चयते इत्यर्थः । एष्विति किम् ? बालकमुल्लापयति, उत्क्षिपतीत्यर्थः । कथं तर्ह्यात्वम् ? "लीङ्लिनोर्वा" [४. २. ९] इति भविष्यति । अकर्तर्यपीति किम् ? जटाभिरालाप्यते जटिलेन । ङिच्छ्नानिर्देशो यौजादिकनिवृत्त्यर्थः ॥ ९० ॥

न्या० स०-लीङ्लि०-अर्च्चा मुख्य एव धातोरर्थः, अत एव उदाहरणे पर्यायो णिगन्तः कथितो यथा पूजयति, अर्च्चयतीत्यर्थः, अभिभवप्रलम्भौ तु णिगन्त एव धातौ वर्त्तेतेऽतोऽणिगन्तौ पर्यायावुच्याते । यदि तु मुख्यौ स्यातां धातोस्तदानीं तौ प्रयोजकव्यापारेण व्याख्येयाताम् ।

स्मिङः प्रयोक्तुः स्वार्थे ॥ ३. ३. ९१ ॥

प्रयोक्तुः सकाशाद् यः स्वार्थः स्मयस्तत्र वर्तमानाण्णिगन्तात् स्मयतेः कर्तर्यात्मनेपदं भवति, अस्य चान्तस्याकारोऽकर्तर्यपि भवति । जटिलो विस्मापयते । प्रयोक्तुः स्वार्थे इति किम् ? करणात् स्वार्थे मा भूत्,-रूपेण विस्माययति । अकर्तर्यपीत्येव ? विस्मापनम् । ङित्निर्देशाद् यङ्लुपि न भवति-सेष्माययति ॥ ९१ ॥

बिभेतेर्भीष् च ॥ ३. ३. ९२ ॥

प्रयोक्तुः सकाशात् स्वार्थे वर्तमानाण्ण्यन्ताद् बिभेतेः कर्तर्यात्मनेपदं भवति, अस्य च भीषादेशः, पक्षेऽन्तस्याकारश्चाकर्तर्यपि भवति । मुण्डो भीषयते, मुण्डो भापयते । प्रयोक्तुः स्वार्थे इत्येव ? कुञ्चिकया भाययति । अकर्तर्यपीत्येव ? भीषा, भापनम् । तिव्निर्देशाद् यङ्लुपि न भवति-मुण्डो बेभाययति ॥९२॥

मिथ्याकृगोऽभ्यासे ॥ ३. ३. ९३ ॥

मिथ्याशब्दयुक्तो यः कृग् तस्माण्णिगन्तादभ्यासेऽर्थे वर्तमानात् कर्तर्यात्मनेपदं भवति । अभ्यासः पुनः पुनः क्रियाभ्यावृत्तिः । पदं मिथ्याकारयते, स्वरादिदोषदुष्टमसकृदुच्चारयति-पाठयतीत्यर्थः । आत्मनेपदेनैव क्रियाभ्यावृत्तेर्द्योतितत्वात् आभीक्ष्ण्ये द्विर्वचनं न भवतीति केचित् । मिथ्येति किम् ? पदं साधु कारयति । कृग इति किम् ? पदं मिथ्या वाचयति । अभ्यास इति किम् ? सकृत् पदं मिथ्या कारयति ॥ ९३ ॥

न्या० स०-मिथ्या०-मिथ्यायुक्तः कृग् मयूरादित्वात् युक्तशब्दलोपः, यद् वा मिथ्याशब्दात्, तृतीयैकवचने 'लुगात०' २-१-१०७ इत्याल्लोपः 'अव्यय०' ३-२-७ इति टालोपो वा, तदा तु युक्तार्थस्तृतीययैव कथ्यते ।

पदं मिथ्या कारयते इति–मिथ्येति पद-समानाधिकरणं विशेषणं मिथ्याभूतं पदं करोति, उच्चरति कश्चित्तमऽन्यः प्रयुङ्क्ते णिग् 'अव्यय०' ३-२-७ इत्यमो लुप् न भवति ।

केचिदिति–स्वमते तु द्विर्वचनं भवत्येव शब्दशक्तिस्वाभाव्यात्, केवलेनात्मनेपदेनाभ्यासो वक्तुं न शक्यते, यथा भोजं भोजं व्रजतीत्यादावाभीक्ष्णये आगतोऽपि रूणं द्विर्वचनमाकाङ्क्षति इति, पदं मिथ्या कारयत इति प्रयोगो ज्ञेयः, वृत्तौ त्वेकदेशेनोदाहारि । **केचिदिति**–न्यासकारादयः, तदपरे न मृष्यन्ति, यत एवम भ्युपगम्यमानेऽभ्यासे द्योतकस्यात्मनेपदस्याभावे पदं साधु कारयतीत्यादिप्रत्युदाहरणेषु कस्मान्न भवति ? न चाभ्यासो नास्तीति वाच्यं, ह्यङ्गवैकल्यप्रसङ्गात् तस्माद्यदेकदेशेनेत्याद्युक्तं स एव पक्षो न्यायः ।

परिमुहा-ऽऽयमा-ऽऽयस-पा-ट्धे-वद-वस-दमा-ऽऽद-रुच-नृतः फलवति ॥ ३. ३. ९४ ॥

फलवतीति भूम्न्यतिशायने वा मतुः, तेन यत् क्रियायाः प्रधानं फलमोदनादि यदर्थमियमारभ्यते तद्वति कर्तरि विवक्षिते, परिपूर्वान्मुहेराङ्पूर्वाभ्यां यमियसिभ्यां पिबति-ट्धवद-वसति-दमा-ऽऽद-रुच-नृतिभ्यश्च णिगन्तेभ्यः कर्तर्यात्मनेपदं भवति परिमोहयते चैत्रम्, आयामयते सर्पम्, आयासयते मैत्रम्, पाययते बटुम्, धापयते शिशुम्, वादयते शिशुम्, वासयते पान्थम्, दमयतेऽश्वम्, आदयते चैत्रेण । अदेर्नेच्छन्त्यन्ये–आदयति चैत्रेण, रोचयते मैत्रम्, नर्तयते नटम् । पिबत्यत्तिट्धेधातूनामाहारार्थत्वादौदासीन्यनिवृत्त्यर्थतायामकर्मकत्वाच्च नृतेश्चलनार्थत्वाच्च शेषाणां स्वरूपतो विवक्षातो वाऽकर्मकत्वादुत्तराभ्यां परस्मैपदे प्राप्ते वचनम् । 'पा' इति 'ट्धे' साहचर्यात् पिबतेर्ग्रहणम्, न पातेः; वदसाहचर्याच्च 'वस' इति वसतेर्न वस्तेरिति–पाति चैत्रो नोदास्ते, पालयति चैत्रम्; वस्ते मैत्रो न नग्नः, वासयति मैत्रमित्येव भवति ॥ ९४ ॥

न्या० स०-परिमुहा०-आयामयते सर्पमिति–कश्चिद्यमः परिवेषण इति पठति, तन्मताभिप्रायेण न ह्रस्वः, स्वमते तु भवत्येव ।

उत्तराभ्यां परस्मैपदे इति–पिबति-अत्ति-ट्धे-धातूनामाहारार्थत्वान्नृतेश्चलनार्थत्वात् 'चल्याहारार्थे' ३-३-१०८ इत्यनेन नृतवर्जितानामऽमीषामकर्मकत्वे तु 'अणिगि प्राणि' ३-३-१०७ इत्यनेनेत्यर्थः, स्वरूपतो वसः अन्येषामविवक्षातश्चाकर्मकत्वे अनेनैव प्राप्ते ।

ईगितः ॥ ३. ३. ९५ ॥

ईकारेतो गकारेतश्च धातोः फलवति कर्तर्यात्मनेपदं भवति । यजीं–यजते, डुपचींष्–पचते, लक्षीण्–लक्षयते; डुकृंग्–कुरुते, टुडुभृंग्क्–बिभृते, कण्डूग्–कण्डूयते, णिगन्त–गमयते । ईगित इति किम् ? गच्छति, चोरयति । फलवतीत्येव ? यजन्ति याजकाः, पचन्ति पाचकाः, कुर्वन्ति कर्मकराः, गमयत्यश्वं दमकः, नात्र स्वर्गौदनादि प्रधानं फलं कर्त्रा संबध्यते, यच्च दक्षिणावेतनादि संबध्यते, न तत् क्रियायाः फलं प्रधानमिति ।

तच्चैतत् स्वार्थलक्षणं फलं सदसद् वा विवक्षानिबन्धनमेव ग्राह्यं, तथैव लोके व्यवहारात् । तथाहि-क्वचिदसदपि सद्विवक्ष्यते, यथा-शोषयते व्रीहीनातपः, शब्दः प्राक् स्वार्थमभिधत्ते ततो द्रव्यम्, परकर्मण्यपि प्रवृत्ताः केचिदाहुः-यजामहे, इमे पचामहे, यत्नादस्मदीयमेवैतदिति । क्वचित् सदप्यसद् विवक्ष्यते, यथा-इमे ब्रूमः, प्रवचनप्रतिषेधपरत्वेन प्रवृत्तेर्विवक्षितत्वात्, एवम्-अगमकत्वादिति ब्रूमो न ब्रूमोऽपशब्दः स्यादिति । तदाहुः-

"क्रियाप्रवृत्तावाख्याता, कैश्चित् स्वार्थपरार्थता ।
असती वा सती वापि विवक्षितनिबन्धना ।।" इति ।

केचित् तु णिग्वर्जितादीगितो धातोर्णिगर्थे एव प्रेरणाध्येषणविशेषे प्रतिविधाननाम्नि वर्तमानादात्मनेपदमिच्छन्ति-पचते, पाचयतीत्यर्थः; केशश्मश्रु वपते, वापयतीत्यर्थः, वेदो वैधर्म्यं विधत्ते, विधापयतीत्यर्थः, इत्यादि यदाहुः-

"क्रीणीष्व वपते धत्ते, मिनुते चिनुतेऽपि च ।
आप्तप्रयोगा दृश्यन्ते, येषु ण्यर्थोऽभिधीयते ।।" इति ।

एतच्च श्रोत्रियमतमित्युपेक्ष्यते ।। ९५ ।।

न्या० स०-ईगितः-गमयत इति-गतिः पादविहरणं, चलनं तु स्थितस्यैव पदार्थस्येति 'चल्याहारार्थ' ३-३-१०८ इति न परस्मैपदमत्र । स्वार्थलक्षणमिति-अर्थ्यत इत्यर्थोऽर्थनीयः स्वस्यार्थः स्वर्गादिः स लक्षणं यस्य ।

शब्द प्राक् स्वार्थमिति-यथा गोशब्दः स्वार्थं सामान्यं गोत्वं प्राक् ततो गोलक्षणं द्रव्यम् । पूर्वाचार्यसंस्कृतेन द्रढयति यथात्र शब्दस्य फलवत्त्वमसदपि विवक्षितम् । अगमकत्वादिति-यथा ऋद्धस्य राज्ञः पुरुष इत्यत्र समासो न भवतीति अगमकत्वात् ब्रूमः विवक्षितार्थप्रतिपादकत्वात् न ब्रूमोऽपशब्दः स्यात् लक्षणादिदोषदुष्ट इति न ब्रूमः ।

स्वार्थपरार्थतेति-फलवत्ताफलवत्तेत्यर्थः, स्वस्मै इयं, परस्मै इयं क्रियाप्रवृत्तिः कर्मधारयात् स्वार्थपरार्थतो, भावे तल् । मतान्तरेण पुंवद्भावः, स्वमते तु 'त्वते गुणः' ३-२-५९ इति गुणवचनस्य भवति । प्रतिविधाननाम्नीति-पूर्वेषां प्रयोजकव्यापारस्य प्रतिविधान इति संज्ञा, ततो विधानमर्थात्प्रयोज्यव्यापारं प्रतिगतं प्रतिविधानं तन्नाम यस्य णिगर्थस्य तस्मिन् ।

ज्ञोऽनुपसर्गात् ।। ३. ३. ९६ ।।

अविद्यमानोपसर्गाज्जानातेः फलवति कर्तर्यात्मनेपदं भवति । गां जानीते, अश्वं जानीते । अनुपसर्गादिति किम् ? स्वर्गं प्रजानाति । फलवतीत्येव ? परस्य गां जानाति । अकर्मकात् पूर्वेण सिद्धे सकर्मकार्थं वचनम् ।। ९६ ।।

न्या० स०-ज्ञोऽनुप०-पूर्वेणेति-ज्ञ इत्यनेनेत्यर्थः ।

वदोऽपात् ।। ३. ३. ९७ ।।

अपपूर्वाद् वदतेः फलवति कर्तर्यात्मनेपदं भवति । एकान्तमपवदते । अपादिति किम् ? वदति । फलवतीत्येव ? अपवदति परं स्वभावतः ।। ९७ ।।

समुदाङो यमेरग्रन्थे ॥ ३. ३. ९८ ॥

समुदाङ्भ्यः पराद् यमेरग्रन्थविषये प्रयोगे फलवति कर्तर्यात्मनेपदं भवति। संयच्छते व्रीहीन्, उद्यच्छते भारम्, आयच्छते वस्त्रम्। समुदाङ इति किम्? नियच्छति वाचम्। अग्रन्थ इति किम्? वैद्यश्चिकित्सामुद्यच्छति, चिकित्साग्रन्थे उद्यमं करोतीत्यर्थः। फलवतीत्येव? संयच्छति उद्यच्छति, आयच्छति परस्य वस्त्रम्। आङ्पूर्वादकर्मकात् स्वाङ्ग-कर्मकाच्च "आङो यम-हनः०" [३. ३. ८६] इति सिद्धेऽन्यकर्मकार्थं वचनम्॥ ९८॥

न्या० स०-समुदाङो-चिकित्साग्रन्थ इति- चिकित्साहेतुत्वात् ग्रन्थोऽपि चिकित्सा चिकित्स्यतेऽस्या इति वा 'शसि प्रत्ययात्' ५-३-१०५ तदा बाहुलकात् स्त्रीत्वं सा चासौ ग्रन्थश्च।

पदान्तरगम्ये वा ॥ ३. ३. ९९ ॥

अनन्तरसूत्रपञ्चकेन यदात्मनेपदमुक्तं तत् पदान्तराद् गम्ये फलवति कर्तरि वा भवति। स्वं शत्रुं परिमोहयते परिमोहयति वा, स्वं यज्ञं यजते यजति वा, स्वं कटं कुरुते करोति वा, स्वमश्वं गमयते गमयति वा, स्वं शिरः कण्डूयते कण्डूयति वा, स्वां गां जानीते जानाति वा, स्वं शत्रुमपवदते अपवदति वा, स्वान् व्रीहीन् संयच्छते संयच्छति वा॥ ९९॥

शेषात् परस्मै ॥ ३. ३. १०० ॥

पूर्वप्रकरणेनात्मनेपदनियमः कृतः, परस्मैपदं तु अनियतमिति नियमार्थमिदम्, उपयुक्तादन्यः शेषः। येभ्यो धातुभ्यो येन विशेषेणात्मनेपदमुक्तं ततोऽन्यस्मादेव धातोः कर्तरि परस्मैपदं भवति। अनुबन्धोपसर्गार्थोपपदप्रत्ययभेदाच्चानेकधा शेषः। अनुबन्ध-शेषात्-भवति, अत्ति, बोभवीति, दीव्यति, गोपायति, पणायति, पुत्रीयति, पुत्रकाम्यति, अश्वति, मन्तूयति। उपसर्गशेषात्-प्रविशति, अधितिष्ठति, आगच्छति विपश्यति। अर्थ-शेषात्-करोति, नयति, वदति। उपपदशेषात्-गृहे संचरति, साधुभ्यः संप्रयच्छति, साधु पदं कारयति। प्रत्ययशेषात्-शत्स्यति, मुमूर्षति॥ १००॥

परानोः कृगः ॥ ३. ३. १०१ ॥

परानुभ्यां परात्करोतेः कर्तरि परस्मैपदं भवति। पराकरोति, अनुकरोति। गङ्गामनु कुरुत तप इति नात्र करोतिरनुना संबध्यते। गन्धनादावर्थे गित्त्वात्फलवति च प्राप्तस्यात्मनेपदस्यापवादोऽयम्॥ १०१॥

प्रत्यभ्यतेः क्षिपः ॥ ३. ३. १०२ ॥

प्रत्यभ्यतिभ्यः परात् क्षिपेः कर्तरि परस्मैपदं भवति। प्रतिक्षिपति, अभिक्षिपति, अतिक्षिपति बटुम्। प्रति क्षिपते भिक्षामिति नायं क्षिपिः प्रतिना संबध्यते। ईदित्त्वा-त्फलवतिप्राप्तस्यात्मनेपदस्यापवादोऽयम्, एवमुत्तरसूत्रद्वयमपि॥ १०२॥

न्या० स०-प्रत्यभ्यतेः-ईदित्त्वादिति-इह क्षिपिस्तौदादिक ईदित् गृह्यते न तु दैवादिकः, परस्मैपदी तस्यानुबन्धशेषेण 'शेषात्' ३-३-१०० इत्यनेनैव सिद्धत्वात्। न च

वाच्यमस्यापि नियमार्थं कस्मान्न भवति, विधिनियमसंभवे विधेरेव ज्यायस्त्वम् ।

प्राद्वहः ॥ ३. ३. १०३ ॥

प्रपूर्वाद्वहतेः कर्तरि परस्मैपदं भवति । प्रवहति ॥ १०३ ॥

परेर्मृषश्च ॥ ३. ३. १०४ ॥

परिपूर्वान्मृषेर्वहेश्च कर्तरि परस्मैपदं भवति । परिमृष्यति, परिवहति । मैत्रं परिमृष्यते धनं परिवहते इत्यत्र न परिमृषिवहिभ्यां संबध्यते । वहेर्नेच्छन्त्यन्ये ॥ १०४ ॥

व्याङ्परे रमः ॥ ३. ३. १०५ ॥

व्याङ्परिभ्यः पराद्रमेः कर्तरि परस्मैपदं भवति । विरमति, आरमति, परिरमति । इदित्वादात्मनेपदस्यापवादः ॥ १०५ ॥

वोपात् ॥ ३. ३. १०६ ॥

उपपूर्वाद्रमेः कर्तरि परस्मैपदं भवति वा । भार्यामुपरमति उपरमते वा । उपसंप्राप्तिपूर्विकायां रतौ वर्तमानोऽन्तर्भूतणिगर्थो वा रमिः सकर्मकः । उपरमति उपरमते वा संताप । उपरमति उपरमते वावद्यात् । उपाद्रमेः सकर्मकात्परस्मैपदमेवेत्येके । आत्मनेपदमेवेत्यन्ये ॥ १०६ ॥

न्या० स०–वोपातः–उपरमते वा संताप इति–निवृत्त्यर्थः पुररुपपूर्वोऽप्यकर्मक इति दर्शयति ।

अणिगि प्राणिकर्तृकानाप्याण्णिगः ॥ ३. ३. १०७ ॥

अणिगवस्थायां यः प्राणिकर्तृकोऽकर्मकश्च धातुस्तस्माण्णिगन्तात्कर्तरि परस्मैपदं भवति । आस्ते चैत्र आसयति चैत्रम्, शेते मैत्रः शाययति मैत्रम् । अणिगीति किम् । स्वयमेवारोहयमाणं हस्तिनं प्रयुङ्क्ते आरोहयते । अणिगिति गकारः किम् ? णिजवस्थायां प्राणिकर्तृकानाप्यात् णिगन्तान्मा भूत् यथा स्यात् । चेतयमानं प्रयुङ्क्ते चेतयतीति । प्राणिकर्तृकेति किम् ? शुष्यन्ति व्रीहयः, शोषयते व्रीहीनातपः । 'प्राण्यौषधिवृक्षेभ्यः' (६-२-३१) इति पृथग्निर्देशादिहलोके प्रतीता एव प्राणिनो गृह्यन्ते । अनाप्यादिति किम् ? कटं कुर्वाणं प्रयुङ्क्ते कटं कारयते । णिग इति किम् ? आस्ते, शेते । गकारः किम् ? अणिगवस्थायां प्राणिकर्तृकानाप्याण्णिजन्तान्माभूत् । चेतयते, 'ईगितः' (३-३-९५)इत्यात्मनेपदस्यापवादोऽयम् ॥ १०७ ॥

न्या० स० अणिगि०ः–आरोहयत इति–आरोहयते हस्तिना हस्तिपक इति सकलप्रयोगः । अत्र चावस्थापञ्चकं पूर्ववत् विधाय षष्ठ्यामवस्थायां स्वयमेवारोहयमाणं हस्तिनं प्रयुङ्क्ते, इत्यस्यां परस्मैपदं प्राप्तं तदणिगीति व्यावृत्त्या निषिध्यते ।

ननु द्वितीयस्यामवस्थायामारुह्यते हस्ती स्वयमेवेत्यस्यामणिगन्तायं धातुः प्राणिकर्तृकोऽनाप्यश्चास्ति तत्कथं न भवति परस्मैपदम् ? सत्यं, तदपेक्षया चतुर्थ्यामुत्पन्नमेवारोहयन्ति हस्तिनं हस्तिपका इति, प्रस्तुते त्वारोहते हस्ती स्वयमेवेत्यस्याः पञ्चम्या अवस्थाया अनन्तरं स्वयमेवारोहयमाणं हस्तिनं प्रयुङ्क्ते इत्यस्यां षष्ठ्यामवस्थायां णिगि

प्राप्तमनेन निषिध्यते, तदा हि णिगवस्थायामनाप्यो धातुर्णिगवस्थायाम् पञ्चम्यामवस्थायामयं धातुर्नित्याकर्म्मकोऽतो नित्याकर्म्मकद्वारेण णिगन्तस्य धातोः षष्ठ्यामवस्थायां 'वाकर्मणाम्' २-२-४ इत्यनेन हस्तिनः कर्मत्वं प्राप्तमणिक्कर्त्तेत्यंशेन निषिध्यते ।

चल्याहारार्थेङ्बुध-युध-प्रु-द्रु-स्रु-नश-जनः ॥ ३. ३. १०८ ॥

चलिरर्थः कम्पनम्, तदर्थेभ्य आहारार्थेभ्य इङादिभ्यश्च णिगन्तेभ्यः कर्तरि परस्मैपदं भवति । चल्यर्थः-चलयति, कम्पयति चोपयति शाखाम् । आहारार्थ,-निगारयति, भोजयति, आशयति चैत्रमन्नम् । पय उपयोजयते चैत्रेणेति युजेरनाहारार्थत्वात् न भवति । इङ्-सूत्रमध्यापयति शिष्यम् । बुध-बोधयतिपद्मं रविः, बोधयति धर्मं शिष्यम् । युध्-योधयति काष्ठानि । प्रु-प्रावयति राज्यं प्रापयतीत्यर्थः । द्रु-द्रावयत्ययः, विलाययतीत्यर्थः । स्रु-स्रावयति तैलम्, स्पन्दयतीत्यर्थः । नश् नाशयति पापम् । जन्-जनयति पुण्यम् । ❀ प्रुस्रुद्रूणामचलनार्थार्थं शेषाणां सकर्मकार्थमप्राणिकर्तृकार्थं च वचनम् ॥ १०८ ॥

इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्रविरचितायां सिद्धहेमचन्द्राभिधानस्वोपज्ञशब्दानुशासनबृहद्वृत्तौ तृतीयस्याध्यायस्य तृतीयः पादः समाप्तः ॥

श्रीदुर्लभेशद्युमणेः पादास्तष्टुविरे न कैः ।
लुलद्भिर्मेदिनी,-पालैर्वालिखिल्यैरिवाग्रतः ॥

न्या० स०-चल्याहार०-चलिरर्थ इति-चलिलक्षणोऽर्थः, कः कम्पनमनयापि युक्त्या यातीति षष्ठ्या न व्याख्येयम् ।

कम्पयतीति-कथं शिरः कम्पयते युवेत्यत्रात्मनेपदम् ? सत्यं, णिग्द्वयमत्र । कथं कम्पमानं शिर आत्मा प्रयुङ्क्ते, तं युवा प्रयुङ्क्ते ततो नात्र कम्पनं, किं तर्हि कम्पना चलिरर्थः कम्पनमिति चोक्तम् । ननु बुधिर्भ्वादिषु द्विः पठ्यते एको गित् अपरश्च परस्मैपदी, दैवादिकोऽप्यात्मनेपदी तत् कस्य ग्रहणम् ? उच्यते, नात्र निरनुबन्धग्रहणपरिभाषोपतिष्ठतेऽनेन बुधेर्ण्यन्तस्य परस्मैपदविधानसामर्थ्यात् । यदि हि भौवादिकस्य बुधेः परस्मैपदिन एव निरनुबन्धत्वाद्ग्रहणं स्यान्नाऽन्यस्य ततश्च बोधयति, बोधयते इति नित्यमेव धातुभेदेन रूपद्वयमविचलं स्यात्तदनेन बुधग्रहणेन किं कृतं स्यात् ? अर्थस्वरूपयोरभेदात् इह बुधिग्रहणं बोधयत इति प्रयोगो माभूदेवमर्थं कृतं तस्माद्बुधग्रहणसामर्थ्यादविशेषेणेह बुध अवगमने 'बुधृग् बोधने' 'बुधिंच् ज्ञाने' इति बुधीनां ग्रहणं तेन बोधयतीति नित्यमेव भवति ।

प्रुद्रुस्रूणामिति-प्राप्ति विलयादिभ्यो हि चलनस्यान्यत्वात् तथाहि चलनं कायव्यापारविशेषः, प्राप्तेः कारणं स्यन्दनविलयावपि प्राप्तिविशेषौ ।

इत्याचार्य०

वालिरिव खिल्यन्ते 'शिक्यास्य' ३६४ (उणादि) इति निपात्यते । ईश्वरविवाहे होमादिक्रियां कुर्वतो ब्रह्मणः कक्षाबन्धाद्गौरीरूपदर्शनक्षुभितस्य वीर्यमपप्तत् तच्च व्रीडया तेनोत्पुंसितुमारब्धं, तस्माच्चाऽमोघत्वेनाब्रह्मण्यममिति ब्रुवाणा अष्टाशीतिसहस्रसंख्या ऋषय उदतिष्ठन्, ते च चतुर्मुखचरणाक्रान्तत्वेनाङ्गुष्ठप्रमाणा अभवन्नित्यागमः ।

चतुर्थः पादः

गुपौ-धूप-विच्छि-पणि-पनेरायः ॥ ३. ४. १ ॥

गुपादिभ्यो धातुभ्यः पर आयप्रत्ययो भवति स चानिर्दिष्टार्थत्वात् स्वार्थे । गोपायति, धूपायति, विच्छायति, पणायति, व्यवहरति, स्तौति चेत्यर्थः । न चोपलेभे वणिजां पणायाः, पनायति, व्यवहारार्थात् पणेर्नेच्छन्त्यन्ते,- शतस्य पणते । अनुबन्धस्याशवि आयप्रत्ययाभावपक्षे चरितार्थत्वादायप्रत्ययान्ताभ्यां पणिपनिभ्यामात्मनेपदं न भवति । गुपावित्यौकारो गुपि गोपने इत्यस्य निवृत्त्यर्थः यङ्लुप्निवृत्त्यर्थश्च ।। १ ।।

न्या० स०–गुपौधूप०–आयस्यादन्तत्वे अजुगोपायादित्यादि सिद्धमन्यथाऽदन्तत्वाभावे 'उपान्त्यस्य' ४-२-३५ इति ह्रस्वत्वे अजुगोपयदित्यनिष्टं स्यात् । **विच्छायतीति**–ननु विच्छेस्तौदादिकत्वेन शव्विषयाभावाद् विकल्पः प्राप्नोति ? नैवं, शवोपवादत्वात् शप्रत्ययस्यापि शव्शब्देनाभिधानाददोषः एवं चाशवीत्यनेनाशितीत्यर्थ सिद्धो भवति, अशितीत्येव वा पठनीयं धातुपारायणकृता तु मेने विच्छायति, विच्छतीति । शतरि 'अवर्णादश्न०' २-१-११५ इति वा अन्तादेशे विच्छती, विच्छन्ती स्त्री कुले वा । द्रमिलास्तु शे नित्यमायं तुदादिपाठबलाच्चायव्यवायेऽपि पक्षेऽन्ताभावमिच्छन्ति विच्छायन्ती, विच्छायती; यथा जुगुप्सते इति सना व्यवधानेऽपि आत्मनेपदम् ।

पणेर्नेच्छन्त्यन्ये इति–जयादित्यप्रभृतयः, पनि स्तुत्यर्थस्तत्साहचर्यात्पणेरपि स्तुत्यर्थादाय इति व्याख्यानयन्ति ।

गुपि गोपन इत्यस्य निवृत्त्यर्थ इति–'गुपण् भासार्थः', 'गुपच् व्याकुल्वे' इत्यनयोस्तु धूपसाहचर्यान्निरासः । ननु धूपश्चुरादिरप्यस्ति ? सत्यं, अणिजन्तविच्छसाहचर्यात् भौवादिकस्यैव धूपस्य ग्रहणम् । ननु विच्छिरपि भासार्थश्चुरादिस्तत्कथं तेन साहचर्यम् ? सत्यं, तस्याऽणिजन्ताभ्यां पणिपनिभ्यां साहचर्यान्निरासः ।

यङ्लुप्निवृत्त्यर्थश्चेति–ननु यङ्प्रत्ययस्य प्राप्तिरेव नास्ति, आयप्रत्ययेऽनेकस्वरत्वात् तत्कथं यङ्लुप्निवृत्त्यर्थश्चेत्युक्तम् ? सत्यं, अशव्विषये विकल्पितस्यायस्य प्रथमं यङि प्रकृतिग्रहणेति न्यायात्प्राप्तिः ।

कमेर्णिङ् ॥ ३. ४. २ ॥

कमेर्धातोः स्वार्थे णिङ् प्रत्ययो भवति । कामयते, णकारो वृद्ध्यर्थः । ङकार आत्मनेपदार्थः ।। २ ।।

न्या० स०–कमेर्णिङ्०–णकारो वृद्ध्यर्थ इति–यद्येवं 'अमोऽकम्यमिचमः' ४-२-२६ इत्यत्र कमेः प्रतिषेधो व्यर्थस्तेन ह्रस्य ह्रस्वत्वं निषिध्यते, ह्रस्वत्वस्य च णित्करणसाम-

र्थ्यात् याऽसौ वृद्धिः प्रवर्त्तते तयैव बाधः संपन्न इति किमर्थः प्रतिषेध इति शेषः? सत्यं, णिङ्ऽभावपक्षे यदा णिगुत्पद्यते तदा ह्रस्वत्वं मा प्रापत्, वृद्धिरेव श्रूयतामित्येवमर्थः प्रतिषेधः । 'णेरनिटि' ४-३-८३ इति च सामान्यग्रहणार्थो णकारोऽर्थवान् इति प्रतिषेधाभावे ह्रस्वः स्यादिति ।

ङकार आत्मनेपदार्थ इति-धात्वनुबन्धस्य अशवि चरितार्थत्वात्तदन्तस्य न प्राप्नोति ।

ऋतेर्ङीयः ॥ ३. ४. ३ ॥

ऋत घृणागतिस्पर्धेषु इत्यस्माद्धातोः स्वार्थे ङीयः प्रत्ययो भवति । ऋतीयते, ङकार आत्मनेपदाद्यर्थः ॥ ३ ॥

न्या० स०-ऋतेर्ङीयः-आर्त्तितीयदित्यत्र फलमदन्तताया ङीयस्य अन्यथा आर्त्तितियदिति स्यात् । **आत्मनेपदाद्यर्थ इति**-आदिपदात् गुणाभावः ।

अशवि ते वा ॥ ३. ४. ४ ॥

गुपादिभ्योऽशवि विषये ते आयादयो वा भवन्ति । गोपायिता, गोप्ता, धूपायिता, धूपिता, विच्छायिता, विच्छिता, पणायिता, पणिता, पनायिता, पनिता, कामयिता, कमिता, ऋतीयिता, अर्तिता ॥ ४ ॥

गुप्-तिजो गर्हा-क्षान्तौ सन् ॥ ३. ४. ५ ॥

गुप्तिज् इत्येताभ्यां यथासंख्यं गर्हायां क्षान्तौ च वर्तमानाभ्यां स्वार्थे सन् प्रत्ययो भवति । जुगुप्सते-गर्हते इत्यर्थः, तितिक्षते-सहते इत्यर्थः । गर्हाक्षान्ताविति किम्? गोपनम्, गोपयति, तेजनम्, तेजयति । अनयोरर्थान्तरेऽपि त्यादयो नाभिधीयन्त इत्यत्यादिना प्रत्युदाहृतम्, एवमुत्तरसूत्रद्वयेऽपि प्रायेण ज्ञेयम् । अकारः सन्ग्रहणेषु सामान्यग्रहणार्थः, नकारः सन्यङश्चेत्यत्र विशेषणार्थः ॥ ५ ॥

न्या० स०-गुप्तिजो०-त्यादय इति-त्यादिसमानार्थत्वाच्छत्रानशावपि । केचिच्छत्रानशाविच्छन्ति, तेन गोपमानं, तेजमानं, केतन्तं प्रयुङ्क्ते, इत्यपि भवति । प्रायेणेति भणनात् गोपते, तेजते, केतति, बधते इत्याद्यपि, अत एव रसवाचकतिक्तशब्दसाधनाय तेजते इति वाक्यं कृतं क्षीरस्वामिना । 'पुतपित्तः' २०४ (उणादि) इति साधुः ।

अकारः सन्ग्रहणेष्विति-अन्यथेच्छासन एव ग्रहणं स्यात् ।

कितः संशय-प्रतीकारे ॥ ३. ४. ६ ॥

कितो धातोः संशये प्रतीकारे च वर्तमानात् स्वार्थे सन् प्रत्ययो भवति । विचिकित्सति-संशेते इत्यर्थः, व्याधिं चिकित्सति-प्रतिकरोतीत्यर्थः । निग्रहविनाशौ प्रती-

कारस्यैव भेदो तेनात्रापि भवति,-क्षेत्रे चिकित्स्यः पारदारिकः,-निग्राह्य इत्यर्थः, चिकित्स्यानि क्षेत्रे तृणानि विनाशयितव्यानि इत्यर्थः । संशयप्रतीकार इति किम् ? केतनम्, केतयति ।। ६ ।।

न्या० स०-कित: संशय०:-अनवधारणात्मकः प्रत्ययः संशयः । प्रतीकारो दुःखहेतोर्निराकरणम् । **निग्रहविनाशाविति**-अन्यैर्निग्रहविनाशयोरपि सन्नभिहितः तत्स्वमते कथमित्याशङ्का ।

शान्-दान्-मान्-बधान्निशानाऽऽर्जव-विचार-वैरूप्ये दीर्घश्चेतः ॥ ३. ४. ७ ॥

शान्-दान्-मान्-बध् इत्येतेभ्यो यथासंख्यं निशाने, आर्जवे, विचारे, वैरूप्ये च वर्तमानेभ्यः स्वार्थे सन् प्रत्ययो भवति, दीर्घश्चैषां द्विर्वचने सति पूर्वस्येकारस्य । शीशांसते, शीशांसति, दीदांसति, दीदांसते, मीमांसते, बीभत्सते । अर्थनिर्देशः किम् ? अर्थान्तरे माभूत्-निशानम् अवदानम्, अच्,-अवमानयति, बाधयति ।। ७ ।।

न्या० स०-शान्:-निन्दितरूपो विरूपः, तस्य भावो वैरूप्यम् । नन्वत्र इद्ग्रहणं किमर्थं, दीर्घ इति सामान्योक्तावपि सनि इत एव संभवः ? सत्यं, अत्रेदिति ग्रहणाभावे सनि प्रथममेवाकारस्य दीर्घः स्यात्, शान्दानोः साहचर्यात् मानिर्भ्वादिर्गृह्यते न तु चुरादिः ।

निश्यतीत्यचि निशानं, अवद्यतीत्यचि अवदानं, 'शोंच् तक्षणे,' 'दोंच् छेदने' अनयोऽनडन्तयोरिदं रूपद्वयमिति कश्चिदाशङ्केत तद्व्युदासार्थमाह-अजिति ।

धातोः कण्ड्वादेर्यक् ॥ ३. ४. ८ ॥

द्विविधाः कण्ड्वादयः धातवो नामानि च, कण्ड्वादिभ्यो धातुभ्यः स्वार्थे यक्प्रत्ययो भवति । कण्डूयति, कण्डूयते, महीयते, मन्तूयति । धातोरिति किम् ? कण्डूः, कण्ड्वौ, कण्ड्वः । यकः कित्त्वाद्धातोरेवायं विधिः । धातुग्रहणम् उत्तरार्थमिह सुखार्थं च । कण्डूग्, गकारः फलवति 'ईगितः' (३. ३. ९५) इत्यात्मनेपदार्थः । महीङ्, हृणीङ्, वेङ्, लाङ् ङकार आत्मनेपदार्थः । मन्तु, वल्गु, असु, वेट्, लाट् । वेट्लाट् इत्यन्ये । लिट्, लोट्, उरस्, उषस् इरस्, तिरस्, इयस्, इमस्, अस्, पयस्, संभूयस्, दुवस्, दुरज्, भिषज्, भिष्णुक्, रेखा, लेखा, एला, वेला, केला, खेला, खल इत्यन्ये । गोधा, मेधा, मगध, इरध इषुध, कुषुम्भ, सुख, दुःख, अगद, गद्गद, गद्गदङित्येके । तरण, वरण, उरण, तुरण, पुरण, भुरण, वुरण, भरण, तपुस, तम्पस, अरर, सपर, समर इति कण्ड्वादिः ।। ८ ।।

न्या० स०-धातोः कण्ड्वा०-कण्ड्व इति यदा कण्डूमिच्छन्ति क्यनि क्विपि तल्लोपे जसि 'संयोगात्' २-१-५२ इत्युवादेशे कण्डुव इति भवति । **यकः कित्त्वेति**-कितः फलं 'नामिनो गुणः' ४-३-१ इत्येवमादीनि तानि च धातोरेव गौणमुख्ययोरिति न्यायात्

मुख्यो धातुरेव । नामापि धातोः सकाशाद् भवति । उक्तं च-नाम च धातुजमाह । **उत्तरार्थमिति**-यदा तु 'दीर्घश्च्वियङ्' ४-३-१०८ इत्यादि कित्त्वफलं तदा धातुग्रहण-मत्रापि सार्थम् ।

व्यञ्जनादेरेकस्वराद् भृशाऽऽभीक्ष्ण्ये यङ् वा ॥ ३. ४. ९ ॥

गुणक्रियाणामधिश्रयणादीनां क्रियान्तराव्यवहितानां साकल्येन संपत्तिः फलातिरेको वा भृशत्वम्, प्रधानक्रियाया विक्लेदादेः क्रियान्तराव्यवधानेनावृत्तिराभीक्ष्ण्यम्, तद्विशिष्टेऽर्थे वर्तमानाद्धातोर्व्यञ्जनादेरेकस्वराद्यङ्प्रत्ययो वा भवति । भृशं पुनःपुनर्वा पचति पापच्यते, जाज्वल्यते, अथाभीक्ष्ण्ययङन्तस्याभीक्ष्ण्ये द्वित्वं कस्मान्न भवति ? उक्तार्थत्वात्, यदा तु भृशार्थयङन्तादाभीक्ष्ण्यविवक्षा-तदा भवत्येव । पापच्यते-पापच्यते इति, तथा भृशार्थयङन्तादाभीक्ष्ण्ये आभीक्ष्ण्ययङन्ताद्वा भृशार्थे विवक्षिते यदा पञ्चमी केवला, तदा सा केवला तदर्थद्योतनेऽसमर्थेति तदर्थद्योतने द्विर्वचनमपेक्षते । पापच्यस्व पापच्यस्वेति धातोरित्येव ? तेन सोपसर्गान्न भवति । भृशं प्राप्ति । व्यञ्जनादेरिति किम् ? भृशमीक्षते । एकस्वरादिति किम् ? भृशं चकास्ति । केचिज्जागर्तेरिच्छन्ति-जाजाग्रीयते । सर्वस्माद्धातोरायादिप्रत्ययरहितात्केचिदिच्छन्ति-अवाव्यते, दादरिद्रयते । भृशाभीक्ष्ण्ये इति किम् ? पचति । वेति किम् ? लुनीहि लुनीहीत्येवायं लुनातीत्यादि यथा स्यात् ॥ ९ ॥

न्या० स०-व्यञ्जनादे०:--क्रियान्तराऽव्यवहितानामिति—विरोधिभिर्ग्रामगमनादिभिः अविरोधिभिस्तूच्छ्वासादिभिर्भवत्येव । **साकल्येन संपत्तिरिति**-सामस्त्येन ढौकनमित्यर्थः । **फलातिरेको वेति**-फलसमाप्तावपि क्रियानुपरतिः ।

प्रधानक्रियाया इति-पचौ विक्लेदः प्रधानक्रिया, तां कश्चित्समाप्य क्रियान्तरमनारभ्य पुनस्तामेव क्रियामारभते तस्याः पुनः पुनर्भाव आभीक्ष्ण्यं **तदा भवत्येवेति**, यदा त्वाभीक्ष्ण्ययङन्ताद् भृशार्थविवक्षा, तदा न द्वित्वं शब्दशक्तिस्वाभाव्यात् तस्यार्थस्य यङैव प्रतिपादितत्वात् । किंच भृशत्वं गुणक्रियाणां साकल्येन संपत्तिः, आभीक्ष्ण्यं प्रधानक्रियाया-आवृत्तिः, अतः प्रधानक्रियायां गुणक्रिया न्यग्भूतेति ।

यदापञ्चमीति-तर्हि एतस्यां विवक्षायां पञ्चम्यपि न प्राप्नोति ? न, शब्दशक्तिस्वाभाव्यात्, 'भृशाभीक्ष्ण्ये०' ५-४-४२ इति पञ्चमी भवत्येव, लुनीहिलुनीहीत्येवायमिति, न च हि-स्वविधानसामर्थ्यादेव तौ भविष्यत इति वाच्यं, स्वराद्यनेकस्वरेभ्यः तयोश्चरितार्थत्वात्, तथा यदा भृशं पचति, पचनविशिष्टो भृशार्थो धात्वर्थस्तदा वाक्यार्थमपि वा ग्रहणम्, तर्हि वाक्यार्थमिति कथं नोक्तम् ? सत्यं,-यदा पचतिना पाकः, भृशब्देन तु भृशार्थस्तदा वाक्यं सिद्धमिति वाक्यार्थमिति नोक्तं पाक्षिकप्राप्तेरप्रधानत्वात् । ननु 'व्यञ्जनादेरेकस्वात्' ३-४-९ इति किमर्थं, यत उत्तरसूत्रेऽर्त्यतिग्रहणात् व्यञ्जनादित्वं सूत्रिमूत्रिग्रहणात् एकस्वरत्वं चात्र लप्स्यते, तस्मादुत्तरसूत्रकरणादिह 'व्यञ्जनादेरेक०' ३-४-९ एव भविष्यति ? नैवं, गत्यर्थानां भृशाभीक्ष्ण्येऽर्थे यदि यङ स्यात्तदाऽर्त्यर्त्योरेव स्यात्, तथा

च दनीध्वस्यते इति न स्यात्, व्यञ्जनादीनामेकस्वराणामदन्तानामेव स्यात्, तथा च पापच्यते इति न स्यादिति नियमाशङ्का स्यात्तन्निवृत्त्यर्थम् ।

अट्यर्तिसूत्रिमूत्रिसूच्यशूर्णोः ॥ ३. ४. १० ॥

एभ्यो भृशाभीक्ष्ण्ये वर्तमानेभ्यो यङ् प्रत्ययो भवति । भृशं पुनःपुनर्वाटति अटाटयते । एवमियर्त्ति ऋच्छति वा अरार्यते, सूत्रण्-सोसूत्र्यते, मूत्रण्-मोमूत्र्यते, सूचण्-सोसूच्यते, अश्नुते अश्नाति वा अशाश्यते, ऊर्णु ग्क्-प्रोर्णोनूयते । अटयर्त्यशामव्यञ्जनादित्वात् सूत्रि-मूत्रिसूचीनामनेकस्वरत्वात् ऊर्णोतेरव्यञ्जनाद्यनेकस्वरत्वात्पूर्वेणाप्राप्ते वचनम् ।। १० ।।

न्या स०-अट्यर्ति०-यङोऽदन्तत्वे अटाट्यते, अरार्यते इत्यादिषु फलम् ।

गत्यर्थात्कुटिले ॥ ३. ४. ११ ॥

व्यञ्जनादेरेकस्वराद् गत्यर्थात्कुटिल एवार्थे वर्तमानात् धातोर्यङ्भवति न भृशा-भीक्ष्ण्ये । कुटिलं क्रामति चंक्रम्यते, दन्द्रम्यते । कुटिल इति किम् ? भृशमभीक्ष्णं वा क्रामति । धात्वर्थविशेषणं किम् ? साधने कुटिले माभूत्-कुटिलं पन्थानं गच्छति । तक्र-कौण्डिन्यन्यायेन भृशाभीक्ष्ण्ययोर्निषेधार्थं वचनम् । भृशाभीक्ष्ण्ये कुटिलयुक्ते एव यङ् न केवल इत्यन्ये, एवमुत्तरत्रापि । कथं जंगमः ? रूढिशब्दोऽयम् लक्षणया स्थावरप्रतिपक्ष-मात्रे वर्तते ।। ११ ।।

न्या० स० गत्यर्थात्०:-तक्रकौण्डिन्येति-अयमर्थः सामान्यलक्षणस्य विधेर्विशेषलक्षणो विधिर्बाधको भवति, तक्रं देयमस्मै तक्रदेयः कौण्डिन्यः 'मयूर' ३-१-११६ इति देयलोपः । कथं जङ्गमः ? इति-अत्र कुटिलार्थाभावे कथं यङित्याशङ्कार्थः । लक्षणयेति-यन्मुख्यं प्रवृत्तिनिमित्तं शब्दस्य तत्प्रत्यासत्त्या तदुपलक्षितं धर्मान्तरमपादाय प्रवृत्तिर्लक्षणा तया । गच्छतीति-'गमेर्ज च वा' १३ (उणादि) इत्यऽप्रत्यये वा जमादेशे च ।

गॄ-लुप-सद-चर-जप-जभ-दश-दहो गर्ह्ये ॥ ३. ४. १२ ॥

गर्ह्य एवार्थे वर्तमानेभ्यो गॄप्रभृतिभ्यो धातुभ्यो यङ्प्रत्ययो भवति न भृशादिषु । गर्हितं निगिरति निजेगिल्यते । एवं लोलुप्यते, सासद्यते, चञ्चूर्यते, जञ्जप्यते, जञ्जभ्यते, दन्दश्यते, दंदह्यते । दंशेः कृतनलोपस्य निर्देशो यङ्लुप्यपि नलोपार्थः- तेन दंदशीति । गर्ह्येति किम् ? साधु जपति । धात्वर्थविशेषणं किम् ? साधने गर्ह्ये माभूत्-जपति वृषलः । नियमः किम् ? भृशं पुनःपुनर्वा निगिरति कुटिलं चरतीत्यत्र न भवति ।१२।

न्या० स०-गॄलुप-लोलुप्यते इति- लुप्लृ ती युपरुपलुपचित्यस्य वा । चंचूर्यते इति-'अङे हिहन०' ४-१-३४ इत्यतः पूर्वादित्यधिकारात् द्वित्वे सति 'ति चोपान्त्यातः' ४-१-५४ इति उत्,-

तेन दंदशीतीतिः-अन्तरङ्गानपि इति न्यायात् प्रथममेव यङो लुपि ङित्वाभावात् न लोपो न स्यात् ।

न गृणाशुभरुचः ॥ ३. ४. १३ ॥

गृणातिशुभिरुचिभ्यो भृशाभीक्ष्ण्यादौ यङ् न भवति । गर्हितं गृणाति, भृशं शोभते, भृशं रोचते ॥ १३ ॥

न्या० स०-न गृणा०:-भृशाभीक्ष्ण्यादाविति-आदिपदात् गृणातेगृह्योऽर्थे ।

बहुलं लुप् ॥ ३. ४. १४ ॥

यङो लुप् बहुलं भवति । बोभूयते, बोभवीति, बोभोति; रोरूयते, रोरवीति, रोरोति; लालप्यते, लालपीति, लालप्ति; चंक्रम्यते, चंक्रमीति, चंक्रन्ति; जंजप्यते, जंजपीति, जंजप्ति । बहुलग्रहणं प्रयोगानुसरणार्थम् । तेन क्वचिन्न भवति ? लोलूया, पोपूया ॥ १४ ॥

अचि ॥ ३. ४. १५ ॥

अचि प्रत्यये परे यङो लुप् भवति । लोलुवः, पोपुवः, सनीस्रंसः, दनीध्वंसः, चेच्यः, नेन्यः । नित्यार्थं वचनम् ॥ १५ ॥

न्या० स०-अचिः-लोलुव इति- ❀ अन्तरङ्गानपि ❀ इति न्यायात् अत इति अन्तरङ्गमपि अलुकं बाधित्वा स्वरान्तस्यैव यङो लुप् । ननु यङो लुपि 'नामिनः' ४-३-१ इति कथं न गुणः ? 'न वृद्धिश्चाविति' ४-३-११ इति निषेधात् ।

नोतः ॥ ३. ४. १६ ॥

उकारान्ताद्विहितस्य यङोऽचि परे लुप् न भवति । योयूयः, रोरूयः ॥ १६ ॥

न्या० स०-नोतः-योयूय इति-अत्र पृथग्योगात् बहुलमित्यनेनापि न, अन्यथा चिनोत इत्येकमेव कुर्यात् ।

चुरादिभ्यो णिच् ॥ ३. ४. १७ ॥

णितश्चुरादयः-तेभ्यो धातुभ्यः स्वार्थे णिच् प्रत्ययो भवति । चोरयति, नाटयति, पदयते,-णकारो वृद्धयर्थः । णिग्रहणेषु सामान्यग्रहणार्थश्च । चकारः सामान्यग्रहणाविघातार्थः । चुरण्, पृण्, घृण्, श्वल्कवल्कण्, नक्कधक्कण्, चक्कचुक्कण्, टकुण्, अर्कण्, पिठवण्, पचुण्, म्लेच्छण्, ऊर्जण्, तुजपिजुण्, क्षजुण्, पूजण्, गजमार्जण्, तिजण्, वजव्रजण्, रुजण्, नटण्, चटचुटचुट्टछुटुण्, कुट्टण्, पुट्टचुट्टपुट्टण्, पुटमुटण्, अट्टस्मि-

टृण्, लुण्टण्, स्निटण्, घट्टण्, खट्टण्, पट्टस्फिटण्, स्फुटण्, कीटण्, वटुण्, रुटण्, शठश्वठश्वठुण्, शुठण्, शुठुण्, गुठुण् लडण्, स्फुडूण्, ओलडुण्, पीडण्, तडण्, खड, खडुण्, कडूण्, कुडुण्, गुडुण्, वुडुण्, मडुण्, भडुण्, पिडुण्, ईडण्, चडुण्, जुडचूर्णवर्णण्, चूणतूणण्, श्रणण्, पूणण्, चितुण्, पुस्तवुस्तण्, मुस्तण्, कूतण्, स्वर्तपथुण् श्रथण्, पृथण्, प्रथण्, छदण्, चुदण्, मिदुण्, दुर्दण्, गुर्दण्, छर्दण्, बुधण्, वर्धण्, गर्धण्, बन्धवधण्, मानण्, छपुण्, क्षपुण्, ष्टूपण्, डिपण्, ह्लपण्, डपुडिपुण्, शूर्पण्, शुल्वण्, डबुडिबुण्, सम्बण्, कुबुण्, लुबु, तुबुण्, पुर्वण्, यमण्, व्ययण्, यवुण्, कुद्रुण्, श्वभ्रण्, तिलण्, जलण्, क्षलण्, पुलण्, बिलण्, तलण्, तुलण्, दुलण्, बुलण्, मूलण्, कलकिलपिलण्, पलण्, इलण्, चलण्, सान्त्वण्, धूशण्, श्लिपण्, लूषण्, रुषण्, प्युषण्, पसुण्, जसुण्, पुंसण्, ब्रूस्, पिसजसबर्हण्, ष्णिहण्, स्रक्षण्, भक्षण्, पक्षण्, लक्षोण् इतोऽथविशेषे आलक्षिणः ।

ज्ञाण् मारणादिनियोजनेषु, च्युण् महने, भूण् अवकल्कने, वुक्कण् भाषणे, रक लक रग लगण् आस्वादने, लिगुण् चित्रीकरणे, चर्चण् अध्ययने, अंचण् विशेषणे, मुचण् प्रमोचने, अर्जण्, प्रतियत्ने, भजण् विश्राणने, चट स्फुटण् भेदे, घटण् संघाते हन्त्यर्थाश्च । कणण् निमीलने, यतण् निकारोपस्कारयोः निरश्च प्रतिदाने, शब्दण् उपसर्गाद्भाषाविष्कारयोः, ष्वदण् आश्रवणे, आङः क्रन्दण् सातत्ये, स्वदण् आस्वादने, आस्वदं सकर्मकात्, मुदण् संसर्गे, शृधण् प्रहसने, कृपण् अवकल्कने, जभुण् नाशने, अमण् रोगे, चरण् असंशये, पूरण् आप्यायने, दलण् विदारणे, दिवण् अर्दने, पश पषण् बन्धने, पुषण् धारणे, घुषृण्, विशब्दने आङः क्रन्दे, भूष तसुण् अलंकारे, जसण् ताडने, त्रसण् वारणे, वसुण् स्नेहच्छेदावहरणेषु, ध्रसण् उत्क्षेपे, ग्रसण् ग्रहणे, लसण् शिल्पयोगे, अर्हण् पूजायाम्, मोक्षण् असने, लोकृतर्क रघु, लघु, लोचृ, विच्छ, अजु, तुजु, पिजु, लजु, लुजु, भजु, पट, पुट, लुट, घट, घटु, वृत, पुथ, नद, वृध, गुप, धूप, कुप, चीव, दशु कृशु, त्रसु, पिसु, कुसु, दसु बर्ह बृहु, वल्ह, अहु बहु, महुण् भासार्थाः, युणि जुगुप्सायाम्, गृणि विज्ञाने, वञ्चिण् प्रलम्भने, कुटिण् प्रतापने, मदिण् तृप्तियोगे, विदिण् चेतनाख्याननिवासेषु, मनिण् स्तम्भे, बलिभलिण् आभण्डने, दिविण् परिकूजने, वृषिण् शक्तिबन्धे, कुत्सिण् अवक्षेपे, लक्षिण् आलोचने, हिष्कि, किष्किण्, निष्किण्, तर्जिण्, कूटिण्, त्रुटिण्, शठिण्, कूणिण्, तृणिण्, भ्रूणिण्, चितिण्, वस्तिगन्धिण्, डपडिपि, डम्पि, डिम्पि, डम्भि, डिम्भिण्, स्यमिण्, शमिण्, कुस्मिण्, गूरिण्, तन्त्रिण्, मन्त्रिण्, ललिण्, स्पशिण्, दंशिण्, दंसिण्, भर्त्सिण्, यक्षिण् ।। इतोऽदन्ताः ।।

अङ्कण्, श्लेष्कण्, सुखदुःखण् अङ्गण्, अघण्, रचण् सूचण्, भाजण्, सभाजण्, लजलजुण्, कूटण्, पटवटण्, खेटण्, खोटण्, पुटण्, बटुण्, रुटण्, शठश्वठण्, दण्डण्, व्रणण्, वर्णण्, पर्णण्, कर्णण्, तूणण्, गणण्, कुलगुणकेतण्, पतण्, वातण्, कथण्, श्रथण्, छेदण्, गदण्, अन्धण्, स्तनण्, ध्वनण्, स्तेनण्, ऊनण्, कृपण्, रूपण्, क्षपलाभण्, भामण्, गोमण्, सामण्, श्रामण्, स्तोमण्, व्ययण्, सूत्रण्, मूत्रण्पारतीरण्, कत्र गोत्रण्, चित्रण्, छिद्रण्, मिश्रण्, चरण्,

स्वरण्, शारण्, कुमारण्, कलण्, शीलण्, वेलकालण्, पल्यूलण्, अंशण्, पषण्, गवेषण्, मृषण्, रसण्, वासण्, निवासण्, चहण्, महण्, रहण्, रहुण्, स्पृहण्, रूक्षण्, मृगणि, अर्थणि, पदणि, संग्रामणि, शूरवीरणि, सत्रणि, स्थूलणि, गर्वणि, गृहणि, कुहणि इति चुरादयः।

आदन्तत्वं च सुखादीनां णिच्संनियोगे एव द्रष्टव्यम्, तेन णिजभावे जगणतुः जगणिथेत्यत्र अनेकस्वरत्वाभावादाम् न भवति। अनित्यो हि णिच् चुरादीनाम्, 'घुषेर-विशब्दे' (४-४-६९) इत्यत्र ज्ञापयिष्यते। बहुवचनमाकृतिगणार्थम्, तेन संवाहयतीति सिद्धम्॥ १७॥

न्या० स०-चुरादिभ्योः-चकार इति-चकारे तु सति निरनुबन्धस्य णेरऽभावात् सामान्येन ग्रहणं भवति। ज्ञाण्-मारणादीनां निर्दिष्टार्थानामिह दर्शनमर्थान्तरेऽमीषां तु चुरादिपाठो नेष्यते इति ज्ञापनार्थम्। हन्त्यर्थाश्चेति-सर्वे हन्त्यर्था धातवोऽत्र पठितव्याः, तेन णिज्शवादिकं च कार्यं भवति। सुखादीनामिति-अङ्कादीनामिति वक्तव्येङ्कल्लेष्कयोः फला-भावात् सुखादीनामित्युक्तम्। पूर्वाचार्यानुरोधेन त्वऽदंतमध्ये पठति। अनेकस्वरत्वाभावा-दिति-द्वित्वे सत्येकस्वरत्वेऽपि सन्निपातन्यायान्न भवति। संनिपातनिमित्तं ह्यनेकस्वरत्वम्। संवाहयतीति-अङ्गानि मृद्नाति इत्यर्थः।

युजादेर्नवा॥ ३. ४. १८॥

चुराद्यन्तर्गणो युजादिः, युजादिभ्यो धातुभ्यः स्वार्थे णिच् प्रत्ययो भवति वा। योजयति, योजति, साहयति, सहति, सहति, कलमेभ्यः, परिभवम्। युजण्, लीण्, मीण्, प्रीग्ण्, धूग्ण्, वृग्ण्, जॄण्, चीक्, शीकण्, मार्गण्, पृचण्, रिचण्, वचण्, अर्चिण्, वृजैण्, मृण्, कठण्, श्रन्य, ग्रन्थण्, क्रथ, अर्दिण्, श्रथण्, वदिण्, छदण्, आङः सदण् गतौ। छृदण्, शुन्धिण्, तनूण् उपसर्गाद्दैर्घ्ये, मानण् पूजायाम्, तपण्, तृपिण्, आप्लृण्, दभिण्, ईरण्, मृषिण्, 'शिषण्, विपूर्वोऽतिशये' जुषण्, घृषण्, हिसुण्, गर्हण्, षहण् इति युजादिः॥ १८॥

भूङः प्राप्तौ णिङ्॥ ३. ४. १९॥

भुवो धातोः प्राप्तावर्थे वर्तमानात् णिङ् प्रत्ययो वा भवति। भावयते, भवते प्राप्नोतीत्यर्थः। भवतीत्येवान्यत्र, णिङिति ङकार आत्मनेपदार्थः। भूङ इति ङकारनिर्देशो णिङभावेऽप्यात्मनेपदार्थः। प्राप्त्यभावेऽपि क्वचिदात्मनेपदमिष्यते यथा—

> 'याचितारश्च नः सन्तु, दातारश्च भवामहे।
> आक्रोष्टारश्च नः सन्तु, क्षन्तारश्च भवामहे'॥१॥ इति

प्राप्तावपि परस्मैपदमित्यन्ये, सर्वं भवति प्राप्नोतीत्यर्थः, अवकल्कने तु भावय-तीत्येव। भूण् अवकल्कने इति चुरादौ पाठात्॥ १९॥

प्रयोक्तृव्यापारे णिग् ॥ ३. ४. २० ॥

कर्तारं यः प्रयुङ्क्ते स प्रयोक्ता, तद्व्यापारेऽभिधेये धातोर्णिग् प्रत्ययो वा भवति । व्यापारश्च प्रेषणाध्येषण-निमित्त-भावाख्यानाभिनय-ज्ञानप्राप्तिभेदैरनेकधा भवति । तत्र तिरस्कारपूर्वको व्यापारः प्रेषणम्, सत्कारपूर्वकस्त्वध्येषणम् ।

कुर्वन्तं प्रयुङ्क्ते कारयति, पचन्तं प्रयुङ्क्ते पाचयति—अत्र प्रेषणेनाध्येषणेन वा यथासंभवं प्रयोक्तृत्वम्, वसन्तं प्रयुङ्क्ते वासयति भिक्षा, कारीषाग्निरध्यापयति—अत्र निमित्तभावेन, राजानमागच्छन्तं प्रयुङ्क्ते राजानमागमयति, मृगान् रमयति, रात्रिं विवासयति कथकः,-अत्राख्यानेन, आख्यानेन हि बुद्ध्यारूढा राजादयः प्रयुक्ताः प्रतीयन्ते, कंसं घ्नन्तं प्रयुङ्क्ते कंसं घातयति, बलिं बन्धयति नटः,-अत्राभिनयेन । पुष्येण युञ्जन्तं प्रयुङ्क्ते पुष्येण योजयति चन्द्रम्, मघाभिर्योजयति गणकः—अत्र कालज्ञानेन, उज्जयिन्याः प्रदोषे प्रस्थितो माहिष्मत्यां सूर्यमुद्गच्छन्तं प्रयुङ्क्ते माहिष्मत्यां सूर्यमुद्गमयति, रैवतकात् प्रस्थितः शत्रुञ्जये सूर्यं पातयति, अत्र प्राप्त्या । ननु च कर्तापि करणादीनां प्रयोजक इति तद्व्यापारेऽपि णिग् प्राप्नोति ? नैवम्, प्रयोक्तृग्रहणसामर्थ्यात्, तथा क्रियां कुर्वन्नेव कर्ताभिधीयते, तेन तूष्णीमासीने प्रयोज्ये मा पृच्छतु भवान् अनुयुङ्क्तां मा भवानित्यत्र णिग् न भवति, पञ्चम्या बाधितत्वाद्वा । वाधिकार आ बहुलवचनात् पक्षे वाक्यार्थः ॥ २० ॥

न्या० स० **प्रयोक्तृव्या०:—मृगान् रमयतीति**—रममाणान् मृगान् कथयन् तेषां प्रयोजको भवति । कथनेन यदारण्यस्थो रममाणान् मृगान् प्रतिपाद्यमाचष्टे एतस्मिन्नवकाश एव मृगा रमन्ते इति तदास्य प्रतिपाद्यदर्शनार्था प्रवृत्तिर्भवति, तस्यां च णिग् वक्तव्यः । **बुद्ध्यारूढा इति**—बुद्धिषु श्रोतॄणां चित्तेषु आरूढाः सत्तामापन्नाः प्रयुक्ताः प्रवर्तिताः प्रतीयन्ते । राजादीनां हि उभयत्र भावो बहिरन्तश्च । तत्राख्यात्रा बहिर्भावस्य कर्तुमशक्यत्वेऽपि अन्तर्भावस्य सुशकत्वाद् बहिःप्रयोगाभावेऽप्यन्तःप्रयोगात्प्रयोक्तृत्वमिति । **कंसं घातयतीति**—अयं नटः कौशलात्तथा सरसमभिनयति यथा कंसवधाय बलिबन्धनाय चायमेव नारायणं प्रयुङ्क्ते इति परेषां प्रतिपत्तिर्भवतीति ।

माहिष्मत्यामिति—महिषा अत्र सन्ति 'नडकुमुद' ६–२–७४ इति डिति मतौ अन्त्यलोपे 'धुटस्तृतीय' २–१–७६ इति डत्वं प्राप्तं ॐ असिद्धं बहिरङ्गम् ॐ इत्यनेन व्युदस्यते, न च 'स्वरस्य' ७-४-११० इति स्थानित्वेऽकारेण व्यवधानमिति वाच्यं, 'न सन्धि' ७-४-१११ इत्यस्य असद्विधावस्थानात् । महिष्मति भवा 'भवे' ६-३-१२३ (इति) अण् । **रैवतकादिति**—राया द्रव्येण वन्यन्ते स्म क्ते रेवृङ् रेवत इति 'पुतपित्त' २०४ (उणादि) निपातो वा रैवता वृक्षास्ते सन्त्यत्र 'अरीहणादेरकण्' ६-२-८३ । **ननु च कर्त्तापि करणादीनामिति**—अयमर्थः,-कटं करोतीत्यादौ मुख्यकर्तृव्यापारेऽपि णिग् प्राप्नोति, अत्रापि प्रयोक्तृव्यापारस्य विद्यमानत्वात् । तथाहि कटं करोतीति कोऽर्थः ? जायमानं जनयतीत्यर्थः, इत्याशङ्कायामाह **प्रयोक्तृग्रहणसामर्थ्यादिति**-कर्त्तारं यः प्रयुङ्क्ते स हि प्रयोक्ता, यदि च व्यापारमात्रे णिग् स्यात्तदा व्यापारे णिगित्येवोच्येत । **तेन तूष्णीमासीने इति**—प्रयोज्ये प्रच्छ्ये तूष्णीमासीने प्रयोजकः प्रच्छिक्रियायाः कारयिताह मां पृच्छतु भवानिति । **पञ्चम्या बाधितादवेति**—अथवा सव्यापारेऽपि प्रयोज्ये परत्वात् 'प्रैषानुज्ञावसरे' ५–४–२९ इति विहितया

पञ्चम्या णिग् बाधते, प्रैषरूपे प्रयोक्तृव्यापारे णिग् पञ्चमी प्रैषविशिष्टे कर्त्तरि वाच्ये भवति, इति समानविषयत्वं ततो णिग् बाध्यते। तर्हि मूलोदाहरणेष्वपि पञ्चमी प्राप्नोति ? न, प्रेषणमात्रे णिगुक्तः पञ्चमी तु प्रेषणविशिष्टे कर्त्रादौ, यदा तु प्रेषणमात्रं विवक्ष्यते तदा णिग् तद्विशिष्टे तु कर्त्रादौ पञ्चमी, कारयित्वित्यादौ प्रेषणस्यापि प्रेषणविवक्षा।

तुमर्हादिच्छायां सन्नतत्सनः ॥ ३. ४. २१ ॥

यो धातुरिषेः कर्म इषिणैव च समानकर्तृकः स तुमर्हः, तस्मादिच्छायामर्थे सन् प्रत्ययो वा भवति, न चेत्स इच्छासन्नन्तो भवति। कर्तुमिच्छति चिकीर्षति, गन्तुमिच्छति जिगमिषति। तुमर्हादिति किम् ? अकर्मणोऽसमानकर्तृकाच्च माभूत्, गमनेनेच्छति। भोजनमिच्छति देवदत्तस्य। इच्छायामिति किम् ? भोक्तुं व्रजति। अतत्सन इति किम् ? चिकीर्षितुमिच्छति। तद्ग्रहणं किम् ? जुगुप्सिषते। सनोऽकारः किम् ? अर्थान् प्रतीषिषति, नकारः सन्ग्रहणेषु विशेषणार्थः। कथं नदीकूलं पिपतिषति, श्वा मुमूर्षति, पतितुमिच्छति मर्तुमिच्छति इति वाक्यवदुपमानाद्भविष्यति ॥ २१ ॥

न्या० स० **तुमर्हा०:–भोजनमिच्छतीति**–अत्र 'शकधृष' ५-४-९० इति न तुम् तुल्यकर्तृकत्वाभावात्। **चिकीर्षितुमिच्छतीति**–चिकीर्षणं 'शकधृष' ५-४-९० इति तुम्।

द्वितीयायाः काम्यः ॥ ३. ४. २२ ॥

द्वितीयान्तान्नाम्न इच्छायामर्थे काम्यप्रत्ययो वा भवति। पुत्रमिच्छति पुत्रकाम्यति, इदंकाम्यति, स्वःकाम्यति,–काम्येनैव कर्मण उक्तत्वाद्भावकर्त्रोरेव प्रयोगः। पुत्रकाम्यतेऽनेन, पुत्रकाम्यत्यसौ। द्वितीयाया इति किम् ? इष्टः पुत्रः, इष्यते पुत्रः। इह कस्मान्न भवति भ्रातुः पुत्रमिच्छति आत्मनः पुत्रमिच्छति महान्तं पुत्रमिच्छति पुत्रमिच्छति स्थूलं दर्शनीयं वा ? सापेक्षत्वात्,–नह्यन्यमपेक्षमाणोऽन्येन सहैकार्थीभावमनुभवितुं शक्नोति। भ्रातुष्पुत्रकाम्यतीत्यादि तु समर्थत्वात्, अघमिच्छति, दुःखमिच्छतीत्यत्रापि परस्येत्यपेक्षितत्वात् सापेक्षत्वम्। कथं तर्हि पुत्रकाम्यति ? इत्यत्र पुत्रस्यात्मीयता गम्यतेऽन्यस्याश्रुतेः इच्छायाश्चात्मविषयत्वात् ॥ २२ ॥

न्या० स० **द्वितीया०**–सस्वरस्य काम्यस्य फलमजघटकाम्यत् काम्यांचकारेत्यादौ। **परस्येत्यपेक्षितत्वादितिः**-न हि कोप्यात्मनोऽघादीच्छति।

अमाव्ययात् क्यन् च ॥ ३. ४. २३ ॥

अमकारान्तादनव्ययाच्च द्वितीयान्तान्नाम्न इच्छायामर्थे क्यन् प्रत्ययो वा भवति काम्यश्च। पुत्रमिच्छति पुत्रीयति, एवं नाव्यति, वाच्यति,-चकारः काम्यार्थोऽन्यथा मान्ताव्यययोः सावकाशः स क्यना बाध्येत। अमाव्ययादिति किम् ? इदमिच्छति, स्वरिच्छति। गोशब्दसंध्यक्षरवर्जस्वरनान्तेभ्य एव क्यनमिच्छन्त्यन्ये-गव्यति, पुत्रीयति, राजीयति। अन्यत्र न भवति। यमिच्छति, कमिच्छति। नकारः क्यनीत्यत्र विशेषणार्थः, ककारः क्यग्रहणे सामान्यग्रहणार्थः ॥ २३ ॥

न्या० स०-अमाव्य:-कीयांचकारेत्यादौ क्यनः सस्वरत्वे आम् सिद्धः ।

आधाराच्चोपमानादाचारे ॥ ३. ४. २४ ॥

अमाव्ययादुपमानभूताद् द्वितीयान्तादाधाराच्चाचारार्थे क्यन् प्रत्ययो भवति वा । पुत्रामिवाचरति पुत्रीयति छात्रम्, वस्त्रीयति कम्बलम्, पुत्रीयति स्थूलं दर्शनीयं वा, आधारात्-प्रासाद इवाचरति प्रासादायति कुटयाम्, पर्यङ्कीयति मञ्चके । उपमानादिति किम् ? छात्रादेर्माभूत् । आधाराच्चेति किम् ? परशुना दात्रेणेवाचरति । अमाव्ययादिति किम् ? इदमिवाचरति, स्वरिवाचरति । उपमानस्य नित्यमुपमेयापेक्षत्वात् सापेक्षत्वेऽप्यसामर्थ्यं न भवति ।। २४ ।।

कर्तुः क्विप् गल्भ-क्लीब-होडात्तु ङित् ॥ ३. ४. २५ ॥

कर्तुरुपमानान्नाम्न आचारेऽर्थे क्विप् प्रत्ययो वा भवति गल्भक्लीबहोडेभ्यः पुनः स एव ङित् । अश्व इवाचरति अश्वति, एवं गर्दभति, दधयति, गवा, नावा, अः प्रत्ययः । राजेवाचरति राजनति, मधुलिडिवाचरति-मधुलेहति, गोधुगिवाचरति गोदोहति ।

गल्भक्लीबहोडात्तु ङित्-गल्भते, अवगल्भते, क्लीबते, विक्लीबते, होडते, विहोडते, गल्भांचक्रे, अवगल्भांचक्रे, ङित्वादात्मनेपदं भवति । एके तु कर्तुः संबन्धिन उपमानात् द्वितीयान्तात् क्विप्क्यङाविच्छन्ति । अश्वमिवात्मानमाचरति गर्दभः अश्वति, श्येनमिवात्मानमाचरति काकः श्येनायते, तन्मतसंग्रहार्थं कर्तुरिति षष्ठी व्याख्येया । द्वितीयाया इति चानुवर्तनीयम्, क्विबिति पूर्वप्रसिद्धयनुवादः ।। २५ ।।

न्या० स०-कर्तुः क्विप्-गवेति-गौरिवाचरति क्विपि लुपि गवनं 'शंसिप्रत्यया-दयः' ५-३-१०५ एवं नावेत्यत्र । राजनतीति-अस्य क्विपो व्यञ्जनादिफलं नेष्यते, तेन नाम सिदिति पदसंज्ञाया अभावे न लोपाभावः सिद्धः । गल्भांचक्रे इति-गल्भि धाष्ट्र्ये इत्यादिभिर्मूलोदाहरणानि सिध्यन्ति, परं गल्भाचक्रे इत्यादिष्वाम् न स्यात् ।

एके त्विति-ते हि मन्यन्ते द्वितीयाया इत्यनुवृत्तावपि कर्त्तुरिति विशेषणं संबन्धषष्ठ्यामुपपद्यते, तेनाऽयमर्थः कर्तुर्यत् कर्मोपमानभूतं ततः क्विप्क्यङाविति ।

द्वितीयान्तादिति-कर्म्मण इत्यर्थः, ननु कर्त्ता कारकं कर्म च तयोश्चायःशलाकाकल्पयोरनभिसंबन्धो न हि कर्तुः कर्म भवति अपि तु क्रियायाः कर्त्ता कर्म च संपद्यते तत्र साध्यसाधनभावलक्षणसंबन्धोऽस्ति न तु परस्परम् ? सत्यं, न कर्त्तुरित्यनेन कर्मकारकशक्तिर्विशिष्यते अपि तूपमानादितीहानुवर्त्तते, तेन कर्मणो योऽसावुपमानमश्वादिरस्ति स कर्तुरित्यनेन विशिष्यते कर्तुर्यदुपादानं कर्म्म तस्मात् क्विबिति, नन्विदमप्यचारु, कर्तुः किल कर्म्म कथमुपमानमस्तु अत्यन्तवैलक्षण्यात् ? सत्यं, एवं कर्तुः कर्म उपमानं भवति, यदि स एव कर्त्ता आचरणक्रियायाः कर्म्म भवति, यथा अश्वमिवात्मानमाचरति गर्द्दभः अत्र आचरण क्रियायाः गर्द्दभः कर्त्ता स एवात्मभेदेन कर्म्म, एकस्यैवात्मभेदाद् अनेककारकशक्त्यावेशो दृश्यते, यथोच्यते हन्त्यात्मानमात्मनेति । श्येन इवाचरति काको मत्स्यमित्यत्र न भवति,

मत्स्यमित्यनेन बाह्यकर्मणाऽसंबन्धात् । **पूर्वप्रसिद्धचनुवाद इति**-तेनास्मिन् स्वमते कित्पित् कार्यं न भवति, परमते तु कितः फलमाचारक्विपि 'अहन्पञ्चम०' ४-१-१०७ इति दीर्घे इदामति कीमतीत्यादौ ।

क्यङ् ॥ ३. ४. २६ ॥

कर्तुरुपमानादाचारेऽर्थे क्यङ् प्रत्ययो वा भवति । श्येन इवाचरति श्येनायते, हंसायते, अश्वायते, गर्दभायते, गल्भायते, क्लीबायते, होडायते । क्विप्क्यङोस्तुल्यविषयत्वादसत्युत्सर्गापवादत्वे पर्यायेण प्रयोगः । ककारः सामान्यग्रहणार्थः, ङकार आत्मनेपदार्थः ॥ २६ ॥

न्या० स० क्यङ्-क इवाचरति इति कृते कायांचक्रे इत्यत्र सस्वरस्य क्यङः फलम् ।

सो वा लुक् च ॥ ३. ४. २७ ॥

स इति आवृत्त्या पञ्चम्यन्तं षष्ठ्यन्तं चाभिसंबध्यते । सकारान्तात्कर्तुरुपमानादाचारेऽर्थे क्यङ् प्रत्ययो वा भवति अन्त्यसकारस्य च लुग्वा भवति । पय इवाचरति पयायते, पयस्यते, सरायते, सरस्यते, अन्ये त्वप्सरस एव सलोपो नान्यस्य अप्सरायते, अन्यत्र पयस्यते इत्याद्येवेत्याहुः । क्यङ् सिद्धो लुगर्थं वचनम्, चकारो लुचः क्यङ्संनियोगार्थः ।२७।

न्या० स० सोवा०:-क्यङ्सन्नियोगार्थ इति-समुच्चये तु स्वतन्त्रौ लुक्क्यङौ स्याताम् । **अप्सरायते इति**-अप्सरस्यते इत्यपि ।

ओजोऽप्सरसः ॥ ३. ४. २८ ॥

ओजःशब्दो वृत्तिविषये स्वभावात्तद्वति वर्तते, ओजःशब्दादप्सरस्शब्दाच्च कर्तुरुपमानभूतादाचारेऽर्थे क्यङ् प्रत्ययो वा भवति सलोपश्च । ओजस्वीवाचरति ओजायते, अप्सरायते । अन्ये त्वोजःशब्दे सलोपविकल्पमिच्छन्ति,-ओजायते, ओजस्यते ।।२८।।

न्या० स० ओजोप्सर०-पूर्वेणसिद्धे नित्यसलोपार्थं वचनम् ।

च्व्यर्थे भृशादेः स्तोः ॥ ३. ४. २९ ॥

भृशादिभ्यः कर्तृभ्यः च्व्यर्थे क्यङ् प्रत्ययो वा भवति सकारतकारयोर्यथासंभवं लुक् च, च्व्यर्थ इत्यनेन लक्षणया भवत्यर्थविशिष्टं प्रागतत्तत्त्वमुच्यते, करोतिस्तु कर्तुरित्येनन व्युदस्तः । भवत्यर्थे च विधानात् क्यङन्तस्य क्रियार्थत्वम् भवत्यर्थशब्दाप्रयोगश्च-अभृशो भृशो भवति भृशायते, उन्मनायते, वेहायते, अनोजस्वी ओजस्वी (ओजः) भवति ओजायते,-अत्र तद्वद्वृत्तेरेव च्व्यर्थ इति धर्ममात्रवृत्तेर्न भवति-अनोज ओजो भवति । कर्तुरित्येव ? अभृशं भृशं करोति । च्व्यर्थ इति किम् ? भृशो भवति । प्रागतत्तत्त्वमात्रे च्वेर्विधानात्क्यङा च्विर्न बाध्यते भृशीभवति । भृश, उत्सुक, शीघ्र, चपल, पण्डित, अण्डर, कण्डर, फेन,

शुचि, नील, हरित, मन्द, मद्र, भद्र, संश्रवत्, तृपत्, रेफत्, रेहत्, वेहत्, वर्चस्, उन्मनस्, सुमनस्, दुर्मनस्, अभिमनस् ।। २९ ।।

न्या० स०-च्व्यर्थे भृशार्थे०-च्व्यर्थ इत्यनेनेति-ननु भृशादेश्च्व्यर्थे क्यङविधानात् च्व्यर्थस्य चाऽक्रियारूपत्वात् (अधातुत्वात्) कथं क्यङन्तात्तिवादिरित्याह-**लक्षणयेति**-उपचारेणेत्यर्थः, मुख्यवृत्त्या हि च्व्यर्थ इत्यनेन प्रागऽतत्तत्त्वं केवलमेवाभिधीयते, न भवत्यर्थ-विशिष्टं, लक्षणया तु तद्विशिष्टमपि, यद्येवं च्व्यर्थ इत्यनेन प्रागतत्तत्त्वं लक्ष्यते तर्हि करो-त्यर्थविशिष्टेऽपि प्रागतत्तत्त्वं प्राप्नोतीत्याशङ्क्याह-

करोतिस्त्वित्यादि-अयमर्थः करोत्यर्थविशिष्टे प्रागऽतत्तत्त्वे भृशादीनां कर्तृत्वं न संभवत्यपि तु कर्मत्वमेवेत्याह-**कर्तु रित्यनेन व्युदस्त इति**-ननु च्व्यर्थे च्वेः क्यङश्च विधानात् क्यङा च्विबाधा प्राप्नोति ? इत्याशङ्क्याह-**प्रागतत्तत्त्वमात्रे इति**-अयमर्थः भवत्यर्थवि-शिष्टे च्व्यर्थे क्यङ् विहितः, च्विस्तु तद्योगमात्रेऽत एव च्वियोगे करोति भवत्योः प्रयोगो भवत्यऽनुक्तार्थत्वात् क्रियार्थत्वाभावाद् धातुत्वं च न भवति ।

डाच्लोहितादिभ्यः षित् ।। ३. ४. ३० ।।

डाच्प्रत्ययान्तेभ्यो लोहितादिभ्यश्च कर्तृभ्यश्च्व्यर्थे क्यङ् प्रत्ययः षिद्भवति वा । डाच् अपटत् पटद्भवति पटपटायति, पटपटायते । एवं दमदमायति, दमदमायते । डाजन्ता-त्क्यङ्षविधानात् कृभ्वस्तिभिरिव क्यङ्षापि योगे डाज् भवति । अलोहितो लोहितो भवति लोहितायति, लोहितायते ।

कर्तु रित्येव ? अपटपटा पटपटा करोति, अलोहितं लोहितं करोति । च्व्यर्थ इत्येव ? लोहितो भवति । लोहित, जिह्म, श्याम, धूम, चर्मन्, हर्ष, गर्व, सुख, दुःख, मूर्च्छा, निद्रा, कृपा, करुणा । बहुवचनमाकृतिगणार्थम् । लोहितादिषु लोहितशब्दादे-वेच्छन्त्यन्ये । षकारः 'क्यङ्षो नवा' (३-३-४३) इति विशेषणार्थः । धूमादीनां स्वत-न्त्रार्थवृत्तीनां प्रकृतिविकारभावाप्रतीतेश्च्व्यर्थो नास्तीति तद्वद्वृत्तिभ्यः प्रत्ययो भवति । अधूमवान् धूमवान् भवति धूमायति, धूमायते ।।३०।।

न्या० स०-डाच्लोहिता०-डाजन्तात् क्यङ्षविधानादिति-ननु भवत्यर्थविशिष्टे च्व्यर्थे क्यङ्ष् विहितः, ततश्च क्यङ्षा भवत्यर्थस्योक्तत्वात् तदभावे निमित्ताभावे इति न्यायात् डाचोऽपि निवृत्तिः प्राप्नोति इत्याशङ्क्याह-**डाजन्तात् क्यङ्षविधानात्-डाच् भव-तीति**-विधानसामर्थ्यात् कृभ्वस्त्यभावे न निवर्त्तते इत्यर्थः, अन्यथा क्यङ्षा भवत्यर्थस्योक्त-त्वाद् भवतियोगाऽभावात् डाच् न स्यात् ।

बहुवचनमिति-तेनामृतं यस्य विषायतीति सिद्धं, यद्वा विषस्यायो लाभः स इवाचरतीति क्विप् ।

कष्ट-कक्ष-कृच्छ्र-सत्र-गहनाय पापे क्रमणे ।। ३. ४. ३१ ।।

कष्टादिभ्यो निर्देशादेव चतुर्थ्यन्तेभ्यः पापे वर्तमानेभ्यः क्रमणेऽर्थे क्यङ् प्रत्ययो वा भवति । कष्टाय कर्मणे क्रामति कष्टायते, एवं कक्षायते, कृच्छ्रायते, सत्रायते,

गहनायते । कष्टादिभ्य इति किम् ? कुटिलाय कर्मणे क्रामति । चतुर्थीनिर्देशः किम् ? रिपुः कष्टं क्रामति । पाप इति किम् ? कष्टाय तपसे क्रामति, क्रमणमत्र न पादविक्षेपः किन्तु प्रवृत्तिमात्रम्, द्वितीयान्तेभ्यः पापचिकीर्षायामित्यन्ये, कष्टं चिकीर्षति कष्टायते इत्यादि ॥३१॥

न्या० स०–कष्टकक्ष०– कष्टायते इति–कष्टाय पापभूताय पुरुषाय प्रवर्त्तते इत्यादावपि । कष्टाय तपसे क्रामतीति–पापमनार्जवाचारः स इह नास्तीति न भवति, अथ यथेह पापं नास्ति तथा क्रामणमपि पादविक्षेपो नास्तीति व्द्यङ्गवैकल्यमित्याशङ्क्याह–क्रमणमत्रेति–

रोमन्थाद् व्याप्यादुच्चर्वणे ॥ ३. ४. ३२ ॥

रोमन्थात्कर्मणः पर उच्चर्वणेऽर्थे क्यङ् प्रत्ययो वा भवति । अभ्यवहृतं द्रव्यं रोमन्थः, उद्गीर्य चर्वणमुच्चर्वणम् । रोमन्थम् उच्चर्वयति रोमन्थायते गौः–उद्गीर्य चर्वयतीत्यर्थः । उच्चर्वण इति किम् ? कीटो रोमन्थं वर्तयति, उद्गीर्य बहिस्त्यक्तं पृष्ठान्तेन निर्गतं वा द्रव्यं गुटिकां करोतीत्यर्थः ॥३२॥

न्या० स०–रोमन्थ–उच्चर्वयतीति–बहुलमेतन्निदर्शनमिति चुरादित्वम् ।

फेनोष्म-बाष्प-धूमादुद्वमने ॥ ३. ४. ३३ ॥

फेनादिभ्यः कर्मभ्य उद्वमनेऽर्थे क्यङ् प्रत्ययो वा भवति । फेनमुद्वमति फेनायते, एवमूष्मायते, बाष्पायते, धूमायते ॥३३॥

सुखादेरनुभवे ॥ ३. ४. ३४ ॥

साक्षात्कारोऽनुभवस्तस्मिन्नर्थे सुखादिभ्यः कर्मभ्यः क्यङ् प्रत्ययो वा भवति । सुखमनुभवति सुखायते, दुःखायते । अनुभव इति किम् ? सुखं वेदयते प्रसाधको देवदत्तस्य, मुखादिविकारेणानुमानतो निश्चिनोतीत्यर्थः । सुख, दुःख, तृप्र, कृच्छ्र, अास्र, अलीक, करुण, कृपण, सोढ, प्रतीप ॥३४॥

शब्दादेः कृतौ वा ॥ ३. ४. ३५ ॥

शब्दादिभ्यः कर्मभ्यः करोत्यर्थे क्यङ् प्रत्ययो वा भवति, णिजपवादः । शब्दं करोति शब्दायते, वैरायते, कलहायते,–वाशब्दो व्यवस्थितविभाषार्थः, तेन यथादर्शनं णिजपि भवति,–शब्दयति, वैरयति । वाधिकारस्तु वाक्यार्थः । शब्द, वैर, कलह, ओघ, वेग, युद्ध, अभ्र, कण्व, मम, मेघ, अट, अटचा, अटाटचा, सीका, सोटा, कोटा, पोटा, प्लुष्टा, सुदिन, दुर्दिन, नीहार ॥३५॥

न्या० स० शब्दादे–व्यवस्थितविभाषेति–व्यवस्थितं प्रयोगारूढं विधिप्रतिषेधादिकार्यं विशेषेण भाषते इति व्यवस्थितविभाषा तदर्थ इत्यर्थः ।

तपसः क्यन् ॥ ३. ४. ३६ ॥

तपःशब्दात् कर्मणः करोत्यर्थे क्यन् प्रत्ययो वा भवति । तपः करोति-तपस्यति । अत्र यदा व्रतपर्यायः तपःशब्दस्तदा क्यन्कर्मणो वृत्तावन्तर्भूतत्वादकर्मकत्वम् , यदा तु संतापक्रियावचनस्तदा क्यन्कर्मणो वृत्तावन्तर्भावेऽपि स्वकर्मणा सकर्मक एव, शत्रूणां तपः करोति-तपस्यति शत्रूनिति, यथा व्याकरणस्य सूत्रं करोति व्याकरणं सूत्रयति ।।३६।।

न्या० स०-तपस-अतपसस्यदित्यत्राऽन्यस्येति तृतीयावयवस्य द्वित्वेऽदन्तक्यनः फलम् ।

नमो-वरिवश्चित्रङोऽर्चा-सेवाश्चर्ये ॥ ३. ४. ३७ ॥

नमस् , वरिवस् , चित्रङ् शब्देभ्यः कर्मभ्यो यथासंख्यं पूजासेवाश्चर्येष्वर्थेषु करोत्यर्थे क्यन् प्रत्ययो वा भवति । देवेभ्यो नमस्करोति-नमस्यति देवान् , गुरूणां वरिवः करोति वरिवस्यति गुरून् , चित्रं करोति-चित्रीयते, ङकार आत्मनेपदार्थः । अर्चादिष्विति किम् ? नमः करोति, वरिवः करोति,-नमोवरिवःशब्दमुच्चारयतीत्यर्थः, चित्रं करोति,-नानात्वमालेख्यं वा करोतीत्यर्थः । ननु च नमस्यति देवानित्यत्र नमःशब्दसंयोगनिबन्धना चतुर्थी कस्मान्न भवति ? उच्यते,-नामधातूनामविवक्षितप्रकृतिप्रत्ययभेदानां धातुत्वादनर्थकोऽत्र नमःशब्द, उपपदविभक्तेर्वा कारकविभक्तिर्बलीयसी, एवं च नमस्करोति देवानिति वाक्येऽपि द्वितीया सिद्धा । यद्येवं नमस्करोति देवेभ्य इति न भवितव्यम् ? नैवम् , करोतेः नमःशब्दसंबन्धेन देवपदेनासंबन्धात् । कस्मै इति त्वाकाङ्क्षायां देवेभ्य इति संबन्धाच्चतुर्थी संप्रदाने वा इत्यदोषः ।।३७।।

न्या० स० **नमोवरि०-चित्रीयते इति**-कस्य चित्रीयते न धीः इत्यकर्मकः चित्रमाश्चर्यं करोति जनस्येति विवक्षायां चित्रीयते जनं व्याकरणं सूत्रयतीतिवद् भवति ।

देवेभ्यो नमस्करोतीति-व्युत्पत्त्युपायभूतमवयवार्थप्रदर्शकं वाक्यं समुदायस्तु क्यन्नन्तोऽविद्यमानावयवार्थ एवाऽर्चालक्षणेऽर्थे वर्त्तते, एवं **गुरूणां वरिवः करोतीत्यादावपि** द्रष्टव्यम् । वृणीते 'स्वरेभ्यः' १-३-३० इप्रत्यये वरिः सेवकस्तत्र वसतीति विचि वरिवः । **नमःकरोतीति**-अत्र नमःशब्दरूपापेक्षया नपुंसकत्वे 'अनतो लुप्' १-४-५९ अर्थप्रधानो ह्यऽव्ययमत्र तु शब्दप्रधानः । **उपपदविभक्तेर्वेति**-समुदायिन एव समुदाय इति विवक्षायां समुदायिनौ च द्वौ नमस् प्रकृतिः क्यङ च प्रत्यय, इति नमः शब्दो भिन्नोऽस्तीति प्राप्तिरस्तीत्याह-**नमः शब्दसंबन्धेनेति**-करोतेरसंबन्धात् केन सह ? देवपदेन, किं भूतेन ? नमः शब्देन सह संबन्धो यस्य तेनानया युक्त्या कारकविभक्तेः प्राप्तिर्नास्ति ।

अङ्गान्निरसने णिङ् ॥ ३. ४. ३८ ॥

अङ्गवाचिनः शब्दात् कर्मणो निरसनेऽर्थे णिङ् प्रत्ययो वा भवति । हस्तौ निरस्यति हस्तयते, पादयते, ग्रीवयते । निरसने इति किम् ? हस्तं करोति हस्तयति । कर्मण इति किम् ? हस्तेन निरस्यति । ङकार आत्मनेपदार्थः ।।३८।।

न्या० स० अङ्गान्निर०–कर्मण इति–'रोमन्थाद्व्याप्यात्' ३–४–३२ इत्यतो व्याप्यादित्यनुवर्त्तते तत्पर्यायतया च प्रसिद्धं सत् कर्मण इत्येव लिखितम्। हस्तयतीति–णिजपवादस्य णिङोऽभावादत्र णिजेव।

पुच्छादुत्परिव्यसने ॥ ३. ४. ३९ ॥

पुच्छशब्दात्कर्मण उदसने, पर्यसने, व्यसने, असने चार्थे णिङ् प्रत्ययो वा भवति। पुच्छम् उदस्यति उत्पुच्छयते, पर्यस्यते परिपुच्छयते, व्यस्यति विपुच्छयते, अस्यति पुच्छयते ॥३९॥

भाण्डात् समाचितौ ॥ ३. ४. ४० ॥

भाण्डशब्दात्कर्मणः समाचयनेऽर्थे णिङ् प्रत्ययो वा भवति। समाचयनं च समा परिणा च द्योत्यते, भाण्डानि समाचिनोति संभाण्डयते, परिभाण्डयते ॥४०॥

चीवरात् परिधार्जने ॥ ३. ४. ४१ ॥

चीवरशब्दात्कर्मणः परिधानेऽर्जने चार्थे णिङ् प्रत्ययो वा भवति। चीवरं परिधत्ते परिचीवरयते,–समाच्छादनमपि परिधानम्, चीवरं समाच्छादयति संचीवरयते, चीवरमर्जयति चीवरयते। संमार्जनेऽप्यन्ये। चीवरं संमार्जयति संचीवरयते ॥४१॥

णिज् बहुलं नाम्नः कृगादिषु ॥ ३. ४. ४२ ॥

कृगादीनां धातूनामर्थे नाम्नो णिच् प्रत्ययो भवति बहुलम्, बहुलग्रहणं प्रयोगानुसरणार्थम्, तेन यस्मान्नाम्नो यद्विभक्त्यन्ताद्यस्मिन् धात्वर्थे दृश्यते तस्मात्तद्विभक्त्यन्तात्तद्धात्वर्थे एव भवतीति नियमो लभ्यते।

मुण्डं करोति मुण्डयति छात्त्रम्, एवं मिश्रयत्योदनम्, श्लक्ष्णयति वस्त्रम्, लवणयति सूपम्, एभ्यश्च्व्यर्थे एवेति कश्चित्। अमुण्डं मुण्डं करोति मुण्डयतीत्यादि, लघु करोति लघयति, एवं छिद्रयति, कर्णयति, दण्डयति, अन्धयति, अङ्कयति, व्याकरणस्य सूत्रं करोति व्याकरणं सूत्रयति, द्वारस्योद्घाटनं करोति द्वारमुद्घाटयति।

ननु व्याकरणशब्दात् वाक्ये षष्ठी दृश्यते उत्पन्ने च प्रत्यये कथं द्वितीया? उच्यते,–योऽसौ सूत्रव्याकरणयोः संबन्धः, स उत्पन्ने प्रत्यये निवर्तते सूत्रयातिक्रियासंबन्धाच्च द्वितीयैव, एवं द्वारमुद्घाटयति, पाप्मिन उल्लाघयति, त्रिलोकी तिलकयतीत्याद्यपि द्रष्टव्यम्। अथ तपः करोति तपस्यतीत्यादिवत् कर्मणो वृत्तावन्तर्भूतत्वान्मुण्डिरकर्मकः प्राप्नोति? नैवम्, सामान्यकर्मान्तर्भूतं विशेषकर्मणा तु सकर्मक एव, मुण्डयति कं छात्त्रमिति, यद्येवं पुत्रीयतिरपि विशेषकर्मणा सकर्मकः प्राप्नोति पुत्रीयति कं छात्त्रमिति? सत्यम्,–आचारवचना तु बुद्धेरपहृतत्वात् इच्छावचनस्तस्य विद्यमानमपि विशेषकर्म न प्रयुज्यते। तथाहि—पुत्रीयति छात्त्रमित्युक्ते पुत्रमिवाचरति छात्त्रमिति प्रतीतिर्भवति न तु पुत्रमिच्छतीति। तदुक्तम्—

सदपीच्छाक्यनः कर्म, तदाचारक्यना हृतम् ।
कौटिल्येनैव गत्यर्थाभ्यासो वृत्तौ न गम्यते ।।१।।

मुण्डं बलीवर्दं करोतीति उभयधर्मविधाने मुण्डं शुक्लं करोतीत्यनुवादे वानभिधानान्न भवति । पटुमाचष्टे करोति वा पटयति, एवं स्थूलं स्थवयति, दूरं दवयति, युवानं यवयति, क्षिप्रं क्षेपयति, क्षुद्रं क्षोदयति, प्रियं प्रापयति, स्थिरं स्थापयति, स्फिरं स्फापयति, पुच्छं पुच्छयति, वृक्षमाचष्टे रोपयति वा वृक्षयति, कृतं गृह्णाति कृतयति, एवं वर्णयति, त्वचयति त्वचशब्दोऽकारान्तस्त्वक्पर्यायः, रूपं दर्शयति रूपयति-रूपं निध्यायति-निरूपयति, लोमान्यनुमार्ष्टि-अनुलोमयति, तूस्तानि विहन्ति उद्वहति वा-वितूस्तयति,-उत्तूस्तयति केशान्-विजटीकरोतीत्यर्थः । वस्त्रं वस्त्रेण वा समाच्छादयति संवस्त्रयति, वस्त्रं परिदधाति परिवस्त्रयति, तृणान्युत्प्लुत्य शातयति उत्तृणयति, हस्तिनातिक्रामति अतिहस्तयति, एवमत्यश्वयति, वर्मणा संनह्यति संवर्मयति, वीणया उपगायति उपवीणयति, सेनया अभियाति अभिषेणयति, चूर्णैरवध्वंसयति, अवकिरति वा अवचूर्णयति , तूलैरनुकुष्णाति अवकुष्णाति अनुगृह्णाति वा अनुतूलयति अवतूलयति, वास्या छिनत्ति वासयति, एवं परशुना परशयति, असिना असयति, वास्या परिच्छिनत्ति परिवासयति, वाससा उन्मोचयति, उद्वासयति, श्लोकैरुपस्तौति उपश्लोकयति, हस्तेनापक्षिपति अपहस्तयति, अश्वेन संयुनक्ति समश्वयति, गन्धेनार्चयति गन्धयति, एवं पुष्पयति । बलेन सहते बलयति, शीलेनाचरति शीलयति, एवं सामयति, सान्त्वयति, छन्दसोपचरति उपमन्त्रयते वा उपच्छन्दयति, पाशेन संयच्छति संपाशयति, पाशं पाशाद्वा विमोचयति विपाशयति, शूरो भवति शूरयति, वीर उत्सहते वीरयति, कूलमुल्लङ्घयति उत्कूलयति, कूलं प्रतीपं गच्छति प्रतिकूलयति, कूलमनुगच्छति अनुकूलयति, लोष्टानवमर्दयति अवलोष्टयति, पुत्रं सूते पुत्रयति इत्यादि।

आख्यानं नलोपाख्यानं कंसवधं, सीताहरणं, रामप्रव्रजनं, राजागमनं, मृगरमणम्, आरात्रिविवासमाचष्टे इत्यादिषु इन्द्रियाणां जयं क्षीरस्य पानं, देवानां यागं, धान्यस्य क्रयं, धनस्य त्यागम् , ओदनस्य पाकं करोतीत्यादिषु च बहुलवचनान्न भवति ।

अथ हस्तौ निरस्यति, हस्तयते, पादयते इत्यादिवदुत्पुच्छयते इत्यादावप्युपसर्गस्याप्रयोगः प्राप्नोति ? नैवम् , यत्रानेकविशेषणविशिष्टा क्रिया प्रत्ययार्थस्तत्र क्रियाविशेषाभिव्यक्तये युक्त उपसर्गप्रयोगः, यथा-विपाशयति संपाशयतीति । यत्र त्वेकविशेषणविशिष्टा क्रिया प्रत्ययार्थस्तत्र संदेहाभावादुपसर्गो न प्रयुज्यते, यथा श्येन इवाचरति श्येनायते, बाष्पमुद्वमति बाष्पायते, हस्तौ निरस्यति हस्तयते, पुत्रमिवाचरति पुत्रीयति । यद्येवमतिहस्तयति, उपवीणयति इत्यादावेकैकविशेषणविशिष्टत्वादुपसर्गप्रयोगो न प्राप्नोति ? नैवं, अत्र णिच्प्रत्ययस्य करोत्याचष्टेऽतिक्रामति इत्याद्यनेकार्थत्वात् संदेहे तदभिव्यक्त्यर्थमुपसर्गप्रयोगः,-यत्र पुनरनेकोपसर्गविशिष्टा क्रिया प्रत्ययार्थस्तत्र शब्दशक्तिस्वाभाव्यादेक एवोपसर्गार्थः प्रत्ययार्थेऽन्तर्भवति द्वितीयस्तूपसर्गेणैव प्रत्याय्यते यथा-भाण्डं समाचिनोति-संभाण्डयते, वस्त्रं वस्त्रेण वा समाच्छादयति संवस्त्रयतीति ।। ४२ ।।

न्या० स० णिज्बहुलं०-व्याकरणं सूत्रयतीत्यादौ-सापेक्षत्वेऽपि गणपाठाण्णिजिष्यते ।

पाप्मिन उल्लाघयतीति–पाप्मा पापमस्त्येषां शिखादित्वादिन् पाप्मिनामुल्लाघं करोति । **त्रिलोकीमिति**–त्रिभुवनीति तु न तस्य पात्रादौ दर्शनात् । **तदुक्तं सदपीच्छाक्यन इति**–यथा जंगम्यते इत्यादौ यद्यपि भृशं गच्छति, तथापि कुटिलं गच्छति इत्येव प्रतीयते न भृशार्थस्तथाऽत्रापि इच्छाक्यनः कर्म विद्यमानमपि आचारक्यना हृतं सद्वृत्तौ आख्यात-वृत्तौ न प्रतीयते ।

उभयधर्मविधाने इति–कश्चिन्मृन्मयं बलीवर्दं करोति, तत्र च मुण्डत्वं बलीवर्दत्वं च धर्मद्वयं विधत्ते, तत्र न भवति, मुण्डं प्रसिद्धमनूद्याप्रसिद्धं शुक्लं करोतीत्यनुवादे च न भवत्यनभिधानात् । **पटयतीति**–अत्र वार्तिककारो वृद्धिमनिच्छन्नपपटदिति मन्यते, स्वमते तु वृद्धावसमानस्यौकारस्य लोपे सन्वद्भावादपीपटदिति भवति । **त्वचयतीति**–नन्वत्र 'नैकस्वरस्य' ७-४-४४ इत्यन्त्यस्वरादिलोपनिषेधे वृद्ध्यां त्वाचयततीति प्राप्नोति तत्कथ-मित्याह-त्वचशब्द इत्यादि अत्र व्यञ्जनान्तं त्वक्शब्दं परित्यज्य स्वरान्तपाठेन ज्ञाप्यते क्वचिन्नाम्नोऽप्यतो 'ञ्णिति' ४-३-५० इति वृद्धिर्भवति, यथा त्वापयति मापयतीति । ततश्चात्र व्यञ्जनान्तस्य वृद्धौ त्वाचयतीत्यनिष्टं रूपमापाद्येत ।

तुलैरनुकुष्णातीति-तुलैः कृत्वा अनुकूलं, अवाक् च यथा भवति, एवमन्तरवयवान् बहिर्निकासति-निःसारयतीत्यर्थः । अनुकुष्णात्यवकुष्णात्यनयोरुभयोः साधरणोऽर्थोऽनु-गृह्णातीति, यतोऽत्रान्वर्थेऽवः । **इन्द्रियाणां जयमिति**-इन्द्रियजयं करोतीत्येवमपि कृते न भवति बाहुलकादेव, यथा विपाशयतीति-पाशिक्रिया हि विमोचनसंयमाद्यनेकविशेषण-विशिष्टा सती प्रत्ययवाच्या ततश्चोपसर्गप्रयोगाभावे एकतरेणापि विशेषणेन वैशिष्ट्यं न प्रतीयते ।

संभांडयते इति-शब्दशक्तिस्वाभाव्यात् प्रत्ययेनाङर्थः प्रतिपाद्यते न समर्थ इत्या-भाण्डयते इत्यादि न भवति ।

व्रताद् भुजि-तन्निवृत्त्योः ॥ ३. ४. ४३ ॥

व्रतं शास्त्रविहितो नियमः-व्रतशब्दाद्भोजने तन्निवृत्तौ च वर्तमानात्कृगादिष्व-र्थेषु णिच् प्रत्ययो भवति बहुलम् । पय एव मया भोक्तव्यमिति व्रतं करोति गृह्णाति वा पयो व्रतयति, सावद्यान्नं मया न भोक्तव्यमिति व्रतं करोति, गृह्णाति वा सावद्यान्नं व्रतयति । अर्थनियमार्थ आरम्भः ॥४३॥

न्या० स० व्रताद् भुजि०-अर्थनियमार्थ आरम्भ इति–यदि बहुलग्रहणस्य प्रयोगानु-सरणार्थत्वात् अर्थनियमो भविष्यतीत्युच्यते तदा तत्प्रपञ्चार्थोऽयमित्यदोषः, उक्तं हि–

'ते वै विधयः सुसंगृहीता भवन्ति येषां लक्षणं प्रपञ्चश्च' ।

सत्यार्थवेदस्याः ॥ ३. ४. ४४ ॥

सत्यार्थवेद इत्येतेषां णिचसंनियोगे आकारोऽन्तादेशो भवति । सत्यमाचष्टे करोति वा सत्यापयति, एवमर्थापयति, वेदापयति । 'त्र्यन्त्यस्वरादेः' (७-४-४३) इत्याकारस्य लुग्न भवति विधानसामर्थ्यात् ॥४४॥

न्या० स० सत्यार्थ०-णिज्संनियोगविधानादाकारेण णिच् न बाध्यते । **त्र्यन्त्य-**

स्वरादेरिति-येन नाप्राप्त इति न्यायेनान्तलोपस्य बाधकत्वेन आकारविधानात् अकारस्यैव प्रथमं 'अन्त्यस्वरादेः' ७-४-४३ इत्यन्त्यलोपो न भवति ।

श्वेताश्वाश्वतर-गालोडिताऽऽह्वरकस्याश्वतरेतक-लुक् ॥३. ४. ४५॥

श्वेताश्व, अश्वतर, गालोडित, आह्वरक इत्येतेषां णिच्संनियोगे यथासंख्यमश्वतरेतक इत्येतेषां लुग्भवति । श्वेताश्वमाचष्टे करोति वा श्वेताश्वेनातिक्रामतीति वा श्वेतयति, एवमश्वयति, गालोडितमाचष्टे करोति वा गालोडयति, एवमाह्वरयति । लुगर्थं वचनं णिच् तु सर्वत्र पूर्वेण सिद्ध एव ॥ ४५ ॥

न्या० स० श्वेताश्व०-श्वेतयतीत्याध्वनेन सस्वराणामेवाश्वादीनां लुक्, न तु अन्त्यस्वरादेरित्यकारलोपे सति विशेषविधानात् अश्वादिलोपात्पश्चादपि अन्त्यस्वरादेरित्यन्त्यस्वरादेर्न लुक्, 'सकृत् बाधित' इति न्यायात्, श्वेतयीत्यादिषु अन्त्यस्वरादेर्लोपेऽपि न किंचिद् विनश्यति । गालोडयतीत्यत्र तु अनेन इतलोपे 'अन्त्यस्वरादेः' ७-४-४३ इत्योडलोपे सति गालयतीति स्यात्, 'लोड्ङ उन्मादे', लोडनं क्लीबे क्तः गोर्लोडितम्, अथवा गुप्तं लोडितं क्षोरस्वामिना पृषोदरादिः । नन्वतिहस्तयतीतिवत् श्वेतयतीत्यत्राप्यतिशब्दप्रयोगः प्राप्नोति ? न, अत्र शब्दशक्तिस्वाभाव्यादतिशब्दमन्तरेणापि तदर्थप्रतीतिः ।

धातोरनेकस्वरादाम् परोक्षायाः कृभ्वस्ति चानु तदन्तम् ॥ ३. ४. ४६ ॥

अनेकस्वराद्धातोः परस्याः परोक्षायाः स्थाने आमादेशो भवति, आमन्ताच्च परे कृभ्वस्तयो धातवः परोक्षान्ता अनु पश्चादनन्तरं प्रयुज्यन्ते । चकासांचकार, चकासांबभूव, चकासामास, चुलुम्पांचकार, चुलुम्पांबभूव, चुलुम्पामास, लोलूयांचक्रे, लोलूयांबभूव, लोलूयामास । अस्तेर्भूर्न भवति विधानबलात् । अनेकस्वरादिति किम् ? पपाच । कश्चित्तु प्रत्ययान्तादेकस्वरादपीच्छति,-गौरिवाचचार गवांचकार, गवांबभूव, गवामास, एवं स्वांचकारेत्यादि । अनुग्रहणं विपर्यासव्यवहितनिवृत्त्यर्थम्, तेन चकारचकासाम् ईहांदेवदत्तश्चक्रे इत्यादि न भवति । उपसर्गस्य तु क्रियाविशेषकत्वात् व्यवधायकत्वं नास्ति । तेन 'उक्षां प्रचक्रुर्नगरस्य मार्गान्' इत्यादि भवत्येव ॥४६॥

न्या० स० धातोर०-धातुग्रहणाभावे उपसर्गपूर्वाददेरपि स्यात् । **लोलूयांचक्रे इति**-'आमः कृगः' ३-३-७५ इति नियमदामः परात् कृग एवात्मनेपदं न भ्वस्तिभ्याम् । **पपाचेति**-द्विर्वचने कृते त्वनेकस्वरत्वेऽपि संनिपातेति न्यायान्न भवति, विहितविशेषणाद् वा, यद्यनेकस्वराद् विहितो भवति । **उपसर्गस्य त्विति**-ननु कर्त्राद्यपि क्रियाया विशेषकं भवतीति तस्याप्यव्यवधायकत्वं प्राप्नोति ? नैवं, क्रियाया एव विशेषकमित्यवधारणस्य विवक्षितत्वात्, कर्त्रादि च यथा क्रियाया विशेषकं तथा द्रव्यस्यापीति, तथा तं पातयां प्रथममासेति कथंचित्समर्थ्यते, प्रथममित्यस्य क्रियाविशेषणत्वात् । प्रभ्रंशयां यो नहुषं चकारेति त्वतिदुष्टम् ।

दयायास्कासः ॥ ३. ४. ४७ ॥

दय्, अय्, आस्, कास्, इत्येतेभ्यो धातुभ्यः परस्याः परोक्षायाः स्थाने आमादेशो भवति आमन्ताच्च परे कृभ्वस्तयः परोक्षान्ता अनु प्रयुज्यन्ते। दयांचक्रे, दयांबभूव, दयामास, पलायांचक्रे, पलायांबभूव, पलायामास, आसांचक्रे, आसांबभूव, आसामास, कासांचक्रे, कासांबभूव, कासामास ॥४७॥

गुरुनाम्यादेरनृच्छूर्णोः ॥ ३. ४. ४८ ॥

गुरुर्नामी आदिर्यस्य तस्माद्धातोर्ऋच्छूर्णुवर्जितात् परस्याः परोक्षायाः स्थाने आमादेशो भवति, आमन्ताच्च परे कृभ्वस्तयः परोक्षान्ता अनु प्रयुज्यन्ते। ईहांचक्रे, ईहांबभूव, ईहामास, उञ्छांचकार, व्युछांचकार, उब्जांचकार। गुरुग्रहणं किम्? इयेष। नामिग्रहणं किम्? आनर्च। आदिग्रहणं किम्? निनाय। ईङस्तु व्यपदेशिवद्भावाद्भवति-अयांचक्रे, अयांबभूव, अयामास, ईषतुः ईषुः इत्यत्र ❀ संनिपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्य ❀ इति न भवति। अनृच्छूर्णोरिति किम्? आनच्छ, प्रोर्णुनाव। अत एव ऋच्छप्रतिषेधात्संयोगे परे पूर्वो गुरुरिति विज्ञायते ॥४८॥

न्या० स० गुरुनाम्यादे०-गुरुग्रहणं नामिनो विशेषणं न धातोः, धातुविशेषणे हि इयेष इत्यत्रापि स्यात्। व्यपदेशिवद्भावादिति-धातुपारायणकृता तु व्यपदेशिवद्भावो नेष्टस्तन्मते ईये इत्येव भवति।

जागृषसमिन्धेर्नवा ॥ ३. ४. ४९ ॥

जागृ, उष, सम्पूर्व इन्ध इत्येतेभ्यो धातुभ्यः परस्याः परोक्षायाः स्थाने आमादेशो वा भवति, आमन्ताच्च परे कृभ्वस्तयः परोक्षान्ता अनु प्रयुज्यन्ते। जागरांचकार, जागरांबभूव, जागरामास, जजागार, ओषांचकार, उवोष, समिन्धांचक्रे, समीधे। सम्ग्रहणं किम्? इन्धांचक्रे, प्रेन्धांचक्रे। सोपसर्गादिन्धेराम् न भवत्येवेति कश्चित्, अन्ये तु परोक्षायामिन्धेरामन्तस्यैव प्रयोग इत्याहुः। समोऽन्यत्रापि इन्धेराम्विकल्प इत्यन्यः। इन्धांचक्रे ईधे इति ॥४९॥

भी-ह्री-भृ-ह्रोस्तिव्वत् ॥ ३. ४. ५० ॥

भी, ह्री, भृहु इत्येतेभ्यो धातुभ्यः परस्याः परोक्षायाः स्थाने आमादेशो वा भवति, स च तिव्वत् आमन्ताच्च परे कृभ्वस्तयः परोक्षान्ता अनु प्रयुज्यन्ते। बिभयांचकार, बिभयांबभूव, बिभायमास, बिभाय, जिह्रयांचकार, जिह्राय, बिभरांचकार, बभार, जुहवांचकार, जुहाव, जुहवांचक्रे, जुहुवे। तिव्वद्भावाद्द्वित्वमित्वं चेति ॥५०॥

न्या० स० भीह्री०-जुहवांचक्रे इति-अत्र 'क्यः शिति' ३-४-७० इति क्यो न भवति, शितीति सामान्योक्तेऽपि क्यस्य भावे कर्मणि च विधानाच्छित् प्रत्ययोऽपि भावकर्म-

विहितो गृह्यते, अत्र तिव्वदित्युक्तं । तिव् च भावेकर्मणि न भवति, ग्रन्थकृता च तिव्वद्-भावाच्छित्वे द्वित्वमित्वं चेत्येवोक्तम् ।

वेत्तेः कित् ॥ ३. ४. ५१ ॥

'विदक् ज्ञाने' इत्यतो धातोः परस्याः परोक्षायाः स्थाने आमादेशो वा भवति, स च कित् आमन्ताच्च कृभ्वस्तयोऽनु प्रयुज्यन्ते । विदांचकार, विदांबभूव, विदामास । कित्त्वाद् गुणो न भवति । पक्षे, विवेद, वेत्तेरविदिति कृते इन्ध्यसंयोगात्परोक्षा किद्वदित्यामः स्थानिवद्भावेन कित्त्वे सिद्धेऽपि कित्त्वविधानमामः परोक्षावद्भावनिवृत्तिज्ञापनार्थम्, तेन परोक्षावद्भावेन हि कित्त्वद्विर्वचनादिकं न भवति । तिव्निर्देश आदादिकपरिग्रहार्थः ॥ ५१ ॥

न्या० स० वेत्तेः कित्-कित्त्वद्विर्वचनादिकं न भवतीति-तेन जुहवांचक्रे कित्त्वाऽभावाद्गुणः । विदांचकार अपरोक्षत्वात् द्विर्वचनाभावः, आदि शब्दाद्दयांचक्रे इत्यादौ एत्वाभावः सिद्धः । **आदादिकपरिग्रहार्थ इति**-अन्यथा विद इति सामान्योक्तौ चतुर्णामऽदाद्यनदाद्योरित्यतोऽदादिवर्जितानां त्रयाणां वा ग्रहः स्यात्, यङ्लुब्निवृत्त्यर्थश्च तिव्निर्देशः, तेन यङ्लुपि वेवेदांचकारेति सिद्धम्, 'धातोरनेकस्वरात्' ३-४-४६ इत्यामिनाऽनेन विकल्पः ।

पञ्चम्याः कृग् ॥ ३. ४. ५२ ॥

वेत्तेः परस्याः पञ्चम्याः स्थाने किदामादेशो वा भवति, आमन्ताच्च परः पञ्चम्यन्तः कृगनु प्रयुज्यते । विदांकरोतु-वेत्तु, विदांकुरु-विद्धि, विदांकरवाणि-वेदानि । कृग्ग्रहणं भ्वस्तिव्युदासार्थम् ॥ ५२ ॥

न्या० स०-पञ्चम्या०-भ्वस्तिसंबद्ध एव कृगऽनूद्यते, तेन कृंगट् इत्यस्य न ग्रहः ।

सिजद्यतन्याम् ॥ ३. ४. ५३ ॥

धातोरद्यतन्यां परभूतायां सिच् प्रत्ययो भवति, वेति निवृत्तम् । अनैषीत्, अपाक्षीत्, अकृषाताम् कटौ चैत्रेण । इकारचकारौ विशेषणार्थौ ॥ ५३ ॥

न्या० स०-सिजद्य०-'चजः कगम्' २-१-८६ इति कृते कित्त्वाशङ्का स्यात् । **वेति निवृत्तमिति**-आम्निवृत्तौ तत्संबन्धत्वात्, **विशेषणार्थाविति**-अन्यथा 'हनः सिज्' ४-३-३८ इत्यादौ सिरिति कृते वर्त्तमाना-'सि'-प्रत्यये स इति च कृते सकारादिमात्रे प्रसङ्गः स्यात् ।

स्पृश-मृश-कृष-तृप-दृपो वा ॥ ३. ४. ५४ ॥

स्पृशादिभ्यो धातुभ्योऽद्यतन्यां सिज्वा भवति । अस्प्राक्षीत्, अस्पार्क्षीत्, अस्पृक्षत्; अम्राक्षीत्, अमार्क्षीत्, अमृक्षत्; अक्राक्षीत्, अकार्क्षीत्, अकृक्षत्; अत्राप्सीत्, अतार्प्सीत्, अतृपत्; अद्राप्सीत्, अदार्प्सीत्, अदृपत् । तृपदृपोः पुष्यादित्वादङि शेषाणां तु सकि प्राप्ते वचनम् ॥ ५४ ॥

न्या० स०-स्पृश०-दृप: साहचर्यात् तृपौच् इत्यस्य ग्रहणं, कृषस्तु स्पृशमृशाभ्यां न साहचर्यमनिष्टेः । **सकि प्राप्ते वचनमिति**-ननु यथाऽयमङि सकि च प्राप्ते विधीयमानस्तयोः पक्षे बाधको भवत्येवं ञिचोऽपि बाधकः प्राप्नोत्यस्मिन्नपि प्राप्तेऽस्य विधीयमानत्वादिति ? नैवं, ❀ पूर्वे अपवादा अनन्तरान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान् ❀ इति न्यायात् ।

हशिटो नाम्युपान्त्याददृशोऽनिटः सक् ॥ ३. ४. ५५ ॥

हशिडन्तान्नाम्युपान्त्याद् दृशिवर्जितात् अनिटो धातोरद्यतन्यां परतः सक् प्रत्ययो भवति, सिचोऽपवादः । दुह्-अधुक्षत्, विश्-अविक्षत्, लिहलिशोः,-अलिक्षत्, द्विष्-अद्विक्षत् । हशिट इति किम् ? अभैत्सीत् । नाम्युपान्त्यादिति किम् ? अधाक्षीत् । अदृश इति किम् ? अद्राक्षीत् । अनिट इति किम् ? अकोषीत् । विकल्पितेटोऽपि पक्षेऽनिट्त्वाद्भवति,-न्यघुक्षत् । अन्यत्र न भवति-न्यगूहीत् ॥ ५५ ॥

न्या० स०-हशिटो०:-**सिचोऽपवाद इति**-तस्मिन् प्राप्तेऽस्य विधानात् । **अदृश इति किम्** ? ननु परत्वात् पूर्वमकारागमे नाम्युपान्त्यभावात् सको न प्राप्तिस्तत्किं वर्जनेन ? नैवं, 'नशो धुटि' ४-४-१०९ इत्यतो धुटीत्यधिकारात् स्वरादिप्रत्यये 'अः सृजि' ४-४-१११ इत्यकारागमो नास्ति, ततो नाम्युपान्त्यत्वात् सकि व्यत्यदृक्षन्त इत्यनिष्टं स्यात् । सिचस्तु व्यञ्जनान्तत्वेनाऽनकारान्तत्वात्, 'अनतोऽन्तो' ४-२-११४ लुपि व्यत्यदृक्षत इति, अमादौ च अदृक्षं व्यत्यदृक्षेतामित्यादि स्यात्, सिचि तु अद्राक्षं व्यत्यदृक्षातामिति भवति ।

श्लिषः ॥ ३. ४. ५६ ॥

श्लिषो धातोरनिटोऽद्यतन्यां सक् प्रत्ययो भवति । आश्लिक्षत्कन्यां देवदत्तः, पुष्यादित्वादङिप्राप्ते वचनम् ❀ पुरस्तादपवादा अनन्तरान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान् ❀ इत्यङ एव बाधो न ञिचः । आश्लेषि कन्या देवदत्तेन । अनिट इत्येव ? श्लिष्, दाह इत्यस्मात्सेटो माभूत्-अश्लेशीत्, अधाक्षीदित्यर्थः ॥ ५६ ॥

नासत्त्वाऽऽश्लेषे ॥ ३. ४. ५७ ॥

श्लिषो धातोरप्राण्याश्लेषे वर्तमानात् सक् प्रत्ययो न भवति,-उपाश्लिषज्जतु च काष्ठं च, समाश्लिषद्गुरुकुलम् । पृथग्योगात्पूर्वेणापि प्राप्तः प्रतिषिध्यते, व्यत्यश्लिक्षन्त काष्ठानि । असत्वाश्लेष इति किम् ? व्यत्यश्लिक्षन्त मिथुनानि ॥ ५७ ॥

न्या० स०-नाऽसत्त्वा०:-❀ नन्वनन्तरस्य विधिः प्रतिषेधो वा ❀ इति न्यायादनन्तरस्य सकोऽङ्बाधकत्वात् परस्मैपदविषयस्यैव प्रतिषेधः प्राप्नोति, न तु क्रियाव्यतिहारे कर्त्तर्यात्मनेपदे प्रवर्त्तमानस्य 'हशिट०' ३-४-५५ इत्यस्येत्याशङ्क्याह-**पृथग्योगादिति**-यदि ह्यनन्तरविहितस्यैव प्रतिषेधः स्यात्तदा श्लिषोऽसत्त्वाश्लेषे इत्येकमेव योगं कुर्यात् ।

व्यत्यश्लिक्षन्त मिथुनानीति-अत्र प्राचः पूर्वस्मात् परो विधिः प्राग्विधिरित्यकारस्य स्थानित्वात् 'अनतोऽन्तो०' ४-२-११४ इत्यनेनादेशो न भवति ।

णि-श्रि-द्रु-स्रु-कमः कर्तरि ङः ॥ ३. ४. ५८ ॥

ण्यन्तात् श्र्यादिभ्यश्च कर्तरि अद्यतन्यां ङः प्रत्ययो भवति । णि–अचीकरत्, अचूचुरत्, औजढत्, अचीकमत । कर्मकर्तापि कर्तैव । अचीकरत कटः स्वयमेव, श्रि–अशिश्रियत्, द्रु–अदुद्रुवत्, स्रु गतौ–असुस्रुवत्, कम्–अचकमत ।

कर्तरीति किम् ? अकारयिषातां कटौ देवदत्तेन । कमिग्रहणम् 'अशवि ते वा' (३-४-४) इति यदा णिङ् नास्ति तदार्थवत् । ङकारो ङित्कार्यार्थः ॥ ५८ ॥

न्या० स०–णिश्रि०–अचीकरदिति–ननु 'स्वरस्य परे' ७–४–११० इति ह्रस्वत्वस्य स्थानित्वे लघोऽभावात् सन्वद्भावो न प्राप्नोति ? न, एतत्सूत्रसामर्थ्याद् भवति, यत ओणेर्ऋदनुबन्धकरणव्याख्यानात् पूर्वं ह्रस्वत्वे कृते स्थानिवद्भावो न, प्राग्विधावित्यस्य प्राचि पूर्वस्मिन् काले विधिः प्राग्विधिरिति व्याख्यानात् वा ।

औजढदिति–अत्र परे द्वित्वे 'हो धुट्पदान्ते' २-१-८२ इत्यस्याऽसत्त्वे तदाश्रितत्वात् 'अधश्चतुर्थात्तथो०' २-१-७९ इत्यस्याप्यऽसत्त्वे ❀ णौ यत् कृतम् ❀ इति न्यायादऽकारस्य स्थानित्वे 'नाम्नो द्वितीयात्' ४-१-७ इत्यनेन ह् तेति द्विर्वचनं तत्र यदा परे द्वित्वे 'हो धुट्पदान्ते' २-१-८२ इत्यस्य शास्त्रस्यासिद्धिराश्रीयते तदा पुनरपि 'हो धुट् पदान्ते' २-१-८२ इत्यादि प्रक्रिया क्रियते ततो 'ढस्तड्ढे' १-३-४३ इति ढलोपे पूर्वजकाराऽकारस्य दीर्घत्वे 'ह्रस्वः' ४-१-३९ इत्यनेन ह्रस्वः ।

अकारयिषातामिति–क्रियेते कटौ देवदत्तेन, तौ देवदत्तेन क्रियमाणौ यज्ञदत्तेन प्रयुज्येते स्म, यद्वा करोति कटौ देवदत्तः, स एवं विवक्षते नाहं करोमि, अपि तु क्रियेते कटौ स्वयमेव, तौ क्रियमाणौ कटौ यज्ञदत्तेन प्रायुक्षाताम् ।

ट्धेश्वेर्वा ॥ ३. ४. ५९ ॥

ट्धेश्विभ्यां कर्तर्यद्यतन्यां ङः प्रत्ययो वा भवति । अदधत्, अधात्, अधासीत्, अशिश्वियत्, अश्वयीत्, अश्वत् । कर्तरीत्येव ? अधिषाताम् गावौ वत्सेन ॥ ५९ ॥

शास्त्यसू-वक्ति-ख्यातेरङ् ॥ ३. ४. ६० ॥

एभ्यो धातुभ्यः कर्तर्यद्यतन्यामङ् प्रत्ययो भवति । शासूक्–अशिषत्, व्यत्यशिषत, अन्वशिषत स्वयमेव । असूच्–आस्थत्, अपास्थत्, वचंक् ब्रूग्क् वा,–अवोचत्, अवोचत, ख्यांक् चक्षिक् वा–आख्यत्, आख्यत ।

कर्तरीत्येव ? अशासिषाताम् शिष्यौ गुरुणा । तिव्निर्देशो यङ्लुबन्तनिवृत्त्यर्थः । अशाशासीत्, अवावाचीत्, अचाख्यासीत् । असू इत्यूकारः किम् ? असक् भुवि, असी गत्यादौ–आभ्यां माभूत्–अभूत्, आसीत् । अस्यतेः पुष्यादित्वादङि सिद्धे वचनम् आत्मनेपदार्थम्, शास्तेरात्मनेपदे नेच्छन्त्येके, तन्मते व्यत्यशासिष्ट ॥६०॥

न्या० स०–शास्त्य०–वक्तिख्यातीत्युक्ते चक्षिक्ब्रूगोरपि ग्रहणं, यतः 'इकिस्तिव्' ५–३–१३८ इति इकि विषये वचः ख्यादेशे पश्चात्तिव् उत्पन्नः । **आत्मनेपदार्थमिति**–तर्हि आत्मनेपदपरस्मैपदयोरनेनैव सिध्यति किं पुष्यादिपाठेन ? सत्यं, अस्य पुष्यादिपाठो

द्विर्बद्धं सुबद्धं भवतीति ज्ञापनार्थः, तेनास्मादऽङोऽव्यभिचारः, अन्येषां तु क्वचिद्व्यभिचारोऽपि, तेन भगवन्मा कोपीरित्यादि बालरामायणोक्तं सिद्धम् ।

सर्त्यर्तेर्वा ॥ ३. ४. ६१ ॥

'सृ-ऋ' आभ्यां धातुभ्यां कर्तर्यद्यतन्यामङ् प्रत्ययो वा भवति । सृ-अदादिर्भ्वादिर्वा । असरत्, असार्षीत् । सर्तेः कर्तरि आत्मनेपदे न दृश्यते इति नोदाह्रियते । ऋ-आरत्, आर्षीत्, समारत, समार्ष्ट । आत्मनेपदे न भवति परस्मैपदे नित्यमित्येके, परस्मैपदे नित्यमात्मनेपदेऽर्तेर्वा सर्तेर्नेत्यन्ये । उभयत्र नित्यमित्यपरे, तिव्निर्देशो यङ्लुबन्तनिवृत्त्यर्थः-असरिसारीत्, आरारीत् ।। ६१ ।।

न्या० स०-सर्त्यर्त्ते-अदादिर्भ्वादिर्वेति-निर्देशादेव शवऽभावे तिव्निर्देशस्य समानत्वादुभयोर्ग्रहणमित्यर्थः । **आत्मनेपदं न दृश्यत इति**-'क्रियाव्यतिहार' ३-३-२३ इत्यत्र गत्यर्थवर्जनात्, सर्वे गत्यर्था ज्ञानार्था इति ज्ञानार्थस्यापि नेष्यते । **समार्ष्ट इति**-अत्र नित्यत्वात् सिज्लोपात् प्रागेव 'स्वरादेस्तासु' ४-४-३१ इति वृद्धिरिति न्यासः, 'एत्यस्तेर्वृद्धिः' ४-४-३० इति ॐ ज्ञापकज्ञापिता विधयो ह्यनित्या इति ॐ न्यायाद् वा प्रागेव वृद्धिः । **सर्त्तेर्नेत्यन्य इति**-ते हि सर्त्तेरात्मनेपदमिच्छन्ति नाऽङम् । **आरारीत्**-भृशं पुनः पुनर्वा इयर्त्ति ऋच्छति वा 'अत्यर्ति' ४-४-३० इति यङ् तस्य लुप् ततो द्विर्वचनम्, 'ऋतोऽत्' ४-१-३८ 'रिरौ च लुपि' ४-१-५६ इति रागमस्ततोऽद्यतनीदि, सिच्, 'सःसिजस्तेर्दिस्योः' ४-३-६५ ईत्, इट् 'इट ईति' ४-३-७१ सिच्लोपस्ततः 'सिचिपरस्मै०' ४-३-४४ इति धातोर्वृद्धिरार्, ततः 'स्वरादेस्तासु' ४-४-३१ इति पूर्वस्याकारस्य आकारः ।

ह्वा-लिप्-सिचः ॥ ३. ४. ६२ ॥

एभ्यः कर्तर्यद्यतन्यामङ् प्रत्ययो भवति । आह्वत्, अलिपत्, असिचत् ।। ६२ ।।

वात्मने ॥ ३. ४. ६३ ॥

ह्वादिभ्यः कर्तर्यद्यतन्यामात्मनेपदे वाङ् भवति । आह्वत, आह्वास्त, अलिपत, अलिप्त, असिचत, असिक्त ।। ६३ ।।

न्या० स०-वात्मने०ः-आह्वतेति-स्पर्द्धापूर्वके आकारणे 'ह्वः स्पर्द्धे' ३-३-५६ इत्यनेनात्मनेपदं, सामान्याकारणे 'ईगितः' ३-३-९५ इत्यनेनात्मनेपदम् ।

लृदिद्-द्युतादि-पुष्यादेः परस्मै ॥ ३. ४. ६४ ॥

लृदितो धातोर्द्युतादिभ्यः पुष्यत्यादिभ्यश्च कर्तर्यद्यतन्यां परस्मैपदे अङ् प्रत्ययो भवति । लृदित्-अगमत्, असृपत्, अशकत् । द्युतादि-अद्युतत् अरुचत् । द्युतादयो 'द्युद्भ्योऽद्यतन्याम्' (३-३-४४) इत्यत्र परिगणिताः । पुष्यादिः-अपुषत्, औचत्, अश्लिषत् जतु च काष्ठं च, पुष्यादयो दिवाद्यन्तर्गताः 'दिवादेः श्यः' (३-४-७२) इत्यत्र परि-

गणिष्यन्ते । श्यनिर्देशः किम् ? पोषतिपुष्णात्यादिभ्यो माभूत्–अपोषीत्, अभूषीत्, अपोषीत्, अकोषीत् । परस्मैपद इति किम् ? समगंस्त, व्यद्योतिष्ट, व्यत्यपुक्षत ।। ६४ ।।

न्या० स०–लृदिद्द्युतादि–आगन्तुनाऽकारेण द्युतेति कृत्वा तृतीयत्वाप्रसङ्गात् द्युतादीति निर्देशः । अश्लिषत् जतु च काष्ठं चेति–जतु च कर्तृ, काष्ठं च कर्तृ अश्लिषत् कर्म किमपि न विवक्षितं 'श्लिषः' ३-४-५३ इति सक् प्राप्तो 'नाऽसत्त्वाश्लेषे' ३-४-५७ इति निषेधः । ननु द्युतादयः पुष्यादयश्च लृदितः कृत्वा लृदितः परस्मै इत्येतावदेव सूत्रं विधेयम् ? नैवं, द्युतादयः पुष्यादयश्च बहव आदित उदितश्च ततस्तेषां लृदितामुच्चारयितुमऽशक्यत्वाददोषः ।

ऋदिच्छ्वि-स्तम्भू-स्तुम्भू-म्रुचू-म्लुचू-ग्रुचू-ग्लुचू-ग्लुञ्चू-श्वो वा ॥ ३. ४. ६५ ॥

ऋदितो धातोः श्विप्रभृतिभ्यश्च कर्तर्यद्यतन्यां परस्मैपदे वाङ् प्रत्ययो भवति । अरुधत्, अरौत्सीत्, अभिदत्, अभैत्सीत्, अश्वत्, अश्वयीत्, अशिश्वियत्, अस्तमत्, अस्तम्भीत् अस्तुभत्, अम्रुचत्, अम्रोचीत्, अम्लुचत्, अम्लोचीत् . अग्रुचत्, अग्रोचीत्, ग्रुचो नेच्छन्त्यन्ये–अग्लुचत्, अग्लोचीत्, अग्लुचत्, अग्लुञ्चीत् । ग्लुचूग्लुञ्चोरेकतरोपादानेऽपि रूपत्रयं सिध्यति अर्थभेदात्तु द्वयोरुपादानम्, अन्ये खङ्विधानसामर्थ्यात् ग्लुञ्चेर्नलोपं नेच्छन्ति, तेनाग्लुञ्चत् । जॄश्जॄष्वा अजरत्, अजारीत् । परस्मैपद इत्येव ? अरुद्ध, अभित्त ।।६५।।

ञिच् ते पदस्तलुक् च ॥ ३. ४. ६६ ॥

पदिच् गतावित्यस्माद्धातोः कर्तर्यद्यतन्यास्ते परे ञिच् प्रत्ययो भवति निमित्तभूतस्य तकारस्य लुक् च । उदपादि भिक्षा, समपादि विद्या । त इति किम् ? उदपत्साताम्,–पदेरात्मनेपदित्वात्त इति आत्मनेपदप्रथमत्रिकैकवचनं तकारो गृह्यते न परस्मैपदमध्यमत्रिकबहुवचनम्, एवमुत्तरत्र–ञकारो 'ञ्णिति' (४-३-५०) इति विशेषणार्थः । चकारो 'न कर्मणा ञिच्' (३-४-८८) इत्यत्र विशेषणार्थः ।।६६।।

न्या० स०–ञिच् ते०–न परस्मैपदमध्यमत्रिकबहुवचनमिति ❀ ननु प्रकृतिग्रहणे यङ्लुबन्तस्यापि ❀ इति यङ्लुक् च इति परस्मैपदित्वे च परस्मैपदस्यापि संभवः ? न, श्रुतानुमितयोः श्रौतसंबन्धो बलीयान्, यङ्लोपोऽपि च न दृश्यते, अत एव सिद्धमऽन्ववादि ।

दीप-जन-बुधि-पूरि-तायि-प्यायो वा ॥ ३. ४. ६७ ॥

एभ्यः कर्तर्यद्यतन्यास्ते परे ञिच् प्रत्ययो वा भवति निमित्तभूततलुक् च । अदीपि, अदीपिष्ट, अजनि, अजनिष्ट, अबोधि, अबुद्ध, अपूरि, अपूरिष्ट, अतायि, अतायिष्ट, अप्यायि, अप्यायिष्ट । त इत्येव ? अदीपिषाताम् । कर्तरीत्येव ? अदीपि भवता, उत्तरेण नित्यमेव । बुधीति इकारो दैवादिकस्यात्मनेपदिनः परिग्रहार्थः, तेन बुधृग् अबोधिष्टेत्यत्र न भवति ।६७

न्या० स०–दीपजन०–अजनीति–'न जनवधः' ४-३-५४ इति वृद्ध्यभावः ।

भाव-कर्मणोः ॥ ३. ४. ६८॥

सर्वस्माद्धातोः भावकर्मविहितेऽद्यतन्यास्ते ञिच् प्रत्ययो भवति तलुक् च । आसि भवता, अशायि भवता, अकारि कटः । अपाच्योदनश्चैत्रेण ॥६८॥

स्वर-ग्रह-दृश-हन्भ्यः स्य-सिजाशीःश्वस्तन्यां ञिट् वा ॥३. ४. ६९॥

स्वरान्ताद्धातोः ग्रहादिभ्यश्च विहितासु भावकर्मविषयासु स्यसिजाशीःश्वस्तनीषु ञिट् प्रत्ययो वा भवति । स्वर–दायिष्यते, दास्यते, अदायिस्यत, अदास्यत, अदायिषाताम्, अदिषाताम्, दायिषीष्ट, दासीष्ट, दायिता, दाता, शमिष्यते, शामिष्यते, शमयिष्यते, अशमिष्यत, अशामिष्यत, अशमयिष्यत, अशमिषाताम्, अशामिषाताम्, अशमयिषाताम्, शमिषीष्ट, शामिषीष्ट, शमयिषीष्ट, शमिता, शामिता, शमयिता, एवं चायिष्यते, चेष्यते, शायिष्यते, शयिष्यते, स्ताविष्यते, स्तोष्यते, लाविष्यते, लविष्यते, कारिष्यते, करिष्यते, तारिष्यते, तरिष्यते, तरीष्यते । ग्रह–ग्राहिष्यते, ग्रहीष्यते, अग्राहिषाताम्, अग्रहीषाताम् ग्राहिषीष्ट, ग्रहीषीष्ट, ग्राहिता ग्रहीता ।

दृश्–दर्शिष्यते, द्रक्ष्यते, अदर्शिषाताम्, अदृक्षाताम् दर्शिषीष्ट, दृक्षीष्ट, दर्शिता, द्रष्टा । हन्–घानिष्यते, हनिष्यते, अघानिषाताम्, अवधिषाताम्, अहसाताम्, घानिषीष्ट, वधिषीष्ट, घानिता, हन्ता । एभ्य इति किम् ? पठिष्यते । स्यादिष्विति किम् ? चीयते । भावकर्मणोरित्येव ? दास्यति, चेष्यति । प्रकृतिप्रत्यययोर्वचनवैषम्यान्न यथासंख्यम् ॥६९॥

न्या० स०–स्वरग्रह०–अवधिषातामिति—'अद्यतन्यां वा' ४-४-२२ इति वधस्तत इटि 'अतः' ४-३-८२ इत्यलोपः । अहसातामिति–'हनः सिच्' ४-३-३८ इति कित्त्वे 'यमिरमि' ४-२-५५ इति न लोपः ।

क्यः शिति ॥ ३. ४. ७० ॥

सर्वस्माद्धातोर्भावकर्मविहिते शिति क्यः प्रत्ययो भवति । शय्यते भवता, शय्येत भवता, शय्यतां भवता, अशय्यत भवता, भिद्यते कुसूलेन । कर्मणि,–क्रियते कटः, क्रियेत कटः, क्रियतां कटः, अक्रियत कटः, अक्रियेतां कटौ, अक्रियन्त कटाः, क्रिया । शितीति किम् ? अभावि, बभूवे, भविषीष्ट, भविता, भविष्यते, अभविष्यत भवता, एवमकारि कटो भवता । भावकर्मणोरित्येव ? आस्ते, पचति ॥७०॥

न्या० स०–क्यः शिति०–बभूवे इति–'धातोरिवर्णोवर्ण०' ७-१-५० इति उदादेशे 'भुवो वः' ४-२-४३ इत्यूकारः ।

कर्तर्यनद्भ्यः शव् ॥ ३. ४. ७१ ॥

धातोरदादिवर्जितात् कर्तरि विहिते शिति शव् प्रत्ययो भवति । शकारवकारौ

शिद्वित्कार्यार्थौ, भवति चोरयति, पचन्, पचमानः, धारयः, पारयः, जनमेजयः। कर्तरीति किम्? पच्यते। अनद्भ्य इति किम्? अत्ति, अदतो अदंप्सांक्–भक्षणे, भांक्, यांक्, वांक्, ष्णांक्, श्रांक्, द्रांक्, पांक्, लांक्, रांक्, दांवक्, ख्यांक्, प्रांक्, मांक्, इंक्, इंणक्, वींक्, द्युंक्, षुंक्, तुंक्, युंक्, णुक्, क्ष्णुक्, स्नुक्, टुक्षुरुकुंक्, रुदृक्, ञिष्वपंक्, अनश्वसक्, जक्षक्, दरिद्राक्, जागृक्, चकासृक्, शासूक्, वचंक्, मृजौक्, सस्तुक्, विदक्, हनंक्, वशक्, असक्, षसक्, यङ्लुप्क्, इङ्क्, शीङ्क्, न्हुंङ्क्, षूङौक्, पृचैङ्, पृजुङ्, पिजुकि, वृजैकि, णिजुकि शिजुकि, ईडिक्, ईरिक्, ईशिक्, वसिक्, आङः, शासूकि, आसिक्, कसुकि, णिसुकि, चक्षिक्, ऊर्णुंगक्, ष्टुंगक्, ब्रूंगक्, द्विषींक्, दुहींक्, दिहींक्, लिहींक्, हुंक्, ओहांक्, ञिभींक्, ह्रींक्, पृंक्, ऋृंक्, ओहांङ्क्, मांङ्क् डुदांगक्, डुधांगक्, टुडुभृंगक्, णिजृंकी, विजृंकी, विष्लृकी इति कितोऽदादयः। शितीत्येव? पपाच ।।७१।।

न्या० स०-कर्त्तर्यनद्भ्य-एकस्माद् बहुवचनानुपपत्तेः सर्वेषामप्यभेदोपचारात् अच्छब्देनाभिधानात् बहुत्वादनद्भ्य इति बहुवचनं, न विद्यते अद्येषामिति बहुव्रीहिस्तु नाशङ्कनीयो 'ह्वः शवि' (?) इत्यकरणात्, विशेषेसति सामान्योपादानस्याधिकत्वात्। **जनमेजय इति**–एजन्तमेजमानं प्रयुङ्क्ते णिग् जनमेजयतीति 'एजेः' ५-१-११८ इति खश्।

दिवादेः श्यः ॥ ३. ४. ७२ ॥

दिवादेर्गणात्कर्तृविहिते शिति श्यः प्रत्ययो भवति। शकारः शित्कार्यार्थः,–दीव्यति, दीव्यन्,–श्यादयः शवोऽपवादाः। दिवूच्, जृषच्, झृषच्, शोंच्, दोंच्, छोंच्, षोंच्, व्रीडच्, नृतैच्, कुथच्, पुथच्, गुधच्, राधंच्, व्यधंच्, क्षिपंच्, पुष्पच्, तिमतीमष्टिमष्टीमच्, षिवूच्, स्त्रिवूच् (श्रिवूच्) ष्टिवूच्, क्षिवूच्, इषच्, ष्णसूच्, क्नसूच्, त्रसैच्, बुसच्, षहषुहच्, पुषंच्, उचच्, लुटच्, ञिविदांच्, क्लिदौच्, ञिमिदाच्, ञिक्ष्विदाच्, क्षुधंच्, शुन्धच्, क्रुधंच्, षिधूंच्, ऋधूच्, गृधूच्, रधौच्, तृपौच्, दृपौच्, कुपच्, गुपच्, युपरुपलुपच्, डिपच्, ष्टूपच्, लुभंच्, क्षुभंच्, णभतुभच्, नशौच्, कुशच्, भृशूभ्रंशूच्, वृशच्, कृशच्, शुषंच्, दुषंच्, श्लिषंच्, प्लुषूच्, ञितृषच्, तुषं हृषंच्, ऋषच्, पुसपुषच्, बिसच्, कुसच्, असूच्, यसूच्, जसूच्, तसूदसूच्, वसूच्, वुसच्, मुसच्, मसैच्, शमूदमूच्, तमूच्, श्रमूच्, स्त्रमूच्, क्षमौच्, मदैच्, क्लमूच्, मुहौच्, द्रुहौच्, स्नुहौच्, ष्णिहौच्, वृत् पुष्यादिः।

षूङौच्, दूङ्च्, दींङ्च्, धींङ्च्, मींङ्च्, रींङ्च्, लींङ्च्, व्रींङ्च्, डींङ्च्। वृत् स्वादिः। पींङ्च्, ईङ्च्, प्रींङ्च्, युजिंच्, सृजिंच्, वृतूङ्च्, पदिंच्, विदिंच्, खिदिंच्, युधिंच्, अनोरुधिंच्, बुधिं मनिंच्, अनिंच्, जनैचि, दीपैचि, तपिंच्, पूरैचि, घूरैचि, जूरैचि, धूरैचि, गूरैचि, शूरैचि, तूरैचि इति घूरादयः। चूरैचि, क्लिशिंच्, लिशिंच्, काशिंच्, वाशिच्, शकींच्, शुचृगैच्, रञ्जींच्, शपींच्, मृषींच्, णहींच्। इति चितो दिवादयः ।।७२।।

भ्राश-भ्लाश-भ्रम-क्रम-क्लम-त्रसि-त्रुटि-लषि-यसिसंयसेर्वा ।३.४.७३।

एभ्यः कर्तरि विहिते शिति श्यः प्रत्ययो भवति वा, प्राप्ताप्राप्तविभाषेयम् । भ्राश्यते, भ्राशते, भ्लाश्यते, भ्लाशते, भ्राम्यति, भ्रमति, भौवादिकस्य भ्रम्यति । क्राम्यति, क्रामति, क्लाम्यति, क्लामति, त्रस्यति, त्रसति, त्रुट्यति, त्रुटति, लष्यति, लषति, यस्यति, यसति, संयस्यति, संयसति । यसिग्रहणेनैव सिद्धे संयसिग्रहणमुपसर्गान्तरपूर्वकस्य यसेर्निवृत्त्यर्थम्, तेन आयस्यति प्रयस्यति इति नित्यं श्यः ।।७३।।

कुषि-रञ्जे-र्व्याप्ये वा परस्मै च ।। ३. ४. ७४ ।।

कुषिरञ्जिभ्यां व्याप्ये कर्तरि शिद्विषये परस्मैपदं वा भवति तत्संनियोगे श्यश्च, क्यात्मनेपदापवादौ । कुष्णाति पादं देवदत्तः, कुष्यति पादः स्वयमेव, कुष्यते पादः स्वयमेव, कुष्यन् पादः स्वयमेव, कुष्यमाणः पादः स्वयमेव, रजति वस्त्रं रजकः, रज्यति वस्त्रं स्वयमेव, रज्यते वस्त्रं स्वयमेव, रज्यद्वस्त्रं स्वयमेव, रज्यमानं वस्त्रं स्वयमेव ।

व्याप्ये कर्तरीति किम् ? कुष्णाति पादं रोगः, रज्यति वस्त्रं शिल्पी । शितात्येव ? अकोषि, चुकुषे, कोषिष्यमाणः, अरञ्जि, ररञ्जे, रङ्क्ष्यमाणं स्वयमेव, परस्मैपदसंनियोग-विज्ञानादिह न भवति-कतीह कुष्णानाः पादाः, कतीह रजमानानि वस्त्राणि, 'वयःशक्तिशीले' (५-२-२४) इति शानः । क्यात्परस्मैपदविकल्पविधानेनैव सिद्धे श्यविधानं कुष्यन्ती रज्यन्तीत्यत्र 'श्यशवः' (२-१-११५) इत्यनेन नित्यमन्तादेशार्थम् ।। ७४ ।।

न्या स०–कुषिरञ्जे०–कुष्णाति पादं देवदत्त इति–बहिर्निकृष्टान्तरवयवं करोति देशान्तरं प्रापयति वा । कोषिष्यमाण इति–कोषिष्यति पादं देवदत्तः, स एवं विवक्षते, नाहं कोषिष्यामि, स्वयमेव कोषिष्यते आनश् । अरञ्जीति–आराङ्क्षीत् वस्त्रं शिल्पी, नाऽहमराङ्क्षं स्वयमेवाऽरञ्जि । कतीह कुष्णाना इति–कुष्यन्ते स्वयमेवेत्येवंशीलाः ततः शाने 'क्र्यादेः' ३-४-७९ श्ना 'श्नश्चातः' ४-२-९६ इति आलोपः । एकधाताविल्यत्र तथेत्याश्रयणात् आत्मनेपदविषये शिति क्यस्य प्रवर्तनादत्र क्यो न, शान्प्रत्यये हि न परस्मैपदी, नाप्यात्मनेपदी, एवं रज्यन्ते इत्येवंशीलानि रजमानानि । क्यात्परस्मैपद-विकल्पेति–कुषिरञ्जेर्व्याप्ये क्याद् वा परस्मै इति क्रियतामित्याशयः ।

स्वादेः श्नुः ।। ३. ४. ७५ ।।

स्वादेर्गणात्कर्तरि विहिते शिति श्नुः प्रत्ययो भवति, शकारः शित्कार्यार्थः । सुनोति, सुनुते, सुन्वन्, सुन्वानः, सिनोति, सिनुते, सिन्वन्, सिन्वानः, षुंग्ट्, षिग्ट्, शिग्ट्, डुमिग्ट्, चिग्ट्, धूग्ट्, स्तृंग्ट्, कृंग्ट्, वृग्ट्, हिंट्, श्रुंट्, टुदुंट्, पृंट्, स्पृंट्, शक्लृंट्, तिकतिगषघट्, राधंसाधंट्, ऋधूट्, आप्लृंट् तृपट्, दम्भूट्, कृवुट्, धिवुट्, ञिधृषाट्, ष्टिघिट्, अशौटि, इति टितः स्वादयः ।। ७५ ।।

वाक्षः ।। ३. ४. ७६ ।।

अक्षौ इत्येतस्मात्कर्तरि विहिते शिति श्नुः प्रत्ययो भवति वा । अक्ष्णोति, अक्षति ॥ ७६ ॥

तक्षः स्वार्थे वा ॥ ३. ४. ७७ ॥

स्वार्थस्तनूकरणं तस्मिन्वर्तमानात्तक्षौ इत्येतस्मात् कर्तरि विहिते शिति श्नुः प्रत्ययो वा भवति । तक्ष्णोति तक्षति काष्ठम्, शाने तक्ष्णुवानः, तक्षमाणः । स्वार्थ इति किम् ? संतक्षति वाग्भिः शिष्यं निर्भत्सयतीत्यर्थः ॥७७॥

स्तम्भू-स्तुम्भू-स्कम्भू-स्कुम्भूस्कोः श्ना च ॥ ३. ४. ७८ ॥

स्तम्भ्वादिभ्यः सौत्रेभ्यो धातुभ्यः स्कुगश्च कर्तरि विहिते शिति श्नाः श्नुश्च प्रत्ययो भवति, शकारः शित्कार्यार्थः । स्तभ्नाति, स्तभ्नोति, स्तभ्नानः, स्तभ्नुवानः, स्तुभ्नाति, स्तुभ्नोति, स्कभ्नाति, स्कभ्नोति, स्कुभ्नाति, स्कुभ्नोति, स्कुनाति, स्कुनीते, स्कुनोति, स्कुनुते । स्तम्भ्वादीनामूदित्करणं क्त्वाक्तयोरिड्विकल्पनित्यप्रतिषेधौ यथा स्याताम्,-स्तब्ध्वा, स्तम्भित्वा, स्तब्धः, स्तब्धवान् ॥७८॥

न्या० स०-स्तम्भू०-स्तुभ्नान इति-अनिर्दिष्टानुबन्धानां सौत्राणां धातूनां परस्मैपदित्वात् अत्र 'वयः शक्तिशील०' ५-२-२४ इति शानः । स्तम्भित्वेति-'क्त्वा' ४-३-२९ इति किद्वद्भावः ।

क्र्यादेः ॥ ३. ४. ७९ ॥

क्र्यादेर्गणात्कर्तरि विहिते शिति श्नाः प्रत्ययो भवति । क्रीणाति, प्रीणाति ।

डुक्रींग्श्, षिग्श्, प्रींग्श्, श्रींग्श्, मींग्श्, युंग्श्, स्कुंग्श्, क्नूग्श्, द्रूग्श्, ग्रहीश्, पूग्श्, धूग्श्, लूग्श्, स्तॄंग्श्, कॄग्श्, वॄग्श्, ज्यांश्, रींश्, लींश्, ब्लींश्, ल्वींश्, कॄमृशृश्, पॄश्, वॄश्, भॄश्, दॄश्, जॄश्, नॄश्, गॄश्, ऋश्, ज्ञांश्, क्षिषूश्, व्रींश्, भ्रींश्, हेठश्, मृडश्, श्रन्थश्, मन्थश्, ग्रन्थश्, कुथश्, मृदश्, गुधश्, क्षुभश्, णभतुभश्, खवश्, क्लिशौश्, अशश्, इषश्, विषश्, प्रुष्, प्लुषश्, मुषश्, पुषश्, कुषश्, ध्रसूश्, वृङ्श्, इति शितः क्र्यादयः ॥७९॥

व्यञ्जनाच्छ्नाहेरानः ॥ ३. ४. ८० ॥

व्यञ्जनान्ताद्धातोः परस्य श्नायुक्तस्य हेः स्थाने आन आदेशो भवति । पुषाण, मुषाण, उत्तभान, विष्कभाण । व्यञ्जनादिति किम् ? लुनीहि । श्नाहेरिति किम् ? अश्नाति, उत्तभ्नुहि, विस्कभ्नुहि ॥८०॥

तुदादेः शः ॥ ३. ४. ८१ ॥

तुदादेर्गणात्कर्तरि विहिते शिति शः प्रत्ययो भवति, शकारः शित्कार्यार्थः । तुदति,

तुदते, तुदन्, तुदमानः । तुदींत् भ्रस्जींत्, क्षिपींत्, दिशींत्, कृषींत्, 'मुच्लृंती, षिचींत्, विद्लृंती, लुप्लृंती, लिपींत्, कृतैत्, खिदंत्, पिशत्' । रिंपित्, धित्, क्षित्, षूत्, मृंत्, कृत्, गृत्, लिखत्, जर्चझर्चत्, त्वचत्, ऋचत्, ओव्रश्चौत्, ऋच्छत्, विच्छत, उच्छैत्, मिच्छत्, उच्छत्, प्रच्छंत्, उब्जत्, सृजंत्, रुजोंत्, भुजोंत्, टुमस्जोंत्, जर्ज-झर्झत् उज्झत् जुडत् पृडमृडत् कडत् पृणत् तृणत् मृणत् द्रुणत्, पुणत्, मुणत्, कुणत् घुणघूर्णत्, चृतैत्, णुदंत्, षद्लृंत्, विधत्, जुनशुनत्, छुपंत्, रिफत्, तृफतृम्फत्, ऋफऋम्फत्, दृफदृम्फत्, गुफगुम्फत्, उभउम्भत्, शुभशुम्भत्, दृभैत्, लुभत्, कुरत्, क्षुरत्, खुरत्, घुरत्, पुरत्, मुरत्, सुरत्, स्फरस्फलत्, किलत्, इलत्, हिलत्, शिलसिलत्, तिलत्, चलत्, चिलत्, विलत्, णिलत्, मिलत्, स्पृशंत्, रुशंरिशंत्, विशंत्, मृशंत्, लिशं, कृषैत्, इषत्, मिषत्, वृहौत्, तृहौ, तृन्हौ, स्तृहौ, स्तन्हौत्, कुटत्, गुंत्, धुंत्, णूत्, धूत्, कुचत्, व्यचत्, गुञ्जत्, घुटत्, चुट, छुट, त्रुटत्, तुटत्, मुटत्, स्फुटत्, पुटलुठत्, कृडत्, कुडत्, गुडत्, जुडत्, तुडत्, लुडथुडस्थुडत्, वुडत्, व्रुड, भ्रुडत्, द्रुडहुडत्रुडत्, वुणत्, डिपत्, छुरत्, स्फुरत्, स्फुलत्, कुंङ्, कूङ्त्, गुरति, पृंङ्त्, दृंङ्त्, धृंङ्त्, ओविजैति, ओलजैङ्, ओलस्जैति, ष्वञ्जत्, जुषैति; इति तितस्तुदादयः ॥८१॥

रुधां स्वराच्श्नो नलुक् च ॥ ३. ४. ८२ ॥

रुधादेर्गणस्य स्वरात्परः कर्तरि विहिते शिति श्नः प्रत्ययो भवति तत्संनियोगे च प्रकृतिनकारस्य लुगन्वाचीयते, प्रत्ययनकारस्य तु विधानसामर्थ्यान्न भवति । शकारः 'श्नास्त्योर्लुक् (४-२-९०) इत्यत्र विशेषणार्थः । रुणद्धि, रुन्धे भिनत्ति, भिन्ते, भनक्ति, हिनस्ति, हिंसन्, रुधृंपी, रिचृंपी, विचृंपी, युजृंपी, भिदृंपी, छिदृंपी, क्षुदृंपी, ऊछृंदृंपी, ऊतृदृंपी, पृचैप्, वृचैप्, तञ्च्, तञ्जूप्, भञ्जोंप्, भुजंप्, अञ्जोप्, ओविजैप्, कृतैप्, उन्दैप्, शिष्लृंप्, पिष्लृप्, हिंसुतृहप्, खिदिप् विदिप्, ञि इन्धैपि इति पितो रुधादयः ॥८२॥

कृगूतनादेरुः ॥ ३. ४. ८३ ॥

कृगस्तनादेश्च गणात्कर्तरि विहिते शिति उः प्रत्ययो भवति । करोति, कुरुते, कुर्वन्, कुर्वाणः, तनोति, तनुते, तन्वन्, तन्वानः । तनूयी, षणूयी, क्षणूक्षिणूयी, ऋणूयी तृणूयी घृणूयी, वनूयि, मनूयि, इति यितस्तनादयः ॥८३॥

न्या० स०-कृगूतनादे-तनादावपठित्वा भ्वादिपाठोऽस्य करतीत्यत्र शवर्थः, येषां मते तनादौ पाठस्तन्मते 'तन्भ्यो वा तथासि' ४-३-६८ इति रूपद्वयं प्राप्येत शव् च न सिध्येत् । स्वमते तु अकृत, अकृथा इति नित्यमेव 'धुट्ह्रस्वात्' ४-३-७० इति लुक् । अन्यैः कृगूतनादौ पठितस्तत्साहचर्यात् कृग् गृह्यते न तु कृगृट् ।

सृजः श्राद्धे ञिक्यात्मने तथा ॥ ३. ४. ८४ ॥

सृजो धातोः श्रद्धावति कर्तरि ञिक्यात्मनेपदानि भवन्ति तथा यथा विहितानि । असर्जि मालां धार्मिकः, सृज्यते मालां धार्मिकः, स्रक्ष्यते मालां धार्मिकः । श्राद्ध इति किम् ?

व्यत्यसृष्ट माले मिथुनम्, सृजति,-स्रक्ष्यति मालां मालिकः। तथेति वचनादद्यतन्यामात्मनेपदे ते जिच् तलुक्च शिति च क्य इति सिद्धम् ॥८४॥

न्या० स०-सृजः श्राद्धे-अत्र ञिक्यौ तथा विधीयेते। आत्मनेपदं तु मुख्यमेव विधीयते।

तपेस्तपःकर्मकात् ॥ ३. ४. ८५ ॥

तपेर्धातोरर्थान्तरवृत्तित्वेन तपःकर्मकात् कर्तरि ञिक्यात्मनेपदानि भवन्ति तथा। तप्यते तपः साधुः, तेपे तपांसि साधुः, तपिरत्र करोत्यर्थः, ञिच् तु 'तपः कर्त्रनुतापे च' (३-४-९१) इति प्रतिषेधान्न भवति, अन्वतप्त तपः साधुः। तपेरिति किम्? कुरुते तपांसि साधुः। तप इति किम्? उत्तपति सुवर्णं सुवर्णकारः। कर्मेति किम्? तपांसि साधुं तपन्ति, दुःखयन्तीत्यर्थः ॥८५॥

न्या० स०-तपेस्तप-अर्थान्तरवृत्तित्वेनेति-करोत्यर्थेनेत्यर्थः।

एकधातौ कर्मक्रिययैकाकर्मक्रिये ॥ ३. ४. ८६ ॥

एकस्मिन्धातौ कर्मस्थक्रियया पूर्वदृष्टया एका अभिन्ना संप्रत्यकर्मिका क्रिया यस्य तस्मिन्कर्तरि कर्मकर्तृरूपे धातोर्ञिक्यात्मनेपदानि तथा भवन्ति। अकारि कटः स्वयमेव, करिष्यते कटः स्वयमेव, क्रियते कटः स्वयमेव, क्रियमाणः कटः स्वयमेव, चक्रे कटः स्वयमेव, अभेदि कुशूलः स्वयमेव, भिद्यते कुशूलः स्वयमेव, बिभिदे कुशूलः स्वयमेव, अत्र करोति कटम्, भिनत्ति कशूलमित्यादौ यैव कटादिकर्मणां निर्वृत्तिद्विधाभवनादिका क्रिया सैव सौकर्यादविवक्षिते कर्तृव्यापारे स्वातन्त्र्यविवक्षायां तस्मिन्नेव धातावकर्मिका च, एवं चाकर्मत्वाद्भावेऽप्यात्मनेपदं भवति। क्रियते कटेन, भिद्यते कुशूलेन। एकधाताविति किम्? पचत्योदनं चैत्रः, सिध्यत्योदनः स्वयमेव। कर्मक्रिययेति किम्? साध्वसिश्छिनत्ति, साधु स्थाली पचति इति करणाधिकरणक्रिययैकक्रिये माभूत्। एकक्रिययेति किम्? स्रवत्युदकं कुण्डिका, स्रवत्युदकं कुण्डिकायाः। अत्र विसृजति, निष्क्रामतीति क्रियाभेदात्, गलत्युदकं वलीकानि, गलत्युदकं वलीकेभ्य इति। अत्रापि मुञ्चतीति, पततीति, क्रियाभेदात् नैकक्रियत्वम्।

अकर्मक्रिय इति किम्? भिद्यमानः कुशूलः पात्राणि भिनत्ति। अन्योन्यमाश्लिष्यतः, हन्त्यात्मानमात्मा। एकस्य कर्मत्वं कर्तृत्वं च कथमिति चेत्? उच्यते-सर्वमपि हि कर्म स्वव्यापारे स्वातन्त्र्यमनुभूय कर्तृव्यापारेण न्यक्कृतं सत् कर्मतामनुभवति। कर्तृव्यापाराविवक्षायां तु स्वव्यापारे स्वातन्त्र्यात् कर्तृत्वमस्याव्यावृत्तमेव। यदाहुः-

निर्वृत्त्यादिषु तत्पूर्वमनुभूय स्वतन्त्रताम्।
कर्त्रन्तराणां व्यापारे, कर्म संपद्यते ततः ॥१॥

निवृत्तप्रेषणं चैतत्स्वक्रियावयवे स्थितम्।
निवर्तमाने कर्मत्वे स्वे कर्तृत्वेऽवतिष्ठते ॥२॥ इति ॥८६॥

न्या० स०-एकधातौ०-पूर्वदृष्टयेति-पूर्वस्मिन् काले दृष्टा तया सहार्थे तृतीया। **अकारि कटः स्वयमेवेति**-अकार्षीत् कटं देवदत्तः, स एवं विवक्षते-नाहमकार्षम्, अकारि कटः स्वयमेव, स्वयं शब्दस्तृतीयार्थे करणे कारके वर्त्तते। **अभेदि कुशूलः स्वयमेवेति**-अभैत्सीत् अभिददवा कुशूलं देवदत्तः द्विधा भवन्तं द्वेधा अबीभवत्, स एवं विवक्षते नाहमभिदम् अभैत्सं वा किंतु स्वयमेवाऽभेदि। **सिध्यत्योदनः स्वयमेवेति**-नन्वत्र यथा धातुभेदस्तथा धातुभेदे क्रियाभेदोऽपि ? नैवं, एकाभिन्ना क्रियेत्येकधाताविति स्थिते द्रष्टव्यमिति न द्व्यङ्गवैकल्यम्।

निष्क्रामतीति क्रियाभेदादिति-विसर्गः विसर्जनमात्रं, निष्क्रमणं तु विसर्गानन्तरं गमनमिति विसर्जननिष्क्रमणयोर्भेदः, अत्र विसृजति उदकं कुण्डिका, सा एवं विवक्षते, नाहं विसृजामि किन्तु स्वयमेव निष्क्रामतीति विवक्षायां न भवति, यदा तु स्वयमेव विसृज्यते इति विवक्ष्यते तदा क्यादयो भवन्ति वा नवा ? उच्यते, शब्दशक्तिस्वाभाव्यात् स्वयमेव विसृज्यत इत्यर्थो न प्रतीयते किन्तु निष्क्रामतीत्येव। **भिद्यमानः कुशूलः पात्राणि भिनत्तीति**-नन्वत्र द्व्यङ्गविकलत्वं व्यावृत्तेर्यतः प्रथमो देवदत्तकर्तृको द्वितीयस्तु कुशूलकर्तृक इतिसाधनभेदात् क्रियाभेदे धातुभेदः ? न, स्याद्वादादत्र धातुभेदो नाश्रीयते, अन्यथा सूत्रमिदं निरर्थकं स्यात्। यतोऽकारि कटः स्वयमेवेत्यत्रापि इत्थं धातुभेदसद्भावात्,-तथाहि-प्रथमं देवदत्तकर्तृकः कृग्, पश्चात् कटकर्तृकः। **स्वातन्त्र्यमनुभूयेति**-यतः कटं करोतीत्यादिषु स्वव्यापारे जननादिलक्षणे कटादि कर्म स्वातन्त्र्यमनुभवति स्वातन्त्र्याच्च कर्तृत्वम्। **कर्त्रन्तराणां व्यापारे इति**-स्वव्यापारे स्वातन्त्र्यात् कटादिकर्मणः कर्तृरूपादन्यो वरुटादिः कर्त्ता कर्त्रन्तरं तस्य।

निवृत्तप्रेषणमिति-निवृत्तकर्तृव्यापारमित्यर्थः।

पचिदुहेः ॥ ३. ४. ८७ ॥

पचिदुहिभ्यामेकधातौ कर्मस्थक्रियया पूर्वदृष्टयाऽकर्मिकया सकर्मिकया वा, एकक्रिये कर्तरि कर्मकर्तृरूपे ञिक्यात्मनेपदानि भवन्ति अपवादविषयं मुक्त्वा।

अपाच्योदनः स्वयमेव, पच्यते ओदनः स्वयमेव, पक्ष्यते ओदनः स्वयमेव, अदोहि गौः स्वयमेव, दुग्धे गौः स्वयमेव, अदुग्ध गौः स्वयमेव। उदुम्बरं फलं पचति वायुः, उदुम्बरः फलं पच्यते स्वयमेव, अपक्तोदुम्बरः फलं स्वयमेव। गां दोग्धि पयो गोपालकः, दुग्धे गौः पयः स्वयमेव, अदुग्ध गौः पयः स्वयमेव, अधुक्षत गौः पयः स्वयमेव, दुहिपच्योः कर्मणि ञिचः प्रतिषेधं वक्ष्यति। तथा अविशेषेण दुहेर्ञिचो विकल्पं क्यस्य च प्रतिषेधं वक्ष्यति, अकर्मकस्येह पूर्वेणैव सिद्धे सकर्मकार्थं वचनम्॥८७॥

न्या० स०-पचिदुहेः-अकर्मिकयेति-अकर्म्मकत्वे पूर्वेण सिद्धमप्यनूद्यते सूत्रारम्भात्, अनेन तु कर्मणि विधीयते तर्ह्यत्र कर्म्मणीत्युच्यताम् ? न, एवं कृते पचिदुह्योः ❀ तक्रकौण्डिन्यन्यायेन ❀ सत्येव कर्म्मणि स्यात् कर्मण्यऽसति पूर्वेणापि न स्यात्। **उदुम्बरं फलं पचति वायुरिति**-अयमन्तर्भूतण्यर्थो द्विकर्मकः, उदुम्बरात् फलं पाचयति वायुरित्यर्थः।

अविशेषेणेति-कर्मणि सत्यऽसति वेत्यर्थः, अविशेषेणेत्युक्तेऽपि कर्मणि 'न कर्मणा ञिच्' ३-४-८८ इति नित्यं प्रतिषेधः अकर्मणि तु विकल्पः ।

न कर्मणा ञिच् ॥ ३. ४. ८८ ॥

पचिदुहेः कर्मणा योगेऽनन्तरोक्ते कर्तरि ञिच् न भवति । अपक्तोदुम्बरः फलं स्वयमेव, अदुग्ध गौः पयः स्वयमेव । कर्मणेति किम् ? अपाच्योदनः स्वयमेव, अदोहि गौः स्वयमेव । अनन्तरोक्ते कर्तरीत्येव,-अपाचि उदुम्बरः फलं वायुना, अदोहि गौः पयो गोपालकेन ॥८८॥

रुधः ॥ ३. ४. ८९ ॥

रुधो धातोरनन्तरोक्ते कर्तरि ञिच् न भवति । अरुद्ध गौः स्वयमेव, अनन्तरोक्ते कर्तरीत्येव,-अरोधि गौर्गोपालकेन ॥८९॥

स्वर-दुहो वा ॥ ३. ४. ९० ॥

स्वरान्ताद्धातोर्दुहेश्चानन्तरोक्ते कर्तरि ञिच् वा न भवति । अकृत अकारि कटः स्वयमेव, अलविष्ट अलावि केदारः स्वयमेव, अदुग्ध अदोहि गौः स्वयमेव । स्वरदुह इति किम् ? अभेदि कुशूलः स्वयमेव । अनन्तरोक्ते कर्तरीत्येव,-अकारि कटश्चैत्रेण, अदोहि गौर्बल्लवेन ॥९०॥

तपः कर्त्रनुतापे च ॥ ३. ४. ९१ ॥

तपेर्धातोः कर्मकर्तरि कर्तरि अनुतापे चार्थे ञिच् न भवति । अनुतापग्रहणाद्भावे कर्मणि च । अन्ववातप्त कितवः स्वयमेव । कर्तरि,-अतप्त तपांसि साधुः, अन्वतप्त चैत्रेण, अन्ववातप्त पापः पापेन कर्मणा । कर्त्रनुतापे चेति किम् ? अतापि पृथिवी राज्ञा ॥९१॥

न्या० स०-तपकर्त्र-नन्वनेन सामान्येन सानुतापेऽननुतापे च कर्त्तरि कर्मकर्त्तरि च भविष्यति किमनुतापग्रहणेनेत्याशङ्क्याह-**अनुतापग्रहणादिति । अन्वतप्त चैत्रेणेति**-पश्चात्तपनं कृतमित्यर्थः, अग्रेतने तु पश्चात्तापं कारित इत्यर्थः ।

णि-स्नु-श्र्यात्मनेपदाकर्मकात् ॥ ३. ४. ९२ ॥

ण्यन्ताद्धातोः स्नुश्रिभ्यां चात्मनेपदविधावकर्मकेभ्यश्च कर्मकर्तरि ञिच् न भवति । येभ्यः कर्मण्यसति आत्मनेपदं विधीयते, ते आत्मनेपदाकर्मकाः । णि-पचति ओदनं चैत्रः, तं मैत्रः प्रायुक्त, अपीपचत् ओदनं चैत्रेण मैत्रः । पुनरोदनस्य सुकरत्वेन कर्तृत्वे अपीपचतौदनः स्वयमेव । यदि वा स्वयमेव पच्यमानः ओदनः स्वं प्रायुक्त अपीपचतौदनः स्वयमेव, उभयत्र स्वयमेवापाचीत्येवार्थः ।

अचूचुरत् गां चैत्र, अचुचूरत गौः स्वयमेव । पुच्छमुत्क्षिपति उत्पुच्छयते गौः । अन्तर्भूतण्यर्थत्वात्सकर्मकत्वे उदपुपुच्छत गां देवदत्तः, उदपुपुच्छत गौः स्वयमेव । यद्वा उत्पुच्छामकार्षीदिति णिचि उदपुपुच्छद्गां देवदत्तः, उदपुपुच्छतः गौः स्वयमेव । स्नु-प्रास्नावीत् गां देवदत्तः, प्रास्नोष्ट गौः स्वयमेव । श्रि-उदशिश्रियत् दण्डं दण्डी, उदशिश्रियत दण्डः स्वयमेव, आत्मनेपदाकर्मक, व्यकार्षीत् सैन्धवं चैत्रः, वल्गयति स्मेत्यर्थः ।

व्यकृत सैन्धवः स्वयमेव, विकरोतिर्वल्गनेऽन्तर्भूतण्यर्थः कर्मस्थक्रियः, व्यकार्षीत् कटं चैत्रः, व्यकृत कटः स्वयमेव, अवधीत् गां गोपः, आहत गौः स्वयमेव । व्यताप्सीत् पृथिवीं रविः । व्यतप्त पृथ्वी स्वयमेव, ञिच्निषेधात् ञिट् भवत्येव । पाचिता, पाचिषीष्ट ओदनः स्वयमेव, प्रास्नाविष्ट प्रस्नाविषीष्ट गौः स्वयमेव, उच्छायिता उच्छायिषीष्ट दण्डः स्वयमेव । आघानिष्ट आघानिषीष्ट गौः स्वयमेव । पृथग्योगात् उत्तरेण ञिटः प्रतिषेधो न भवति ॥९२॥

न्या० स०-णिस्नु०-अपीपचतौदनः स्वयमेवेति-अत्र प्रयोजकव्यापाराविवक्षायां णिग् न निवर्त्तते, ण्यन्तानां ञिच्प्रतिषेधात् । स्वयं पच्यमान ओदनः स्वं प्रायुङ्क्तेति ततोऽपीपचदोदनः स्वमात्मानमित्यर्थः । स ओदनः विवक्षते-नाहमात्मानमपीपचम्, नाहमात्मानं सिध्यन्तमऽसीसधं किं तर्हि ? स्वयमोदनोऽपीपचत असीसधत इत्यर्थः, प्रास्नोष्ट गौरिति-अत्र पूर्वमेव नित्यत्वादन्तरङ्गत्वाच्च गुणः ।

आत्मनेपदाकर्मकेति-येषामकर्मकाणामात्मनेपदं व्यवधायि तेषामित्यर्थः ।

भूषार्थ-सन्-कियादिभ्यश्च ञिक्यौ ॥ ३. ४. ९३ ॥

भूषार्थेभ्यः सन्नन्तेभ्यः किरादिभ्यश्चकाराण्णिश्नुश्र्यात्मनेपदाकर्मकेभ्यश्च धातुभ्यः कर्मकर्तरि ञिक्यौ न भवतः । ञिरुत्सृष्टानुबन्धो ञिच्ञिटोर्ग्रहणार्थः । भूषार्थ-अलमकार्षीत् कन्यां चैत्रः, अलमकृत कन्या स्वयमेव, एवमलंकरिष्यते अलंकुरुते कन्या स्वयमेव, पर्यस्कार्षीत्कन्यां चैत्रः, पर्यस्कृत परिष्करिष्यते परिष्कुरुते कन्या स्वयमेव, अबूभुषत् कन्यां छात्रः, अबूभुषत भूषयिष्यते भूषयते कन्या स्वयमेव, अममण्डत् कन्या छात्रः अममण्डत मण्डयिष्यते मण्डयते कन्या स्वयमेव, भूषिमण्डयोर्ण्यन्तत्वेनैव निषेधे सिद्धे ञिट्प्रतिषेधार्थं भूषार्थमुदाहरणम् ।

सन्नन्त-अचिकीर्षीत् कटं चैत्रः । अचिकीर्षिष्ट, चिकीर्षिष्यते, चिकीर्षते कटः स्वयमेव, अबिभित्सात् कुशूलं चैत्रः, अबिभित्सिष्ट बिभित्सिष्यते बिभित्सते कुशूलः स्वयमेव, किरादि-अकारीत्पांसुं करी, अकीष्ट कीर्षीष्ट किरते पांसुः स्वयमेव, एवमवाकीर्ष्ट अवकीर्षीष्ट अवकिरते पांसुः स्वयमेव, अगारीत् ग्रासं चैत्रः, अगीर्ष्ट गीर्षीष्ट गिरते ग्रासः स्वयमेव, एवं न्यगीर्ष्ट निगीर्षीष्ट निगिरते ग्रासः स्वयमेव, दोग्धि गां पयो गोपः, दुग्धे गौः स्वयमेव, दुग्धे गौः पयः स्वयमेव, कथमदोहि गौः स्वयमेव, दुहेञ्जिविकल्प उक्तः । अवोचत्कथां चैत्रः । अवोचत ब्रूते कथा स्वयमेव । अश्रन्थीत् मालां मालिकः । अश्रन्थिष्ट श्रथ्नीते श्रन्थते माला स्वयमेव । अग्रन्थीत् ग्रन्थं विद्वान् । अग्रन्थिष्ट ग्रथ्नीते

ग्रन्थते ग्रन्थः स्वयमेव । श्रन्थिग्रन्थी क्रियादौ युजादौ वा, अनंसीत् दण्डं द्रुण्डी, अनंस्त नमते दण्डः स्वयमेव, परिणमति मृदं कुलालः, परिणमते मृत् स्वयमेव, कॄ, गॄ, दुह, ब्रू, श्रन्थ्, ग्रन्थ्, नम् इति किरादयः, बहुवचनं शिष्टप्रयोगानुसरणार्थम् ।

णिस्नुश्र्यात्मनेपदाकर्मकाणां ञिच्प्रतिषेधः पूर्वसूत्रे उदाहृतः ञिट्त्वेषां पृथग्योगाद्भवत्येवेति चोक्तम् । क्यनिषेध उदाह्रियते । ण्यन्त-कारयते कटः स्वयमेव, चोरयते गौः स्वयमेव, उत्पुच्छयते गौः स्वयमेव, स्नु,-प्रस्नुते गौः स्वयमेव श्रि,-उच्छ्रयते दण्डः स्वयमेव, आत्मनेपदाकर्मकः-विकुर्वते सैन्धवाः स्वयमेव, आहते गौः स्वयमेव । अन्ये तु णिस्नुश्र्यात्मनेपदाकर्मकेभ्यो ञिटोऽपि प्रतिषेधमिच्छन्ति, तन्मते पाचयिता पाचयिष्यते ओदनः, प्रस्नोता प्रस्नोष्यते गौः, उच्छ्रयिता उच्छ्रयिष्यते दण्डः, आहन्ता आहनिष्यते गौः स्वयमेवेत्येव भवति । स्नुनमोः अन्तर्भूतण्यर्थत्वेन सकर्मकत्वाद्गवादेः कर्मकर्तृत्वम् ।

यत्र तु ण्यर्थो नास्ति तत्र कर्तृनैव । यथा प्रस्नौति गौर्दोग्धुः कौशलेन, नमति पल्लवो वातेन । ननु कर्मस्थया क्रियया एकाकर्मक्रिये कर्तरि ञिक्यात्मनेपदानि भवन्ति अत्र तु ण्यन्तानां प्रयोजकव्यापारः सन्नन्तानां चेच्छाकर्तृस्थैव क्रियेति, ञिक्ययोः प्राप्तिरेव नास्ति किं प्रतिषेधेन ? उच्यते,-प्रयोजकव्यापारस्येच्छायाश्च तदर्थत्वात् करणादिक्रियारूपस्य प्रकृत्यर्थस्य प्राधान्यम्, तस्य च कर्मस्थत्वात् णिसन्नन्तानामपि कर्मस्थक्रियत्वम्, तथा ब्रूते कथेत्यत्र वचनं शब्दप्रकाशनफलत्वात् उपाध्यायेनोक्तः करोतीतिवत् प्रेरणार्थत्वात् वा कर्मस्थक्रियारूपम् । भूषाक्रियाणां च भूषाफलं शोभाख्यं कर्मणि दृश्यत इति कर्मस्थक्रियत्वम्, एवमन्यत्रापि भावनीयम् ॥९३॥

न्या० स०-भूषार्थः-ञिट् प्रतिषेधार्थमिति-अन्यथा पृथग्योगात् ण्यन्तद्वारात् ञिट् प्रतिषेधो न स्यात्, किंतु पूर्वेण ञिच एव । क्रियादौ युजादौ चेति धातुपारायणे तु भ्वादिसत्कावपि स्नुनमोरिति-ननु स्नुनमावकर्मकौ तत्कथमनयोः कर्मस्थक्रियत्वमित्याह-अन्तर्भूतण्यर्थत्वेनेति ।-अत्र तु ण्यन्तानामिति-यथा कुर्वन्तं प्रयुङ्क्ते इति अत्र हि प्रयोजकक्रिया देवदत्तादौ स्थिता यतो देवदत्तः कटादि कुर्वन् चैत्रेण प्रयुक्तः स च कर्त्तैव । सन्नन्तानां चेति-इच्छायाः प्राणिधर्मत्वात्, यश्च इच्छति स कर्त्तैव । ब्रूते कथेत्यत्रेति ननु वचनक्रिया देवदत्ते कर्त्तरि स्थिता, न तु कथाकर्मणि तत्कथं कर्मस्थक्रियत्वमित्याह-शब्दप्रकाशनफलत्वादिति-अस्यां ये शब्दास्ते प्रकाशमाना वचनेन प्रकाश्यन्ते इति वचनं कर्मस्थक्रियारूपम् । प्रेरणार्थत्वाद्वेति-अयमर्थः प्रेरणार्थो वा अत्र ब्रूग्, ततश्च ब्रूत इति कोऽर्थः ? शिष्येण बुध्यमानां बोधयतीत्यर्थः ।

करणक्रियया क्वचित् ॥ ३. ४. ९४ ॥

एकधातौ पूर्वदृष्टया करणस्थया क्रियया एकाकर्मक्रिये कर्तरि ञिक्यात्मनेपदानि क्वचिद्भवन्ति । परिवारयन्ति कण्टकैः पुरुषा वृक्षम्, परिवारयन्ते कण्टका वृक्षं स्वयमेव, क्वचिन्न भवति साध्वसिश्छिनत्ति ॥९४॥

**इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्रविरचितायां सिद्धहेमचन्द्राभिधानस्वोपज्ञशब्दानु-
शासनबृहद्वृत्तौ तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥**

**प्रतापतपनः कोपि मौलराजेर्नवोऽभवत् ॥
रिपुस्त्रीमुखपद्मानां न सेहे यः किल श्रियम् ॥ १ ॥**

करणक्रियया—एकाकर्म्मक्रियेति-एतदधिकारायातत्वात् योजितं क्वचिद्ग्रहणात्तु सकर्म्मकत्वेऽपि भवति । **परिवारयन्ति**-क्वचिदित्युक्त्यापि न भवति ।

इत्याचार्य० तृतीयाध्यायः समाप्तः ॥३॥

卐

। चतुर्थोऽध्यायः प्रथमः पादः ।

द्विर्धातुः परोक्षाङे प्राक्तु स्वरे स्वरविधेः ॥ ४. १. १. ॥

परोक्षायां ङे च प्रत्यये परे धातुर्द्विर्भवति,-धातोरवस्थितस्य द्वितीयमुच्चारणं क्रियते इत्यर्थः । स्वरादौ तु द्विर्वचननिमित्ते प्रत्यये स्वरस्य कार्यात् प्रागेव द्वित्वं भवति । पपाच, पपाठ, इयाज, आर, अचकमत । धातुरिति किम् ? प्राशिश्रियत् । 'वेत्तेः कित्' (३-४-५१) इति वचनादामि परोक्षाकार्यं न भवति । दयांचक्रे, विदांचकार । परोक्षाङ इति किम् ? अदात् । प्रागिति किम् ? निनाय, निनयिथ, निन्यतुः, चक्रतुः, पपौ, पपतुः, जग्मतुः, अदधत् । एवमादिषु वृद्ध्यादेः स्वरविधेः पूर्वमेव द्वित्वं सिद्धं भवति । स्वर इति किम् ? दिदीर्वान्, शिशीर्वान्, जेघ्रीयते, देध्मीयते, जेगीयते । स्वरविधेरिति किम् ? शिव, शुशाव । तितवनीयिषतीत्यत्र तु स्वरविधेर्द्विर्वचननिमित्तप्रत्ययाजन्यत्वान्न ततः प्राग् द्वित्वम् । जग्ले, मम्ले इति अनिमित्तकमात्वम् । अधिजगे इति विषये आदेशः । प्राक्तु स्वरे स्वरविधेरिति आद्विर्वचनमधिकारः, अन्यथा हि आटिटत् इत्यादि न सिध्यति ।। १ ।।

न्या० स० द्विर्धातुः०-पपाचेति-अत्र पुनरपि द्विर्वचनं न भवति, द्विरिति वचनात् । निनायेति-'स्वरस्य परे' ७-४-११० इत्यनेनापि सिद्धम् ? नैवं, कालापेक्षायां स्थानित्वाऽभावः । शुशावेति-अत्र हि स्वरव्यञ्जनकार्यं 'वा परोक्षायाङि' ४-१-९० इति य्वृत् 'दीर्घमवोऽन्त्यम्' ४-१-१०३ । तितवनीयिषतीति-तुंक् वृत्तीत्यतोऽनङन्तात् क्यनि सनि 'अन्यस्य' ४-१-८ इति द्वित्वम् । स्वरविधेरिति-गुणरूपस्येत्यर्थः ।

आटिटदित्यादि न सिध्यतीति-प्रागेव णेर्लोपे सति ।

आद्योऽश एकस्वरः ॥ ४. १. २. ॥

अनेकस्वरस्य धातोराद्य एकस्वरोऽवयवः परोक्षाङे प्रत्यये द्विर्भवति । जजागार, अचकाणत् । पूर्वेण सर्वस्य द्वित्वे प्राप्ते वचनम् ।। २ ।।

न्या० स०-आद्योंश-अनेकस्वरस्येति-एकस्वरस्यैकस्वरेंऽशे द्विरुक्ते न किञ्चिदऽस्य फलं, यद्वा 'एकस्वर' ४-४-५७ इति संबन्धिशब्दः सामर्थ्यादऽनेकस्वरं धातुमाक्षिपति । एकत्सूत्रं विना अचकाणदित्ययं विनश्यति, तथा अजूघुणदित्यपि न तु जजागार इति ।

सन्यङश्च ॥ ४. १. ३. ॥

सन्नन्तस्य यङन्तस्य च धातोराद्य एकस्वरोऽवयवो द्विर्भवति । तितिक्षते, चिकीर्षति, पापच्यते, लोलूयते । षष्ठीनिर्देश उत्तरार्थः । चकारः पूर्वोक्तनिमित्तसमुच्चयार्थ उत्तरार्थ एव, तेनोत्तरत्र परोक्षाङे सन्नन्तयङन्तानां च यथासंभवं द्वित्वं सिद्धम् ।।३।।

न्या० स०-सन्यङश्च-षष्ठीनिर्द्देश इति-नन्वत्र सनि यङि च निमित्तभूते एकस्व-

रस्य द्वित्वं ततः कथं सप्तमी नादायि ? इत्याह-**उत्तरार्थं इति**, तेनोत्तरेण प्रतीषिषतीत्यादि सिद्धं, दर्शितोदाहरणाऽपेक्षया चेदमुक्तं यावता यङ्लुपि बोभवतीत्यादिष्विहापि फलमस्ति। किञ्च चकार उत्तरार्थ एवेत्यत्रैवकारेण षष्ठीतिनिर्देशस्य इहार्थत्वमपि ज्ञायते ।

स्वरादेर्द्वितीयः ॥ ४. १. ४. ॥

स्वरादेर्धातोर्द्विर्वचनभाजो द्वितीयांश एकस्वरो द्विर्भवति न त्वाद्यः । अटिटिषति, अशिशिषति, अटाटयते, अशाश्यते । प्राक्तु स्वरे स्वरविधेरित्येव,-आटिटत्, आशिशत प्रोर्णुनाव, प्रोर्णुनविषति, अरिरिषति, अरिरिषतीत्यत्र तु इटः कार्यित्वं न निमित्तत्वम् । ततो द्वित्वनिमित्तस्य स्वरादिप्रत्ययस्याभावात् प्राक् स्वरविधिरेव ।।४।।

न्या० स०-स्वरादे०-प्रोर्णुनावेति-अत्र द्वित्वरूपे परे कार्ये णत्वशास्त्रस्याऽसत्त्वात् द्वित्वे कृते णत्व । **अरिरिषतीति**-ऋक् ऋ प्रापणे ऋश् वा, अर्तुमऽरितुमरीतुं वा इच्छतीति सनि आद्याभ्यां 'ऋस्मिपूङ' ४-४-४८ इति ऋशस्तु 'इवृध' ४-४-४७ इत्यनेनेट् । अरिरीषतीत्येतत्तु ऋश एव, अन्यथा 'वृतोनवा' ४-४-३५ इति दीर्घो न स्यात् ।

इटः कार्यित्वमिति-स्वरादित्वाद्धातोर्द्वितीयांशस्य इट्रूपस्य द्वित्वे चिकीर्षिते इटः कार्यित्वमेवेत्यर्थः । **स्वरविधेरेवेति**-गुणरूप इत्यर्थः ।

न बदनं संयोगादिः ॥ ४. १. ५ ॥

स्वरादेर्धातोर्द्वितीयस्यावयवस्यैकस्वरस्य बकारदकारनकाराः संयोगस्यादयो न द्विर्भवन्ति । उब्जिजिषति, अड्ड्रिटिषते, अड्डिडिषति, उन्दिदिषति, इन्द्रिद्रीयिषति, औब्जिजत्, आड्ड्रिटत्, आड्डिडत्, औन्दिदत् । बदनमिति किम् ? ईचिक्षिषते । संयोगादिरिति किम ? प्राणिणिषति ।। ५ ।।

न्या० स०-न बदनं-संयोगादिरित्यस्य दः किर्भावे इति पुंस्त्वम् ।

अयि रः ॥ ४. १. ६ ॥

स्वरादेर्धातोर्द्वितीयस्यावयवस्यैकस्वरस्य रेफः संयोगादिर्द्विर्न भवति, 'अयि' रेफात्पर आनन्तर्येण यकारश्चेन्न भवति । अर्चिचिषति, प्रोर्णुनविषति, प्रोर्णोनूयते, प्रोर्णुनाव, प्रोर्णुनवत्, आर्चिचत् । अयीति किम् ? अरार्यते । अर्यमाख्यातवान्, आरर्यत् । संयोगादिरित्येव,-अरिरिषति ।। ६ ।।

न्या० स०-अयि रः-आनन्तर्येणेति-❀ सप्तम्या निर्दिष्टे पूर्वस्य ❀ तच्चानन्तरस्यैवेति । **आरर्यदिति**-अत्र स्वरादेशोन्त्यस्वरलोपरूपो द्वित्वे कार्ये स्थानी निमित्तापेक्षयापि प्राग्विधिरिष्यते ।

नाम्नो द्वितीयाद्यथेष्टम् ॥ ४. १. ७ ॥

स्वरादेर्नाम्नो धातोः द्विर्वचनभाजो द्वितीयादारभ्यैकस्वरोऽवयवो यथेष्टं द्विरुच्यते । अशिश्वीयिषति, अश्वीयियिषति, अश्वीयिषिषति ॥ ७ ॥

न्या० स०-नाम्नो द्वि०-'गम्ययप०' २-२-७४ इति पञ्चमी । **यथेष्टमिति**-यो य इष्टो 'योग्यतावीप्सा' ३-१-४० इत्यनेनाऽव्ययीभावः ।

अन्यस्य ॥ ४. १. ८ ॥

स्वरादेरन्यस्य व्यञ्जनादेर्नाम्नो धातोर्द्विर्वचनभाजो एकस्वरोऽवयवो यथेष्टं प्रथमो द्वितीयस्तृतीयादिर्वाऽन्यतमो द्विरुच्यते । पुपुत्रीयिषति, पुतित्रीयिषति, पुत्रीयियिषति, पुत्रीयिषिषति । पुत्रीयन्तं प्रायुक्त अपुपुत्रीयत्, अपुतित्रीयत्, अपुत्रीयियत् ॥ ८ ॥

न्या० स०-अन्यस्य-द्वितीयादित्यधिकारो नेष्ट इति प्रथमो द्वितीय इत्याद्युक्तम् । **अपुत्रीयियदिति**-अत्र 'अतः' ४-३-८२ इत्यनेन विषयेऽप्यकारलोपात् परनिमित्तत्वाभावे 'स्वरस्य परे' ७-४-११० इति स्थानित्वाभावात् यि इत्यस्य द्वित्वं, न तु य इत्यस्य, एवं आसूयियदित्यादिष्वपि ।

कण्ड्वादेस्तृतीयः ॥ ४. १. ९ ॥

कण्ड्वादेर्धातोर्द्विवचनभाज एकस्वरस्तृतीय एवावयवो द्विर्भवति । कण्डूयियिषति, असूयियिषति आसूयियत् ॥ ९ ॥

पुनरेकेषाम् ॥ ४. १. १० ॥

एकेषामाचार्याणां मते द्वित्वे कृते पुनर्द्वित्वं भवति । सुसोषुपिषते, प्राणिणिनिषत्, बुबोभूयिषते । एकेषामिति किम् ? सोषुपिषते, प्राणिणिषत्, बोभूयिषते ॥ १० ॥

न्या० स०-पुनरे० सुसोषुपिषते इति-भृशार्थे यङ् 'स्वपेर्यङ्ङे च' ४-४-८० इति य्वृद् द्वित्वं सोषुपितुमिच्छति सन्, 'अतः' ४-३-८२ इत्यनेन विषयेऽस्य लोपात् 'स्वरस्य परे' ७-४-११० इति स्थानित्वाऽभावे यो लुक् सिद्धः । **प्राणिणिनिषदिति**-'द्वित्वेऽप्यन्ते' २-३-८१ इत्यत्र द्वित्वे इति वचनात् द्वयोरेव णत्वं न तृतीयस्यापि ।

यिः सन्वेर्ष्यः ॥ ४. १. ११ ॥

ईर्ष्यतेर्द्विर्वचनभाजो यिः सन् वा द्विर्भवति । ईर्ष्यियिषति, ईर्ष्यिषिषति ॥ ११ ॥

ह्वः शिति ॥ ४. १. १२ ॥

जुहोत्यादयः शिति द्विर्भवन्ति । जुहोति, जुह्वत् । **प्राक्तु स्वरे स्वरविधेरित्येव,-** जुहवानि ॥ १२ ॥

चराचर-चलाचल-पतापत-वदावद-घनाघन-पाटूपटं वा ॥ ४. १. १३ ॥

एते शब्दा अचि कृतद्विर्वचना वा निपात्यन्ते । चरिचलिपतिवदिहन्तीनामजन्तानां द्वित्वं हन्तेर्हस्य घत्वं पूर्वस्य च दीर्घः । चरतीति चराचरः, चलाचलः, पतापतः, वदावदः, घनाघनः । पाटयतेरजन्तस्य द्वित्वम् ह्रस्वत्वं पूर्वस्य च ऊदन्तो निपात्यते-पाटयतीति पाटूपटः । पक्षे, चरः, चलः, पतः, वदः, हनः, पाटः । केचित्तु पटूपट इति निपातयन्ति ।।१३।।

न्या० स०-चराचरघनाघन इति-प्रथमस्य निपातनात् घत्वं द्वितीयस्य तु 'अङे हिहन' ४-१-३४ इति सिद्धमेव ।

चिक्लिद-चक्नसम् ।। ४. १. १४।।

चिक्लिदचक्नसशब्दौ निपात्येते । क्लिद्यतेः के क्नस्यतेरचि उभयत्र घञर्थे वा के द्वित्वं निपात्यते । चिक्लिदः, चक्नसः । चक्रुः ययुः बभ्रुः इत्यौणादिकाः ।। १४ ।।

न्या० स० चिक्लिद०-क्लिदौच् क्लिद्यतीति 'नाम्युपान्त्य' ५-१-५४ इति कः क्नस्यतीत्यच् क्लेदनं क्लसनं वा स्थादित्वात्के । चक्रुः वैकुण्ठः कर्मठश्च, ययुः अश्वः यायावरः स्वर्गमार्गश्च, बभ्रुः ऋषिः नकुलः राजा वर्णश्च, 'हनिया' ७३३ (उणादि) इति त्रयोऽपि साधवः ।

दाश्वत् साह्वत् मीढ्वत् ।। ४. १. १५ ।।

एते शब्दाः क्वसुप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते । दाशृग् दाने इत्यस्य क्वसावद्वित्वमनिट्त्वं च निपात्यते । दाश्वान्, दाश्वांसौ, दाशुषी । षहि मर्षणे इत्यस्य परस्मैपदमद्वित्वमुपान्त्यदीर्घत्वमनिट्त्वं च निपात्यते । साह्वान्, 'मिह सेचने' इत्यस्याद्वित्वमनिट्त्वमुपान्त्यदीर्घत्वं ढत्वं च निपात्यते, मीढ्वान् ।। १५ ।।

न्या० स०-दाश्वत्साह्वत्-'षहृ् मर्षणे' इत्यस्य न निपातनमिष्टिवशात् ।

ज्ञप्यापो ज्ञीपीप् न च द्विः सि सनि ।। ४. १. १६ ।।

ज्ञपेरापेश्च सकारादौ सनि परे यथासंख्यं ज्ञीपीप् इत्येतावादेशौ भवतो न चानयोरेकस्वरोंऽशो द्विर्भवति । आदेशे कृते द्वित्वं प्राप्नोतीति निषिध्यते । आदेशसंनियोगे च निषेधात् अन्यत्र द्वित्वं भवत्येव । ज्ञीप्सति, ईप्सति । सीति किम् ? जिज्ञपयिषति । 'इवृध'-(४-४-४७) इत्यादिना विकल्पेट् । सनीति किम् । आप्स्यति ।। १६ ।।

न्या० स०-ज्ञप्यापो०-आदेशे कृते इति-परत्वात् प्रथममेवेत्यर्थः । **ज्ञीप्सतीति**-ज्ञांश्, जानन्तं प्रयुङ्क्ते णिग्, 'र्अत्तिरी' ४-२-२१ इति पोऽन्तः, 'मारणतोषण' ४-१-३० इति ह्रस्वत्वं, ज्ञपयितुमिच्छति 'तुमर्हात्' ३-४-२१ इति सन् । **ईप्सतीति**-आप्लृण् लम्भने इत्यस्य णिजभावेऽपि नित्यमिटि सादिस्सन् नास्ति ।

ऋध ईत् ।। ४. १. १७ ।।

ऋधः सकारादौ सनि परे ईर्त् इत्यादेशो भवति न चास्य द्विः । ईर्त्सति । सीत्येव ? अर्दिधिषति ।। १७ ।।

न्या० स०–ऋध ईर्त्–ईर्त्सतीति–'इवृध' ४-४-४७ इति वेट् ।

दम्भो धिप् धीप् ।। ४. १. १८ ।।

दम्भेः सकारादौ सनि परे धिप् धीप् इत्येतावादेशौ भवतो न चास्य द्विः । धिप्सति, धीप्सति । सीत्येव,–दिदम्भिषति ।। १८ ।।

अव्याप्यस्य मुचेर्मोग्वा ।। ४. १. १९ ।।

मुचेरकर्मकस्य सकारादौ सनि परे मोक् इत्ययमादेशो वा भवति न चास्य द्विः । मोक्षति मुमुक्षति चैत्रः, मोक्षते मुमुक्षते वा वत्सः स्वयमेव । अव्याप्यस्येति किम् ? मुमुक्षति वत्सं चैत्रः ।। १९ ।।

न्या० स०–अव्याप्यस्य–न विद्यते व्याप्यं यस्य, यदा नामनाम्नेत्याश्रयणादविद्यमानं व्याप्यं यस्य तदा मयुरव्यंसकादित्वात् मध्यपदलोपः । **मोक्षते वत्स इति**–वाक्यकाले मुमुक्षति वत्सं चैत्रः स एवं विवक्षते, नाऽहं मुमुक्षामि 'भूषार्थ' ३-४-९३ इति क्याऽभावः ।

मिमीमादामित्स्वरस्य ।। ४. १. २० ।।

मिमीमा इत्येतेषां दासंज्ञकानां च स्वरस्य सकारादौ सनि परे इदादेशो भवति, न चैषां द्विः । डुमिगट्–मित्सति, मित्सते शत्रुम्, मीति मींङ्च्मींग्शोर्ग्रहणम्–मित्सते, प्रमित्सति, प्रमित्सते, शत्रून्, मेति मांक्मांङ्क्मेंङां ग्रहणम्–मित्सति, प्रमित्सते भूमिम्, अपमित्सते यवान् । मातेर्नेच्छन्त्येके–मिमासति । दासंज्ञ,–दाम्,–प्रदित्सति दानम्, देङ्–दित्सते पुत्रम्, डुदांग्क्–दित्सति दित्सते वस्त्रम्, दोंच् दित्सति दण्डम्, ट्धें धित्सति स्तनम्, डुधांग्क् धित्सतिधित्सते श्रुतम् । बहुवचनं व्याप्त्यर्थं, ❀ तेन 'निरनुबन्धग्रहणे न सानुबन्धस्य' ❀ इत्यादि नाश्रीयते । स्वरस्येति किम् ? सर्वस्य माभूत् ।। २० ।।

न्या० स०–मिमीमादा०–'मिग्मीगोऽखलचलि' ४-२-८इत्यात्वे माद्वारेणैव सिध्यति किं मिग्रहणेनेति ? सत्यं, 'नामिनोऽनिट्' ४-३-३३ इति सनः कित्वादात्वं न प्राप्नोति । **मीति मींङ्च्मींग्शोरिति**–मीण् गताविति यौजादिकस्यापि ग्रहः, यतः मींङ्च्मींग्शावेव गतौ वर्त्तमानौ युजादी तेन ❀ निरनुबन्धग्रहणे ❀ इति यद्यऽयं न्यायः स्यात्तदा मांक् माने इत्यस्य मतान्तरेण ककारानुस्वारयोरनित्यत्वात् निरनुबन्धग्रहणे सति मांङ्क् इत्येतस्य ग्रहणं न स्यात्, आदिशब्दात् एकानुबन्धग्रहणे न द्व्यनुबन्धकस्य लक्षणप्रतिपदोक्तयोरित्यादयोऽपि नाश्रीयन्ते तेन डुमिगट्मेंङोरपि ग्रहणम् ।

रभ-लभ-शक-पत-पदामिः ।। ४. १. २१ ।।

एषां स्वरस्य सकारादौ सनि परे इकार आदेशो भवति न चैषां द्विः । रभ्,–आरि-

प्सते, लभ् लिप्सते, शक्-शिक्षति, पत् पित्सति, पद्-पित्सते । सोत्येव,-पिपतिषति । बहुवचनं शकीच्शक्लृटोरुभयोरपि परिग्रहार्थम् ।। २१ ।।

न्या० स० रभलभ०-शिक्षतीति-शकीच् शिक्षते इत्यपि । बहुवचनमिति-अन्यथा निरनुबन्धत्वाद्दैवादिकस्यैव स्यात् ।

राधेर्वधे ।। ४. १. २२ ।।

राधेर्हिंसायां वर्तमानस्य सकारादौ सनि परे स्वरस्येकारादेशो भवति, न चास्य द्विः । प्रतिरित्सति, अपरित्सति । वध इति किम् ? आरिरात्सति गुरून् ।। २२ ।।

अवित्परोक्षा-सेट्थवोरेः ।। ४. १. २३ ।।

राधेर्हिंसायां वर्तमानस्य अविति परोक्षायां थवि च सेटि स्वरस्यैकारो भवति, न चास्य द्विर्भवति । रेधतुः, रेधुः, रेधिथ, अपरेधतुः, अपरेधुः, अपरेधिथ, प्रतिरेधतुः, प्रतिरेधुः, प्रतिरेधिथ, परिरेधतुः, परिरेधुः, परिरेधिथ, अपरेधिव, अपरेधिम । अविदिति किम् ? अपरराध । परोक्षासेट्थवोरिति किम् ? अपराध्यते । वध इत्येव,-आरराधतुः । आरराधिथ ।।२३।।

अनादेशादेरेकव्यञ्जनमध्येऽतः ।। ४. १. २४ ।।

अवित्परोक्षासेट्थवोः परयोर्योऽनादेशादिर्धातुस्तत्संबन्धिनः स्वरस्यातोऽकाररूपस्यासहायव्यञ्जनयोर्मध्ये वर्तमानस्य स्थाने एकारादेशो भवति, न च धातुर्द्विर्भवति । पेचतुः, पेचुः, पेचिवान्, पेचुषी, पेचिव, पेचिम, पेचिथ, रेणतु:, रेणिथ । अविदित्येव ? अहं पपच । परोक्षायामित्येव,-पच्यते । सेट्थवीत्येव,-पपक्थ । अनादेशादेरिति किम् ? बभणतुः, बभणिथ, चकणतुः, चकणिथ । एकव्यञ्जनमध्ये इति किम् ? ततक्षतुः, ततक्षिथ । अत इति किम् ? दिदिवतुः । दिदेविथ । अवित्परोक्षासेट्थवस्यामादेशादित्वस्य विशेषणं किम् ? इहापि यथा स्यात् । णम्-नेमतुः, नेमुः, नेमिथ, सेहे, सेहाते सेहिरे, षुजादौ-षहण् सेहिथ । अत्र हि अनिमित्ते नत्वसत्वे न तु परोक्षाथवनिमित्ते इति ।।२४।।

न्या० स०-अनादेशा०-एके च असहाये च ते व्यञ्जने च तयोर्मध्यं तस्मिन् । अहं पपचेति-अन्त्यणवो वा णित्वादऽकारसंभवे द्व्यङ्गवैकल्याऽभाव इत्यन्तणवि दर्शितम्, ममश्वानित्यत्रैकव्यञ्जनस्य लाक्षणिकत्वान्न भवति ।

तॄ-त्रप-फल-भजाम् ।। ४. १. २५ ।।

एषामवित्परोक्षासेट्थवोः स्वरस्यात एत्वं भवति, न चैते द्विर्भवन्ति । तेरतुः, तेरिथ, त्रेपे, त्रेपाते, त्रेपिरे, फेलतुः, फेलिथ, भेजतुः, भेजिथ । अविदित्येव,-अहं ततर, सेटीत्येव,-बभक्थ । अत इत्येव,-तितीर्वान् । तरतेरतो गुणरूपत्वात् त्रपेरनेकव्यञ्जनमध्यत्वात् फलभजोरादेशादित्वात् न प्राप्नोतीति वचनम् । बहुवचनं तु फलञिफला इत्युभयोरपि ग्रहणार्थम् ।।२५।।

न्या० स०-तॄत्रप०-तेरतुरिति-प्राक्तु स्वरे ४-१-१ इति भणनात् पूर्वं द्वित्वे 'स्कृच्छ्रतोकि' ४-३-८ इति गुणेऽस्य एत्वे न च द्विरिति वचनात् कृतमपि द्वित्वं निवर्त्तते, एवं जॄधातोरपि ज्ञेयं, गुणरूपत्वात् 'न शस' ४-१-३० इति निषेधः स्यादित्याह-तरतेरित्यादि। बहुवचनमिति-अन्यथा निरनुबन्धग्रहण इत्यनेन त्रिफला इत्यस्य न स्यात्।

जॄ-भ्रम-वम-त्रस-फण-स्यम-स्वन-राज-भ्राज-भ्रास-भ्लासो वा। ४.१.२६

एषामवित्परोक्षासेट्थवोः स्वरस्यात एत्वं वा भवति, न चैते द्विर्भवन्ति। जेरतुः, जजरतुः, जेरिथ, जजरिथ, भ्रेमतु, बभ्रमतुः, भ्रेमिथ, बभ्रमिथ, वेमतु, ववमतुः, वेमिथ, ववमिथ। 'उद्वेमुस्तत्र रुधिरं रथिनोऽन्योन्यवीक्षिताः'। वमेर्नेच्छन्त्यन्ये त्रेसतुः, तत्रसतुः, त्रेसिथ, तत्रसिथ फेणतुः, पफणतुः, फेणिथ, पफणिथ, स्येमतुः, सस्यमतुः, स्येमिथ, सस्यमिथ, स्वेनतुः, सस्वनतुः, स्वेनिथ, सस्वनिथ, रेजतुः, रराजतुः, रेजिथ, रराजिथ, भ्रेजे, बभ्राजे, भ्रेसे, बभ्रासे, भ्लेसे, बभ्लासे। अवित्येव,-अहं जजर ॥२६॥

न्या० स०-जॄभ्रमवम०-राजसहचरितभ्राजेरेव ग्रहणमिति पारायणे निर्णीतम्।

श्रन्थ-ग्रन्थो न्लुक् च ॥ ४. १. २७ ॥

अनयोः स्वरस्यावित्परोक्षासेट्थवोरेकारादेशो वा भवति, तत्संनियोगे च नकारस्य लुक्,-न चैतौ द्विर्भवतः। श्रेथतुः, शश्रन्थतुः, श्रेथिथ, शश्रन्थिथ, ग्रेथतुः, जग्रन्थतुः, ग्रेथिथ, जग्रन्थिथ। अवित्येव,- शश्रन्थ, जग्रन्थ ॥ २७ ॥

न्या० स०-श्रन्थग्रन्थ-श्रथुङ् ग्रथुङङ् इत्यनयोर्लाक्षणिकत्वान्न भवति, प्रकृति-प्रत्ययोर्वचनभेदान्न यथासंख्यम्'।

दम्भः ॥ ४. १. २८ ॥

दम्भेरवित्परोक्षायां स्वरस्य एकारादेशो भवति,-तत्संनियोगे नकारस्य लुक्, न चायं द्विर्भवति। देभतुः, देभुः। अवित्येव,—ददम्भ ॥२८॥

न्या० स० थेवा-वर्तमाना थप्रत्यये स्वादेः श्नुना व्यवधानात् प्राप्त्यभाव इति परोक्षाया एव थप्रत्ययग्रहणम्।

थे वा ॥ ४. १. २९ ॥

दम्भेः स्वरस्य थे परे एकारादेशो वा भवति, तत्संनियोगे च नकारस्य लुक्, न चायं द्विर्भवति। देभिथ, ददम्भिथ।

अन्ये तु श्रन्थिग्रन्थिदम्भीनां नलोपे सति नित्यमेत्वमिच्छन्ति नलोपं त्ववित्परोक्षायां नित्यमेव, तेन श्रेथतुः, ग्रेथतुः, देभतुः, नलोपाभावे तु शश्रन्थिथ, जग्रन्थिथ ददम्भिथेत्येव भवति। अन्यस्त्ववित्परोक्षासेट्थवोर्नित्यमेत्वमिच्छति नलोपं त्ववित्परोक्षायामेव, तेन श्रेथतुः ग्रेथतुः देभतुः नलोपाभावेऽपि श्रेन्थिथ, ग्रेन्थिथ, देम्भिथेत्येवेच्छति ।२९।

न शस-दद-वादि-गुणिनः ॥ ४. १. ३० ॥

शसिदद्योर्वकारादीनां गुणिनां च धातूनां स्वरस्यैत्वं न भवति। विशशसतुः, विशशसिथ, दददे, दददाते, ददादिरे, ववले, ववलाते, ववलिरे, ववणतुः, ववणिथ, विशशरतुः, विशशरिथ, बिभयिथ, लुलविथ ॥३०॥

हौ दः ॥ ४. १. ३१ ॥

दासंज्ञकस्य धातोर्हौ परेऽन्तस्यैकारादेशो भवति, न चायं द्विः। देहि, धेहि। न च द्विरिति वचनात्कृतमपि द्वित्वं निवर्तते, तेन यङ्लुप्यपि देहीति भवति। हाविति व्यक्तिनिर्देशादिह न भवति,-दत्तात्, धत्तात् ॥३१॥

न्या० स०-हौदः-यङ्लुप्यपीति-प्रत्यासत्तेर्न्यायात् यस्मिन्नेव प्रत्यये द्वित्वमेत्वं च प्राप्तं तस्मिन्नेव प्रत्यये, न च द्विरिति प्रवर्त्तते, अत्र च यङ्निमित्तकं द्वित्वं कथं निवर्त्यते? उच्यते व्यक्त्या प्रवृत्तेः।

देर्दिगिः परोक्षायाम् ॥ ४. १. ३२ ॥

देङः परोक्षायां दिगिरित्ययमादेशो भवति, न चायं द्विः। दिग्ये, दिग्याते, दिग्यिरे, अवदिग्ये, अवदिग्याते, अवदिग्यिरे ॥ ३२ ॥

ङे पिब पीप्य् ॥ ४. १. ३३ ॥

ण्यन्तस्य पिबतेर्ङे परे पीप्य् इत्ययमादेशो भवति न चायं द्विः। अपीप्यत्, अपीप्यताम्, अपीप्यन्। पिबतिनिर्देशात्पातेर्न भवति,-अपीपलत्। लुप्ततिव्निर्देशाद्यङ्लुप्यपि न भवति, अपापयत्। ङ इति किम्? पाययति ॥ ३३ ॥

न्या० स०-ङे पिबः-लुप्ततिव्निर्देशादिति-यतः सूत्रे पिबत्येकदेशः पिबऽनुचक्रे।

अङे हिहनो हो घः पूर्वात् ॥ ४. १. ३४ ॥

हिहन् इत्येतयोर्धात्वोर्ङवर्जिते प्रत्यये परे द्वित्वे सति पूर्वस्मात् परस्य हस्य घो भवति। प्रजिघाय, प्रजिघीषति, प्रजेघीयते। प्रजेघेति। हन्,-जिघांसति, जंघन्यते, जङ्घनीति। अङ इति किम्? प्राजीहयत्। अङे द्विर्वचननिमित्तप्रत्ययेऽनन्तरस्य विज्ञानादिह न भवति, हननीयितुमिच्छति-जिहननीयिषति। ङपर्युदासात्तु णिव्यवधाने भवति,-प्रजिघायियिषति। पूर्वादिति वचनान्न च द्विरिति निवृत्तम् ॥३४॥

न्या० स०- अङे हिहनो-जंघन्यते इति-कुटिलं हन्ति 'गत्यर्थात्' ३-४-११ इति यङ, यदि हिंसार्थस्तदा 'हनो घ्नोर्वधे' ४-३-९९ इति स्यात्। प्रजिघायिषतीति-प्रहिण्वन्तं प्रयुङ्क्ते णिग् वृद्धिः, प्रहाययितुमिच्छति सन्।

जेर्गिः सन्परोक्षयोः ॥ ४. १. ३५ ॥

जयतेः सन्परोक्षयोर्द्वित्वे सति पूर्वस्मात्परस्य गिरादेशो भवति । जिगीषति, विजिगीषते, जिगाय, विजिग्ये । सन्परोक्षयोरिति किम् ? जेजीयते । जिनातेर्जिरूपस्य लाक्षणिकत्वाज्जिज्यतुः ॥३५॥

न्या० स०–जेर्गिः सन्–पूर्वस्मादिति–यदि पूर्वादित्यधिकारो न स्यात्तदा द्वित्व-सहितस्यापि धातोरादेशः स्यात्, यद्वा पूर्वस्या भक्तेः स्यात्, न च वाच्यं कृतेऽपि 'गहोर्जः' ४-१-४० इति स्याद्विधानसामर्थ्यान्न भवतीत्याशङ्का स्यात् एवमुत्तरत्रापि ।

चेः किर्वा ॥ ४. १. ३६ ॥

चिनोतेः सन्परोक्षयोर्द्वित्वे सति पूर्वस्मात्परस्य किरादेशो वा भवति । चिकीषति, चिचीषति, चिकाय, चिचाय, चिक्ये, चिच्ये । सन्परोक्षयोरित्येव,-चेचीयते ॥३६॥

न्या० स० चेः किर्वा–चिकीषतीति–'स्वरहन्' ४-१-१०४ इति दीर्घत्वे द्वित्वे किरूपादेशे पुनः 'स्वरहन्' ४-१-१०४ इति दीर्घत्वं यावत्संभव इति न्यायात् ।

पूर्वस्यास्वे स्वरे योरियुव् ॥ ४. १. ३७ ॥

धातोर्द्वित्वे सति यः पूर्वस्तस्य संबन्धिनो योरिकारस्योकारस्य चास्वे स्वरे परे आसन्नौ इय् उव् इत्येतावादेशौ भवतः । इयेष, उवोष, इयर्ति, इयृयात् । अर्तेर्यङ्लुपि द्वित्वे पूर्वस्याकारे 'रिरौ च लुपि' (४-१-५६) इत्यनेन रिरीइत्यागमे तदिवर्णस्य चेय्भावे सति अरियर्ति, अरियरीति, एके त्वत्रेयं नेच्छन्ति, अर्यर्ति अर्यरीतीति । तन्मतसंग्रहार्थं पूर्वस्येति योः समानाधिकरणं विशेषणं तेन इकारोकारमात्रस्यैव पूर्वस्येयुवौ भवतः । अस्व इति किम् ? ईषतुः, ऊषतुः । स्वर इति किम् ? पिपक्षति, पुपूषति, इयाज, उवाप ॥३७॥

न्या० स०–पूर्वस्यास्वे–इयेषेति–अस्वे स्वरे इति भणनात् गुणे कृते इयादेशः, नन्वियादेशेऽपि विधेये 'स्वरस्य परे' ७-४-११० इत्यनेन गुणस्य स्थानिवद्भावादियुवौ न प्राप्नुतः ? सत्यं, परे इति सप्तमी सप्तम्या च निर्दिष्टे पूर्वस्यानन्तरस्यैव, अत्र तु पकारेण व्यवधानमिति न स्थानित्वं, अस्वे इति नञा निर्दिष्टमनित्यमिति वा, यद्वा स्वे स्वर इति व्याप्तेः । ननु तथापि न प्राप्नोति ❀ असिद्धं बहिरङ्गम् ❀ इति न्यायेन गुणस्यासिद्धत्वात् ? न, न स्वरानन्तर्ये इति न्यायादयं न्यायो नोपतिष्ठते ।

योः समानाधिकरणमिति–योः किंविशिष्टस्य पूर्वस्य न तु पूर्वसंबन्धिनः, यदि इकार-ईकार-उकाराः स्वातन्त्र्येण पूर्वे भवेयुरत्र तु रिरीत्यादेरधिकस्य संबन्धिनः ।

ऋतोऽत् ॥ ४. १. ३८ ॥

धातोर्द्वित्वे सति पूर्वस्य ऋतोऽद्भवति । चकार, ववृधे ॥३८॥

ह्रस्वः ॥ ४. १. ३९ ॥

धातोर्द्वित्वे सति पूर्वस्य स्वरान्तस्य ह्रस्वो भवति । पपौ, निनाय, लुलाव, कृ, चकार, सिसेके, लुलोके, तुत्रौके ॥३९॥

गहोर्जः ॥ ४. १. ४० ॥

धातोर्द्वित्वे सति पूर्वयोर्गकारहकारयोर्जकारो भवति । जगाम, जघास, हृ,-जह्रौ, जिह्रीर्षति, जुहोति, जहाति ॥४०॥

द्युतेरिः ॥ ४. १. ४१ ॥

द्युतेर्द्वित्वे सति पूर्वस्योत इर्भवति । विद्युते, अदिद्युतत्, देद्युत्यते, विदिद्युतिषते, विदिद्योतिषते ॥४१॥

न्या० स०--द्युतेरिः-विदिद्युतिषते-इत्यत्र 'वौ व्यञ्जनादेः' ४-३-२५ इति सनो वा कित्त्वम् ।

द्वितीयतुर्ययोः पूर्वौ ॥ ४. १. ४२ ॥

धातोर्द्वित्वे सति पूर्वस्य द्वितीयतुर्ययोः स्थाने यथासंख्यं पूर्वावाद्यतृतीयावासन्नौ भवतः । चखान, चिच्छेद, टिठकारयिषति, तस्थौ, पफाल, जुघोष, जझाम, डुढौके, दधौ, बभार । द्वितीयतुर्ययोरिति किम् ? पपाच ॥४२॥

न्या० स०--द्वितीय०-पपाचेति-अत्र सामीप्यात् पूर्वो नकारः स्यात् ।

तिर्वा ष्ठिवः ॥ ४. १. ४३ ॥

ष्ठिवेर्द्वित्वे सति पूर्वस्य द्वितीयस्य तिरादेशो वा भवति । तिष्ठेव, टिष्ठेव, तेष्ठीव्यते, टेष्ठीव्यते । तेरिकारोऽत्रोच्चारणार्थः तेन 'इवृध'-(४-४-४७)इत्यादिना वेटि तुष्ठ्यूषति टुष्ठ्यूषति । पूर्वस्येत्यादेशविधानमेव ज्ञापयति ष्ठिवेः षकारः ठकारपरः ष्ठाष्ट्यै-प्रभृतीनां तु तवर्गपरः तेन तस्थौ तष्ट्यौ इत्यादि भवति । केचित्तु 'स्वरेभ्यः' (१-३-३०) इति द्विरुक्तस्य छकारस्य द्वित्वे सति पूर्वस्य त्यादेशमिच्छन्ति । तन्मते उच्छ्रैत्-उतिच्छिषति, ऋच्छत्-ऋतिच्छिषतीति ॥४३॥

न्या स०--तिर्वा ष्ठिवः-ष्ठिवो भ्वादेर्दिवादेश्च ग्रहः, ठकारपर इति-यद्यत्र षकारः थकारपरः स्यात् तदाऽनेन तविधानं न कुर्यात् यतः 'अघोषे शिटः' ४-१-४५ इति षलोपे ※ निमित्ताभावे ※ इति न्यायेन ठस्य थे 'द्वितीयतुर्ययोः' ४-१-४२ इति थकारस्य च ते तकारः सिद्ध एव, पक्षे टकारविधानार्थं तु टिर्वा ष्ठिव इति सूत्रं कुर्यादित्यर्थः । तष्ट्याविति-अत्र 'अघोषे शिटः' ४-१-४५ इति षलुपि निमित्ताभाव इति टस्य तकारः ।

व्यञ्जनस्यानादेर्लुक् ॥ ४. १. ४४ ॥

धातोर्द्वित्वे सति पूर्वस्य व्यञ्जनस्यानादेर्लुग् भवति । जग्ले, मम्ले, पपाच, आटतुः,

ऋच्छत् ऋचिच्छिषति, उच्छैत् उचिच्छिषति, अटाठ्यते । व्यञ्जनस्येति किम् ? स्वरस्य मा भूत् । अनादेरिति किम् ? आदेर्माभूत् - पपाच ॥४४॥

न्या० स०-**व्यञ्जनस्या०-ऋतिच्छिषतीति**-अनेनाधस्तनच्छस्य लुकि निमित्ताभाव इति ऊर्ध्वस्थचस्य छः ततो 'द्वितीयतुर्ययोः' ४-१-४२ इत्यनेन छस्य चः ।

अघोषे शिटः ॥ ४. १. ४५ ॥

धातोर्द्वित्वे सति पूर्वस्य शिटस्तत्संबन्धिन्येवाघोषे परे लुग् भवति, अनादिलुगपवादोऽयम् । चश्चोत, टिष्टेव, चस्कन्द । अघोषे इति किम् ? सस्नौ । शिट इति किम् ? पप्सौ ॥४५॥

न्या० स०-**अघोषे शिटः-तत्संबन्धिन्येवेति**-अत्र तत्संबन्धिव्याख्याऽभावे सिद्धे सत्यारम्भ इति न्यायात् नियमार्थमेतदित्याशङ्का स्यात्, अघोष एव शिटः ततश्चनीकस्यते इत्यादिष्वेव स्यात्, न तु लालस्ये इत्यादिषु परत्राऽघोषाभावात् । चङ्क्रम्यते इत्यत्र तु अनुस्वारस्य शिट्त्वेऽपि एवकारान्न लुक्, अत्र हि ह्यानन्तर्येण संबन्धमात्रं न तत्संबन्ध्येव म्वागमस्य पूर्वभक्तत्वात् ।

कङश्चञ् ॥ ४. १. ४६ ॥

धातोर्द्वित्वे सति पूर्वयोः ककारङकारयोर्यथासंख्यं चकारञकारौ भवतः । चकार, चखान, ञुङुवे, ञिङ्कारीयिषति ॥४६॥

न कवतेर्यङः ॥ ४. १. ४७ ॥

यङन्तस्य कवतेर्द्वित्वे सति पूर्वस्य कस्य चो न भवति । कोकूयते खरः, शर्वनिर्देशः कौतिकुवत्योर्निवृत्त्यर्थः । चोकूयते, कवतिरव्यक्ते शब्दे, कुवतिरार्तस्वरे, कौतिः शब्दमात्रे, एषां पाठे शब्दमात्रार्थत्वेऽपि गत्यर्थत्वाविशेषे धावतिगच्छत्यादीनामिवार्थभेदः । यङ्लुपि च निषेधो न भवति । चोकवीति, अन्ये तु यङ्लुप्यपि प्रतिषेधयन्ति, कोकवीति । यङ इति किम् ? चुकुवे ॥४७॥

न्या० स०-**न कवते-प्रतिषेधयन्तीति**-प्रतिषेधं व्याचक्षते 'णिज्बहुलम्' ३-४-४२ ।

आगुणावन्यादेः ॥ ४. १. ४८ ॥

धातोर्यङन्तस्य द्वित्वे सति पूर्वस्यान्यादेर्नीमुरीरिरन्तवर्जितस्याकारो गुणश्चासन्नौ भवतः । पापच्यते, अटाटच्यते, चेचीयते, लोलूयते, ह्वांक्-जेह्रीयते, पापचीति, बेभिदीति, लोलवीति । नैतावाकारगुणौ यङ्निमित्ताविति यङ्लुप्यपि भवतः । अन्यादेरिति किम् ? वनीवच्यते, यंयम्यते, नरीनृत्यते, नरिनर्ति, नर्नर्त्ति । ननु चात्र अपवादत्वान्न्यादय एव बाधका भविष्यन्ति किं न्यादिवर्जनेन ? सत्यम्, द्वित्वे सति पूर्वस्य विकारेषु बाधको न बाधक इति ज्ञापनार्थम्, तेन अचीकरदित्यत्र 'लघोर्दीर्घोऽस्वरादेः' (४-१-६४) इति सन्वत्कार्यं न बाध्यते ॥४८॥

न्या० स०-आगुणा०-न भविष्यन्ति न्यादयो यस्य असावऽन्यादिः तस्य ।

अपवादत्वान्न्यादय एवेति-न्यादीनां तु संबन्धिनोऽन्तस्य विधानसामर्थ्यान्न प्राप्तिः, अत पूर्वस्यैव प्राप्नुत आगुणौ । सन्वत्कार्यमिति-सन्वत्कार्यबाधे त्वऽचाकरदित्यनिष्टं स्यात् ।

न हाको लुपि ॥ ४. १. ४९ ॥

ओहांक् त्यागे इत्यस्य द्वित्वे सति पूर्वस्य यङो लुप्याकारो न भवति । जहाति, जहेति । लुपीति किम् ? जेहीयते ।।४९।।

वञ्च-स्रन्स-ध्वन्स-भ्रंश-कस-पत-पद-स्कन्दोऽन्तो नीः ॥ ४.१.५० ॥

एषां यङन्तानां द्वित्वे सति पूर्वस्य नीरन्तोऽवयवो भवति । वनीवच्यते, वनीवञ्चीति, सनीस्रस्यते, सनीस्रंसीति, दनीध्वस्यते, दनीध्वंसीति, बनीभ्रश्यते, बनीभ्रंशीति, चनीकस्यते, चनीकसीति, पनीपत्यते, पनीपतीति, पनीपद्यते, पनीपदीति, चनीस्कद्यते, चनीस्कन्दीति । दीर्घविधानाद्ध्रस्वो न भवति ।।५०।।

न्या० स०-वञ्चस्रंस०-च्युतादिध्वंससाहचर्यात् स्रंसूङ् इत्यस्यैव च्युतादिस्रंसो ग्रहः, स्रंसूङ् प्रमादे इत्यस्य तु सास्रस्यत इति भवति । भ्रंशिरपि भ्रंशूङिति भ्वादिरेव गृह्यते भ्वादिध्वंस् साहचर्यात् । भृशुच् भ्रंशुच् इत्यस्य तु बाभ्रश्यत इत्येव ।

मुरतोऽनुनासिकस्य ॥ ४. १. ५१ ॥

अकारात्परो योऽनुनासिकस्तदन्तस्य धातोर्यङन्तस्य द्वित्वे सति पूर्वस्य मुरन्तो भवति । बम्भण्यते, बम्भणीति, तन्तन्यते, तन्तनीति, जङ्गम्यते, जङ्गमीति । यलवानामनुनासिकत्वे तन्तय्यँते, तन्तयँ, चंचल्यँते, चञ्चलँ, मंमव्ँयते, मंमवँ । अननुनासिकत्वे, तातय्यते, तातयः, चाचल्यते, चाचलः, मामव्यते, मामवः । अत इति किम् ? तेतिम्यते, जोघुण्यते, बाभाम्यते । अनुनासिकस्येति किम् ? पापच्यते ।।५१।।

न्या० स०-मुरतो०-बाभाम्यते इति-भामि क्रोधे इत्यस्य रूपम्, ये त्वनुनासिकान्तस्य धातोर्द्वित्वे सति पूर्वस्याऽत इति विशेषणं मन्यन्ते तन्मते बंभाम्यत इति तन्मतसंग्रहायाऽत इति षष्ठी व्याख्येया ।

जप-जभ-दह-दश-भञ्ज-पशः ॥ ४. १. ५२ ॥

एषां यङन्तानां द्वित्वे सति पूर्वस्य मुरन्तो भवति । जंजप्यते, जंजपीति, जंजभ्यते, जंजभीति, दंदह्यते, दंदहीति, दंदश्यते, दंदशीति, बम्भज्यते, बम्भञ्जीति, पशिति सौत्रो धातुः, पंपश्यते, पंपशीति । दशिति लुप्तनकारनिर्देशाद् यङो लुप्यपि दंशेर्नलोपो भवति । अन्यस्तु नलोपं नेच्छति तेन दंदंशीति ।।५२।।

न्या० स०-जपजभ०-पस इति दन्त्यान्तं न्यासकारादयो मेनिरे, भोजस्तु तालव्या-

न्तम् । **जंजभीति**-आगमशासनमनित्यमिति 'जभः स्वरे' ४-४-१०० इति नागमाभावः । **लुप्तनकारेति**-'गॄलुप' ३-४-१२ इत्यत्रापि ज्ञापितं परं ❀ द्विर्बद्धं सुबद्धं भवति ❀ इत्यत्रापि ज्ञापितम् ।

चरफलाम् ॥ ४. १. ५३ ॥

चरफलञिफला इत्येषां यङन्तानां द्वित्वे सति पूर्वस्य मुरन्तो भवति । चंचूर्यते, चञ्चुरीति, पम्फुल्यते, पम्फुलीति । बहुवचनं ञिफलाविशरणे इत्यस्यापि परिग्रहार्थम् ।५३।

ति चोपान्त्यातोऽनोदुः ॥ ४. १. ५४ ॥

यङन्तानां चरफलां तकारादौ च प्रत्यये उपान्त्यस्यात उरादेशो भवति 'स चानोत्' तस्य गुणो न भवति । चंचूर्यते, चंचुरीति, पंफुल्यते, पंफुलीति, चूर्त्तिः, ब्रह्मचूर्णिः, प्रफुल्लिः, प्रफुल्लः, प्रफुल्लवान् । अत इति किम् ? चारयतेः फालयतेश्च क्विप्, तत आचारे क्विप्, ततो यङ् चंचार्यते पंफाल्यते । अत्रैकदेशविकृतस्यानन्यत्वात्प्राप्नोति । अनोदिति किम् ? चंचूर्ति, पंफुल्ति-अत्र गुणो न भवति ।।५४।।

न्या० स०-तिचोपान्त्या०-यङन्तानामिति- द्वित्वे सति ज्ञातव्यं न पूर्वस्य उपान्त्याऽकारस्य ग्रहणात् । **चञ्चूर्यते इति**-द्वित्वे सतीत्यधिकारान्न पूर्वमुत्वम् । चूर्त्तिरित्यत्र तु द्वित्वाऽसंभवात् द्वित्वाऽभावेऽपीति दृश्यम् । **चूर्त्तिरिति**-चरणं 'समज' ५-१-९९ इति समावेशार्थत्वात् 'श्वादिभ्यः' ५-१-९२ क्तिः । **प्रफुल्ल इति**-ञिफलेत्यस्य यदा फलति स्मेति वाक्ये क्तस्तदा 'आदितः' ४-४-७१ इति नित्यमिडऽभावः, फलितुमारब्ध इति आरम्भे क्ते तु 'नवा भावारम्भे' ४-४-७२ इति वेट्, फलनिष्पत्तावित्यस्य तु नित्यमिट् । **चञ्चार्यत इति**-चरन्तं प्रयुङ्क्ते णिग् वृद्धिः चारयतीति क्विप् 'णेरनिटि' ४-३-८३ चारिवाचरति 'कर्तुः क्विप्' ३-४-२५ गर्हितं चारति एवं पंफाल्यते इति ।

ऋमतां रीः ॥ ४. १. ५५ ॥

ऋकारवतां धातूनां यङन्तानां द्वित्वे सति पूर्वस्य रीरन्तो भवति । नृतैच्-नरीनृत्यते, दृशृ-दरीदृश्यते, वृतूङ् वरीवृत्यते, वृधूङ् वरीवृध्यते, कृपौङ्-चलीक्लृप्यते, धृज् दरीधृज्यते, प्रच्छंत्-परीपृच्छयते, ओव्रश्चौत् वरीवृश्च्यते, ग्रहीश्-जरीगृह्यते, प्रच्छिव्रश्चिग्रहीणामृकारे कृते ऋमत्त्वम् । ऋमतामिति किम् ? चेक्रीयते, जेह्रीयते । कृग्हृगो रीभावे कृते द्वित्वमिति ऋमत्त्वं नास्ति, बहुवचननिर्देशो लाक्षणिकपरिग्रहार्थः ।।५५।।

न्या० स०-ऋमतां-चलीक्लृप्यते-द्वित्वात् प्रागेव 'ऋर लृलम्' २-३-९९ इत्यस्य प्रवृत्तौ ततो द्वित्वे ❀ ऋकारोपदिष्टम् ❀ इति न्यायेन लृकारस्याप्यात् । **दरीधृज्यते इति**-इकारोपान्त्यमिति केचित्तन्मते भृशं ध्रिजति देध्रिज्यते इति । **चेक्रीयते इति**-'ऋतो रीः' ४-३-१०९ ततो द्वित्वम् ।

रिरौ च लुपि ॥ ४. १. ५६ ॥

ऋमतां धातूनां यङो लुपि द्वित्वे सति पूर्वस्य रिरौ री चान्तो भवति । कृ-चरिकर्ति, चर्कर्ति, चरीकर्ति, हृ-जरिहर्ति, जर्हर्ति, जरीहर्ति, नरिनृतीति, नरिनर्ति, नर्नृतीति, नर्नर्ति, नरीनृतीति, नरीनर्ति, वरिवृश्चीति, वरिवृष्टि, वर्वृश्चीति, वर्वृष्टि, वरीवृश्चीति, वरीवृष्टि, चलिक्लृपीति, चलिकल्प्ति, चल्क्लृपीति, चल्कल्प्ति, चलीक्लृपीति, चलीकल्प्ति । लृपीति किम् ? नरीनृत्यते । ऋमतामित्येव,-कॄ-चाकरीति, चाकर्ति, चाकीर्तः, चाकिरति, गॄ,-जागल्ति, तॄ-तार्तति ॥५६॥

न्या० स०-रिरौ च०-वरीवृष्टीति-'संयोगस्यादौ' २-१-८८ इति शलोपे 'यजसृज' २-१-८७ इति चस्य षः, परे गुणे विधेये शलोपश्चाऽसन् इति गुणाभावः । जागल्तीति-अय्वृल्लेनदित्युक्तेर्यङ्लुप्यपि 'ग्रो यङि' २-३-१०१ इति लत्वम् ।

निजां शित्येत् ॥ ४. १. ५७ ॥

निजिविजिविषां त्रयाणां शिति द्वित्वे सति पूर्वस्यैकारादेशो भवति । नेनेक्ति, नेनिक्ते, नेनिज्यात्, नेनेक्तु, अनेनेक्, वेवेक्ति, वेविक्ते, वेवेष्टि, वेविष्टे । शितीति किम् ? निनेज, निनिक्षति, अनीनिजत् । निजामिति बहुवचनेन निजिविजिविषस्त्रय एवादादिपर्यन्तपठिता गृह्यन्ते ॥५७॥

पृ-भृ-माहा-ङामिः ॥ ४. १. ५८ ॥

पृऋभृ मा हाङ् इत्येतेषां शिति द्वित्वे सति पूर्वस्येकारो भवति । पिपर्ति, पिपृयात्, इयर्ति, इयृयात्, बिभर्ति, बिभृयात्, मिमीते, अमिमीत, जिहीते, अजिहीत । केचित्तु पॄ पालनपूरणयोरिति जुहोत्यादौ दीर्घत्वं पठन्ति, तन्मतसंग्रहार्थं पृश्च ऋश्चेति विग्रहोऽऽत एव च बहुवचनम् । पिपर्ति, पिपूर्तः पिपूर्यात् । हाङिति ङकारः किम् ? ओहांक्-जहाति । शितीत्येव,-पपार, आर, बभार, ममे, जहे । शितीति द्वित्वस्य विशेषणं किम् ? पर्पर्ति, परीपर्ति । अत्र यङन्तस्य द्वित्वं न शितीति न भवति ॥५८॥

न्या० स०- पॄभृमाहा-शिति द्वित्वे सति भणनात् पॄङ्त् इत्यस्य व्युदासः ।

सन्यस्य ॥ ४. १. ५९ ॥

धातोर्द्वित्वे सति पूर्वस्याकारस्य सनि परे इकारो भवति । पिपक्षति, पिपासति, प्रतीषिषति, जिह्वायकीयिषति । सनीति किम् ? पपाच । अस्येति किम् ? लुलूषति, पापचिषते ॥५९॥

ओर्जान्तस्थापवर्गेऽवर्णे ॥ ४. १. ६० ॥

धातोर्द्वित्वे सति पूर्वस्योकारान्तस्यावर्णान्ते जान्तस्थापवर्गे परतः सनि परे इकारोऽन्तादेशो भवति । जु सौत्रो धातुः-जिजावयिषति, यियविषति, यियावयिषति, रिरावयिषति, लिलावयिषति, पिपविषते, पिपावयिषति, बिभावयिषति, मिमावयिषति । ओरिति

किम् ? पापचिषते । जान्तस्थापवर्ग इति किम् ? अवतुतावयिषति, जुहावयिषति, शुशावयिषति । अवर्ण इति किम ? बुभूषति, जुज्यावयिषति । सनीत्येव,-लुलाव । ननु ण्यन्तानां वृद्ध्यवादेशयोः कृतयोर्द्वित्वे सति पूर्वस्योकारान्तता न संभवति, तत्र 'सन्यस्य' (४-१-५९) इत्यनेनैव सिद्धे किं गुरुणा सूत्रेण, एतावत्तु विधेयम् 'ओः पयेऽवर्णे' इति-पिपविषति, यियविषतीत्यत्र पूर्वस्योकारान्तस्येत्वं यथा स्यात् ? सत्यं, ❀ णौ यत्कृतं कार्यं तत्सर्वं स्थानिवद्भवति ❀ इति न्यायज्ञापनार्थं वचनम्, तेन पुस्फारयिषति चुक्षावयिषति, शुशावयिषतीत्याद्यपि सिद्धम् । एतच्च ज्ञापकं जान्तस्थापवर्गवत् अन्यत्राप्यवर्ण एव द्रष्टव्यम्, तेनाचिकीर्तदित्यत्रेकारवतो द्विर्वचनं सिद्धम् ॥६०॥

न्या० स०-ओर्जान्तस्था०-यियविषतीति-'यु'ग्‌श् योतुमिच्छति युक्‌मिश्रणे यवितुमिच्छति सन् 'इवृध' ४-४-४७ इट् । जुहावयिषतीति-ह्वयन्तं प्रयुङ्क्ते णिग् 'णौ ङसनि' ४-१-८८ इति णिविषयेऽपि य्वृत्, ह्वाययितुमिच्छति-हुंक् इत्यस्य तु हावयितुमिच्छति सन् । शुशावयिषतीति-श्वयन्तं प्रयुङ्क्ते णिग् 'श्वेर्वा' ४-१-८९ इति णिविषये य्वृत्, श्वाययितुमिच्छति । अन्यत्रापीति-ओर्जान्तस्थापवर्गेऽपीत्यर्थः, तेनाचिकीर्त्तदिति-ननु कीर्त्यादिशस्यानिमित्ते एव विधानात् निमित्तत्वाऽभावे कथं ❀ णौ यत्कृतं कार्यम् ❀ इति न्यायेन स्थानित्वप्राप्तिरिति ? सत्यं-यद्विना यन्न भवति तत्तस्य निमित्तमिति कृत्वा णिज् निमित्तं कीर्त्तेः, यतश्चुरादीनां णिच् अवश्यमेव भवति, ततो णिच्संनियोगे कीर्त्यादेशोऽतो निमित्तत्वम् ।

श्रु-स्रु-द्रु-प्रु-प्लु-च्योर्वा ॥ ४. १. ६१ ॥

एषां सनि परे द्वित्वे सति पूर्वस्योकारान्तस्यान्तस्थायामवर्णान्तायां परत इकारोऽन्तादेशो वा भवति । शिश्रावयिषति, शुश्रावयिषति, सिस्रावयिषति, सुस्रावयिषति, दिद्रावयिषति, दुद्रावयिषति, पिप्रावयिषति, पुप्रावयिषति, पिप्लावयिषति, पुप्लावयिषति, चिच्यावयिषति, चुच्यावयिषति । वचनादेकेनावर्णेनान्तस्थाया व्यवधानमाश्रीयते । अवर्ण इत्येव,-शुश्रूषते, सुस्रूषति । ओरित्येव,-सोस्रविषति ॥६१॥

न्या० स०-श्रुस्रुद्रु०-सोस्रविषतीति-कुटिलार्थे यङ्लुबन्तस्य सनि स्रवतेः प्रयोगः, यदि शृणोतेः स्यात्तदा सनि प्रत्यये परे 'श्रुवोऽनाङ्प्रतेः' ३-३-७१ इत्यात्मनेपदं स्यात्, अतः कारणात् शोधितम् ।

स्वपो णावुः ॥ ४. १. ६२ ॥

सनोति निवृत्तम्, स्वपेर्णौ सति द्वित्वे कृते पूर्वस्योकारोऽन्तादेशो भवति । सुष्वापयिषति, स्वपेर्णौ णके क्यनि णौ ङे च असुष्वापकीयत् । स्वापेः क्विबन्तात्कर्तुः क्विपि यङ्सोष्वाप्यते । अन्ये तु णौ सति क्विबनिमित्तानन्तर्य एवेच्छन्ति । स्वापकीयतेः सनि सिष्वापकीयिषति । णाविति किम् ? णकान्तात्क्यनि सनि च सिष्वापकीयिषति । स्वपो णाविति किम् ? स्वापं चिकीर्षति सिष्वापयिषति,-अत्र न स्वपेर्णिर्घञा व्यवधानात् । स्वपो णौ सति

द्वित्व इति किम् ? सोषोपयिषति,-अत्र यङ्लुबन्ताद् द्वित्वे सति णिर्न तु णौ सति द्वित्वमिति ।।६२।।

न्या० स०-स्वपो०-अनन्तराऽनन्तरिभावसंबन्धे षष्ठी आनन्तर्यषष्ठ्याः फलमसुष्वापकीयत्, सनीति निवृत्तं कार्यान्तरविधानात् ।

नन्वऽस्वापपकीयदित्यादौ 'स्वपोणावुः' ४-१-६२ इत्युकारः कथं न ? उच्यते-स्वपेः संबन्धी अकारो नास्ति, किंतु णकसंबन्धी अकार इति ।

सिष्वापकीयिषतीति-स्वपन्तं प्रयुङ्क्ते णिग्, स्वापयतीति णकः, स्वापकमिच्छति क्यन्, स्वापकीयितुमिच्छति सन्, ततो 'णिस्तोरेव' २-३-३७ इति षत्वम् ।

सोषोपयिषतीति-भृशार्थे यङ् लुप् 'स्वपेयङ्ङे च' ४-१ ८० इति यङ्लुप्यपि य्वृत्, ततो द्वित्वं, सोषुपतं प्रयुङ्क्ते णिग् सोषोपयितुमिच्छति सन् 'णिस्तोरेव' २-३-३७ इति षत्वम् । **असमान-प्रयोजितवानिति** प्रयुक्तवानित्यर्थः, यौजादिकस्य प्रयोगात् ।

अवीवदद् वीणामिति-वदति वीणा तां परिवादकः प्रयुक्तवान् तमन्यः प्रयुक्तवान् णिग्द्वयं । यद्यप्यत्र णौ णेर्लोपोऽभूत्तथापि न समानलोपः, यतो णाविति जात्या एकवचनं ततश्च यः कश्चित् णिग् स सर्वोऽपि निमित्ततयोपात्तः, अतः स लुप्तोऽपि निमित्तं, एवमपीपठदित्यत्रापीति ।

असमानलोपे सन्वल्लघुनि ङे ।। ४. १. ६३ ।।

न विद्यते समानस्य लोपो यस्मिन् ङपरे णौ द्वित्वे सति पूर्वस्य लघुनि धात्वक्षरे परे सनीव कार्यं भवति । सन्यस्येत्वमुक्तमिहापि तथा अचीकरत्, अजीहरत् । 'ओर्जान्तस्थापवर्गेऽवर्णे' (४-१-६३) इत्युक्तमिहापि तथा-अजीजवत्, अयीयवत्, अरीरवत्, अलीलवत्, अपीपवत्, अबीभवत्, अमीमवत् । 'श्रुस्रुद्रुप्लुच्योर्वा' (४-१-९१) इत्युक्तमिहापि तथा-अशिश्रवत्, असुस्रवत्, अदिद्रवत्, अबुद्रवत्, अपिप्रवत्, अपुप्रवत्, अपिप्लवत्, अपुप्लवत्, अचिच्यवत्, अचुच्यवत् । अन्यस्य न भवति-अनूनवत्, अजूहवत् । लघुनीति किम् ? अततक्षत्, अबभाणत्, अचिक्रमत्, अचिक्वणत् इत्यादौ अनेकव्यञ्जनव्यवधानेऽपि स्थादीनामित्वबाधकस्यात्वस्य शासनात् सन्वद्भावो भवति, न तु स्वरव्यञ्जनव्यवायेऽपि तेन अजजागरत् । णावित्येव, अचकमत । असमानलोप इति किम् ? अचकथत्, दृपदमाख्यात् अददृपत् । पटुं लघुं कर्षि हरिं वाख्यत् अपीपटत्, अलीलघत्, अचीकपत्, अजीहरत् इत्यादौ तु वृद्धौ कृतायां सन्ध्यक्षरलोप इति असमानलोपत्वात्सन्वद्भावः । णाविति जात्याश्रयणात् वादितवन्तं प्रयोजितवान् अवीवदद्वीणां परिवादकेन, अपीपठन्माणवकमुपाध्यायेन,-अत्र णेः समानस्य लोपेऽपि भवति ।।६३।।

लघोर्दीर्घोऽस्वरादेः ।। ४. १. ६४ ।।

अस्वरादेर्धातोर्ङपरेऽसमानलोपे णौ द्वित्वे सति पूर्वस्य लघोर्लघुनि धात्वक्षरे परे दीर्घो भवति । अचीचरत्, अलीलवत्, अतूतवत् अबूभुजत् । लघोरिति किम् ? अचि-

क्षणत् । अस्वरादेरिति किम् ? औणुनवत् । ऊरुरिवाचरतीति क्विब्लोपे णौ औरिरवत् । लघुनीत्येव,-अततक्षत् । णावित्येव,-अचकमत । ङ इत्येव,-रिरमयिषति । असमानलोपे इत्येव,-अचकथत्, अददृषत् । णिजात्याश्रयणात् अवीवदद्वीणां परिवादकेन ।।६४।।

न्या० स०-लघोर्दीर्घो०-अचीचरदिति-ननु 'स्वरस्य' ७-४-११० इति परिभाषया पूर्वस्मिन्नित्वे विधेये स्वरादेशस्य ह्रस्वस्य स्थानित्वेन लघुनीत्यभावादित्वं न प्राप्नोति ? उच्यते, 'स्वरस्य' ७-४-११० इति पूर्वस्मिन् (कालापेक्षया देशापेक्षया वा) स्थानित्वमत्र तु कालापेक्षया इत्वस्य परत्वं यतः प्रथममुपान्त्यह्रस्वस्तत इत्वमिति, देशापेक्षया तु परिभाषाया अनित्यता, तथाहि-पूर्वदेशे ह्रस्व इति परिभाषाप्रसक्तिः ।

स्मृदृत्वरप्रथम्रदस्तस्पशेरः ।। ४. १. ६५ ।।

एषां धातूनामसमानलोपे ङपरे णौ द्वित्वे सति पूर्वस्याकारोऽन्तादेशो भवति, सन्वद्भावापवादः । स्मृ,-असस्मरत, दृ, अददरत्,-अत्र परत्वाद्दीर्घोऽपि न भवति । त्वर,-अतत्वरत्, प्रथ,-अपप्रथत्, म्रद,-अमम्रदत्, स्तृ-अतस्तरत्, स्पश-अपस्पशत् ।।६५।।

न्या० स०-स्मृदृत्वर०-सन्वाद्भावापवाद इति- बहुप्रयोगापेक्षयेदमुक्तं यावता दीर्घस्यापि । **अपस्पशदिति**-स्पशिः सौत्र, स्पशिण् इति णिगन्तो वा, केचित्तु पषीस्थाने स्पशीति पठन्ति तस्य वा ।

वा वेष्टचेष्टः ।। ४. १. ६६ ।।

वेष्टचेष्टोर्धात्वोरसमानलोपे ङपरे णौ द्वित्वे सति पूर्वस्य अकारोऽन्तादेशो वा भवति । अववेष्टत्, अविवेष्टत्, अचचेष्टत्, अचिचेष्टत् ।।६६।।

ई च गणः ।। ४. १. ६७ ।।

गणेर्ङपरे णौ द्वित्वे पूर्वस्येकारोऽकारश्चान्तादेशो भवति । अजीगणत्, अजगणत्, गणेरदन्तत्वेन समानलोपित्वात्सन्वद्भावो दीर्घत्वं च न प्राप्नोतीतीत्वविधिः । 'भूरिदाक्षिण्यसंपन्नं यत्वं सान्त्वमचीकथः' इति प्रयोगदर्शनादन्येषामपि यथादर्शनमीत्वमिच्छन्त्येके ।।६७।।

न्या० स०—ई च गणः—ननु ई वा गण इति क्रियतामदन्तत्वेन समानलोपित्वादेव पक्षेऽजगणदिति भविष्यति ? सत्यं, चुरादिभ्यो णिच् अनित्यो णिच्सन्नियोगे एवैषामदन्तत्वं तदऽभावे तदऽभावादऽजगणदिति न सिध्येत् किंत्वऽजीगणदित्येव ।

अस्यादेराः परोक्षायाम् ।। ४. १. ६८ ।।

परोक्षायां धातोर्द्वित्वे सति पूर्वस्यादेरकारस्याकारो भवति । आटतुः, आटुः, आटिथ, आदतुः, आदुः, आदिथ । अस्येति किम् ? ईयतुः,-ईयुः । आदेरिति किम् ? पपाच । परोक्षायामिति उत्तरार्थम् ।।६८।।

न्या० स०—अस्यादे०-'लगस्यादेत्यपदे' २-१-११३ इत्यस्याऽपवादः। **उत्तरार्थ-मिति**–इह तु परोक्षाया अन्यस्मिन् यङादौ प्रत्यये द्वित्वे सति आदावकारस्याऽसम्भवात्।

अनातो नश्चान्त ऋदाद्यशौसंयोगस्य ॥ ४. १. ६९ ॥

ऋकारादेरश्नोतेः संयोगान्तस्य च धातोः परोक्षायां द्वित्वे पूर्वस्यादेरकारस्यानात आकारस्थानेऽनिष्पन्नस्याकारो भवति कृताकारात्त्वस्मान्नोऽन्तश्च । ऋदादि,-आनृधतुः,-आनृधुः आनृजे, आनृजाते, आनृजिरे, अशौ, आनशे, आनशाते, आनशिरे । संयोग,-आनर्च, आनर्चतुः आनञ्ज, आनञ्जतुः, आनङ्ग, आनङ्गतु, आनर्च्छ, आनर्च्छतुः । ऋदादेरिति किम् ? आर, आरतुः । अशाविर्त्योकारः किम् ? अश्नातेर्माभूत्, आश, आशतुः । संयोग-स्येति किम् ? आट, आटतुः । अनात इति किम् ? आछ, आयामे-आञ्छ, आञ्छतुः । कश्चिदत्रापीच्छति । आनाञ्छ, आनाञ्छतुः आनाञ्छुः ।।६९।।

न्या० स०—अनातो न–न विद्यते आत् स्थानितयाऽस्यो **आनर्च्छति**–प्रथमं द्वित्वं ततः 'स्कृच्छृतः' ४-३-८ इति गुणः । **आरेति**-ऋक् ऋ प्रापणे वा णव् द्वित्वं 'ऋतोऽत्' ४-१-३८ 'अस्यादेः, ४-१-६८ इति आकारस्ततो 'नामिनोऽकलि' ४-३-५१ इति वृद्धिः, आद्यन्तवदेकस्मिन्नित्यपि न यतो यथाऽन्त्यव्यपदेशे ऋदादित्वं एवमादिव्यपदेशे ऋदन्तत्वमपि तत ऋत् आदिरेव यस्येत्यवधारणेनाऽस्य निरासः ।

भूस्वपोरदुतौ ॥ ४. १. ७० ॥

भूस्वप् इत्येतयोः परोक्षायां द्वित्वे सति पूर्वस्य यथासंख्यमकारोकारौ भवतः । बभूव, बभूवतुः, बभूवे चैत्रेण, अनुबभूवे कम्बलः साधुना, सुष्वाप, सुष्वपिथ । परोक्षा-यामित्येव,-बुभूपति, बोभवाचकार । केचित्तु कर्तर्येव भुवोऽकारमिच्छन्ति न भावकर्मणो तेन बुभूवे चैत्रेण, अनुबुभूवे कम्बलः साधुनेत्येव भवति ।।७०।।

न्या० स० ज्याव्येव्यधि०-संविव्यायेति–'यजादिवश्वचः' ४-१-७२ इति य्वृद्बाध-नार्थमिकारस्यापि इः । **विव्यचिथेति**–'कुटादेङिद्वत्' ४-३-१७ इत्यनेनेटो ङित्वेऽपि 'व्यचो-ऽनसि' ४-१-८२ इति न य्वृत्, समासान्तागम इति न्यायात् कुटादिगणनिर्दिष्टस्य ङित्व-स्याऽनित्यत्वात्।

ज्याव्येव्यधिव्यचिव्यथेरिः ॥ ४. १. ७१. ॥

एषां परोक्षायां द्वित्वे सति पूर्वस्येकारो भवति । ज्या,-जिज्यौ, जिज्यिथ । व्येग्-संविव्याय, संविव्ययिथ । व्यध्-विव्याध, विव्यधिथ । व्यच् ,-विव्याच, विव्यचिथ । व्यथ् ,-विव्यथे, विव्यथाते, विव्यथिरे परोक्षायामित्येव,-वाव्यथ्यते ।।७१।।

यजादिवश्वचः सस्वरान्तस्था य्वृत् ॥ ४. १. ७२ ॥

यजादीनां वश्वचोश्च परोक्षायां द्वित्वे सति पूर्वस्य सस्वरान्तस्था य्वृत् इकार-

उकारऋकाररूपा प्रत्यासत्त्या भवति । इयाज, इयजिथ, वेंग्-उवाय, उवयिथ, डुवपीं-उवाप, उवपिथ, वहीं,-उवाह, उवहिथ, वद-उवाद, उवदिथ, वसं-उवास, उवसिथ, व्येगः पूर्वेणेकारविधानबलात् ह्वेंग्श्वयत्योस्तु पूर्वस्यान्तस्थाया अभावात् न भवति । वश्-उवाश, उवशिथ । वचिति वश्साहचर्यात् वचंक् ब्रूगादेशो वा आदादिको गृह्यते न यौजादिकः । उवाच, उवचिथ । परोक्षायामित्येव,- यायज्यते, वावच्यते ।।७२।।

न्या० स० **यजादिवश्०-उवयिथेति**-'सृजिदृशि' ४-४-७८ इति वेटि 'य्वोः प्वऽय्' ४-४-१२१ इति य लुपि उवथ, वहेस्तु उवोढ इति भवति । **ह्वेंग्श्वयोस्त्विति**-'द्वित्वे ह्वः' ४-१-८९ 'वा परोक्षायङि' ४-१-९० इत्यनेन च य्वृत्विधानात् विकल्पपक्षेऽपि 'व्यञ्जनस्य' ४-१-४४ इति लुक्प्रवृत्तेः ।

न वयो य् ॥ ४. १. ७३ ॥

पूर्वस्येति निवृत्तमसंभवात् । वेगादेशस्य वयेर्यकारः परोक्षायां य्वृन्न भवति । ऊयतुः ऊयुः ।।७३।।

न्या० स०— **न वयो य्-ऊयतुरिति**-वेंग् 'वेर्वय्' ४-४-१९ 'यजादिवचेः किति' ४-१-७९ वकारस्य य्वृत्, द्वित्वे 'व्यञ्जनस्य ४-१-४४ इति यलोपे 'समानानाम्' १-२-१ इति दीर्घः, अत्र 'यजादिवचेः' ४-१-७९ इत्यनेन यकारस्य वकाराकारेण सह य्वृत्प्राप्नोति ।

वेरयः ॥ ४. १. ७४ ॥

वेगोऽयकारान्तस्य पूर्वस्य परस्य च परोक्षायां य्वृन्न भवति । ववौ, वविथ । अय इति किम् ? उवाय, उवयिथ ।।७४।।

न्या० स०-**वेरय०-ववाविति**-'वेर्वय्' ४-४-१९ इत्यस्य विकल्पप्रवृत्तेर्वयऽभावः, अत्र 'यजादिवश्' ४-१-७२ इति प्रथमस्य न प्राप्नोति । **उवायेति**-अत्र वयादेशे किदऽभावात् 'यजादिवचे' ४-१-७९ इत्यस्याप्रवृत्तौ द्वित्वे 'यजादिवश्' ४-१-७२ इति पूर्ववकारस्य य्वृत् ।

अविति वा ॥ ४. १. ७५ ॥

वेगोऽयकारान्तस्याविति परोक्षायां परतो य्वृद्वा न भवति । ववतुः, ववुः, ऊवतुः, ऊवुः । द्वित्वे कृते परत्वाद्धातोरुवादेशे सति पश्चात् पूर्वस्य समानस्य दीर्घः । अय इति किम् ? ऊयतुः, ऊयुः ।।७५।।

न्या० स०-**अवितिवा-ववतुरिति**-द्वित्वात् प्रागेव 'यजादिवचेः ४-१-७९ इत्यनेन प्राप्तमनेन विकल्प्यते, द्वित्वे तु कृते पूर्वस्य 'यजादिवश्' ४-१-७२ इति प्राप्तं 'वेरयः' ४-१-७४ इत्यनेन निषिध्यते ।

ऊवतुरिति-अत्र पूर्वं य्वृत्ततो द्वित्वं ❀ य्वृत्सकृत् ❀ इति न्यायात् पश्चात्वकारस्य न य्वृत् ।

ज्यश्च यपि ॥ ४. १. ७६ ॥

ज्या इत्येतस्य वेगश्च यपि परे य्वृन्न भवति । प्रज्याय, उपज्याय, प्रवाय उपवाय ।७६।

व्यः ॥ ४. १. ७७ ॥

व्येगो यपि परे य्वृन्न भवति । प्रव्याय, उपव्याय । योगविभाग उत्तरार्थः ।।७७।।

संपरेर्वा ॥ ४. १. ७८ ॥

संपरिभ्यां परस्य व्येगो यपि परे य्वृद्वा न भवति । संव्याय,-संवीय, परिव्याय, परिवीय । निरपेक्षत्वेनान्तरङ्गत्वात् प्रागेव य्वृतो दीर्घत्वम् , न तु तोऽन्तः । समो नेच्छन्त्येके । तेन नित्यं संव्याय ।।७८।।

यजादिवचेः किति ॥ ४. १. ७९ ॥

नेति निवृत्तम्, यजादीनां धातूनां वचेश्च सस्वरान्तस्था किति प्रत्यये परे य्वृत् भवति । यजीं,-ईजतुः, ईजुः, इज्यते, इज्यात् , इष्टः.-इष्टवान् , ईजिवान् , इष्ट्वा, इष्टिः, वेंग् ,-ऊयतुः, ऊयुः । 'श्रविति वा' (४-१-७५) इति वचनात् ववतुः, ववुः, ऊवतुः, ऊवुः, ऊयते, ऊयात् , उतः, उतवान् । व्येंग्-संविव्यतुः, संविव्युः,-संवीयते, संवीयात् , संवीतः, संवीतवान् । ह्वेंग्-हूयते, हूयात् , हूतः,-हूतवान् । वपीं,- ऊपतुः, उपुः-उप्यते, उप्यात् , उप्तः, उप्तवान् । वहीं-ऊहतुः ऊहुः, उह्यते, उह्यात् , ऊढः, ऊढवान् । श्वि-शूयते, शूयात् , शूनः, शूनवान् । वद-ऊदतुः, ऊदुः, उद्यते, उद्यात् , उदितः, उदितवान् । वसं-ऊषतुः, ऊषुः, उष्यते, उष्यात् , उषितः, उषितवान् । वचिति वचंक् ब्रूगादेशो वा-ऊचतुः, ऊचुः, उच्यते, उच्यात् , उक्तः, उक्तवान् । यौजादिकस्य तु न भवति,-वच्यते । कितीति किम् ? इयाज, यक्षीष्ट, वावच्यते, वक्ता ।।७९।।

न्या० स०-यजादिवचे०-नेति निवृत्तमिति-प्राप्तेरभावात् । इष्टिरिति-'आस्यटि' ५-३-९७ इति क्यप्समावेशार्थं श्वादिकत्वात् क्तिः । उत इति-क्विपि तु उत् उतौ उत इति, परमते तु ऊः उवौ उवः, ते 'दीर्घमवोऽन्त्यम्' ४-१-१०३ इत्यत्र अव इति न कुर्वते । यौजादिकस्य तु न भवतीति-नित्याणिजन्तैर्यजादिभिः साहचर्यादित्यर्थः ।

स्वपेर्यङ्डे च ॥ ४. १. ८० ॥

स्वपेर्यङि ङे किति च प्रत्यये सस्वरान्तस्था य्वृत् भवति । सोषुप्यते, सोषुपीति । यङ्लुपि नेच्छन्त्यन्ये-सास्वप्ति । णिमन्तरेण ङस्यासंभवात् स्वपितिर्ण्यन्तो लभ्यते । असूषुपत् । ङे, य्वृत्, गुणो, ह्रस्वत्वं, द्वित्वं, पूर्वस्य दीर्घत्वमित्यत्र,-क्रमः । किति,-सुषुपतुः, सुप्यते, सुप्यात् , सुषुप्सति । एष्विति किम् ? स्वपिति । घञन्तादपि केचिदिच्छन्ति । स्वापमकरोत् असुषुपत् ।।८०।।

न्या० स०-स्वपेयङ्ङे च-असूषुपदिति-न च वाच्यं ✻ प्राक् तु स्वरे० ✻ इति न्यायात् द्वित्वमेव भविष्यति न णिगाश्रितो गुणः, यतो यदि तेनैव द्वित्वनिमित्तेन प्रत्ययेन जन्यते स्वरविधिस्तदैव न स्यादऽत्र तु द्वित्वनिमित्तप्रत्ययाऽजन्य इति ।

असुषुपदिति-स्वमते तु असस्वापदिति ।

ज्याव्यधः क्ङिति ॥ ४. १. ८१ ॥

जिनातेर्विध्यतेश्च सस्वरान्तस्था क्किति ङिति च प्रत्यये परे य्वृत् भवति । जिज्यतुः जीयते, जीयात् , जीनः, ङिति-जिनाति, जेजीयते, जेजेति, विविधतुः, विध्यते, विध्यात् , विद्धः, ङिति-विध्यति, वेविध्यते, वेवेद्धि । क्ङिति इति किम् ? ज्याता, व्यद्धा ॥८१॥

न्या० स०-**ज्याव्यधः**-प्रत्यय इति विशेष्यं क्ङितीति विशेषणमतो धातुनिमित्तयोर्यथासंख्यं न भवति । **जिनातीति**-य्वृत् 'दीर्घमवोन्त्यं' ४-१-१०३ 'प्वादेर्ह्रस्वः' ४-२-१०५ ।

व्यचोऽनसि ॥ ४. १. ८२ ॥

व्यचेः सस्वरान्तस्थाऽस्वर्जिते क्ङिति प्रत्यये परे य्वृद्भवति । विचिता, विचितुम् , वेविच्यते, विचति । अनसीति किम् ? उरुव्यचाः ॥८२॥

न्या० स०-**व्यचोऽनसि-विचितेति**-कुटादित्वात् ङित्वे य्वृत् । **उरुव्यचा इति**-उरुविचति असित्यऽसः कुटादित्वात् ङित्वम् ।

वशेरयङि ॥ ४. १. ८३ ॥

वशेः सस्वरान्तस्था अयङि क्ङिति प्रत्यये परे य्वृद्भवति । उश्यते, ऊशतुः उशितम् , उष्टः, उशन्ति । अयङीति किम् ? वावश्यते । क्ङितीत्येव,-वष्टि ॥८३॥

ग्रह-व्रश्च-भ्रस्ज-प्रच्छः ॥ ४. १. ८४ ॥

ग्रहादीनां सस्वरान्तस्था क्ङिति प्रत्यये परे य्वृद्भवति । जगृहतुः, जगृहुः गृह्यते, गृहीतः, जिघृक्षति, गृह्णाति, जरीगृह्यते, जरीगृहीति, वृश्च्यते, वृक्णः, वृश्चति, वरीवृश्च्यते, भृज्ज्यते, भृष्टः, भृज्जति, बरीभृज्ज्यते, पृच्छ्यते, पिपृच्छिषति पृष्टः, पृच्छतिः, परीपृच्छ्यते, पृच्छ्य । क्ङितीत्येव,-ग्रहीता, वव्रश्चतुः बभ्रज्जतुः, पप्रच्छतु, प्रश्नः । व्यचिवशिव्रश्चिभ्रस्जिप्रच्छीनां पञ्चानां यङ्लुबन्तानां नेच्छन्त्यन्ये । तस् ,-वाव्यक्तः । नाम्नि-तिक्-वाव्यक्तिः, वावष्टः, वावष्टिः, वाव्रष्टः, वाव्रष्टिः, बाभ्रष्टः, बाभ्रष्टिः, पाप्रष्टः, पाप्रष्टिः । अन्ये तु ✻ 'प्रकृतिग्रहणे यङ्लुबन्तस्यापि ग्रहणम्' ✻ इति यङ्लुप्यपि मन्यन्ते तेन वेविक्तः, वेविक्तिः, वरिवृष्टः, बरिवृष्टिः बरिभृष्टः, बरिभृष्टिः, परिपृष्टः, परिपृष्टिः । अपरे तु विचतिवृश्चतिभृज्जतिपृच्छतीनां नित्यं य्वृत् ज्यादीनां त्वनित्यमिति मन्यन्ते तेनेदं सिद्धम् 'तस्यास्त्रयस्त्रीनपि विव्यधुः शरैः' इति अन्ये तु विविधुरित्येवाहुः ॥८४॥

न्या० स०-ग्रहव्रश्च०—पृच्छ्यते इति-क्यस्य सानुनासिकत्वं नास्तमिति 'अनुनासिके च' ४-१-१०८ इति शो न भवति। वरिवृष्ट इति-वशस्तु भाष्यकृताप्यनुदाहृतत्वान्न दर्शितं, प्रयोगस्तु वोष्टिः वोष्ट इति टिप्पनकृतः।

व्येस्यमोर्यङि ॥ ४. १. ८५ ॥

व्येस्यमोः सस्वरान्तस्था यङि य्वृद्भवति। वेवीयते, वेवयीति, सेसिम्यते, सेसिमीति। यङ्लुपि नेच्छन्त्यन्ये। वाव्याति, संस्यन्ति। यङीति किम्? व्ययति॥८५॥

चायः की ॥ ४. १. ८६

चायृगित्येतस्य यङि की इत्ययमादेशो भवति। चेकीयते। दीर्घनिर्देशो यङ्लुबर्थः-चेकीतः॥८६॥

न्या० स०-चायः की-दीर्घनिर्देशात् यङ्लुप्यप्यादेश इत्यर्थः, अन्यथा हि यदि साक्षात् यङ्यादेशः स्यात्तदा 'दीर्घश्च्वि' ४-३-१०८ इति दीर्घः सिद्धः, एवं 'प्यायः पी' इत्यत्रापि।

द्वित्वे ह्वः ॥ ४. १. ८७ ॥

ह्वयतेर्द्वित्वविषये सस्वरान्तस्था य्वृद्भवति। जुहाव, जुहुवतुः, जोहूयते, जोहवीति, जुहुषति। अनेनैव सिद्धे उत्तरसूत्रकरणं णेरन्यस्मिन् द्वित्वनिमित्तप्रत्ययव्यवधायके य्वृन्माभूदित्येवमर्थम्, तेनेह न भवति-ह्वायकमिच्छति ह्वायकीयति। ततः सन् जिह्वायकीयिषति॥८७॥

णौ ङसनि ॥ ४. १. ८८ ॥

ह्वयतेः सस्वरान्तस्था ङपरे सन्परे च णौ विषये य्वृद्भवति। अजुहवत्, जुहावयिषति। णाविति विषयसप्तमीति किम्? णिविषय एवान्तरङ्गमपि यकारागमं बाधित्वा य्वृद्यथा स्यात्। ङसनीति किम्? ह्वाययति॥८८॥

न्या० स०-णौङसनि०-यकारागमं बाधित्वेति-उपलक्षणत्वात् ❀ णौ यत्कृतं कार्यम् ❀ इति च य्वृत् यथा स्यादिति, कृते तु य्वृति यो न भवति, 'अर्त्तिरी०' ४-२-२१ इति प्वागमबाधकत्वेन आदन्तेभ्यो यस्य प्रवृत्तेः।

श्वेर्वा ॥ ४. १. ८९ ॥

श्वयतेः सस्वरान्तस्था ङपरे सन्परे च णौ विषये य्वृद्वा भवति। अशूशवत्, अशिश्वयत्, शुशावयिषति, शिश्वाययिषति। विषयविज्ञानादन्तरङ्गमपि वृद्ध्यादिकं य्वृता बाध्यते, कृते च तस्मिन्वृद्धिः, तत आवादेश उपान्त्यह्रस्वत्वम्, ततो णिकृतस्य

स्थानित्वात् शोर्द्वित्वम् ततः पूर्वदीर्घ इति क्रमः । णावित्येव,-अशिश्वियत् , शिश्वयिषति ॥ ८९ ॥

न्या० स०-**श्वेर्वा - विषयविज्ञानादित्यादि**-ननु विधानसामर्थ्यादेव वृद्ध्यादिकं बाधित्वा य्वृद्भविष्यति किं विषयव्याख्यानेन ? नैवं,-वृद्धौ कृतायामऽपि यस्यापि य्वृत् प्राप्नोति, अतो विधानं चरितार्थम् ।

वा परोक्षायङि ॥ ४. १. ९० ॥

श्वयतेः सस्वरान्तस्था परोक्षायां यङि च परे वा य्वृत् भवति । शुशाव, शिश्वाय, अहं शुशव, शिश्वय, शुशुवतुः, शिश्वियतुः, शुशविथ, शिश्वयिथ, शोशूयते. शोशवीति, शेश्वीयते, शेश्वयीति । अवित्परोक्षायां कित्त्वाद्यजादित्वेन प्राप्ते विति परोक्षायां यङि चाप्राप्ते विभाषा ॥९०॥

न्या० स० **वा परोक्षा०-शुशुवतुरिति**-'दीर्घमवः' ४-१-१०३ इति दीर्घे द्विर्वचनम् ।

प्यायः पी ॥ ४. १. ९१ ॥

प्यायतेः परोक्षायां यङि च पीरादेशो भवति । आपिप्ये, आपिप्याते, आपिप्यिरे, पेपीयते, प्रपेपीयते । दीर्घनिर्देशो यङ्लुबर्थः-आपेपेति, आपेपीतः ॥९१॥

न्या० स०-**प्यायः पी०-आपेपीत इति**-भोजेनैतत् क्तान्तं साधितमिति तिवन्तोदाहरणमग्रेतनवर्त्तमानानिश्चयार्थम् ।

क्तयोरनुपसर्गस्य ॥ ४. १. ९२ ॥

अनुपसर्गस्य प्यायः क्तयोः क्तक्तवत्वोः प्रत्यययोः परयोः पीत्ययमादेशो भवति । पीनं मुखम् , पीनवन्मुखम् । क्तयोरिति किम् ? प्यायते । अनुपसर्गस्येति किम् ? प्रप्यानो मेघः ॥९२॥

आङोऽन्धूधसोः ॥ ४. १. ९३ ॥

आङ उपसर्गात्परस्य प्यायतेरन्धावूधसि चार्थे क्तयोः परतः पीरादेशो भवति । आपीनोऽन्धुः, आपीनमूधः, अन्धुर्व्रणम् ऊधसो वा पर्यायः । आङ इति किम् ? प्रप्यानोऽन्धुः, परिप्यानमूधः । अन्धूधसोरिति किम् ? आप्यानश्चन्द्रः । आङ एवेति नियमात् प्राप्यानमूध इत्यत्राङन्तादुपसर्गान्न भवति । अनुपसर्गस्य तु पूर्वेण भवत्येव । पीनोऽन्धु, पीनवानन्धु, पीनमूधः, पीनवदूधः । अन्ये तु प्यायतेः केवलस्याङ्पूर्वस्याङन्तोपसर्गपूर्वस्यैव च प्रयोगमिच्छन्ति नान्यपूर्वस्य । तन्मत प्रप्यानपरिप्यानादयोऽप्रयोगाः । क्तयोरित्येव, आप्याय्यः ॥९३॥

न्या० स०—**आङोन्धूधसोः०-ऊधसो वा पर्याय इति**-ननु तर्हि आङोन्धाविति सिद्धे ऊधस्ग्रहणं किमर्थम् ? सत्यं, ऊधोग्रहणं बोधयति आपीन इति प्रयोगो व्रणे विशेषणतया

ऊधसि च पर्यायेण, यद्वा ऊधोग्रहणमेव ज्ञापयति, अन्धुशब्दः कैश्चिदेव ऊधसि कीर्त्यते अन्यथाऽन्धुनापि साध्यसिद्धिः ।

आङ एवेतीति-अत्राप्यनुपसर्गस्येत्यनुवर्त्तनीयं ततश्च आङ्-पूर्वस्य प्यायः पीः, कथं भूतस्याङः ? अनुपसर्गस्य, किमुक्तं भवति ? केवलस्येत्यर्थ इत्यवधारणान्नियन्त्रणान्न तु ❀ सिद्धे सत्यारम्भोनियमार्थः ❀ इति, यद्वा सर्वं वाक्यं सावधारणमिति न्यायादेवकारः । **आप्याय्य इति**-'कालाध्व' २-२-२३ इत्यनेन मासादेः कर्मत्वेऽन्तभूतण्यर्थत्वेन वा सकर्मकत्वे कर्मणि घ्यण् भावे तु क्लीबत्वं स्यात् ।

स्फायः स्फी वा ॥ ४. १. ९४ ॥

स्फायतेः क्तयोः परतः स्फी इत्ययमादेशो वा भवति । स्फीतः, स्फीतवान्, संस्फीतः, संस्फीतवान्, स्फातः, स्फातवान् । क्तयोरिति किम् ? स्फातिः-विकल्पं नेच्छन्त्यन्ये ।।९४।।

न्या० स०-**स्फायः स्फी वा-स्फातिरिति**-तत्कथं स्फीति ? उच्यते, स्फायते स्म क्तः स्फीत इवाचरति 'कर्तुः क्विप्' ३-४-२५ स्फीततीति 'स्वरेभ्य इ' १-३-३० ।

प्रसमः स्त्यः स्ती ॥ ४. १. ९५ ॥

प्रसम् इत्येवंसमुदायपूर्वस्य स्त्यायतेः क्तयोः परतः स्ती इत्ययमादेशो भवति । प्रसंस्तीतः, प्रसंस्तीतवान् । प्रसम इति किम् ? संप्रस्त्यानः, संप्रस्त्यानवान्, स्त्यानः, संस्त्यानः । प्रसमो नेच्छन्त्यन्ये ।।९५।।

न्या० स०-**प्रसमः**-व्यावृत्तौ केवलात् प्रोपसर्गान्न दर्शितमुत्तरेण विधानात् । **नेच्छन्त्यन्ये इति**-ते हि ह्येतत्सूत्रं न कुर्वन्ति ।

प्रात्तश्च मो वा ॥ ४. १. ९६ ॥

प्रात्केवलात्परस्य स्त्यायतेः क्तयोः परयोः स्ती इत्ययमादेशो भवति, क्तयोस्तकारस्य च वा मकारो भवति । प्रस्तीमः, प्रस्तीमवान्, प्रस्तीतः, प्रस्तीतवान् ।।९६।।

श्यः शीद्रवमूर्तिस्पर्शे नश्चास्पर्शे ॥ ४. १. ९७ ॥

द्रवस्य मूर्तिः काठिन्यं तस्मिन् स्पर्शे च वर्तमानस्य श्यायतेः क्तयोः परतः शी इत्ययमादेशो भवति, तत्संनियोगे च क्तयोस्तकारस्यास्पर्शे विषये नकारादेशो भवति । शीनं घृतम्, शीनवद् घृतम्, शीनं मेदः शीनवन्मेदः,-द्रवावस्थायाः काठिन्यं गतमित्यर्थः । स्पर्शे-शीतं वर्तते, शीतो वायुः । गुणमात्रे तद्वति वार्थे स्पर्शविषयो भवति । द्रवमूर्तिस्पर्श इति किम् ? संश्यानो वृश्चिकः,-शीतेन संकुचित इत्यर्थः । 'व्यञ्जनान्तस्थातोऽख्याध्यः' (४-२-७१) इति नत्वम् ।।९७।।

न्या स० **श्यः शी**-द्रवमूर्त्तिश्च स्पर्शश्चेति कृते विरोधिनामिति व्यावृत्तः सूत्रत्वात्स-

माहारः कर्मधारयो वा, शीतं वर्त्तते इति-कर्त्तरि क्तः, अत्र शीतस्पर्शो मुख्यभावेन, शीतो वायुरित्यत्र तु गौणभावेन वर्त्तते ।

प्रतेः ॥ ४. १. ९८ ॥

प्रतिपरस्य श्यायतेः क्तयोः परतः शी इत्ययमादेशो भवति तत्संनियोगे च क्तयोस्तकारस्य नकारः । प्रतिशीनः, प्रतिशीनवान् । प्रतिपूर्वोऽयं रोगे वर्तत इति पूर्वेणाप्राप्तौ वचनम् ।।९८।।

वाभ्यवाभ्याम् ॥ ४. १. ९९ ॥

अभि, अव इत्येताभ्यां परस्य स्त्यायतेः क्तयोः परतः शी इत्ययमादेशो वा भवति, तत्संनियोगे च क्तयोस्तस्यास्पर्शे नो भवति । अभिशीनः, अभिशीनवान्, अभिश्यानः, अभिश्यानवान्, अवशीनः, अवशीनवान्, अवश्यानः, अवश्यानवान् । द्रवमूर्तिस्पर्शयोरप्यनेन परत्वाद्विकल्पो भवति । अभिशीनं घृतम्, अभिश्यानं घृतम्, अवशीनं हिमम्, अवश्यानं हिमम्, अभिशीतो वायुः, अवशीतो वायुः, स्पर्शत्वान्न नत्वम् । अभिश्यानो वायुः, अवश्यानो वायुः । 'व्यञ्जनान्तस्थातोऽख्याध्यः' (४-२ ७१) इति स्पर्शेऽपि नत्वम् । अभ्यवाभ्यामिति किम्? संश्यानः, संश्यानवान् । केचित्तु समा व्यवधानेऽपीच्छन्ति । अभिसंशीनः, अभिसंशीनवान्, अभिसंश्यानः, अभिसंश्यानवान्, अवसंशीनः, अवसंशीनवान्, अवसंश्यानः, अवसंश्यानवान् । तदाभ्यवाभ्यामिति तृतीया व्याख्येया । समस्ताभ्यामपीत्यन्ये अभ्यवशीनः, अभ्यवश्यानः । विपर्यासे प्रयोगो नास्ति, वा शब्दस्य च व्यवस्थितविभाषार्थादन्योपसर्गान्ताभ्यां न भवति । समभिश्यानः, समभिश्यानवान्, समवश्यानः, समवश्यानवान् ।।९९।।

न्या० स०–वाभ्य०–अस्पर्शे नो भवतीति पूर्वसूत्रे अस्पर्श इति नोक्तं रोगेऽसंभवात् ।

श्रः शृतं हविःक्षीरे ॥ ४. १. १०० ॥

श्रातेः श्रायतेश्च क्तप्रत्यये हविषि क्षीरे चाभिधेये शृभावो निपात्यते । शृतं हविः, शृतं क्षीरम् स्वयमेव । श्रातिश्रायती हि अकर्मकौ कर्मकविषयस्य पचेरर्थे वर्तेते । तयोश्चैतन्निपातनम् । हविःक्षीर इति किम्? श्राणा यवागूः ।।१००।।

न्या० स०–श्रः शृतं–ननु कथं शृतं क्षीरं स्वयमेवेत्युक्तं, शृतं क्षीरं देवदत्तेनेति कथं न भवति? इत्याशङ्क्याह-**श्राति, श्रायती इति ।**

श्रपेः प्रयोक्त्रैक्ये ॥ ४. १. १०१ ॥

श्रायतेः श्रातेर्वा ण्यन्तस्यैकस्मिन् प्रयोक्तरि क्ते परतो हविषि क्षीरे चाभिधेये शृभावो निपात्यते । श्राति, श्रायति वा हविः स्वयमेव तच्चैत्रेण प्रायुज्यत शृतं हविश्चैत्रेण । शृतं क्षीरं चैत्रेण । यदा तु द्वितीये प्रयोक्तरि णिगुत्पद्यते तदा न भवति । श्रपितं हवि-

श्चैत्रेण मैत्रेणेति । हविःक्षीर इत्येव,-श्रपिता यवागूः, अन्ये तु श्रपिं चुरादौ पठन्ति तस्यैव श्रपेर्निपातनम् । प्रयोजकण्यन्तस्य त्वेकस्यापि प्रयोगं नेच्छन्ति । तन्मते कर्मकर्तृ हविः श्रातुं चैत्रः प्रयुक्तवान् इति प्रयोजकव्यापारे णिगि श्रपितं हविश्चैत्रेणेत्येव भवति । अपरे तु सकर्मकावपि श्रातिश्रायती इच्छन्ति-तन्मते, तयोरप्यण्यन्तयोर्निपातनं भवति । शृतं हविश्चैत्रेण । ण्यन्तयोस्तु न भवत्येव, श्रपितं हविश्चैत्रेण मैत्रेणेति ॥१०१॥

न्या० स० श्रपेः प्रयो०-शृतं हविश्चैत्रेणेति णिगि पान्ते घटादेर्ह्रस्वे श्रप्यते स्मेति वाक्ये कर्म्मणि क्ते निपातनादिडभाव । **श्रपितं हविरित्यादि**-पूर्ववत्प्रथमो णिग् , ततस्तं चैत्रं श्रपयन्तं मैत्रः प्रायुक्त, पाचितमित्यर्थः । **श्रपिं चुरादाविति**-अदन्तं, तस्य च फलं हविः क्षीरादऽन्यत्र दृश्यम् । **तयोरपीति**-न केवलमऽकर्म्मकयोः सकर्म्मकयोरपि तयोः श्रः शृतमिति निपातनं भवति इत्यपेरर्थः ।

य्वृत्सकृत् ॥ ४. १. १०२ ॥

य्वृदिति अन्तस्थास्थानानामिकारोकारऋकाराणां शास्त्रेऽस्मिन् व्यवहारः । धातोर्य्वृत्सकृदेकवारमेव भवति । यावत्संभवस्तावद्विधिरिति न्यायात् पुनःप्राप्तं प्रतिषिध्यते । संवीयते, विध्यते, विच्यते, वेवीयते, वेविध्यते, वेविच्यते ॥१०२॥

न्या० स० य्वृत्सकृत्०-संवीयते इति-अत्र यकारस्य यजादिवचेः' ४-१-७९ इति य्वृति पुनर्वकारस्य प्राप्तमनेन निषिध्यते ।

दीर्घमवोऽन्त्यम् ॥ ४. १. १०३ ॥

वेग्वर्जितस्य धातोर्य्वृदन्त्यं दीर्घं भवति । जीनः, जीनवान्, जिनाति संवीतः, हूतः, शूनः । अव इति किम् ? उतः, उतवान् । अन्त्यमिति किम् ? सुप्तः, उप्तः ॥१०३॥

न्या० स० दीर्घमवो०-उत इति-क्विपि उत् उतौ उत इति भाष्यम् । **सुप्त इति**-'ज्ञानेच्छार्चार्थे०' ५-३-९२ इति क्तः ।

स्वरहनगमोः सनि धुटि ॥ ४. १. १०४ ॥

स्वरान्तस्य धातोर्हन्तेर्गमोश्च धुडादौ सनि परे स्वरस्य दीर्घो भवति । स्वर-चिचीषति, तुतूषति, चिकीर्षति, हन्-जिघांसति, गमु-जिगांस्यते, संजिगांसते, अधिजिगांस्यते माता, अधिजिगांसते सूत्रम् । गम्विति इणिकिङादेशस्य गमेर्ग्रहणाद्गच्छतेर्न भवति । संजिगंसते वत्सो मात्रा । इङादेशस्यैव गमोरिच्छन्त्येके-तन्मते इण् जिगंस्यते, संजिगंसते । इक्-अधिजिगंस्यते मातेत्येव भवति । सनीति किम् ? स्तुतः । धुटीति किम् ? यियविषति ॥१०४॥

न्या० स० स्वरहन०-संजिगांसते इति-समेतुमिच्छति सन् , 'सनीङश्च' ४-४-२५ इति गमुः, गम्लृं गतावित्यनेन सह इणादेशस्य गमेऽरभेदोपचाराद् गम्लृकार्यमात्मनेपदं प्रागवदित्यनेन, अन्यथा सनः प्राग् आत्मनेपदाऽदर्शनान्नस्यात् , उपचारे तु 'समो गमृच्छि'

३-२-८४ इति प्राक् दृष्टम् । **यियविषतीति**-प्रथमं गुणं बाधित्वा दीर्घे सकृद्गते इति प्रवर्त्तते ।

तनो वा ॥ ४. १. १०५ ॥

तनोतेर्धुडादौ सनि परे स्वरस्य दीर्घो वा भवति । तितांसति, तितंसति । धुटी-त्येव,-वितितनिषति । यङ्लुपि,-तंतनिषति ॥१०५॥

न्या० स० तनो वा-तंतनिषतीति-'इवृध' ४-४-४७ इतीटि विकल्पात्तितांसति तितंसतीत्यपि ।

क्रमः क्त्वि वा ॥ ४. १. १०६ ॥

क्रमः स्वरस्य धुडादौ क्त्वाप्रत्यये वा दीर्घो भवति । क्रान्त्वा, क्रन्त्वा । धुटि इत्येव,-क्रमित्वा । 'ऊदितो वा' (४-४-४२) इति वेट् । प्रकम्येत्यत्र त्वन्तरङ्गमपि दीर्घत्वं बाधित्वा प्रागेव यप्, एतच्च 'यपि चादो जग्ध्'(४-४-१६)इत्यत्र ज्ञापयिष्यते ॥१०६॥

अहन्पञ्चमस्य क्विक्ङिति ॥ ४. १. १०७ ॥

हन्वर्जितस्य पञ्चमान्तस्य धातोः स्वरस्य क्वौ धुडादौ च क्ङिति प्रत्यये दीर्घो भवति । प्रशान्, प्रतान्, प्रदान्, प्रशामौ, प्रतामौ, प्रदामौ । क्ङिति-शान्तः, शान्तवान्, शान्त्वा, शान्ति, एवं तान्तः, दान्तः । ङिति-शंशान्तः, तन्तान्तः, दंदान्तः । पञ्चमस्येति किम्? ओदनपक्, पक्त्वा । अहन्निति किम्? वृत्रहणि, भ्रूणहनि । क्विक्ङिति इति किम्? गन्ता, रन्ता । धुटीत्येव,-यम्यते, यंयम्यते । कश्चित्त्वाचारक्वावपि दीर्घत्व-मिच्छति । कमिवाचरति कामति, एवं शम्-शामति, किम्-कीमति, इदम्-इदामति ।१०७।

न्या० स० अहन्पञ्चम०-प्रशानिति-नादेशस्य परेऽसत्त्वान्नलोपाभावः, हन्वर्जनात् उपदेशावस्थायां पञ्चमो गृह्यते, तेन सुगणित्यत्र दीर्घो न । **वृत्रहणीति**-संज्ञायां 'पूर्वपदस्था' २-३-६४ इति असंज्ञायां तु 'कवर्गैक' २-३-७६ इति णत्वं, **कश्चित्तु आचारकाविति**-स्वमते तु तस्मिन् धातुत्वाऽभावान्न दीर्घः ।

अनुनासिके च च्छ्वः शूट् ॥ ४. १. १०८ ॥

अनुनासिकादौ क्वौ धुडादौ प्रत्यये च धातोश्च्छकारवकारयोर्यथासंख्यं श् ऊट् इत्येतावादेशौ भवतः । प्रश्नः, विश्नः, छस्य द्विःपाठात् द्वयोरपि शकारः । क्वि-शब्दप्राट्, शब्दप्राशौ, गोविट्, गोविशौ, धुट्-पृष्टः, पृष्टवान्, प्रष्टा, प्रष्टुम्, स्योमा, स्योनः । सिवे-र्मनि प्रत्यये औणादिके च ने लघूपान्त्यगुणात्पूर्वमूट् क्रियते नित्यत्वात्-तत्र कृतेऽल्पाश्रितत्वे-नान्तरङ्गत्वाद्यत्वं न तु गुणः । अक्षद्यूः, हिरण्यद्यूः । ❀ 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' ❀ इति स्वरानन्तर्ये नेष्यते तेन यत्वं भवति । द्यूतः, द्यूतवान्, दुद्यूषति । वकारस्य विकल्पेनानुना-सिकत्वाद्वन्क्वनिपोः सुस्योवा, सुस्यूवा, पक्षे, सुसेवा, सुसिवेत्यपि सिद्धम् । धातोरित्येव,-दिवेरौणादिकडिव्प्रत्ययान्तस्य द्युभ्याम्, द्युभिः,-यदा तु दिवेः क्विप् तदा धातुत्वात् द्यूभ्यां

द्यूभिरिति । यङ्लुपि तु देद्योति देद्योषि, सेष्योति, सेष्योषि, देद्यूतः, सेष्यूतः । अन्ये तु देदेति, देदेषि, सेसेति, सेषेषीत्येवेच्छन्ति, तन्मतपरिग्रहार्थं क्ङितीत्यनुवर्तनीयम् । यजादि-सूत्रे च च्छग्रहणं विधेयम् । टकार 'ऊटा' (१-२-१३) इत्यत्र विशेषणार्थः ॥१०८॥

न्या० स०—अनुनासिके च०-द्विः पाठादिति द्वित्वापन्नस्य छस्येत्यर्थः । द्वयोर-पीति-अपि शब्दात् केवलस्य, तेन वाछु इच्छायामित्यस्य वान् वांशौ वांश इति सिद्धं, न च वाच्यं सूत्रे द्विच्छकारपाठात् केवलस्य न प्राप्नोतीति छ् च च्छ् चेति कृते 'पदस्य' २-१-८९ इत्येकललोपे निमित्ताभाव इत्यनेन चस्य छत्वे 'अघोषप्रथम०' ४-१-४५ इति पूर्वछस्य चत्वे च च् छ् इति साधितत्वात्, यद्वा पूर्वं द्विः च्छकारः द्वितीयस्तु लघु ततः च्छ् च छ् चेति कृति 'पदस्य' २-१-८९ इति लघुछकारस्य लुक्, तदा निमित्ताभाव इत्यादि न क्रियते । अक्षद्यूरिति-साऽनुबन्धत्वादूटि कृते 'उः पदान्तेऽनूत्' २-१-११८ इति न भवति । विकल्पेनाऽनुनासिकत्वादिति-म्लेच्छेर्यङ्लुपि वसि 'अनुनासिके च' ४-१-१०८ इति छस्य शत्वे मेम्लेश्वः, निरनुनासिकत्वे तु मेम्लेच्छ्व इति । क्ङितीत्यनुवर्त्तनीयमिति तर्हि प्रष्टेत्येतत् छस्य शत्वाऽभावे 'यजसृज' २-१-८७ इति षत्वाभावे न सेत्स्यतीत्याह-यजादीत्यादि ।

मव्यविश्रिविज्वरित्वरेरुपान्त्येन ॥ ४. १. १०९ ॥

शकारस्य स्थानी छ इह न संभवतीत्यूडेवानुवर्तते । मव्यादीनामनुनासिकादौ क्वौ धुडादौ च प्रत्यये वकारस्योपान्त्येन सहोड् भवति । मव्-मोमा, मूः, मुवौ, मुवः, मूतिः । यङ्लुपि-मामोति, मामूतः । अव्-ओम्, औणादिको म्-ओमा ऊः-उवौ उवः, ऊतिः । श्रिव्-श्रोमा, श्रूः, श्रुवौ, श्रुवः, श्रूतः, श्रूतवान्, श्रूतिः, शेश्रोति, शेश्रूतः । ज्वर्,-जूर्मा, जूः, जुरौ, जुरः जूर्तिः, जाजूर्ति, जाजूर्तः । त्वर्-तूर्मा, तूः, तुरौ, तुरः, तूर्णः, तूर्णवान्, तूर्तिः, तातूर्ति, तातूर्तः । ज्वरत्वरोरुपान्त्यो वकारात्परः । श्रिव्यविमवां तु पूर्वः ॥१०९॥

राल्लुक् ॥ ४. १. ११० ॥

रेफात्परयोर्धातोश्छकारवकारयोरनुनासिकादौ क्वौ धुडादौ च प्रत्यये लुग्भवति शूटोऽपवादः । मुर्छा, हुर्छा, मोर्मा, होर्मा, मूः, मुरौ, मुरः, हूः, हुरौ, हुर, मूर्तः, मूर्तवान्, मूर्तिः हूर्णः, हूणवान्, हूर्तिः, मोमोर्ति, जोहोर्ति, तुर्वं, धुर्वं, तोर्मा, धोर्मा, तूः तुरौ, तुरः, धूः धुरौ, धुरः, तूर्णः, तूर्णवान्, तूर्तिः, घूर्णः, धूर्णवान्, धूर्तिः । धूर्त इति त्वौणादिकः । अनुनासिकादावित्येव,-मूर्छा, तूर्विता ॥११०॥

न्या० स०—राल्लुक्—मोमेर्ति-अत्र गुणे कर्त्तव्ये 'भ्वादेर्नामिनः' २-१-६३ इति शास्त्रमसदिति गुणः, एवं धोर्मेत्यत्रापि । धूर्ण इति यद्यत्र णकारस्तत्कथं धूर्त्त इत्याह-धूर्त्त इतीति ।

क्तेऽनिटश्चजोः कगौ घिति ॥ ४. १. १११ ॥

क्तेऽनिटो धातोश्चकारजकारयोः स्थाने घिति प्रत्यये यथासङ्ख्यं कगौ भवतः । पाकः, सेकः, पाक्यम्, सेक्यम्, त्यागः, रागः, भोग्यम्, योग्यम्, संपर्की, संसर्गी । क्तेऽनिट इति किम् ? संकोचः, कूजः, खर्ज्यः, गर्ज्यः, परिव्राज्यम्, उदाजः, समाजः, नन्वजेः

क्तेऽनिट्त्वात् गत्वं प्राप्नोति ? नैवम्, क्तेऽनिट इति विद्यमानस्य विशेषणम्, अजेस्तु वींभावेन असत्त्वाद् गत्वं न भवति । क्त इति किम् ? अर्चः, अर्च्यम्, याच्यम्, रोच्यम् । अर्चादयो हि अर्कः याञ्चा रुक्ममिति प्रयोगेष्वनिटोऽपि क्ते सेट इति कत्वं न भवति । घितीति किम् ? पचनम्, त्यजनम् ॥१११॥

न्या० स० – क्तेऽनिटः-असत्त्वादिति–अविद्यमानत्वात्, यदि क्तकालेऽविकृतत्वात् धातोर्विद्यमानस्याऽनिट्त्वं भवति तदेत्यर्थः ।

न्यङ्कूद्गमेघादयः ॥ ४. १. ११२ ॥

न्यङ्क्वादयः कृतकत्वा उद्गादयः कृतगत्वा मेघादयः कृतघत्वा निपात्यन्ते । न्यञ्चे-रुप्रत्यये न्यङ्कुः । तञ्चिवञ्चिशुचीनां रकि तक्रम्, वक्रम्, शुक्रः, शुचिरुच्योर्घञि शोकः, रोकः । क्ते सेट्त्वान्न प्राप्नोति । घञोऽन्यत्र शोच्यम्, रोच्यम्, श्वपाकः, मांसपाकः, पिण्डपाकः, कपोतपाकः, उलूकपाकः । पचेः 'कर्मणोऽण्' (५-१-७२) इत्यणि सति, अण-भावे श्वपच इत्यादि । नीचेपाकः, दूरेपाकः, फलेपाकः, क्षणेपाकः । पचेर्नीचे पच्यते नीचे पच्यते स्वयमेवेति कर्मकर्तर्यचि दीर्घत्वं च निपातनात् । 'तत्पुरुषे कृति' (३-२-२०) इति बहुलाधिकारात् सप्तम्या अलुप् । उकारान्ता अपि गणे पठ्यन्ते । नीचेपाकुः, फलेपाकुः, दूरेपाकुः, क्षणेपाकुः, अत एव निपातनादुकारः । नीचेपाका, दूरेपाका, फलेपाका, क्षणेपाका इत्यावन्ता अपि । अनुब्रवीतीत्यच्-अनुवाकः, सोमं प्रवक्तीत्यण्-सोमप्रवाकः, उच्चैः न्युच्यति समवैतीति लिहाद्यचि न्योको वृक्षः शकुन्तो वा । उब्जेर्घञि-उद्गः, समुद्गः, न्युद्गः, अभ्युद्गः । क्ते सेट्त्वाद्गत्वमुपान्त्यस्य च दत्वं निपात्यते । सृजेः कर्तर्यचि-सर्गः, विसर्गः, अवसर्गः, उपसर्गः । षञ्जेरचि-व्यतिषङ्गः, अनुषङ्गः मस्जेरुः, मद्गुः, भ्रस्जेः कुः सलोपश्च । भृगुः, युजेः 'कर्मणोऽण्'(५-१-७२)इत्यणि गोयोगः मिहेरचि संज्ञायां हस्य घत्वम्-मेघः, अन्यत्र मेहः । वहेरनुपसर्गस्य वस्यौकारश्च । वहतीत्योघः प्रवाहः । अनुपसर्गस्येत्येव,–प्रवहः, विवहः, परिवहः, संवहः उद्वहः, अभिवहः, निवहः । संज्ञायामित्येव,-वहः । दहेर्न्यवाभ्यां घञि निदाघः ऋतुविशेषः । अवदाघः केवलपानीयपक्वोऽपूपः । संज्ञायामित्येव,–निदाहः, अवदाहः । अर्हतेर्घञि अर्घो मूल्यम् पूजाद्रव्यं च । संज्ञायामित्येव,-अर्हः एवमवि-हितलक्षणानि कत्वगत्वघत्वानि द्रष्टव्यानि ॥११२॥

न्या० स० न्यङ्कूद्०-अनुवाक इति-पाठविशेषः गणपाठाद्दीर्घत्वम् । व्यतिषङ्ग इति–व्यतिषजतीति क्रियाव्यतिहारे व्यतिषजते इति वाऽच्, 'स्थासेनि' २-३-४० इति षत्वम् ।

मद्गुरिति-अत्र जस्य गत्वे कृते निमित्ताऽभाव इति दन्त्यसकारभावे दन्त्यसकार-स्थाने 'तृतीयस्तृतीय' १-३-४९ इति दन्त्यसस्य तृतीयो दकारः ।

न वञ्चेर्गतौ ॥ ४. १. ११३ ॥

वञ्चेर्गतौ वर्तमानस्य कत्वं न भवति, वञ्चेर्घञ् । वञ्चं वञ्चति, गन्तव्यं गच्छ-तीत्यर्थः ।

पर्यंते व्याधवार्कैण्यसंकुलं वित्तवत्तमा. ।
रात्रावपि महारण्ये वञ्चं वञ्चन्ति वाणिजाः' ॥१॥

गताविति किम् ? वङ्कं काष्ठं कुटिलमित्यर्थ ॥११३॥

न्या० स०-न वञ्चेर्ग०-व्याधवार्कैण्यसंकुले इति-वृक एव 'वृकाट्टेण्यण्' ७-३-६४, व्याधश्च वार्कैण्यश्च समासे कृते 'वान्येन' ६-१-१३३ इति विभाषया न लुप् वार्कैण्य बहुत्वात् ।

यजेर्यज्ञाङ्गे ॥ ४. १. ११४ ॥

यज्ञाङ्गे वर्तमानस्य यजेर्जस्य गत्वं न भवति । पञ्च प्रयाजाः, त्रयोऽनुयाजाः, एकादशोपयाजाः, उपांशुयाजाः, पत्नीसंयाजाः, ऋतुयाजाः । घञ् याज इत्यप्यन्ये । यज्ञाङ्ग इति किम् ? प्रयागः, अनुयागः, यागः ॥११४॥

न्या० स०—यजेर्यज्ञा०-पञ्च प्रयाजा इति-प्रेज्यन्ते एभिः 'व्यञ्जनाद् घञ्' ५-३-१३२, प्रयजनानि भावे घञि वा, एवं सर्वत्र भावेन बहुवचनेन च वाक्यानि ।

उपांशुयाजा इति-उपांशु एकान्ते यजनानि 'सप्तमी शौण्डाद्यैः' ३-१-८८ 'नाम्नि' ३-१-९४ वा समासः ।

घ्यण्यावश्यके ॥ ४. १. ११५ ॥

आवश्यकोपाधिके घ्यणि प्रत्यये परतो धातोश्चजोः कगौ न भवतः । अवश्यपाच्यम्, अवश्यरेच्यम्, अवश्यरञ्ज्यम्, अवश्यभञ्ज्यम् । आवश्यके इति किम् ? पाक्यम्, रेक्यम्, रङ्ग्यम्, भङ्ग्यम् ॥११५॥

न्या० स० घ्यण्यावश्य०—अवश्यपाच्यमित्यादिषु—'मयूरव्यंसक' ३-१-११६ इति सः, 'णिन् चावश्यक' ५-४-३६ इति घ्यण् ।

निप्राद्युजः शक्ये ॥ ४. १. ११६ ॥

निप्राभ्यां परस्य युजः शक्येऽर्थे गम्यमाने घ्यणि परे गो न भवति । नियोक्तुं शक्यः, नियोज्यः, प्रयोज्यः । शक्य इति किम् ? नियोग्यः, प्रयोग्यः ॥११६॥

भुजो भक्ष्ये ॥ ४. १. ११७ ॥

भुजो भक्ष्येऽर्थे घ्यणि परे गो न भवति । भोज्यमन्नम्, भोज्या यवागूः भोज्यं पयः । भक्ष्य इति किम् ? भोग्यः कम्बलः प्रावरणीय इत्यर्थः । भोग्या अपूपाः पालनीया इत्यर्थः । भक्ष्यमभ्यवहार्यमात्रम् न खरविशदमेव । यथा अब्भक्ष्यो वायुभक्ष्य इति ॥११७॥

न्या० स० भुजो भ०-न खरविशदमेवेति कठोरप्रत्यक्षमित्यर्थः, अखरविशदमपि भक्ष्यं दृष्टमिति दृष्टान्तमाह-अब्भक्ष्येति-आपो द्रवं रूपं न कठिनं प्रत्यक्षं त्वऽस्ति वायुस्तु कठिनो न प्रत्यक्षस्तस्यानुमानेन गम्यत्वात् तेन भोज्यं पय इत्यादि सिद्धम् ।

त्यज-यज-प्रवचः ॥ ४. १. ११८ ॥

एषां घ्यणि कगौ न भवतः । त्याज्यम् , याज्यम् । अत एव प्रतिषेधाद्यजेर्घ्यणपि । प्रवचिग्रहणं शब्दसंज्ञार्थम् , प्रवाच्यो नाम पाठविशेषः, तदुपलक्षितो ग्रन्थोऽप्युच्यते, उपसर्गनियमार्थं वा । प्रपूर्वस्यैव वचेरशब्दसंज्ञायां प्रतिषेधो भवति नान्योपसर्गपूर्वस्य । अधिवाक्यं नाम दशरात्रस्य यज्ञस्य यद्दशममहः । यस्मिन्याज्ञिका अधिब्रुवते तस्मिन्नेवाभिधानम् । अधिवाच्यमन्यत्र ॥११८॥

न्या० स० त्यजयजप्र०-अधिवाक्यं नामेति-नानिष्टार्थेति न्यायादधिवाक्यप्रयोगाय नियमो नाऽन्यत्र तेनाधिवाच्यमित्यत्रोत्तरेण प्रतिषेधः । दशरात्रस्येति-दशानां रात्रीणां समाहारो दशरात्रः दशरात्रनिष्पाद्यो यज्ञोऽपि दशरात्र उपचारात् , दशरात्रमस्यास्तीति अभ्रादित्वाद् वा अः । तस्मिन्नेवाऽभिधानमिति-तत्रैव प्रपूर्वस्यैवेत्युपसर्गनियमस्येष्टिरित्यर्थः ।

वचोऽशब्दनाम्नि ॥ ४. १. ११९ ॥

अशब्दसंज्ञायां गम्यमानायां वचेर्घ्यणि को न भवति । वाच्यमाह, अवाच्यमाह । अशब्दनाम्नीति किम् ? वाक्यं, विशिष्टः पदसमुदायः ॥११९॥

भुजन्युब्जं पाणिरोगे ॥ ४. १. १२० ॥

भुजेर्निपूर्वस्योब्जेश्च घञन्तस्य पाणौ रोगे चार्थे यथासंख्यं भुजन्युब्जौ निपात्येते । भुज्यतेऽनेनेति भुजः पाणिः, न्युब्जिताः शेरतेऽस्मिन् इति न्युब्जो नाम रोगविशेषः । व्यञ्जनाद् घञिति गत्वाभावो भुजेर्गुणाभावश्च निपात्यते । पाणिरोग इति किम् ? भोगः, न्युद्गः ॥१२०॥

न्या० स०-भुजन्यु०-न्युद्ग-इत्यत्र न्यङ्क्वादित्वाद्गत्वं दत्वं च ।

वीरुन्न्यग्रोधौ ॥ ४. १. १२१ ॥

विपूर्वस्य रुहेः क्विपि न्यक्पूर्वस्य चाचि वीरुधन्यग्रोधशब्दौ धकारान्तौ निपात्येते । विरोहतीति वीरुत् , न्यग्रोहतीति न्यग्रोधः, अवरोध इत्यप्यन्ये ॥१२१॥

इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्रविरचितायां सिद्धहेमचन्द्राभिधानस्वोपज्ञशब्दानुशासनबृहद्वृत्तौ चतुर्थस्याध्यायस्य प्रथमः पादः ॥

कुर्वन् कुन्तलशैथिल्यं मध्यदेशं निपीडयन् ।
अङ्गेषु विलसन् भूमेर्भर्ताभूद्भीमपार्थिवः ॥ १ ॥

न्या० स०-वीरुन्न्यग्रो-वीरुदित्यत्र निपाताद्दीर्घः ।

इत्याचार्य श्री० चतुर्थस्याध्यायस्य प्रथमः पादः सम्पूर्णः ।

*

अथ द्वितीयः पादः

आत्संध्यक्षरस्य ॥ ४. २. १ ॥

धातोः सन्ध्यक्षरान्तस्याकारो भवति निर्निमित्तः । व्येंग्-संव्याता, दैङ्-दाता, म्लैं-म्लाता, शों निशाता । अनैमित्तिकत्वादात्वस्य प्रागेव कृतत्वादाकारान्तलक्षणः प्रत्ययो भवति । सुग्लः, सुम्लः, सुग्लानम्, सुम्लानम् । धातोरित्येव,-गोभ्याम्, नौभ्याम् । संध्यक्षरस्येति किम्? कर्ता । इह लाक्षणिकत्वान्न भवति-चेता, स्तोता ॥१॥

न्या० स०-आत् संध्यक्ष०-निर्निमित्त इति-उत्तरेण सह पृथग्योगात् ।

न शिति ॥ ४. २. २ ॥

धातोः संध्यक्षरान्तस्य शिति प्रत्यये विषयभूते आकारो न भवति । ग्लायति, म्लायति, संव्ययति ॥ २ ॥

न्या० स०-न शिति-ग्लायतीति-गुण इति सान्वय संज्ञा समाश्रयणादऽत्र गुणाभावः, यतः सतो विशेषाधानं गुणः, अत्र त्वैकारस्य एकारे कर्त्तव्ये न तथा, समासान्तागमेति न्यायाद् वा न गुणः । गुण इति हि संज्ञा ।

व्यस्थवणवि ॥ ४. २. ३ ॥

व्ययतेस्थवि णवि च विषयभूते आकारो न भवति । संविव्ययिथ, संविव्याय, अहं संविव्यय । थवणवीति किम्? संव्याता, संव्यातुम् । केचित्तु परोक्षामात्रे आत्वप्रतिषेधमिच्छन्तो व्येगो य्वृद्धिं विकल्पयन्ति । तेन त्वक्त्रैः संविव्ययुर्देहान् इति सिद्धम् । तदपरे पाठभ्रम एवायमिति मन्यन्ते, त्वक्त्रैः संविव्युरङ्गानि इति तु सम्यक्पाठः । एवं

'संविव्ययुर्वसनचारु चमूसमुत्थं, पृथ्वीरजः करभकण्ठकडारमाशाः' । इत्यत्रापि संविव्युरम्बरविकासि चमूसमुत्थमिति सत्पाठः ॥ ३ ॥

स्फुर-स्फुलोर्घञि ॥ ४. २. ४ ॥

स्फुरस्फुलोर्घञि संध्यक्षरस्याकारो भवति । विस्फारः, विस्फालः, विष्फारः, विष्फालः । 'वेः' (२-३-५४) इति वा षत्वम् । घञीति किम्? विस्फोरकः ॥४॥

२-३-५८

वापगुरो णमि ॥ ४. २. ५ ॥

अपपूर्वस्य गुरैति इत्यस्य धातोः संध्यक्षरस्य स्थाने णमि प्रत्यये परे आकारादेशो वा भवति । अपगारमपगारम्, अपगोरमपगोरम् । आभीक्ष्ण्ये णम् द्वित्वं च । अस्यपगारं युध्यन्ते । अस्यपगोरं युध्यन्ते । 'द्वितीयया' (५-४-७८) इति णम् ॥५॥

न्या० स०-वापगु०-अपगारमपगारमिति-अभीक्ष्णमपगूय अपगुरणं पूर्वं वा। ननु ख्णम् प्रत्ययेनैव आभीक्ष्ण्यस्योक्तत्वात् द्वित्वं न प्राप्नोति ? न, शब्दशक्तिस्वाभाव्यात् केवल-ख्णम् आभीक्ष्ण्यं न द्योतयतीति द्वित्वमपेक्षते ।

दीङः सनि वा ॥ ४. २. ६ ॥

दीङः सनि परे आत्वं वा भवति। दिदासते, दिदीषते, उपदिदासते, उपदिदीषते ॥६॥

यबक्ङिति ॥ ४. २. ७ ॥

दीङो यपि अक्ङिति च प्रत्यये विषयभूते आकारोऽन्तादेशो भवति। उपदाय, उपदाता, अवदाय, उपदातुम्, उपदातव्यम्, उपादास्त। विषयसप्तमीनिर्देशात्पूर्वमेवात्वे सति ईषदुपादानः उपादायो वर्तते इत्यत्र आकारान्तलक्षणोऽनः घञ् च भवति।

यबक्ङितीति किम् ? दीनः, उपदीयते, उपदेदीयते, सानुबन्धनिर्देशाद्यङ्लुपि न भवति,-उपदेदेति ॥७॥

न्या० स०-यबक्ङिति-ईषदुपादान इति-ईषदऽनायासेनोपादीयते 'शासयुधि' ५-३-१४१ इत्यनः। **उपदायो वर्त्तत इति**-यदा उपादानमिति भावविवक्षा तदा 'युवर्ण' ५-३-२८ इत्यऽल्विषये आत्वे भावाऽकर्त्रोर्घञ्, यदा तु उपदीयते इति कर्तृविवक्षा तदाऽपि णकविषये आत्वे 'तन्व्यधी' ५-१-६४ इति णः, एतदपि विषयव्याख्याफलम्। ननु णं बाधित्वा उपसर्गाद् विशेषेण 'उपसर्गादातः' ५-३-११० इति डो भविष्यतीति वाच्यं ? न, यतस्तस्मिन् कर्त्तव्ये बाहुलकादात्वं नेष्यते इति महाभाष्येऽभाषिष्ट ।

घञ्च भवतीति-ननु घञः कथमाकारान्तलक्षणत्वमादन्तेभ्योऽप्यन्यत्रापि सामान्येन तस्य विधानात् ? उच्यते, घञोप्याकारान्तलक्षणत्वं सामान्यमऽस्ति, यतः आकाराऽभावे ईदन्तत्वादऽल् स्यात् ।

मिग्मीगोऽखलचलि ॥ ४. २. ८ ॥

मिनोतिमीनात्योर्यपि खलचल्वर्जितेऽक्ङिति च प्रत्यये विषयभूत आकारान्तादेशो भवति। निमाय, निमाता, निमातुम्, निमातव्यम्, न्यमासीत्। मीग्-प्रमाय, प्रमाता, प्रमातुम्, प्रमातव्यम्, प्रामासीत्। अखलचलीति किम् ? ईषन्निमयः, दुष्प्रमयः। अचि-मयः, आमयः। अलि-निमयः, प्रमयः। सानुबन्धनिर्देशो यङ्लुप्निवृत्त्यर्थः। निमेमेति, प्रमेमेति।

यबक्ङितीत्येव,-निमितः, प्रमीतः, निमेमीयते, प्रमेमीयते। मिग्मीग इति किम् ? मीङ्च् हिंसायामिति दैवादिकस्य माभूत। मेता, मेतुम्। अस्याप्यात्वमिच्छन्त्यन्ये। माता, मातुम् ॥८॥

न्या० स०-मिग्मीगो०-निमायेति-तृच्विषये आत्वे 'तन्व्यधी' ५-१-६४ इति णे निमाय इति विसर्गान्तमपि, तर्हि निमातेति कथम् ? उच्यते, असरूपत्वात्तृचपि। **देवादिकस्येति**-उपलक्षणत्वान्मीण्गतावित्यस्यापि ।

लीङ्-लिनोर्वा ॥ ४. २. ९ ॥

लीयतेर्लिनातेश्च यपि खलचल्वर्जितेऽक्ङिति प्रत्यये च विषयभूते आकारोऽन्तादेशो वा भवति ।

विलाय, विलीय, विलाता, विलेता, विलास्यते, विलेष्यते, विलास्यति, विलेष्यति, व्यलासीत्, व्यलैषीत् । अखलचलीत्येव,-ईषद्विलयः, विलयः, विलयो वर्तते । यबक्ङितीत्येव,-लीनः, विलीनः, लीयते, लेलीयते, लिनाति । ङिल्लुप्तनिर्देशाद्यङ्लुपि न भवति-लेलेति । ली द्रवीकरण इति णौजादिकस्य च न भवति-विलयति ॥९॥

न्या० स०-**लीङ्लिनोर्वा**-णे विलाय इत्यपि सिद्धम् । **लीन इति**-'ॠल्वादेः' ४-२-६८ इति क्र्यादिकस्य दैवादिकस्य 'सूयत्याद्यो' ४-२-७० इति नत्वम् ।

णौ क्री-जीङः ॥ ४. २. १० ॥

क्रींग्, जि, इङ् इत्येतेषां णौ परे आकारोऽन्तादेशो भवति । क्रापयति, जापयति, अध्यापयति ॥१०॥

सिध्यतेरज्ञाने ॥ ४. २. ११ ॥

षिधूच् संराद्धावित्यस्याज्ञाने वर्तमानस्य णौ परतः स्वरस्याकारो भवति । मन्त्रं साधयति, तपः साधयति, अन्नं साधयति सार्धमिकेभ्यो दातुम् ।

अज्ञान इति किम् ? तपस्तपस्विनं सेधयति, सिध्यति जानीते तपस्वी ज्ञानविशेषमासादयति तं तपः प्रयुङ्क्ते इत्यर्थः । स्वान्येवैनं कर्माणि सेधयन्ति । अस्य अनुभवविशेषमुत्पादयन्तीत्यर्थः । सिध्यतेरिति किम् ? षिधू गत्यामिति भौवादिकस्य मा भूत् । अन्नं सेधयति, तपः सेधयति । साधिनैव सिद्धे सिध्यतेरज्ञाने सेधयतीति प्रयोगनिवृत्त्यर्थं वचनम् ॥११॥

न्या० स०-**सिध्यतेर०-स्वरस्याकार इति**-संध्यक्षरप्रस्तावात् स्वरस्येति लभ्यतेऽन्यथा 'षष्ठ्या अन्त्यस्य' ७-४-१०६ इति न्यायात् धकारस्यैव स्यात् ।

सार्धमिकेभ्य इति-समानो धर्मः सधर्म्मः स प्रयोजनमेषां 'प्रयोजनम्' ६-४-११७ इतीकण्, समानो धर्मोऽस्येति बहुव्रीहौ तु 'द्विपदाद्धर्मादन्' ७-३-१४१ स्यात् । **कर्माणि सेधयन्तीति**-सिध्यति अनुभवविशेषमासादयति तमेनं तपस्विनं कर्माणि प्रयुञ्जते । **अनुभवविशेषमिति**-अनुभवः साक्षात्कारः स च ज्ञानमेव ।

चि-स्फुरोर्नवा ॥ ४. २. १२ ॥

चिनोतेः स्फुरतेश्च णौ परे स्वरस्यात्वं वा भवति । चापयति, चाययति, स्फारयति, स्फोरयति ॥१२॥

न्या० स०-**चिस्फुरो०**-स्फरस्फलत् स्फुरणे इत्यनेनैव सिद्धे स्फुरेरात्ववचनं ण्यन्तात्सनि पुस्फारयिषतीत्येवमर्थम् ।

वियः प्रजने ॥ ४. २. १३ ॥

प्रजनो जन्मन उपक्रमो गर्भग्रहणम् । तस्मिन् वर्तमानस्य वी इत्येतस्य णौ परे आत्वमन्तादेशो वा भवति । पुरो वातो गा प्रवापयति, प्रवाययति गर्भं ग्राहयतीत्यर्थः । वातेः प्रजने वृत्तिर्नास्तीत्यारम्भः ।।१३।।

न्या० स०-विय-प्र०-प्रजननं घञ्, 'न जनवधः' ४-३-५४ इति वृद्धिनिषेधः।

पुर इति-पूर्वस्या दिश आगतः, 'पूर्वावराधरेभ्योऽस्' ७-२-११५, प्रवापयतीति-प्रवियतीः प्रयुङ्क्ते ।

रुहः पः ॥ ४. २. १४ ॥

रुहेर्णौ परतः पकारोऽन्तादेशो वा भवति । रोपयति व्रीहीन्, रोहयति व्रीहीन्, रोहत्यर्थे रुप्यतिर्न दृश्यते इति योगारम्भः ।। १४ ।।

लियो नोऽन्तः स्नेहद्रवे ॥ ४. २. १५ ॥

ली इति लीग्लीङोः सामान्येन ग्रहणम्, लियः स्नेहद्रवेऽर्थे गम्यमाने णौ परे नोऽन्तोऽवयवो वा भवति । घृतं विलीनयति, घृतं विलालयति, णौ वद्धावायादेशः । लिय ई ली इति ईकारप्रश्लेषात् ईकारान्तस्यैव भवति । कृतात्वस्य तु वक्ष्यमाणौ लकारपकारौ भवतः ।

घृतं विलालयति, विलापयति । स्नेहद्रव इति किम् ? अयो विलाययति । पूर्वान्तकरणात् व्यलीलिनादित्यत्रोपान्त्यह्रस्वो भवति । एवमुत्तरेष्वपि ।। १५ ।।

न्या० स०-लियो नोन्तः-लिय ईः लीस्तस्य उभयोः स्थाने इति न्यायात् समानानामिति दीर्घेऽपि इयादेशः । लीग्लीङोरिति-उपलक्षणत्वाल्लीण् इत्यस्यापि ।

लोलः ॥ ४. २. १६ ॥

लातेर्ली इत्यस्य च कृतात्वस्य स्नेहद्रवेऽर्थे णौ परे लोऽन्तो वा भवति । घृतं विलालयति, घृतं विलापयति, घृतं व्यलीललत् । स्नेहद्रव इत्येव,-जटाभिरालापयते, श्येनो वर्तिकामुल्लापयते । 'लीङ्लिनोऽर्चाभिभवे चाच्चाकर्तर्यपि' (३-३-९०) इत्यनेनात्वमात्मनेपदं च ।। १६ ।।

पातेः ॥ ४. २. १७ ॥

पृथग्योगाद्वेति निवृत्तम्, पांक् रक्षणे इत्येतस्य णौ परे लोऽन्तो भवति । पालयति, अपीपलत् । 'पलण् रक्षणे' इति चौरादिकेनैव सिद्धे पातेर्योऽन्तः स्यादिति वचनम् । तिव्निर्देशो धात्वन्तरनिवृत्त्यर्थः । पा पाने, पैं शोषणे वा, पाययति । यङ्लुप्निवृत्त्यर्थश्च । पापाययति ।। १७ ।।

न्या० स०- पातेः-पापाययतीति-भृशं पाति यङ् लुप् द्वित्वं पापतं प्रयुङ्क्ते ।

धूग्-प्रीगोर्न ॥ ४. २. १८ ॥

धूग्प्रीग्इत्येतयोर्णौ परे नोऽन्तो भवति धूगट् धूगश् धूगण् वा धूनयति, अदूधुनत् । प्रींश् प्रीगण् वा, प्रीणयति अपिप्रिणत् । यौजादिकयोर्नेच्छन्त्येके । धावयति, प्राययति । अनुबन्धनिर्देशो यङ्लुब्निवृत्त्यर्थः । दोधावयति, पेप्राययति । धुवतिप्रीयतिनिवृत्त्यर्थश्च-धावयति, प्राययति ॥ १८ ॥

वो विधूनने जः ॥ ४. २. १९ ॥

वा इत्येतस्य विधूननेऽर्थे णौ परे जोऽन्तो भवति । पक्षकेण उपवाजयति, पुष्पाणि प्रवाजयति, अवीवजत् । विधूनन इति किम् ? ओवैं, केशानावापयति-शोषयतीत्यर्थः । वजिनैव सिद्धे वाते रूपान्तरनिवृत्त्यर्थं वचनम् ॥ १९ ॥

न्या० स०-वो विधूनने-उपवाजयतीति-वांक् इत्यऽस्य न तु पैं ओवैं इत्यस्य विधूनने वृत्त्यऽभावात् , न च वाच्यं विधूनन इति व्यावृत्तेर्द्वैयङ्ग्यवैकल्यं सूत्रे व इति सामान्यभणितेः ।

पा-शा-छा-सा-वे-व्या-ह्वो यः ॥ ४. २. २० ॥

एषां णौ परे योऽन्तो भवति । पां पाने, पैं शोषणे वा पाययति । पातेस्तु लकार उक्तः । शोंच्-शाययति, छोंच् अवच्छाययति, सों सैं वा-अवसाययति, वेंग्-वाययति, वे इत्यनात्वेन निर्देशो वांक्-गतिगन्धनयोः, ओवैं शोषणे इत्यनयोर्निवृत्त्यर्थः-वापयति, व्येंग्-व्याययति,-ह्वेंग्-ह्वाययति । अपीपयत् , अशीशयत् इत्यादि । एषां कृतात्वानां ग्रहणादिह प्रकरणे लाक्षणिकस्यापि ग्रहणं भवति । तेन क्षापयतीत्यादि सिद्धम् , पोरपवादो योगः ॥ २० ॥

न्या० स०-पाशाच्छा०-अपीपयदिति-पैं शोषणे इत्यस्येदं पिबतेस्तु 'ङे पिबः' ४-१-३३ इत्यनेन पीप्यादेशेऽपीप्यदिति भवति ।

अर्ति-री-व्ली-ह्री-क्नू-यि-क्ष्माय्यातां पुः ॥ ४. २. २१ ॥

एषामाकारान्तानां च धातूनां णौ परे पुरन्तो भवति । अर्तीति 'ऋं गतौ' 'ऋं प्रापणे चेत्यनयोर्ग्रहणं सामान्यनिर्देशात् । अर्पयति, तिव्निर्देशो यङ्लुप्निवृत्त्यर्थः । अरारयति, अरियारयति ।

रीति रीयतिरिणात्योर्ग्रहणम्-रेपयति,-व्लीं-व्लेपयति, ह्रीं,-ह्रेपयति, क्नूयि,-क्नोपयति, क्ष्मायि-क्ष्मापयति, आदन्त,-दापयति, धापयति, जापयति, क्षापयति, अध्यापयति, अदीदपत् । बहुवचनं व्याप्त्यर्थम् । तेन नाम्नोऽपि, सत्यापयति, अर्थापयति, वेदापयति, प्रिय,-प्रापयति, स्थिर-स्थापयति, स्फिर-स्फापयति, पोरुकारः 'पुष्पौ' (४-३-३) इत्यत्र विशेषणार्थः ॥२१॥

न्या० स०-अर्त्तिरी०-अरारयतीति-आरतं प्रयुङ्क्ते, अरियारयतीति-यङलुप् 'रिरौ च लुपि' ४-१-५६ इति रिः रीर्वा ततोऽरियृतं, मतेनाऽयृतं वा प्रयुङ्क्ते । अदीद-

पदिति-'मिमीमादामित्स्वरस्य' ४-१-२० इत्यनेन मूलधातोरित्कार्यमऽद्वित्वं च भवति, तेनाऽत्र 'असमानलोपे' ४-१-६३ इत्यनेन पूर्वस्य इल्लक्षणं सन्वत्कार्यं न भवति ।

स्फाय् स्फाव् ॥ ४. २. २२ ॥

स्फायतिर्णौ परे स्फाव् इत्ययमादेशो भवति । स्फावयति । अभेदनिर्देशोऽन्ताधिकारनिवृत्त्यर्थः ॥२२॥

शदिरगतौ शात् ॥ ४. २. २३ ॥

शीयतेरगतावर्थे णौ परे शात् इत्ययमादेशो भवति । पुष्पाणि शातयति । अगताविति किम् ? गोपालको गाः शादयति, गमयतीत्यर्थः ॥२३॥

घटादेर्ह्रस्वो दीर्घस्तु वा ञिणम्परे ॥ ४. २. २४ ॥

घटादीनां धातूनां णौ परे ह्रस्वो भवति, ञिणम्परे तु णौ दीर्घो वा भवति । घटयति, अघाटि, अघटि, घाटंघाटं, घटंघटम्, व्यथयति, अव्याथि, अव्यथि, व्याथंव्याथम्, व्यथंव्यथम्, हिडयति, अहीडि, अहिडि, हीडंहीडम्, हिडंहिडम्, अक्षाञ्जि, अक्षञ्जि, क्षाञ्जंक्षाञ्जं, क्षञ्जंक्षञ्जम्, अदाक्षि, अदक्षि, दाक्षंदाक्षम्, दक्षंदक्षम्, क्षञ्जिदक्ष्यादीनां घटादिपाठबलादनुपान्त्यस्यापि वा दीर्घः ।

वा ञिणम्पर इत्येव,-ह्रस्वविकल्पेन सिद्धे दीर्घग्रहणं हेडेरिकारस्य दीर्घत्वार्थम्, ह्रस्वविकल्पे हि पक्षे एकारश्रुतिः स्यात्, णिग्यङ्व्यवहितेऽपि णौ ञिणम्परे दीर्घत्वार्थं च । णिग्व्यवाये, शमयन्तं प्रयुङ्क्ते, णिग् तदन्तात् ञौ णमि, अशामि, अशमि, शामंशामम्, शमंशमम् । यङ्व्यवाये,-शंशमयतेञौ णमि च अशंशामि, अशंशमि, शंशामंशंशामम्, शंशमंशंशमम् । अत्र योऽसौ णौ णिर्लुप्यते यश्च यङोऽकारस्तस्य स्थानिवद्भावेन घटादीनां व्यवहितत्वात् आनन्तर्यं नास्तीति । ञिणम्परे णौ न स्याद् ह्रस्वविकल्पः । दीर्घग्रहणे तु दीर्घविधिं प्रति स्थानिवद्भावप्रतिषेधादानन्तर्यमेवेति सिध्यति ।

घटिष् चेष्टायाम्, क्षजुङ् गतिदानयोः, व्यथिष् भयचलनयोः, प्रथिष् प्रख्याने, म्रदिष् मर्दने, स्खदिष् खदने, कदुङ् क्रदुङ् क्लदुङ् वैक्लव्ये, क्रपिष् कृपायाम्, जित्वरिष् संभ्रमे, प्रसिष् विस्तारे, दक्षि हिंसागत्योः, श्रां पाके, स्मृं आध्याने, दॄ भये, नॄ नये, ष्टकस्तक प्रतीघाते, चक तृप्तौ च, अंक कुटिलायां गतौ, कखे हसने, अग् अकवत्, रगे शङ्कायाम्, लगे सङ्गे, ह्रगे, ह्लगे, षगे, सगे, ष्टगे, स्थगे संवरणे, वटभट परिभाषणे, णट नृत्तौ, गड सेचने, हेड वेष्टने, लड जिह्वोन्मथने, फणकणरण गतौ, चण हिंसादानयोश्च, शणश्रण दाने, स्नथ, क्नथ, क्रथ, क्लथ हिंसार्थाः, छद ऊर्जने, मदै हर्षग्लपनयोः, ष्टनस्तध्वन शब्दे, स्वन अवतंसने, चन हिंसायाम्, ज्वर रोगे, चल कम्पने, ह्वल ह्मल चलने, ज्वल दीप्तौ चेति घटादयः, फणिमेके घटादिमनिच्छन्तो गतावपि फाणयतीत्याहुः ॥२४॥

न्या० स० घटादेर्ह्रस्वो०-हेडेरिकारस्य दीर्घत्वार्थमिति-न च वाच्यं क्षञ्जेरपि दीर्घत्वार्थं यतस्तस्याऽनेन ह्रस्वविकल्पसामर्थ्यादेव अनुपान्त्यस्यापि 'ञ्णिति' ४-३-५०

इति दीर्घः स्यात् । **शंशामंशंशाममिति**-कश्चिद्व्यावहरिष्यति नात्र शमः संबन्धी णिः किन्तु संशंशमः ? न, तत्संबन्धिव्याख्यानाभावात् , यथा 'स्त्रिया ङितां वा' १-४-२८ ।

कगे-वनू-जनै-जॄष्-क्नस-रञ्जः ॥ ४. २. २५ ॥

एषां णौ परे ह्रस्वो भवति, ञिणम्परे तु णौ वा दीर्घो भवति । कगे-कगयति, अकागि, अकगि, कागंकागम् , कगंकगम् । वन्-उपवनयति, उपावानि, उपावनि, अवानि, अवनि, उपवानमुपवानम् , उपवनमुपवनम् , वानंवानम् , वनवनम् । जनै-जनयति, अजानि, अजनि, जानंजानम् , जनंजनम् , जॄष् जरयति, अजारि, अजरि, जारंजारम् , जरंजरम् । क्नस्-क्नसयति, अक्नासि, अक्नसि, क्नासंक्नासम् , सक्नसम् , रञ्ज-रजयति मृगान्व्याधः, अराजि, अरजि, राजंराजम् , रंजरजम् ।

'णौ मृगरमणे' (४-२-६१) इति नलोपः । नलोपे वचनस्य चरितार्थत्वात् नलोपाभावे,-अरञ्जि,-रञ्जंरञ्जम् इत्यत्र वा दीर्घो न भवति । केचित्तु 'ष्णसूच् निरसने' इत्यस्यापीच्छन्ति । स्नसयति, कगे इति सौत्रो धातुः । एकारश्चैदित्कार्यार्थः । अकगीत् वनू इत्यूकारनिर्देशात् वन भक्तौ इत्यस्य न भवति । वानयति, अवानि, वानंवानम् इह घटादयः पठितार्था एव गृह्यन्ते । अर्थान्तरे तूद्घाटयति, श्रापयति, स्मारयति, दारयति, नाटयति, लाडयति, फाणयति, छादयति, प्रमादयति, ध्वानयति, स्वानयति, चालयतीत्यादि । कगादीनां तु अर्थविशेषो नोपादीयते ।।२५।।

न्या० स०-कगेवनू-अकगीदिति-'व्यञ्जनादेर्वोपान्त्यस्यातः' ४-३-४७ इत्यनेन वृद्धिः प्राप्ता 'न श्वि जागृ' ४-३-४९ इति एदित्वान्न भवति । एके कगे धातुं सर्वधात्वर्थेषु मेनिरे, यथा कगति याति भुङ्क्ते सरतीत्यादि । अन्ये कगे नोच्यते इत्यर्थं जगुः, यथा कगति न वक्तीत्यर्थः । **न लोपाभावे इति**-मृगरमणाऽभावे न लोपाऽप्रवृत्तेरित्यर्थः । **अर्थविशेषो नोपादीयते इति**-पूर्वेण पृथग्योगादित्यर्थः ।

अमोऽकम्यमि-चमः ॥ ४. २. २६ ॥

कम्यमिचमिवर्जितस्यामन्तस्य धातोर्णौ परे ह्रस्वो भवति, ञिणम्परे तु णौ वा दीर्घो भवति । रमयति, अरामि, अरमि, रामंरामम् , रमंरमम् , दमयति, अदामि, अदमि, दामंदामम् , दमंदमम् । कथं संक्रामयति, संक्रामन्तं करोतीति ? शत्रन्ताण्णिचि भविष्यति ।

अकम्यमिचम इति किम् ? कामयते, अकामि, कामंकामम् , आमयति, आममामम् , आचामयति, आचामि, आचाममाचामम् ।।२६।।

पर्यपात्स्खदः ॥ ४. २. २७ ॥

पर्यपाभ्यामेव परस्य स्खदेर्णौ परे ह्रस्वो भवति, ञिणम्परे तु वा दीर्घः । परिस्खदयति, पर्यस्खादि, पर्यस्खदि, परिस्खादंपरिस्खादम् , परिस्खदंपरिस्खदम् , अपस्खदयति, अपास्खादि, अपास्खदि, अपस्खादमपस्खादम्, अपस्खदमपस्खदम् , अवादप्यन्ये, अवस्खदयति ।

स्खदेर्घटादिपाठेन सिद्धे नियमार्थं वचनम् । अन्योपसर्गपूर्वस्य माभूत् ,-प्रस्खादयति । अन्ये तु निषेधाधिकारे 'अपपरिस्खदः' इति पठित्वा पर्यपपूर्वस्य स्खदेर्निषेधमिच्छन्ति-तन्मते परिस्खादयति, पर्यस्खादि, परिस्खादंपरिस्खादम्, एवमपस्खादयतीत्यादि । पर्यपाभ्यामन्यत्र प्रस्खदयति, प्रास्खादि, प्रास्खदि, इत्यादि भवति ॥२७॥

न्या० स०-पर्यपात्स्खदः०-अन्योपसर्गपूर्वस्येति-अत्र विपरीतनियमो न भवति, 'एकोपसर्गस्य' ४-२-३४ इत्यत्र व्याप्त्या एकोपसर्गग्रहणेन परिच्छद इत्यत्र ह्रस्वविधानसामर्थ्यात् ।

शमोऽदर्शने ॥ ४. २. २८ ॥

अदर्शनेऽर्थे वर्तमानस्य शमेर्णौ परे ह्रस्वो भवति, ञिणम्परे तु वा दीर्घः । शमयति रोगम्, निशमयति श्लोकान्, अशामि, अशमि, शामंशामम्, शमंशमम् । अदर्शन इति किम् ? निशामयति रूपम्, दर्शन एव केचिदिच्छन्ति, तेषामुदाहरणप्रत्युदाहरणयोर्विपर्ययः ॥ २८ ॥

यमोऽपरिवेषणे णिचि च ॥ ४. २. २९ ॥

अपरिवेषणे वर्तमानस्य यमेर्णिच्यणिचि च णौ परे वा ह्रस्वो भवति, ञिणम्परे तु णौ वा दीर्घः । यमयति, अयामि, अयमि, यामंयामम्, यमंयमम् । अपरिवेषण इति किम् ? यामयति अतिथीन्, यामयति चन्द्रमसम् । यमः परिवेषण इत्यन्ये-तन्मते उदाहरणप्रत्युदाहरणयोर्व्यत्यासः ।

णाविति सिद्धे अस्य णिचि चेति वचनात् अन्येषां णिचि न भवति । स्यमिण् वितर्के, स्यामयते, अस्यामि, स्यामंस्यामम्, शमिण्-आलोचने, निशामयते, न्यशामि, निशामंनिशामम् ॥ २९ ॥

न्या० स०-यमोऽपरिवेषणे-परिवेषणे इति-परिवेषणमिह भोजनविषयि परिवेषणं सूर्यादिवेष्टनं च गृह्यते । यामयत्यतिथीनिति-परिवेषणक्रियया तान् व्याप्नोतीत्यर्थः ।

णाविति सिद्धे इति-अधिकारानुमिते इत्यर्थः ।

मारण-तोषण-निशाने ज्ञश्च ॥ ४. २. ३० ॥

एष्वर्थेषु वर्तमानस्य जानातेर्णिचि अणिचि च णौ ह्रस्वो भवति, ञिणम्परे तु वा दीर्घः, चकारो णिचि चेत्यस्यानुकर्षणार्थः ।

मारणे-संज्ञपयति पशून्,-तोषणे, ज्ञपयति गुरून्, विज्ञपयति राजानम्, निशाने-ज्ञपयति शरान्, प्रज्ञपयति शस्त्रम् । अज्ञापि, अज्ञपि, ज्ञापंज्ञापं, ज्ञपंज्ञपम् । निशानं तेजनं तीक्ष्णीकरणम्-अन्ये तु निशामन इच्छन्ति । निशामनम् आलोचनं प्रणिधानमाहुः, इह पूर्वत्र च सूत्रे णिचि अणिचि च णौ रूपसाम्येऽप्यर्थभेदः । एकत्र स्वार्थोऽन्यत्र प्रयोक्तृव्यापारः ॥ ३० ॥

न्या० स०-मारणतोषण०-चकारो णिचि चेत्यस्येति-धात्वाकर्षणे पूर्वेण सिद्धेः फलाऽभावात् प्रकृतेरपि स्थितः प्रत्ययमाकर्षति, स्वरूपव्याख्यानमिदं यावताऽधिकारायातमेव चकारेणानुमीयते, अन्यथा चानुकृष्टं नोत्तरत्रेति स्यात् । **संज्ञपयतीति**-❀ आदेशादागमः ❀ इति न्यायात् ह्रस्वात् प्रागेव प्वागमः । **एकत्र स्वार्थ इति**-स्वार्थे प्रथममेव मारणे वर्त्तते, अन्यत्र मरणे ततो मारणे इत्यर्थः ।

चहण: शाठ्ये नन्वदन्तस्य चहण: भौवादिकस्य च चहेः सर्वाण्यपि सेत्स्यन्ति किमनेन ? सत्यं, सूत्रं विना चाहिष्यते इति न सिध्यति, तथाहि-भौवादिकस्य स्वरान्तत्वाभावात् 'स्वरग्रह' ३-४-६९ इति ञिट् नायाति, चौरादिकस्य तु ञिटि सत्यपि अदन्तत्वाद् वृद्ध्यऽभावे न सिध्यति, अथ णिगि सति भौवादिकस्य साध्यते, तर्हि प्रयोक्तृव्यापार आयातस्तस्मिन् सति अर्थभेदः स्यात् , अतः सूत्रं कार्यम् ।

चहण: शाठ्ये ॥ ४. २. ३१ ॥

चहेश्चौरादिकस्य शाठ्येऽर्थे वर्तमानस्य णिचि णौ परे ह्रस्वो भवति ञिणम्परे तु वा दीर्घः । चहयति, चाहिष्यते, चहिष्यते, चाहंचाहम् ।

णित्करणाद्भौवादिकस्य न भवति । चाहयति, अचाहि, चाहंचाहम् । शाठ्य इति किम् ? अचहि, चहंचहम् । चहयतीत्येतददन्तत्वात्सिद्धम् , दीर्घार्थं वचनम् ॥ ३१ ॥

ज्वल-ह्वल-ह्मल-ग्ला-स्ना-वनू-वम-नमोऽनुपसर्गस्य वा ॥ ४. २. ३२ ॥

एषामनुपसर्गाणां णौ परे ह्रस्वो वा भवति । ज्वलयति, ज्वालयति, ह्वलयति, ह्वालयति, ह्मलयति, ह्मालयति, ग्लपयति, ग्लापयति, स्नपयति, स्नापयति, वनयति, वानयति, वमयति, वामयति, नमयति, नामयति, अज्वालि, अज्वलि, ज्वालंज्वालम् , ज्वलंज्वलम् । इत्यादिषु दीर्घविकल्पः सिद्ध एव ।

अनुपसर्गस्येति किम् ? प्रज्वलयति, प्रह्वलयति, प्रह्मलयति, प्रग्लापयति, प्रस्नापयति, प्रवनयति, प्रवमयति, प्रणमयति ग्लास्नोरप्राप्ते शेषाणां तु प्राप्ते विभाषा ॥ ३२ ॥

न्या० स०-ज्वलह्वल०-दीर्घविकल्पः सिद्ध एवेति अनेन वा ह्रस्वविधानात्तेन ञिणम्परे इति नाऽनूद्यते ।

छदेरिस्मन्त्रट्क्वौ ॥ ४. २. ३३ ॥

छदेरिस्मन्त्रट्क्विप्परे णौ ह्रस्वो भवति । इसि-छदिः, मनि-छद्म, त्रटि,-छत्त्रम् , छत्त्री । क्विपि-उपच्छद् , धामच्छद् । त्रडिति किम् ? त्रे मामूद् । छात्त्रः ॥ ३३ ॥

एकोपसर्गस्य च घे ॥ ४. २. ३४ ॥

एकोपसर्गस्यानुपसर्गस्थ च छदेर्घपरे णौ ह्रस्वो भवति । प्रच्छाद्यतेऽनेनेति प्रच्छदः, परिच्छदः, उपच्छदः, छाद्यतेऽनेनेति छदः, सप्त छदा अस्य सप्तच्छदः, उरसश्छदः उरश्छदः, एवं दन्तच्छदः । एकोपसर्गस्य चेति किम् ? समुपच्छादः, समुपामिच्छादः । घ इति किम् ? प्रच्छादनम्, तनुच्छादनम् ।।३४।।

उपान्त्यस्यासमान-लोपिशास्वृदितो ङे ।। ४. २. ३५ ।।

समानलोपिशासृकृदनुबन्धवर्जितस्य धातोरुपान्त्यस्य ङपरे णौ ह्रस्वो भवति । अपीपचत्, अदीदपत्, अचीकरत्, अलीलवत् । अत्र नित्यमपि द्विर्वचनं बाधित्वा प्रागेव ह्रस्वो भवति ओणेर्ऋदित्करणज्ञापकात् । तद्धि मा भवानोणिणत् इत्यत्र ऋदित्वादुपान्त्य-ह्रस्वत्वप्रतिषेधो यथा स्यादित्येवमर्थं क्रियते ।

यदि चात्र नित्यत्वात्पूर्वमेव द्वितीयद्वित्वं स्यात्तदानुपान्त्यत्वादेव ह्रस्वत्वस्या-प्राप्तिरिति किं तन्निवृत्त्यर्थेन ऋदित्करणेन । एवं माभवानटिटत् मा भवानशिशत् इत्यादि सिद्धं भवति, ङपरे णौ इति च न धातुर्विशिष्यते किं तर्हि तदुपान्त्य इति णेः पूर्वस्याधातुत्वेऽपि ह्रस्वो भवति, तेन गोनावमाख्यत् अजूगुनत् ।

केचिदौतः स्थानिवद्भावेनोपान्त्यत्वाभावाद् ह्रस्वं नेच्छन्ति-तेनाजुगोनत् । णावि-त्येव,-ङे उपान्त्यस्यैतावत्युच्यमाने अलीलवदित्यादावन्तरङ्गावपि वृद्ध्यावादेशावदीद-पदित्यादौ च प्वागमं च बाधित्वा वचनसामर्थ्यात् ण्युपान्त्यस्य स्वरस्य ह्रस्वः प्रसज्ज्येत । अपीपचदित्यादौ ण्युपान्त्यस्वराभावान्न स्यात् । णिग्रहणानुवृत्तौ तु ङपरे णावुपान्त्यस्य ह्रस्व इति सर्वत्र ह्रस्वः सिद्धो भवति ।

ङ इति किम् ? कारयति पाचयति । उपान्त्यस्येति किम् ? अचकाङ्क्षत्-येन नाव्यवधानमिति न्यायेनैव सिद्धे उपान्त्यग्रहणम् उत्तरार्थम् । असमानलोपिशास्वृदित इति किम् ? राजानमतिक्रान्तवानत्यरराजत् । लोमान्यनुमृष्टवान् अन्वलुलोमत्, स्वामिन-माख्यत् असस्वामत्, तादृशमाख्यत् अततादत्, मातरमाख्यत् अममातत्, यत्रान्त्यस्वरादि-लोपस्तत्र स्थानिवद्भावेन न सिध्यतीति वचनम् । यत्र तु स्वरस्यैव लोपस्तत्र स्वरादेशत्वात् स्थानिवद्भावेनैव सिध्यति । मालामाख्यत् अममालत्, मातरमाख्यत् अममातत्, अश-शारत्, अशुशूरत् ।

ननु यत्रापि स्वरव्यञ्जनलोपस्तत्रापि अवयवावयविनोरभेदनयेन स्वरादेश एवेति स्थानिवद्भावेनैव सिध्यति किमसमानलोपिवचनेन ? सत्यम्,-स्थानिवद्भावस्य अनित्यत्व-ख्यापनार्थं वचनम्-तेन वास्या परिच्छिन्नवान् पर्यवीवसत्, स्वादु कृतवान् असिस्वददित्यादि सिद्धम् । अत्रेकारोकारयोः 'नामिनोऽकलिहलेः' (४-३-५१) इति वृद्धौ कृतायामन्त्य-स्वरादिलोपादसमानलोपित्वम् ।

ननु च परत्वात् प्रथमं लोपेनैव भवितव्यम् ? नैवम्, कलिहलिवर्जनात् परमपि लोपं वृद्धिर्बाधते-अत एव तत्र कलिहलिवर्जनमर्थवत् । शासू,-अशशासत्, आशासोऽपी-च्छत्यन्यः-आशशासत् । ऋदिति, ओणृ-मा भवानोणिणत्, ओखृ-मा भवानोखिखत्, एजृ-

मा भवानेजिजत्, याचृ,-**अययाचत्** । **सेकृ-असिसेकत्**, **लोकृ-अलुलोकत्**, **ढौकृ-अडुढौकत्**, **शासेरूदित्करणं यङ्लुप्निवृत्त्यर्थम्-अशाशसत** । **अन्ये त्वशाशासत् इत्यपीच्छन्ति** । **वदति स्म वीणा तां प्रायुक्त परिवादकः तमप्यन्यः प्रायुक्त अवीवदद्वीणां परिवादकेनेति तु णिजात्याश्रयणात् सिद्धम्** ॥३५॥

न्या० स०-उपान्त्यस्या०-नित्यमपीति-❀ कृताकृता ❀ इति न्यायान्नित्यत्वं यथा मा भवानऽटिटिदित्यादौ ह्रस्वत्वे कृतेऽकृते च द्वित्वं प्राप्नोतीति नित्यं ह्रस्वस्तु द्वित्वे कृते न प्राप्नोतीत्यऽनित्यः, न केवलं प्राक्तु स्वर इत्यपेरर्थः ।

गोनावमाख्यादिति-गौर्नौर्यद्वा गोसहिता नौः गोनौः, 'मयूरव्यंसक' ३-१-११६ इति मध्यपदलोपी समासः । **स्थानिवद्भावेनेति**-स्वमते तु 'स्वरस्य परे' ७-४-११० इति परिभाषाया अनित्यत्वमाश्रितमिति सूत्रपर्यन्ते वक्ष्यति ।

वचनसामर्थ्यादिति-अन्यथा यदि वृद्ध्यावादेशौ स्यातां, तदा उपान्त्यत्वाभावेन ह्रस्वत्वाभावात् वचननैरर्थक्यं प्राप्नोति ।

ण्युपान्त्यस्येति-णेरुपान्त्यस्तस्य तथाहि-णिङ इति स्थिते ऊकार उपान्त्यः ।

अचकाङ्क्षदिति-वचनादेकेन वर्णेन व्यवधानं न त्वऽनेकेन ।

उपान्त्यग्रहणमिति-येन नाव्यवधानमिति न्यायादेकेन वर्णेन व्यवहितोऽपि स्वरो ह्रस्वस्य स्थानी भविष्यति किमुपान्त्यग्रहणेनेत्याह **उत्तरार्थमिति** । 'ऋद्वर्णस्य' ४-२-३७ इत्यत्रेत्यर्थः, अन्यथा तत्रान्त्यस्यापि ऋकारस्य ऋत् स्यात्, न केवलमुत्तरार्थमिहार्थं च, अन्यथा लीलवदित्यत्र वचनसामर्थ्यादऽकृतायां वृद्धौ ह्रस्वः स्यात्, न चान्तरङ्गत्वाद्वृद्धिः, निरवकाशत्वादस्य, वृद्धौ सावकाशत्वमिति न वाच्यं यतो मुख्याऽभावे येन नाव्यवधान-माश्रीयेतेति ।

स्थानिवद्भावेन न सिध्यतीति-अयमर्थः 'स्वरस्य परे' ७-४-११० इति स्वरादेशः स्थानी, अत्र तु स्वरव्यंञ्जनादेशः ।

अशशारत्-शारण् दो अस्मादऽदन्तात् णिच् ।

अशुशूरत्-शूरणि वि० अस्मादजन्तात् 'णिज् बहुलं' ३-४-४२ णिच् ततोऽद्यतनी, अन्यथा आत्मनेपदित्वादऽचं विना परस्मैपदं न स्यात् ।

अनित्यत्वख्यापनार्थं वचनमिति-कलिहलिवर्जनादेव सन्वदादिकार्येऽस्याऽनित्यत्वं सिद्धं तर्हि अत्यरराजदित्यादौ भेदपक्षे फलम् । **प्रथमं लोपेनैवेति**-ततश्च समानलोपित्वात् ह्रस्वत्वं न प्राप्नोतीति भावः ।

असिसेकदिति-येषां मते षोपदेशस्तन्मते असिषेकदिति ।

भ्राज-भास-भाष-दीप-पीड-जीव-मील-कण-रण-वण-भण-श्रण-ह्वे-हेठ-लुट-लुप-लपां नवा ॥ ४. २. ३६ ॥

एषां ङपरे णौ उपान्त्यस्य ह्रस्वो वा भवति ।

भ्राज्,-अबिभ्रजत्, अबभ्राजत्, भास्-अबीभसत्, अबभासत्, भाष्-अबीभषत्,

अबभाषत्, दीप्-अदीदिपत्, अदिदीपत्, पीड्-अपीपिडत्, अपिपीडत्, जीव्-अजीजिवत्, अजिजीवत्, मील-अमीमिलत्, अमिमीलत्, कण्-अचीकणत्, अचकाणत्, रण्-अरीरणत्, अरराणत्, बण्-अबीबणत्, अबबाणत्, भण्-अबीभणत्, अबभाणत्, श्रण्-अशिश्रणत्, अशश्राणत्, ह्वेग्-अजूहवत्, अजुहावत्, हेठ-अजीहिठत्, अजिहेठत्, लुट्-अलूलुटत्, अलुलोटत्, लुप्लृ अलूलुपत् अलुलोपत्, लप्-अलीलपत्, अललापत् बहुवचनं शिष्टप्रयोगानुसारेण अन्येषामपि परिग्रहार्थम् ॥३६॥

न्या० स०-भ्राजभास०-अशिश्रणदिति-शण श्रण दाने इत्यस्य दानेऽर्थे ह्रस्वत्वं घटादित्वात् सिद्धं पाकरूपेऽर्थान्तरे त्वऽनेन विकल्पः, 'श्रणण् दाने' इत्यस्य तु 'यमोऽपरिवेषणे णिचि च' ४-२-९ इत्यनेन णिचि यम एवेति नियमादऽप्राप्तं विकल्प्यते ।

अन्येषामपीति-तेन अबिभ्रसत् अबभ्रासदित्यादि सिद्धम् ।

ॠदृवर्णस्य ॥ ४. २. ३७ ॥

धातोरुपान्त्यस्य ॠवर्णस्य ङपरे णौ वा ॠकारो भवति । अवीवृतत्, अववर्तत्, अवीवृधत्, अववर्धत्, अमीमृजत्, अममार्जत्, अदीदृशत्, अददर्शत्, अचीकृतत्, अचिकीर्तत् । वचनसामर्थ्यादर्कीर्त्यादेशौ बाध्येते । उपान्त्यस्येत्येव -अचीकरत् ॥३७॥

न्या० स०-ॠदृवर्णस्य०-ननु किमर्थं वर्णग्रहणं ॠदृत इत्येतावदास्ताम्? न, यद्येवं क्रियते तदाऽचीकृतदित्ययं प्रयोगो न निष्पद्यते, अथ पाठकालेऽपि कृतण् इति पठिष्यते, न, तदा ॠदृत इत्येतस्याऽन्यत्र ॠकारे चरितार्थत्वात् अत्र कीर्त्यादेश एव स्यात्, अथ कीर्त्तण् इत्यऽपठनादेवाऽस्यापि ॠद्भविष्यति, तदा यदाऽनित्यो हि णिच्चुरादीनामिति न्यायेन णिजऽभावस्तदा कृतण् इति पाठे कृततीति न स्यात् किन्तु कर्त्ततीत्यनिष्टं स्यादिति वर्णग्रहण, ह्रस्वाधिकारेणैव सिद्धे ॠत्करणमचीकृतदित्यत्र गुणनिषेधार्थं, ह्रस्वकरणसामर्थ्याद् गुणो न भविष्यतीति न वाच्यं गुणकरणे ह्रस्वस्य चरितार्थत्वात् ।

जिघ्रतेरिः ॥ ४. २. ३८ ॥

जिघ्रतेरुपान्त्यस्य ङपरे णाविकारो वा भवति । अजिघ्रिपत्, अजिघ्रपत् । तिव्निर्देशो यङ्लुप्निवृत्त्यर्थः । अजाघ्रपत् ॥३८॥

तिष्ठतेः ॥ ४. २. ३९ ॥

तिष्ठतेरुपान्त्यस्य ङपरे णाविकारो भवति । अतिष्ठिपत्, अतिष्ठिपताम्, अतिष्ठिपन् । तिव्निर्देशो यङ्लुप्निवृत्त्यर्थः । अतास्थपत्, योगविभागो नित्यार्थः ॥३९॥

ऊदुदुषो णौ ॥ ४. २. ४० ॥

दुषेरुपान्त्यस्य णौ परे ऊकारादेशो भवति-दुष्यन्तं प्रयुङ्क्ते दूषयति, प्रदूष्य गतः । णाविति किम्? दोषो वर्तते, धातोः स्वरूपग्रहणे तत्प्रत्ययविज्ञानादिह न भवति । दोषणं

दुट् क्विप्-दुषमाचष्टे दुषयति, पुनर्णिग्रहणं ङनिवृत्त्यर्थम्, ङे ह्रस्वो न भवतीत्यन्ये, अदुदूषत् ।। ४० ।।

न्या० स०-ऊद्दुषो०-तत्प्रत्ययविज्ञानादिति-तस्य दुषेर्धातोः संबन्धी प्रत्ययस्तत्प्रत्ययः, दुषयतीत्यत्र तु न दुषिधातोः संबन्धी प्रत्ययः किं तर्हि 'णिज् बहुलं नाम्नः कृगादिषु' ३-४-४२ णिज् नाम्नः परतो विहितत्वान्नामसंबन्धी, यद्वा तत्प्रत्ययस्येत्थंव्याख्यानात्तस्माद्धातोरनन्तरः प्रत्ययः ।

ङनिवृत्त्यर्थमिति-तेन सामान्येन णौ भवतीति न तु ङ पर एवेत्यर्थः । **न भवतीत्यन्ये इति**-तन्मतसंग्रहार्थमूकारप्रश्लेषो विधेयः ।

अदुदूषदिति-दुष्यन्तं प्रायुक्त णिग् गुण ऊद्दुषा णौ ऊकारः ।

चित्ते वा ।। ४. २. ४१ ।।

चित्तविषयस्य चित्तकर्तृकस्य दुषेरुपान्त्यस्य णौ परे उद्वा भवति । चित्तं दुष्यति तदन्यः प्रयुङ्क्ते चित्तं दूषयति, चित्तं दोषयति, मनो दूषयति, मनो दोषयति । चित्तग्रहणेन प्रज्ञाया अपि ग्रहणात् प्रज्ञां दूषयति, प्रज्ञां दोषयति ।।४१।।

न्या० स०-चित्ते वा-प्रज्ञाया अपीति-चित्तसहचरितत्वात् प्रज्ञाऽपि चित्तमित्यर्थः ।

गोहः स्वरे ।। ४. २. ४२ ।।

कृतगुणस्य गुहेः स्वरादौ प्रत्यये परे उपान्त्यस्योद्भवति । निगूहति, निगूहयति, निगूहकः, साधुनिगूही, निगूहंनिगूहम्, निजुगूह । गोह इति किम् ? निजुगुहतुः, निजुगुहुः । स्वर इति किम् ? निगोढा, निगोढुम् ।। ४२ ।।

भुवो वः परोक्षाद्यतन्योः ।। ४. २. ४३ ।।

भुवो वकारान्तस्य परोक्षाद्यतन्योः परतः उपान्त्यस्योद्भवति । बभूव, बभूवतुः, बभूवु, बभूविथ, बभूवुषः, बभूवुषा, अभूवन्, अभूवम् । वृद्धिगुणोवादेशेषु कृतेषु भुवो वकारान्तत्वम् । व इति किम् ? बभूवान्, अभूत् । अत्र भस्य माभूत् । परोक्षाद्यतन्योरिति किम् ? भविष्यति ।। ४३ ।।

न्या० स०-भुवो वः०-भुवो वकारान्तस्येति अत्र पूर्वसूत्रात्स्वरऽनुवर्त्य ततश्च परोक्षाद्यतन्योः स्वरे परे इति व्याख्याने स्वयमेव वकारान्तत्वं लप्स्यते किं वग्रहणेन ? उच्यते, यदि स्वरोऽनुवर्त्यते तदा उत्तरसूत्रेऽनवर्त्तमानो दुर्निवारः स्यात्तथा च स्रस्त इत्यादौ 'नो व्यञ्जनस्य' ४-२-४५ इति न लोपो न स्यात्, अत एव 'गमहन' ४-२-४४ इति सूत्रे स्वरग्रहणं, किं च वग्रहणाऽभावे बभूवेत्यादौ नित्यत्वादपवादत्वाच्च वृद्ध्यादिबाधया ऊकारोपान्त्यस्य भस्य ऊत्वप्रसङ्गः स्यादिति वग्रहणम् ।

अत्र भस्येति-उपान्त्यस्येत्यधिकारादित्यर्थः ।

गम-हन-जन-खन-घसः स्वरेऽनङि क्ङिति लुक् ॥ ४. २. ४४ ॥

एषामुपान्त्यस्याङ्वर्जिते स्वरादौ क्ङिति प्रत्यये परे लुग् भवति । क्विति-गम्, जग्मतुः, जग्मुः । हन्-जघ्नतुः, जघ्नुः । जन्-जज्ञे, जज्ञाते, जज्ञिरे । खन्-चख्नतुः, चख्नुः । घस्-जक्षतुः, जक्षुः, जक्षिवान्, ङिति-घ्नन्ति । कतीह निघ्नानाः । कथं जज्ञतुः जज्ञुः इति छान्दसावेतौ । स्वर इति किम् ? गम्यते, हन्यते । अनङीति किम् ? अगमत्, अघसत् । क्ङितीति किम् ? गमनम्, हननम् ।। ४४ ।।

न्या० स०-गमहन०-कथं जज्ञतुरिति धातोरात्मनेपदित्वात् कथं परस्मैपदमित्याशयः । छान्दसाविति-जुहोत्यादौ जन जनने परस्मैपदिनं छान्दसं पठन्ति तस्याऽयं प्रयोग इष्यते ।

नो व्यञ्जनस्यानुदितः ॥ ४. २. ४५ ॥

व्यञ्जनान्तस्यानुदितो धातोरुपान्त्यस्य नकारस्य क्ङिति प्रत्यये परे लुग्भवति । स्रस्तः, स्रस्तवान्, स्रस्यते, सनीस्रस्यते, ध्वस्तः, ध्वस्तवान्, ध्वस्यते, दनीध्वस्यते, अस्तभत्, अग्लुचत्, परिष्वजते, परिष्वजेते ।

व्यञ्जनस्येति किम् ? नीयते, नेनीयते । अनुदित इति किम् ? टुनदु नन्द्यते, नानन्द्यते, क्ङितीत्येव,-स्रंसिता, ध्वंसिता । उपान्त्यस्येत्येव,-नह्यते, नानह्यते ।। ४५ ।।

अञ्चेरनर्चायाम् ॥ ४. २. ४६ ॥

अञ्चेरनर्चायामेव वर्तमानस्योपान्त्यनकारस्य लुग् भवति । उदक्तमुदकं कूपात्, अनर्चायामिति किम् ? अञ्चिता गुरवः, पूर्वेण सिद्धे नियमार्थो योगः ।।४६।।

लङ्गि-कम्प्योरुपतापाङ्ग-विकृत्योः ॥ ४. २. ४७ ॥

लङ्गिकम्प्योरुपान्त्यनकारस्य यथासंख्यमुपतापेऽङ्गविकारे चार्थे क्ङिति प्रत्यये लुग्भवति ।

विलगितः, विकपितः । उपतापाङ्गविकृत्योरिति किम् ? विलङ्गितः, विकम्पितः । लङ्गिकम्प्योरुदित्वात् पूर्वेणाप्राप्ते वचनम् । द्विवचनं क्ङितीत्यनेन यथासंख्यनिवृत्त्यर्थम् ।४७।

न्या० स०-लङ्गिकम्प्यो०-विगलित इति-विगल्यते स्म, रोगादिनोपतापितः । विलङ्गित इति-विलङ्गति स्म केनचिदङ्गेन हीन इत्यर्थः । विकम्पित इति-विकम्पते स्म मनसि कम्पितः, चित्ते भीत इत्यर्थ इति नाऽङ्गविकृतिः ।

भञ्जेर्ञौ वा ॥ ४. २. ४८ ॥

भञ्जेरुपान्त्यनकारस्य ञौ परे लुग्वा भवति । अभाजि । अभञ्जि ।।४८।।

दंश-सञ्जः शवि ॥ ४. २. ४९ ॥

अनयोरुपान्त्यनकारस्य शवि परे लुग्भवति । दशति, सजति । तुदादावपठितवानयोर्भ्वादौ पाठः शवर्थः-तेन 'श्यशवः' (२-१-११५) इति नित्यमन्तादेशः सिद्धो भवति । दशन्ती, सजन्ती ॥४९॥

अकट्घिनोश्च रञ्जेः ॥ ४. २. ५० ॥

रञ्जेरकटि घिनणि शवि च प्रत्यये उपान्त्यनकारस्य लुग् भवति । रजकः, रागी, रजति । रजः, रजनिः, रजनम् रजतमित्यौणादिककित्प्रत्ययान्ताः ॥५०॥

णौ मृगरमणे ॥ ४. २. ५१ ॥

रञ्जेरुपान्त्यनकारस्य णौ परे मृगाणां रमणे क्रीडायामर्थे लुग्भवति । रजयति मृगान्व्याधः । मृगरमण इति किम् ? रञ्जयति रजको वस्त्रम् , रञ्जयति सभां नटः ॥५१॥

न्या० स० णौ मृग०—मृगरमणादन्यत्रापि कश्चिदिच्छति, यथा राजर्षिकल्पो रजयति मनुष्यान् । रञ्जयति रजको वस्त्रमिति-रजति वस्त्रं रजकः, स एवं विवक्षते-नाऽहं रजामि, रज्यते वस्त्रं स्वयमेव तद्रज्यमानं प्रयुङ्क्ते, यद्वा रजति वर्णान्तरमापद्यते वस्त्रं कर्तृ तद्रजत् रजकः प्रयुङ्क्ते णिग् ।

घञि भावकरणे ॥ ४. २. ५२ ॥

रञ्जेरुपान्त्यनकारस्य भावकरणार्थे घञि परे लुग् भवति । रञ्जनं रजत्यनेनेति वा रागः । घञि इति किम् ? रञ्जनम् । भावकरणे इति किम् ? रजन्त्यस्मिन्निति रङ्गः ॥५२॥

स्यदो जवे ॥ ४. २. ५३ ॥

स्यद इति स्यन्देर्घञि नलोपो वृद्ध्यभावश्च निपात्यते, जवे वेगेऽभिधेये । गोस्यदः, अश्वस्यदः । जव इति किम् ? घृतस्यन्दः तैलस्यन्दः ॥५३॥

दश-नावोदैधोद्म-प्रश्रथ-हिमश्रथम् ॥ ४. २. ५४ ॥

एते शब्दाः कृतनलोपादयो निपात्यन्ते । दन्शेरनटि अवपूर्वस्य उन्देः इन्धेश्च घञि उन्देर्मनि नलोपः प्रहिमपूर्वस्य श्रन्थेर्घञि वृद्ध्यभावश्च निपात्यते । दशनम् , अवोदः, एधः, ओद्म, प्रश्रथः, हिमश्रथः ॥५४॥

न्या० स० दशनावो०-अवोद इति—अत्र गुणे कृते 'उपसर्गस्यानिणे०' १-२-१९ इत्यऽकारलोपः ।

यमि-रमि-नमि-गमि-हनि-मनि-वनति-तनादेर्धुटि क्ङिति ॥ ४. २. ५५ ॥

यमिरमिनमिगमिहनिमनीनां वनतेस्तनादीनां च धुडादौ क्ङिति प्रत्यये परेऽन्तस्य लुग्भवति ।

यतः, यतवान्, यत्वा, यतिः, रतः, रतवान्, रत्वा, रतिः, नतः, नतवान्, नत्वा, नतिः, गतः, गतवान् गत्वा, गतिः, हतः, हतवान्, हत्वा, हतिः, आहत, आहथाः । मनीति मन्यतेर्ग्रहणम् मनोतेस्तनादित्वेन सिद्धत्वात् । मतः, मतवान्, मत्वा, मतिः वतिः, वितः, तिकि तु प्रतिषेधं वक्ष्यति । तनादि-तनूयी-ततः, ततवान्, तत्वा, ततिः, सनोतेरात्वं वक्ष्यति । क्षणूग्-क्षतः, क्षतवान्, क्षत्वा क्षतिः, ऋणूयी-ऋतः, ऋतवान्, तृणूयी-तृतः, तृतवान्, घृणूयी-घृतः, घृतवान्, वनूयि-वतः, वतवान्, मनूयि-मतः, मतवान् ।

एषामिति किम् ? शान्तः, दान्तः । तिव्गणनिर्देशाद्यङ्लुपि न भवति । वंवान्तः, तंतान्तः । अन्यत्र भवति, यंयतः, रंरतः, नंनत, जंगतः, जंघतः, मंमतः । धुटीति किम् ? यम्यते, यंयम्यते । क्ङितीति किम् ? यन्ता, रन्ता ॥५५॥

न्या० स०–यमिरमि०–हतिरिति–'सातिहेति' ५-३-९४ इति बाधनार्थं श्र्वादिभ्यः क्तिः । वतिरिति–क्तक्तवतू न दर्शितौ इट् प्राप्तेः, क्तौ तु नियमान्नेट् । जंघत इति–कुटिलं हतः, यङ्लुप् द्वित्वं मुरन्तः, 'अङे हिहनः' ४-१-३४ इति घः, गत्यर्थत्वाद् घ्नीर्न भवति, केचित्तु यङ्लुपि घ्नीं नेच्छन्ति तन्मते वधार्थोऽपि ।

यपि ॥ ४. २. ५६ ॥

एषां धातूनामन्तस्य यपि परे लुग्भवति । 'वामः' (४-२-५७) इति वचनान्मान्तानामेवायं विधिः । हन्-प्रहत्य, मन्-प्रमत्य, वनति-प्रवत्य, तनादि-प्रतत्य, प्रसत्य, प्रक्षत्य । यपीति किम् ? हन्यते, वन्यते, तन्यते ॥५६॥

वामः ॥ ४. २. ५७ ॥

एषां मकारान्तानां यपि प्रत्ययेऽन्तस्य वा लुग्भवति । प्रयत्य, प्रयम्य, विरत्य, विरम्य, प्रणत्य, प्रणम्य, आगत्य, आगम्य । एषामित्येव,-उपशम्य ॥५७॥

गमां क्वौ ॥ ४. २. ५८ ॥

एषां गमादीनां यथादर्शनं क्वौ क्ङिति प्रत्ययेऽन्तस्य लुग्भवति । बहुवचनं प्रयोगानुसरणार्थम् ।

जनं गच्छति जनंगत्, कलिङ्गगत्, यम्-संयत्, वियत्, तन्-परीतत्, उपातत्, सन्-सुसत्, मन्-सुमत्, वन्-सुवत्, क्षण्-सुक्षत्, विक्षत् । अग्रेगूरित्यौणादिको डूः ॥५८॥

न्या० स०–गमांक्वौ–गमादीनामिति–गमादयोऽन्येऽपि बहुलं ज्ञेया, न तु 'यमिरमि' ४-२-५५ इति सूत्रोक्ता एव गमादिगणस्य तेभ्यः पृथग्भूतत्वात्, अत एव सूत्रे यमामित्येव नोक्तं, रमिनमिहनीनामुदाहरणानि च न दर्शितानि ।

न तिकि दीर्घश्च ॥ ४. २. ५९ ॥

एषां तिकि प्रत्यये लुग् दीर्घश्च न भवति । यन्तिः, रन्तिः, नन्तिः, गन्तिः, हन्तिः, मन्तिः, वन्तिः, तन्तिः । क्षणिति लाक्षणिकोऽयं णकारः-तेन क्षन्तिरिति भवति । अन्य-स्त्वौपदेशिकोऽयमिति मन्यते तन्मते क्षण्टिः । अन्तलोपे प्रतिषिद्धे 'अहन्पञ्चम'-(४-१-१०७) इत्यादिना दीर्घत्वं प्राप्तं तदपि प्रतिषिध्यते । एषामित्येव,-शान्तिर्भगवान् । तिकीति किम् ? यतिः, रतिः, ततिः ॥५९॥

न्या० स०-न तिकि०-तेनक्षन्तिरितीति-नान्तप्रकृतेर्णत्वबाधनाय म्नामिति बहुवचनात् प्रथममेव नकारः, म्नामिति बहुवचनाण्णत्वं कृतमपि वर्गान्ते कर्त्तव्ये निवर्त्तते वा, अत्र सूत्रे यमादयो गमादयश्च गृह्यन्ते, न त्वनन्तरसूत्रोक्ताः द्वयोरपि प्राप्तेः संभवात् ।

आः खनि-सनि-जनः ॥ ४. २. ६० ॥

खनादीनां धुडादौ क्ङिति प्रत्यये परेऽन्तस्याकारादेशो भवति ।

खातः, खातवान्, खात्वा, खातिः, सन्-'षणूयी दाने' वनषण भक्तौ वा । सातः, सातवान्, सात्वा, सातिः, जन्-जातः, जातवान्, जात्वा, जातिः । क्ङितीत्येव,-चंखन्ति, संसन्ति, जंजन्ति ॥६०॥

न्या० स०-आः खनि-खात इति-खायते स्म खन्यते स्मेति वा 'क्त' ५-१-१७४ इति वा क्ते 'वेटोऽपतः' ४-४-६२ इडभावः । सात्वेति-षणूयी दान इत्यस्यैवायं प्रयोगः, षण भक्तावित्यस्य सनित्वैव । चंखन्तीत्यादि-तसि च चङ्खातः संसातः जंजातः, सनि-सिसनिषतीति, सनोतेः सनतेर्वा 'णिस्तोरेव' २-३-३७ इति नियमान्न षत्वम् ।

सनि ॥ ४. २. ६१ ॥

खनादीनां धुडादौ सनि परतोऽन्तस्यात्वं भवति । सिषासति, खनिजनोरिटा भवितव्यमिति धुडादिः सन्न भवति । धुटीत्येव,-सिसनिषति-'इवृध'-(४-४-४९) इत्यादिना वेट् । क्ङितीत्यसंभवादिह न संबध्यते ॥६१॥

ये नवा ॥ ४. २. ६२ ॥

खनादीनां ये क्ङिति प्रत्ययेऽन्तस्याकारो वा भवति । खायते, खन्यते, चाखायते, चंखन्यते, प्रखाय, प्रखन्य, सायते, सन्यते, सासायते, संसन्यते, प्रसाय, प्रसन्य, प्रसत्य, जायते, जन्यते, जाजायते, जंजन्यते, प्रजाय, प्रजन्य । श्ये तु 'जा ज्ञाजनोऽत्यादौ' (४-२-१४) इति नित्यं जादेशः जायते ।

य इत्यकारान्तनिर्देशादिह न भवति । खन्यात्, सन्यात्-अन्यथा यीति क्रियेत । केचिदत्रापीच्छन्ति खायात्, सायात् । क्ङितीत्येव,-सान्यम्, जन्यम् ॥६२॥

न्या स०- ये नवा—प्रसायेत्युभयोः प्रसन्येति भक्त्यर्थस्य प्रसत्येति तु दानार्थस्य तनादित्वेन न लोपात् ।

तनः क्ये ॥ ४. २. ६३ ॥

तनोतेरन्तस्य क्य परे आकारो वा भवति । तायते, तन्यते । क्य इति किम् ? तन्तन्यते ॥ ६३ ॥

तौ सनस्तिकि ॥ ४. २. ६४ ॥

सनित्येतस्य तिकि प्रत्यये परे तौ लुगाकारौ वा भवतः । षणू,-सतिः, सातिः, सन्तिः, षण् भक्तौ सतिः, सातिः, सान्तिः । 'अहन्पञ्चम-' (४-१-१०७) इत्यादिना दीर्घः ॥ ६४ ॥

वन्याङ्पञ्चमस्य ॥ ४. २. ६५ ॥

धातोः पञ्चमस्य वनि प्रत्यये परे आकारो भवति । आङिति आकारान्तरप्रश्लेषादननुनासिकोऽनुनासिकश्चायमादेशः । अन्यथा 'लि लौ" (१-३-६६) इति ज्ञापकादननुनासिक एव स्यात् ।

जन् विजावा, खन् विखावा, क्रम् दधिक्रावा, गम् अग्रेगावा, घुण् ध्वावा, घूर्ण घूरावा, ओणृ अवावा, इवु व्याप्तौ च । वनि-'रवोः प्वरव्यञ्जने लुक्' (४-४-१२२) इति वलोपे नकारस्यात्वे यावा । पुनराग्रहणं ताविति नवेति च निवृत्यर्थम् । ङित्करणं ध्वावेत्यादौ गुणनिषेधार्थम् ॥ ६५ ॥

न्या० स०—वन्याङ्०-आकारान्तरप्रश्लेषादिति-आश्चाऽसावाङ च यद्वा आश्च आश्च तयोरनुबन्धी ङ् इति ।

अपाच्चायश्चिः क्तौ ॥ ४. २. ६६ ॥

अपपूर्वस्य चायतेः क्तिप्रत्यये चिरादेशो भवति । अपचितिः ॥६६॥

ह्लादो ह्लद् क्तयोश्च ॥ ४. २. ६७ ॥

ह्लादतेः क्तक्तवत्वोः क्तौ च परतो ह्लद् आदेशो भवति । ह्लन्न, ह्लन्नवान्, प्रह्लन्नः प्रह्लन्नवान्, ह्लत्तिः, प्रह्लत्तिः । क्तयोश्चेति किम् ? ह्लादित्वा ॥६७॥

ॠल्वादेरेषां तो नोऽप्रः ॥ ४. २. ६८ ॥

पूर्वजितादॄकारान्ताद्धातोर्ल्वादिभ्यश्च परेषामेषां क्तिक्तक्तवतूनां तकारस्य नकार आदेशो भवति ।

तॄ-तीर्णिः तीर्णः, तीर्णवान्, कॄ-कीर्णिः, कीर्णः, कीर्णवान्, गॄ-गीर्णिः, गीर्णः, गीर्णवान्, ल्वादि-लूनिः, लूनः, लूनवान्, धूनिः धूनः, धूनवान्, लीनिः, लीनः, लीनवान् ।

अप्र इति किम् ? पूर्तिः । पूर्णिरित्यपि कश्चित्,-पूर्तः, पूर्तवान् । ल्वादिषु ये ॠकारान्ता स्तॄदॄप्रभृतयस्तेषामॄग्रहणेनैव सिद्धे तत्र पाठः प्वादिकार्यार्थः । क्राद्यन्तर्गणो ल्वादिः ॥६८॥

न्या० स०-ॠल्वादे०-पूर्णिरित्यपीति-ते ह्युत्तरसूत्रेऽप्र इति कुर्वन्ति, तत्र च सूत्रे क्तयोरेव नत्वनिषेधः, क्तौ तु 'ॠल्वादेः' ४-२-६८ इति भवत्येव । ननु ॠकारान्ताना-मिरादेशे रेफान्तत्वादुत्तरेण भविष्यति किं ॠग्रहणेन ? सत्यं, उत्तरेण क्तयोर्भवति, अनेन तु क्तिक्तक्तवतुषु, अथ क्त्यर्थं ॠतां क्ताविव्युच्येत, तर्हि ॠतां क्तावेव स्यात् क्तयोस्तूत्त-रेणापि न स्यात् ।

रदादमूर्च्छमदः क्तयोर्दस्य च ॥ ४. २. ६९ ॥

मूर्च्छिमदिवर्जिताद्रेफदकारान्ताद्धातोः परस्य क्तयोः क्तक्तवत्वोस्तकारस्य तत्संनि-योगे धातुदकारस्य च नकारो भवति ।

पूरै-पूर्ण, पूर्णवान्, गुरै-गूर्णः, गूर्णवान्, भिद्-भिन्नः, भिन्नवान्, छिद्-छिन्नः, छिन्नवान् । रदादिति किम् ? चितः, चितवान् । अमूर्च्छमद इति किम् ? मूर्तः, मूर्तवान्, मत्तः, मत्तवान् । कृतस्यापत्यं कार्तिरित्यत्र ❀ 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' ❀ इति न भवति । क्तयोरिति किम् ? पूर्तिः, भित्तिः । कथं चूर्णिः ? चुरेरौणादिको णिः ।

रदस्येति किम् ? चरितम्, उदितम् । इटा व्यवधाने न स्यात् । कृतः कृतवानि-त्यत्र तु वर्णैकदेशानां वर्णग्रहणेनाग्रहणान्न भवति । रेफात्परेण स्वरभागेण व्यवधानाद्वा, ॠकारस्य हि मध्येऽर्धमात्रो रेफः अग्रेपश्चाच्च तुरीयः स्वरभागः प्रतिज्ञायते । भिन्नवद्भ्या-मित्यत्र प्रत्ययदकारस्य परेऽसत्त्वात् सूत्रे चाश्रुतत्वान्न भवति । कथं चीर्णः चीर्णवानिति ? चॄ इति धात्वन्तरं चरतिसमानार्थम् क्तक्तवतुविषयमामनन्ति ॥६९॥

न्या० स०- रदादमूर्छ०-असिद्धं बहिरङ्गमिति-आरूपमित्यर्थः । वर्णग्रहणेनाऽ-ग्रहणादिति-ॠकारलक्षणो वर्णः तस्य एकदेशो रेफो वर्णग्रहणेन न गृह्यते, कस्मात् ? असन्निधानात्, यतो दकारः स्वतन्त्र एव वर्णोऽत्राऽस्त्यऽतो रेफोऽपि स्वतन्त्र एव ग्राह्यः ।

प्रतिज्ञायते इति-पूर्वाचार्यैर्निश्चीयते न तु लेखितुं शक्यते ।

प्रत्ययदकारस्येति—'धुटस्तृतीयः' २-१-७६ इति विहितस्य । सूत्रे चाऽश्रुतत्वा-दिति-रदादिति धातुदकारस्यैव भणनादित्यर्थः ।

क्तक्तवतुविषयमिति-तेन चर्यते स्मेति धात्वन्तरेण वाक्यम् ।

सूयत्याद्योदितः ॥ ४. २. ७० ॥

सूयत्यादिभ्यो नवभ्यो धातुभ्य ओकार इद्येषां तेभ्यश्च परस्य क्तयोस्तकारस्य नकारादेशो भवति ।

षूङौच्-सूनः सूनवान्, दूङ्च्-दूनः, दूनवान्, दीङ्च्-दीनः, दीनवान्, धीङ्च्-धीनः, धीनवान्, मीङ्च्-मीनः, मीनवान्, रीङ्च्-रीणः, रीणवान्, लींङ्च्-लीनः, लीनवान्, डीङ्च्-डीनः, डीनवान्, व्रीङ्च्-व्रीणः, व्रीणवान् इति सूयत्यादयः । ओदित्-

ओ लजैङ् ओलस्जेति वा लग्नः, लग्नवान्, ओविजैति, उद्विग्नः, उद्विग्नवान् । ओप्यायैङ् पीनः, पीनवान्, टुवोश्वि-शूनः, शूनवान्, ओव्रश्चौत्-वृक्णः, वृक्णवान् । एग्य इति किम् ? पीतः, पीतवान्, सूयतीति श्यनिर्देशः सूतिसुवत्योर्निवृत्त्यर्थः ॥७०॥

व्यञ्जनान्तस्थातोऽख्याध्यः ॥ ४. २. ७१ ॥

ख्याध्यावर्जितस्य धातोर्यद्व्यञ्जनं तस्मात्परा याऽन्तस्था तस्याः परो य आकारस्तस्मात्परस्य क्तयोस्तकारस्य नो भवति ।

स्त्यानः, स्त्यानवान्, निद्राणः, निद्राणवान्, ग्लानः ग्लानवान् । व्यञ्जनेति किम् ? यातः, यातवान् । अन्तस्थेति किम् ? स्नातः, स्नातवान् । आत इति किम् ? च्युतः च्युतवान्, द्रुतः, द्रुतवान्, प्लुतः, प्लुतवान् । धातुना व्यञ्जनस्य विशेषणादिह न भवति । निर्यातः, निर्यातवान् । द्विर्भावेप्यन्तस्थेत्यभेदाश्रयणाद्बहिरङ्गत्वेनासिद्धेश्च न भवति । अख्याध्य इति किम् ? ख्यातः, ख्यातवान्, ध्यातः, ध्यातवान् । आतः परस्येति किम् ? दरिद्रितः, दरिद्रितवान् ॥७१॥

न्या० स० व्यञ्जनान्तस्थातोऽख्याध्यः-ख्याश्च ध्याश्चेति कृते यदा क्लीबे ह्रस्वस्तदा ङसोऽतः सूत्रत्वाल्लुप् । बहिरङ्गत्वेनेति-उपसर्गद्विपदाश्रयत्वाद् बहिरङ्गं यकारस्य द्वित्वं । आतः परस्येति किमिति-ननु आत इति किमित्यऽनयापि व्यावृत्त्या सिद्धं किमनया ? सत्यं, तत्राकारात् विहित एव नास्ति, अत्र त्वाकाराद्विहितः परमिटा व्यवहितः ।

पूदिव्यञ्चेर्नाशाद्यूतानपादाने ॥ ४. २. ७२ ॥

पू दिव् अञ्च् इत्यतेभ्यो यथासंख्यं नाशेऽद्यूते अनपादाने चार्थे परस्य क्तयोस्तकारस्य नकारादेशो भवति । पूना यवा विनष्टा इत्यर्थः ।

आद्यूनः, परिद्यूनः, समक्नौ शकुनेः पक्षौ संगतावित्यर्थः नाशाद्यूतानपादान इति किम् ? पूतं धान्यम्, द्यूतं वर्तते उदक्तमुदकं कूपात्, कथं व्यक्तम् ? अञ्जेर्भविष्यति ॥७२॥

न्या० स०-पूदिव्य० अनपादाने चार्थे इति-कोऽर्थः ? अञ्चिवाच्या क्रिया यद्यप्यपादानसाधनिका न भवतीत्यर्थः ।

सेर्ग्रासे कर्मकर्तरि ॥ ४. २. ७३ ॥

सिनोतेः सिनातेर्वा परस्य क्तयोस्तकारस्य ग्रासे कर्मणि कर्तृत्वेन विवक्षिते नकारो भवति । सिनो ग्रासः स्वयमेव । ग्रास इति किम् ? सितं कर्म स्वयमेव । कर्मकर्तरीति किम् ? सितो ग्रासो मैत्रेण, सितो गलो ग्रासेन ॥७३॥

क्षेः क्षी चाध्यार्थे ॥ ४. २. ७४ ॥

ध्यणर्थो भावकर्मणी ततोऽन्यस्मिन्नर्थे विहितयोः क्तयोस्तकारस्य क्षि इत्येतस्मात्परस्य नकारो भवति तत्संनियोगे चास्य क्षी इत्ययमादेशो भवति ।

कर्तरि-क्षीणः क्षीणवान् मंत्रः । अधिकरणे, 'इदमेषां क्षीणम्' । अध्यार्थ इति किम् ? क्षितमस्य' भावे क्तः-क्षिष्श् हिंसायामित्यस्य सानुबन्धत्वान्न ग्रहणम्, अन्यस्तु तस्यापि ग्रहणमिच्छति ।।७४।।

वाक्रोशदैन्ये ॥ ४. २. ७५ ॥

आक्रोशे दैन्ये च गम्यमाने क्षेः परस्याध्यार्थे क्तयोस्तकारस्य वा नकारादेशो भवति, तत्संनियोगे च क्षी इत्ययमादेशो भवति ।

आक्रोशे क्षीणायुः क्षितायुर्वा जाल्मः, दैन्ये क्षीणकः, क्षितकः तपस्वी । अध्यार्थ इत्येव,-'क्षितं जाल्मस्य' क्षितं तपस्विनः । कश्चित्तु भावेऽपि विकल्पमिच्छति । क्षीणमनेन, क्षितमनेन-क्षेर्भावकर्मणोर्भाषायां क्त एव नास्तीति कश्चित् ।। ७५ ।।

न्या० स०-वाक्रोशदैन्ये-आक्रोशश्च दैन्यं चेति कृते विरोधिनामेव अद्रव्याणामेवेति समाहाराऽप्राप्तौ सूत्रत्वात् समाहारः, विशेषणसमासो वा ।

क्षितं जाल्मस्येति 'वा क्लीबे' २-२-९२ इति षष्ठी । भाषायामिति-लक्षणशास्त्रे न भवति, किन्तु छन्दस्येवेत्यर्थः ।

ॠह्रीघ्राध्रात्रोन्दनुद विन्तेर्वा ॥ ४. २. ७६ ॥

एभ्यः परस्य क्तयोस्तकारस्य नकारो वा भवति ।

ॠ.-ऋणम्, ऋतम्, ह्री,-ह्रीणः, ह्रीणवान्, ह्रीतः, ह्रीतवान् । घ्रा,-घ्राणः, घ्राणवान्, घ्रातः, घ्रातवान् । ध्रा,-ध्राणः, ध्राणवान्, ध्रातः. ध्रातवान् । त्रा त्राणः, त्राणवान्, त्रातः, त्रातवान् । उन्द,-समुन्नः समुन्नवान्, समुत्तः, समुत्तवान् । नुद,-नुन्नः, नुन्नवान्, नुत्तः नुत्तवान् । विदिष् विचारणे विन्नः, विन्नवान्, वित्तः, वित्तवान् । विदः श्ननिर्देशाद्विद्यतेर्विन्दतेश्च नित्यं नकारः । विन्नः. विन्नवान् । प्रथमाभ्यामप्राप्ते घ्रादिभ्यस्तु प्राप्ते विकल्पः । तेन दकारान्तानां दस्यापि पूर्वेण नत्वं भवति । तकारनत्वाभावपक्षे च संनियोगशिष्टत्वाद्दस्यापि नकारो न भवति । व्यवस्थितविभाषेयम्, तेन ऋणमित्युत्तमर्णाधमर्णयोरेव । अन्यत्र ऋतं सत्यम्, त्रायतेस्तु संज्ञायां न भवति । त्रातः, देवत्रातः, अन्यत्र तु नत्वम्, त्राणः,-उभयमित्येके ।। ७६ ।।

न्या स०-ॠह्रीघ्राध्रा०-तेप्रत्ययान्तमाख्यातपदमनुक्रियते, 'इकिस्तिव्' ५-३-१३८ इति श्तिव्प्रत्ययान्तस्य तु न विनत्तीति रूपं स्यात् । देवत्रात इति-त्रासीष्ट देवता एनं त्रासीरन्निति वा 'तिक्कृतौ नाम्नि' ५-१-७१ इति क्तः । उभयमित्येके इति-असंज्ञायां नत्वं नाऽभावश्च संज्ञायां तु नत्वाभाव एवेत्यर्थः ।

दुगोरू च ॥ ४. २. ७७ ॥

दुगु इत्येताभ्यां परस्य क्तयोस्तकारस्य नकारादेशो भवति तत्संनियोगे च अनयोरूकारश्चान्तादेशो भवति । दूनः, दूनवान्, गूनः गूनवान् ।। ७७ ।।

क्षै-शुषि-पचो म-क-वम् ॥ ४. २. ७८ ॥

क्षैशुषिपचिभ्यः परस्य क्तयोस्तकारस्य यथासंख्यं म क व इत्येते आदेशा भवन्ति । क्षामः, क्षामवान्, शुष्कः, शुष्कवान्, पक्वः, पक्ववान् । ७८ ॥

निर्वाणमवाते ॥ ४. २. ७९ ॥

निर्वाणमिति निर्पूर्वाद्वाधातोः परस्य क्तकारस्य नकारो निपात्यते, अवाते कर्तरि वातश्चेन्निर्वातिक्रियायाः कर्ता न भवति । निर्वाणो मुनिः, निर्वाणो दीपः ।

अवाते इति किम् ? निर्वातो वातः, निर्वातं वातेन भावेऽपि वात एव कर्ता, निर्वाणः प्रदीपो वातेनेत्यत्र तु प्रदीपः कर्ता । वातस्तु हेतुः करणं वेति प्रतिषेधो न भवति । केचित्तु निर्वाणं वातेनेतीच्छन्ति, तेषां वाते कर्तरि प्रत्यये सति प्रतिषेध इति द्रष्टव्यम् ।७९।

न्या० स०-निर्वाणमवाते-अवाते कर्त्तरीति-अकर्म्मकत्वात्कर्त्ता लभ्यते । कर्त्तरिप्रत्यये सतीति-अत्र तु भावे क्तः ।

अनुपसर्गाः क्षीबोल्लाघ-कृश-परिकृश-फुल्लोत्फुल्ल-संफुल्लाः ॥ ४. २. ८० ॥

अनुपसर्गाः क्तप्रत्ययान्ता एते शब्दा निपात्यन्ते । क्षीबृङ् मदे, उत्पूर्वो लाघृङ् सामर्थ्ये, कृशच् तनुत्वे केवलः परिपूर्वश्च, एभ्यः परस्य क्तकारस्य लोप इडभावश्च निपात्यते ।

क्षीबः, उल्लाघः, कृशः, परिकृशः, 'ञिफला विशरणे' इत्यस्मात्केवलादुत्संपूर्वाच्च परस्य क्तस्य लादेशो भावारम्भविवक्षायामिडभावश्च निपात्यते । फुल्लः, उत्फुल्लः, संफुल्लः । केचित्तु क्षीबवान्, उल्लाघवान्, कृशवान्, परिकृशवान्, फुल्लवान्, उत्फुल्लवान्, संफुल्लवान् इति क्तवतावपि रूपमिच्छन्ति तदर्थं क्तक्तवत्वोस्तशब्दावधि निपातनं द्रष्टव्यम्, एतदर्थमेव बहुवचनम् ।

अनुपसर्गा इति किम् ? प्रक्षीबितः, प्रोल्लाघितः, प्रकृशितः, संपरिकृशितः, प्रफुल्लः । निपातनस्येष्टविषयत्वात् फल निष्पत्तौ फलितः, फलितवान् । क्षीबादयः शब्दाः केनाचापि च सिध्यन्ति, क्षीबित इत्यादिरूपनिवृत्त्यर्थं तु वचनम् । कथं प्रक्षीबः ? प्रगतः क्षीबः इति ? प्रादिसमासाद्भविष्यति ।।८०।।

न्या० स०-अनुपसर्गाः०—भावारम्भविवक्षायामिति-अयमर्थः, यदा भावारम्भाविवक्षा तदा 'आदितः' ४-४-७१ इति नित्यमिडभावः, यदा तु भावारम्भविवक्षा तदा 'नवा भावारम्भे' ४-४-७२ इति विकल्पेनेट् स्यात् निपातसामर्थ्याच्च नित्यं निषिध्यते ।

फलनिष्पत्ताविति – उपलक्षणत्वात् फल गतावित्यस्यापि ।

भित्तं शकलम् ॥ ४. २. ८१ ॥

भिदेः परस्य क्तस्य नत्वाभावो निपात्यते शकलम् शकलपर्यायश्चेद्भित्तशब्दो भवति । भित्तम् शकलमित्यर्थः । शकलमिति किम् ? भिन्नम् । शकलमिति पर्यायनिर्देशः किम् ? भिदिक्रियाविवक्षायां शकले विषये भिन्नमित्येव यथा स्यात् । भिन्नं शकलम्, भिन्नं भित्तम् ।।८१।।

न्या० स०–भित्तं शकलम्-**भिन्नं शकलमिति**–वर्त्तते, किं तत् शकलं ? किं विशिष्टं भिन्नं ? द्विधाकृतमिति विशेषणशब्दोऽत्र भिन्नशब्दः, यदि पुनः पर्यायशब्दः स्यात्तदा शकलस्याप्रयोगः स्यात्, पर्यायाणां हि प्रयोगो यौगपद्येन नेष्यते इति वचनात् ।

भिन्नं भित्तमिति-भित्तं शकलमित्यर्थः ।

वित्तं धनप्रतीतम् ॥ ४. २. ८२ ॥

विन्दतेः परस्यक्तस्य नत्वाभावो निपात्यते, धनप्रतीतम् धनपर्यायः प्रतीतपर्यायश्च चेद्वित्तशब्दो भवति । विद्यते लभ्यते इति वित्तम् धनम्, विद्यते उपलभ्यतेऽसाविति वित्तः प्रतीतः । धनप्रतीतमिति किम् ? विन्नः, वेत्तेर्विदितम् । विन्तेर्विन्नं वित्तं च, विद्यतेर्विन्नम् । वित्तं धने प्रतीते च विन्दतेर्विन्नमन्यत्र ।।८२।।

हुधुटो हेर्धिः ॥ ४. २. ८३ ॥

जुहोतेर्धुडन्ताच्च धातोः परस्य हेर्धिरादेशो भवति । जुहुधि, धुट् छिन्धि, भिन्धि, अद्धि, विद्धि । हुधुट इति किम् ? क्रीणीहि । हुधुड्भ्यां परत्वेन हेर्विशेषणादिह न भवति । रुदिहि, स्वपिहि । हेरिति किम ? जुहोतु, अत्तु । जुहुतात्त्वम् भित्तात्त्वमित्यत्र नित्यत्वात्प्रकृत्यनपेक्षणेनान्तरङ्गत्वाच्च तातङ् । तस्य च न पुनर्धिभावो हेरिति शब्दाश्रयणात् । केचित्तु 'हिंसेर्हेरत्' हिंस, 'भुजिभञ्जिभ्यां तु वा' भुञ्ज भुङ्ग्धि, भञ्ज भङ्ग्धि इतीच्छन्ति-नैतद्वैयाकरणरूपसंमतम् । हिन्धि इत्याद्येव तु भवति ।।८३।।

न्या० स०–हुधुटोहे०–हुधुड्भ्यां परत्वेनेति–एतत्तु न कृतं हुधुड्भ्यां विहितस्य हेः । **रुदिहीति**-आगमा यद्गुणीभूता इति न्यायादिट्सहितस्य हेरादेशः प्राप्तः स न भवति, हेरिति व्यक्त्याश्रयणात्, केवलस्य तु हुधुट्भ्यां परत्वेनेति भणनात् न भवति । **हिन्धीति**–अत्र 'सोधि वा' ४-३-७२ इति वा सलुक्, तद्विकल्पे च 'तृतीयस्तृतीय' १-३-४९ इति सस्य तु दः, तस्य च 'धुटो धुटि' १-३-४८ इति वा लुप् तेन हिन्द्धीत्यपि ।

शासस्-हनः शाध्येधि-जहि ॥ ४. २. ८४ ॥

शास् अस् हन् इत्येतेषां हिप्रत्ययान्तानां शाध्येधि जहि इत्येते आदेशा यथासंख्यं भवन्ति । शाधि, एधि, जहि । शास्हनोः यङ्लुप्यपि शाधि, जहि, हनेस्तु यङ्लुपि नेच्छन्त्यन्ये ? जङ्घहि ।।८४।।

न्या० स० शासस्हनः०—शास्हन्साहचर्यात् असिति आदादिकस्य ग्रहणम् ।

यङ्लुप्यपीति–अस्तेस्तु स्वरादित्वात् यङ् नास्ति, अथ णकादिविषये भू आदेशे

यङ्लुप्संभवस्तदाप्यस्तीति व्यक्तिनिर्देशान्न भवति, यद्वा यदा हिप्रदानविवक्षा तदा बाहुलकान्न यङ्लुप् ।

जंघहीति-गत्यर्थेऽत्र यङ् हिंसार्थे तु 'हनो घ्नी' ४-३-९९ इति स्यात्, ये तु ❀ तिवा शवा ❀ इति न्यायस्य सूत्रगणनिर्दिष्टेऽपि प्रवृत्तिमभ्युपगच्छन्ति 'यमिरमि' ४-२-५५ इति लुगभावं क्ङिति 'अहन्पञ्चम' ४-१-१०७ इति हन्तेर्दीर्घत्वं चेच्छन्ति, तेषां हि जंघाहि तन्मते केवलस्यैव हनेर्वर्जनं न यङ्लुबन्तस्य ।

अतः प्रत्ययाल्लुक् ॥ ४. २. ८५ ॥

धातोः परो योऽकारान्तः प्रत्ययस्तस्मात्परस्य हेर्लुग्भवति । दीव्य, पच, पठ, तुद, चोरय । अत इति किम् ? राध्नुहि, प्राप्नुहि । प्रत्ययादिति किम् ? पयि वयि गतौ पायहि, वावहि ॥८५॥

असंयोगादोः ॥ ४. २. ८६ ॥

असंयोगात्परो य उकारस्तदन्तात्प्रत्ययात्परस्य हेर्लुग् भवति । सुनु, चिनु, कुरु । असंयोगादिति किम् ? अर्णुहि, अक्ष्णुहि । असंयोगादित्योर्विशेषणादिहापि न भवति-आप्नुहि, राध्नुहि । ओरिति किम् ? क्रीणीहि । प्रत्ययादित्येव,-युहि, रुहि ॥८६॥

न्या० स०-असंयो०-विशेषणादिति-यदि वा संयोगाद्य उकारान्तः प्रत्यय इति विशेषणं स्यात्तदाऽत्रापि भवेत् ।

वम्यविति वा ॥ ४. २. ८७ ॥

प्रत्ययादिति ओरिति च पञ्चम्यन्तमपि व्यधिकरणषष्ठ्यन्ततया विपरिणम्यते । असंयोगात्परो य उकारस्तस्य प्रत्ययसंबन्धिनो लुग् वा भवति, वकारादौ मकारादौ चाविति प्रत्यये ।

सुन्वः, सुनुवः, सुन्मः, सुनुमः, सुन्वहे, सुनुवहे, सुन्महे, सुनुमहे, तन्वः, तनुवः, तन्मः, तनुमः, तन्वहे, तनुवहे, तन्महे, तनुमहे । वमीति किम् ? सुनुतः, तनुतः । अवितीति किम् ? सुनोमि, तनोमि । ओरित्येव,-क्रीणीवः, प्रीणीमः । प्रत्ययस्येत्येव,-युवः युमः । असंयोगादित्येव,-तक्ष्णुवः, तक्ष्णुमः, अर्णुवः, अर्णुमः । असंयोगादित्योर्विशेषणादिहापि न भवति । आप्नुवः, आप्नुमः ॥८७॥

कृगो यि च ॥ ४. २. ८८ ॥

कृगः परस्याकारस्य यकारादौ वमि चाविति प्रत्यये लुग्भवति । कुर्यात्, कुर्याताम्, कुर्युः, कुर्वः, कुर्मः कुर्वहे, कुर्महे । यि चेति किम् ? तनु, कुरुतः । अवितीत्येव,-करोमि । कुर्मीत्यपि कश्चित्तदसंमतम् । कृंगृ हिंसायामित्यस्मात्तु नकारव्यवधानात् उः परो न संभवतीति न भवति । कृणुयात्, कृणुवः, कृणुमः ॥८८॥

न्या० स० कृणोयि च-अव्यभिचारात् प्रत्यय इति नाधिचक्रे ।

उ: परो न संभवतीति-न चैतद् वाच्यं येन नाव्यवधानं यतः कुर्यादित्यादावव्यवहितोऽस्ति ।

अतः शित्युत् ॥ ४. २. ८९ ॥

शित्यविति प्रत्यये य उकारः तन्निमित्तो यः कृगोऽकारस्तस्योकारो भवति ।

कुरुतः, कुर्वन्ति, कुरु, कुरुताम्, कुर्यात्, अकुरुताम्, कुर्वन्, कुर्वाणः । उविधानबलाद् गुणो न भवति-ओकार एवान्यथा विधीयेत । उकारनिमित्तत्वेनाकारविज्ञानात्, कुर्यादित्यादावुकारलोपेऽपि भवति, अडागमस्य च न भवति-अकुरुत । शितीत्युकारस्य विशेषणं किम् ? कुरुत इत्यादौ शिति व्यवहितेऽपि यथा स्यात् । अवितीत्येव,-करोति ॥८९॥

न्या० स०-अतः शि०-तन्निमित्त इति-एवं सति कुरु इत्यादौ विभक्तिलोपेऽपि भवति । गुणो न भवतीति-उकारे निमित्ते 'लघोरुपान्त्यस्य' ४-३-४ इति प्राप्तः । व्यवहितेऽपीति-अन्यथा कुर्यादित्यादावेव स्यात्, न च 'स्वरस्य' ७-४-११० इति स्थानित्वे व्यवधायकत्वं वाच्यमस्या अनित्यत्वात् ।

श्नास्त्योर्लुक् ॥ ४. २. ९० ॥

श्नस्य प्रत्ययस्यास्तेश्च धातोः संबन्धिनोऽकारस्य शित्यविति प्रत्यये लुग्भवति । रुन्धः, रुन्धन्ति, रुन्ध्यात्, रुन्धन्, रुन्धानः, स्तः, सन्ति, स्थः, स्थ, स्वः, स्मः, स्यात्, स्तात्, स्ताम्, सन् ।

अवितीत्येव-रुणद्धि, अस्ति । अत इत्येव,-अन्त्यस्य मा भूत् । आस्ताम्, आसन् । तिवनिर्देशः किम् ? अस्यतेर्माभूत् अस्यतः ॥९०॥

न्या० स०-श्नास्त्यो०-अन्त्यस्य मा भूदिति-अत इत्यधिकाराभावे षष्ठ्यान्त्यस्येति अस्तेः सस्य लुप् स्यात्, श्नस्य तु प्रत्ययस्येति परिभाषया सर्वस्यापि स्यात् ।

वा द्विषातोऽनः पुस् ॥ ४. २. ९१ ॥

द्विष आकारान्ताच्च धातोः परस्य शितोऽवितोऽनः स्थाने वा पुसादेशो भवति । अद्विषुः, अद्विषन्, अयुः, अयान्, अरुः, अरान्, अलुः, अलान् । अदधुरित्यत्र परत्वान्नित्यमेव, पकारः 'पुस्पौ' (४-३-३) इत्यत्र विशेषणार्थः ॥९१॥

सिज्विदोऽभुवः ॥ ४. २. ९२ ॥

सिचः प्रत्ययाद्विदश्च धातोः परस्यानः स्थाने पुसादेशो भवति, 'अभुवः' न चेद्भुवः परः सिज्भवति । अकार्षुः, अहार्षुः, अगुः, अदुः, अधुः, अपुः, अस्थुः, विद्-अविदुः । अविदन्नित्यपि कश्चित् । अभुव इति किम् ? अभूवन् ॥९२॥

न्या० स० सिज्विदोऽभुवः-सिचः प्रत्ययादिति–भूवर्जनेन सिच् प्रत्ययो लभ्यते, अन्यथा षिचीत् इत्यस्य ग्रहणं स्यात्, अनः स्थाने इत्यधिकारेऽपि सिजित्युक्तेरद्यतन्या अन् लभ्यते, विदस्तु शिदेव अद्यतन्यां तु सिज् द्वारा अवेदिषुरिति ।

कश्चिदिति–तन्मते पूर्वसूत्रे विद्ग्रहणं ज्ञेयम् । **अभूवन्निति**–यदा यङ्लुबन्तस्तदापि ॐ प्रकृतिग्रहणे ॐ इति न्यायात् पुस् न भवति, नाप्युत्तरेण शितोऽभावात्ततोऽबोभूवन्निति भवति ।

द्व्युक्त-जक्षपञ्चतः ॥ ४. २. ९३ ॥

द्वे उक्ते यस्य द्व्युक्तः, पञ्चानां वर्गः पञ्चत्, जक्षाणां पञ्चत् जक्षपञ्चत्, द्व्युक्ताद्धातोर्जक्षपञ्चतश्च परस्य शितोऽवितोऽनः स्थाने पुसादेशो भवति । अजुहवुः, अबिभयुः, अददुः, अनेनिजुः । भुवो यङ्लुपि अबोभवुः । जक्षादि-अजक्षुः, अदरिद्रुः, अजागरुः, अचकासुः, अशासुः ॥ ९३ ॥

अन्तो नो लुक् ॥ ४. २. ९४ ॥

द्व्युक्तजक्षपञ्चतः परस्य शितोऽवितोऽन्तः संबन्धिनो नकारस्य लुग्भवति ।

जुह्वति, जुह्वतु, जुह्वत्, जुह्वतौ, जुह्वतः, जुह्वतम्, ददति, ददतु, ददत्, ददती स्त्री कुले वा, जक्षति, जक्षतु, जक्षत् दरिद्रति, दरिद्रतु, दरिद्रत्, दरिद्रती स्त्री कुले वा, जाग्रति, जाग्रतु, जाग्रत्, चकासति, चकासतु, चकासत्, शासति, शासतु, शासत् ॥९४॥

न्या० स०-अन्तो नो लुक्-ददती स्त्री कुले वेति–'अवर्णादश्नः' २-१-११५ इत्यन्तादेशे न लुक् । जुह्वती इति तु नात्र ज्ञेयं नकारासंभवात्, ददती इत्यादौ तु भूतपूर्वकत्वेन स्थानित्वेन वाऽवर्णान्तत्वे संभवः ।

शौ वा ॥ ४. २. ९५ ॥

द्व्युक्तजक्षपञ्चतः परस्यान्तो नकारस्य शिप्रत्यये वा लुग् भवति । ददति, ददन्ति, जक्षति, जक्षन्ति, दरिद्रति, दरिद्रन्ति, जाग्रति, जाग्रन्ति, चकासति, चकासन्ति, शासति, शासन्ति, कुलानि शाविति किम् ? ददती दधती कुले ॥९५॥

श्नश्चातः ॥ ४. २. ९६ ॥

द्व्युक्तजक्षपञ्चतः श्नाप्रत्ययस्य च संबन्धिनः शित्यविति प्रत्यये परे आकारस्य लुग्भवति । मिमते, मिमताम्, अमिमत, संजिहते, संजिहताम्, समजिहत, यायति, यायतु, दरिद्रति, दरिद्रतु । श्ना-क्रीणन्ति, क्रीणन्तु, अक्रीणन्, लुनते, लुनताम्, अलुनत, पुनते, पुनताम्, अपुनत । श्नश्चेति किम् ? यान्ति, वान्ति । आत इति किम् ? बिभ्रति, जक्षति । अवितीत्येव, अजहाम्, अक्रीणाम् ॥९६॥

एषामीर्व्यञ्जनेऽदः ॥ ४. २. ९७ ॥

एषां द्व्युक्तजक्षपञ्चतश्नाप्रत्ययानामाकारस्य शित्यविति व्यञ्जनादौ परत ईकारो भवति, दासंज्ञं वर्जयित्वा

मिमीते, मिमीताम्, अमिमीत, दाव्देवोर्यङ्लुपि दादीतः। दादीथः, लुनीतः लुनीहि, लुनीयात्। व्यञ्जने इति किम्? मिमते, लुनन्ति। अद इति किम्? दत्तः, धत्तः, दद्वः, दद्मः, दध्वः, दध्मः, दद्यात्, दध्यात्। अवितीत्येव,-जहाति, लुनाति। शितीत्येव,- संजिहासते ॥९७॥

इर्दरिद्रः ॥ ४. २. ९८ ॥

दरिद्रतिर्व्यञ्जनादौ शित्यविति प्रत्यये परे आकारस्येकारो भवति। दरिद्रितः, दरिद्रिथः, दरिद्रिथ, दरिद्रिवः, दरिद्रिमः, दरिद्रियात्। व्यञ्जन इत्येव,-दरिद्रति। शितीत्येव,-दिदरिद्रासति, अवितीत्येवं,-दरिद्राति ॥९८॥

भियो नवा ॥ ४. २. ९९ ॥

बिभेतेर्व्यञ्जनादौ शित्यविति प्रत्यये परेऽन्तस्येकारो वा भवति। बिभितः, बिभीतः, बिभिथः, बिभीथः, बिभियात्, बिभीयात्, यङ्लुपि,-बेभितः, बेभीतः। व्यञ्जन इत्येव,-बिभ्यति, बिभ्यतु। शितीत्येव,-बिभीषति, बेभीयते। अवितीत्येव,-बिभेति, बिभेषि ॥९९॥

हाकः ॥ ४. २. १०० ॥

जहातेर्द्व्युक्तस्य व्यञ्जनादौ शित्यविति प्रत्यये परेऽन्तस्येकारो वा भवति। जहितः, जहीतः, जहिथः, जहीथः, जहिवः, जहीवः, जहिमः, जहीमः। व्यञ्जन इत्येव,- जहति, जहतु। शितीत्येव,-जिहासति, जेहीयेते।

अवितीत्येव,-जहाति, जहासि। अनुबन्धनिर्देश ओहाङ्यङ्लुपोर्निवृत्त्यर्थः। उज्जिहीते, संजिहीते, जहीतः। योगविभाग उत्तरार्थः ॥ १०० ॥

न्या० स०-हाकः-द्व्युक्तस्येति-अत्र द्व्युक्ताधिकृतिं विना द्विर्वचनात् प्रागेव इत्वं स्यात्, यतो हल्निमित्तं ततश्च प्राक्तु स्वर इति नोदेति।

आ च हौ ॥ ४. २. १०१ ॥

अवितीति निवृत्तम्, वितोऽसंभवात्, शितीति त्वनुवर्तते। द्व्युक्तस्य जहातेर्हौ परे आकार इकारश्च वा भवति। जहाहि, जहिहि, जहीहि ॥ १०१ ॥

न्या० स०-आ च हौ-हाक इति सूत्रे जहातिर्द्व्युक्तो गृह्यते, इह उत्तरत्र च स एवानुवर्त्यते।

इकारश्चेति-चेत्यकृते तत्र कौण्डिन्यन्यायेन ईर्न स्यात्।

यि लुक् ॥ ४. २. १०२ ॥

यकारादौ शिति प्रत्यये परे जहातेरन्तस्य लुग्भवति । जह्यात्, जह्याताम्, जह्युः । शितीत्येव,-जेहीयते, हेयात् । वेति निवृत्तम् ॥ १०२ ॥

न्या० स०-यि लुक्-लुञ्चनं 'कृत्संपदा' ५-३-११४ इति क्विपि स्त्र्युक्त इति स्त्रीत्वम् । लवनं 'द्रागादयः' ८७० (उणादि) इति लुक् पुंस्त्वं, एवं लुम्पनं 'कृत्संपदा' ५-३-११४ इति क्विपि स्त्रीत्वम् । 'गृपृदुर्वी' ६४३ (उणादि) इति क्विपि पुंस्त्वम् ।

वेति निवृत्तमिति- इकाराधिकारे वाधिकृतः, इह लुग्विधीयते, अतो निवृत्तः ।

ओतः श्ये ॥ ४. २. १०३ ॥

धातोरोकारस्य श्ये परे लुग्भवति । दो-अवद्यति, सो-अवस्यति, शो-निश्यति, छो-अवच्छ्यति । श्य इति किम् ? गौरिवाचरति गवति ॥१०३॥

जा ज्ञाजनोऽत्यादौ ॥ ४. २. १०४ ॥

ज्ञा जन् इत्येतयोः शिति प्रत्यये परे जा इत्ययमादेशो भवति 'अत्यादौ' तिवादिश्चेदनन्तरो न भवति । जानाति, जानीते, जानन्, जानानः, जन्-जायते, जायमानः । शितीत्येव,-ज्ञायते, जन्यते । अत्यादाविति किम् ? जाज्ञाति, जञ्जन्ति ॥१०४॥

न्या० स०-जाज्ञाजनो०-जाज्ञातीति-यङ्लुपि रूपं, शतरि तु ज्ञाजनोर्द्वयोरपि जत् इति । कया युक्त्या यङ्लुपि जाज्ञातीति जञ्जन्तीति वाक्ये शतरि 'जाज्ञा' ४-२-१०४ इति जादेशे 'श्नचातः' ४-२-९६ इत्याल्लुपि, अत्यर्थं जानन् अत्यर्थं जायमान इत्यर्थः ।

प्वादेर्ह्रस्वः ॥ ४. २. १०५ ॥

प्वादेर्गणस्य शिति प्रत्यये परे ह्रस्वो भवति, अत्यादौ । पुनाति, लुनाति, धुनाति । क्र्यादिषु 'पूग्श् पवने' इत्यारभ्यः वृत्करणपर्यन्ताः प्वादयः । प्वादेरिति किम् ? व्रीणाति, भ्रीणाति । आ गणान्तात् प्वादय इत्यन्ये, वृत्करणं ल्वादिपरिसमाप्त्यर्थम्-तन्मते व्रिणाति, भ्रिणाति इत्येव भवति । जानातीत्यत्र तु विधानसामर्थ्यान्न ह्रस्वः ॥१०५॥

गमि-षद्यमश्छः ॥ ४. २. १०६ ॥

गम् इषत् यम् इत्येतेषां शिति प्रत्यये परे छकारादेशो भवति अत्यादौ । गच्छति, संगच्छते, इच्छति, व्यतीच्छन्ते, यच्छति, आयच्छते, इषदिति तकारनिर्देश इष्यतीष्णात्योर्निवृत्त्यर्थः ।

शितीत्येव-गन्ता, एष्टा, यन्ता । अत्यादावित्येव,-जंगन्ति, यंयन्ति । १०६॥

न्या० स०-गमिष०-गन्तेत्यादिषु सर्वेषु तृच्, अन्यथा द्व्यङ्गविकलत्वं स्यात् यतो यथात्र न शित् तथा अत्यादिरपि नास्तीति । **जंगन्तीति**-तसि तु जंगतः यंयत इति, शतरि

तु गमो जंक्छत् । कथं यङ्लुबन्तात् जंगन्तीति ? वाक्ये शतरि 'गमहन' ४-२-४४ इत्युपान्त(उपान्त्य)लोपे 'अघोषे' १-३-५० इति गम्य कत्वे, यमस्तु यंयच्छत् ।

वेगे सर्तेर्धाव् ॥ ४. २. १०७ ॥

सरतेर्वेगे गम्यमाने शिति परे धाव् इत्ययमादेशो भवति अत्यादौ । धावति, धाव, कतीह धावमानाः । वेग इति किम् ? प्रियामनुसरति, धाविना सिद्धे सरतेर्वेगे सरतीति प्रयोगनिवृत्त्यर्थं वचनम् । तिव्निर्देशाद्यङ्लुपि न भवति । सर्सर्त्, सरीसर्त्, सरिसर्त् , ।१०७

श्रौति-कृ-वुधि-वुपा-घ्रा-ध्मा-स्था-म्ना-दाम्-दृश्यर्तिशद-सदः शृ-कृ-धि-पिब-जिघ्र-धम-तिष्ठ-मन-यच्छ-पश्यर्च्छशीय-सीदम् ॥ ४.२.१०८ ॥

श्रौत्यादीनां शिति परे यथासंख्यं शृ इत्यादय आदेशा भवन्ति अत्यादौ ।

श्रौतेः शृ-शृणोति, शृण्वन् , कृवोः कृ, कृणोति, कृण्वन् , धिवोर्धिः, धिनोति, धिन्वन् , पः पिबः-पिबति पिबन् , श-उत्पिबः । स्वरान्तत्वादुपान्त्यलक्षणो गुणो न भवति । घ्रो-जिघ्रः, जिघ्रति, जिघ्रन् , उज्जिघ्रः, ध्मो धमः-धमति, धमन् , उद्धमः, स्थः तिष्ठः, तिष्ठति, तिष्ठन् , उत्तिष्ठमानः, म्नो मनः-आमनति, आमनन्, कतीहामनमानाः, दामो यच्छः-प्रयच्छति, प्रयच्छन् , दास्या संप्रयच्छमानः । दृशः-पश्यः, पश्यति, पश्यन् , श-उत्पश्यः, अर्तेर्ऋच्छः, ऋच्छति, ऋच्छन् , समृच्छमानः, शदेः शीयः-शीयते, शीयमानः, सदेः सीदः-सीदति, कतीह सीदमानाः, घ्रादिभिः साहचर्यात्पार्त्योर्भौवादिकयोरेव ग्रहणम् । लाक्षणिकत्वाच्च पें इत्येतस्य न ग्रहणम् तेन पान् इग्रत् पायति ।

श्रौत्यर्त्योस्तिव्निर्देशः कृवुधिवुदृशृदामामनुबन्धश्च यङ्लुप्यादेशनिवृत्त्यर्थः । शोश्रुवत् । अर्तेर्यङ्लुपि द्वित्वे पूर्वस्यात्वे रागमे धातोश्च रत्वे तन्निमित्ते रागमलोपे पूर्वाकारदीर्घत्वे च आरत् , चरीकृण्वत् , देधिन्वत् , दर्दृशत् , दादत् । केचित्तु श्रौतेर्यङ्लुप्यप्यादेशं श्नुप्रत्ययं चेच्छन्ति । शृणोति, कृवुधिवोस्तु चरीकृणोति देधिनोति इति रूपं मन्यन्ते-ते हि यङ्लुपि उप्रत्ययं वकारस्याकारन्तस्य 'अतः' इति लोपमकारस्य स्थानिवद्भावादुपान्त्यगुणाभावे मन्यन्ते । दामो मकारस्य निर्देशो दासंज्ञशङ्कानिवृत्त्यर्थश्च ।।१०८।

न्या० स०-श्रौतिकृ०-गुणो न भवतीति-न च वाच्यं विधानसामर्थ्याद् गुणो न स्यात् कुतः ? यतो यङ्लुबन्तस्य पापेतीति वाक्ये शतरि गुणप्राप्तिर्नास्ति, तत्र चरितार्थं विधानमतः स्वरान्तत्वेन प्रतिषिध्यते । आरदिति-अरर्त्तीति वाक्ये शतृः । चरीकृण्वदिति-चरकृणोतीति शतृः, वस्य ऊटि गुणे च वाक्यं, केचिदूटं नेच्छन्ति तन्मते चरीकर्त्तीति ।

देधिन्वदिति-अत्राप्यूटि गुणे च देधिनोतीति वाक्यं, मतान्तरे तु देधिन्तीति ।

दर्दृशदिति-दर्दर्ष्टीति शतृः ।

क्रमो दीर्घः परस्मै ॥ ४. २. १०९ ॥

क्रमेः परस्मैपदे शिति परे दीर्घो भवति अत्यादौ-क्रामति, क्राम्यति, क्रामन्, क्राम्यन्, अक्रामन्, परस्मैपद इति किम् ? आक्रमते सूर्यः, आक्रममाणः। परस्मैपदनिमित्त-विज्ञानाद्धेलुं क्यपि भवति। क्राम, संक्राम ॥ १०९ ॥

ष्ठिवूक्लम्वाचमः ॥ ४. २. ११० ॥

ष्ठिवेः क्लमेराङ्पूर्वस्य च चमेः शिति परे दीर्घो भवति अत्यादौ-ष्ठीवति, दैवादिकस्य तु ष्ठिवो दीर्घोऽस्त्येव। क्लामति, क्लाम्यति, आचामति। चमेराङ्पूर्वस्य ग्रहणादिह न भवति,-चमति विचमति। ष्ठिवूक्लमोरूकारनिर्देशाद्यङ्लुपि न भवति,-तेष्ठिवत्, चंक्लमत्। 'अन्तो नो लुक्' (४-२-९४) ॥ ११० ॥

शमसप्तकस्य श्ये ॥ ४. २. १११ ॥

अत्यादाविति निवृत्तम्,-शमादीनां मदेच्पर्यन्तानां सप्तानां श्ये परे दीर्घो भवति। शाम्यति, दाम्यति, ताम्यति, श्राम्यति, भ्राम्यति, क्षाम्यति, माद्यति।

शमसप्तकस्येति किम् ? अस्यति। श्य इति किम् ? भ्रमति ॥ १११ ॥

न्या० स०-शम सप्त०-भ्रमतीति-भ्रमूच् अनवस्थाने इत्यस्य रूपं, अस्य यङ्लुपि न दीर्घः शमादिगणनिर्देशात्, श्यस्तु भवत्येव 'भ्रासभ्लास' ३-४-७३ इति प्रतिपदोक्तत्वात्, तेन बंभ्रम्यतीति भवति।

ष्ठिवसिवोऽनटि वा ॥ ४. २. ११२ ॥

ष्ठिवः सीव्यतेश्चानटि वा दीर्घो भवति। निष्ठीवनम्, निष्ठेवनम्, सीवनम्, सेवनम् ॥ ११२ ॥

मव्यस्याः ॥ ४. २. ११३ ॥

धातोर्विहिते मकारादौ वकारादौ च प्रत्ययेऽकारस्याकारो दीर्घो भवति। पचामि, पचावः, पचामः पचावहे, पचामहे। वयो यङ्लुपि-वावामि, वावावः, वावामः। धातोः प्रत्ययेनाभिसंबन्धो नाकारेणेति प्रत्ययाकारस्यापि दीर्घो भवति। अस्येति किम् ? चिनुवः चिनुमः, रुवः, रुमः। आकारस्य दीर्घत्वेन विशेषणमाकारो दीर्घ एव यथा स्यात् न प्लुतः तल्लक्षणयोगेऽपीत्येवमर्थम् ॥ ११३ ॥

न्या० स०-मव्यस्या०-वावाव इति-यत्र धातोराकारान्तत्वे सति द्व्युक्तत्वं तत्र 'एषामी' ४-२-९७ इति ईत्वं, यत्र द्व्युक्तत्वे सति आकारान्तत्वं तत्र लाक्षणिकत्वात् आकारस्य न ईत्वं, तेनात्र न ईकारः।

आकारस्य दीर्घत्वेनेति-वृत्तावाकारो दीर्घो भवतीति किमर्थमुक्तं यत आकारो दीर्घ एवेत्याशङ्का-**न प्लुत इति**। स्वमते तु 'सम्मत्यसूया' ७-४-८९ इत्यतः सूत्रात् अन्त्य इत्यधिकारे 'प्रश्ने च' ७-४-९८ इति प्लुतो न प्राप्नोति; परं केचिदनन्त्यस्यापि इच्छन्ति, तन्मते माभूदित्यर्थः।

तल्लक्षणयोगेऽपीति-तस्य प्लुतस्य यल्लक्षणं तद्योगेऽपीत्यर्थः ।

अनतोऽन्तोऽदात्मने ॥ ४. २. ११४ ॥

अनकारात्परस्यात्मनेपदसंबन्धिनोऽन्त्रूपस्यावयवस्याद् इत्ययमादेशो भवति । चिन्वते, चिन्वताम्, अचिन्वत, लुनते, लुनताम्, अलुनत । आत्मनेपदस्येति किम्? चिन्वन्ति लुनन्ति । अनत इति किम्? पचन्ते, पच्यन्ते ।। ११४ ।।

न्या० स० अनतो०-पचन्ते, पच्यन्ते इति-प्राचः परो विधिरिति व्याख्यानेन अकारस्य स्थानित्वं भूतपूर्वकन्यायाद् वा ।

शीङो रत् ॥ ४. २. ११५ ॥

शीङः परस्यात्मनेपदसंबन्धिनोऽन्तो रत् इत्ययमादेशो भवति । शेरते, शेरताम्, अशेरत ।। ११५ ।।

न्या० स०-शीङो-यङ्लुपि व्यति शेश्यते ।

वेत्तेर्नवा ॥ ४. २. ११६ ॥

वेत्तेः परस्यात्मनेपदसंबन्धिनोऽन्तो रत् इत्ययमादेशो वा भवति । संविद्रते, संविद्रताम्; समविद्रत, पक्षे,-संविदते, संविदताम्, समविदत । आत्मन इत्येव,-विदन्ति, वेत्तेरिति किम्? रौधादिकस्य मा भूत्-विन्दते ।। ११६ ।।

न्या० स०-वेत्तो०-वेत्तेस्तिव्निर्देशो यङ्लुपि निवृत्त्यर्थश्च तेन व्यतिवेविदते ।

तिवां णवः परस्मै ॥ ४. २. ११७ ॥

वेत्तेः परेषां परस्मैपदसंबन्धिनां तिवादीनां नवानां प्रत्ययानां स्थाने परस्मैपदसंबन्धिन एव णवादयो नवादेशा यथासंख्यं वा भवन्ति ।

वेद, विदतुः, विदुः, वेत्थ, विदथुः, विद, वेद; विद्व, विद्म, वेत्ति, वित्तः, विदन्ति, वेत्सि, वित्थः, वित्थ, वेद्मि, विद्वः, विद्मः ।। ११७ ।।

न्या० स०-तिवां-णवादय इति-अमीषां तदादेशेति न्यायात्परोक्षाकार्यं न भवति ।

ब्रूगः पञ्चानां पञ्चाहश्च ॥ ४. २. ११८ ॥

ब्रूगः परेषां तिवादीनां पञ्चानां स्थाने यथासंख्यं पञ्च णवादय आदेशा वा भवन्ति, तत्संनियोगे ब्रूग आह इत्यादेशश्च भवति ।

आह, आहतुः, आहुः आत्थ 'नहाहोर्धतौ' (२-१-८०६) इति हकारस्य तकारः । आहथुः, ब्रवीति, ब्रूतः, ब्रुवन्ति, ब्रवीषि, ब्रूथः । पञ्चानामिति किम्? ब्रूथ ।। ११८ ।।

आशिषि तुह्योस्तातङ् ॥ ४. २. ११९ ॥

आशिषि विहितयोस्तुह्योः स्थाने तातङ् आदेशो वा भवति । जीवताद्भवान्, जीवतु भवान्, जीवतात् त्वम्, जीव त्वम्, आशिषीति किम्? जीवतु, जीव । ङित्करणं गुणनिषेधार्थम् ।। ११९ ।।

न्या० स० आशिषि०-गुणनिषेधार्थमिति- इदं चोपलक्षणं तेन ङित्करणेन तदादेशेति न्यायात् स्थानिनस्तुवो वित्त्वं बाध्यते, तेन युतात् स्तादित्यादौ विद्व्यञ्जनप्रत्ययाभावात् 'उत औविति' ४-३-५९ इति नौकारः, न तु शित्त्वमपि बाध्यते, यतस्तस्यैव शितो ङित्वं ततो ङित्वेन, वित्त्वमेव हन्यते न तु शित्त्वं ततश्च स्तात् इत्यादौ विच्छति प्रत्यये 'श्नास्त्योर्लुक्' ४-२-९० इति लुक् सिद्धः ।

आतो णव औः ।। ४. २. १२० ।।

वेति निवृत्तम्, आकारात्परस्य णवः स्थाने औरित्ययमादेशो भवति । पपौ, तस्थौ सः, सुप्तोऽहं किल ययौ, पपौ । आत इति किम्? स जगाय, सुप्तोऽहं किल विललाप ।१२०

न्या० स०-आतो०-वेति निवृत्तमिति-वेति शितीति संबद्धं णव्ग्रहणात्तन्निवृत्तौ निवृत्तं, अत्र ओकारेणैव सिद्धे औकारकरणं ददरिद्रावित्याद्यर्थं, अन्यथा 'अशित्यस्सन्' ४-३-७७ इत्याल्लोपे इदं न सिध्येत्, नन्वत्रामादेशेन भाव्यं तत्कथमेतदर्थम्? सत्यं, अत एव औकारकरणादामादेशस्यानित्यत्वम् । **किल ययाविति**-'कृतास्मरणा' ५-२-११ इति परोक्षा ।

आतामातेआथामाथेआदिः ।। ४. २. १२१ ।।

अकारात्परेषामातामातेआथामाथे इत्येतेषाम् आत इर्भवति । पचेताम्, पचेते, पचेथाम्, पचेथे । आदिति किम्? मिमाताम्, मिमाते, मिमाथाम्, मिमाथे ।।१२१।।

न्या० स०-आतामा०-आत इति-अर्थवशाद्विभक्तिपरिणामः ।

यः सप्तम्याः ।। ४. २. १२२ ।।

अकारात्परस्य सप्तम्याः संबन्धिनो याशब्दस्येकारादेशो भवति । पचेत्, पचेताम् पचेः, पचेतम्, पचेत, पचेव, पचेम । आदित्येव,-अद्यात् ।। १२२।।

न्या० स०-यः सप्तम्याः-या शब्दस्येति-नन्वाकारस्याधिकृतत्वात् येन नाव्यवधानमिति न्यायाद्व्यवधानेऽपि आत एव, यद्वा प्रत्ययस्येति परिभाषया समस्ताया अप्यादेशः प्राप्तः? न; समस्ताया अप्यादेशोऽभिप्रेतो यदि स्यात्तदा यादि सप्तम्या इति क्रियेत, स्थिते तु निर्दिश्यमानानामिति न्यायात् या शब्दस्यादेशः ।

इत्याचार्य० चतुर्थस्याध्यायस्य द्वितीयः पादः ।

याम्युसोरियमियुसौ ।। ४. २. १२३ ।।

अकारात्परयोर्याम्युस् इत्येतयोर्यथासंख्यमियमियुसावादेशौ भवतः । पचेयम्, पचेयुः ।। १२३ ।।

इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्रविरचितायां सिद्धहेमचन्द्राभिधानस्वोपज्ञशब्दानुशासनबृहद्वृत्तौ चतुर्थस्याध्यायस्य द्वितीयः पादः समाप्तः ।

श्रीभीमपृतनोत्खातरजोभिर्वैरिभूभुजाम् । अहो चित्रमवर्धन्त ललाटे जलबिन्दवः ।।१।।

अथ तृतीयः पादः

नामिनो गुणोऽक्ङिति ॥ ४. ३. १ ॥

नाम्यन्तस्य धातोः कित्ङित्वर्जिते प्रत्यये परे आसन्नो गुणो भवति । चेता, नेता, स्तोता, लविता, कर्ता, तरिता, जयति, नयति, जुहोति, भवति, बिभर्ति, तरति, करोति, एता एतोरित्याद्यन्तवद्भावात् ।

नामिन इति किम् ? उम्भिता, याति, ग्लायति, म्लायतीति ऐकारोपदेशबलान्न गुणः । नौभ्याम्, लूभ्यामिति गौणत्वात् । अक्ङितीति किम् ? चितः, चितवान्, अशिश्रियत्, अदुद्रुवत्, लिल्ये लुलुवे, इतः, युतः ॥ १ ॥

न्या० स०-नामिनो गु० कर्त्तेति-निर्दिश्यमानत्वात् ऋकारस्यैवादेशो न त्वनेकवर्णः सर्वस्य । ऐकारोपदेशबलादिति-यद्वा गुण इति सान्वयसंज्ञेयं, तेन हानिरेव, न गुण उत्कर्षरूप इति तथा नौरिवाचरति नावति, नाव इवाचरणं नावा इत्यादौ न गुणः । गौणत्वादिति-नामार्थसंवलितधात्वर्थाभिधायित्वेन ।

उश्नोः ॥ ४. ३. २ ॥

धातोः परयोरुश्नु इत्येतयोः प्रत्यययोरक्ङिति प्रत्यये परे गुणो भवति । तनोति, करोति, सनर्णोति, तर्णोति, घर्णोति । धातोस्तु पूर्वेणोत्तरेण च गुणः । श्नु-सुनोति, सिनोति । अक्ङितीत्येव,-कुरुतः, सुनुतः ॥ २ ॥

पुस्पौ ॥ ४. ३. ३ ॥

नाम्यन्तस्य धातो पुसि पौ च परे गुणो भवति । अबिभयुः, अजुहवुः, अबिभरुः, ऐयरुः, अजागरुः । पु-अर्पयति, रेपयति, श्लेपयति, ह्रेपयति, क्नोपयति । नाम्यन्तस्येत्येव,-अनेनिजुः, क्ष्मापयति, दापयति ॥ ३ ॥

न्या० स०-पुस्पौ-नन्वत्र पुग्रहणं किमर्थं 'अर्त्तिरीव्ली' ४-२-२१ इत्यत्र पोरागमत्वमपनीय प्रत्ययत्वे कृते 'नामिनो गुणः' ४-३-१ इत्यनेनैव गुणः सेत्स्यति, आगमत्वे तु पोर्धातुग्रहणेन ग्रहणात् अर्पयतीत्यत्रैव गुणः सिध्यति, रेपयतीत्यादौ तु गुरूपान्त्यत्वान्न सिद्ध्यति, प्रत्ययत्वे तु पोः सर्वत्र सिध्यति ? सत्यं-पोः प्रत्ययत्वे कृतेऽरीरिपत् अदीदपदित्यादावुपान्त्यत्वाभावात् 'उपान्त्यस्यासमानलोपि' ४-२-३५ इत्यनेन ह्रस्वत्वं न स्यादिति ।

लघोरुपान्त्यस्य ॥ ४. ३. ४ ॥

धातोरुपान्त्यस्य नामिनो लघोरक्ङिति प्रत्यये परे गुणो भवति । भेत्ता, गोप्ता, वर्तिता, भेदनम्, गोपनम्, वर्तनम्, वेत्ति, दोग्धि, नर्नर्ति । लघोरिति किम् ? ईहते, ऊहते ।

उपान्त्यस्येति किम् ? भिनत्ति, रुणद्धि, तृणत्ति, छृणत्ति । अक्ङितीत्येव,-भिन्नः, भिन्नवान्, बेभिद्यते, मरीमृज्यते ॥ ४ ॥

न्या० स०-लघो०-ननु 'नामिनो गुण' ४-३-१ इत्यनेनान्त्यविधानसामर्थ्यादनेनोपान्त्यस्यैव भविष्यति किमुपान्त्यग्रहणेन ?, न च वाच्यं पूर्वेणाक्ङिति गुणोऽनेन तु क्ङित्यपि गुणो भवत्वेतदर्थं, 'जागुः क्ङिति' ४-३-६ 'ऋवर्णदृश' ४-३-७ इति सूत्रद्वयकरणात् ?

न, लघोरिति सति जागर्त्तेः क्ङित्येव गुण इति विपरीतनियमाशङ्का स्यात्, अनामिनो वा गुणः स्यात् इति संदेहनिरासार्थमुपान्त्यग्रहणम् ।

मिदः श्ये ॥ ४. ३. ५ ॥

मिदेरुपान्त्यस्य श्ये परे गुणो भवति । मेद्यति, मेद्यतः, मेद्यन्ति ॥ ५ ॥

जागुः क्ङिति ॥ ४. ३. ६ ॥

जागर्तेः क्ङिति प्रत्यये परे गुणो भवति । जागरितः, जागरितवान्, जागर्यते, जागर्यात् । क्वौ-जागः जजागरतुः, जजागरुः । क्ङितीति किम् ? जागृतः, जाग्रति, जाग्रत्, जागृयात्, जागृविः । इह कस्मान्न भवति जजागृवानिति ? जागर्तेः क्वसुरनभिधानाद्भाषायां नास्तीत्येके । गुणमेवेच्छन्त्येके-जजागर्वान् । अपरे तु क्वसुकानयोर्गुणप्रतिषेधमेवाहुः-जजागृवान्, व्यतिजजाग्राणः । क्ङिति प्रतिषेधे प्राप्ते वचनम् । अक्ङिति तु पूर्वेणैव गुणः,-जागरिता ॥ ६ ॥

न्या० स०-जागुः क्ङिति-जजागृवानितीति-एके सर्वथापीदं न मन्यन्तेऽतः परमतेन दर्शितम् ।

ऋवर्णदृशोऽङि ॥ ४. ३. ७ ॥

ऋवर्णान्तानां धातूनां दृशश्चाङि प्रत्यये परे गुणो भवति । मा भवानरत्, असरत्, असरताम्, अजरत्, अजरताम्, अदर्शत्, अदर्शताम् ॥ ७ ॥

स्कृच्छृतोऽकि परोक्षायाम् ॥ ४. ३. ८ ॥

स्कृ ऋछ इत्येतयोॠकारान्तानां च धातूनां नामिनः परोक्षायां परतो गुणो भवति, अकि ककारोपलक्षितायां क्वसुकानरूपायां न भवति ।

स्कृ,-संचस्करतुः, संचस्करुः, ऋछ-आनर्छ, आनर्छतुः, आनर्छुः । ॠत्, कॄ,-विचकरतुः, विचकरुः, तॄ-तेरतुः, तेरुः, शॄ-विशशरतुः, विशशरुः, दॄ-विददरतुः, विददरुः । पॄ,-निपपरतुः, निपपरुः । स्कृ इति कृगः सस्सट उपादानादिह न भवति,-चक्रतुः, चक्रुः । उत्तरेणैव सिद्धे स्कृग्रहणमुत्तरत्रौपदेशिकसंयोगपरिग्रहार्थम् । विचकार निजगारेत्यादौ परत्वाद्वृद्धिरेव ।

अकीति किम् ? संचस्कृवान्, संचस्काणः, आनृच्छवान्, विचिकीर्वान्, वितितीर्वान्, विततिराणः, विशिशीर्वान्, विशशिराणः, निपुपूर्वान्, निपपुराणः । काने पूर्वं द्वित्वम् पश्चादिरादिः स्वरविधित्वात् ॥ ८ ॥

न्या० स०-**स्कच्छृतो०-परिग्रहार्थमिति**-तेन संस्क्रियते, संचेस्क्रीयते, संस्क्रियात् इत्यादौ 'क्यङाशीर्ये' ४-३-१० इति गुणो न भवति । 'संयोगादृतः' ४-४-३७ इति इट् न विकल्पेन । **विततिराण इति**-व्यतिहारे कर्मण्यात्मनेपदम् । **विशशिराण इति**-विशश्रे 'ऋः शॄदृप्रः' ४-४-२० इत्यनेन नवा ऋत्वे विशश्रे इति वा वाक्ये 'तत्र क्वसु' ५-२-२ इति कान प्रत्ययः, एवं निपपुराण इत्यत्रापि निपप्रे निपपरे वेति वाक्यम् ।

संयोगादृदर्तेः ॥ ४. ३. ९ ॥

संयोगात्परो य ऋकारस्तदन्तस्य धातोरर्तेश्च परोक्षायां परतो गुणो भवति, अकि । सस्मरतुः, सस्मरुः, सस्वरतुः, सस्वरुः, दद्वरतुः, दद्वरुः, दध्वरतुः, दध्वरुः, ह्वृ-जह्वरतुः, जह्वरुः, अर्तिः, आरतुः आरुः ।

संयोगादिति किम् ? चक्रतुः, चक्रुः । ऋदर्तेरिति किम् ? चिक्षियतुः, चिक्षियुः । गुणप्रतिषेधविषये पुनःप्रसवार्थं वचनम्, वृद्धिस्तु भवत्येव ? सस्मार, सस्वार, ऋतः संयोगेन विशेषणादर्तिग्रहणम् । तिव्निर्देश उत्तरार्थः ॥ ९ ॥

न्या० स०-**संयोगा०-आरतुरिति**-'इवर्णादेः' १-२-२१ इति रत्वेनापि सिध्यति परमन्तरङ्गत्वात् 'अवर्णस्येवर्णादिना' १-२-६ इति । द्वित्वाकारस्याग्रेतनऋकारेण सह रत्वबाधकोऽरादेशो माभूदित्यर्त्तिग्रहणमुत्तरार्थं च, अथ अरादेशेऽपि 'अस्यादेराः' ४-१-६८ इत्यात्वे सेत्स्यति, तदपि न, यतो द्विर्वचने पूर्वाकारस्य 'अस्यादेः' ४-१-६८ इत्यात्वमऽभाणि आरिवानित्यत्र त्वन्तरङ्गत्वानाश्रयणात् रत्वमेव ।

उत्तरार्थ इति-इह यङलुबन्तस्यार्त्तेरनेकस्वरत्वात् परोक्षायामामि सति 'वेत्तेः कित्' ३-४-५१ इति सूत्रादामि परोक्षाकार्याऽभावान्न यङ्लुब्निवृत्त्यर्थमिति वाच्यं, तत्रामभावादामि च सिद्ध एव गुणो यथा अरराञ्चकार अरियराञ्चकारेति ।

क्ययङाशीर्ये ॥ ४. ३. १० ॥

संयोगात्परो य ऋकारस्तदन्तस्य धातोरर्तेश्च क्ये यङि आशीःसंबन्धिनि ये च प्रत्यये गुणो भवति । स्मर्यते, स्वर्यते, अर्यते, सास्मर्यते, सास्वर्यते, अरार्यते, स्मर्यात्, स्वर्यात्, अर्यात् ।

औपदेशिकसंयोगग्रहणादिह न भवति-संस्क्रियते, संचेस्क्रीयते, संस्क्रियात् । ऋत इत्येव,-आस्तीर्यते, आतेस्तीर्यते, आस्तीर्यात् । आशीर्य इति किम् ? स्मृषीष्ट, समृषीष्ट । अर्तेरिति तिव्निर्देशाद्यङ्लुपि न भवति । आरियात्, अर्रियात् ॥ १० ॥

न्या० स०-**क्यङा०-संस्क्रियत इति**-कस्यादिरिति व्याख्यानेऽनुस्वारस्य व्यञ्जनत्वात् 'धुटो धुटि' १-३-४८ इत्येकस्य सस्य वा लुक् । **आरियादिति** यङ्लुपि द्वित्वे 'रिरौच' ४-१-५६ इति रागमे क्याति 'रिः शक्याशीर्ये' ४-३-११० इति धातो रिः, 'रो रे लुक्'

१-३-४१ इति र् लोपे प्राग्दीर्घ इति प्रथमप्रयोगे, द्वितीये तु 'रिरौच' ४-१-५६ इति रिः रीर्वा तस्य 'इवर्णादेः' १-२-२१ इति यत्वे 'रिः शक्य' ४-३-११० इति रिः, इयादेशस्तु 'पूर्वस्यास्वे स्वरे' ४-१-३७ इत्यत्र य्वोः पूर्वस्येति सामानाधिकरण्यव्याख्यानादिकारोकारमात्रस्यैव, अत्र तु अरि इति समुदायः पूर्वं इति न, व्यधिकरणव्याख्याने तु अरिय्रियादिति भवत्येव ।

न वृद्धिश्चाविति क्ङिल्लोपे ॥ ४. ३. ११ ॥

अविति प्रत्यये यः कितो ङितश्च लोपस्तस्मिन्सति गुणो वृद्धिश्च न भवति, लोपोऽदर्शनमात्रमिह गृह्यते । यङ्लोपे देद्यः, वेव्यः, नेन्यः, लोलुवः, पोपुवः, मरीमृजः । क्ङिदिति किम् ? रागी, रागः । अत्र नलोपे प्रतिषेधो मा भूत् ।

केचित्तु दधीवाचरतीति क्विप् लोपे अप्रत्यये णिगि च दध्या दध्ययतीत्यत्रापि गुणवृद्ध्योः प्रतिषेधमिच्छन्ति, तन्मतसंग्राहार्थं क्ङिल्लोपे सति अविति प्रत्यये परे गुणवृद्धी न भवत इति व्याख्येयम् । विति तु,-दधयति, रोरवीति, बोभवीति । केचित्तु दीधीवेव्योरिवर्णे यकारे चान्तस्य लुकमन्यत्र तु गुणवृद्धिनिषेधमारभन्ते । आदीधिता, आवेविता, आदीधीत, आवेवीत, आदीध्यते, आवेव्यते । अन्यत्र आदीध्यनम्, आवेव्यनम्, आदीध्यकः, आवेव्यकः । तदसत् छान्दसत्वादनयोः ॥ ११ ॥

न्या० स०-न वृद्धिश्चा०-नामिन इति वर्त्तते । **अदर्शनमात्रमिति**-न तु लुक्लुपाविति त्यर्थः, तद्ग्रहणे हि दध्येत्यादौ गुणप्रतिषेधो न स्यात्, अत्र हि क्विपो लुक् लुप् वा न किन्तु अप्रयोगीत् । **देद्य इति**-दा संज्ञानां दीङ्चेत्यस्य च यङि देदीयते इति वाक्ये अचि अचीति सस्वरस्यैव यङो लुप्, अन्यथा 'स्वरस्य' ७-१-११० इति अस्य स्थानित्वे गुणप्राप्तिर्न स्यात् ।

मरीमृज इति-'ऋतः स्वरे वा' ४-३-४३ इति वृद्धेरनेन निषेधे गुणप्राप्तिः, साप्यनेन निषिध्यते । दध्येति, स्वमते दधयनं, तन्मते तु दध्यनमिति वाक्ये 'शंसिप्रत्ययादः' ५-३-१०५, दध्ययतीत्यत्र तु स्वमते परमतेऽपि दधयन्तं प्रयुङ्क्ते इति वाक्यमिति व्याख्येयमिति, मूलव्याख्यानेऽविति प्रत्यये निमित्ते क्ङिल्लोपे इत्युक्तमत्र तु क्ङिल्लोपे सति अविति प्रत्यये परे इति भेदः ।

बोभवीतीति-ईत्परावयवो भवतीति वित्प्रत्ययः । **दीधीवेव्योरिति**-दीधीङ् दीप्तिदेवनयोः वेवीङ् वेतिना तुल्ये इत्यऽदादावात्मनेपदिनौ केचित् पठन्ति ।

भवतेः सिज्लुपि ॥ ४. ३. १२ ॥

सिचो लुपि भवतेर्गुणो न भवति । अभूत्, अभूताम्, अभूः । सिज्लुपीति किम् ? व्यत्यभविष्ट । तिवनिर्देशाद्यङ्लुपि न प्रतिषेधः । अबोभोत् ॥ १२ ॥

न्या० स०-भवते०-ननु भवतेः सिच एव लोपोऽभ्यधायि तत् किं सिच्ग्रहणेन ? सत्यं, भवतेर्लुपीति कृते भूरिवाचरत् अभवदित्यत्रापि गुणो न स्यात् । **अबोभोदिति**-बुध्यतेरपीदं ह्यस्तन्या दिवि भवति ।

सूतेः पञ्चम्याम् ॥ ४. ३. १३ ॥

सूतेः पञ्चम्यां गुणो न भवति । सुवै, सुवावहै, सुवामहै । तिव्निर्देशाद्यङ्लुपि गुणो भवत्येव,-सोषवाणि,-सोषवाव ॥ १३ ॥

द्व्युक्तोपान्त्यस्य शिति स्वरे ॥ ४. ३. १४ ॥

कृतद्वित्वस्य धातोरुपान्त्यस्य नामिनः स्वरादौ शिति प्रत्यये परे गुणो न भवति । नेनिजानि, अनेनिजम्, वेविषाणि, अवेविषम्, बेभिदीति, अबेभिदम्, मोमुदीति, अमोमुदम्, नर्नृतीति, अनर्नृतम् ।

द्व्युक्तेति किम् ? वेद, वेदानि, अवेदम् । उपान्त्यस्येति किम् ? जुहवानि, बोभवीति, सोषवीति । शितीति किम् ? निनेज, विवेद,-बेभेदिषीष्ट । स्वर इति किम् ? नेनेक्ति, मोमोक्ति, नर्नर्ति ॥ १४ ॥

न्या० स०-द्व्युक्तो०-संज्ञाशब्दत्वात् सूत्रत्वाद् वा क्तान्तं न पूर्वं निपतति ।

बेभेदिषीष्टेति यङ्लुपि कर्म्मण्यात्मनेपदं यङन्तात्तु गुणस्याऽप्राप्तिः, यङकारस्य 'स्वरस्य' ७-४-११० इति स्थानित्वात् ।

ह्विणोरप्विति व्यौ ॥ ४. ३. १५ ॥

हु इण् इत्येतयोर्नामिनः स्वरादावपित्यविति च शिति परे यथासंख्यं वकारयकारादेशावियुवोरपवादौ भवतः । जुह्वति, जुह्वतु, व्यतिजुह्वीरन्, व्यत्यजुह्वत, जुह्वत्, कतीह जुह्वानाः, यन्ति यन्तु, व्यतिप्रतियीरन्, मा स्म यन्, यन्, यन्तौ, यन्तः । शितीत्येव,-जुहुवतु, ईयतुः, ईयुः । स्वरादावित्येव,-जुहुतः, इतः । अप्वितीति किम् ? पुस्,-अजुहवुः, वित्-जुहवानि, अयानि । आयन्नित्यत्र तु 'एत्यस्तेर्वृद्धिः' (४-४-३०) इति वृद्धिरेवापवादत्वात् ॥ १५ ॥

न्या० स०-ह्विणोर०-व्यतिप्रतियीरन्निति-ज्ञानार्थत्वात् 'क्रियाव्यतिहारे' ३-३-२३ इत्यात्मनेपदम् । ईयतुरिति-इणो द्वित्वे 'योऽनेकस्वरस्य' २-१-५६ इति यत्वापवाद 'इणः' २-१-५१ इतीय् ततः 'समानानाम्' १-२-१ दीर्घः ।

इको वा ॥ ४. ३. १६ ॥

इंक् स्मरणे इत्यस्य स्वरादावविति शिति परे वा यकारो भवति । अधियन्ति, अधीयन्ति, अधियन्तु, अधीयन्तु, व्यत्यधियीरन्, व्यत्यधीयीरन्, मास्माधियन्, मास्माधीयन्, कतीहाधियानाः, कतीहाधीयानाः ॥ १६ ॥

कुटादेर्ङिद्वदञ्णित् ॥ ४. ३. १७ ॥

तुदाद्यन्तर्गणो वृत्पर्यन्तः कुटादिः,-कुटादेर्गणात्परो ञिद् णिद्वर्जितः प्रत्ययो

ङिद्वद्भवति । कुटिता, कुटितुम्, कुटितव्यम्, कुटित्वा, गुता, गुतुम्, नुविता, नुवितुम्, धुविता, धुवितुम्, कुङ्कूङत् शब्दे–कुता, कुतुम्, कुविता, कुवितुम् । न्यनुवीत् न्यधुवीदित्यत्र ङित्वात् 'सिचि परस्मै समानस्याङिति' (४–३ ४४) इत्यनेन वृद्धिरपि न भवति ।

अञ्णिदिति किम् ? उदकोटि,–उत्कोटः, उत्कोटयति, उच्चुकोट, तृणकोटः, उत्कोटकः । कुटादेरिति किम् ? लेखनीयम् । के चिल्लिखिमपि कुटादौ पठन्ति । अपरे तु कडस्फरस्फलान् कुटादौ पठित्वा पाठसामर्थ्यात् ञ्णिति वृद्धिनिषेधमिच्छन्ति-कडकः, स्फरकः, स्फलकः ।। १७ ।।

न्या० स०–कुटादे०–ङिद्वद्भवतीति-प्रत्यासत्तेर्न्यायात् यत्कार्यं कुटादेर्ङित्द्वारा प्राप्नोति तस्मिन्नेव कार्ये ङित्वं न आत्मनेपदादौ, तेन चुकुटिषतीत्यादौ सन्नन्तस्य ङित्वादात्मनेपदं न भवति ।

विजेरिट् ।। ४. ३. १८ ।।

विजेरिट् ङिद्वद्भवति । उद्विजिता, उद्विजितुम्, उद्विजितव्यम्, उद्विजिष्यते । इडिति किम् ? उद्वेजनम्, उद्वेजयति ।। १८ ।।

न्या० स० विजेरि०–औविजैति ओविजैप् उभयोर्ग्रहणं, विजृङ्की इत्यस्यापि च थवि सेट्त्वात् प्राप्तं परमऽदाद्यनदाद्योरनदादेरेव ग्रहणमिति तस्य न भवति ।

उद्विजितेति–उद्वेजिता वृष्टिमिराश्रयन्त इति तु णिगन्तात् क्ते भविष्यति ।

वोर्णोः ।। ४. ३. १९ ।।

ऊर्णोतेरिड्वा ङिद्वद्भवति । प्रोर्णुविता, प्रोर्णविता, प्रोर्णुवितुम्, प्रोर्णवितुम्, प्रोर्णावितुम् प्रोर्णुविष्यति, प्रोर्णविष्यति । इडित्येव,–प्रोर्णवनम्, प्रोर्णवनीयम् ।। १९ ।।

शिदवित् ।। ४. ३. २० ।।

धातोः परो विद्वर्जितः शित्प्रत्ययो ङिद्वद्भवति । इतः,–सुतः, जागृतः, वित्तः, अधीते, संवित्ते, दीव्यति, सुनुतः, तुदति, क्रीणाति, अधीयन् सिद्धान्तम्, अधीयानः, विदन्, संविदानः, जिनाति, विध्यति, गृह्णाति, वृश्चति, हतः, घ्नन्ति, शंशान्तः, तन्तान्तः । अविदिति किम् ? एति, जुहोति, जयति, हन्ति । शिदिति किम् ? चेषोष्ट, वेत्ता । कथं च्यवन्ते प्लवन्ते ? अन्तरङ्गत्वाद्गुणे कृते शवो लोपात्, स्थानिवद्भावाद्वा ।। २० ।।

इन्ध्यसंयोगात्परोक्षा किद्वत् ।। ४. ३. २१ ।।

इन्धेरसंयोगान्ताच्च धातोः परा अवित्परोक्षा किद्वद्भवति । समीधे, समीधाते, समीधिरे, निन्यतुः, निन्युः, बिभिदतुः, बिभिदुः, ईजतुः, ईजुः, ऊचतुः, ऊचुः, सुषुपतुः, सुषुपुः, जजागरतुः, जजागरुः । इन्ध्यसंयोगादिति किम् ? सस्रंसे, दध्वंसे । परोक्षेति किम् ? इन्धिता, नेता । अविदित्येव,–निनय, निनयिथ, इयाज, इयजिथ ।

ङिद्वदिति प्रकृते किद्वद्वचनं यजादिवचिस्वपीनां य्वृदर्थम् । जागर्तेश्च गुणार्थम् । ङित्त्वे हि ते न स्याताम् । यथा,-स्वपितः, स्वपन्ति, जागृतः, जाग्रति ।। २१ ।।

न्या० स० इन्ध्यसंयोगात्०-निन्यतुरिति-नन्वत्र 'नो व्यञ्जनस्य' ४-२-४५ इत्युपान्त्यनकारस्य लुक् कथं न ? सत्यं, प्रकृतेः पूर्वमन्तरङ्गमिति कृत्वा न लोपे बहिरङ्गं यत्वमऽसिद्धमिति न व्यञ्जनान्तत्वं, यद् वा यत्वे कृते संयोगान्तो धातुस्ततः कित्त्वमपि नास्ति ।

ऊचतुरिति-यजादिसाहचर्यात् नित्याऽणिजन्तस्यैव वचो ग्रहणमिति 'वचण् भाषणे' इत्यस्य 'यजादिवचेः किति' ४-१-७९ इति न य्वृत् ।

किद्वद्वचनमिति-नन्वधिकारायाते ङित्वेऽप्याश्रीयमाणे गुणादिकार्यं न भविष्यति किं किद्वद्वचनेन ? इत्याह-**यजादीति । ते इति**-तच्च स चेति वाक्ये त्यदादित्वात्तच्छेषः स्त्रीपुन्नपुंसकानामिति वचनात् सूत्रे यत्परं तद्भवति ।

स्वञ्जेर्नवा ।। ४. ३. २२ ।।

स्वञ्जेः परा परोक्षा वा किद्वद्भवति । परिषस्वजे, परिषस्वञ्जे ।। २२ ।।

जनशो न्युपान्त्ये तादिः क्त्वा ।। ४. ३. २३ ।।

जकारान्ताद्धातोर्नशेश्च नकारे उपान्त्ये सति तकारादिः क्त्वा किद्वद्वा भवति । रक्त्वा, रङ्क्त्वा, भक्त्वा, भङ्क्त्वा, मक्त्वा, मङ्क्त्वा । 'मस्जेः सः' (४-४-१११) इति नः । नष्ट्वा, नंष्ट्वा 'नशो धुटि' (४-४-११०) इति नः । नीति किम् ? भुक्त्वा, इष्ट्वा । उपान्त्य इति किम् ? निक्त्वा । क्त्वेति किम् ? भङ्क्ता, नंष्टा । तादिरिति किम् ? विभज्य, अञ्जित्वा ।। २३ ।।

न्या० स०-जनशो-अञ्जित्वेत्यत्र 'धूगौदितः' ४-४-३८ इतीट् ।

ऋत्तृष-मृष-कृश-वञ्च-लुञ्च-थफः सेट् ।। ४. ३. २४ ।।

न्युपान्त्य इति विशेषणं थफान्तानाम् नान्येषां संभवव्यभिचाराभावात् , न्युपान्त्ये सति एभ्यो विहितः क्त्वा सेट् किद्वद्वा भवति ।

ऋत्-ऋतित्वा, अर्तित्वा, तृष्-तृषित्वा तर्षित्वा, मृषच् ,-मृषित्वा, मर्षित्वा, कृश् ,-कृशित्वा, कर्शित्वा, वञ्च,-वचित्वा, वञ्चित्वा, लुञ्चः-लुचित्वा, लुञ्चित्वा, श्रन्थ् ,-श्रथित्वा, श्रन्थित्वा, ग्रन्थ् ,-ग्रथित्वा, ग्रन्थित्वा, गुम्फ,-गुफित्वा,-गुम्फित्वा, ऋम्फ,-ऋफित्वा, ऋम्फित्वा । न्युपान्त्य इत्येव,-कुथ् ,-कोथित्वा, पुथ् ,-पोथित्वा, रिफ,-रेफित्वा । क्त्वेत्येव,-ग्रथितः, ग्रथितवान् । सेडिति किम् ? वञ्चू,-वक्त्वा, मृषू-मृष्ट्वा । ऊदित्त्वात्क्त्वायां वेटौ । विहितविशेषणादृफित्वेत्यत्र नलोपेऽपि कित्त्वाद्गुणो न भवति । क्त्वेत्यनेन कित्त्वप्रतिषेधे प्राप्ते विकल्पार्थं वचनम् ।। २४ ।।

न्या० स०-ऋत्तृषमृष०-संभवव्यभिचाराभावादिति-ऋत्तृषमृषकृशां न संभवः वञ्चलुञ्चोर्न व्यभिचार इति, एतत्तु समुदितानां लक्षणम् ।

लुचित्वेति-केचित्तु लुञ्चेः क्तयोरपि सेटोर्वा कित्त्वमिच्छन्ति, तन्मते लुचितः लुञ्चित इति।

गुफित्वेति-नन्वत्र न लोपे उकारोपान्त्यत्वादुत्तरेण 'वौ व्यञ्जनादेः' ४-३-२५ इत्यनेन वा कित्त्वं प्राप्नोति तस्मिंश्च सति पक्षे गुणः प्राप्तः? सत्यं, कितमाश्रित्य न लोपोऽतः संनिपातन्यायादुत्तरसूत्रकार्ये आत्मनिमित्तविहत्यै नोपतिष्ठते, तेन गुणो नोज्जह्ले।

कोथित्वेति-व्यावृत्तिबलादुत्तरेणापि विकल्पो न, किन्तु क्त्वेत्यनेन नित्यं निषेधः।

वौ व्यञ्जनादेः सन्चाय्वः ॥ ४. ३. २५ ॥

वौ उकारे इकारे चोपान्त्ये सति व्यञ्जनादेर्धातोः परः क्त्वा सन् च सेटौ वा किद्वद्भवतः 'अय्वः' यकारान्ताद्वकारान्ताच्च न भवतः।

द्युतित्वा, द्योतित्वा, दिद्युतिषते, दिद्योतिषते, मुदित्वा, मोदित्वा, मुमुदिषते, मुमोदिषते, लिखित्वा, लेखित्वा, लिलिखिषति, लिलेखिषति, श्वितित्वा, श्वेतित्वा, शिश्वितिषते, शिश्वेतिषते। वाविति किम्? वर्तित्वा, विवर्तिषते। व्यञ्जनादेरिति किम्? ओषित्वा, ओषिषिषति। सेडित्येव,-भुक्त्वा, बुभुक्षते। अय्व इति किम्? देवित्वा, दिदेविषति॥ २५॥

न्या० स०-वौ व्यञ्जनादेः-विश्च य् च विय् वियिवाचरति क्विप् लुक् वेयनं पूर्वं क्त्वायां वेयित्वेति, अय्व इति व्यावृत्तो यान्तत्वे प्रयोगः कार्यः।

उति शवर्हादिभ्यः क्तौ भावारम्भे ॥ ४. ३. २६ ॥

उकारे उपान्त्ये सति शवर्हेभ्योऽदादिभ्यश्च धातुभ्यो भावे आरम्भे चादिकर्मणि विहितौ क्तौ क्तक्तवतू सेटौ वा किद्वद्भवतः।

कुचितमनेन, कोचितमनेन, प्रकुचितः, प्रकोचितः, प्रकुचितवान्, प्रकोचितवान्, द्युतितमनेन, द्योतितमनेन, प्रद्युतितः, प्रद्योतितः, मुदितमनेन, मोदितमनेन, प्रमुदितः, प्रमोदितः, श्रदभ्यः, रुदितमनेन, रोदितमनेन, प्ररुदितः, प्ररोदितः, प्ररुदितवान्, प्ररोदितवान्। उतीति किम्? श्वितितमनेन, प्रश्वितितः। शवर्हादिभ्य इति किम्? गुधितमनेन, प्रगुधितः। भावारम्भ इति किम्? रुचिता कन्या। क्ताविति किम्? प्रद्योतिषीष्ट, सेटावित्येव,-रूढमनेन, प्ररूढः, प्ररूढवान्॥ २६॥

न्या० स० उति शवर्हा०-भावारम्भे इति सूत्रत्वात् समाहारः, यद्वा कर्मधारयः। **कुचितमनेनेति**-कुच्यते स्म भावे क्तः।

न डीङ्-शीङ्-पूङ्-धृषि-क्ष्विदि-स्विदि-मिदः ॥ ४. ३. २७ ॥

भावारम्भ इति न स्मर्यते। एभ्यः परौ सेटौ क्तक्तवतू न किद्वद्भवतः।

डयतेः, डयितः, डयितवान्, शीङ्,-शयितः,-शयितवान्, पूङ्, पवितः, पवितवान्, धृष्,-प्रधर्षितः, प्रधर्षितवान्, क्ष्विद्-प्रक्ष्वेदितः, प्रक्ष्वेदितवान्, स्विद्-प्रस्वेदितः, प्रस्वेदितवान्, मिद्,-प्रमेदितः, प्रमेदितवान्। डीङ्शीङ्पूङामनुबन्धनिर्देशो यङ्लुपनि-

वृत्यर्थः । डेडियतः, डेडियतवान्, शेशियतः, शेशियतवान्, पोपुवितः, पोपुवितवान् । सेटावित्येव,-डीयतेर्डीनः, डीनवान्, पूतः, पूतवान्, धृष्ट, धृष्टवान्, क्ष्विण्णः, क्ष्विण्णवान्, स्विन्नः, स्विन्नवान्, मिन्नः, मिन्नवान् ।। २७ ।।

न्या० स० न डीङ्शीङ्०-न स्मर्यते इति-तेन भावारम्भादन्यत्रापि सामान्येन विधिः । पवित इति-'उवर्णात्' ४-४-५८ इति न प्रतिषेधः, 'पूङ्क्लिशि' ४-४-४५ इति वेट् । प्रधर्षित इति 'आदितः' ४-४-७१ इति नित्यं निषेधे प्राप्ते धर्षितुमारब्धः प्रधृष्यते स्मेति वा वाक्ये क्ते 'नवा भावारम्भ' ४-४-७२ इतीट् । प्रधर्षितवान् इति धर्षितुमारब्धवान् आरम्भे क्तवत्, 'नवा भावारम्भे' ४-४-७२ इट्, एवमग्रेतनेष्वपि । पोपुवित इति-पोपूयते स्म कर्म्मणि क्तः, अनेकस्वरत्वादिट् 'उवर्णात्' ४-४-५८ इति न प्रतिषेधः 'पूङ्क्लिशि' ४-४-४५ इति विकल्पोऽपि न ❀ तिवा शवा ❀ इति न्यायात् ।

डीन इत्यत्र-'डीयश्वी' ४-४-६१ इति नेट् । पूत इत्यत्र 'पूङ्क्लिशि' ४-४-४५ इति वेट् । धृष्ट-इत्यत्र 'धृषशस' ४-४-६६ इति नेट् । क्ष्विण्णः, स्विन्न, मिन्नः इत्यादिषु 'आदितः' ४-४-७१ इति नेट् ।

मृषः क्षान्तौ ।। ४. ३. २८ ।।

क्षान्तौ वर्तमानान्मृषः परौ सेटौ क्तक्तवतू किद्वन्न भवतः । मर्षितः, मर्षितवान् । क्षान्ताविति किम् ? अपमृषितं वाक्यमाह-सासूयमित्यर्थः । सेटावित्येव,-मृषू सहने च-मृष्टः, मृष्टवान् ।। २८ ।।

क्त्वा ।। ४. ३. २९ ।।

धातोः परः क्त्वा सेट् किद्वन्न भवति । देवित्वा, सेवित्वा, वर्तित्वा, भ्रंशित्वा, ध्वंसित्वा, व्रश्चित्वा । कथं कुटत् कुटित्वा ? 'कुटादेर्ङिद्वदञ्णित्' (४-३-१७) इति ङिद्वद्भावात् । सेडित्येव,-कृत्वा, इष्ट्वा, शान्त्वा ।। २९ ।।

स्कन्दस्यन्दः ।। ४. ३. ३० ।।

स्कन्दिस्यन्दिभ्यां परः क्त्वा किद्वन्न भवति । स्कन्त्वा, स्यन्त्वा, प्रस्कन्द्य, प्रस्यन्द्य । के चित् प्रस्कद्य प्रस्यद्येति यपः कित्त्वमिच्छन्ति, तन्मतसंग्रहार्थं क्त्वेति द्वितकारो निर्देशः । तकारादिः क्त्वेत्यर्थः । अनिडर्थः वचनम् । सेटि तु पूर्वसूत्रेण स्यन्दित्वेत्येव भवति ।। ३० ।।

क्षुध-क्लिश-कुष-गुध-मृड-मृद-वद-वसः ।। ४. ३. ३१ ।।

नेति निवृत्तम्, एभ्यः परः क्त्वा सेट् किद्वद्भवति । क्षुधित्वा, क्लिशित्वा, कुषित्वा, गुधित्वा, मृडित्वा, मृदित्वा, उदित्वा, उषित्वा, । क्षुधेर्नेच्छन्त्यन्ये । 'क्त्वा' (४-३-२९) इति प्रतिषेधे 'वौ व्यञ्जनादेः सन्चाय्वः' (४-३-२५) इति विकल्पे च प्राप्ते वचनम् ।।३१।।

न्या० स०-क्षुधक्लिश०-नेति निवृत्तमिति-मृडादीनामुपादानात्, तेभ्यो हि 'क्त्वा' ४-३-२९ इत्यनेन प्रतिषेधः सिद्ध इति तदुपादानमनर्थकं स्यात्, न वाच्यं क्षुधादीनामप्यु-

पादानादिति, यतस्तेषां 'वौ व्यञ्जनादेः' ४-३-२५ इति विकल्पे प्राप्तेऽनेन प्रतिषेधे चरितार्थमुपादानम् ।

रुद्-विद्-मुष-ग्रह-स्वप-प्रच्छः सन् च ॥ ४. ३. ३२ ॥

सेडिति निवृत्तम्, एभ्यः परः सन् क्त्वा च किद्वद्भवतः ।

रुदित्वा, रुरुदिषति, विदित्वा विविदिषति, मुषित्वा, मुमुषिषति, गृहीत्वा, जिघृक्षति, सुप्त्वा, सुषुप्सति, पृष्ट्वा, पिपृच्छिषति, रुदविदमुषो 'वौ व्यञ्जनादेः सन् चाऽस्तः' (४-३-२५) इति विकल्पे ग्रहेस्तु 'क्त्वा' (४-३-२९) इति प्रतिषेधे प्राप्ते वचनम् । स्वपिप्रच्छयोः सन्नर्थमेव, क्त्वा हि किदेव ।। ३२ ।।

न्या० स०-रुदविद०-विदेति 'विदक् ज्ञाने' इत्यस्य ग्रहणं नान्येषां, तेषां हि निषेधाभावात् किद्वदेव क्त्वा, न वाच्यं 'वौ व्यञ्जनादेः' ४-३-२५ इति विकल्पः, तत्र सेटीति विशेषणात् । निवृत्तमिति-स्वपप्रच्छोरिटोऽसंभवात् ।

नामिनोऽनिट् ॥ ४. ३. ३३ ॥

नाम्यन्ताद्धातोरनिट् सन् किद्वद्भवति । चिचीषति, तुष्टूषति, लुलूषति, चिकीर्षति, तितीर्षति । नामिन इति किम् ? पिपासति, तिष्ठासति । अनिडिति किम् ? शिशयिषते । सनित्येव ? चेता, नेता ।। ३३ ।।

उपान्त्ये ॥ ४. ३. ३४ ॥

नामिन्युपान्त्ये सति धातोरनिट् सन् किद्वद्भवति । बिभित्सते, बुभुत्सते, विवृत्सति, धिप्सति । अनिडित्येव,-विवर्तिषते, विवर्धिषते । नामिन इत्येव,-यियक्षति, विवत्सति । सनित्येव,-भेत्ता ।। ३४ ।।

सिजाशिषावात्मने ॥ ४. ३. ३५ ॥

नामिन्युपान्त्ये सति धातोः परे आत्मनेपदविषये अनिटौ सिजाशिषौ किद्वद्भवतः ।

अभित्त, अबुद्ध, असृष्ट, भित्सीष्ट, भुत्सीष्ट, सृक्षीष्ट । सिजाशिषाविति किम् ? भेत्स्यते, भोत्स्यते । आत्मने इति किम् ? अस्राक्षीत्, अद्राक्षीत् । नामिन इत्येव,-अयष्ट, यक्षीष्ट । उपान्त्य इत्येव,-अचेष्ट, चेषीष्ट । अनिडित्येव,-अवर्धिष्ट वर्धिषीष्ट ।। ३५ ।।

न्या० स० सिजाशिषा०-अचेष्ट इति-सिचो लुकः परत्वेऽपि नित्यत्वात् प्रागेव गुणः, एतच्च 'धुट् ह्रस्व' ४-३-७० इत्यत्र कथयिष्यति ।

ऋवर्णात् ॥ ४. ३. ३६ ॥

ऋवर्णान्ताद्धातोः परे अनिटावात्मनेपदविषये सिजाशिषौ किद्वद्भवतः । अकृत, अहृत, कृषीष्ट, हृषीष्ट, अतीर्ष्ट, अपूर्ष्ट, तीर्षीष्ट, पूर्षीष्ट । अनिटावित्येव-अवरिष्ट, वरिषीष्ट, अतरिष्ट, तरिषीष्ट ।। ३६ ।।

न्या० स० ऋवर्णात्-अतीर्ष्ट इति-अस्मात् कर्मकर्त्तरि 'एकधातौ' ३-४-८६

इत्यात्मनेपदतप्रत्यये 'स्वरदुहो वा' ३-४-९० इति विकल्पेन ञिच्, कर्मणि तु नित्यं ञिच् स्यात्, एवमऽपूर्ष्टेत्यत्रापि।

गमो वा ॥ ४. ३. ३७ ॥

गमेः परे आत्मनेपदविषये सिजाशिषौ किद्वद्वा भवतः। समगत, समगंस्त चैत्रः, अगसाताम् अगंसाताम् ग्रामौ चैत्रेण, संगसीष्ट, संगंसीष्ट चैत्रः, गसीष्ट, गंसीष्ट, चैत्रेण ॥ ३७ ॥

हनः सिच् ॥ ४. ३. ३८ ॥

हन्तेः पर आत्मनेपदविषयः सिच् किद्वद्भवति। आहत,-आहसाताम्,-आहसत ॥ ३८ ॥

यमः सूचने ॥ ४. ३. ३९ ॥

सूचनं परदोषाविष्करणम् तत्र वर्तमानाद्यमेः पर आत्मनेपदविषयः सिच् किद्वद्भवति। उदायत, उदायसाताम्, उदायसत। 'आङो यमहनः स्वेऽङ्गे च' (३-३-८६) इत्यात्मनेपदम्। सूचन इति किम्? आयंस्त कूपाद्रज्जुम्, उद्धृतवानित्यर्थः। सकर्मकात् 'समुदाङो यमेरग्रन्थे' (३-३-३८) इत्यात्मनेपदम् ॥ ३९ ॥

वा स्वीकृतौ ॥ ४. ३. ४० ॥

स्वीकृतौ वर्तमानाद्यमेः पर आत्मनेपदविषयः सिच् किद्वद्वा भवति। उपायत, उपायंस्त महास्त्राणि, उपायत उपायंस्त कन्याम्, मोपयध्वं भयं सीतां नोपायंस्त दशाननः। 'यमः स्वीकारे' (३-३-५९) इत्यात्मनेपदम्। स्वीकृताविति किम्। आयंस्त पाणिम्। सिजित्येव,-उपयंसीष्ट कन्याम्। उद्वाह एवेच्छन्त्यन्ये ॥ ४० ॥

इश्च स्थादः ॥ ४. ३. ४१ ॥

तिष्ठतेर्दासंज्ञाच्च धातोः पर आत्मनेपदविषयः सिच् किद्वद्भवति, तत्संनियोगे च स्थादोरन्तस्येकारादेशो भवति। उपास्थित, उपास्थिषाताम्, उपास्थिषत, दाम्,-व्यत्यदित, व्यत्यदिषाताम् वस्त्रे, देङ्-अदित पुत्रम्, डुदांग्क्-अदित धनम्, दोंच्,-व्यत्यदित दण्डौ, ट्धें,-व्यत्यधित स्तनौ, डुधांग्क्,-अधित भारम्।

स्थाद इति किम्? दांवकदैवोर्व्यत्यदास्त व्यत्यदासाताम्, व्यत्यदासत। आत्मनेपद इत्येव,-अधासीत् ॥ ४१ ॥

न्या० स०–इश्च स्थादः–किद्वद्भवतीति–नन्विकारविधानादेव गुणो न भविष्यति किं सिचः किद्विधानेन? सत्यं, विधानस्य ह्रस्वद्वारा 'धुड्ह्रस्व' ४-३-७० इति सिच्लोपे चरितार्थत्वात् गुणः स्यात्।

मृजोऽस्य वृद्धिः ॥ ४. ३. ४२ ॥

मृजेर्गुणे सत्यकारस्य वृद्धिर्भवति । मार्ष्टि, मार्ष्टा, मार्ष्टुम्, मार्ष्टव्यम्, मार्जिता, मार्जकः, संमार्जनम्, संमार्गः । अत इति किम्? मृज्यते, मरीमृज्यते, मृष्टः, मृष्टवान्, कथं म्रष्टा म्रष्टुम्, द्रमिला जानन्ति ये मृजेरपि रत्वमिच्छन्ति ।। ४२ ।।

न्या० स०-मृजो०-मृजेरपीति-न केवलं मृजादीनामित्यर्थः । **रत्वमिच्छन्तीति**-सस्वरं रत्वमकारागमे रत्वं वा ।

ऋतः स्वरे वा ।। ४. ३. ४३ ।।

मृजेर्ऋकारस्य स्वरादौ प्रत्यये परे वा वृद्धिर्भवति । परिमार्जन्ति, परिमृजन्ति, परिमार्जन्तु, परिमृजन्तु, पर्यमार्जन्, पर्यमृजन्, परिममार्जतुः परिममृजतुः, परिमार्जन्, परिमृजन् । ऋत इति किम्? प्रमार्ज, मार्जयति । स्वर इति किम्? मृष्टः, मृष्ठः, मृज्वः, मृज्मः ।। ४३ ।।

न्या० स०-ऋतः स्वरे वा-ममार्जेति-गुणे कृते 'मृजोऽस्य वृद्धिः' ४-३-४२ इत्यनेन नित्यं वृद्धिः, न त्वनेन विकल्पः । ननु गुणात् प्रागेव परत्वाद् वृद्धिः कथं न? सत्यं, विकल्पबलात्, 'ऋतः स्वरे वा' ४-३-४३ इत्यस्य विकल्पपक्षे इदमुदाहरणमन्यथा हि परत्वात् वृद्धिः स्यात् किं व्यावृत्त्या, किं बहुना गुणे कृते वृद्धिविकल्पो माभूदित्येवमर्थभूत इति व्यावृतिस्तेन ममर्ज मर्जयतीति न भवति ।

स्वर इति किमिति? धातोः कार्यं विधीयमानं धात्वधिकारविहित एव प्रत्यये विज्ञायते इति कंसपरिमृज इत्यत्र क्विबन्तस्य धातुत्वेऽपि नामाधिकारविहिते स्यादिप्रत्यये वृद्ध्यभावः ।

सिचि परस्मै समानस्याङिति ।। ४. ३. ४४ ।।

समानान्तस्य धातोः परस्मैपदविषये सिच्यङिति परे आसन्ना वृद्धिर्भवति । अचैषीत् अनैषीत्, अयावीत्, अलावीत्, अकार्षीत्, अतारीत्, अचेचायीत्, अनेनायीत् ।

परस्मै इति किम्? अच्योष्ट, अप्लोष्ट । समानस्येति किम्? गौरिवाचारीत् अगवीत्, अचिकीर्षीदित्यत्र परत्वात् 'अतः' (४-३-८२) इति अकारस्य लुक् । अङितीति किम्? णू-न्यनुवीत्, धू-न्यधुवीत्, ऊर्णु:-प्रौर्णोनुवीत्, गु,-न्यगुषीत्, धु,-न्यध्रुषीत् । येषां तु गु दीर्घान्तो ध्रुस्तु सेट् तेषां न्यगुवीत् न्यध्रुवीत् इत्यपि भवति ।। ४४ ।।

न्या० स०-सिचिपरस्मै०-अच्योष्टेति-नित्यत्वादन्तरङ्गत्वाच्च गुणः । **अकारस्य लुगिति**-अत एव मूलोदाहरणेषु अकारस्य वृद्धिर्न दर्शिता । **गु दीर्घान्त इति**-ऊदन्त इत्यर्थः, ऊदन्ताश्च तन्मते सेट एव, एतच्च 'एकस्वरादनुस्वरातः' ४-४-५६ इत्यत्र सूत्रान्ते संग्रहश्लोके वक्ष्यते ।

व्यञ्जनानामनिटि ।। ४. ३. ४५ ।।

व्यञ्जनान्तस्य धातोः परस्मैपदविषयेऽनिटि सिचि परे समानस्य वृद्धिर्भवति । अपा-

क्षीत्, अभेत्सीत्, अरौत्सीत्, अताप्सीत्। बहुवचनं व्याप्त्यर्थम्। तेनानेकव्यञ्जनव्यवधानेऽपि भवति। रन्ज्-अराङ्क्षीत्, सञ्ज्,-असाङ्क्षीत्, भञ्ज्-अभाङ्क्षीत्, तक्षौ-अताक्षीत्, त्वक्षौ-अत्वाक्षीत्, औदित्वाद्वेटो। समानस्येत्येव,-उदवोढाम्। अनिटीति किम्? अतक्षीत्, अत्वक्षीत्, अदेवीत्, अकोषीत्, अनर्तीत्॥ ४५॥

न्या० स०-व्यञ्जना०-अताक्षीदिति-तक्षौ अद्यतनीदि सिच् ईत् 'संयोगस्यादौ' २-१-८८ इति कलुकि 'षढोः कस्सि' २-१-६२ इति षस्य कत्वे सिचः षत्वेऽटि च रूपम्।

उदवोढामिति-पूर्ववृद्धौ एकदेशेति न्यायाद् वहेरोत्वं, ततो भूतपूर्वगत्या ढस्य परेऽसत्त्वाद् वा व्यञ्जनान्तत्वे पुनरप्योकारस्य वृद्धिः प्राप्नोति।

वोर्णुगः सेटि॥ ४. ३. ४६॥

ऊर्णोतेः सेटि सिचि परस्मैपदविषये परे वृद्धिर्वा भवति। प्रोर्णावीत्, पक्षे प्रोर्णुवीत्, प्रोर्णवीत्। परस्मै इत्येव,-प्रोर्णविष्ट। सानुबन्धोपादानं यङ्लुप्निवृत्त्यर्थम्। प्रोर्णोनावीत्। अङित्त्वपक्षे पूर्वेण नित्यं वृद्धिः। ङित्त्वे तु प्रोर्णोनुवीत्। 'वोर्णोः' (४-३-१९) इत्यत्र हि अनुबन्धाभावाद्यङ्लुबन्तस्यापि ग्रहणम्, एवं च प्रकृतेस्त्रैरूप्यं यङ्लुबन्तस्य च द्वैरूप्यं सिद्धं भवति। सेटीत्युत्तरार्थम्॥ ४६॥

न्या० स०-वोर्णुग०:-प्रकृतेस्त्रैरूप्यमिति-शुद्धधातो रूपत्रयमित्यर्थः।

व्यञ्जनादेर्वोपान्त्यस्यातः॥ ४. ३. ४७॥

व्यञ्जनादेर्धातोरुपान्त्यस्यातः सेटि सिचि परस्मैपदविषये परे वृद्धिर्वा भवति। अकाणीत्, अकणीत्, अक्वाणीत्, अक्वणीत्, अश्वासीत्, अश्वसीत्, गौरिवाचारीत् अगावीत्, अगवीत्।

व्यञ्जनादेरिति किम्? मा भवानटीत्, मा भवानशीत्। उपान्त्यस्येति किम्? अरक्षीत्, अपिपठिषीत्, अवधीत्। अत इति किम्? अवेवीत्। सेटीत्येव, अधाक्षीत्॥४७॥

वदव्रजलः॥ ४. ३. ४८॥

वदव्रजोर्लकारान्तानां रेफान्तानां च धातूनामुपान्त्यस्याकारस्य परस्मैपदविषये सेटि सिचि परे वृद्धिर्भवति। अवादीत्, अव्राजीत्, अज्वालीत्, अचालीत्, अक्षारीत्, त्सर्-अत्सारीत्। उपान्त्यस्येत्येव,-अश्वल्लीत्, अवभ्रीत्। अत इत्येव,-न्यमीलीत्, न्यखोरीत्। पूर्वस्यापवादोऽयम्॥ ४८॥

न श्वि-जागृ-शस्-क्षण-ह्म्येदितः॥ ४. ३. ४९॥

श्विजागृशस्क्षणां हकारमकारयकारान्तानामेदितां च धातूनां परस्मैपदविषये सेटि सिचि परे वृद्धिर्न भवति। श्वि-अश्वयीत्, जागृ,-अजागरीत्, शस्,-अशसीत्। शसः स्थाने श्वसं पठन्त्यन्ये-अश्वसीत्, क्षण्,-अक्षणीत्, हान्त-अग्रहीत् अचहीत्। मान्त,-

अवमीत्, अस्यमीत्, यान्त-अव्ययीत्, अहयीत्, एदित्-अकगीत्, अरगीत्, अकखीत्। श्व्यादीनां यङ्लुबन्तानामपि प्रतिषेधः। अशेश्वयीत्, अजर्जागरीत्। केचिज्जागर्तेरपि यङमिच्छन्ति। अशाशसीत्, अचङ्क्षणीत्। अचाचहीत्, अजर्गर्हीत्, असंस्यमीत्, अवाव्ययीत्। एदितां तु यङ्लुपि न प्रतिषेधः। अजाहासीत्, अजाहसीत्। अत एव श्व्यादयो नैदितः क्रियन्ते, अन्यथा ह्येदितः कृत्वा इह श्व्यादिग्रहणं न क्रियेत।

सेटीत्येव,-अधाक्षीत्। वकारान्तस्यापि प्रतिषेधमिच्छत्यन्यः। अमवीत्। शिवजाग्रोः 'सिचि परस्मै समानस्याङिति' (४-३-४४) इति वृद्धावन्येषां च 'व्यञ्जनादेर्वोपान्त्यस्यातः' (४-३-४७) इति विकल्पे प्राप्ते वचनम्॥ ४९॥

न्या० स०-न श्वि जागृ०-अचाचहीदिति-अजर्गर्हीदिति-अजर्गर्हिदिति भग्नं तत्र ग्वृति गुणे उपान्त्यस्याऽकाराऽसंभवात्।

असंस्यमीदिति-परमताभिप्रायेणेदं स्वमते तु 'वेः स्यमः' इति ग्वृत्यऽसेसेमीदिति भवति।

ञ्णिति॥ ४. ३. ५०॥

ञिति णिति च प्रत्यये परे धातोरुपान्त्यस्यातो वृद्धिर्भवति। अपाचि, पाकः, पाचकः, पपाच, पाचयति। अत इत्येव,-भोगः, भोजयति। उपान्त्यस्येत्येव,-भङ्गः, भञ्जकः, चकासयति। ञ्णितीति किम्? पचति॥ ५०॥

नामिनोऽकलिहलेः ४. ३. ५१॥

नाम्यन्तस्य धातोर्नाम्नो वा कलिहलिवर्जितस्य ञ्णिति प्रत्यये परे वृद्धिर्भवति।

अचायि, अनायि, अयावि, अलावि, अकारि, अतारि, कारः, हारः, चिकाय, कारकः। कलिहलिवर्जनान्नाम्नोऽपि। तेन पटुमाख्यातवान् अपीपटत्, अलीलघत् इत्यत्र वृद्धावन्त्यस्वरादिलोपे चासमानलोपित्वात् सन्वद्भावः सिद्धो भवति। कलिहलिवर्जनं किम्? कलिं, हलिं वाग्रहीत्, अचकलत्, अजहलत्। अन्ये तु नाम्नो वृद्धिमनिच्छन्तोऽन्त्यस्वरस्योकारस्यैव णिचि लोपमिच्छन्तः समानलोपित्वात्सन्वद्भावप्रतिषेधऽपपटत् अललघदित्येवाहुः॥ ५१॥

न्या० स०-नामिनोऽक-अपीपटदित्यादिसिध्यर्थं सूत्रं सूत्रितं, अन्यथा 'नामिनः' ४-३-५१ इति गुणे अयवादेशे च कृते 'ञ्णिति' ४-३-५० इति वृद्धौ सर्वाण्यपि सिध्यन्ति, ननु 'नामिनो गुणः' ४-३-१ इत्यत्र कलिहलिवर्जनं क्रियतां तद्वर्जनाच्च नाम्नोऽपि गुणेऽपीपटदित्यादीन्यपि सेत्स्यन्ति किमनेन? सत्यं, कलिहलिवर्जनान्नाम्नोऽपि स्यात्ततश्च सख्येत्यादावपि गुणप्रसङ्ग।

जागुर्ञिणवि॥ ४. ३. ५२॥

जागर्तेर्ञौ णव्येव ञ्णपि प्रत्यये परे वृद्धिर्भवति। अजागारि, जागारिष्यते,

जजागार । ञिणवीति किम् ? जागरयति, जागरकः, साधुजागरी जागरंजागरम्, जागरो वर्तते । पूर्वेणैव सिद्धे नियमार्थो योगः ॥ ५२ ॥

न्या० स०-जागुर्ञि०-नियमार्थो योग इति-विपरीतनियमस्तु न भवति, अन्त्यणवो वाणित्वनिषेधात्, 'न जनवधः' ४-३-५४ इत्यादौ ञित्प्रत्यये वृद्धिनिषेधाच्च ।

आत ऐः कृञ्ञौ ४. ३. ५३ ॥

आकारान्तस्य धातोर्ञ्णिति कृति प्रत्यये ञौ च परे ऐकारो भवति ।

दायः, धाय, दायकः, धायकः, शतं दायी, गोदायो व्रजति, अदायि, अधायि, दायिष्यते । धायिष्यते । कृद्ग्रहणं किम् ? ददौ, दापयति ॥ ५३ ॥

न जनवधः ॥ ४. ३. ५४ ॥

जनवध्योः कृति ञिणिति ञौ परे वृद्धिर्न भवति । प्रजनः, प्रजन्यः, जनकः, प्रजनि, वधः, वध्यः, वधकः, प्रवधि । वधिरत्र वध बन्धने इत्ययं गृह्यते यस्य बीभत्सत इति वैरूप्य एव सनिष्यते, अन्यत्र बधते । भक्षकश्चेन्नास्ति बधकोऽपि न विद्यते । हन्त्यादेशस्य तु वधेरदन्तत्वाद्वृद्धेरप्रसङ्ग एव, अन्ये त्वगणपठितं वधिं हिंसार्थं 'यत्र शाल्मलीकाशः कर्णोऽवध्यत संयुगे' इत्यादिदर्शनान्मन्यन्ते । प्रत्युदाहरन्ति च ववाध ॥ ५४ ॥

न्या० स०-न जनवधः-वधिं हिंसार्थमिति-एषामर्थान्तरेऽपि त्यादयो नाभिधीयन्त इति अङ्गीकुर्वाणाः परस्मैपदिनश्च एतस्यानियमस्त्यादीन्प्रति । ववाधेति-अत्र ञ्णित्-कृदऽभावाद्वृद्धेर्भावः ।

मोऽकमि-यमि-रमि-नमि-गमि-वमाचमः ॥ ४. ३. ५५ ॥

मान्तस्य धातोः कम्यादिवर्जितस्य ञ्णिति कृत्प्रत्यये ञौ च परे वृद्धिर्न भवति ।

शमः, तमः, दमः, शमकः, तमकः, दमकः, शमी, तमी, दमी, प्रशमि, प्रतमि, प्रदमि । म इति किम् ? पाठः, पाठकः, अपाठि । कम्यादिवर्जनं किम् ? कामः, कामुकः, प्रकामि, यामः, यामकः, अयामि, रामः, रामकः, अरामि, नामः, नामकः, अनामि, आगामुकः, आगामि, वामः वामकः, प्रवामि, आचामः, आचामकः, आचामि ।

आचम इति किम् ? चमः, विचमः, चमकः, विचमकः, अचमि, व्यचमि । अन्ये तु सामान्येन निषेधमिच्छन्ति-चामः, विचामः इत्यादि । कथमामः आमकः आमि ? 'अमण् रोगे' इत्यस्य भविष्यति । भौवादिकस्य त्वमेः-अमः अमकः । कृञ्ञावित्येव,-शशाम, तमाम, निशामयते ॥ ५५ ॥

न्या० स०-मोऽकमि०-रामक इति-बाहुलकात् 'रम्यादिभ्यः' ५-३-१२६ इत्यनट् न ।

विश्रमेर्वा ॥ ४. ३. ५६ ॥

विपूर्वस्य श्रमेर्ञ्णिति कृत्प्रत्यये ञौ च परे वा वृद्धिर्न भवति । विश्रामः, विश्रमः, सूर्यविश्रामभूमिः, अविश्रमं यावदिदं शरीरम्, विश्रामकः, विश्रमकः व्यश्रामि, व्यश्रमि ।

वीति किम् ? श्रमः श्रमकः, अश्रमि । कृञ्ञावित्येव,-विशश्राम, अन्ये तु विश्रमेर्वृद्धि नेच्छन्त्येव, अपरे तु नित्यमेव वृद्धिमुपयन्ति । एके तु घञ्येव विकल्पमातिष्ठन्ते ॥५६॥

उद्यमोपरमौ ॥ ४. ३. ५७ ॥

उदुपपूर्वयोर्यमिरम्योर्घञि वृद्ध्यभावो निपात्यते । उद्यमः, उपरमः । अन्यत्र पूर्वेण वृद्धिरेव-यामः, संयामः, सुयामः, रामः, विरामः ॥५७॥

णिद्वान्त्यो णव् ॥ ४. ३. ५८ ॥

परोक्षातृतीयत्रिकैकवचनमन्त्यो णव् वा णिन्न भवति, णित्त्वाश्रयं कार्यं पक्षे प्रतिषिध्यते । सुप्तोऽहं किल विललप, विललाप, विवय, विवाय, निनय, निनाय, लुलव, लुलाव, जजागर, जजागार, चुकुट, चुकोट । वा णित्त्वप्रतिबन्धात्कुटादीनां गुणविभाषा । अन्त्य इति किम् ? स पपाच । णित्त्वाश्रयस्य विकल्पनात् णवाश्रयं नित्यमेव-अहं पपौ ॥५८॥

न्या० स०-णिद्वान्त्यो०-णवाश्रयं नित्यमेवेति – ननु तर्हि णवाश्रयत्वात् 'जागुर्ञिणवि' ४-३-५२ इति अनेन जजागारेत्यत्र नित्यवृद्धिः प्राप्नोति ? सत्यं,-नानेन सूत्रेणात्र वृद्धिः, तत्र च णित्त्वमाश्रीयते ।

उत और्विति व्यञ्जनेऽद्वेः ॥ ४. ३. ५९ ॥

अद्विरुक्तस्योकारान्तस्य धातोर्व्यञ्जनादौ विति वकारानुबन्धे प्रत्यये परेऔर्भवति । यौति, यौषि, यौमि, रौति, रौषि, रौमि, यौतु, रौतु, अयौत्, अरौत्, अयौः, अरौः । उत इति किम् ? एति ।

धातोरित्येव, सुनोमि, तनोमि । वितीति किम् ? युतः, रुतः । व्यञ्जन इति किम् ? यवानि, स्तवानि । अद्वेरिति किम् ? जुहोति, योयोति, तुष्टोथ । तोः स्थाने तातङो ङित्वात्स्थानिवत्त्वं बाध्यते तेन युतात् रुतादित्यादौ नौकारः,-केचित्तु यङ्लुबन्तस्यापीच्छन्ति । नोनौति, योयौति, रोरौति ॥५९॥

वोर्णोः ॥ ४. ३. ६० ॥

उर्णोतेरद्विरुक्तस्य व्यञ्जनादौ विति प्रत्यये और्वा भवति । प्रोर्णौति, प्रोर्णोति । व्यञ्जनादावित्येव प्रोर्णवानि । वितीत्येव ? प्रोर्णुतः । अद्वेरित्येव,-प्रोर्णोनोति । पूर्वेण नित्यं प्राप्ते विकल्पः । यङ्लुबन्तस्यापीच्छन्त्यन्ये-प्रोर्णोनौति ॥६०॥

न दिस्योः ॥ ४. ३. ६१ ॥

ऊर्णोतेर्दिस्योः परयोरौन्न भवति । पृथग्योगात् पूर्वेणापि प्राप्तः प्रतिषिध्यते । प्रौर्णोत्, प्रौर्णोः । दिस्योरिति किम् ? प्रोर्णौति, प्रोर्णौषि । दिसाहचर्याद् ह्यस्तन्या एव सिः ।। ६१ ।।

न्या० स०-न दिस्योः-पृथग्योगादिति—अन्यथा वोर्णोरदिस्योरिति सूत्रं क्रियेत । पूर्वेणापीति-'उत औः' ४-३-५९ इत्यनेनेत्यर्थः । दिसाहर्यादिति-प्राप्तिपूर्वको हि प्रतिषेधः प्राप्तिश्च 'वोर्णोः' ४-३-६० इत्यनेन ।

विति प्रत्यये इति—दिस्तावत् ह्यस्तन्या एव तत्साहचर्यात् सिरपि ह्यस्तन्या एव न तु वर्तमानायाः ।

तृहः श्नादीत् ।। ४. ३. ६२ ।।

तृहः श्नात्परो व्यञ्जनादौ विति प्रत्यये परे ईत् ईकारो भवति ।

तृणेढि, तृणेक्षि, तृणेह्मि, तृणेढु । अतृणेडित्यत्र व्यञ्जनादौ प्रत्ययेऽस्य विधानात् प्रत्ययाश्रयत्वमेव न वर्णाश्रयत्वम् वर्णस्य प्रत्ययविशेषणत्वादिति प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणं भवत्येव आद्यन्तवद्भावाच्च व्यञ्जनादित्वम् । व्यञ्जनादावित्येव,-तृणहानि, अतृणहम् । वितीत्येव,-तृण्ढः,-दीर्घनिर्देश उत्तरार्थः ।। ६२ ।।

ब्रूतः परादिः ।। ४. ३. ६३ ।।

ब्रुव ऊत् ब्रूत् ब्रूतेककारात्परो व्यञ्जनादौ विति प्रत्यये परे ईद्भवति, स च परादिः परावयवः । ब्रवीति, ब्रवीषि, ब्रवीमि, अब्रवीत् ।

ऊत इति किम् ? आत्थ । व्यञ्जनादावित्येव,-ब्रवाणि, अब्रवम् । वितीत्येव,-ब्रूतः ।। ६३ ।।

न्या० स०-ब्रूतः०-ब्रवीतीति-अत्र वचादेशो न ईतः परावयवत्वे शित्वात्, न तु तर्हि ब्रूतः शिदिति क्रियतां किं गुरुणा सूत्रेण ? नैवं, एवं कृते ब्रवीतीत्यत्र गुणो न स्यात् । तर्हि ङिदिति क्रियताम् ? न, एवमपि कृते जंगमीति-जाज्ञेति इत्यादौ 'गमिषद्यमश्छः' ४-२-१०६ 'जा ज्ञाजनोऽत्यादौ' ४-२-१०४ इत्याभ्यां छः जादेशश्च स्यात्, अत्यादेः सद्भावात् परादित्वे तु परभक्तत्वेन त्यादेरानन्तर्यान्न भवति ।

यङ्तुरुस्तोर्बहुलम् ।। ४. ३. ६४ ।।

यङ्लुबन्तात् तु रु स्तु इत्येतेभ्यश्च धातुभ्यः परो व्यञ्जनादौ विति प्रत्यये परे ईद्भवति, 'बहुलम्' शिष्टप्रयोगानुसारेण स च परादिः, क्वचिद्विकल्पः ।

बोभवीति, बोभोति, नर्नृतीति, नर्नर्ति, लालपीति, लालप्ति । क्वचिन्न भवति-वर्वर्ति,-चर्कर्मि । अन्ये तु वावदीति लालपीति रोरवीतीति नित्यं,-बोभोति, बोभवीति, सोषोति, सोषवीति, चर्कर्ति, चर्करीति इति विकल्पः, नर्नर्ति, वर्वर्त्ति वर्वर्ष्टि इत्यत्र न

भवतीत्याहुः । तुंक्, तेवीति, तौति, उत्तवीति, उत्तौति, रुक्,-रवीति, रौति, उपरवीति, उपरौति, ष्टुंगक्,-स्तवीति स्तौति उपस्तवीति, उपस्तौति । तुरुस्तुम्य ईतं छान्दसमाहुरेके ।

व्यञ्जनादावित्येव,- बोभवानि, अबोभवम्, लालपानि, तवानि, रवाणि, स्तवानि । वितीत्येव,-बोभूतः, लालप्तः, तुतः, रुतः स्तुतः । अद्वेरित्यनुवृत्तेः तुतोथ तुष्टोथेत्यत्र न भवति, यङिति सामान्याभिधानेऽपि यङ्लुबन्तस्य ग्रहणम्, यङन्तस्यात्मनेपदित्वाद्वितो व्यञ्जनादेरसंभवात् ।।६४।।

सः सिजस्तेर्दिस्योः ॥ ४. ३. ६५ ॥

सिच्प्रत्ययान्ताद्धातोरस्तेश्च सः सकारान्तात्परः परादिरीत् भवति, दिस्योः परयोः । अकार्षीत्, अकार्षीः, अलावीत्, अलावीः, आसीत्, आसीः । स इति किम्? अदात्, अभूत् । दिस्योरिति किम्? अस्ति, असि ।।६५।।

न्या स०-सः सिजस्ते०-आसीदिति - ह्यस्तनी दिव् सिव् विधानसामर्थ्याच्च 'व्यञ्जनाद्देः' ४-३-७८ इति ईत् देर्न लुप् ।

आसीरिति-आदेशादागम इति न्यायेन सकारलोपात्प्रागेव ईकारागमप्राप्तिः, अस्तेः सि हस्त्वेति ४-३-७३ इति तु सूत्रमवित्प्रत्यये व्यतिसे इत्यादौ चरितार्थं तेनाऽत्र दिव्साहचर्यात् सिव् ह्यस्तन्या एवेति ।

पिबैतिदाभूस्थः सिचो लुप्परस्मै न चेट् ॥ ४. ३. ६६ ॥

एभ्यः परस्य सिचः परस्मैपदे परे लुब्भवति 'न चेट्' लुप्संनियोगे चैतेभ्य इट् न भवति । पिब,-अपात्, एतीति इणिकोर्ग्रहणम् । अगात्, अध्यगात्, दासंज्ञ,-अदात्, अधात् । भू इति भवतेरस्त्यादेशस्य च ग्रहणम्-अभूत्, स्था-अस्थात्, सिज्लोपः परत्वादीतं बाधते । पिबेति किम्? पातिपाययत्योः अपासीत् वनं वा वस्त्रम् वा ।

दासंज्ञ इति किम्? अदासीत् केदारम् भोजनं वा । परस्मै इति किम्? अपासत पयांसि चैत्रेण । व्यत्यभविष्ट, उपास्थिषत । लुकमकृत्वा लुब्विधानं स्थानिवद्भावाभावार्थम्, तेनाबोभोदित्यत्र न वृद्धिः ।।६६।।

न्या० स०-पिबैति०-न चेडिति-नन्विटा सहितस्य सिचो लोपे पेचुष इत्यादौ उषादेशवत् सिध्यति किमिट्वर्जनेन, न वाच्यमिटः प्रागेव लोपविधेर्बलीयस्त्वात् सिच्लोपो भविष्यति आदेशादागम इति न्यायात्? सत्यं, यावत्संभव इति न्यायात् पश्चादपीट् स्यात्, न च पेचुष इत्यादावपि तथा स्यादिति वाच्यं, यतस्तत्रोषादेशे कृते व्यञ्जनादित्वाभावः । अथ 'घसेकस्वरः' ४-४-८ इत्यत्र क्वसोरित्युक्तं न व्यञ्जनादेरिति चेत्? न, 'स्कसृभृवृ' ४-४-८१ इत्यनेन सिद्धे तस्य नियमार्थत्वात्, अथ स्थानित्वे व्यञ्जनादित्वं, न, वर्णविधित्वात् । व्यञ्जनं हि वर्ण इति । यङ्लुप्यपि अपापात्, अदादात्, अबोभोत्, अतास्थात्-सर्वेषु इट्प्रतिषेधः ।

इणिकोर्ग्रहणमिति--इङस्तु आत्मनेपदित्वान्निरासः, इंदुं इत्यस्य त्वऽयतीति रूपम् ।

ट्धेघ्राशाच्छासो वा ॥ ४. ३. ६७ ॥

एभ्यः परस्य सिचः परस्मैपदे वा लुप् भवति, लुप्संनियोगे चैतेभ्य इट् न भवति।

ट्धें-अधात्, अधासीत्, घ्रां-अघ्रात् अघ्रासीत्, शों-अशात्, अशासीत्, छों-अच्छात्, अच्छासीत्, सों सें वा-आसात्, असासीत्। परस्मै इत्येव,-अधिषातां स्तनौ वत्सेन, ट्धः पूर्वेण नित्यं प्राप्ते शेषेभ्योऽप्राप्ते विकल्पः ॥६७॥

न्या० स०-ट्धेघ्राशा०-छाशोः सोर्मध्ये पाठाभावान्न साहचर्यं, तेन न दैवादिकस्यैव।

तन्भ्यो वा तथासि न्णोश्च ॥ ४. ३. ६८ ॥

तनादेर्गणात्परस्य सिचस्ते थासि च प्रत्यये परे लुब्वा भवति, तत्संनियोगे च नकारस्य णकारस्य च लुब् भवति न चेट्।

अतत, अतनिष्ट. अतथाः, अतनिष्ठाः, असत, असनिष्ट, असथाः, असनिष्ठाः, अक्षत, अक्षणिष्ट, अक्षथाः, अक्षणिष्ठाः, आर्त, आर्णिष्ट, आर्थाः, आर्णिष्ठाः, अतृत, अतर्णिष्ट, अतृथाः, अतर्णिष्ठाः, अघृत, अघर्णिष्ट, अघृथाः, अघर्णिष्ठाः, अवत अवनिष्ट, अवथाः, अवनिष्ठाः, अमत, अमनिष्ट, अमथाः, अमनिष्ठाः। इह परस्मै इति निवृत्तम् थास्ग्रहणात्, थास्साहचर्यात्तप्रत्ययोऽप्यात्मनेपदसंबन्ध्येव गृह्यते तेनेह न भवति। अतनिष्ट यूयम् ॥६८॥

न्या० स० तन्भ्यो वा०-न्णोश्चेति- केचित् क्षणुगादीन् णोपदेशान्मन्यन्ते, तन्मतसंग्रहार्थं णकारकरणं. स्वमते तु लाक्षणिकत्वात् णकारस्य नग्रहणेनापि सिद्धम्। अतृतेति- 'न वृद्धिश्चाविति' ४-३-११ इति निषेधान्न गुणः, यद् वा सिच्प्रत्ययेनाद्यतन्युपलक्षणात् 'सिज्लोपे ऋवर्णात्' ४-३-३६ इति अद्यतन्याः कित्वं, 'लुप्यय्वृल्लेनत्' ७-४-११२ इत्यत्र नञ् निर्दिष्टस्यानित्यत्वाद् वा सिचः स्थानित्वे तस्यैव कित्वं सिजाशिषाविति।

सनस्तत्रा वा ॥ ४. ३. ६९ ॥

सनोतेस्तत्र लुपि सत्यामन्तस्य वा आकारो भवति। असात, असत, असाथाः, असथाः। तत्रेति किम्? असनिष्ट, असनिष्ठाः, केचिदात्वं न मन्यन्ते, नित्यमेवान्ये ॥६९॥

धुड्ह्रस्वाल्लुगनिटस्तथोः ॥ ४. ३. ७० ॥

धुडन्ताद्ह्रस्वान्ताच्च धातोः परस्यानिटस्सिचस्तकारादौ थकारादौ च प्रत्यये लुग् भवति। अभैत्ताम्, अभैत्तम्, अभैत्त, अभित्त, अभित्थाः, वस्-अवात्ताम्, अवात्तम्, अवात्त, ह्रस्व-अकृत, अकृथाः, समस्थित, समस्थिथाः, आहृत, आहृथाः।

धुड्ह्रस्वादिति किम्? अमंस्त, अमंस्थाः, अच्योष्ट, अच्योष्ठाः, लुकः परत्वेऽपि नित्यत्वात्प्रागेव गुणः। तथोरिति किम्? अभित्साताम्, अभित्सत, अकृषाताम्, अकृषत। अनिट इति किम्? व्यद्योतिष्ट, व्यद्योतिष्ठाः। ह्रस्वान्ताद्धातोरिति किम्? प्रास्नाविष्ट गौः स्वयमेव अलाविष्टाम्, अलविष्ट। ञेरिटश्च परस्य लोपो माभूत्, लुबधिकारे लुग्ग्रहणं

सिज्लुक्यपि स्थानित्वेन तत्कार्यप्रतिपत्त्यर्थम्, तेनावास्तामित्यादिषु सिचि विधीयमाना वृद्धिस्तदभावेऽपि सिद्धा भवति । तथासीत्यनुवर्त्तमाने तथग्रहणं व्याप्तिप्रतिपत्त्यर्थम् तेन साहचर्यं नास्ति । तथोरिति द्विवचनं यथासंख्यपरिहारार्थम् ।।७०।।

न्या स०-धुड्ह्रस्वा०-अकृतेति-यदि तनादौ पाठः स्यात्तदा वा लुक् स्यात् । अलाविष्टामिति-नन्वनिट इत्यंशेन द्व्यङ्गविकलता ? नैवं, अलावि इति ह्रस्वान्तरूपाश्रयणेन ततः परस्यानिटः सिचो विद्यमानत्वात् ।

इट ईति ॥ ४. ३. ७१ ॥

इटः परस्य सिच ईति परे लुग् भवति । अलावीत्, सिचो लुक्यपि स्थानिवद्भावाद् वृद्धिः । अग्रहीत् । इट इति किम् ? अकार्षीत्, अरौत्सीत् । ईति किम् ? अलाविष्टम्, अभणिषम् ।।७१।।

सो धि वा ॥ ४. ३. ७२ ॥

धातोर्धकारादौ प्रत्यये परे सकारस्य लुग् वा भवति । चकाधि, चकाद्धि, आशाध्वम्, आशाद्ध्वम्, अलविड्ढ्वम्, अलविढ्वम् । सिच्यनुवर्तमाने सग्रहणं सामान्यसकारपरिग्रहार्थम्, तेन प्रकृतिसकारस्यापि लुग् भवति । विकल्पं नेच्छन्त्येके,-अन्ये तु सिच एव नित्यं लोपमिच्छन्ति ।।७२।।

न्या० स० सो धिवा-अलविड्ढ्वमिति—लू धातुस्ततो ध्वम्, सिच् इडागमे च सिचः षत्वे च 'तवर्गस्य' १-३-६० इति धस्य ढत्वे 'तृतीयस्तृतीय' १-३-४९ इति षस्य डत्वे च सिद्धम् ।

अस्तेः सि हस्त्वेति ॥ ४. ३. ७३ ॥

अस्तेः सकारस्य सकारादौ प्रत्यये परे लुग् भवति, एकारे तु प्रत्यये सकारस्य हकारः । असि, व्यतिसे । अकारसकारयोर्लोपे प्रत्ययमात्रं पदम् । हस्त्वेति, व्यतिहे, भावयामाहे, कारयामाहे चैत्रेण, परोक्षाया एकारे नेच्छन्त्यन्ये-भावयामासे, कारयामासे ।।७३।।

दुह-दिह-लिह-गुहो दन्त्यात्मने वा सकः ॥ ४. ३. ७४ ॥

एभ्यः परस्य सक्प्रत्ययस्य दन्त्यादावात्मनेपदे परे लुग् वा भवति ।

दुह,-अदुग्ध, अधुक्षत, अदुग्धाः,-अधुक्षथाः, अधुग्ध्वम्, अधुक्षध्वम्, अदुह्वहि, अधुक्षावहि, दिह-अदिग्ध, अधिक्षत, अदिग्धाः, अधिक्षथाः, अधिग्ध्वम्, अधिक्षध्वम्, अदिह्वहि, अधिक्षावहि, लिह-अलीढ, अलिक्षत, अलीढाः, अलिक्षथाः, अलीढ्वम्, अलिक्षध्वम्, अलिह्वहि, अलिक्षावहि, गुह्-न्यगूढ न्यघुक्षत, न्यगूढाः, न्यघुक्षथाः, न्यघूढ्वम्, न्यघुक्षध्वम्, न्यगुह्वहि, न्यघुक्षावहि । आत्मन इति किम् ? अधुक्षत्, अधिक्षत् । दन्त्येति किम् ? अधुक्षामहि, अधिक्षामहि ।।७४।।

स्वरेऽतः ॥ ४. ३. ७५ ॥

सकोऽकारस्य स्वरादौ प्रत्यये परे लुग् भवति । अधुक्षाताम्, अधुक्षाथाम्, अधुक्षि, अधिक्षाताम्, अधिक्षाथाम्, अधिक्षि । स्वर इति किम् ? अधुक्षत, अधिक्षत । अधुक्षन्तेत्यकारलोपेऽपि स्थानिवद्भावादन्तोऽदादेशो न भवति ।। ७५ ।।

न्या० स० **स्वरेऽतः–अधुक्षातामिति**-सकोऽकारलोपात् 'आतामाते' ४-२-१२१ इति इत्वं, 'अवर्णस्य' १-२-६ इत्येत्वं च न भवति । **स्थानिवद्भावादिति**-प्राचः पूर्वस्माद्विधिरित्याश्रीयते इति 'स्वरस्य पर' ७-४-११० इति स्थानिवद्भावः ।

दरिद्रोऽद्यतन्यां वा ॥ ४. ३. ७६ ॥

दरिद्रातेरद्यतन्यां विषयेऽन्तस्य वा लुग् भवति । अदरिद्रीत्, अदरिद्रासीत्, अदरिद्रि, अदरिद्रायि ।। ७६ ।।

न्या० स० **दरिद्रोऽद्यतन्यां वा-अद्यतन्यां विषयेति**-विषयव्याख्यानादादेशादागम इति न्यायात् प्रथमं **'यमिरमिनम्यातः'** ४-४-८६ इति इट् सोन्तश्च न, भावकर्मणोस्तु ञिट्ञिचि 'आत ऐः कृञ्ञौ' ४-३-५३ इति ऐकारो न ।

अशित्यस्सन्णकज्णकानटि ॥ ४. ३. ७७ ॥

सकारादिसन्णकचणकानड्वर्जितेऽशिति प्रत्यये विषयभूते दरिद्रातेरन्तस्य लुग् भवति । दरिद्रयति, दरिद्रिता, दरिद्रितुम्, दरिद्रणीयम्, साधुदरिद्री । णिन्-दरिद्रयते, दरिद्रयात्, दरिद्रांचकृवान्, विषयसप्तमीविज्ञानात्पूर्वमेवाकारलोपे दरिद्रातीति दरिद्रः । अजेव भवति नत्वाकारान्तलक्षणो णः । तथा दुर्दरिद्रमित्याकारान्तलक्षणोऽनो न भवति । दरिद्राणम्, दरिद्र इति च घञि 'आत' इति ऐर्न भवति ।

अशितीति किम् ? दरिद्राति, दरिद्रामि, अदरिद्राम् । सन्नादिवर्जनं किम् ? सनि,-दिदरिद्रासति । क्रियायां क्रियार्थायां णकचि दरिद्रायको व्रजति । 'पर्यायार्हर्ण' (५-३-२०) इत्यादिना णके दरिद्रायिका वर्तते । 'णकतृचौ' (५-१-४८) इति च णके दरिद्रायकः । अनटि,-दरिद्राणम् । सनः सादिविशेषणं किम् ? दिदरिद्रिषति । अक-इत्येव वक्तव्ये णकचणकयोरुपादानं किम् ? आशिष्यकनि मा भूत्-दरिद्रकः । केचिद्दरिद्रातेरनिटि कसावालोपं नेच्छन्ति, तन्मते इट् आम् चाभिधानान्न भवतः-दिदरिद्रावान् ।। ७७ ।।

न्या० स० **अशित्यस्सन्०-दरिद्रयतीति**-दरिद्रतं प्रयुङ्क्ते णिगि विषयविज्ञानात् पोऽन्तो न । **दरिद्रातीति दरिद्रः इति**-विशेषविहितापि लुक् लोपात्स्वरादेश इति 'आत ऐः कृञ्ञौ' ४-३-५३ इत्यैकारेण प्रत्यये बाध्यते ।

दरिद्रांचकृवानिति-आमादेशस्यानित्यत्वे ददरिद्रवानित्यपि, षष्ठ्यां तु ददरिद्रुष इति भवति ।

दिदरिद्रिषतीति-नन्वत्र 'इडैत् पुसि च' ४ ३-९४ इत्यनेन आल्लुकि दिदरिद्रिषतीत्येव

भविष्यति किं सनः सादिविशेषनेन ? सत्यं, सादिं विना 'इडैत्' ४-३-९४ इति असनूणकचिति विशेषनिषेधो बध्नीयात् ।

व्यञ्जनाद्देः सश्च दः ॥ ४. ३. ७८ ॥

धातोर्व्यञ्जनान्तात्परस्य देर्लुक् यथासंभवं धातुसकारस्य च दकारो भवति । अचकाद्भवान् . अन्वशात्, अजागः, अबिभः, शके:-अशाशक्, वस्के:-अवावक् । व्यञ्जनादिति किम् ? अयात् । धातोरित्येव,-अभैत्सीत्, ईतः परादित्वात्सेतोऽपि प्राप्नोति ।।७८।।

न्या० स०-व्यञ्जनाद्देः-अब्रवीदित्यादौ ईतः परत्वेऽपि सन्निपातन्यायाद्देर्न लुक् । अजागरित्यादिषु तु नानिष्टार्थेति न्यायात् सन्निपातन्यायो न प्रवृत्तः । **अवावगिति**-'संयोगस्यादौ' २-१-८८ इति सलुकोऽसत्त्वेऽपि देरनन्तरस्य विज्ञानात् पाश्चात्यसस्य दो न भवति, अत्र व्यञ्जनादिति भणनाद्दिर्ह्यस्तन्या एव संभवति ।

सेः स्द्धां च रुर्वा ॥ ४. ३. ७९ ॥

धातोर्व्यञ्जनान्तात्परस्य सेर्लुक् सकारदकारधकाराणां च यथासंभवं वा रुर्भवति । अचकास्त्वम्, अचकास्त्वम्, अन्वशास्त्वम्, अन्वशास्त्वम् । सकारस्य रुत्वे सिद्धे पक्षे रुत्वबाधनार्थं वचनम्, ततश्च पक्षे 'धुटस्तृतीयः' (२-१-७६) इति सकारस्य दकारो भवति ।

अभिनस्त्वम्, अभिनत्त्वम्, अच्छिनस्त्वम्, अच्छिनत्त्वम्, अरुणस्त्वम्, अरुणत्त्वम्, अजर्घास्त्वम्, अजर्घत्वम्, अबिभस्त्वम्, अजागस्त्वम् । रोरुदित्करणं किम् ? उत्वादिकार्यं यथा स्यात्-अभिनोऽत्र, अरुणोऽत्र । दिप्रत्यासत्तेः सिरपि ह्यस्तन्या एव । तेनेह न भवति, भिनत्सि ।।७९।।

न्या० स०-सेः स्द्धां०-उत्वादिकार्यमिति-आदिशब्दात् 'रोर्यः' १-३-२६ इत्यादि ।

योऽशिति ॥ ४. ३. ८० ॥

व्यञ्जनान्ताद्धातोः परस्य यकारस्याशिति प्रत्यये परे लुग्भवति । जंगमिता, बेभिदिता, बेभिदांचक्रे, बेभिदिषीष्ट । क्ये,-बेभिद्यते, सोसूचिता, सोसूत्रिता, मोमूत्रिता, शाशयिता, कुषुभिता, मगधकः । सूच्यादीनां णिज्लोपे शयादेशेऽस्य लोपे च व्यञ्जनान्तता, अन्ये तु लाक्षणिकव्यञ्जनान्तेभ्यो यलोपं नेच्छन्ति, तेन सोमूच्यिता, शाशय्यिता, कुषुभ्यिता, तन्मतसंग्रहार्थं व्यञ्जनान्ताद्धातोर्विहितस्येति विहितविशेषणं कार्यम् ।

धातोरित्येव,-ईर्ष्यिता, मव्यिता, पुत्रकाम्यिता । व्यञ्जनादित्येव,-लोलूयिता,-कण्डूयिता । अशितीति किम् ? बेभिद्यते, चेच्छिद्यते ।।८०।।

न्या० स०-योऽशिति-जंगमितेति-यद्यत्र सस्वरस्य यस्य लुक् स्यात्तदा जंगमित इत्यादौ 'गमहन' ४-२-४४ इत्युपान्त्यलोपः स्यात्, स्थितेत्वस्य स्थानित्वाद् व्यवधायकत्वम् ।

क्यो वा ॥ ४. ३. ८१ ॥

धातोर्व्यञ्जनात्परस्य क्यस्याशिति प्रत्यये परे वा लुग्भवति, सामान्यनिर्देशात् क्यन्क्यङोर्ग्रहणम् । क्यङ्षस्तु व्यञ्जनान्तात्प्राप्तिरेव नास्ति । समिधमिच्छति, समिधिष्यति, समिध्यिष्यति, समिध्यात्, समिध्य्यात्, दृषदिवाचरति दृषदिष्यते, दृषद्यिष्यते, दृषदिषीष्ट, दृषद्यिषीष्ट । व्यञ्जनादित्येव,-पटीयिता, पटायिता । अशितीत्येव,-समिध्यति, दृषद्यते, पठ्यते । केचित्तु यकोऽपि लुग्विकल्पमिच्छन्ति । भिषजिता, भिषज्यिता । तन्मतसंग्रहार्थं ककारेणोपलक्षितो य् क्य् इति व्याख्येयम् ।

अन्यस्त्वाह शिष्य इवाचरिता शिषिता शिष्यितेति । यद्यस्ति प्रयोगस्तदा कृत्क्यपोऽपि ग्रहणम् । क्य इति व्यञ्जनात्षष्ठी अतो लुकि कृते लुगर्था । अन्यथा हि अतो लुगपवादः क्यलुग्विज्ञायेत एवं पूर्वत्रापि ।।८१।।

न्या० स०-क्योवा-क्यलुक् विज्ञायेतेति-फलं च स्थानिवद्भावेस्य अदृषदि, अपापचि इत्यादौ न वृद्धिः, सस्वरयकारलोपे तु स्थानित्वं न स्यात् समुदायलोपात्, नापि 'न वृद्धिश्च' ४-३-११ इति वृद्धिनिषेधः, तत्र नामिन इत्यधिकारात् । तथा अवध्वंसते विच्, अवध्वंसमिच्छति क्यन्, ततः क्तप्रत्यये अवध्वंसित इत्यस्य अकारस्य स्थानित्वात् 'नो व्यञ्जन' ४-२-४५ इति नस्य न लुक्, सस्वरस्य तु क्यनो लोपे स्वरव्यञ्जनविधित्वात् 'स्वरस्य परे' ७-४-११० इति स्थानित्वाभावान्नस्य लुक् स्यादेव, तथा 'अतः' ४-३-८२ इत्यकारलोपे स्थानिवद्भावे समिधिष्यतीत्यादिष्वपि गुणाद्यभावः सिद्धः, सस्वरक्यलोपे तु न सिध्येत् ।

अतः ॥ ४. ३. ८२ ॥

अकारान्ताद्धातोर्विहितेऽशिति प्रत्यये तस्यैव धातोर्लुगन्तादेशो भवति । कथयति, कुषुम्भ्यति, मगध्यति, चैकीर्षितः, प्रचिकीर्ष्य, समिधिष्यति, दृषद्यिष्यते । अत इति विहितविशेषणादिह न भवति-गतः, गतवान्, ततः, ततवान् । अत इति किम् ? याता, वाता । अशितीत्येव,-चिकीर्षति, लोलूयते । चिकीर्ष्यते चिकीर्ष्यादित्यादौ लोपविधेर्बलीयस्त्वात् 'दीर्घश्च्वि'-(४-३-१०८) इत्यादिना दीर्घो न भवति,-विषयविज्ञानाद्वा प्रागेव लोपः ।।८२।।

न्या० स०-अतः-चैकीर्षित इति-क्ते चिकीर्षितं प्रज्ञाद्यणि चैकीर्षितः । विषयविज्ञानाद्वेति-लोपात् स्वरादेश इत्याशङ्क्याह ।

णेरनिटि ॥ ४. ३. ८३ ॥

अनिटयशिति प्रत्यये णेर्लुग् भवति । अततक्षत्, अररक्षत्, आटिटत्, आशिशत्, कारणा, हारणा, कारकः, हारकः, कार्यते, हार्यते, प्रकार्य । इड्गुणवृद्धिदीर्घतागमानां बाधकोऽयम्, अनिटीति विषयसप्तम्यपि तेन चेतन इत्यत्र प्रागेव णेर्लोपे 'इङितो व्यञ्जनाद्यन्तात्' (५-२-४४) इति अनः सिद्धः । अनिटीति किम् ? कारयिता, हारयिता । अशितीत्येव,-कारयति हारयति ।।८३।।

न्या० स०-णेरनिटि-अनः सिद्ध इति-अन्यथाऽनेकस्वरत्वात् 'निन्दहिंस' ५-२-६८ इति णक एव स्यात् ।

सेट्क्तयोः ॥ ४. ३. ८४ ॥

सेट्कयोः क्तयोः परतो णेर्लुग् भवति । कारितः, कारितवान्, हारितः, हारितवान्, गणितः, संज्ञपितः पशुः । सेडिति किमर्थम्? इटि कृते लोपो यथा स्यात् । शाकितः, शाकितवान् । अन्यथेह इट् न स्यात् ॥८४॥

न्या० स०-सेट्क्तयोः-इट् न स्यादिति-एकस्वरत्वात् 'एकस्वरादनुस्वार' ४-४-५६ इति इण्निषेधात्, न च वाच्यमेकस्वराद् विहिताभावादेवेहेट्निषेधो न भविष्यति किमर्थमिदमुक्तमिति, यतो विषय एव णिलोपापेक्षयेदं द्रष्टव्यम् ।

आमन्ताल्वाय्येत्न्वाय् ॥ ४. ३. ८५ ॥

आम्, अन्त, आलु, आय्य, इत्नुप्रत्ययेषु परेषु णेरयादेशो भवति । लुकोऽपवादः । कारयांचकार, गणयांचकार, गण्डयन्तः, मण्डयन्तः, स्पृहयालुः, गृहयालुः, स्पृहयाय्यः, महयाय्यः, स्तनयित्नुः, गदयित्नुः, अन्ताय्येत्नव औणादिकाः ॥८५॥

लघोर्यपि ॥ ४. ३. ८६ ॥

लघोः परस्य णेर्यपि परेऽयादेशो भवति । प्रशमय्य, प्रबेभिदय्य । लघोरिति किम्? प्रतिपाद्य गतः । वचनसामर्थ्यादेकेन वर्णेन व्यवधानमाश्रीयते न तु भूतपूर्वन्यायः अत इत्यकरणात् ॥८६॥

न्या० स०-लघोर्यपि-प्रबेभिदय्येति-प्रबेभिद्यमानं प्रयुङ्क्ते यङन्ताण्णिग् न यङ्लुबन्तात् । 'अतः' ४-३-८२ इत्यलोपे 'योऽशिति' ४-३-८० यलुप् अस्य स्थानित्वाद् गुणाभावः, प्रबेभिदनं पूर्वं, यङ्लुबन्ताद्धि णिगि गुणः स्यात्, 'न वृद्धिश्च' ४-३-११ इति न यङः पूर्वं लोपाद् भूतपूर्वन्याय इति । ननु वचनादेकवर्णव्यवधानं तदाश्रीयते यदा व्यवहितो न संभवति, अत्र तु चुराद्यदन्तेषु प्रबेभिदय्येत्यत्र यङोऽकारलोपे च भूतपूर्वगत्याऽव्यवहितोऽपि संभवतीत्याह-अत इत्यकरणादिति ।

वाप्नोः ॥ ४. ३. ८७ ॥

आप्नोतेः परस्य णेर्यपि परेऽयादेशो वा भवति । प्रापय्य गतः, प्राप्य गतः । श्नुनिर्देशादिङादेशस्य न भवति, अध्याप्य गतः, 'आप्लृंण् लम्भने' इत्यस्यापीच्छन्त्यन्ये ॥८७॥

मेङो वा मित् ॥ ४. ३. ८८ ॥

मेङो यपि परे मिदादेशो वा भवति । अपमित्य, अपमाय ॥८८॥

न्या० स०-मेङो-अत्र मिदादेशेऽपि 'ह्रस्वस्य तः' ४-४-११३ तान्तः सिध्यति लाघवार्थं तु मिदादेशः ।

क्षेः क्षी ॥ ४. ३. ८९ ॥

क्षेर्यपि परे क्षी आदेशो भवति । प्रक्षीय, उपक्षीय । निरनुबन्धनिर्देशात् क्षिणश् हिंसायामित्येतस्य न भवति । प्रक्षित्य, अस्यापि ग्रहणमित्यन्ये ।।८९।।

न्या० स०-क्षेः क्षी-निरनुबन्धनिर्देशादिति-अत्र पूर्वाचार्यप्रसिद्धानुबन्धग्रहात् क्षित् निवासे इत्यस्याऽपि ग्रहः ।

क्षय्यजय्यौ शक्तौ ॥ ४. ३. ९० ॥

क्षि जि इत्येतयोः शक्तौ गम्यमानायां यप्रत्ययेऽयन्तादेशो निपात्यते । शक्यः क्षेतुं, क्षय्यो व्याधिः, शक्यं क्षेतुं क्षय्यं बटुना, शक्यः जेतुम् जय्यः शत्रुः, शक्यं जेतुं जय्यं राज्ञा । शक्ताविति किम् ? अर्हं क्षेयम्, जेयम् ।।९०।।

क्रय्यः क्रयार्थे ॥ ४. ३. ९१ ॥

क्रीणातेर्यप्रत्ययेऽयन्तादेशो निपात्यते 'क्रयार्थे' क्रयाय चेत्प्रसारितोऽभिधेयो भवति । क्रय्यो गौः, क्रय्यः कम्बलः । क्रयार्थ इति किम् ? क्रेयं नो धान्यम् न चास्ति प्रसारितम् ।।९१।।

सस्तः सि ॥ ४. ३. ९२ ॥

अशितीत्यनुवर्तते, धातोः सकारान्तस्याशिति सकरादौ प्रत्यये विषयभूते तकारोऽन्तादेशो भवति । वस्-वत्स्यति, अवत्स्यत्, अवात्सीत्, वत्सीष्ट चैत्रेण, व्यतिवत्सीष्ट, विवत्सति, अद्-जिघत्सति, घस्-घत्स्यति, व्यतिघत्सीष्ट । स इति किम् ? यक्षीष्ट, यक्ष्यति । सीति किम् ? वसिषीष्ट, वसिष्यते । अशितीत्येव,-आस्से, वस्से । विषयसप्तमीविज्ञानात् अवात्ताम् अवात्तेत्यत्र प्रागेव सस्य तकारः ।।९२।।

न्या० स०-सस्तः सि-अवात्तामिति-न च सिचो लुपः स्थानित्वाद् भविष्यति इति वाच्यं, यतः सकारे त उक्तः सस्य वर्णविधित्वात् ।

दीय् दीङः क्ङिति स्वरे ॥ ४. ३. ९३ ॥

दीङः क्ङित्यशिति स्वरे परे दीयादेशो भवति । उपदिदीये, उपदिदीयाते, उपदिदीयिरे, उपदिदीयिध्वे, उपदिदीयिढ्वे, उपदिदीयानः । दीङो ङित्करणं यङ्लुप्निवृत्त्यर्थम्-उपदेदियतः । क्ङितीति किम् ? उपदानम् । स्वर इति किम् ? उपदेदीयते । परोक्षायामिति सिद्धे क्ङिति स्वरे इत्युत्तरार्थम् ।।९३।।

इडेत्पुसि चातो लुक् ॥ ४. ३. ९४ ॥

क्ङित्यशिति स्वरे इटि एकारे पुसि च परे आकारान्तस्य धातोरन्तस्य लुग् भवति । पपतुः, पपुः, ङित्-अदधत्, आह्वत्, संस्था, प्रपा । इट्-पपिथ, तस्थिथ, यङ्लुपि,-दादितुम्, दादितव्यम्, एत् व्यतिरे, व्यतिले पुस्,-उदगुः, प्रदुः । अयुः, अरुः, अलुः । क्ङितीत्येव,-दानम्, ददौ । अशितीत्येव,-यान्ति, वान्ति, व्यत्यरे व्यत्यले । स्वर इत्येव,-ग्लायते । प्रक्ङिदर्थं शिदर्थं चेडादिग्रहणम् ।।९४।।

न्या० स० इडेत् पुसि०-प्रपेति-प्रपीयत इति 'उपसर्गादातः' ५-३-११० इत्यङ, यदा तु प्रपिबन्त्यस्यामिति वाक्ये स्थादिभ्यः कस्तदा किद्द्वारमेव ।

संयोगादेर्वाशिष्येः ।। ४. ३. ९५ ।।

धातोः संयोगादेराकारान्तस्य क्ङित्याशिषि परेऽन्तस्यैकारादेशो वा भवति । ग्लेयात्, ग्लायात्, म्लेयात्, म्लायात् । अपच्छायादित्यत्र तु छकारस्य द्वित्वे सति संयोगादित्वस्य लाक्षणिकत्वान्न भवति । संयोगादेरिति किम् ? यायात् । धातोरित्येव,-निर्यायात् । क्ङितीत्येव,-ग्लासीष्ट । आशिषीति किम् ? ग्लानः, म्लानः ।।९५।।

गा-पा-स्था-सा-दा-मा-हाकः ।। ४. ३. ९६ ।।

एषामन्तस्य क्ङित्याशिष्येकारो भवति । गै-गेयात्, गास्थोर्मध्ये पाठाद् भौवादिकयोः 'पै पा' इत्येतयोः पाशब्देन ग्रहणम्-पेयात्, पै इत्यस्य नेच्छन्त्यन्ये । आदादिकस्य पायात् । स्था-स्थेयात्, सों सैं वा-अवसेयात्, सैं क्षये इत्यस्य नेच्छन्त्यन्ये । दासंज्ञ,-देयात्, धेयात्, मांक् मेयात्, हांक्-हेयात्, हाकः ककारो यङ्लुप्निवृत्त्यर्थः । जहायात् । शेषाणां यङ्लुप्यपि भवति-जागेयात्, पापेयात्, तास्थेयात्, अवसासेयात्, दादेयात्, दाधेयात्, मामेयात् । एषामिति किम् ? यायात् । क्ङितीत्येव,-गासीष्ट, पासीष्ट ।।९६।।

न्या० स०-गापास्था०-गाङ् मेंङ् माङां यङ्लुबन्तानां ग्रह, अन्यथामीषामात्मनेपदित्वात् किदाशीर्न संभवति । नेच्छन्त्यन्ये इति-लाक्षणिकत्वादिति शेषः ।

ईर्व्यञ्जनेऽयपि ।। ४. ३. ९७ ।।

गादीनामन्तस्य यपूर्वजिते क्ङित्यशिति व्यञ्जनादौ प्रत्यये परे ईर्भवति । गैं गाङ् वा-गीयते, जेगीयते, गीतः, गीतवान्, गीत्वा, गाङो नेच्छन्त्यन्ये । पा-पीयते, पेपीयते, पीतः, पीतवान्, पीत्वा, स्था-स्थीयते तेष्ठीयते, सो-सीयते, सेषीयते, सैं-सीयते, सेसीयते, अषोपदेशत्वान्न षत्वम्, दासंज्ञ-दीयते, देदीयते, धीयते, देधीयते, धीतः, धीतवान्, धीत्वा स्तनम्, मा इति मामाङ्मेङां त्रयाणां ग्रहणम् मीयते, मेमीयते, मातेर्नेच्छन्त्यन्ये । मायते, मामायते । एवं पूर्वसूत्रेऽपि-मायात्, हांक्-हीयते, जेहीयते हीनः, हीनवान्, हाङो न भवति-हायते, जाहायते । व्यञ्जन इति किम् ? तस्थतुः, तस्थुः ।

अशितीत्येव,-माहि । क्ङितीत्येव,-गाता, दाता । अयपीति किम् ? प्रगाय, प्रपाय, प्रस्थाय, प्रदाय, प्रधाय, प्रमाय, प्रहाय । कथमापीय ? पीङो भविष्यति, स्वरादाव-

न्तलोपविधानाद्व्यञ्जनादौ लब्धे व्यञ्जनग्रहणं साक्षाद्व्यञ्जनप्रतिपत्त्यर्थम्, तेन क्विब्लुकि स्थानिवद्भावेनापि न भवति,-शंस्थाः पुमान् ।।९७।।

न्या० स०-ईर्व्यञ्जने०-ह्राङो न भवतीति-'ह्राकः' ४-२-१०० इति भणनात्। शंस्था इति-शं सुखं तत्र तिष्ठति 'शमो नाम्न्यः' ५-१-१३४ इति अप्रत्ययापवादे 'स्थापास्ना' ५-१-१४२ इति के प्राप्तेऽसरूपत्वात् क्विप्, शंस्थाशब्दादन्यत्र लुप्तव्यञ्जनेऽपीच्छन्त्येके, तथा च जयकुमारः 'पां पाने' इत्यस्य क्विपि पीरित्याह ।

घ्राध्मोर्यङि ॥ ४. ३. ९८ ॥

घ्राध्मोर्यङि परे ईकारोऽन्तादेशो भवति । जेघ्रीयते, देध्मीयते । यङीति किम् ? घ्रायते, ध्मायते, यङ्लुपि,-जाघ्रीतः, दाध्मीतः । अन्ये तु यङ्लुप्यपीच्छन्ति-जेघ्रीतः, देध्मीतः ।।९८।।

हनो घ्नीर्वधे ॥ ४. ३. ९९ ॥

हन्तेर्वधे हिंसायां वर्तमानस्य यङि घ्नी इत्यादेशो भवति । जेघ्नीयते, द्विषो जेघ्नीयिषीष्ट वः । वध इति किम् ? गतौ-जंघन्यते, केचिदिमं विकल्पेनाहुः, त्वं तु राजन् चटकमपि न जंघन्यसे । दीर्घनिर्देशात् यङ्लुप्यपि-जेघ्नीतः, नेच्छन्त्यन्ये जंघत इति भवति ।।९९।।

न्या० स०-हनो०-यङ्लुप्यपीति-यदि पूर्वसूत्रवत् यङ्येव स्यात्तदा घ्निरित्येव कुर्याद्दीर्घसिद्धावित्यर्थः ।

ञ्णिति घात् ॥ ४. ३. १०० ॥

ञ्णिति प्रत्यये परे हन्तेर्घात् इत्ययमादेशो भवति । घातः, घातयति, घातकः, साधुघाती, घातंघातम् । ञ्णितीति किम् ? हतः ।।१००।।

ञिणवि घन् ॥ ४. ३. १०१ ॥

ञौ णवि च प्रत्यये परे हन्तेर्घन् इत्ययमादेशो भवति । अघानि, जघान, अहं जघन, अहं जघान ।।१०१।।

न्या० स०-ञिणवि०-'अङे हिहनः' ४-१-३४ इति सिद्धौ णव्ग्रहणं घात्बाधनार्थम् ।

नशेर्नेश् वाङि ॥ ४. ३. १०२ ॥

नशेरङि परे नेश् इत्ययमादेशो वा भवति । अनेशत्, अनशत्, अनेशताम्, अनशताम्, अनेशन्, अनशन्, अनेशम्, अनशम् । अङीति किम् ? नश्यति ।।१०२।।

श्वयत्यसूवचपतः श्वास्थवोचपप्तम् ॥ ४. ३. १०३ ॥

श्वयति असू वच् पत् इत्येतेषामङि परे श्व अस्थ वोच पप्त इत्येते आदेशा भवन्ति । अश्वत्, अश्वताम्, अश्वन्, अश्वः । असू,-आस्थत्, आस्थताम्, आस्थन्, अपास्थत, अपास्थेताम्, अपास्थन्त, वच् ब्रूग् वा-अवोचत्, अवोचताम्, अवोचन्, अवोचत । पत्,-अपप्तत्, अपप्तताम्, अपप्तन् । श्वयतेस्तिव्निर्देशो यङ्लुप्निवृत्त्यर्थः । अशेश्वियत्, अशोशुवत् ।।१०३।।

न्या० स०-श्वयत्यसू०-यङ्लुप्निवृत्त्यर्थ इति-अन्येषां तु यङ्लुपि मूलप्रयोगा एव ।

शीङ एः शिति ॥ ४. ३. १०४ ॥

शीङः शिति परे एकारोऽन्तादेशो भवति । शेते, शयाते, शेरते, शेताम्, शयीत, अशेत, शयानः, अतिशयानः । शितीति किम् ? शिश्ये, संशीतिः, ङिन्निर्देशाद्यङ्लुपि न भवति । शेशीतः, शेश्यति ।।१०४।।

क्ङिति यि शय् ॥ ४. ३. १०५ ॥

शीङः क्ङिति यकारादौ प्रत्यये शयादेशो भवति । शय्यते, शाशय्यते, संशय्य, शय्या । यीति किम् ? शिश्यानः । क्ङितीति किम् ? शेयम् । यङ्लुपि न भवति-संशेशीय ।। १०५ ।।

उपसर्गादूहो ह्रस्वः ॥ ४. ३. १०६ ॥

उपसर्गात्परस्योहतेरूकारस्य क्ङिति यकारादौ प्रत्यये परे ह्रस्वो भवति । समुह्यते, समुह्यात्, समुह्य, पर्युह्यते, पर्युह्यात्, पर्युह्य, अभ्युह्यते, अभ्युह्यात्, अभ्युह्य । उपसर्गादिति किम् ? ऊह्यते, यीत्येव,-समूहितम् । क्ङितीत्येव,-अभ्यूह्योऽयमर्थः । ऊ ऊह इति ऊकार प्रश्लेषात् आ ऊह्यते ओह्यते समोह्यते समौह्यतेत्यत्र न भवति ।। १०६ ।।

न्या० स०-उपसर्गादूह०-प्रश्लेषादिति-ऊकारात् षष्ठ्याः सूत्रत्वाल्लुप् ऊहश्च षष्ठी एवं प्रश्लेषः, एवमुत्तरसूत्रेऽपि इण इत्यत्र ।

आशिषीणः ॥ ४. ३. १०७ ॥

उपसर्गात्परस्येण ईकारस्य क्ङिति यकारादावाशिषि परतो ह्रस्वो भवति । उदियात्, समियात्, अन्वियात् । उत्तरेण दीर्घत्वेऽनेन ह्रस्वः । आशिषीति किम् ? उदीयते । उपसर्गादित्येव,-ईयात् । ई इण इति ईकारप्रश्लेषात् आ ईयात् एयात् समेयादित्यत्र न भवति ।

ननु प्रतीयादित्यत्र समानलक्षणे दीर्घे सति कथं न ह्रस्वः ? न,-दीर्घे सति उपसर्गात्परस्य इणोऽभावात् । केचित् अत्रापीच्छन्ति । प्रतियात् । इकोऽपि समानदीर्घत्वे इच्छन्त्येके-अधियात् ।। १०७ ।।

न्या० स०-आशिषीणः-इणोभावादिति-धात्वभावादित्यर्थः । अत्रापीच्छन्ति-ते ह्युभयोः स्थाने इति धातुव्यपदेशमेकदेशेऽपि समुदाय इति प्रत्युपसर्गं च कुर्वते ।

दीर्घश्च्वियङ्यक्क्येषु च ॥ ४. ३. १०८ ॥

च्वौ यङि यकि क्येषु यकारादावाशिषि च परतोऽन्त्यस्वरस्य दीर्घो भवति । च्वि-शुचीकरोति, शुचीभवति, शुचीस्यात्, पटूकरोति, पटूभवति, पटूस्यात् । यङ्-चेचीयते, तोष्टूयते, यक्-मन्तूयति, । वल्गूयति । बहुवचनात् क्यशब्देन क्यन्क्यङ्क्यङ्ष्क्यानाम-विशेषण ग्रहणम्, अन्यथैकानुबन्धस्यैव क्यस्य ग्रहणं स्यात् । क्यन्-निधीयति, दधीयति, क्यङ्,-श्येनायते, भृशायते, क्यङ्ष्,-लोहितायते, लोहितायति, क्य, चीयते, श्रूयते, आशिषि यि,-चीयात्, स्तूयात्, इयात् । आशिषि यीत्येव,-चेषीष्ट । च्विक्यानां ग्रहणा-दधातोरप्ययं विधिः ॥ १०८ ॥

न्या० स०-दीर्घश्च्वि०-च्व्यन्तत्वात् सेः 'अव्ययस्य' ३-२-७ इति लुप् ।

ऋतो री ॥ ४. ३. १०९ ॥

धातोरधातोर्वा ऋदन्तस्य श्रुतत्वादृतः स्थाने रीरित्ययमादेशो भवति । च्वियङ्-यक्क्येषु । पित्रीकरोति, पित्रीभवति, पित्रीस्यात्, चेक्रीयते, जेह्रीयते, पित्रीयति, मात्रीयति, पित्रीयते, मात्रीयते । ऋत इति किम् ? चेकीर्यते, निजेगिल्यते ॥१०९॥

रिः शक्याशीर्ये ॥ ४. ३. ११० ॥

ऋकारान्तस्य धातोर्ऋतः स्थाने शे क्ये आशीर्ये च परे रिरादेशो भवति । शे व्याप्रियते, आद्रियते, क्रिया, क्रियते, ह्रियते, क्रियात्, ह्रियात् । ह्रस्वविधानात्पूर्वेण दीर्घत्वं न भवति । आशीर्य इति किम् ? कृषीष्ट, हृषीष्ट ॥११०॥

न्या० स०-रिः शक्य०-दीर्घत्वं न भवतीति-अन्यथा पूर्वेणापि साध्येत ।

ईश्च्वावर्णस्यानव्ययस्य ॥ ४. ३. १११ ॥

अव्ययवर्जितस्यावर्णान्तस्य च्वौ प्रत्यये ईकारोऽन्तादेशो भवति । शुक्लीकरोति, शुक्लीभवति, शुक्लीस्यात्, मालीकरोति, मालीभवति, मालीस्यात् । अनव्ययस्येति किम् ? दिवाभूता रात्रिः, दोषाभूतमहः । दीर्घत्वापवादो योगः ॥१११॥

क्यनि ॥ ४. ३. ११२ ॥

क्यनि परेऽवर्णान्तस्येकारोऽन्तादेशो भवति, दीर्घत्वापवादः । पुत्रीयति, मालीयति, योगविभाग उत्तरार्थः ॥११२॥

न्या० स०-क्यनि-अव्ययात् क्यनोऽभावादनव्ययस्येति न विवृत्तम् ।

क्षुत्तृड्गर्धेऽशनायोदन्यधनायम् ॥ ४. ३. ११३ ॥

क्षुदादिष्वर्थेषु यथासंख्यमशनायादयः क्यन्नन्ता निपात्यन्ते, क्षुधि गम्यमानायाम-

शनशब्दस्यात्वम् तृषि गम्यमानायामुदकशब्दस्योदन्नित्ययमादेशो, गर्धे गम्यमाने धनशब्द-स्यात्वम् क्यनि परे निपात्यते । अशनायति, उदन्यति, धनायति । क्षुत्तृड्गर्ध इति किम् । अशनीयति, उदकीयति, धनीयति दानाय ॥११३॥

वृषाश्वान्मैथुने स्सोऽन्तः ॥ ४. ३. ११४ ॥

वृषशब्दादश्वशब्दाच्च मैथुने वर्तमानात् क्यनि परे स्सकारो भवति, स चान्तोऽवयवः । वृषस्यति गौः । अश्वस्यति वडवा । वृषाश्वशब्दावत्र मैथुने वर्तेते, मनुष्यादावपि हि प्रयुज्येते । मैथुनेच्छापर्यायौ वृषस्याश्वस्येति ।

'सा क्षीरकण्ठकं वत्सं वृषस्यन्ती न लज्जिता' ।

शुनी गौश्च स्वमश्वस्यति । लक्ष्मणं सा वृषस्यन्ती महोक्षं गौरिवागमत् ।

मैथुन इति किम् ? वृषीयति, अश्वीयति ब्राह्मणी । स्स इति द्विसकारनिर्देशः षत्वनिषेधार्थः । तेनोत्तरत्र दधिस्यति मधुस्यतीत्यत्र षत्वं न भवति ॥११४॥

न्या० स०-वृषाश्वान्०-मैथुनेच्छायां वर्तमानौ क्व दृष्टावित्याह-सा क्षीरकण्ठकं वत्समित्यादि-अन्तशब्दाभावे सर्प्पिष्ष्यतीत्यत्रोत्तरेण सागमे तस्य च प्रत्ययत्वात् 'नाम सित्' १-१-२१ इत्यनेन सर्पिस्शब्दस्य पदत्वे सो रुत्वं स्यात्तस्य 'शषसे शषसं वा' १-३-६ इति वा रस्य सत्वे सर्प्पिः स्यति सर्प्पिस्स्यतीति रूपद्वयं स्यात्, अन्तसद्भावे त्ववयवत्वेनाविभक्त्यन्तात् सकारस्योत्पादे पदमध्यत्वात्प्रकृतिसस्य 'नाम्यन्त' २-३-१५ इति षत्वे 'सस्यशषौ' १-३-६१ इति प्रत्ययसस्य षत्वे सर्प्पिष्ष्यतीति स्यात् । षत्वं न भवतीति-दधिस्यतीत्यादिप्रयोगदृष्टेः प्रसिद्धस्यैव 'नाम्यन्तस्था' २-३-१५ इति षत्वस्य निषेधस्तेन सर्प्पिष्स्यतीत्यादावागमसकारस्य 'सस्य शषौ' १-३-६१ इत्यनेन षत्वं सिद्धम् ।

अस् च लौल्ये ॥ ४. ३. ११५ ॥

भोक्तुमभिलाषातिरेको लौल्यम्, तत्र गम्यमाने क्यनि परे नाम्नः स्सोऽस् चान्तो भवति । दधि भक्षितुमिच्छति दधिस्यति, दध्यस्यति, मधुस्यति मध्वस्यति, एवं क्षीरस्यति, लवणस्यति ।

अस्विधानमनकारान्तार्थम् । अकारान्तेषु हि 'लुगस्यादेत्यपदे' (२-१-११२) इति लुकि सति विशेषो नास्ति, अन्यस्तु लुकममृष्यमाणः क्षीरास्यति लवणास्यति इत्युदाहरति-तच्च न बहुसंमतम् । लौल्य इति किम् ? क्षीरीयति दानाय ॥११५॥

इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्रविरचितायां सिद्धहेमचन्द्राभिधानस्वोपज्ञशब्दानुशासनबृहद्वृत्तौ चतुर्थस्याध्यायस्य तृतीयः पादः ॥

कर्णं च सिन्धुराजं च निर्जित्य युधि दुर्जयम् ।
श्रीभीमेनाधुना चक्रे महाभारतमन्यथा ॥ १ ॥

न्या स०-अस्च०-दधि भक्षितुमिच्छतीति-केचिल्लक्षीस्थाने भक्षीति पठन्ति तन्मतेनेदं, चुरादीनां णिचोऽनित्यत्वाद् वा। **दधिस्यतीति**-द्विसकारपाठात् 'नाम्यन्तस्था' २-३-१५ इति न षत्वम्। पय इच्छति क्यनियमेन पदसंज्ञाकार्याणां व्यावर्त्तितत्वात्। पयसस्यति चर्मणस्यति, स्से तु सति पयस्स्यति चर्म्मस्यति।

इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्र० श्रीसिद्धहेमचन्द्राभिधानास्वोपज्ञशब्दानुशासनबृहद्वृत्तौ न्यासस्य चतुर्थाध्यायस्य तृतीयः पादः समाप्तः।

—卐—

अथ चतुर्थः पादः

अस्तिब्रुवोर्भूवचावशिति ॥ ४. ४. १ ॥

अस्तिब्रुवोर्यथासंख्यं भू वच् इत्येतावादेशौ भवतः अशिति प्रत्यये विषयभूते। अभूत्, बभूव, भविता, भूयात्, अभविष्यत्, भविष्यति, बोभूयते, बुभूषति, भवितव्यम्, भवितुम्, ब्रू-अवोचत्, अवोचत, उच्यते, उवाच, ऊचे, वक्ता, उच्यात्, वक्षीष्ट, अवक्ष्यत्, अवक्ष्यत, वक्ष्यति, वक्ष्यते, वावच्यते, विवक्षति, विवक्ष्यते, वक्तव्यम्, वक्तुम्। ब्रूङ्कोऽनुस्वरित्त्वाद्वच इडभावः।

कथं लावण्य, उत्पाद्य, इवास, यत्नः? असतेरयं प्रयोगः। ईक्षामासेत्यादौ णवन्तानुप्रयोगप्रतिरूपकनिपातस्य वा। अशितीति किम्? अस्ति, स्यात्, अस्तु, आसीत्, सन्, ब्रवीति, ब्रूते, ब्रूयात्, ब्रवीतु अब्रवीत्, ब्रुवन्, ब्रुवाणः। विषयसप्तमीनिर्देशः किम्? भव्यम्, वाच्यम्। प्रागेवादेशे यध्यणौ सिद्धौ। चकासामासेत्यादौ तु अनुप्रयोगे कृभ्वस्तीनां पृथग् निर्देशात् न भवति, अस्तीति निर्देशादस्यतेरसतेश्च न भवति। धात्वन्तरेणैव सिद्धेऽस्तिब्रुवोरशिति प्रयोगनिवृत्त्यर्थं वचनम् ब्रूगादेशस्य फलवत्यात्मनेपदार्थं च ॥१॥

न्या० स०-**अर्ह-अस्तिब्रुवो० निर्देशान्न भवतीति**-अन्यथा कृगभ्वोरेव द्वयोरुपादानं कुर्यात्।

अघञ्क्यबलच्यजेर्वी ॥ ४. ४. २ ॥

घञक्यबअल्अच्वर्जितेऽशिति प्रत्यये विषयभूतेऽजेर्वी इत्यादेशो भवति। अनुस्वारेदिडभावार्थः। विवाय, वीयात्, प्रवेता, प्रवेयम्, प्रवयणीयम्, प्रवायकः, प्रवीय, प्रवीतः, प्रवीतिः।

अघञ्क्यबलचीति किम्? समाजः, उदाजः, समज्या, सयजः पशूनाम्, उदजः पशूनाम्, अजतीत्यजः, अजा ॥२॥

न्या० स०-अघञ्०-विषयभूते इति-विषयविज्ञानाद्यङि वेवीयते प्रवेयमित्यत्र च प्रागेवादेशे सति यङ्प्रत्ययः।

त्रने वा ॥ ४. ४. ३ ॥

तृ अन इत्येतयोः प्रत्यययोर्विषयभूतयोरजेर्वी इत्यादेशो भवति वा । प्रवेता, प्राजिता, प्रवयणो दण्डः, प्राजनो दण्डः, अन्य त्वने प्रत्यये यकाररहिते व्यञ्जनादौ चाविशेषेण विकल्पमिच्छन्ति । प्रवेता, प्राजिता प्रवेष्यति, प्राजिष्यति, प्रविवीषति, प्राजिजिषति, प्रवेतव्यम्, प्राजितव्यम्, प्रवेतुम्, प्राजितुम् ।।३।।

चक्षो वाचि क्शांग् ख्यांग् ॥ ४. ४. ४ ॥

चक्षिको वाचि वर्तमानस्याशिति प्रत्यये विषयभूते क्शांग् ख्यांग् इत्यादेशौ भवतः, अनुस्वारेदिडभावार्थः । आक्शाता आख्शाता । 'शिटयाद्यस्य द्वितीयो वा' (२-३-५९) इति ककारस्य खकारः । आख्याता, आक्शास्यति, आख्शास्यति, आख्यास्यति, आक्शास्यते, आख्शास्यते, आख्यास्यते, आक्शेयात्, आक्शायात्, आख्शेयात्, आख्शायात्, आख्येयात्, आख्यायात्, एवमाचाक्शायते, आचाख्यायत, आक्शातव्यम्, आख्यातव्यम् । विषयसप्तमीविज्ञानात् आक्शेयम्, आख्येयम् ।

वाचीति किम् ? बोधे, विचक्षणः, चक्षुः,-वर्जने,-संचक्ष्यते, अवसंचक्ष्याः परिसंचक्ष्या दुर्जनाः, संचक्ष्य गतः, हिंसायाम्-नृचक्षा राक्षसः । अशितीत्येव,-आचष्टे, गकारः फलवद्विवक्षायामात्मनेपदार्थस्तेन स्थानिवद्भावेन नित्यमात्मनेपदं न भवति । ४।।

नवा परोक्षायाम् ॥ ४. ४. ५ ॥

चक्षिको वाचि क्शांग्ख्यांगौ परोक्षायां वा भवतः । आचक्शौ, आचख्शौ, आचख्यौ, आचक्शे, आचख्शे, आचख्ये, पक्षे-आचचक्षे ।। ५ ।।

भृज्जो भर्ज् ॥ ४. ४. ६ ॥

भृज्जतेरशिति प्रत्यये भर्ज् इत्ययमादेशो वा भवति । बभर्ज, बभर्जतुः, बभर्जुः, बभ्रज्ज, बभ्रज्जतुः, बभ्रज्जुः, भर्क्षीष्ट, भ्रक्षीष्ट, भर्ष्टा, भ्रष्टा, अभार्क्षीत्, अभ्राक्षीत्, बिभर्क्षति बिभ्रक्षति, बिभर्जिषति, बिभ्रज्जिषति, भर्ष्टुम्, भ्रष्टुम्, भर्ग्यम्, भ्रग्यम्, भर्गः, भ्रग्गः भर्जनम्, भ्रज्जनम् ।

अशितीत्येव,-भृज्जति, भृज्जते । कथं भृज्यात्, भृज्यते, भृष्टः, भृष्टवान्, बरीभृज्यते ? परत्वाद् भर्जादेशेऽपि स्थानिवद्भावेन पूर्वेण स्वरेण सह य्वृति भविष्यति, लुप्ततिव्निर्देशो यङ्लुप्निवृत्त्यर्थः । बर्भज्यते,-अत्र द्वित्वे सपूर्वस्य माभूत् ।।६।।

न्या० स०-भृज्जो भ०-भ्रद्ग्यमिति-भृज्ज्यते 'ऋवर्ण' ५-१-१७ इति दः घ्यणि 'क्तेऽनिटः' ४-१-१११ इति गे निमित्ताऽभावे इति दन्त्यः सः तस्य 'तृतीयस्तृतीय०' १-३-४९ इति । **कथं भृज्ज्यादिति**-भर्जादेशः कथमत्र न भवतीत्याशङ्कार्थः । **सपूर्वस्य माभूदिति**-प्रकृतिग्रहणेति न्यायात्प्राप्तिः ।

प्राद्दागस्त आरम्भे क्ते ॥ ४. ४. ७ ॥

आरम्भे आदिकर्मणि वर्तमानस्य प्रशब्दादुत्तरस्य दागः स्थाने क्ते प्रत्यये परे त्तादेशो वा भवति । प्रत्तः, प्रदत्तः, दातुं प्रारब्धवानित्यर्थः । प्रादिति किम् ? परीत्तम्, उत्तरेण नित्यं त्तादेशः ।

दाग इति किम् ? दोंच्-प्रत्तम् । आरम्भ इति किम् ? अन्यत्र नित्यमेव । प्रकर्षेण दीयते स्म प्रत्तम् । क्त इति किम् ? प्रत्तवान्, दातुं प्रवृत्त इत्यर्थः । द्वितकार आदेशः सर्वादेशार्थः,-अकार उच्चारणार्थः ॥७॥

न्या० स०-प्राद्दा०-त्तादेशो वा भवतीति-द्वितकारग्रहणं प्रक्रियालाघवार्थमन्यथाऽन्तस्य तादेशे 'अघोषे प्रथमोऽशिटः' १-३-५० इति सिध्यति । प्रत्त इति दातुमारब्धवानिति वाक्यं, न तु प्रारब्धवानिति, प्रशब्दार्थस्यारम्भस्यारब्धवानित्यनेनैवोक्तत्वात् प्रशब्दप्रयोगे पौनरुक्त्यं भवति । **सर्वादेशार्थ इति**-अन्यथा षष्ठ्याऽन्त्यस्येति प्रवर्त्तते ।

निविस्वन्ववात् ॥ ४. ४. ८ ॥

एभ्यः परस्य दागः क्ते परे त्तादेशो वा भवति । नित्तम्, निदत्तम्, वीत्तम्, विदत्तम्, सूत्तम्, सुदत्तम्, अनूत्तम्, अनुदत्तम्, अवत्तम्, अवदत्तम्, सुदत्तमेवेत्यन्ये, उत्तरेण नित्यं त्तादेशे प्राप्ते विभाषेयम्, केचिदत्राप्यारम्भ एव विकल्पमिच्छन्ति । यदाहुः-

'अवदत्तं विदत्तं च प्रदत्तं चादिकर्मणि ।'

सुदत्तमनुदत्तं च निदत्तमिति चेष्यते इति । तन्मतसंग्रहार्थमारम्भ इत्यनुवर्तनीयम् ॥८॥

स्वरादुपसर्गाद्दस्ति कित्यधः ॥ ४. ४. ९ ॥

पूर्वयोगारम्भाद्वेति निवृत्तम् । स्वरान्तादुपसर्गात्परस्य धावर्जितस्य दासंज्ञकस्य तकारादौ किति प्रत्यये परे त्तादेशो भवति । प्रत्तः, प्रत्तवान्, परीत्तः, परीत्तवान्, परीत्त्रिमम्, प्रणीत्त्रिमम्, त्रिमक् । द्यतेरपीत्वं बाधित्वा विशेषविहितत्वात् त्तत्वमेव भवति, अवत्तवान् । अवत्तिः ।

उपसर्गादिति किम् ? दधि दत्तम्, लता दिता । स्वरादिति किम् ? निर्दत्तम्, दुर्दत्तम्, निर्दित्तम्, दुर्दित्तम् । द इति किम् ? प्रदाता व्रीहयः, निदातानि भाजनानि । कितीति किम् ? प्रदाता । तीति किम् ? प्रदाय । अध इति किम् ? धांग्,-निहितः, ट्धें,-निधीतः ॥ ९ ॥

न्या० स०-स्वरादु०-त्तत्वमेव भवतीति-उपसर्गात् इति विशेषविधानात्, उत्तरत्र तु सामान्यम् । **अवत्तिरिति**-अवदानम् । 'उपसर्गादातः' ५-३-११० इति बाधकः श्वादिभ्यः क्तिः ।

दत् ॥ ४. ४. १० ॥

धावर्जितस्य दासंज्ञकस्य तादौ किति परे दत् इत्ययमादेशो भवति । दत्तः, दत्तवान्, दत्तिः, दत्त्वा । द्यतेः परत्वादित्वम् । दितः, दितवान् । द इत्येव ? दातं बर्हिः, अवदातम् मुखम् । अध इत्येव ? धीतः, धीतवान्, धीत्वा, धीतिः ॥१०॥

दोसोमास्थ इः ॥ ४. ४. ११ ॥

एषां तादौ किति प्रत्यये इरन्तादेशो भवति । द्यतेर्दद्भावस्य शेषाणामीत्वस्यापवादः । दो,-निर्दितः, निर्दितवान्, दित्वा, दितिः, सो,-अवसितः, अवसितवान्, सित्वा, सितिः, मा,-मितः, मितवान्, मित्वा, मितिः ।

गामादाग्रहणेष्वविशेष इति माङ्मामेङां ग्रहणम्, अन्यस्तु माङ्मेङोरेवेच्छति । मातेस्तु मातः मातवान् प्रस्थः स्थाल्याम् । स्था, स्थितः । स्थितवान् । स्थित्वा । स्थितिः । दोसो इत्योकारनिर्देशो दैवादिकयोरेव परिग्रहार्थः । तीत्येव ? यङ्लुपि इट् दादितः, दादितवान् । 'इडेत्पुसि चातो लुक्' (४-३-९४) इति आतो लुक् । कितीत्येव ? अवदाता, अवसाता ॥११॥

न्या० स०-दोसो०-गामादाग्रहणेष्विति-'ईर्व्यञ्जनेऽयपि' ४-३-९७ इति ईत्वस्यापवाद इति भणनात् ।

छाशोर्वा ॥ ४. ४. १२ ॥

छोशो इत्येतयोस्तादौ किति प्रत्यये परे इरन्तादेशो वा भवति । अवच्छितः, अवच्छितवान्, अवच्छातः, अवच्छातवान्, निशितः, निशितवान्, निशातः, निशातवान् । श्यतिशिनोत्योरपि रूपद्वयसिद्धौ श्यतेर्विकल्पवचनं 'क्तं नञादिभिन्नै' (३-१-१०५) इति समासार्थम् । शाताशितम् ॥१२॥

न्या० स०-छाशोर्वा-समासार्थमिति-अन्यथा धातुभेदात् प्रकृतिभेदे स न स्यात् ।

शो व्रते ॥ ४. ४. १३ ॥

श्यतेः क्तप्रत्यये व्रतविषये प्रयोगे नित्यमित्वं भवति । संशितं व्रतम्, असिधारातीक्ष्णमित्यर्थः । संशितव्रतः साधुः, संशितः साधुः, व्रते यत्नवानित्यर्थः । संशितशब्दः अन्यत्राप्यस्तीति व्रतमिति विशेषणं न दुष्यति, नित्यार्थं वचनम्, तेन व्रतविषये संशात इति न भवति । व्रत इति किम् ? निशातः ॥१३॥

न्या० स०-शो व्रते-विशेषणं न दुष्यतीति-ननु व्रते इत्वं प्रत्यपादि इत्युक्तार्थत्वात् व्रतस्याऽप्रयोगः प्राप्नोतीत्याह-अन्यत्राप्यस्तीति-अन्यस्मिन्नर्थे इत्यर्थः ।

हाको हिः क्त्वि ॥ ४. ४. १४ ॥

ओहांक् इत्येतस्य तादौ किति क्त्वाप्रत्यये परे हिरादेशो भवति । हित्वा । ककारो

हांङ्निवृत्त्यर्थं,-हात्वा । क्त्वीति किम् ? हीनः । तीत्येव ? प्रहाय । यङ्लुपि जहित्वा, द्वित्वे पूर्वदीर्घत्वमपीच्छन्त्येके । जाहित्वा । उभयत्रेटि आतो लुक् ॥१४॥

न्या० स०-हाको हिः क्त्व-इ इत्येव सिद्धे हिकरणमुत्तरार्थं, इकरणे ह्युत्तरत्र धित इति स्यात् ।

धागः ॥ ४. ४. १५ ॥

दधातेस्तादौ किति प्रत्यये हिरादेशो भवति, क्त्वीति न संबध्यते पृथग्योगात् । विहितः,-विहितवान्, हित्वा, हितिः । गकारः ट्धेनिवृत्त्यर्थः, धीतः, धीतवान्, धीत्वा, धीतिः । तीत्येव ? प्रधाय । यङ्लुपि इट्-दाधितः दाधितवान्, दाधित्वा ।

केचित्तु दोसोहाक्धागां यङ्लुप्यागमशासनमनित्यमिति न्यायादिटं नेच्छन्ति इत्व-हित्वविधिं च निषेधन्ति,-तन्मते दत्तः, दत्तवान् । परमात्रस्यैव दद्भाव इति मते निर्दादत्तः, निर्दादत्तवान्, अवसासीतः, अवसासीतवान्, जाहातः, जाहातवान्, दाधीतः, दाधीतवान्, इत्येव भवति ॥१५॥

न्या० स०-धागः-जाहात इति-'हाकः' ४-२-१०० इति अनुबन्धनिर्देशादत्र ईत्वं न ।

यपि चादो जग्ध् ॥ ४. ४. १६ ॥

तादौ कितिप्रत्यये यपि चादेर्जग्ध् इत्ययमादेशो भवति । जग्धः, जग्धवान्, जग्ध्वा, जग्धिः, प्रजग्ध्य, विजग्ध्य । यपि चेति किम् ? अदनम् । तीत्येव ? अद्यात् । कितीत्येव ? अत्तव्यम्, कथमन्नम् ? अनितेरौणादिको नः,-'अदोऽनन्नात्' (५-१-१५०) इति ज्ञापका-द्वाद्यते तदित्यन्नम्, एकपदाश्रयत्वेनान्तरङ्गत्वाद्यबादेशात्प्रागेव जग्धादेशे सिद्धे यप्ग्रहण-मन्तरङ्गानपि विधीन् यबादेशो बाधते इति ज्ञापनार्थम्, तेन प्रशम्य, प्रपृच्छ्य, प्रदीव्य, प्रखन्य, प्रस्थाय, प्रपाय, प्रदाय, प्रधाय, प्रपठ्येत्यादौ दीर्घत्वं शत्वमूत्वमात्वमित्वमीत्वं हित्वमिट्त्वं यपा बाध्यते ॥१६॥

न्या० स०-यपि चा-न्यायानां क्वचिदप्रवृत्तेः प्रपठ्येति दर्शितं अन्यथा आगमा यद्गुणीभूता इति न्यायादिटा सहैवादेशः स्यात् ।

घस्लृ सनद्यतनीघञचलि ॥ ४. ४. १७ ॥

एषु प्रत्ययेष्वदेर्घस्लृ इत्ययमादेशो भवति । सन्,-जिघत्सति, अद्यतनी,-अघसत्, घञ्,-घासः, अच्,-प्रात्तीति प्रघसः, अल्,-प्रादनं प्रघसः, घस्लृं अदने इत्यनेनैव सिद्धेऽदेः सन्नादिषु रूपान्तरनिवृत्त्यर्थं वचनम्, लृदङर्थः ॥ १७ ॥

न्या० स०-घस्लृ स-प्रघस इति-अजन्तस्य अदेः प्रपूर्वस्यैव घसादेशं वदन्ति वृद्धा-स्तेन माघमध्ये अदद इति प्रयोगः सिद्धः, अदन्तीत्यदाः, अच्, अदान् भक्षकान् द्यति 'आतो डः' ५-१-७६ इति डे अददो विष्णुः ।

परोक्षायां नवा ॥ ४. ४. १८ ॥

परोक्षायां परतोऽदेर्घस्लादेशो वा भवति । जघास, जक्षतुः, जक्षुः, आद, आदतुः, आदुः । घस्यदिभ्यामेव सिद्धे विकल्पवचनं घसेरसर्वविषयत्वज्ञापनार्थम्, तेन घस्ता घस्मर इत्यादावेव घसेः प्रयोगो भवति ॥१८॥

वेर्वय् ॥ ४. ४. १९ ॥

वेगो धातोः परोक्षायां वयित्ययमादेशो वा भवति । उवाय, ऊयतुः, ऊयुः, ववौ, ववतुः, ववुः ॥१९॥

न्या० स०-वेर्वय्-ऊयुरिति-'न वयो य्' ४-१-७३ इत्यनेन यस्य न य्वृत् । **ववाविति**-'वेरयः' ४-१-७४ इति न । **ववुरिति**-'अविति वा' ४-१-७५ इति न । य्वृत्विकल्पात् ।

ॠः शदृपः ॥ ४. ४. २० ॥

शॄदॄप्रः इत्येतेषां धातूनां परोक्षायां परत ऋकारोऽन्तादेशो वा भवति । विशशार, विशश्रतुः, विदद्रतुः निपप्रतुः । क्वसौ-विशशृवान्, विददृवान्, निपपृवान् । पक्षे-विशशार, विशशरतुः विददरतुः, निपपरतुः, विशिशीर्वान्, विदिदीर्वान्, निपुपूर्वान् ॥२०॥

न्या० स०-ॠः शॄ-विशशारेति—ऋकारेकृतेऽपि णवीदृशमेव रूपं भवतीति निर्णयार्थं णवि दर्शितम् ।

हनो वध आशिष्यञौ ॥ ४. ४. २१ ॥

परोक्षानिवृत्तौ वेति निवृत्तम्, आशीर्विषये हन्तेर्वध इत्यकारान्तादेशो भवति 'अञौ' ञिविषये तु न भवति ।

वध्यात्, वध्यास्ताम्, वध्यासुः, आवधिषीष्ट, आवधिषीयास्ताम्, आवधिषीरन् । स्थानिवद्भावेनानुस्वारेत्त्वेऽपि अनेकस्वरत्वादिट्प्रतिषेधो न भवति । अञाविति किम्? घानिषीष्ट ॥२१॥

न्या० स०-हनो व०-आशीर्विषये इति-अत्र विषयविज्ञानात् पूर्वमेवादेशे वध्यादित्यादौ 'अतः' ४-३-८२ इत्यकारलोपः सिद्धः, अन्यथा तत्रापि विहितव्याख्यानात् स न स्यात् । आवधिषीष्टेत्यादौ चेट् सिद्धः, अन्यथा 'एकस्वरादनुस्वारेतः' ४-४-५६ इत्यत्र विहितव्याख्यानात् तेन निषेधः स्यात् ।

अद्यतन्यां वा त्वात्मने ॥ ४. ४. २२ ॥

अद्यतन्यां विषये हनो वध इत्ययमादेशो भवति आत्मनेपदे त्वस्या वा भवति । अवधीत्, अवधिष्टाम्, अवधिषुः । अलोपस्य स्थानिवद्भावेन 'व्यञ्जनादेर्वोपान्त्यस्यातः'

(४-३-४७) इति वृद्धिर्न भवति । 'वा त्वात्मने' आवधिष्ट, आवधिषाताम्, आवधिषत, अवधि, आहत, आहसाताम्, आहसत, अघानि । अद्यतन्यामिति किम् ? आजघ्ने ।।२२।।

न्या० स०-अद्यतन्यां-अवधीदिति-विषयविज्ञानात् प्रत्ययव्यवधानेऽपि भवति, यथाऽडागमः । किंच विषयव्याख्यां विनाऽवधीदित्यत्र 'एकस्वरादनुस्वारेतः' ४-४-५६ इत्यनेन विहितव्याख्यानादिट् न स्यात् ।

इणिकोर्गाः ॥ ४. ४. २३ ॥

अद्यतन्यां विषये इण इकश्च धातोर्गा इत्ययमादेशो भवति । अगात्, अगाताम्, अगुः, अगायि भवता, अध्यगात्, अध्यगाताम्, अध्यगुः, अध्यगायि भवता ।।२३।।

न्या० स०-इणिको-अत्र विषयव्याख्यां विनाऽगादित्यादिषु सिचो लुपि स्यात् न त्वऽगायीत्यत्र ञिचा व्यवधानात् ।

णावज्ञाने गमुः ॥ ४. ४. २४ ॥

इणिकोरज्ञाने वर्तमानयोर्णौ विषये गमु इत्ययमादेशो भवति । उकारः 'स्वरहन्-गमोः सनि धुटि' (४-१-१०४) इत्यत्र विशेषणार्थः । गमयति, गमयतः, गमयन्ति ग्रामम्, अधिगमयति, अधिगमयतः, अधिगमयन्ति प्रियम् ।

अज्ञान इति किम् ? अर्थान् प्रत्याययति, अज्ञान इतीणो विशेषणं नेकोऽसंभवात्, धात्वन्तरेणैव सिद्धे णाविको ज्ञानादन्यत्रेणश्च रूपान्तरनिवृत्त्यर्थं वचनम्, कथमर्थान् गमयन्ति शब्दाः ? गमिनैव सिद्धम् ।।२४।।

न्या० स०-णावऽज्ञाने-अत्र विषयविज्ञानेऽजीगमत्सिद्धमन्यथा णौ परे गमादेशे ❀ णौ यत्कृतं कार्यम् ❀ इति न्यायाद् इ इति द्विर्वचनं स्यात् ।

सनीङश्च ॥ ४. ४. २५ ॥

इङ इणिकोश्चाज्ञाने वर्तमानयोः सनि परे गमुरादेशो भवति, अज्ञान इति इण एव विशेषणम् नेकिङोरसंभवात् । इङ्-अधिजिगांसते विद्याम्, इण्-अधिजिगमिषति ग्रामम्, इक्-मातुरधिजिगमिषति । अज्ञान इत्येव ? अर्थान् प्रतीषिषति ।।२५।।

गाः परोक्षायाम् ॥ ४. ४. २६ ॥

इङः परोक्षायां विषये गादेशो भवति । अधिजगे, अधिजगाते, अधिजगिरे, अधिज-गिषे । विषयनिर्देशः किम् ? आदेशे सति द्विर्वचनं यथा स्यात्, तेन प्राक्तु स्वरे स्वरविधे-रिति नोपतिष्ठते ।।२६।।

णौ सन्ङे वा ॥ ४. ४. २७ ॥

सन्परे ङपरे च णौ परत इङो गादेशो वा भवति । अधिजिगापयिषति, अध्यापि-

पयिषति, अध्यजीगपत्, अध्यापिपत्। णाविति किम्? अधिजिगांसते। सनङ इति किम्? अध्यापयति ॥२७॥

न्या० स०-णौसन्-अधिजिगापयिषतीति-अधीयानं प्रयुङ्क्ते णिगि अन्तरङ्गयोरप्यात्वप्वागमयोरऽस्याऽपवादत्वात् अप्रवृत्तौ अध्याययितुमिच्छतीति सनि पाक्षिके गादेशे तदन्यत्रात्वे उभयत्र प्वागमे द्वित्वादौ च सिद्धं, यद्वा आप्स्थाने गादेशे यावत्संभव इति न्यायात्पुनः पोन्तः।

वाद्यतनीक्रियातिपत्त्योर्गीङ् ॥ ४. ४. २८ ॥

अद्यतनीक्रियातिपत्त्योः परत इङो गीङादेशो वा भवति। अध्यगीष्ट, अध्यगीषाताम्, अध्यगीषत, अध्यैष्ट, अध्यैषाताम्, अध्यैषत, क्रियातिपत्तिः-अध्यगीष्यत, अध्यगीष्येताम्, अध्यगीष्यन्त, अध्यैष्यत, अध्यैष्येताम्, अध्यैष्यन्त। ङकारो गुणनिषेधार्थः ॥२८॥

न्या० स०-वाद्यतनीक्रि०-अध्यगीष्टेति-अन्तरङ्गत्वात् प्रागेव सिचो गीङ्। **गुणनिषेधार्थ इति**-न वाच्यं विधानसामर्थ्यात् न भविष्यतीति, तदा ह्यऽध्यगायीत्यत्र वृद्धिरपि न स्यात्।

अड्धातोरादिर्ह्यस्तन्यां चामाङा ॥ ४. ४. २९ ॥

ह्यस्तन्यामद्यतनीक्रियातिपत्त्योश्च विषये धातोः आदिरवयवोऽड् भवति, 'अमाङा' माङा योगे तु न भवति।

अकरोत्, अकार्षीत्, अकरिष्यत् विषयविज्ञानात् प्रत्ययव्यवधानेऽपि भवति, परविज्ञाने हि अहन्नित्यादावेव स्यात्। अमाङेति किम्? मा भवान् कार्षीत्, मास्म करोत्। अस्मद्विना मा भृशंमुन्मनी भूः। धातोरादिरिति किम्? प्राकरोत् ॥२९॥

न्या० स०-अड् धातो० आदिरवयव इति-अटो धात्वऽवयवत्वे प्रण्यमिमीतेत्यादौ णत्वम्। **अहन्नित्यादाविति**-आदिशब्दादभोत्स्यत इत्यादौ।

एत्यस्तेर्वृद्धिः ॥ ४. ४. ३० ॥

इणिकोरस्तेश्चादेः स्वरस्य ह्यस्तन्यां विषये वृद्धिर्भवति अमाङा। आदेरिति विभक्तिविपरिणामात्। आयन्, अध्यायन्, आस्ताम्, आसन्। अमाङेत्येव मा स्म भवन्तो यन्, मा स्म भवन्तः सन्।

यत्वे लुकि च स्वरादित्वाभावादुत्तरेण वृद्धिर्न प्राप्नोतीति वचनम्। विषयत्वविज्ञानात्परत्वाद्वा प्रागेव वृद्धौ कुतो यत्वाल्लुकोः प्राप्तिरिति चेत्? सत्यम्,-इदमेव वचनं ज्ञापकं कृतेऽन्यस्मिन् धातुप्रत्ययकार्ये पश्चाद्वृद्धिस्तद्बाध्योऽट् च भवति, तेन ऐयरुः अध्यैयतेत्यादावियादेशे सति वृद्धिः सिद्धा। अधीकरदित्यादौ च दीर्घत्वम्। पूर्वमटि तु स्वरादित्वात्तन्न स्यात्, यत्वाल्लुगपवादश्चायम्। तेनेकः पक्षे यत्वाभावेऽध्यैयन्नित्यत्रेयि सत्युत्तरेणैव वृद्धिर्भवति ॥३०॥

न्या० स०-एत्यस्ते०-आदेरितीति-(अथ पूर्वसूत्रे आदि शब्द: प्रथमान्तस्तत्कथमऽत्र षष्ठयन्त इत्याह) अर्थवशादिति शेषः । यत्वाऽल्लुगऽपवादश्चायमिति-अयमर्थ: इणो 'ह्विणोरप्विति व्यौ' ४-३-१५ इति नित्यं यत्वे प्राप्ते वचनं तत्साहचर्यादिकोऽपि 'इको वा' ४-३-१६ इति वा यत्वे कर्त्तव्ये बाधकमिदं यत्वाऽभावपक्षे तु इयि सत्युत्तरेणैव वृद्धिः ।

स्वरादेस्तासु ॥ ४. ४. ३१ ॥

स्वरादेर्धातोरादेः स्वरस्य तास्वद्यतनीक्रियातिपत्तिह्यस्तनीषु विषये आसन्ना वृद्धिर्भवति अमाङा ।

आटीत्, आशीत्, आटिष्यत्, आशिष्यत्, आटत्, आश्नात् आर्छीत्, आर्छिष्यत्, आर्छत्, ऐषीत्, ऐषिष्यत्, ऐच्छत्, ऐक्षिष्ट, ऐक्षिष्यत, ऐक्षत, ऐधिष्ट, ऐधिष्यत, ऐधत, औब्जीत्, औब्जिष्यत्, औब्जत, औहिष्ट, औहिष्यत, औहत, ओण्,-औणिणत्, औणिष्यत्, औणत्, इन्द्रमैच्छत् ऐन्द्रीयत्, उस्रामैच्छत् औस्रीयत्, एणमैच्छत् ऐणीयत्, ऐश्वर्यमैच्छत् ऐश्वर्यीयत्, ओंकारमैच्छत् औंकारीयत्, आ ऊढा ओढा तामैच्छत् औढीयत्, औषधमैच्छत् औषधीयत्, अमाङ्इत्येव, मा भवानटीत्, मा स्म भवानटत् ।।३१।

न्या० स०- स्वरादे०-अत्र विषयव्याख्यानाद् व्यवधानेऽपि वृद्धिरऽन्यथा ऋणूयी इत्यस्य आर्णीयत्यत्रैव अदेश्चाऽटि आददित्यत्रैव आदिष्यदित्यत्रैव च स्यान्नाऽन्यत्र ।

स्ताद्यशितोऽत्रोणादेरिट् ॥ ४. ४. ३२ ॥

धातोः परस्य सकारादेस्तकारादेश्चाशितः प्रत्ययस्यादिरिड् भवति 'अत्रोणादेः' त्रस्य उणादेश्च न भवति । अटिटिषति, अलविष्ट, लविषीष्ट, लविष्यति, अलविष्यत्, लविता, लवितव्यम्, लवितुम् ।

स्तादीति किम् ? त्रस्नुः, स्योमा, भूयात्, दीप्रः, ईश्वरः, विद्वान् । अशित इति किम् ? आस्से । आस्ते । अत्रोणादेरिति किम् ? शस्त्रम्, योत्रम्, पत्त्रम्, पोत्रम्, उणादि, वत्सः, अंसः, दन्तः, हस्तः ।।३२।।

न्या० स०-स्ताद्यशितो०-स्योमेति-❀ असिद्धं बहिरङ्गम् ❀ इति स्वरानन्तर्ये नेष्यते तेन यत्वं सिद्धम्, अन्यथा ऊटोऽसत्त्वात् गुणः स्यात् ।

तेर्ग्रहादिभ्यः ॥ ४. ४. ३३ ॥

ग्रहादिभ्य एव परस्य स्ताद्यशितस्तेरादिरिट् भवति, तेरिति सामान्येन क्तेस्तिको वा ग्रहणम् । निगृहीतिः, अपस्निहितिः, निकुचितिः, निपठितिः, उदितिः, भणितिः । रणितिः, मथितिः, लिखितिः, कम्पितिः, अन्दोलितिः । बहुवचनमाकृतिगणार्थम् । तेर्ग्रहादिभ्य एवेति नियमादन्यत्र न भवति । शान्तिः, वान्तिः, दीप्तिः, ज्ञप्तिः, स्रस्तिः, ध्वस्तिः । तिकः खल्वपि-तन्तिः, सन्तिः, कण्डूतिः । णौ,-पाक्तिः, याष्टिः, प्रज्ञप्तिः । तेरेव ग्रहादिभ्य इति विपरीतनियमो न भवति, उत्तरत्र ग्रहः परोक्षायामिटो दीर्घनिषेधात् ।।३३।।

न्या० स०-तेर्ग्रहा०-तन्तिरिति-'न तिकि दीर्घश्च' ४-२-५९ इति निषेधाल्लुग्-दीर्घाऽभावः । **सन्तिरिति** षणूयी इत्यस्य रूपं 'तौ सनस्तिकि' ४-२-६४ इति लुगाकारौ वा भवतः, दीर्घस्तु 'न तिकि:' ४-२-५९ इति निषेधान्न । षन भक्तावित्यस्य तु सान्तिरिति स्यात्, न वाच्यं तस्यापि 'न तिकि' ४-२-५९ इति निषेधस्तत्र तनादेरुपादानात् ।

गृह्णोऽपरोक्षायां दीर्घः ॥ ४. ४. ३४ ॥

गृह्णातेर्यो विहित इट् तस्य दीर्घो भवति 'अपरोक्षायाम्' न चेत् स इट् परोक्षायां भवति । ग्रहीता, ग्रहीतुम्, ग्रहीषीष्ट, ग्रहीष्यति, अग्रहीष्यत्, अग्रहीत् । दीर्घस्य स्थानिवद्भावादिट ईतीति सिचो लुग्भवति । न चायं वर्णविधिः । इट इति रूपाश्रयत्वात् । अग्रहीध्वम्, अग्रहीढ्वम् ।

विहितविशेषणं किम् ? यङन्ताद्विहितस्य माभूत् । जरीगृहिता, जरीगृहितुम्, जरीगृहितव्यम् । लुप्ततिव्निर्देशाद्यङ्लुपि न भवति । जरीगर्हिता, जरीगर्हितुम्, जरीगर्हितव्यम् । अपरोक्षायामिति किम् ? जगृहिव, जगृहिम । इट इत्येव ? ग्राहिषीष्ट, अग्राहिषाताम्, ग्राहिता, ञिटो माभूत् ॥३४॥

न्या० स०-गृह्णोप०-जरीगृहितेति-'योऽशिति' ४-३-८० इति यलोपे गृह्णातेः पर इट् अस्त्येव, अतो विहितव्याख्यानम् ।

वृतो नवानाशीः सिच्परस्मै च ॥ ४. ४. ३५ ॥

वृग्वृङ्भ्यामृकारान्तेभ्यश्च धातुभ्यः परस्य इटो वा दीर्घो भवति परोक्षायामाशिषि परस्मैपदविषये सिचि च न भवति । वृग्-प्रावरीता, प्रावरिता, प्राविवरीषति, प्राविवरिषति । वृङ्-वरीता, वरिता, विवरीषते, विवरिषते, ॠदन्त,-तरीता, तरिता, तितरीषति, तितरिषति, जरीता, जरिता, जिजरीषति, जिजरिषति, वृत इति किम् ? करिष्यति, तकारो वर्णनिर्देशार्थः । अन्यथा समरीता समरितेति ॠणातेरेव विज्ञायेत ।

परोक्षादिवर्जनं किम् ? विवरिथ, तेरिथ, प्रावरिषीष्ट, आस्तारिषीष्ट । प्रावारिष्टाम् । प्रावारिषुः । आस्तारिष्टाम् । आस्तारिषुः । सिचः परस्मैपदविशेषणादात्मनेपदे दीर्घो भवत्येव । अवरीष्ट, अवरिष्ट, प्रावरीष्ट, प्रावरिष्ट, आस्तरीष्ट, आस्तरिष्ट ।३५॥

न्या० स०-वृतो न-सिच्परस्मै चेति-सिचः परस्मैपदमिति षष्ठीसमासः, यस्मिन् परस्मैपदे सिचः विधीयते तत् सिचः परस्मैपदं । विशेषणसमासो वा सिच् च तत्परस्मैपदं चेति, परस्मैपदनिमित्तत्वेनोपचारात् सिजपि परस्मैपदेनोच्यते । **तकारो वर्णनिर्देशार्थ इति**-तकारोऽभावे ॠ इति निर्दिश्यमाने वॄ इत्यनेन धातुना साहचर्यात् ॠश् गतावित्यस्यैव ग्रहणं स्यात्, न ॠकारान्तधातुमात्रपरिग्रहस्ततश्च समरीता समरितेत्यत्रैव स्यात्, तकारे तु सति ॠदित्यस्य धातोरऽभावात्तकारस्य च वर्णनिर्देशेषु प्रसिद्धत्वात् ॠकारवर्णविज्ञानात्तदन्त-धातुमात्रप्रतिपत्तिर्भवति इति तकारोपादानम् ।

इट् सिजाशिषोरात्मने ॥ ४. ४. ३६ ॥

वृतः परयोरात्मनेपदविषययोः सिजाशिषोरादिरिट् वा भवति ।

प्रावृत, प्रावरीष्ट, प्रावरिष्ट, अवृत, अवरीष्ट, अवरिष्ट, आस्तीर्ष्ट, आस्तरीष्ट, आस्तरिष्ट, आस्तीर्षाताम्, आस्तरिषाताम्, आस्तरीषाताम्, आस्तीर्षत, आस्तरिषत, आस्तरीषत, प्रावृषीष्ट, प्रावरिषीष्ट, वृषीष्ट, वरिषीष्ट, आस्तीर्षीष्ट, आस्तरिषीष्ट । आत्मने इति किम् ? प्रावारीत्, अतारीत्, आस्तारीत् । एषु नित्यमेवेड् भवति । आशिषि तु परस्मैपदे यकारादित्वात् प्राप्तिरेव नास्ति, प्राप्ते विभाषा ॥३६॥

संयोगादृतः ॥ ४. ४. ३७ ॥

धातोः संयोगात्परो य ऋकारस्तदन्ताद्धातोः परयोरात्मनेपदविषययोः सिजाशिषोरादिरिड्वा भवति । अस्मृषाताम्, अस्मरिषाताम्, अध्वृषाताम्, अध्वरिषाताम्, स्मृषीष्ट, स्मरिषीष्ट, ध्वृषीष्ट, ध्वरिषीष्ट । संयोगादिति किम् ? अकृत, कृषीष्ट । धातोरिति विशेषणादिह न भवति । मा निष्कृत, निष्कृषीष्ट । 'स्कृच्छृतोऽकि परोक्षायाम्' (४-३-८) इत्यत्र स्कृगो ग्रहणात्ससट्संयोगो न गृह्यते, तेनेह न भवति-समस्कृत, संस्कृषीष्ट । आत्मन इत्येव ? अस्मार्षीत्, अध्वार्षीत् ॥३७॥

धूगौदितः ॥ ४. ४. ३८ ॥

धूग औदिद्भ्यश्च धातुभ्यः परस्य स्ताद्यशित आदिरिड्वा भवति, पृथग्योगात् सिजाशिषोरात्मने इति निवृत्तम् ।

धूग्-धोता, धविता । औदित्-रधौच्,-रद्धा, रधिता, तृपौच्-तर्प्ता, त्रप्ता, तर्पिता । दृपौच्-द्रप्ता, दर्प्ता, दर्पिता । नशौच्-नंष्टा, नशिता । मुहौच्-मोग्धा, मोढा, मोहिता । द्रुहौच्-द्रोग्धा, द्रोढा, द्रोहिता । स्नुहौच्-स्नोग्धा, स्नोढा, स्नोहिता । स्निहौच्-स्नेग्धा, स्नेढा, स्नेहिता । गुपौ-गोप्ता, गोपिता, जुगुप्सति । जुगोपिषति, गुहौ,-निगोढा, निगूहिता, गाहौ-विगाढा, विगाहिता । औस्वृ-स्वर्ता, स्वरिता, सिस्वर्षति, सिस्वरिषति । पूङौ प्रदादौ दिवादौ च । सोता, सविता । स्ताद्यशित इत्येव ? ररन्धिव, ररन्धिम किल । अन्यस्त्वत्रापि विकल्पमिच्छति । रेध्व, ररन्धिव, रेध्म, ररन्धिम । स्वरतेस्तु स्ये परत्वात् 'हनृतः स्यस्य' (४-४-४९) इति नित्यमिट्-स्वरिष्यति । धूग् औस्वृ षूङ् इति त्रयाणाम् 'ऋवर्णश्यूर्णुगः कितः' (४-४-५८) इति 'उवर्णात्' (४-४-५९) इति च परत्वात् किति नित्यमिट्प्रतिषेधः । धूत्वा, स्वृत्वा, सूत्वा ।

औदित इत्यनुबन्धनिर्देशात् यङ्लुपि नित्यमिट्-सरीस्वरिता, जोगूहिता । धूगिति गिन्निर्देशात्तौदादिकस्य नित्यमिट् । धुविता । अत्रोणादेरित्येव ? धूसरः, अशौ-अक्षरम् । एके तु चायिस्फायिप्यायीनामपि विकल्पमिच्छन्ति । निचाता, निचायिता, निचिचासति, निचिचायिषति, आस्फाता, आस्फायिता, आपिस्फासते, आपिस्फायिषते, आप्याता, आप्यायिता, आपिप्यासते, आपिप्यायिषते । अपरः पठति । नातिक्रंस्यति, नातिक्रमिष्यति ।

अन्यस्त्वद्यतन्यामास्कन्दिषमास्कन्त्समितीच्छति । बहुलम् एकेषां विकल्पः । पक्त्वा, पचिता, आस्कन्तव्यम्, आस्कन्दितव्यम्, पट्टा, पटिता । तदेवं व्यवस्थितविभाषाविज्ञानादागम-शासनमनित्यमिति न्यायाच्च विचित्रमतयो वैयाकरणाः ॥३८॥

न्या० स०-धूगौदि०-जुगुप्सतीति गोपायितुमिच्छति सन्, 'उपान्त्ये' ४-३-३४ इति कित्वं, जुगोपिषतीत्यत्र तु 'वौ व्यञ्जनादेः' ४-३-२५ इति वा कित्वम् ।

नातिक्रंस्यतीति-स्वमते 'क्रमः' ४-४-५४ इति नित्यमिट् । एकेषां विकल्प इति-सर्व्वेषां धातूनामित्यर्थः ।

निष्कुषः ॥ ४. ४. ३९ ॥

निर्निस्संबद्धात्कुषः परस्य स्ताद्यशित आदिरिड्वा भवति । निष्कोष्टा, निष्को-षिता, निष्कोष्टुम्, निष्कोषितुम्, निष्कोष्टव्यम्, निष्कोषितव्यम् निष्पूर्वनियमात्केवला-दन्यपूर्वाच्च नित्य एवेट् । कोषिता, प्रकोषिता ।

निर्निस्संबद्धात्कुष इति किम्? निर्गताः कोषितारोऽस्मान्निष्कोषितृको देश इति नित्यमिट्, योगविभाग उत्तरार्थः ॥३९॥

न्या० स०-निष्कुषः-निष्पूर्वनियमादिति – निष्पूर्वो यस्मात्तस्य नियमः ।

क्तयोः ॥ ४. ४. ४० ॥

निष्कुषः परयोः क्तयोरादिरिड्नित्यं भवति, पृथग्योगाद्वेति निवृत्तम् । निष्कुषितः, निष्कुषितवान् ॥४०॥

जॄव्रश्चः क्त्वः ॥ ४. ४. ४१ ॥

जॄव्रश्चिभ्यां परस्य क्त्वाप्रत्ययस्यादिरिड् भवति । जरित्वा, जरीत्वा, व्रश्चित्वा । 'क्त्वा' (४-३-२९) इत्यनेनाकित्त्वान्न वृत्, जॄ इति क्र्यादिकस्य ग्रहणम् । दैवादिकस्य तु सानुबन्धस्य जीर्त्वा । अस्यैवेच्छन्त्यन्ये । जॄ इत्यस्य 'ॠवर्णश्र्यूर्णुगः कितः' (४-४-५८) प्रतिषेधे व्रश्चेरौदित्त्वाद्विकल्पे प्राप्ते वचनम् ॥४१॥

ऊदितो वा ॥ ४. ४. ४२ ॥

ऊदितो धातोः परस्य क्त्वाप्रत्ययस्यादिरिड् वा भवति । दान्त्वा, दमित्वा, शान्त्वा, शमित्वा, तान्त्वा तमित्वा, द्यूत्वा, देवित्वा, स्यूत्वा, सेवित्वा । यमूं सिध्यत्योरप्राप्तेऽन्येषां प्राप्ते विभाषा ॥४२॥

क्षुधवसस्तेषाम् ॥ ४. ४. ४३ ॥

क्षुधवसिभ्यां परेषां क्तक्तवतुक्त्वामादिरिट् भवति । क्षुधितः, क्षुधितवान्, क्षुधि-त्वा, उषितः उषितवान्, उषित्वा । यङ्लुपि वावसितः, वावसितवान्, वावसित्वा ।

यङ्लुपि नेच्छन्त्यन्ये-वावस्तः, वावस्तवान्, वावस्त्वा। वसिति वसतेर्ग्रहणम्, वस्तेस्त्विडस्त्येव ॥४३॥

न्या० स०- क्षुधवसः - यङ्लुपीति-मतप्रदर्शनार्थमऽदर्शि। वावसित इत्यादौ-गणनिर्द्देशात् 'यजादिवचेः' ४-१-७९ इति न य्वृत्।

लुभ्यञ्चेर्विमोहार्चे ॥ ४. ४. ४४ ॥

विमोहो विमोहनमाकुलीकरणम् अर्चा पूजा, लुभ्यञ्चिभ्यां यथासंख्यं विमोहेऽर्चायां चार्थे वर्तमानाभ्यां परेषां क्तक्तवतुक्त्वामादिरिड् भवति। विलुभितः सीमन्तः, विलुभिताः केशाः, विलुभितानि पदानि, विलुभितवान्, लुभित्वा, लोभित्वा केशान् गतः, अञ्चिता गुरवः, उच्चैरञ्चितलाङ्गुलः, अञ्चितवान् गुरून्। शिरोऽञ्चित्वैव संवहन्। विमोहार्च इति किम्? लुब्धो जाल्मः, लुब्धवान्, लुब्ध्वा, लुभित्वा, लोभित्वा। उदक्तमुदकं कूपात्। अक्त्वा, अञ्चित्वा। लुभेः क्त्वि 'सहलुभ'-(४-४-४६) इत्यादिनाऽञ्चेश्च 'ऊदितः' (४-४-४२) इति विकल्पे उभयोश्च 'वेटोऽपतः (४-४-६२) इति नित्यं प्रतिषेधे प्राप्ते वचनम् ॥४४॥

न्या० स०-लुभ्यञ्चे०-विमोहनमिति-णिगन्तादऽलि।

पूङ्क्लिशिभ्यो नवा ॥ ४. ४. ४५ ॥

पूङः क्लिशिभ्यां च परेषां क्तक्तवतुक्त्वामादिरिड् वा भवति। पूतः, पूतवान्, पूत्वा, पवितः, पवितवान्, पवित्वा, क्लिष्टः, क्लिष्टवान्, क्लिष्ट्वा, क्लिशितः, क्लिशितवान्, क्लिशित्वा। पूङिति ङकारः पूगो निवृत्त्यर्थः, तस्य हि 'न डीङ्शीङ्-' (४-३-२७) इत्यादिना क्त्त्वप्रतिषेधाभावात् पुवित इत्यनिष्टं रूपमासज्जेत। बहुवचनं क्लिश्यतिक्लिश्नात्योर्ग्रहणार्थम्। पूङः 'उवर्णात्' (४-४-५८) इति नित्यं निषेधे प्राप्ते क्लिश्यतेर्नित्यमिटि प्राप्ते क्लिश्नातेश्चौदित्वात् क्त्वायां विकल्पे सिद्धेऽपि क्तयोर्नित्यं निषेधे प्राप्ते विकल्पार्थं वचनम् ॥ ४५ ॥

न्या० स०-पूङ्-पुवित इत्यनिष्टमिति-स्थिते तु तस्य 'उवर्णात्' ४-४-५८ इतीडऽभावे पूत इत्येव।

सहलुभेच्छरुषरिषस्तादेः ॥ ४. ४. ४६ ॥

एभ्यः परस्य तकारादेस्त्याद्यशित आदिरिड्वा भवति। सह,-सोढा, सोढुम्, सोढव्यम्, सहिता, सहितुम्, सहितव्यम्,-लुभ इत्यविशेषेण ग्रहणम्। लोब्धा, लोब्धुम्, लोब्धव्यम्, लोभिता, लोभितुम्, लोभितव्यम्. इच्छ,-एष्टा, एष्टुम्, एष्टव्यम्, एषिता, एषितुम्, एषितव्यम्, इच्छेति निर्देशादिषत् इच्छायामित्यस्य ग्रहणम्,-इषच्, गतौ, इषश्, आभीक्ष्ण्ये इत्यनयोस्तु नित्यमेवेट्। प्रेषिता, प्रेषितुम्, प्रेषितव्यम्, केचिदिषशोऽपि विकल्पमाहुः। रुष्,-रोष्टा, रोष्टुम्, रोष्टव्यम्, रोषिता, रोषितुम्, रोषितव्यम्, रेष्टा, रेष्टुम्, रेष्टव्यम्, रेषिता, रेषितुम्, रेषितव्यम्।

तादेरिति किम् ? सहिष्यते, लोभिष्यति, एषिष्यति । कश्चित्तु पठति सूत्रम् अशिभृगस्तुशुचिवस्तिभ्यस्तकारादौ वेट् । अष्टा, अशिता भर्ता, भरिता, स्तोता, स्तविता, शोक्ता, शोचिता, वस्ता, वसिता, तथा रुनुसुदुभ्योऽपि अपरोक्षायामेवेट् । रोता, रविता, नोता, नविता, सोता, सविता, दोता, दविता । अपरोक्षायामिति किम् ? रुरुविम, नुनुविम, सुसुविम, दुदुविम । तथा विषेर्मूलफलकर्मण्यपरोक्षायामिड्वा । वेष्टा, वेषिता मूलानि वा फलानि वा । अन्यत्र संवेष्टा । अपरोक्षायामिति किम् ? संविविषिमेति ।।४६।।

न्या० स०-सहलुभे०-अपरोक्षायामेवेडिति-अयमर्थः अमीषां यस्मिन् प्रत्यये इट् विहितः स तस्मिन् वा भवति, परोक्षायां तु 'स्कृऽसृभृवृ' ४-४-८१ इति नित्यमेव । **रवितेति**-रुक्रुङोऽविशेषेण ग्रहः । **सवितेति**-अत्र सुं प्रसवैइत्यऽषोपदेश एव गृह्यते, अन्यथा व्यावृत्तिदर्शिते सुसुविमेति प्रयोगे कृतत्वात्षत्वं स्यात् ।

इवृधभ्रस्जदम्भश्रियूर्णुभरज्ञपिसनितनिपतिवृद्दरिद्रः सनः ॥ ४. ४. ४७ ॥

इवन्तेभ्य ऋधभ्रस्जदम्भश्रियु-ऊर्णुभरतिज्ञपिसनितनिपतिवृभ्य ऋकारान्तेभ्यो दरिद्रातेश्च परस्य सन आदिरिड्वा भवति । इवन्त,-दुद्यूषति, दिदेविषति, सुस्यूषति, सिसेविषति, ऋध्,-ईर्त्सति, अर्दिधिषति, भ्रस्ज,-बिभ्रक्षति, बिभर्क्षति, बिभर्जिषति, बिभ्रज्जिषति, दम्भ,-धिप्सति, धीप्सति, दिदम्भिषति, श्रि,-शिश्रीषति, शिश्रयिषति, यु,-युयूषति, यियविषति, ऊर्णु,-प्रोर्णुनूषति, प्रोर्णुनुविषति, प्रोर्णुनविषति भर,-बुभूर्षति, बिभरिषति । शब्निर्देशो यङ्लुपो बिभर्तेश्च निवृत्त्यर्थः । बुभूर्षति, बिभर्तेरपीच्छन्त्येके । इडभावपक्षे गुणमपि । बिभर्षति, बिभरिषति । तन्मतसंग्रहार्थं कृतगुणस्य भृगो निर्देशः, तेन इडभावपक्षेऽपि गुणो भवति । ज्ञप्, ज्ञीप्सति, जिज्ञपयिषति, ज्ञपीति कृतह्रस्वस्योपादानात् ज्ञापेर्जिज्ञापयिषतीत्येव भवति ।

सनीति सनतेः सनोतेश्च ग्रहणम् । सिषासति, सिसनिषति, तन्,-तितंसति, तितांसति, तितनिषति, पत्-पित्सति, पिपतिषति, वृ इति वृगवृङोर्ग्रहणम् । प्राबुवूर्षति, प्राविवरिषति, प्राविवरीषति, वुवूर्षते विवरिषते, विवरीषते, ऋदन्त-तितीर्षति, तितरिषति, तितरीषति, आतिस्तीर्षति, आतिस्तरिषति, आतिस्तरीषति । चिकीर्षतीत्यत्र तु लाक्षणिकत्वान्न भवति । दरिद्रा,-दिदरिद्रासति दिदरिद्रिषति । सन इति किम् ? देविता, योः 'ग्रहगुहश्च सनः'-(४-४-६०) इति भ्रस्जभृगोस्तु सामान्येन प्रतिषेधेऽन्येषां च नित्यमिटि प्राप्ते विकल्पोऽयम् ।।४७।।

न्या० स०-इवृ-इवन्तेति-उदनुबन्धाऽकरणादिवु व्याप्तौ न गृह्यते । **ईर्त्संतीति**-ऋधूच ऋधूटित्यऽस्य वा अर्द्धितुमिच्छतीति वाक्यम् । **दिदम्भिषतीति**-अत्र सनि सादित्वाऽभावान्न धीपादेशः । **गुणमपीति**-स्वमते तु 'नामिनोऽनिट्' ४-३-५१ इति सनः कित्त्वम् । **कृतगुणस्येति**-प्रथमं शब्निर्दशो व्याख्यातः । तन्मतसंग्रहार्थं तु कृतगुणस्येत्यर्थः । **इडऽभावपक्षेऽपि गुण इति**-सूत्रे कृतगुणनिर्देशात् कित्त्वेऽपि गुण इत्यर्थः ।

ऋस्मिपूङ्ञ्जशौकॄगॄदृधृप्रच्छः ॥ ४. ४. ४८ ॥

पृथग्योगाद्वेति निवृत्तम् । एभ्यः परस्य सन आदिरिड्भवति । ऋ,-अरिरिषति, स्मि, सिस्मयिषते, पूङ्-पिपविषते. अनुबन्धनिर्देशात्पूगः पुपूषति, पुपूषते, अञ्ज-अञ्जिजिषति, अशौ,-अशिशिषते । अश्नातेस्त्विडस्त्येव । कॄ-चिकरिषति,-चिकरीषति, गॄ-जिगरिषति, जिगरीषति । 'वृतो नवा-(४-४-३५) इत्यादिना पक्षे दीर्घत्वम् । अन्ये तु व्यवस्थितविभाषयास्येटो दीर्घत्वं नेच्छन्ति । दृङ, आदिदरिषते, धृङ्-आदिधरिषते, प्रच्छ्-पिपृच्छिषति । प्रच्छसहचरिताः कॄगॄधृ इत्येते तौदादिकाः, तेन कृणातेश्चिकीर्षति । चिकरिषति, चिकरीषति, गृणातेः- जिगीर्षति, जिगरिषति जिगरीषति । धरतेर्दिधीर्षतीत्येव भवति । ऋस्मिपूङ्दृधृप्रच्छामप्राप्ते शेषाणां विकल्पे प्राप्ते वचनम् ।।४८।।

हनृतः स्यस्य ॥ ४. ४. ४९ ॥

हन्तेर्ऋकारान्ताच्च धातोः परस्य स्यस्यादिरिड् भवति । हनिष्यति, अहनिष्यत्, हनिष्यन्, आहनिष्यते, आहनिष्यमाणः, करिष्यति, अकरिष्यत्, करिष्यन्, करिष्यमाणः स्वरिष्यति, अस्वरिष्यत्, स्वरिष्यन् स्वरतेः परत्वाद्विकल्पं बाधित्वा नित्यमिट् । तकारनिर्देशादर्तेरेव ग्रहणं न भवति ।।४९।।

कृत-चृत-नृत-छृद-तृदोऽसिचः सादेर्वा ॥ ४. ४. ५० ॥

एभ्यः परस्य सिज्वर्जितस्य सकारादेः स्ताद्यशितः प्रत्ययस्यादिरिड्वा भवति । कृतंत् छेदने,-कृतैप् वेष्टने वा, कर्त्स्यति, अकर्त्स्यत्, चिकृत्सति, कर्तिष्यति अकर्तिष्यत्, चिकर्तिषति, चृत्,-चर्त्स्यति, अचर्त्स्यत्, चिचृत्सति, चर्तिष्यति, अचर्तिष्यत्, चिचर्तिषति, नृत्-नर्त्स्यति, अनर्त्स्यत्, निनृत्सति, नर्तिष्यति, अनर्तिष्यत्, निनर्तिषति, छृद्-छर्त्स्यति, अच्छर्त्स्यत्, चिच्छृत्सति, छर्दिष्यति. अच्छर्दिष्यत्, चिच्छर्दिषति, तृद्-तर्त्स्यति, अतर्त्स्यत्, तितृत्सति, तर्दिष्यति, अतर्दिष्यत्, तितर्दिषति ।

सादेरिति किम् ? कर्तिता, चर्तिता, नर्तिता, छर्दिता, तर्दिता । असिच इति किम् ? अकर्तीत्, अचर्तीत्, अनर्तीत्, अच्छर्दीत्, अतर्दीत् । प्राप्ते विभाषा ।।५०।।

गमोऽनात्मने ॥ ४. ४. ५१ ॥

गमः परस्य सकारादेस्ताद्यशित आदिरिड् भवति आत्मनेपदं चेन्न भवति । गम इति आदेशस्यानादेशस्य च ग्रहणमविशेषात् । गम्लृ. गमिष्यति । अगमिष्यत् । जिगमिषति जिगमिषिता । जिगमिषितुम् । संजिगमिषिता । संजिगमिषितुम् । संजिगमिषितव्यम् । इण्, जिगमिषति ग्रामम्, जिगमिषुः, इक्,-अधिजिगमिषति मातुः अधिजिगमिषुः, इङ्-अधिजिगमिषिता शास्त्रस्य, अधिजिगमिषुः, अधिजिगमिषितव्यम्, इङो नेच्छन्त्येके । तन्मते, अधिजिगांसिता, अधिजिगांसुः, अधिजिगांसितव्यमित्येव भवति ।

अनात्मने इति किम् ? गंस्यते ग्रामः, संगंस्यते वत्सो मात्रा, गंस्यमानः, संगंस्य-

मानः, अगंस्यत, समगंस्यत, संगंसीष्ट, संजिगंसते, संजीगंसमानः, संजिगंसिष्यते, संजिगंसिष्यमाणः, अधिजिगांसते, अधिजिगांसमानः. अधिजिगांस्यते, अधिजिगांसिष्यते, अधिजिगांसिष्यमाणः. इणिकोर्जिगांस्यते, संजिगंसते, अधिजिगांस्यते याता । कथं जिगमिषितेवाचरति जिगमिषित्रीयते इति । आत्मनेपदस्य क्यङाश्रितत्वेन बहिरङ्गत्वात्, केचित्तु आत्मनेपदविषयस्य गमेरात्मनेपदाभावे सति इटो विकल्पमिच्छन्ति । गम्लृ,-संजिगंसिता, संजिगमिषिता, संजिगंसितव्यम्, संजिगमिषितव्यम् । इङ्,-अधिजिगांसिता, अधिजिगमिषिता, अधिजिगांसितव्यम्, अधिजिगमिषितव्यम्, अनात्मनेपदनिमित्तात्तु गमेर्नित्यमिटमिच्छन्ति । गमिष्यति, जिगमिषतीति, जिगमिषिता, जिगमिषितुम्, अधिजिगमिषितुम्, अधिजिगमिषितव्यमित्यत्रापि गमेरनात्मनेपदविषयत्वान्नित्यमिड् भवति । तन्मतसंग्रहार्थमावृत्त्या सूत्रद्वयं व्याख्येयम् । गमोऽनात्मने गमोऽनात्मन इति । तत्र पूर्वस्यायमर्थः । गमेः सकारस्यादिरिड् वा भवति आत्मनेपदं चेन्न भवति, वेत्यनुवर्तनीयम् ।

द्वितीयसूत्रे तु अनात्मने इति प्रकृतिविशेषणं व्याख्येयम्, ततश्च गमेरात्मनेपदविषयात्सकारस्यादिर्नित्यमिड् भवति । इहानात्मने इति प्रकृतिविशेषणात्पूर्वसूत्रे आत्मनेपदविषयादिति सामर्थ्याल्लभ्यते, एवं च तन्मतसंग्रहः सिद्धो भवति । एके तु परस्मैपदविषयस्यैव गमेरिटमिच्छन्ति नात्मनेपदविषयस्य, तन्मतसंग्रहार्थं तु नात्मने इत्यसमस्तं व्याख्येयम् । आत्मन इति च प्रकृतिविशेषणम् । एवं च गमेरात्मनेपदविषयात् सकारस्यादिरिड् न भवति इति अयमर्थो भवति । तेन संजिगंसिता संजिगंसितव्यम् अधिजिगांसिता व्याकरणस्य अधिजिगांसितव्यम् ॥५१॥

न्या० स०-**गमोऽनात्मने-आत्मनेपदं चेन्न भवतीति**-आत्मनेपदविषयस्याविषयस्य च आत्मनेपदाभावे भवतीति । **गंस्यते ग्राम** इत्यारभ्य **संजिगंसिष्यमाण इति**-यावत् गम्लृं इत्येतस्य रूपाणि, तत्र निरुपसर्गस्य भावे कर्मणि च आत्मनेपदं सम्पूर्वस्य तु 'समो गमृच्छि' २-३-८४ इत्यनेन कर्त्तरि । **कथमिति**-जिगमिषित्रीयते इत्यत्र आत्मनेपदे इडभावः प्राप्नोतीत्याशङ्क्याह-**आत्मनेपदस्येति**-केचित्तु आत्मनेपदविषयस्येति सामान्योक्तावऽपि कर्त्तर्येवात्मनेपदविषयता ज्ञेया भावकर्म्मणोस्तु सर्वेऽपि धातव आत्मनेपदविषया एव इति व्यवच्छेद्य किमपि न स्यात्, आत्मनेपदं चेन्न भवतीति द्वितीयव्याख्यानादिहात्मनेपदविषयादात्मनेपदाऽभावो लभ्यते । **प्रकृतिविशेषणं व्याख्येयमिति**-पुनर्गम्ग्रहणादऽन्यथा पूर्वसूत्राद् गम् इत्यधिकारेणैव सिद्धम् । **अयमर्थो भवतीति**-प्रथममतविपरीतः ।

स्नोः ॥ ४. ४. ५२ ॥

स्नोः परस्य स्ताद्यशित आदिरिड् भवति आत्मनेपदं चेन्न भवति । प्रस्नविष्यति, प्रस्नविता प्रस्नवितासि, प्रस्नवितास्मि, प्रस्नवितुम्, प्रस्नवितव्यम्, प्रसुस्नूषतीत्यत्र 'ग्रहगुहश्च सनः' (४-४-५९) इत्यनेनेट्प्रतिषेधः । अनात्मने इत्येव ? प्रस्नोष्यते, प्रस्नोष्यमाणः, प्रास्नोष्यत, प्रस्नोषीष्ट, प्रास्नोष्ट, प्रस्नोता, प्रस्नोतासे, प्रस्नोताहे । प्रस्नवितेवाचरति प्रस्नवित्रीयत इत्यत्र त्वात्मनेपदस्य बहिरङ्गत्वात् तदाश्रयः प्रतिषेधो न भवति । स्नौतेरिट् सिद्ध एव । प्रतिषेधाभावादात्मनेपद इडनिवृत्त्यर्थं तु वचनम् । एवमुत्तरयोगोऽपीति ॥५२॥

न्या० स०-स्नोः-पृथग्योगात् सादेरिति नानुवर्त्तते, अन्यथा स्नुगमोरिति कुर्यात् । प्रास्नोष्टेति-कर्मकर्त्तरि प्रयोगः ।

क्रमः ॥ ४. ४. ५३ ॥

क्रमः परस्य स्ताद्यशित आदिरिड् भवति आत्मनेपदं चेन्न भवति क्रमिष्यति ।

निरक्रमीत्, क्रमितासि, चिक्रमिषति, चिक्रमिषिता, चिक्रमिषितुम्, प्रक्रमितुम्, प्रक्रमितव्यम् । अनात्मन इत्येव ? प्रक्रंस्यते, प्रक्रंस्यमानः, उपक्रंस्यते, उपक्रंस्यमानः, प्रक्रन्ता, उपक्रन्ता, प्रक्रन्तासे, उपक्रन्तासे, प्रक्रंसीष्ट, उपक्रंसीष्ट, प्राक्रंस्त, उपाक्रंस्त, प्राक्रंस्यत, उपाक्रंस्यत, प्रचिक्रंसते, उपचिक्रंसते, प्रचिक्रंसिष्यते, उपचिक्रंसिष्यते । क्रमितेवाचरति क्रमित्रीयते इति पूर्ववदिड् भवति । कथं चिक्रंसया कृत्त्रिमपत्त्रिपङ्क्तेरित्य-त्रेडभावः । गतानुगतिक एष पाठः । जिघृक्षया कृत्त्रिमपत्त्रिपङ्क्तेरिति तु अविगानः पाठः ॥५३॥

न्या० स०-क्रमः आत्मनेपदं चेन्न भवतीति तद्विषयादऽविषयाद् वा । निरक्रमीदिति-'व्यञ्जनादेः' ४-३-७८ इति न वृद्धिः, 'न श्विजागृ' ४-३-४९ इति निषेधात् ।

प्रक्रन्तेत्यादिषु-'प्रोपादारम्भे' ३-३-५१ इत्यात्मनेपदम् । गतानुगतिक इति-गतस्यानुगतं गतानुगतं तदत्रास्ति, 'अतोऽनेकस्वरात्' ७-२-६ इकः ।

तुः ॥ ४. ४. ५४ ॥

अनात्मनेपदविषयात् क्रमः परस्य तुस्तृचस्तृनश्च स्ताद्यशित आदिरिड् भवति । अनात्मन इति प्रकृतिविशेषणमत्रान्यथा व्यवच्छेद्याभावात् । क्रमिता, निष्क्रमिता । आत्मनेपदविषयश्च क्रमिः कर्मव्यतिहारवृत्त्यादिषु प्रोपव्याङ्पूर्वश्च आरम्भादिषु भवति । अनात्मन इत्येव ? व्यतिक्रन्ता, पराक्रन्ता, प्रक्रन्ता, उपक्रन्ता, विक्रन्ता, आक्रन्ता ॥ ५४ ॥

न्या० स०-तुः-व्यवच्छेद्याभावादिति-प्रत्ययविशेषणे इत्यर्थः । क्रमितेति-'क्रमोऽनुपसर्गात्' ३-३-४७ इति विकल्पेनात्मनेपदविषयत्वात् क्त्वेऽयपि आरम्भादिष्विति-आदिपदाद् विपूर्वस्य स्वार्थे आङ पूर्वस्य तु ज्योतिरुद्गमे ।

न वृद्भ्यः ॥ ४. ४. ५५ ॥

वृतूङ् स्यन्दौङ् वृधूङ् शृधूङ् कृपौङ् वृत् । एते पञ्च वृतादयः, वृत्करणं द्युतादिवृतादिपरिसमाप्त्यर्थम्, एभ्यः परस्य स्ताद्यशित आदिरिड् न भवति । 'अनात्मेनाम्' अनात्मनेपदनिमित्तं चेद्वृतादयो न भवन्ति । अनात्मनेपदनिमित्तं च वृतादयः स्यसनि श्वस्तन्यां च कृपिर्विकल्पेन भवन्ति ।

वृत्,-वर्त्स्यति, अवर्त्स्यत्, विवृत्सति, विवृत्सिता, विवृत्सितुम्, विवृत्सितव्यम्, विवृत्सा, स्यन्द,-स्यन्त्स्यति, अस्यन्त्स्यत्, सिस्यन्त्सति, सिस्यन्त्सिता, सिस्यन्त्सितुम्, सिस्यन्त्सितव्यम्, वृधेर्वृतिवद्रूपाणि । शृध्, शर्त्स्यति, अशर्त्स्यत्, शिशृत्सति, शिशृत्सितुम्,

शिशृत्सिता, शिशृत्सितव्यम् । कृप् ,-कल्प्स्यति, अकल्प्स्यत् , चिक्लृप्सति, चिक्लृप्सिता, चिक्लृप्सितुम् , चिक्लृप्सितव्यम् , कल्प्ता, कल्प्तारौ, कल्प्तारः, कल्प्तासि, कल्प्तास्थः, कल्प्तास्थ, कल्प्तास्मि, कल्प्तास्वः, कल्प्तास्मः । स्यन्दिकृपोरौदित्लक्षणो विकल्पः परत्वादनेन बाध्यते । अनात्मने इत्येव ? वर्तिता, कल्पितव्यम् । स्यादावप्येषां पाक्षिकत्वात् अनात्मनेपदनिमित्तत्वस्य यत्र तन्नास्ति तत्रेड् भवत्येव । वर्तिष्यते, अवर्तिष्यत, विवर्तिषते, विवर्तिषितुम् , विवर्तिषितव्यम् , वर्धिष्यते, अवर्धिष्यत, विवर्धिषते, विवर्द्धिषितुम् , विवर्धिषितव्यम् , शर्धिष्यते, अशर्धिष्यत, शिशर्धिषते, शिशर्धिषितुम् , शिशर्धिषितव्यम् ।

स्यन्दिकृपोरौदित्वाद्विकल्पः । स्यन्त्स्यते, स्यन्दिष्यते, अस्यन्त्स्यत, अस्यन्दिष्यत, सिस्यन्त्सते, सिस्यन्दिषते, सिस्यन्त्सितुम्, सिस्यन्दिषितुम्, कल्प्स्यते, कल्पिष्यते, अकल्प्स्यत, अकल्पिष्यत, चिक्लृप्सते, चिकल्पिषते चिक्लृप्सितुम्, चिकल्पिषितुम्, कल्प्ता, कल्पिता, कल्प्तासे, कल्पितासे, कल्प्ताहे, कल्पिताहे । विवृत्सितेवाचरति, विवृत्सिव्रीयते इत्यादौ तु पूर्ववत् प्रतिषेधः, एके तु वृद्भ्यः स्यसनोः कृपः श्वस्तन्यां चात्मनेपदाभावे इट्प्रतिषेधमिच्छन्ति । तन्मते,-विवृत्सिता, विवृत्सितुम्, विवृत्सितव्यमित्यादौ अनात्मनेपदनिमित्तत्वाभावपक्षेऽपि इट् न भवति ।।५५।।

न्या० स०-न वृद्भ्यः आत्मनेपदनिमित्तं चेति-नन्वऽमीषामात्मनेपदिनामनात्मनेपदनिमित्तत्वं कथमित्याशङ्कयाह-स्यसनि श्वस्तन्यां चेति-'वृद्भ्यः स्यसनोः' ३-३-४५ 'कृपः श्वस्तन्याम्' ३-३-४६ इति सूत्राभ्यामित्यर्थः ।

स्यादावपीति-स्यसनि श्वस्तन्यां चेत्यर्थः । अनात्मनेपदनिमित्तत्वाभावपक्षेपीति-अत्र हि प्रकृतिरात्मनेपदविषया ।

एकस्वरा-केचिद्विषिपुषिश्लिषिमात्रादिति-विष्लृंकी विषश् श्लिषंच् श्लिष्षु इत्येतेभ्यः । युरुक्ष्णिवति-शीक्ष्णुसाहचर्यात् यु रु इत्यतयोरादादिकयोर्ग्रहणं न रुङ रोषणे च युंग्श् बन्धने इत्येतयोः । स्वरान्ता धातव इति स्वरान्ताः किंविशिष्टाः ये पाठे एकस्वरास्तेऽनुस्वारेत इत्यर्थः ।

एकस्वरादनुस्वारेतः ।। ४. ४. ५६ ।।

एकस्वरादनुस्वारेतो धातोर्विहितस्य स्ताद्यशित आदिरिट् न भवति ।

पा-पाने,-पाता, पातुम् । 'चक्षो वाचि क्शांग् ख्यांग्' (४-४-४) आक्शाता, आख्याता, जि,-जेता, जेतुम् , णींग् ,-नेता, नेतुम् , अजेर्वी,-प्रवेता, प्रवेतुम्, इंङ्को गी,-अध्यगीष्ट, श्रु श्रोता, श्रोतुम् , स्मृं,-स्मर्ता, स्मर्तुम् , शक्लृंट् शकींच् वा,-शक्ता, शक्तुम् । शक्यतेरिटमिच्छन्त्येके । शकिता, वचंक् ब्रूगादेशो वा, वक्ता, वक्तुम् । विचूंपी,-विवेक्ता, विवेक्तुम् , रिचूंपी,-रेक्ता, रेक्तुम् , डुपचींष् ,-पक्ता, पक्तुम् , षिचींत् , सेक्ता, सेक्तुम् , मुच्लृंती,-मोक्ता, मोक्तुम् , प्रच्छंत् ,-प्रष्टा, प्रष्टुम् , भ्रस्जींत् ,-भ्रष्टा, भर्ष्टा, भ्रष्टुम् , भर्ष्टुम् , टु मस्जोंत् ,-मङ्क्ता, मङ्क्तुम् , भुजोंत् भुजंप् वा, भोक्ता, भोक्तुम्, युजिंच् युजूंपी वा, योक्ता, योक्तुम् , यजीं-यष्टा, यष्टुम् , ष्वञ्जित् , परिष्वङ्क्ता परिष्वङ्क्तुम् ।

रञ्जीं रञ्जींच् वा, रङ्क्ता, रङ्क्तुम्, रुजोंत्,-रोक्ता, रोक्तुम्, णिजूंकी,-नेक्ता, नेक्तुम्, निर्णेक्ता, निर्णेक्तुम्, विजूंन्की,-विवेक्ता, विवेक्तुम्, सञ्जं,-सङ्क्ता, सङ्क्तुम्, भज्जोंप्-भङ्क्ता, भङ्क्तुम्, भर्जीं,-भक्ता, भक्तुम्, सर्जिच् सृजंत् वा,-स्रष्टा, स्रष्टुम्, त्यजं,-त्यक्ता, त्यक्तुम्, स्कन्दूं-स्कन्ता, स्कन्तुम्, विदिंच् विद्लृन्ती विदिंप् वा-वेत्ता, वेत्तुम्, विन्दतेरिटमिच्छन्त्येके। वेदिता धनस्य, णुदंत्,-नोत्ता, नोत्तुम्, ष्विदांच्,-स्वेत्ता, स्वेत्तुम्, शद्लृं-शत्ता, शत्तुम् षद्लृं षद्लृत् वा,-सत्ता, सत्तुम्। भिदूंपी,-भेत्ता, भेत्तुम्, छिदूंपी,-छेत्ता, छेत्तुम्, तुदींत्,-तोत्ता, तोत्तुम्, अदंक्, अत्ता, अत्तुम्, जिघत्सति। पदिंच्-पत्ता, पत्तुम्, हदिं,-हत्ता, हत्तुम्, खिदिंच्, खिदिंत् खिदिंप् वा, खेत्ता, खेत्तुम्। खिन्दतेरिटमिच्छन्त्येके। खेदिता, खेदितुम्, खिदितम्। क्षुदूंपी,-क्षोत्ता, क्षोत्तुम्। राधंच् राधंट् वा,-राद्धा, राद्धुम्। साधंट्-साद्धा, साद्धुम्। शुधंच्, शोद्धा, शोद्धुम्। युधिंच्-योद्धा, योद्धुम्। व्यधंच्-व्यद्धा, व्यद्धुम्। बन्धंश्-संबन्द्धा,-संबन्द्धुम्। बुधिंच्,-बोद्धा बोद्धुम्।

रुधूंपी, रोद्धा, रोद्धुम्, क्रुधंच्,-क्रोद्धा, क्रोद्धुम्। क्षुधंच्,-क्षोद्धा,-क्षोद्धुम्। सिधून्च्,-सेद्धा, सेद्धुम्। हनंक्,-हन्ता, हन्तुम्। मनिंच्-मन्ता, मन्तुम्। आप्लृन्ट, आप्ता, आप्तुम्। तपं तपिंच् वा, तप्ता, तप्तुम्। शपीं शपींच् वा, शप्ता। शप्तुम्। क्षिपंच्, क्षिपींत् वा क्षेप्ता, क्षेप्तुम्। छुपंत्, छोप्ता, छोप्तुम्। लुप्लृन्ती,-लोप्ता, लोप्तुम्। सृप्लृं,-स्रप्ता, सर्प्ता, स्रप्तुम्, सर्प्तुम्, लिपींत्,-लेप्ता, लेप्तुम्। टु वपीं, वप्ता, वप्तुम, ञिष्वपंक्,-स्वप्ता, स्वप्तुम्। यभं,-यब्धा, यब्धुम। रभिं,-आरब्धा, आरब्धुम। डु लभिंष्,-लब्धा, लब्धुम्, यमूं-यन्ता, यन्तुम्। रमिं,-रन्ता, रन्तुम्। णमं,-नन्ता, नन्तुम्। गम्लृं,-गन्ता, गन्तुम्। क्रुशं,-क्रोष्टा, क्रोष्टुम्। लिशिंच् लिशंत् वा लेष्टा, लेष्टुम्। रुशंत्, रोष्टा, रोष्टुम्। रिशंत्,-रेष्टा, रेष्टुम्। दिशींत्,-देष्टा, देष्टुम्। दंशं,-दंष्टा, दंष्टुम्।

स्पृशंत्,-स्प्रष्टा, स्पर्ष्टा, स्प्रष्टुम्, स्प्रर्ष्टुम्। मृशंत्,-म्रष्टा मर्ष्टा, म्रष्टुम्, मर्ष्टुम्, विशंत्,-वेष्टाः, वेष्टुम्, दृशूं,-द्रष्टा, द्रष्टुम्, शिष्लृंप्,-शेष्टा, शेष्टुम्, शुषंच्,-शोष्टा, शोष्टुम्, त्विषीं,-त्वेष्टा, त्वेष्टुम्। पिष्लृंप्,-पेष्टा, पेष्टुम्। विष्लृन्की,-वेष्टा, वेष्टुम्। कृषं कृषींत् वा, क्रष्टा, क्रर्ष्टा, क्रष्टुम्, कर्ष्टुम्। तुषंच्, तोष्टा, तोष्टुम्। दुषंच्,-दोष्टा, दोष्टुम्। पुषंच्,-पोष्टा; पोष्टुम्। श्लिषंच्,-श्लेष्टा, श्लेष्टुम्। द्विषींक्,-द्वेष्टा, द्वेष्टुम्। घस्लृं, घस्ता, घस्तुम्। वसं,-वस्ता, वस्तुम्, रुहं,-रोढा, रोढुम्। लुहं रिहं इति हिंसार्थौ सौत्रौ। लोढा, लोढुम्, रेढा, रेढुम्। एतावनिटौ नेच्छन्त्येके। दिहींक्,-देग्धा, देग्धुम्, दुहींक्,-दोग्धा, दोग्धुम्, लिहींक्,-लेढा, लेढुम्।

मिहं, मेढा, मेढुम्। वहीं, वोढा, वोढुम्। णहींच्, नद्धा, नद्धुम्। दहं, दग्धा, दग्धुम्। एकस्वरादिति किम्। अवधीत्। शाशकिता। विहितविशेषणं किम्। चिकीर्षति, पश्चादनेकस्वरत्वेऽप्यत्र प्रतिषेधो भवत्येव। अनुस्वारेत इति किम्? विरिवाचारीत् अवायीत्। अगावीत्। अगवीत्। श्वि, श्वयिता। श्रिग्, श्रयिता। डीङ् डीङ्च् वा डयिता। शीङ्,-शयिता, युक्,-यविता, रुक्,-रविता, क्षुक्,-क्षविता, क्ष्णुक्, क्ष्णविता, णुक्,-नविता; स्नुक्,-प्रस्नविता। वृङ्ट्, प्रावरिता, प्रावरीता। वृग्ञ्,-वरिता, वरीता।

भू,-भविता, णू-नुविता, लूग्श्,-लविता, तॄ-तरिता, तरीता । स्तॄग्श्,-आस्तरीता, आस्तरीता । ओ-विजैति, उद्विजिता । उद्विजितुम् । विदक् ज्ञाने वेदिता शास्त्रस्य । ञिष्विदाङ्, ञिक्ष्विदाच् वा स्वेदिता, ञिक्ष्विदाङ्-क्ष्वेदिता । अस्मादपीटं नेच्छन्त्येके । क्ष्वेत्ता, बुधग् बुध्, वा, बोधिता । आभ्यामपीटं नेच्छन्त्येके । बोद्धा, षिधू षिधौ च वा, सेधिता, मनूयि,-मनिता, कथं मतम् ? क्त्वि वेट्कत्वात् 'वेटोऽपतः' (४-४-६३) इति भविष्यति । लुपच्,-लोपिता । कथं तर्प्ता, दर्प्ता । औदित्त्वाद्विकल्पेनेट् । शिष,-शेषिता, विषू विषश् वा,-वेषिता, पुष पुषश् वा,-पोषिता, श्लिषू,-श्लेषिता । केचिद्विषिपुषिश्लिषिमात्रादिड-भावमिच्छन्ति । श्लिष्टमित्यत्र तु ऊदित्त्वात् क्तयोर्नित्यमिट्प्रतिषेधः ।। अत्र संग्रहश्लोकाः ।।

'शिवश्रिडीशी युरुक्ष्णुक्ष्णुणुस्नुभ्यश्च वृगो वृङः ।
ऊदृदन्तायुजादिभ्यः स्वरान्ता धातवोऽपरे ।।१।।
पाठ एकस्वराः स्युर्येऽनुस्वारेत इमे मताः ।
द्विविधोऽपि शकिश्चैव वचिर्विचिरिची पचिः ।।२।।
सिञ्चतिर्मुचिरितोऽपि पृच्छतिभ्रस्जिमस्जिभुजयो युजिर्यजि ।
ष्वञ्जिरञ्जिरुजयो णिजिविजूसञ्जिभञ्जिभजयः सृजित्यजी ।।३।।
स्कन्दिविद्यविद्लृविन्तयो नुदिः स्विद्यतिः शदिसदी भिदिच्छिदी ।
तुद्यदी पदिहदी खिदिक्षुदी राधिसाधिशुधयो युधिव्यधी ।।४।।
बन्धबुध्यरुधयः क्रुधिक्षुधी सिध्यतिस्तदनु हन्तिमन्यती ।
आपिना तपिशपिक्षिपिछुपो लुम्पतिः सृपिलिपी वपिस्वपी ।।५।।
यभिरभिलभियमिरमिनमिगमयः क्रुशिलिशिरुशिरिशिदिशतिदशतयः ।
स्पृशिमृशतिविशतिदृशिशिषलृशुषयस्त्विषिपिषिविषलृकृषितुषिपुषयः ।।६।।
श्लिष्यतिर्द्विषिरतो घसिवसती रोहतिर्लुहिरिही अनिगदितौ ।
देग्धिदोग्धिलिहयो मिहिवहती नह्यतिर्दहिरिति स्फुटमनिटः ।।५६।।

ऋवर्णश्र्यूर्णुगः कितः ।। ४. ४. ५७ ।।

ऋवर्णान्ताद्धातोः श्रयतेरूर्णुगश्चैकस्वराद्विहितस्य कितः प्रत्ययस्यादिरिट् न भवति । वृत, वृतवान्, वृत्वा, स्वृतः, स्वृतवान्, स्वृत्वा । तॄ,-तीर्णः, तीर्णवान्, तीर्त्वा, पॄ,-पूर्तः, पूर्तवान्, पूर्त्वा, श्रि,-श्रितः, श्रितवान्, श्रित्वा, उत्तरेणैव सिद्धे ऊर्णुग्रहणमनेकस्वरार्थम् । ऊर्णुतः, ऊर्णुतवान्, ऊर्णुत्वा । गित्त्वाद्यङ्लुपि न भवति । ऊर्णोनवित्वा । एकस्वरादित्येव ? जागरितः, जागरितवान्, जागरित्वा । कित इति किम् ? वरिता, तरिता, श्रयिता ऊर्णुविता, ऊर्णविता । विहितविशेषणात्तीर्णः पूर्तं इत्यत्र कृतेऽपीरुरादेशे निषेधो भवति ।।५७।।

उवर्णात् ।। ४. ४. ५८ ।।

उवर्णान्तादेकस्वराद्धातोर्विहितस्य कित आदिरिट् न भवति । युतः, युतवान्, युत्वा, लूनः, लूनवान्, लूत्वा । कित इत्येव ? यविता, लविता ।।५८।।

ग्रहगुहश्च सनः ॥ ४. ४. ५९ ॥

ग्रहिगुहिभ्यामुवर्णान्ताच्च धातोर्विहितस्य सन आदिरिट् न भवति । ग्रह, जिघृक्षति । गुहौ,-जुघुक्षति, रुरूषति, लुलूषति, बुभूषति, लुलूषति, पुपूषति । यौतेस्तु 'इवृध' (४-४-४७) इत्यादिना विकल्पः । यियविषति, युयूषति । गुहेरिटमपीच्छत्यन्यः । जुगूहिषन् मत्तगजोऽभ्यधावत् ॥५९॥

स्वार्थे ॥ ४. ४. ६० ॥

स्वार्थे विहितस्य सन आदिरिट् न भवति । जुगुप्सते, तितिक्षते, चिकित्सति, शीशांसते, दीदांसते, मीमांसते, बीभत्सते, स्वार्थे इति किम् ? पिपठिषति ॥६०॥

डीयश्व्यैदितः क्तयोः ॥ ४. ४. ६१ ॥

डीयतेः श्वयतेरैदिद्भ्यश्च धातुभ्यः परयोः क्तयोरादिरिट् न भवति । डीनः, डीनवान्, उड्डीनः, उड्डीनवान्, शूनः, शूनवान्, ऐदितः, ओ लस्जी, लग्नः, लग्नवान्, विजै,-उद्विग्न, उद्विग्नवान्, यतै,-यत्तः, यत्तवान्, त्रसै,-त्रस्तः, त्रस्तवान्, दीपै,-दीप्तः, दीप्तवान् ।

डीयेति श्यनिर्देशात् डयतेरिडेव । डयितः, डयितवान् । क्तयोरिति किम् ? डयिता, श्वयिता, लज्जिता, उद्विजिता । कृतैनृतैचृतै इत्येतेषां वेट्त्वेन क्तयोरिट्प्रतिषेधे सिद्धे ऐदित्त्वं यङ्लुबर्थम् । तेन चरीकृत्तः । चरीकृत्तवान्, नरीनृत्तः, नरीनृत्तवान्, चरीचृत्तः । चरीचृत्तवान् इत्यत्रानेकस्वरत्वेऽपीट्प्रतिषेधः ॥६१॥

वेटोऽपतः ॥ ४. ४. ६२ ॥

पतिवर्जिताद्यत्रक्वचिद्विकल्पितेटो धातोरेकस्वरात्परयोः क्तयोरादिरिट् न भवति । रधौ,-रद्धः, रद्धवान्, अञ्जौ,-अक्तः, अक्तवान्, गुहौ,-गूढः, गूढवान्, शमू,-शान्तः, शान्तवान्, असू-अस्तः, अस्तवान् । केचिदस्यतेर्भावे क्ते नित्यमिटमिच्छन्ति । असितमनेन सह,-सोढः, सोढवान् । अपत इति किम् ? पतितः,-पतितवान् । सनि वेट्त्वात्प्राप्ते प्रतिषेधः । एकस्वरादित्येव ? दरिद्रितः, दरिद्रितवान् । कथं प्रोर्णुतः, प्रोर्णुतवान् ? 'ऋवर्णश्यूर्णुगः कितः' (४-४-५८) इत्यनेन भविष्यति ॥६३॥

न्या० स०-वेटोऽपतः-कथं वञ्चितः वंचिण् प्रलम्भने इत्यस्य भविष्यति ।

संनिवेरर्दः ॥ ४. ४. ६३ ॥

संनिविपूर्वादर्दतेः परयोः क्तयोरादिरिट् न भवति । समर्ण्णः; समर्ण्णवान्, न्यर्ण्णः, न्यर्ण्णवान्, व्यर्ण्णः, व्यर्ण्णवान् । संनिवेरिति किम् ? अर्दितः, प्रार्दितः । कश्चित्केवलादपीच्छति । अर्ण्णः, अर्ण्णवान् ॥६३॥

न्या० स०-संनिवेर०-समर्ण इति-'रदादमूर्छ' ४-२-६९ इति नः 'रषृवर्ण' २-३-६३ इति क्तनस्य णत्वम् ।

अविदूरेऽभेः ॥ ४. ४. ६४ ॥

विदूरमतिविप्रकृष्टम् । ततोऽन्यदविदूरम् । अभिपूर्वादर्देः परयोः क्तयोरविदूरेऽर्थे आदिरिट् न भवति । अभ्यर्णम्,–अविदूरमित्यर्थः, अभ्यर्णा सरित् । अभ्यर्णे शेते, अविदूर इति किम् ? अभ्यर्दितो वृषलः शीतेन । बाधित इत्यर्थः ।।६४।।

न्या० स०-अविदूरेऽभेः-क्तवताऽर्थप्रतीतेरभावान्न दर्शितम् ।

वर्तेर्वृत्तं ग्रन्थे ॥ ४. ४. ६५ ॥

वृतेर्ण्यन्तात्क्ते वृत्तमिति ग्रन्थविषये निपात्यते, गुणाभावेट्प्रतिषेधौ णिलुक् च निपातनात् । वृत्तो गुणश्छात्रेण । वृत्तं पारायणं चैत्रेण । वृतेरन्तर्भूतण्यर्थस्यैतत् सिध्यति । वर्तेस्तु ग्रन्थविषये वर्तितमिति प्रयोगनिवृत्त्यर्थं वचनम् । ग्रन्थ इति किम् ? वर्तितं कुङ्कुमम् । अन्ये तु ग्रन्थेऽपि वर्तितमिति प्रयोगमाद्रियन्त ।।६५।।

न्या० स०-वर्त्तेर्वृत्तम्-णिलुक्चेति—'सेट्क्तयोः' ४-३-८४ इति नियमात् 'णेरनिटि' ४-३-८३ इति न प्राप्नोतीत्याह वृत्तो गुण इति-उपचाराद्गुणप्रकरणं गुणः ।

धृषशसः प्रगल्भे ॥ ४. ४. ६६ ॥

प्रगल्भो जितसभः । अविनीत इत्यन्ये । धृषिशसिभ्यां परयोः क्तयोरादिः प्रगल्भ एवार्थे इट् न भवति । धृष्टः, विशस्तः,–प्रगल्भ इत्यर्थः । प्रगल्भ इति किम् ? धर्षितः, विशसितः, धृषेः 'आदितः' (४-४-७२) इति शसेरप्यूदित्वात् 'वेटोऽपतः' (४-४-६२) इति प्रतिषेधे सिद्धे नियमार्थं वचनम् । अथ भावारम्भयोर्नित्यार्थं धृषेरुपादानं कस्मान्न भवति ? नैवम्, धृषेर्भावारम्भे स्वभावात् प्रगल्भार्थानभिधानात् ।।६६।।

न्या० स०-धृषशसः-धृषेरुपादानमिति-नन्वादितां धातूनां 'नवा भावारम्भे' ४-४-७२ इत्यनेन वा इट्निषेधेऽत्र । धृषेरुपादानं नित्यमिडभावार्थमिति विधिपरतया किमिति न व्याख्यातमित्याशङ्का ।

कषः कृच्छ्रगहने ॥ ४. ४. ६७ ॥

कृच्छ्रं दुःखम् तत्कारणं च, गहनं दुरवगाहम् । तयोरर्थयोः कषेः परयोः क्तयोरादिरिड्न भवति । कष्टं वर्तते, कष्टोऽग्निः, कष्टानि वनानि । कृच्छ्रगहन इति किम् ? कषितं स्वर्णम् ।।६७।।

घुषेरविशब्दे ॥ ४. ४. ६८ ॥

विशब्दनं विशब्दः नाना शब्दनं प्रतिज्ञानं च ततोऽन्यत्रार्थे वर्तमानात् घुषेः परयोः क्तयोरादिरिट् न भवति । घुष्टा रज्जुः संबद्धावयवेत्यर्थः, घुष्टवान् अविशब्दन इति किम् ? अवघुषितं वाक्यमाह । नानाशब्दितं प्रतिज्ञातं वा वाक्यं ब्रूत इत्यर्थः । अत एव विशब्दन-

प्रतिषेधात् ज्ञाप्यते घुषेर्विशब्दनार्थस्य अनित्यश्चुरादेर्णिजिति, तेनायमपि प्रयोग उपपन्नो भवति ।

'महीपालवचः श्रुत्वा जुघुषुः पुष्यमाणवाः' स्वाभिप्रायं नाना शब्दैराविष्कृतवन्त इत्यर्थः ॥६८॥

न्या० स०-घुषेरवि-अत एव विशब्देनेति-ननु घुषृ शब्दे इत्यस्यैव विशब्दने चुरादित्वाण्णिचि सत्यऽनेकस्वरत्वात्प्रतिषेधो न स्यात् किं वर्जनेन ? इत्याह-अनित्येति ।

बलिस्थूले दृढः ॥ ४. ४. ६९ ॥

बलिनि स्थूले चार्थे दृहेर्दृंहेर्वा क्तान्तस्य दृढ इति निपात्यते । इडभावः क्तस्य ढत्वं धातुहनयोर्लोपश्च निपातनात् । दृढो बली स्थूलो वा, परिदृढस्य गतः, पारिदृढी कन्या, बलिस्थूल इति किम् ? दृहितम्, दृंहितम् ॥६९॥

न्या० स०-बलिस्थूले०-परिद्रढस्य गत इति-परिदृढमाचष्टे णिज् 'पृथुमृदु' ७-४-३९ इति ऋतो रः, परिद्रढनं पूर्वं कृत्वा 'लघोर्यपि' ४-३-८६ इत्यऽय् । नन्वत्र हलोपनिपातनं किमर्थं यावता 'भ्वादेर्दादेर्घः' २-१-८३ इति घस्य बाधके 'हो धुट्' २-१-८२ इति ढत्वे निपात्यमाने सर्वं सिध्यति ? न ढस्य परेऽसत्त्वाद्वर्णद्वयेन व्यवधाने 'लघोर्यपि' ४-३-८६ इति न स्यात्, वचनाद्धि एकेन वर्णेन व्यवधानमाश्रीयते, किञ्च ढस्याऽसत्त्वे संयोगे पूर्वो गुरुरिति न्यायात् गुरूपान्त्यत्वे पारिदृढीत्यत्र परिदृढस्यापत्यं 'अत इञ्' ६-१-३१ 'अनार्षे' २-४-७८ इति ष्यादेश स्यात्, न तु 'नुर्जातेः' २-४-७२ इति ङीः ।

क्षुब्ध-विरिब्ध-स्वान्त-ध्वान्त-लग्न-म्लिष्ट-फाण्ट-बाढ-परिवृढं मन्थ-स्वरमनस्तमःसक्तास्पष्टानायासभृशप्रभौ ॥ ४. ४. ७० ॥

क्षुब्धादयः क्तान्ता मन्थादिष्वर्थेषु यथासंख्यमनिटो निपात्यन्ते । क्षुभेर्मन्थेऽर्थे क्तान्तस्येडभावो निपात्यते । मथ्यत इति मन्थः,-कर्मणि घञ् । क्तोऽपि क्षुभेः कर्मण्येव, तत्सामानाधिकरण्यात् । क्षुब्धः समुद्रः मथित इति मथ्यमानः संक्षोभं गत इति वार्थः । क्षुब्धा गिरिनदी । मन्थनं वा मन्थः । तस्मिन्नभिधेये क्षुब्धं बल्लवेन । विलोडनं कृतमित्यर्थः । अथवा द्रवद्रव्यसंपृक्ताः सक्तवो रूढ्या मन्थशब्देनोच्यन्ते । तद्द्रव्याभिधाने क्षुब्धशब्दो मन्थपर्यायो भवति । यदा तु क्षोभं प्रवृत्तिनिमित्तीकृत्य मन्थे वर्तते तदा क्षुब्धो मन्थ इति सामानाधिकरण्यम् । संचलितो मन्थ इत्यर्थः ।

मन्थेऽभिधेय इति किम् ? क्षुभितं समुद्रेण । क्षुभितं मन्थेन, क्षुभितः समुद्रो मन्थेन, अन्यस्तु दध्यादिकं येन मथ्यते स मन्थो मन्थानक इत्याह ।

अमृतं नाम यत्सन्तो मन्त्रजिह्वेषु जुह्वति ।

शोभैव मन्दरक्षुब्धक्षुभिताम्भोधिवर्णने । इति विपूर्वात्सौत्राद्रिभेर्विरिब्ध इति भवति स्वरो ध्वनिश्चेत् । रेभेर्वा इत्वस्यापि निपातनात्, विरिभितं, विरेभितमन्यत्,-स्वनेः

स्वान्तमिति मनश्चेत्, मनःपर्याय, स्वान्तशब्दः । विषयेष्वनाकुलं मनः स्वान्तमित्यन्ये, अन्यत्र स्वनितो मृदङ्गः, स्वनितं मनसा घट्टितं स्पृष्टमिति यावत्, ध्वनेः ध्वान्तमिति तमश्चेत्, तमःपर्यायो ध्वान्तशब्दः, अनालोकं गम्भीरं तमो ध्वान्तमित्यन्ये । **अन्यत्र ध्वनितं तमसा । ध्वनितो मृदङ्गः । लगेर्लग्नमिति सक्तं चेत् । लगितमन्यत्, म्लेच्छेर्म्लिष्टमिति अस्पष्टं चेत्,-इत्वमपि निपातनात्, म्लेच्छितमन्यत् फणेः फाण्टमिति अनायाससाध्यं चेत्,-यद-आपतमविष्टमुदकसंपर्कमात्राद्विभक्तरसमौषधं कषायादि तदेवमुच्यते । अग्निना तप्तं यदीषदुष्णं तत्फाण्टमित्यन्ये ।**

अन्ये त्वविद्यमानायासः पुरुषोऽन्यो वा सामान्येन फाण्टशब्देनाभिधीयते । फाण्ट, श्चित्रास्त्रपाणय इत्याहुः,-वाहेर्वाढमिति भृशं चेत्, क्रियाविशेषणमेवैतत् स्वभावात्, वाढविक्रमा इति तु विस्पष्टपटुवत्समासः, वाहितमन्यत्, परिपूर्वस्य वृहेवृंहेर्वा परिवृढ इति प्रभुश्चेत्,-हकारनलोपे ढत्वे च निपातनात् । परिवृढः प्रभुः, परिवृढस्य गतः, पारिवृढी कन्या, अन्यत्र परिवृहितं परिवृंहितम् । **केचित्तु लग्नविरिब्धम्लिष्टफाण्टवाढानि धात्वर्थस्य सक्ताद्यर्थविषयभावमात्रे भवन्तीत्याहुः । तेषां लग्नं सक्तेनेत्याद्यपि भवति । यथा लोम्नि हृष्टमिति ।। ७० ।।**

न्या० स०-क्षुब्धविरिब्ध०-गत इति वाऽर्थ इति-अन्तर्भूतण्यर्थत्वात् गमित इत्यर्थः । **क्षुब्धा गिरिनदीति**-मथिता मथ्यमाना सती क्षोभं गमिता वेत्यर्थः । **मन्थपर्यायो भवतीति**-तृतीयव्याख्याने मन्थस्य कोऽर्थः ? **सक्तोः** क्षुब्ध इति पर्यायः, तुरीये तु मन्थस्य सक्तोर्विशेषणं क्षुब्ध इति ।

क्षुभितं समुद्रेणेति-अत्र मन्थनं वा मन्थ इति द्वितीयमपि व्याख्यानं न घटते, यतस्तत्र मन्थनं विलोडनं, प्रस्तुते तु संचलनमात्रम् । **क्षुभितं मन्थेनेति-अत्र** मन्थशब्देन मन्थानक उच्यते । **ध्वान्तमिति**-ध्वनन्त्यत्राऽपश्यन्तः प्राहरिका इति **'अद्यर्थाच्चाधारे'** ५-१-१२ इति क्तः, ध्वन्यते स्म हेयतयेति कर्मणि वा क्तः । **म्लेच्छितमिति-म्लेच्छत्यव्यक्तं** भवति स्म व्याप्ये वा क्तः, कूटोच्चारितमित्यर्थः । **चित्रास्त्रपाणय इति**-चित्रास्त्राणि पाणिषु येषां 'न सप्तमीन्द्वादिभ्यश्च' ३-१-१६५ इति पाणिशब्दस्य न प्राग् निपातः ।

वाढविक्रमा इति-यद्यऽयं क्रियाविशेषणं तत्कथमऽत्र विक्रमाभिधायी बाढशब्दः ? इत्याशङ्कायामाह-**विस्पष्टपटुवदिति**-यथा तत्र क्रियाविशेषणेन समासस्तथाऽत्रापि बाढशब्देन क्रियाविशेषणेन सः ।

हकार न लोपेति-अत्रापि हलोपनिपाताऽभावे पारिवृढीत्यर्थः । **लोम्नि हृष्टमिति**-यथा लोमविषये हृष्टं निपात्यते प्रयोगश्च लोमभिः हृष्टमिति तथाऽत्रापीत्यर्थः ।

आदितः ।। ४. ४. ७१ ।।

आकारानुबन्धाद्धातोः परयोः क्तयोरादिरिट् न भवति ।

ञिमिदा-मिन्नः, मिन्नवान्, ञिक्ष्विदा-क्ष्विण्णः, क्ष्विण्णवान्, ञिष्विदा-स्विन्नः, स्विन्नवान्, श्विता-श्वित्तः, श्वित्तवान्, आदितां धातूनां भावारम्भे वेट्त्वादन्यत्र 'वेटोऽपतः'

(४-४-६३) इति अनेनैव नित्यमिट्प्रतिषेधे सिद्धे योगविभागो यदुपाधेर्विभाषा तदुपाधेः प्रतिषेध इति न्यायज्ञापनार्थम्, तेन विदक् ज्ञाने विदितः, । विदितवान्, हृषितः, हृषितवान्, तुष्ट इत्यर्थः, इत्यादि सिद्धम् ।। ७१ ।।

न्या० स० आदितः-योगविभाग इति-आदितो नवा भावारम्भे इत्येक एव क्रियतां किं योगविभागेनेति ? तदुपाधेरिति-अयमर्थः 'नवा भावारम्भे' ४-४-७२ इत्यनेन भावारम्भविवक्षायां विभाषा इति यदा कर्म्मणि कर्त्तरि वा विवक्ष्यते क्तस्तदा 'वेटोऽपतः' ४-४-६२ इत्यनेनापि निषेधो न स्यात् इत्यस्य पृथगारम्भः । विदित इति-'गमहनविद्लृ' ४-४-८३ इत्यनेन विद्लृंती इत्यस्यैव वेट्त्वं न विदक् इत्यस्येत्यतो नित्यमिट्, न वाच्यं 'गमहन' ४-४-८३ इत्यत्र विद्लृ इति सानुबन्धोपादानादेव विदकित्यस्य न भविष्यतीति, यतो नाऽनुबन्धकृतानीति न्यायादनुबन्धवशाद् वैरूप्यं नानास्वरत्वं भिन्नवर्णत्वं च न भवतीति ।

नवा भावारम्भे ।। ४. ४. ७२ ।।

आरम्भ आदिक्रिया, आदितो धातोर्भावे आरम्भे च विहितयोः क्तयोरादिरिड् वा न भवति । मिन्नमनेन, मेदितमनेन, प्रमिन्नः, प्रमेदितः, प्रमिन्नवान्, प्रमेदितवान् । आदित इत्येव ? विदितमनेन, प्रविदितः, प्रविदितवान् ।

भावारम्भ इति किम् ? मिन्नः, मिन्नवान् । पूर्वेण नित्यं निषेधे प्राप्ते विकल्पः ।७२।

शकः कर्मणि ।। ४. ४. ७३ ।।

शकेर्धातोः कर्मणि विहितयोः क्तयोरादिरिड् वा न भवति । शक्तः शकितो वा घटः कर्तुं चैत्रेण, कर्मणि क्तवतुर्नास्तीति नोदाह्रियते । कर्मणीति किम् ? शक्तः कटं कर्तुम् चैत्रः ।। ७३ ।।

णौ दान्त-शान्त-पूर्ण-दस्त-स्पष्ट-छन्न-ज्ञप्तम् ।। ४. ४. ७४ ।।

णौ सति दमादीनां क्तान्तानां दान्तादयो वा निपात्यन्ते । दम्,-दान्तः, दमितः, शम्-शान्तः, शमितः, पूरै-पूर्णः, पूरितः, एषु णिलुग् निपात्यते । दास्,-दस्तः, दासितः, स्पश्-स्पष्टः, स्पाशितः, छद्,-छन्नः, छादितः, एषु ह्रस्वश्च । ज्ञा,-ज्ञप्तः, ज्ञापितः, संज्ञपितः, संज्ञप्तः, अत्र क्वचिद्ध्रस्वश्च इडभावः सर्वत्र ।।७४।।

न्या० स०-णौ दान्तशान्त०-स्पष्ट इति-पषी बाधने इत्यऽस्य स्थाने स्पशीति केचित् पठन्ति । स्पशिः सौत्रो वा स्पशन्तं प्रयुङ्क्ते णिग् स्पशिण् ग्रहणे इति चुरादिर्वा । अत्र क्वचिदिति-क्वचिदिति कोऽर्थः ? ज्ञप्त इत्यत्र मारणाद्यर्थानामऽभावेऽपि ह्रस्व इत्यर्थः, अभावश्च तेषां पाक्षिके ज्ञापित इत्यत्र ह्रस्वाऽभावदर्शनान्निश्चीयते ।

श्वस-जप-वम-रुष-त्वर-संघुषास्वनामः ।। ४. ४. ७५ ।।

एभ्यः परयोः क्तयोरादिरिड् वा भवति । श्वस्तः, श्वसितः, प्रश्वस्तः, प्रश्वसितः,

आश्वस्तः, आश्वसितः, आश्वस्तवान्, आश्वसितवान्, विश्वस्तः, विश्वसितः, विश्वस्तवान्, विश्वसितवान्। व्याङ्भ्यामेव केचिद्विकल्पमिच्छन्ति। तन्मते,-श्वसितः, श्वसितवान्, विश्वसितः, विश्वसितवान्, उच्छ्वसितः, उच्छ्वसितवान्।

प्राङ्विभ्यो नित्यमिड्निषेध इत्यन्ये। प्रश्वस्तः, आश्वस्तः, विश्वस्तः। श्वसेः कर्तर्ययं निषेधो भावेऽधिकरणे च नित्यमेवेट्,-श्वसितं, निश्वसितमिति केचित्। जप्,-जप्तः, जप्तवान्, जपितः, जपितवान्, वम्,-वान्तः, वान्तवान्, वमितः, वमितवान्। जपिवम्योर्नित्यमिट्निषेधः जप्तः, जप्तवान्, वान्तः, वान्तवान् इत्यन्ये। रुष्,-रुष्टः, रुष्टवान्, रुषितः, रुषितवान्, वेट्त्वाद्रुषेर्नित्यं प्रतिषेधे प्राप्ते वचनम्। त्वर्,-तूर्णः, तूर्णवान्, त्वरितः, त्वरितवान्, संघुष्-संघुष्टं, संघुषितं वाक्यम्। संघुष्टौ, संघुषितौ दस्यौ, संघुष्टवान् संघुषितवान् वाक्यम्, आस्वन्-आस्वान्तः, आस्वनितश्चैत्रः। संघुषास्वनिभ्यां परत्वात् अयमेव विकल्पः। तेनाविशब्दनेऽपि संघुष्टा रज्जुः। संघुषिता रज्जुः मनस्यपि, आस्वान्तं मनः, आस्वनितं मन इति भवति। अम्,-अभ्यान्तः, अभ्यान्तवान्, अभ्यमितः, अभ्यमितवान् ॥७५॥

न्या० स०-श्वसजप०-अयमेव विकल्प इति-न तु 'घुषेरविशब्दे' ४-४-६८ क्षुब्धविरब्ध' ४-४-७० इत्याभ्यां नित्यं प्रतिषेधः।

हृषेः केशलोमविस्मयप्रतिघाते ॥ ४. ४. ७६ ॥

केशलोमकर्तृका क्रिया केशलोमशब्देनोच्यते। हृषेः केशादिष्वर्थेषु वर्तमानात्परयोः क्तयोरादिरिड्वा न भवति। हृष्टाः केशाः, हृषिताः केशाः, हृष्टं हृषितं केशैः, हृष्टानि हृषितानि लोमानि, हृष्टं हृषितं लोमभिः, हृष्टः हृषितश्चैत्रः। विस्मत इत्यर्थः। हृष्टा हृषिता दन्ताः प्रतिहता इत्यर्थः। केशादिष्विति किम्? हृष्टो मैत्र इत्यलीकार्थस्य हृषितश्चैत्रस्तुष्टयर्थस्य ॥७६॥

न्या० स०-हृषेः-केशलोमविषया उद्धुषणादिका क्रिया केशलोमशब्देनोच्यत इत्याह-केशलोमेति।

अपचितः ॥ ४. ४. ७७ ॥

अपपूर्वस्य चायतेः क्तान्तस्येडभावश्चिरादेशश्च वा निपात्यते। अपचितः, अपचायितः, चिनोतिः पूजार्थो नास्तीति इदं निपातनम् ॥७७॥

सृजिदृशिस्कृस्वरात्वतस्तृजनित्यानिटस्थवः ॥ ४. ४. ७८ ॥

सृजिदृशिभ्यां ससटः कृगः स्वरान्तादकारवतश्च तृचि नित्यानिटो धातोर्विहितस्य थव आदिरिड् वा न भवति।

सृज्,-सस्रष्ठ, ससर्जिथ, दृश्,-दद्रष्ठ, ददर्शिथ, स्कृ,-संचस्कर्थ, संचस्करिथ, स्वरययाथ, ययिथ, विवेथ, विवयिथ, निनेथ, निनयिथ, जुहोथ, जुहविथ, अत्वत्,-शशक्थ,

शेकिथ, पपक्थ, पेचिथ,-इयष्ठ, इयजिथ, जगन्थ, जगमिथ । सृजिदृशिस्कृस्वरात्वत इति किम् ? रराधिथ, बिभेदिथ, चकर्थ । तृजिति किम् ? किति नित्यानिटो माभूत्-लुलविथ ।

नित्येति किम् ? तृचि विकल्पेटो माभूत्-विदुधविथ, ररन्धिथ । अनिट इति किम् ? शिश्रयिथ । थव इति किम् ? पेचिव, पेचिम । विहितविशेषणं किम् ? चकर्षिथ । अदादेशस्य घसेर्वेगादेशस्य च वयेः तृच्यभावान्नित्यमेवेड् भवति जघसिथ, उवयिथ । प्रकृत्यन्तरस्य तु घसेः परोक्षायामपि प्रायिक एव प्रयोगः, स्क्रादिसूत्रेण प्राप्ते विभाषा, स्वरान्तत्वेनैव सिद्धे स्कृग्रहणम् 'ऋतः' (४-४-८०) इति प्रतिषेधबाधनार्थम् ।।७८।।

न्या० स०-सृजिदृशि०-चकर्षिथेति-इह गुणे कृते अत्वान् न प्रथमम् । तृच्यऽभावादिति-घञचलि परोक्षायां च विधानात् घसादेशस्य ।

ऋतः ॥ ४. ४. ७९ ॥

ऋकारान्ताद्धातोस्तृचि नित्यानिटो विहितस्य थव आदिरिट् न भवति, पृथग्योगात् वेति निवृत्तम् । जहर्थ, सस्मर्थ दध्वर्थ । ऋत इति किम् ? बिभेदिथ । तृज्नित्यानिट इत्येव ? सस्वरिथ । अत्रापीड्निषेधमिच्छन्त्येके-सस्वर्थ । जजागरिथेत्यत्र त्वनेकस्वरत्वाच्चेड्निषेधो न भवति । थव इत्येव ? जह्रिव, जह्रिम । पूर्वस्यापवादोऽयम् ।।७९।।

न्या० स०-ऋतः-पृथग्योगादिति-सूत्रारम्भसामर्थ्यादित्यर्थः, अन्यथा स्वरान्तत्वात् पूर्वेणैव सिद्धमिति ।

ऋवृव्येऽद इट् ॥ ४. ४. ८० ॥

अर्तेर्वृगो व्येगोऽदश्च धातोः परस्य थव आदिरिट् भवति, पुनरिट्ग्रहणान्नेति निवृत्तम् । ऋ,-आरिथ, वृग्,-ववरिथ, व्येग्-संविव्ययिथ, अद्-आदिथ । अर्तेः पूर्वेण वृग उत्तरेण प्रतिषेधे व्येऽदोस्तु 'सृजिदृशि'-(४-४-७९)इत्यादिना विकल्पे प्राप्ते वचनम् ।८०।।

न्या० स०-ऋवृव्ये०-वृ इति सामान्योक्तावपि वृगो ग्रहः, वृङस्त्वात्मनेपदित्वेन थवोऽसंभवः, उत्तरसूत्रे तु परोक्षा इति भणनाद् द्वयोरपि ।

स्कृ-सृ-वृ-भृ-स्तु-द्रु-श्रु-स्रोर्व्यञ्जनादेः परोक्षायाः ॥ ४. ४. ८१ ॥

सस्मटः करोतेः सृवृभृस्तुद्रुश्रुस्रुवर्जितेभ्यश्च सर्वधातुभ्यः परस्य व्यञ्जनादेः परोक्षाया आदिरिट् भवति ।

स्कृ-संचस्करिव, संचस्करिम, संचस्करिषे, स्राद्यन्येभ्यः-ददिव, ददिम, ददिषे, चिच्यिवहे, चिच्यिमहे, निन्यिवहे, निन्यिमहे, जुहुविव, जुहुविम, लुलुविढ्वे, लुलुविध्वे, जह्रिव, जह्रिम, तेरिव, तेरिम, शेकिव, शेकिम, पेचिषे, पेचिध्वे, पेचिवहे, पेचिमहे । स्कृ इति ससटा निर्देशः किम् ? केवलस्य माभूत् चकृव, चकृम, चकर्थ, चकृषे । स्रादिवर्जनं किम् ? ससृव, ससृम, ससर्थ, ववृव, ववृम, ववृवहे, ववृमहे, बभृव, बभृम, बभर्थ तुष्टुव, तुष्टुम, तुष्टोथ, दुद्रुव, दुद्रुम, दुद्रोथ, शुश्रुव, शुश्रुम, शुश्रोथ, सुस्रुव, सुस्रुम, सुस्रोथ । स्तुद्रुश्रुस्रूणां 'सृजिदृशि'—(४-४-७९) इत्यादिनापि थवि विकल्पो न भवति । अनेन

प्राप्ते हि स विकल्पः, एषां तु प्रतिषिद्धत्वात्प्राप्तिर्नास्ति । ववृषे इत्यत्र तु 'स्ताद्यशितः'–(४-४-३२) इत्यादिनापि न भवति । ऋवर्णश्र्यूर्णुगः कितः' (४-४-५८) इति प्रतिषेधात् ॥८१॥

घसेकस्वरातः क्वसोः ॥ ४. ४. ८२ ॥

घसेरेकस्वरादादन्ताच्च धातोः परस्य परोक्षायाः क्वसोरादिरिट् भवति । घस्-जक्षिवान्, एकस्वर-आदिवान्, आशिवान् । द्वित्वदीर्घत्वयोः कृतयोरेकस्वरत्वम्-ऊचिवान्, अनूचिवान् । स्वृति दीर्घत्वे चैकस्वरत्वम् । शेकिवान्, पेचिवान्, उपसेदिवान् । इणोऽर्तेश्च द्विर्वचने कृतेऽपि समानदीर्घत्वे अरादेशे च सत्येकस्वरसद्भावेनेटः प्राप्तिसद्भावात् इट् नित्य एवेति पूर्वमेव भवति । तेन ईयिवान्, समीयिवान्, आरिवान् । आत्-पपिवान्, ययिवान्, तस्थिवान्, जग्लिवान् ।

घसेकस्वरात इति किम् ? विभिद्वान्, चिच्छिद्वान्, बभूवान्, उपशुश्रुवान्, नित्यत्वात् द्वित्वे कृतेऽनेकस्वरत्वम् । विहितविशेषणं चेह नाश्रीयते । क्वसोरिति किम् ? बिभिदिव, बिभिदिम । वमयोर्नियमो न भवति । घस्याद्ग्रहणमनेकस्वरार्थम् । इटि हि सत्याकारलोप उपान्त्यलोपश्च भवति । दरिद्रातेस्त्वामा भवितव्यम् । दरिद्रांचकृवान् । पूर्वेणैव सिद्धे नियमार्थं वचनम् । एभ्य एव क्वसोरादिरिट् भवति नान्येभ्य इति ॥८२॥

न्या० स०-घसेकस्वरा०-अरादेशे च सति-इटोनित्यत्वभावनार्थमित्थं प्रक्रिया दर्शिता न त्वेवं रूपसिद्धिर्विधीयते, यतोऽवर्णस्येत्यरं बाधित्वाऽल्पाश्रितत्वेन इवर्णादेरिति रत्वमेव ।

इट् नित्य एवेतीति-द्वित्वमपि कृताऽकृतप्रसङ्गित्वेन नित्यं किं त्विट् परश्चेति तयोः स्पर्द्धः परत्वात्पूर्वमिडेव । ईयिवानिति-ऐत् इयाय अगात् वेयिवदिति साधुः ।

आरिवानिति-आर क्वसुः अनेनेट्, द्वित्वे 'ऋतोऽत्' ४-१-३८, 'अस्यादेशः' ४-१-६८ इत्यात्वम् । एकस्य स्थाने भवन् अल्पाश्रित इत्यवर्णस्येत्यरं बाधित्वा 'इवर्णादेः' १-२-२१ इति रत्वादेश एव । विहितविशेषणमिति-कुतो हेतोः घसग्रहणात्, अन्यथा विहितविशेषणत्वे एकस्वरत्वात् घस इट् सिद्ध एव । दरिद्रांचकृवानिति-'वत्तस्याम्' १-१-३४ इत्यव्ययत्वे 'अव्ययस्य' ३-२-७ इति सेर्लुपि 'तौ मुमः' १-३-१४ इत्यनुस्वारः सिद्धः, अन्यथा 'म्नाम्' १-३-३९ इत्यन्त्य एव स्यात् ।

नियमार्थमिति-विपरीतनियमस्तु न भवति घसादीनामनुस्वारेत्करणात्, तद्धि अनिडर्थं तच्च क्वसोरेवेत्यनेनैव नियमेन सिद्धम् ।

गम-हन-विद्लृ विश-दृशो वा ॥ ४. ४. ८३ ॥

एभ्यः परस्य क्वसोरादिरिट् वा भवति । गम्,–जग्मिवान् । जगन्वान्, हन्-जघ्निवान्, जघन्वान्, विद्लृ –विविदिवान्, विविद्वान्, विश्–विविशिवान्, विविश्वान्, दृश्-ददृशिवान्, ददृश्वान्, लृकारो लाभार्थस्य विदेर्ग्रहणार्थः, तेन ज्ञानार्थस्य विविद्वानित्येव भवति । सत्ताविचारणार्थयोस्त्वात्मनेपदित्वात् क्वसुर्नास्त्येव ॥८३॥

न्या० स०-गमहनविद्लृ०-विदेर्ग्रहणार्थ इति-अथ विद इत्युक्तेऽपि अदाद्यनदाद्योरिति न्यायात् लाभार्थस्यैव ग्रहणं भविष्यति सत्ताविचारार्थयोरनादित्वेऽप्यात्मनेपदित्वात् क्वसोरऽसंभवात्, नैवं,-निरनुबन्धपरिभाषया तौदादिकस्य ग्रहणाऽसंभवादुभे ह्येते वचने परस्परविरोधिनी नैवाऽत्र प्रवर्त्तते, तस्माद्येन प्रकारेण निर्विशङ्क लाभार्थस्य ग्रहणमुपपद्यते स प्रकारो वृत्तौ दर्शित इति। अथ विशिना तौदादिकेन साहचर्याल्लाभार्थस्यैव ग्रहणं भविष्यति किम्लृकारकरणेन ? नैवं, यथा विशिना साहचर्यं तथा हन्तिनापि साहचर्यशङ्का स्यात्तश्चाऽदादेरेव ग्रहः स्यात्।

सिचोऽञ्जेः ॥ ४. ४. ८४ ॥

अञ्जेः परस्य सिच आदिरिड् भवति। आञ्जीत्, आञ्जिष्टाम्, आञ्जिषुः। सिच इति किम् ? अङ्क्ता, अञ्जिता। औदित्त्वाद्विकल्पे प्राप्ते नित्यार्थं वचनम्।।८४।।

धूग्सुस्तोः परस्मै ॥ ४. ४. ८५ ॥

एभ्यः परस्य सिच आदिरिड् भवति। परस्मैपदे परतः। धूग्-अधावीत्, अधाविष्टाम्, अधाविषुः। सु इति सुमात्रस्य ग्रहणम्। असावीत्, असाविष्टाम्, असाविषुः, स्तु-अस्तावीत्, अस्ताविष्टाम्, अस्ताविषुः।

परस्मा इति किम् ? अधोष्ट, अधविष्ट, असोष्ट, अस्तोष्ट, धूगो विकल्पे सुस्तुभ्यां च प्रतिषेधे प्राप्ते वचनम्।।८५।।

न्या० स०-धूग्सुस्तो०-असोष्टेति-सुमात्रस्येत्युक्तेऽपि षुंग् इत्यस्यायं प्रयोगः, सु प्रसवैश्वर्ययोरित्यस्य तु आत्मनेपदं न स्यात् कर्त्तरि, भावकर्म्मणोस्तु संभवेऽपि ञिच् स्यात् ततश्चाऽसावि इति प्रयोगः स्यात्।

यमिरमिनम्यातः सोऽन्तश्च ॥ ४. ४. ८६ ॥

यमिरमिनमिभ्य आदन्तेभ्यश्च धातुभ्यः परस्य परस्मैपदविषयस्य सिच आदिरिड् भवति एषां च सोऽन्तो भवति। अयंसीत्, अयंसिष्टाम्, अयंसिषुः, व्यरंसीत्, व्यरंसिष्टाम्, व्यरंसिषुः, अनंसीत्, अनंसिष्टाम्। अनंसिषुः।

एभ्यो दिस्योः सिच इड्विधे वृद्धिप्रतिषेधः प्रयोजनम्। आदन्त,-अयासीत्, अयासिष्टाम्, अयासिषुः, अग्लासीत्, अग्लासिष्टाम्, अग्लासिषुः, अदरिद्रासीत्, अदरिद्रासिष्टाम्, अदरिद्रासिषुः, आलोपपक्षे,-अदरिद्रीत्, अदरिद्रिष्टाम्, अदरिद्रिषुः। परस्मा इत्येव ? आयंस्त, उपायंस्त, अरंस्त, अनंस्त दण्डः स्वयमेव, अमास्त धान्यं चैत्रः।८६।

न्या० स०-यमिरमि०-सोन्तो भवतीति-अन्तग्रहात् 'षष्ठ्या अन्त्यस्य' ७-४-१०६ इति न प्रवर्त्तते। किञ्चान्तग्रहाभावेऽस्य प्रत्ययत्वं स्यात्ततोऽदरिद्रासीदित्यादौ 'स्ताद्यशितः' ४-४-३२ इत्यनेन सकारस्यादावपीट् स्यात्, दिस्योः परयोः सिचादाविट्विधानस्य किं फलमित्याह-**वृद्धिप्रतिषेध इति**-'व्यञ्जनानामऽनिटि' ४-३-४५ इति प्राप्ताया इत्यर्थः।

आलोपपक्षे इति-'दरिद्रोऽद्यतन्यां वा' ४-३-७६ इत्यनेनाऽद्यतनीविषयेऽपीत्यर्थः ।

ईशीडः सेध्वेस्वध्वमोः ॥ ४. ४. ८७ ॥

आभ्यां परयोर्वर्तमानासेध्वयोः पञ्चमीस्वध्वमोश्चादिरिड् भवति । ईश्,-ईशिषे, ईशिध्वे,-ईशिष्व, ईशिध्वम्, ईड्-ईडिषे, ईडिध्वे, ईडिष्व, ईडिध्वम् । समुदायद्वयापेक्षं द्विवचनम्, तेन स्वसहचरितस्य ध्वमो ग्रहणात् ह्यस्तनीध्वमि न भवति । ईशीडोः ऐड्ढ्वम् । परोक्षासेध्वयोरामा भाव्यमिति वर्तमानासेध्वयोर्ग्रहणम् । वचनभेदो यथासंख्यनिवृत्त्यर्थः ।। ८७ ।।

न्या० स०-ईशीडः-ऐड्ढ्वमिति-ईशीडोर्ह्यस्तनीध्वमि 'यजसृज' २-१-८७ इति षत्वे तवर्गस्य' १-३-६० इति ढत्वे 'तृतीयस्तृतीय०' १-३-४९ इति षस्य डत्वे इति 'स्वरादेस्तासु' ४-४-३१ इति वृद्धिः ।

रुत्पञ्चकाच्छिदयः ॥ ४. ४. ८८ ॥

रुदिस्वपि-अनिश्वसिजक्षिलक्षणाद्रुत्पञ्चकात्परस्य व्यञ्जनादेः शितोऽयकारादेरादिरिड् भवति । रोदिति, रुदितः, स्वपिति, स्वपितः, प्राणिति, प्राणितः, श्वसिति, श्वसितः, जक्षिति, जक्षितः । पञ्चकादिति किम् ? जागर्ति । शिदिति किम् ? स्वप्ता । व्यञ्जनादेरित्येव,-रुदन्ति । अयिति किम् ? रुद्यात्, स्वप्यात् ।। ८८ ।।

दिस्योरीट् ॥ ४. ४. ८९ ॥

रुत्पञ्चकात्परयोर्दिस्योः शितोरादिरीट् भवति । अरोदीत्, अरोदीः, अस्वपीत्, अस्वपीः, प्राणीत्, प्राणीः, अश्वसीत्, अश्वसीः, अजक्षीत्, अजक्षीः । दिस्योरिति किम् ? रोदिति । दिसाहचर्यात्सिह्यस्तन्या एव, तेन रोदिषि ।। ८९ ।।

अदश्चाट् ॥ ४. ४. ९० ॥

अत्ते रुत्पञ्चकाच्चपरयोर्दिस्योः शितोरादिरट् भवति । आदत्, आदः, अरोदत्, अरोदः, अस्वपत्, अस्वपः, प्राणत्, प्राणः, अश्वसत्, अश्वसः, अजक्षत्, अजक्षः । दिस्योरित्येव ? अत्ति, अत्सि, रोदिति, रोदिषि ।। ९० ।।

संपरेः कृगः स्सट् ॥ ४. ४. ९१ ॥

संपरिभ्यां परस्य कृग आदिः स्सट् भवति । संस्करोति कन्याम्, भूषयतीत्यर्थः । संस्कृतं वचनम्, संस्कारो वासना, तत्र नः संस्कृतं समुदितमित्यर्थः । परिष्करोति कन्याम् । परिष्कृतम्, परिष्कारः, तत्र नः परिष्कृतम् । भूषासमवाययोरेवेच्छन्त्येके, तन्मतेऽन्यत्र परिकृतम् । पूर्वं धातुरुपसर्गेण संबध्यते पश्चात्साधनेनेति द्विर्वचनादडागमाच्च पूर्वं स्सडेव भवति ।

संचस्कार, परिचस्कार, समस्करोत्, पर्यस्करोत्, समस्कार्षीत्, पर्यस्कार्षीत्, समचिस्करत्, पर्यचिस्करत्, कथं संकृतिः, गर्गादिपाठात्। संकरः परिकर इति किरतेरला भविष्यति। संकार इत्यत्र किरतिरेव, बहुलाधिकारात् घञ्। स्सडिति द्विसकारनिर्देशात् समचिस्करदित्यादौ षो न भवति। परिष्करोतीत्यादौ तु 'असोङसिवूसहस्सटाम्' (२-३-४८) इत्यादिवचनाद्भवति, टकारः 'स्सटि समः' (१-३-१२) इत्यत्र विशेषणार्थः।९१।

न्या० स०-संपरेः कृगः-संस्करोतीति-कस्यादिरिति व्याख्यानादऽनुस्वारस्यापि व्यञ्जनत्वे 'धुटो धुटि' १-३-४८ इति प्रवर्त्तते इति न्यासः।

उपाद्भूषा-समवाय-प्रतियत्न-विकार-वाक्याध्यारे ॥ ४. ४. ९२ ॥

उपात्परस्य कृगो भूषादिष्वर्थेष्वादिः स्सट् भवति, भूषालंकारः तत्र-कन्यामुपस्करोति भूषयति इत्यर्थः। समवायः समुदायः, तत्र न उपस्कृतं समुदितमित्यर्थः; पुनर्यत्नः प्रतियत्नः, सतोऽर्थस्य संबन्धाय वृद्धये तादवस्थ्याय वा समीहा प्रतियत्नः, एधोदकस्योपस्कुरुते। काण्डगुणस्योपस्कुरुते। तत्र प्रतियतत इत्यर्थः। प्रकृतेरन्यथाभावो विकारः,-तत्र-उपस्कृतं भुङ्क्ते, उपस्कृतं गच्छति, विकृतमित्यर्थः। गम्यमानार्थस्य वाक्यैकदेशस्य स्वरूपेणोपादानं वाक्याध्याहारः, तत्र-उपस्कृतं जल्पति, उपस्कृतमधीते। सोपस्कराणि सूत्राणि सवाक्याध्याहाराणीत्यर्थः। एष्विति किम्? उपकरोति ।।९२।।

न्या० स०-उपाद्भूषा०-सतोऽर्थस्येति-सतोऽसंबद्धस्य सबन्धाय लाभाय लब्धस्य वा वृद्धये आधिक्याय वृद्धस्य वा तादवस्थ्याय सा पूर्वावस्थाऽस्य तदवस्थाऽस्य तदवस्थं वस्तु तस्य भावः। अपायपरिहारेणाऽभिमतावस्थासंरक्षणम्।

उपस्कृतं भुङ्क्ते इति-संसत्कं धान्यं भुङ्क्ते इत्यर्थः। वाक्याध्याहार इति-गम्यमानार्थानि पदानि सुखार्थमुच्चार्यन्ते, यथा 'ज्ञः' ३-३-८२ इति सूत्रे कर्मण्यसति गम्यमानमपि स्वरूपेण उपादीयते, यथा वा 'किरो लवने' ४-४-९३ इति उपादिति स्वरूपेण गृह्यते।

किरो लवने ॥ ४. ४. ९३ ॥

उपात्परस्य किरतेः सडादिर्भवति लवने लवनविषयश्चेत्तदर्थो भवति। उपस्कीर्य मद्रका लुनन्ति, उपस्कारं मद्रका लुनन्ति--विक्षिप्य लुनन्तीत्यर्थः। 'उपात् किरो लवने' (५-४-७२) इति णम्।

लवन इति किम्? उपकिरति पुष्पम् ।। ९३ ।।

न्या स०-किरो लवने-किर इति इर्निर्देशः क्रैयादिकनिवृत्त्यर्थः, न तु इरादेशे सति कार्यार्थस्तेन वाक्येऽपि स्सट् भवति।

प्रतेश्च वधे ॥ ४. ४. ९४ ॥

प्रतेरुपाच्च परस्य किरतेर्वधे हिंसायां विषयेऽभिधेये वा सडादिर्भवति। प्रतिस्कीर्णं ह ते वृषल भूयात्, उपस्कीर्णं ह ते वृषल भूयात्-हिंसानुबन्धी विक्षेपस्ते भूयात् इत्यर्थः।

अभिधेये, उरोविदारं प्रतिचस्करे नखैः। हत इत्यर्थः। वध इति किम्? प्रतिकीर्णं बीजं विक्षिप्तमित्यर्थः। ९४॥

अपाच्चतुष्पात्पक्षिशुनि हृष्टान्नाश्रयार्थे ॥ ४. ४. ९५ ॥

अपात्परस्य किरतेश्चतुष्पदि पक्षिणि शुनि च कर्तरि यथासंख्यं हृष्टेऽन्नार्थिनि आश्रयार्थिनि सति सडादिर्भवति। अपस्किरते वृषभो हृष्टः–हर्षाद्विलिख्य तटं विक्षिपतीत्यर्थः, अपस्किरते कुक्कुटो भक्ष्यार्थी–विलिख्यावस्करं विक्षिपतीत्यर्थः, अपस्किरते श्वाश्रयार्थी–विलिख्य भस्म विक्षिपतीत्यर्थः।

अपादिति किम्? विकिरति वृषभो हृष्टः। एष्विति किम्? अपकिरति बालो धूलिं हृष्टः। हृष्टादिष्विति किम्? अपकिरति हस्ती रजश्चापलेन ॥९५॥

न्या० स०–अपाच्च०–हृष्ट इति–'हृषच् तुष्टौ' हर्षणं क्तिः हृष्टिरस्यास्ति अभ्रादित्वादः, क्तान्तात्तु इट् स्यात्, हृषिमप्यूदितं मन्यते नन्दी हृषूरित्ययमि तुष्ट्यर्थो वाऽनेकार्थत्वात्।

वौ विष्किरो वा ॥ ४. ४. ९६ ॥

वौ पक्षिण्यभिधेये विष्किर इति वा स्सट् निपात्यते। विकिरतीति विष्किरः पक्षिविशेषः, विकिरोऽपि स एव। अन्ये तु पक्षिणोऽन्यत्र विकिरशब्दस्यापि प्रयोगो नास्तीत्याहुः ॥९६॥

प्रात्तुम्पतेर्गवि ॥ ४. ४. ९७ ॥

प्रात्परस्य तुम्प इत्येतस्य धातोर्गवि कर्तरि स्सडादिर्भवति। प्रस्तुम्पति गौः, प्रस्तुम्पति वत्सो मातरम्, प्रस्तुम्पको वत्सः। गवीति किम्? प्रतुम्पति वनस्पतिः। अन्ये तु प्रात्परस्य तुम्पतिशब्दस्य गवि अभिधेये सडादिर्भवति। प्रस्तुम्पतिर्गौः, प्रतुम्पतिरन्यः। तुम्पतिधातोस्तु सट् न भवतीति मन्यन्ते। एके तु प्रात्तुम्पतेः कपीत्यारम्भन्ते। कपि हिंसायां कच्पर्यये वा कपि समासान्त इति च व्याचक्षते, प्रस्तुम्पति वत्सो, मातरम् हिनस्तीत्यर्थः। प्रगतस्तुम्पोऽस्मात्प्रस्तुम्पको देशः ॥९७॥

न्या० स०–प्रात्तुम्पते०–प्रस्तुम्पति वत्स इति,–वत्सोऽपि गौरेव विशेषस्य सामान्यात्मकत्वात्। तुम्पतिशब्दस्येति–तुम्पतेस्तिवन्तस्यैवाऽनुकरणं मन्यते इत्यर्थः। 'इकिश्तिव्' ५-३-१३८ इति तिव्प्रत्ययान्तं वा, ततः प्रकृष्टा स्तुम्पतिर्हिंसा यस्याऽसौ प्रस्तुम्पतिर्गौः।

कपीत्यारम्भन्ते इति–कपेः सौत्रात् कम्पेर्वा कम्पनं 'क्रुत्सम्पद' ५-३-११४ इति क्विप्। 'लङ्गिकम्प्योः' ४-२-४७ इति न लुक्।

उदितः स्वरान्नोऽन्तः ॥ ४. ४. ९८ ॥

उदितो धातोः स्वरात्परो नोऽन्तोऽवयवो भवति । नन्दति, निन्दति, नन्दितः, निन्दितः, कुण्डिता, हुण्डिता । अयं चोपदेशावस्थायामेव भवत्यनैमित्तिकत्वात्, तेन कुण्डा हुण्डेत्यादौ 'क्तेटो गुरोर्व्यञ्जनात्' (५-३-१०६) इत्यप्रत्ययः सिद्धो भवति ।।९८।।

मुचादि-तृफ-दृफ-गुफ-शुभोम्भः शे ।। ४. ४. ९९ ।।

एषां स्वरान्नोऽन्तो भवति शे परे । मुञ्चति, मुञ्चते, सिञ्चति, सिञ्चते, विन्दति, विन्दते, लुम्पति, लुम्पते, लिम्पति, लिम्पते, कृन्तति, खिन्दति, पिंशति, तृफ-तृम्फति, दृफ-दृम्फति, गुफ-गुम्फति, शुभ-शुम्भति, उभ्-उम्भति ।

तृफादयः सनकारा अनकाराश्च तुदादिषु पठ्यन्ते, तत्र तृम्फादीनां शे नस्य लुक् इति तृफादीनां नविधानम् । विधानसामर्थ्यात्त्वस्य लोपो न भवतीति तृफति तृम्फतीत्यादि द्वैरूप्यं सिद्धम् । एषामिति किम् ? तुदति । श इति किम् ? मोक्ता, मोक्तुम् । मुच्लृंती, षिचींत्, विद्लृंती, लुप्लृंती, लिपींत्, कृतैत्, खिदंत्, पिशत्, वृत् इति मुचादिः ।।९९।।

जभः स्वरे ।। ४. ४. १०० ।।

जम्भतेः स्वरादौ प्रत्यये परे नोऽन्तो भवति । जम्भयति, जम्भकः, साधुजम्भी, जम्भंजम्भम्, जम्भो वर्तते । स्वर इति किम् ? जभ्यम्, जंजभ्यि ।।१००।।

न्या० स०-जभः स्वरे-जम्भयतीति-यभंजभ मैथुने जभुङ् जभैङ् जृभुङ् गात्रविनामे, जम्भन्तं जम्भमानं वा प्रयुङ्क्ते णिग् । जंजभ्भीति-ईति जंजभीति न तु नागमः, ❀ आगमशासनमनित्यम् ❀ इति न्यायात् ।

रध इटि तु परोक्षायामेव ।। ४. ४. १०१ ।।

रध्यतेः स्वरात्परः स्वरादौ प्रत्यये परेऽन्तो नो भवति इटि तु इडादौ तु प्रत्यये परोक्षायामेव । रन्धयति, रन्धकः, साधुरन्धी । रन्धंरन्धम् । रन्धो वर्तते । इटि तु परोक्षायाम् । ररन्धिव, ररन्धिम, रेधिवान् । अत्र नस्य लुक् ।

परोक्षायामेवेति किम् ? रधिता, रधिष्यति । एवकारो विपरीतनियमनिरासार्थः, तेनेह नियमो न भवति । ररन्ध । ररन्धतुः । ररन्धुः । स्वर इत्येव । रद्धा ।।१०१।।

न्या० स०-रध इटि तु०-विपरीतनियमनिरासार्थ इति--नियमस्तु पूर्वसूत्रात्स्वराधिकारे यदत्र इट्ग्रहणं करोति तस्मादेव सिद्ध इति ।

रभोऽपरोक्षाशवि ।। ४. ४. १०२ ।।

रभतेः स्वरात्परः परोक्षाशव्वर्जिते स्वरादौ प्रत्यये परे नोऽन्तो भवति । आरम्भयति, आरम्भकः, साध्वारम्भी, आरम्भमारम्भम्, आरम्भो वर्तते । अपरोक्षाशवीति किम् ? आरेभे, आरभते । स्वर इत्येव,-आरब्धा ।।१०२।।

लभः ॥ ४. ४. १०३ ॥

लभतेः स्वरात्परः परोक्षाशव्वर्जिते स्वरादौ प्रत्यये परे नोऽन्तो भवति । लम्भयति, लम्भकः, साधुलम्भी । अपरोक्षाशवीत्येव,-लेभे, लभते । लभेः परस्मैपदस्याप्यभिधानात् लभन्ती स्त्रीति केचित् । स्वर इत्येव,-लब्धा । योगविभाग उत्तरार्थः ॥१०३॥

आङो यि ॥ ४. ४. १०४ ॥

आङः परस्य लभतेः स्वरात्परो यि यकारादौ प्रत्यये नोऽन्तो भवति । आलम्भ्या गौः, आलम्भ्या वडवा । आङ इति किम् ? लभ्यः । योति किम् ? आलब्धा ॥१०४॥

उपात्स्तुतौ ॥ ४. ४. १०५ ॥

उपात्परस्य लभतेः स्वरात्परो यकारादौ प्रत्यये परे स्तुतौ प्रशंसायां गम्यमानायां नोऽन्तो भवति । उपलम्भ्या विद्या भवता, उपलम्भ्यं शीलम् । स्तुताविति किम् ? उपलभ्या वार्ता, उपलभ्यमस्माद्वृषलात् किञ्चित् ॥१०५॥

ञिख्णमोर्वा ॥ ४. ४. १०६ ॥

ञौ ख्णमि च प्रत्यये परे लभतेः स्वरात्परो नोऽन्तो वा भवति । प्रलाभि, प्रलम्भि, लाभंलाभम् , लम्भंलम्भम् ॥१०६॥

उपसर्गात् खल्घञोश्च ॥ ४. ४. १०७ ॥

उपसर्गात्परस्य लभेः स्वरात्परः खल्घञोर्ञिख्णमोश्च परयोर्नोऽन्तो भवति । खल् ईषत्प्रलम्भम् , ईषदुपलम्भम् , दुष्प्रलम्भम् , सुप्रलम्भम् । घञ्,-प्रलम्भः, उपलम्भः, विलम्भः । ञि-प्रालम्भि-ख्णम्-प्रलम्भंप्रलम्भम् । उपसर्गादिति किम् ? ईषल्लभः-लाभो वर्तते । ञिख्णमोर्नित्यार्थमुपसर्गादेव खल्घञोरिति नियमार्थं वचनम् ॥१०७॥

न्या० स०-उपसर्गात् खल्०-उपसर्गनियमस्तु न भवति । 'शप् उपलम्भने' ३-३-३५ इति ज्ञापनात् ।

सुदुर्भ्यः ॥ ४. ४. १०८ ॥

सुदुर्इत्येताभ्यां व्यस्ताभ्यां समस्ताभ्यां चोपसर्गात्पराभ्यां परस्य लभतेः स्वरात्परः खल्घञोः परयोर्नोऽन्तो भवति । खल्-अतिसुलम्भम्, अतिदुर्लम्भम्, घञ्-अतिसुलम्भः, अतिसुदुर्लम्भः । उपसर्गादित्येव,-सुलभम्, दुर्लभम्, सुदुर्लभम्, सुलाभः, दुर्लाभः सुदुर्लाभः । अतिसुलभमतिदुर्लभमित्यतेः पूजातिक्रमयोरनुपसर्गत्वात्, उपसर्गादेव सुदुर्भ्य इति नियमार्थं वचनम् , बहुवचनं व्यस्तसमस्तपरिग्रहार्थम् दुस्संग्रहार्थं च ॥१०८॥

न्या० स०-सुदुर्भ्यः-समस्ताभ्यां चेति-अत्र समस्तग्रहणेन विपर्यस्तावपि गृह्येते, यतः सामस्त्यं हि द्वयोरपि एकस्मिन् प्रयोगे योजनं तच्च क्रमव्युत्क्रमाभ्यां भवति, तेन

दुःसुलाभ इति व्यावृत्त्युदाहरणमुपपन्नम्, यत्र तु साक्षात् विपर्यस्तग्रहस्तत्र सुखार्थं गोबलीवर्दन्यायवत् ।

अतिसुदुर्लम्भ इति-अतिशयेन सुष्ठु दुःखेन लभ्यते, दुःखस्यातिशयाऽतिशयः । **नियमार्थमिति**-पूर्वेणैव सिद्धेऽस्यारम्भादित्यर्थः, विपरीतनियमस्तु न, 'शप उपलम्भने' ३-३-३५ इत्यस्यैव ज्ञापकत्वात् ।

नशो धुटि ॥ ४. ४. १०९ ॥

नश्यतेः स्वरात्परो धुडादौ प्रत्यये परे नोऽन्तो भवति । नंष्टा, नंष्टुम्, नङ्क्ष्यति, निनङ्क्षति । धुटीति किम्? नश्यति, नशिता ॥१०९॥

मस्जेः सः ॥ ४. ४. ११० ॥

मस्जतेः स्वरात्परस्य सकारस्य स्थाने धुडादौ प्रत्यये नोऽन्तो भवति । मङ्क्ता, मङ्क्तुम्, मङ्क्ष्यति, मिमङ्क्षति, ममङ्क्थ, अमाङ्क्षीत् । आदेशकरणं नलोपार्थम् । मग्नः, मग्नवान्, मक्त्वा, तसि-मामक्तः । धुटीति किम्? मज्जनम् ॥११०॥

न्या० स०-मस्जेः सः-न लोपार्थमिति न वाच्यं मङ्क्ता इत्यादिषु स्वरात् परे **विधीयमाने** नागमे **संयोग**मध्यस्थत्वात् **सकारस्य** लोपो न प्राप्तः, यतोऽत्रैको न्सुसंयोगोऽ-**परश्च स्ज्** ततश्च **द्वितीयसंयोगादौ सस्य लुक्** **मग्न** इत्यादौ तु सलुकि **कृते** 'नो व्यञ्ज-नस्य' ४-२-४५ इति उपान्त्यलोपे कर्त्तव्ये **सलुक्** असन् भवति इति नलोपार्थमादेशकरण-मऽभाणि । पाणिनौ तु सात्परो नो विहितः संयोगश्च त्रयाणामपीष्ट इति संयोगादौ सुलुक्, यद्येवं मङ्क्तेत्यादौ संयोगद्वयविवक्षा एवं तर्हि इन्द्रिद्रीयिषतीत्यत्र दस्य द्वित्वं न प्राप्नोति, तत्रापि संयोगद्वयविवक्षायां दस्यादित्वात् । न,-'न बदनम्' ४-१-५ इत्यत्रावधारणत्वात् एवं व्याख्या कार्या, आदिरेव बदनं न द्विरुच्यते, अत्र तु नकारापेक्षया दकारोऽन्तेऽपि, यद्वा **द्वितीयस्याऽवयवस्य** संयोगपूर्वावयवानन्तरस्य ग्रहणात् ।

अः सृजिदृशोऽकिति ॥ ४. ४. १११ ॥

सृजिदृशोः स्वरात्परो धुडादौ प्रत्यये अकारोऽन्तो भवति 'अकिति' किति तु न भवति । स्रष्टा, स्रष्टुम्, स्रष्टव्यम्, अस्राक्षीत् । परत्वादकारागमे सति वृद्धिः । स्रक्ष्यति, द्रष्टा, द्रष्टुम्, द्रष्टव्यम्, अद्राक्षीत्, द्रक्ष्यति, सरिस्रष्टि, सरिस्रष्टः, दरिद्रष्टि, दरिद्रष्टः । ङित्यपि नेच्छन्त्येके ।

धुटीत्येव,-सर्जनम्, दर्शनम् । अकितीति किम्? सृष्टः, दृष्टः, सिसृक्षति, दिदृक्षते । प्रसज्याश्रयणात्प्रतिषेधे धुटीति नाश्रीयते, तेन सिज्लुचो धुडादित्वं प्रति वर्णाश्रय-त्वेन स्थानिवद्भावाभावेऽपि कित्त्वं प्रति स्थानिवद्भावात् किदाश्रयः प्रतिषेधो भवति । असृष्ट, असृष्ठाः, समदृष्ट, समदृष्ठाः । धातोः स्वरूपग्रहणे तत्प्रत्यये विज्ञानात् चेह न भवति । रज्जुसृड्भ्याम्, देवदृग्भ्याम् ॥१११॥

न्या० स०-अः सृजि०-प्रसज्याश्रयणादिति-प्रसज्येति क्त्वान्तं ततः प्रसज्यप्रतिषेधः, तर्हि प्रसज्यः कथम् ? सत्यं,-'ते लुग् वा' ३-२-१०८ इति लोपेऽव्ययसंबन्धित्वाभावात् सेर्लोपाभावे भविष्यति ।

धुटीति नाश्रीयते इति-अयमर्थः अकिति धुडादौ प्रत्यये भवतीति नाश्रीयते इति । तत्प्रत्ययेति-तस्माद् धातोर्धुडादौ प्रत्यये कार्यविज्ञानं, अत्र तु रज्जुसृडिति नाम्नः ।

स्पृशादिसृपो वा ॥ ४. ४. ११२ ॥

स्पृशमृशकृषतृपदृपां सृपश्च स्वरात्परो धुडादौ प्रत्यये परेऽकारोऽन्तो वा भवति अकिति । स्प्रष्टा, स्पर्ष्टा, स्प्रष्टुम्, स्पर्ष्टुम्, स्प्रष्टव्यम्, स्पर्ष्टव्यम्, अस्प्राक्षीत्, अस्पार्क्षीत्, स्प्रक्ष्यति, स्पर्क्ष्यति. एवं म्रष्टा, मर्ष्टा, क्रष्टा, कर्ष्टा, त्रप्ता, तर्प्ता, द्रप्ता, दर्प्ता, स्रप्ता, सर्प्ता । धुटीत्येव ? स्पर्शनम्, मर्शनम् । अकितीत्येव ? स्पृष्टः, पिस्पृक्षति ।।११२।।

ह्रस्वस्य तः पित्कृति ॥ ४. ४. ११३ ॥

धुटीति निवृत्तमसंभवात् अकितीति च 'सोस्तो ङ्वनिपि' इति सूत्राकरणात् । ह्रस्वान्तस्य धातोः पिति कृत्प्रत्यये परे तोऽन्तो भवति । जगत्, अग्निचित्, सोमसुत्, पुण्यकृत्, आगत्य, विजित्य, प्रस्तुत्य, प्रहृत्य । ह्रस्वस्येति किम् ? ग्रामणीः, आलूय ।

पितिति किम् ? चितम्, स्तुतम् । कृतीति किम् ? अजुहवुः । ग्रामणि कुलं वृत्रहकुलमित्यत्र तु 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' इति न भवति । सुग्लः उपशूयेत्यत्रान्तरङ्गत्वाद्विशेषविहितत्वाच्च य्वृद्दीर्घत्वं च भवति ।।११३।।

न्या० स०-ह्रस्वस्यतः- सोस्तो ङ्वनिपीति-ह्रस्वान्तादस्मादेव सुयजोर्ङ्वनिबिति अकित्कृत्संभव इत्यर्थः, यद्वा क्विपः पित्त्वविधानात्, नैयासिकाः कितां कृतां पित्त्वविधानमित्युत्तरं प्राहुः, यदि हि कितीति संबध्येत तदा पित्करणं निरर्थकं स्यादिति ।

जगदिति-'दिद्युत्' ५-२-८३ इति क्रियाशब्दोऽत्र संज्ञाशब्दस्तु 'गमेर्ज्दिद्वे वा' ८८५ (उणादि) इति साधुः । असिद्धं बहिरङ्गमिति-एकत्र क्लीबे ह्रस्वोऽन्यत्र न लोपः ।

अतो म आने ॥ ४. ४. ११४ ॥

धातोर्विहिते आने प्रत्यये परेऽकारस्य मोऽन्तो भवति । पचमानः, पवमानः, कवचमुद्वहमानः, करिष्यमाणः, विद्यमानः । अत इति किम् ? शयानः, भुञ्जानः । आन इति किम् ? पचन् । पुर्वान्तकरणं 'मव्यस्याः' (४-२-११३) इत्याकारनिवृत्त्यर्थम् ।।११४।।

आसीनः ॥ ४. ४. ११५ ॥

आस्तेः परस्यानस्यादेरीकारो निपात्यते । आसीनः, उदासीनः, उपासीनः, अध्यासीनः ।।११५।।

ऋतां क्ङितीर् ॥ ४. ४. ११६ ॥

ॠकारान्तस्य धातोः क्ङिति ङिति च प्रत्यये परे निर्देशात् ॠकारस्यैव स्थाने इरित्ययमादेशो भवति । तीर्णम्, दीर्णम्, आस्तीर्णम्, विशीर्णम्, ङिति-किरति, गिरति । बहुवचनं लाक्षणिकस्यापि परिग्रहार्थम् । चिकीर्षति, जिहीर्षति । क्ङितीति किम् ? तरति ।।११६।।

न्या० स०-ॠतां क्ङितीर्-ॠकारस्यैवेति-न त्वनेकवर्णः सर्वस्येति ।

ओष्ठ्यादुर् ॥ ४. ४. ११७ ॥

धातोरोष्ठ्याद्वर्णात्परस्य ॠकारस्य क्ङिति प्रत्यये परे उरादेशो भवति, इरोऽपवादः । पूर्तः, पूः, पुरौ, पुरः, पोपूर्यते, पोपुरति, वुवूर्षति, बुभूर्षति, मुमूर्षति । दन्त्यौष्ठ्योऽप्योष्ठ्यः, तेन वुवूर्षते प्राववूर्षति । ओष्ठ्यादिति किम् ? तीर्णम् । धातोरिति विशेषणादिह न भवति । समीर्णम्, क्ङितीत्येव ? निपरणम्, निपारकः, प्रावरणम्, प्रावारकः । केचित्तु उपान्त्यस्यापि ऋत उरमिच्छन्ति । पृणमृणोर्यङ्लुप् तस् अहन्पञ्चम'(४-१-१०७) इत्यादिना दीर्घत्वम् । परिपूर्णः, मरिमूर्णः । अविशेषनिर्देशात्तदपि संगृहीतम् ।।११७।।

न्या० स०-ओष्ठ्यादुर्-केचित्तूपान्त्येति-ॠकारावयवयोगाद् धातुरपि ॠकारः, 'विशेषणमन्तः' ७-४-११३ इति न्यायात् ॠकारान्तत्वं सामान्याधिकरण्ये च षष्ठी स्वमते, तन्मते तु धातोः संबन्धिन ॠकारस्य उर् ततो व्यधिकरणे षष्ठीत्युपान्त्यं च सिद्धम् ।

इसासः शासोऽङ्व्यञ्जने ॥ ४. ४. ११८ ॥

शास्तेरवयवस्यासः स्थानेऽङि व्यञ्जनादौ च क्ङिति प्रत्यये परे इसित्ययमादेशो भवति । अङि,-अशिषत्, अन्वशिषत्, क्ङिति व्यञ्जने-शिष्टः, शिष्टवान्, अनुशिष्टः, शिष्ट्वा, अनुशिष्य, शिष्यः, शिष्यते, शेशिष्यते, शिष्टः, शिष्ठः, शिष्यः, शिष्मः शासः शिसित्यकृत्वा आस इस्विधानं यङ्लुपि शाशिष्ट इत्यादिप्रयोगार्थम्, अन्यथा शिष्ट इत्यादि स्यात् । अङ्व्यञ्जन इति किम् ? शशासतुः, शशासुः, शासति । क्ङितीत्येव ? शास्ता, शास्त्रम्, शास्ति ।। ११८ ।।

न्या० स०-इसासः-शिष्ट इत्यादीति-यङ्लुबन्तस्यापि इसादेशः स्यादित्यर्थः ।

क्वौ ॥ ४. ४. ११९ ॥

शासोऽवयवस्यासः स्थाने क्वाविसादेशो भवति । आर्यशीः, मित्रशीः ।।११९।।

न्या० स०-क्वौ-पूर्वेणैव सिद्धे क्वाविति पृथक्करणं क्वौ व्यञ्जनकार्योऽनित्यत्वज्ञापनार्थं, तेनाऽव्ययिति सिद्धं, न च वाच्यं णिलुकः स्थानित्वं 'न सधि' १-३-५२ इत्यस्य अवस्थानात् ।

आङः ॥ ४. ४. १२० ॥

आङः परस्य शासोऽवयवस्यासः स्थाने क्वावेवेसादेशो भवति । आशीः, आशिषौ,

आशिषः, पूर्वेण सिद्धे नियमार्थो योगः । तेनेह न भवति-आयुराशास्ते, आशास्वहे । आशास्महे ।।१२०।।

न्या० स०-आङः-क्वावेवेति-आङ एव क्वाविति प्रत्ययनियमस्तु न, पूर्वेणैकयोगाऽकरणात्, क्वौ व्यञ्जनकार्यमनित्यं च, तेन गिरौ गिर इत्यत्र व्यञ्जनाश्रितं न दीर्घत्वं राजनतीत्यादौ न लोपाभावश्च सिद्धः ।

य्वोः प्वय्व्यञ्जने लुक् ॥ ४. ४. १२१ ॥

पौ यकाररहितव्यञ्जनादौ च प्रत्यये यकारवकारयोर्लुग् भवति । पुग्रहणमप्रत्ययार्थम् । पौ-क्नोपयति, क्ष्मापयति, अय्व्यञ्जने-क्नूतम्, क्ष्मातम्, ऊतम्, देदिवः शेश्रिवः, अजेजीव, दिदिवान्, दिदिवांसौ, दिदिवांसः, कण्डूमिच्छतीति कण्डूयतेः क्विप् । कण्डूः । कण्डुवौ । कण्डुवः, लोलूः, बोभूः । लून्युः, पून्वुः, विचि तेवृङ्देवृङोः सुतेः, सुदेः ।

कथं वृक्षवयतीति वृक्षव्, णिलुकः स्थानिवत्त्वात् भविष्यति । यवर्जनं किम् ? क्नूय्यते, सेव्यते । व्यञ्जन इति किम् ? क्नूयिता, देविता । प्रत्ययाप्रत्यययोः प्रत्ययस्यैव ग्रहणात् धात्ववयवे न भवति, व्रश्चकः ।।१२१।।

कृतः कीर्तिः ॥ ४. ४. १२२ ॥

कृतण् इत्येतस्य कीर्त् इत्ययमादेशो भवति । कीर्तयति, कीर्तयतः, कीर्तयन्ति, कीर्त्तिः । कॄत ऋदुपदेशोऽचीकृतदित्यत्र ऋकारश्रवणार्थः । इकारान्तनिर्देशो मङ्गलार्थः ।।१२२।।

इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्रविरचितायां सिद्धहेमचन्द्राभिधानस्वोपज्ञशब्दानुशासनवृत्तौ चतुर्थः पादः ।।४।। इति चतुर्थोध्यायः ।

दुर्योधनोर्वीपतिजैत्रबाहु,-गृहीतचेदीशकरोऽवतीर्णः ।
अनुग्रहीतुं पुनरिन्दुवंशं श्रीभीमदेवः किल भीम एव ॥

न्या० स०-कृतः कीर्त्तिः ऋदुपदेश इति-अयमर्थः धातुपाठे कीर्त्तणिति पठ्यतां किमननेत्याह-ऋकार श्रवणार्थ इति-यतः 'ऋद्वर्णस्य' ४-२-३७ इत्यत्र वर्णग्रहणसामर्थ्यात् कीर्त्यादेशो बाध्यते । ननु कॄतणित्यत्र ऋकारमपनीय ऋकार इति क्रियताम्, एवं च ऋवर्णस्येत्यत्रापि वर्णग्रहणं न कार्यं भवेत् ? सत्यं, कृत इति निर्देशे कृते तु कृतैत् वा गृह्यते इति संदेहः स्यात् ।

इत्याचार्य० चतुर्थोऽध्यायः । गृहीतचेदीशकर-इति पाण्डवभीमपक्षे चेदीशो दुःशासनस्तद्धस्तो हि भीमेन कृत्तः, द्वितीयपक्षे तु चेदीशो डाहालीयः कर्णः स गृहीतकरो गृहीतराजदेयभागः, तस्माद्धि मालवेशे सुवर्णमंडविकां भीमदेव आनिनाय ।

———

। अथ पञ्चमोऽध्यायः प्रथमपादः ।

आ तुमोऽत्यादिः कृत् ॥ ५. १. १ ॥

धातोर्विधीयमानस्त्यादिवर्जितो वक्ष्यमाणः प्रत्ययस्तुममभिव्याप्य कृत्संज्ञो भवति। घनघात्यः, उदकेविशीर्णम्, गोदायो व्रजति। अत्यादिरिति किम्? अणिस्ते। कृत्प्रदेशाः—"तिक्-कृतौ नाम्नि" (५-१-७१) इत्येवमादयः ॥१॥

न्या० स०–अर्हं आ तुमोऽत्यादिः कृत्–घनघात्य इति–अत्र कृत्संज्ञायां 'कारकं कृता' ३–१–६८ इति समासः। उदकेविशीर्णमिति–अत्र 'क्तेन' ३–१–९२ इति समासः, 'तत्पुरुषे कृति' ३–२–२० इत्यलुप्। गोदाय इत्यत्र तु 'ङस्युक्तं कृता' ३–१–४९ इति सः।

बहुलम् ॥ ५. १. २ ॥

अधिकारोऽयम्। कृत्प्रत्ययो यथा निर्दिष्टादर्थादेरन्यत्रापि बहुलं भवति। पादाभ्यां ह्रियते–पादहारकः, गले चोप्यत इति–गलेचोपकः, मुह्यत्यनेनाऽऽत्मेति–मोहनीयं कर्म, स्नाति तेनेति–स्नानीयं चूर्णम्, एवंयानीयोऽश्वः। दीयते तस्मै इति–दानीयोऽतिथिः, संप्रदीयतेऽस्मा इति–संप्रदानम्, एवं–स्पृहणीया विभूतिः। समावर्तते तस्मादिति–समावर्तनीयो गुरुः, एवमुद्वेजनीयः खलः। तिष्ठन्त्यस्मिन्निति–स्थानीयं नगरम्, एवं–शयनीयः पल्यङ्कः ॥ २ ॥

न्या० स०–बहुलम्–अर्थादेरिति–आदिपदादुपपदधातू गृह्येते। स्पृहणीया विभूतिरिति–स्पृह्यतेऽस्यै स्पृहणीया विभूतिः कर्मतापन्ना स्पृह्यत इत्यर्थः, व्याप्यस्य 'स्पृहेर्व्याप्यं' २–२–२६ इति वा संप्रदान संज्ञा।

कर्तरि ॥ ५. १. ३ ॥

कृत्प्रत्ययोऽर्थविशेषनिर्देशमन्तरेण कर्तरि भवति। कारकः, कर्ता, पचः, नन्दनः ।३।

व्याप्ये घुर-केलिम-कृष्टपच्यम् ॥ ५. १. ४ ॥

'घुर केलिम' इत्येतौ प्रत्ययौ कृष्टपच्यशब्दश्च व्याप्ये कर्तरि भवतीति वेदितव्यम्। घुरो वक्ष्यते। केलिमोऽत एव वचनाद् ज्ञायते, कृष्टपच्ये यश्च। भज्यते स्वयमेव–भङ्गुरं काष्ठम्, एवं–भिदुरः कुशूलः, छिदुरा रज्जुः। भास-मिदि-विदां कर्तर्येव घुरः कर्मकर्तुरसंभवात्, भासते इत्येवंशीलो–भासुरः, एवंमेदुरः, विदुरः। केचिच्छिदि-भिदोरपि कर्तरि घुरमिच्छन्ति–"दोषान्धकारभिदुरो" इत्तारिवक्षश्छिदुरः इति। पच्यन्ते स्वयमेव–पचेलिमा माषाः, एवं–भिदेलिमास्तण्डुलाः। कृष्टे पच्यन्ते स्वयमेव–कृष्टपच्याः शालयः ॥४॥

न्या० स०–व्याप्ये घुर०–केलिमोऽत एव वचनादिति–'विहाविसापचिभिद्यादेः केलिमः' ३५४ (उणादि) इति औणादिको नियतधातुविषयोऽयं तु सर्वविषय इत्याह।

संगतेऽजर्यम् ॥ ५. १. ५ ॥

संगमनं संगतम्, तस्मिन् कर्तर्यभिधेये नञ्पूर्वाज्जीर्यतेर्यप्रत्ययो निपात्यते । न जीर्यतीति-अजर्यमार्यसंगतम्, "मृगैरजर्यं जरसोपदिष्टम्" (रघु० स० १८, श्लो०-७) । सामान्यविशेषभावेन चोभयोरपि प्रयोगो भवति-"तेन संगतमार्येण रामाजर्यं कुरु व्रतम्" "अजर्यं संगतं नोऽस्तु" । संगत इति किम् ? अजरः पटः, अजरिता कम्बलः । कर्तरीत्येव-अजार्यं संगतेन ॥५॥

न्या० स०-संगतेऽज०-क्रैयादिकस्य जॄशो निपातनं न दृष्टमित्याह- जीर्यतीति ।

रुच्या-ऽव्यथ्य-वास्तव्यम् ॥ ५. १. ६ ॥

एते कर्तरि निपात्यन्ते । रोचतेर्नञ्पूर्वात् व्यथतेश्च क्यप् प्रत्ययो, वसतेस्तु तव्यण् निपात्यते । रोचते इति-रुच्यो मोदको मैत्राय । न व्यथते इत्यव्यथ्यो मुनिः । वसतीति-वास्तव्यः ॥६॥

भव्य-गेय-जन्य-रम्या-ऽऽपात्या-ऽऽप्लाव्यं नवा ॥ ५. १. ७ ॥

एते कर्तरि वा निपात्यन्ते । भावकर्मणोः प्राप्तयोः पक्षे कर्तरि विधानार्थमिदम् । भूगायति-रमयतिभ्यो यो यः प्रत्ययो यश्च जनेराङ्पूर्वाभ्यां च पति-प्लुभ्यां घ्यण् स कर्तरि वा निपात्यते । भवत्यसाविति-भव्यः, पक्षे-भव्यमनेन । गायतीति-गेयो माणवकः साम्नाम्, गेयानि माणवकेन सामानि । जायतेऽसाविति-जन्यः, जन्यमनेन । रमयत्यसौ-रम्यः, रम्यते-रम्यः । आपतत्यसौ-आपात्यः, आपात्यमनेन । आप्लवतेऽसौ-आप्लाव्यः, आप्लाव्यमनेन ॥७॥

प्रवचनीयादयः ॥ ५. १. ८ ॥

प्रवचनीयादयः कर्तर्यनीयप्रत्ययान्ता वा निपात्यन्ते । प्रवक्ति प्रब्रूते वा-प्रवचनीयो गुरुः शासनस्य, प्रवचनीयं गुरुणा शासनम् । उपतिष्ठत इति-उपस्थानीयः शिष्यो गुरोः, उपस्थानीयः, शिष्येण गुरुः । एवं रमयतीति-रमणीयो देशः । मदयतीति-मदनीया योषित् । दीपयतीति-दीपनीयं चूर्णम् । मोहयतीति-मोहनीयं कर्म । ज्ञानमावृणोतीति-ज्ञानावरणीयम् । एवं दर्शनावरणीयम् ॥८॥

श्लिष-शीङ्-स्था-ऽऽस-वस-जन-रुह-जॄ-भजेः क्तः ॥ ५. १. ९ ॥

एभ्यः क्तप्रत्ययो यो विहितः स कर्तरि वा भवति । श्लिष्-आश्लिष्टः कान्तां कामुकः, आश्लिष्टा कान्ता कामुकेन, आश्लिष्टं कामुकेन । शीङ्अतिशयितो गुरुं शिष्यः, अतिशयितो गुरुः शिष्येण, अतिशयितं शिष्येण । स्था-उपस्थितो गुरुं शिष्यः, उपस्थितो गुरुः शिष्येण, उपस्थितं शिष्येण । आस्-उपासितो गुरुं शिष्यः, उपासितो गुरुः शिष्येण, उपासितं शिष्येण । वस्-अनूषितो गुरुं भवान्, अनूषितो गुरुर्भवता, अनूषितं भवता ।

जन् अनुजातो माणवको माणविकाम्, अनुजाता माणविका माणवकेन, अनुजातं माणवकेन; विजाता वत्सं गौः, विजातो वत्सो गवा, विजातं गवा। रुह्-आरूढो वृक्षं भवान्, आरूढो वृक्षो भवता, आरूढं भवता। जॄ-अनुजीर्णो वृषलीं चैत्रः, अनुप्राप्य जीर्ण इत्यर्थः, अनुजीर्णा वृषली चैत्रेण, अनुजीर्णं चैत्रेण। भज्-विभक्ता भ्रातरो रिक्थम्, विभक्तं भ्रातृभी रिक्थम्, विभक्तं भ्रातृभिः।

अकर्मका अपि हि धावत उपसर्गसम्बन्धात् सकर्मका भवन्तीति शीङादिग्रहणम्, अन्यथाऽकर्मकत्वादुत्तरेणैव सिद्धम्। श्लिष-भजी केवलावपि सकर्मकौ ॥९॥

न्या० स०-श्लिषशीङ्-अनुपूर्वो जॄ प्राप्त्युपसर्जने जरणे वर्तते, जनिस्तु जननोपसर्जनायां प्राप्ताविति भेदः।

आरम्भे ॥ ५. १. १० ॥

आरम्भे-आदिकर्मणि भूतादित्वेन विवक्षिते वर्त्तमानाद् धातोर्यः क्तो विहितः स कर्तरि वा स्यात्।

प्रकृतः कटं भवान्, प्रकृतः कटो भवता, प्रकृतं भवता। प्रभुक्त ओदनं चैत्रः, प्रभुक्त ओदनश्चैत्रेण, प्रभुक्तं चैत्रेण ॥१०॥

न्या० स०-आरम्भे-भूतादित्वेन विवक्षते इति—आदिशब्दाद् वर्त्तमानत्वभविष्यत्वयोरपि परिग्रहः, यथा ज्ञातुमारभते प्रज्ञातः,कषितुं प्रारप्स्यते प्रकष्टः।

गत्यर्था-ऽकर्मक-पिब-भुजेः ॥ ५. १. ११ ॥

भूतादौ यः क्तो विहितः स गत्यर्थेभ्योऽकर्मकेभ्यश्च धातुभ्यः पिब-भुजिभ्यां च कर्तरि वा भवति।

गत्यर्थ-गतो मैत्रो ग्रामम्, गतो मैत्रेण ग्रामः, गतं मैत्रेण; यातास्ते ग्रामम्, यातस्तैर्ग्रामः, यातं तैः। अकर्मक-आसितो भवान्, शयितो भवान्, आसितं भवता, शयितं भवता। सकर्मका अप्यविवक्षितकर्माणोऽकर्मकाः, तेन पठितो भवान्, एवं-प्रख्यातः, विदितः। अविवक्षितकर्मभ्यो नेच्छन्त्येके, तन्मते- कृतो देवदत्तः हृतो देवदत्तः' इत्यादि कर्तरि न भवति। काल-भावा-ऽध्वभिश्च कर्मभिः सकर्मका अप्यकर्मका उक्ताः, तेन त्रैरूप्यं भवति—सुप्तो भवान् मासम्, सुप्तो भवता मासः, सुप्तं भवता मासम्; एवम्—'ओदनपाकं सुप्तो भवान्' इत्यादि। पिब-पयः पीता गावः, इदं गोभिः पीतम्, इह गोभिः पीतम्। भुजि-अन्नं भुक्तास्ते, इदं तैर्भुक्तम्, इह तैर्भुक्तम् ॥११॥

न्या० स०-गत्यर्थाक०—कालभावाऽध्वभिश्चेति-उपलक्षणत्वाद्देश इत्यपि ज्ञेयं, तेन सुप्तो भवान् कुरूनित्यादि द्रष्टव्यम्। तेन त्रैरूप्यं भवतीति-'कालाध्व' २-२-४२ इत्यादिना युगपत्सकर्मकत्वमकर्मकत्वं चोक्तं, तेनाकर्मकत्वात् कर्त्तरि भावे च सकर्मकात् कर्मणि प्रयोग इति त्रैरूप्यम्। सुप्तो भवान्मासमिति-अत्र यावता कर्मसंज्ञा तावता कर्मणि द्वितीया, यावता त्वऽकर्मसंज्ञा तावता कर्त्तरि क्तः।

अद्यर्थाच्चाधारे ॥ ५. १. १२ ॥

अद्यर्थात्-आहारार्थात् धातोर्गत्यर्थाऽकर्मक-पिब भुजेश्च यः क्तः स आधारे वा भवति। इदमेषां जग्धम्, इदं तैर्जग्धम्, इह तैर्जग्धम्। इदमेषामभ्यवहृतम्, इदं तैरभ्यवहृतम्, इह तैरभ्यवहृतम्। इदं तेषामशितम्, इदं तैरशितम् इह तैरशितम्। आरम्भे तु कर्तर्यपि भवति—इह ते अन्नं प्राशिताः, इह ते मधु प्रलीढाः। गत्यर्थादिभ्यः खल्वपि—इदं तेषां यातम्, इदमहेः सृप्तम्, इदमेषामासितम्, इदमेषां शयितम्; इदं गवां पीतम्; इदं तेषां भुक्तम्। पक्षे कर्तृकर्म-भावेषु पूर्वाण्येवोदाहरणानि ॥१२॥

न्या० स०-अद्यर्थाच्चा०-नन्विदं तैर्जग्धमित्यादौ आधाराऽभावात्कर्मणि स्वयमेव क्तो भविष्यति किं विकल्पेनेति ? न, तक्रकौण्डिन्यन्यायेनाधार एव एभ्यः क्तः स्यात् यथा 'गत्यर्थात् कुटिले' ३-४-११ इत्यत्र यङ्।

पूर्वाण्येवोदाहरणानीति-'गत्यर्थाऽकर्मक' ५-२-११ इति सूत्रे दर्शितानि।

क्त्वा-तुमम् भावे ॥ ५. १. १३ ॥

वेति निवृत्तम्, 'क्त्वा तुम् अम्' इत्येते प्रत्यया भावे धात्वर्थमात्रे वेदितव्याः। कृत्वा व्रजति, कर्तुं व्रजति, कारं कारं व्रजति, चौरंकारमाक्रोशति, अतिथिवेदं भोजयति ॥१३॥

न्या० स०-क्त्वातुम०-वेति निवृत्तमिति-कारकनिवृत्तेः।

भीमादयोऽपादाने ॥ ५. १. १४ ॥

भीमादयः शब्दा अपादाने साधवो भवन्ति। बिभ्यत्यस्मादिति—भीमः। एवं-भीष्मः, भयानकः, चरुः, समुद्रः, स्रुवः, स्रुक्, रक्षः, संकसुकः, खलतिः। उणादिप्रत्ययान्ता एते "संप्रदानाच्चान्यत्रोणादयः (५-१-१५) इति निषेधेनाप्राप्ता निपात्यन्ते ॥१४॥

संप्रदानाच्चान्यत्रोणादयः ॥ ५. १. १५ ॥

संप्रदानादपादानाच्चान्यत्र कारके भावे चोणादयः प्रत्यया भवन्ति। कृत्वात् कर्तर्येव प्राप्ताः कर्मादिष्वपि कथ्यन्ते। करोतीति—कारुः, वातीति - वायुः, कषितोऽसाविति कर्मणि—कषिः, तन्यतेऽसाविति- तनुः, ऋचन्ति तयेति—ऋक्, वृत्तं तत्रेति—वर्त्म, चरितं तत्रेति—चर्म ॥१५॥

असरूपोऽपवादे वोत्सर्गः प्राक् क्तेः ॥ ५. १. १६ ॥

इतः सूत्रादारभ्य "स्त्रियां क्तिः" (५-३-९१) इत्यतः प्राक् योऽपवादस्तद्विषयेऽपवादेनासमानरूप उत्सर्ग औत्सर्गिकः प्रत्ययो वा भवति। अवश्यलाव्यम्, अवश्यलवितव्यम्, अवश्यलवनीयम्। ज्ञः, ज्ञाता, ज्ञायकः। नन्दनः, नन्दकः, नन्दयिता।

असरूप इति किम् ? घ्यणि यो न स्यात्-कार्यम्, डविषयेऽण् न स्यात्-गोदः। 'अनु-

बन्धोऽप्रयोगी' इति सारूप्यमेव । प्राक् क्तेरिति किम् ? कृतिः, चितिः, रक्षितम्, रक्षणम् । घञादिर्न भवति; चिकीर्षा, जिहीर्षा, क्तिर्न भवति; ईषत्पानः, सुपानः, दुष्पानः, खल् न भवति । अपवादत्यादिविषये तु असरूपोऽप्युत्सर्गत्यादिर्न प्रवर्तते इति "श्रु-सद०" (५-२-१) इत्यादिसूत्रे वाग्रहणेन ज्ञापयिष्यते ।।१६।।

न्या० स०-असरूपोप०-अपोद्यते हेठ्यते उत्सर्गोऽनेनेति व्यञ्जनाद् घञ् । **उत्सर्ग इति**-उत्क्रम्याऽपवादं सृज्यते विधीयत इति घञ् । नन्वत्र वा ग्रहणं किमर्थं यतोऽपवादो विशेषविधानादुत्सर्गस्तु पक्षे अस्माद् वचनाद् भविष्यति ? सत्यं,-वा ग्रहणाऽभावे सर्वोऽप्युत्सर्गोऽपवादे एव प्रवर्त्तते ततः कर्त्तेत्यादौ अपवादविषयाभावात् तृजादिर्न स्यात् । ज्ञातेत्यादौ त्वपवादस्य कस्य दर्शनात् स्यात् ? **औत्सर्गिक इति**-उत्सर्जनमिति यदा भावे घञ् तदा प्रयोजनार्थे इकण्, यदा तु कर्म्मणि घञ् तदा विनयादिभ्यः स्वार्थिक इकण् । **अपवादत्यादिविषये त्विति**-अत्र सूत्रे कृद्विशेषाऽनभिधानात्त्यादिरपि प्राप्नोति । **वाग्रहणेनेति**-यद्येनापवादत्यादिविषयेऽसरूप उत्सर्गस्त्यादिः स्यात् तदा किं तत्र वाकरणेनेत्यर्थः ?

ऋवर्ण-व्यञ्जनाद् घ्यण् ॥ ५. १. १७ ॥

ऋवर्णान्ताद् व्यञ्जनान्ताच्च धातोर्घ्यण् प्रत्ययो भवति । कार्यम्, हार्यम्; पाक्यम्, वाक्यम् । णकारो वृद्ध्यर्थः । घकारः "क्तेऽनिटः०" (४-१-१११) इत्यत्र विशेषणार्थः ।।१७।।

पाणि-समवाभ्यां सृजः ॥ ५. १. १८ ॥

पाणिपूर्वात् समवपूर्वाच्च सृजेर्घ्यण प्रत्ययो भवति । ऋदुपान्त्यक्यपोऽपवादः । पाणिभ्यां सृज्यते-पाणिसर्ग्या रज्जुः, समवसृज्यते इति-समवसर्ग्यः । पाणि-समवाभ्यामिति किम् ? सृज्यम्, संसृज्यम् । 'समव' इति समुदायपरिग्रहार्थं द्विवचनम् ।।१८।।

न्या० स०-पाणिसम०-क्यपोपवाद इति-पूर्वेण सिद्धे किमर्थमस्यारम्भ इत्याशङ्का ।

उवर्णादावश्यके ॥ ५. १. १९ ॥

अवश्यस्य भावोऽवश्यं भाव इति वा अकञि—आवश्यकम्, तस्मिन् द्योत्ये उवर्णान्ताद् धातोर्घ्यण् भवति । लाव्यम्, पाव्यम्, यन्नियोगात् कर्तव्यमर्थप्रकरणादिना निश्चितं तत्रायं प्रत्ययः । लाव्यमवश्यम्, पाव्यमवश्यम्, अवश्यलाव्यम्, अवश्यपाव्यम्, अत्रावश्यंशब्देनापि अवश्यं भावो द्योत्यते, मयूरव्यंसकादित्वाच्च समासः । अवश्यस्तुत्य इति परत्वात् क्यप् । आवश्यक इति किम् ? लव्यम्, पव्यम् ।।१९।।

न्या० स०-उवर्णादा०-अर्थप्रकरणादिनेति-अवश्यमादिशब्दमन्तरेणेत्यर्थ । **अवश्यंभावो द्योत्यते इति**-यथा व्यतिलुनते इत्यादौ आत्मनेपदेनापि क्रियाव्यतिहारे व्यतिशब्दप्रयोगः तथाऽत्रापि घ्यणा द्योतितेऽप्यवश्यंभावेऽवश्यंशब्दप्रयोगः ।

आसु-यु-वपि-रपि-लपि-त्रपि-डिपि-दभि-चम्यानमः ॥ ५. १. २० ॥

आङ्पूर्वाभ्यां सुनोति-नमिभ्यां यौत्यादिभ्यश्च धातुभ्यो घ्यण् भवति, यापवादः। याव्यम्, वाप्यम्, राप्यम्, लाप्यम्, अभिलाप्यम्, अपत्राप्यम्, डेप्यम्। दभिः सौत्रो बन्धने वर्तते, दाभ्यम्, अवदाभ्यम्, आचाम्यम्, आनाम्यम्, नमिरन्तर्भूतण्यर्थः सकर्मकः, अकर्मका अपि हि धातवो ण्यर्थे वर्तमानाः सकर्मका भवन्ति, यथानेमि नमन्ति।

डिपेः कुटादित्वाद् ये गुणो न लभ्यत इति घ्यण् विधीयते। आनमेर्नेच्छन्त्येके ॥२०॥

न्या० स०-आसुयु०-दभिः सौत्र इति-दम्भेस्तु दम्भ्यमिति। आचाम्यमिति-केवलस्य 'मोऽकमि' ४-३-५५ इति वृद्धिप्रतिषेधे घ्यणि ये वा न विशेष इति सोपसर्गस्योदाहरणं, ननु डिपेः 'शकितकि' ५-१-२९ इति यप्रत्ययेऽपि डेप्यमिति भविष्यति किमत्र ग्रहणेन ? इत्याह-डिपेः कुटादीत्यादि।

वाऽऽधारेऽमावस्या ॥ ५. १. २१ ॥

अमापूर्वाद् वसतेराधारे घ्यण प्रत्ययो धातोः पक्षे ह्रस्वश्च निपात्यते। अमाशब्दः सहार्थः, सह वसतोऽस्यां सूर्या-चन्द्रमसाविति-अमावस्या अमावास्या वा रूढ्या तिथिविशेषः। पक्षे यमकृत्वा ह्रस्वनिपातनम् "अश्चामावास्यायाः" (६-३-१०३) इत्यत्रैकेदशविकृतस्यानन्यत्वादमावास्याशब्देन अमावस्याशब्दस्यापि ग्रहणार्थम् ॥२१॥

न्या० स०-वाधारेऽमा-पक्षे यमकृत्वेति-वाधारेमावसो य इति क्रियतां घ्यण् तु वाग्रहणादाधारेऽपि भविष्यतीति भावः। अमावस्याशब्दस्यापीति-अन्यथा यघ्यणन्तयोरऽत्यन्तभेदात् यान्तस्य ग्रहणं न स्यात्।

संचाय्य-कुण्डपाय्य-राजसूयं क्रतौ ॥ ५. १. २२ ॥

एते क्रतावभिधेये घ्यणन्ता निपात्यन्ते, आधारे कर्मणि वा, निपातनादेवायादेशदीर्घत्वे अपि भवतः।

संचीयते सोमोऽस्मिन् संचीयते वाऽसाविति-संचाय्यः क्रतुः, संचेयोऽन्यः। कुण्डैः पीयते सोमोऽस्मिन् कुण्डैः पीयते इति वा-कुण्डपाय्यः क्रतुः, ससोमको हि यागः क्रतुः, कुण्डपानोऽन्यः। राजा सूयतेऽस्मिन् राजा वा सोतव्य इति- राजसूयः क्रतुः ॥२२॥

प्रणाय्यो निष्कामा-ऽसम्मते ॥ ५. १. २३ ॥

प्रपूर्वान्नयतेर्घ्यण् आयादेशश्च निपात्यते, निष्कामेऽसंमते वाऽभिधेये। प्रणाय्योऽन्तेवासी विषयेष्वनभिलाष इत्यर्थः, प्रणाय्यश्चौरः, सर्वलोकासम्मत इत्यर्थः, प्रणेयोऽन्यः ॥२३॥

धाय्या-पाय्य-सान्नाय्य-निकाय्यमृङ्-मान-हवि-र्निवासे ॥ ५. १. २४ ॥

धाय्यादयः शब्दा ऋगादिष्वर्थेषु यथासंख्यं घ्यणन्ता निपात्यन्ते, निपातनादेव च सर्वत्रायादेशः।

दधातेर्ऋचि-धीयते समिदग्नावनयेति-धाय्या ऋक्, रूढिशब्दत्वात् काश्चिदेव

ऋच उच्यन्ते; अन्यत्र धेया । मीयते येन तन्मानम्, तत्र माङ आदिपत्वं च, मीयते तेनेति-पाय्यं मानम्, मेयमन्यत् । संपूर्वान्नयतेर्हविषि समो दीर्घत्वं च, सान्नाय्यं हविः, अयमपि रूढिशब्दत्वाद्धविर्विशेषेऽवतिष्ठते, संनेयमन्यत् । निपूर्वाच्चिनोतेर्निवासे आदिकत्वं च । निकाय्यो निवासः निचेयमन्यत् ॥२४॥

परिचाय्योपचाय्या-ऽऽनाय्य समूह्य-चित्यमग्नौ ॥ ५. १. २५ ॥

एतेऽग्नौ निपात्यन्ते, पर्युपपूर्वाच्चिनोतेर्घ्यण् आयादेशश्च । परिचीयत इति-परिचाय्योऽग्निः, एवमुपचाय्यः, परिचेयः, उपचेयोऽन्यः । आङ्पूर्वान्नयतेर्घ्यण् आयादेशश्च । गार्हपत्यादानीयते इत्यानाय्यो दक्षिणाग्निः, स ह्याहवनीयेन सह एकयोनिरेवोच्यते, आनेयोऽन्यः । केचिदग्निविशेषादन्यत्राप्यनित्यविशेष इच्छन्ति-आनाय्यो गोधुक्, अनित्य इत्यर्थः । संपूर्वाद् वहेर्घ्यण् ऊत्वं च वशब्दस्य समुह्यत इति-समूह्यः, अन्यः संवाह्यः । अन्ये तु संपूर्वादूहेरग्नावेवेति नियमार्थं घ्यणं निपातयन्ति, अग्नेरन्यत्र समूहितव्य इत्येव । वहेस्तु तन्मतेऽग्नावपि संवाह्य इति भवति । चिनोतेः क्यप्, चित्योऽग्निः, चेयोऽन्यः ॥२५॥

न्या० स०-परिचाय्यो०-एकयोनिरेवेति-आहवनीयोऽग्निर्दक्षिणाग्निश्च निर्वाणौ गार्हपत्यादेवानीयेते, अतो द्वावप्येकयोनी गार्हपत्याग्निस्त्वरणिनिर्मन्थनादेवोत्पाद्य इति न स आनाय्यः ।

याज्या दानर्चि ॥ ५. १. २६ ॥

यजेः करणे घ्यण् निपात्यते, दानर्च्यभिधेयायाम् । इज्यतेऽनयेति-याज्या, 'त्यज्-यज्-प्रवचः" (४-४-११८) इति गत्वाभावः ॥२६॥

तव्या-ऽनीयौ ॥ ५. १. २७ ॥

धातोः परौ 'तव्य अनीय' इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः । शयितव्यम्, शयनीयम्; वस्तव्यम्; वसनीयम्, कर्तव्यम्, करणीयं भवता, कर्तव्यः करणीयः कटः ॥२७॥

य एचाऽऽतः ॥ ५. १. २८ ॥

ऋवर्ण-व्यञ्जनान्तात् घ्यणो विहितत्वात् परिशिष्टात् स्वरान्ताद् धातोर्यः प्रत्ययो भवति, अन्त्याऽऽकारस्य चैकारो भवति । दित्स्यम्, धित्स्यम्, चेयम्, जेयम्, नेयम्, शेयम्, नव्यम्, हव्यम्, लव्यम्, भव्यम् । एच्चातः-देयम्, धेयम् ॥२८॥

शकि-तकि-चति-यति-शसि-सहि-यजि-भजि-पवर्गात् ॥ ५. १. २९ ॥

शक्यादिभ्यः पवर्गान्तेभ्यश्च धातुभ्यो यः प्रत्ययो भवति, घ्यणोऽपवादः । शक्यम्, तक्यम्, चत्यम्, यत्यम्, शस्यम्, सह्यम्, यज्यम्, भज्यम् । पवर्ग-तप्यम्, लभ्यम्, गम्यम् । यजेः "त्यज्-यज्-प्रवचः" (४-१-११८) इति प्रतिषेधात् भजेश्च बाहुलकाद् घ्यणपि-याज्यम्, भाग्यम् । यजि-भजिभ्यां नेच्छन्त्येके ।

कथमसिना वध्योऽसिवध्यः, मुशलवध्यः ? "न जनबधः" (४-३-५४) इति वृद्धिप्रतिषेधे घ्यणा भविष्यति ॥२९॥

न्या० स०-शकितकि त्यजयप्रवच इति प्रतिषेधादिति-अन्यथा घ्यण्प्रत्ययाऽभावात् प्राप्तिरेव नास्ति ।

यम-मद-गदोऽनुपसर्गात् ॥ ५. १. ३० ॥

उपसर्गरहितेभ्य एभ्यो यः प्रत्ययो भवति । यम्यम्, मद्यम्, गद्यम् ।

अनुपसर्गादिति किम् ? आयाम्यम्, प्रमाद्यम्, निगाद्यम् । पवर्गान्तत्वात् सिद्धे यमो नियमार्थं वचनम्—अनुपसर्गादेव यथा स्यात् । बहुलवचनान्माद्यत्यनेनेति-मद्यं करणेऽपि, नियम्यमिति च सोपसर्गादिति ॥३०॥

न्या० स०-यममद०-अनुपसर्गादेवेति—अनुपसर्गाद्यम एवेति विपरीतनियमस्तु न 'न शकितकि' ५-१-२९ इत्यत्र पवर्गग्रहणात् ।

चरेराङस्त्वगुरौ ॥ ५. १. ३१ ॥

अनुपसर्गाच्चरेराङ्पूर्वात् त्वगुरावर्थे यो भवति । चर्यं भवता, चर्यो देशः, आचर्यं भवता, आचर्यो देशः । आङस्त्विति किम् ? अभिचार्यम् । अगुराविति किम् ? आचार्यो गुरुः ॥३१॥

वर्योपसर्या-ऽवद्य-पण्यमुपेयर्तुमती-गर्ह्य-विक्रेये ॥ ५. १. ३२ ॥

वर्यादयः शब्दा उपेयादिष्वर्थेषु यथासंख्यं यान्ता निपात्यन्ते । वृणातेर्ये-वर्या, उपेया चेद् भवति । शतेन वर्या, सहस्रेण वर्या कन्या, संभक्तव्या मैत्रीमापादनीयेति यावत्; वृत्याऽन्या, वृणोतेः क्यप् स्त्रीलिङ्गनिर्देशादिह न भवति-वार्या ऋत्विजः । अन्यस्तु- "सुग्रीवो नाम वर्योऽसौ भवता चारुविक्रमः" (भट्टिप्रयोगः) इति प्रयोगदर्शनात् पुंलिङ्गेऽपीच्छति, सामान्यनिर्देशात् तदपि संगृहीतम्, शतेन वर्यः, सहस्रेण वर्यः । उपपूर्वात् सर्तेर्ये-उपसर्या, ऋतुमती चेत् । उपसर्या गौः, गर्भग्रहणे प्राप्तकालेत्यर्थः, अन्यत्र उपसार्या शरदि मथुरा । नञ्पूर्वाद् वदेर्ये-अवद्यं, गर्ह्यं चेत् । अवद्यं पापम्, अवद्या हिंसा, गर्ह्येत्यर्थः, अनुद्यमन्यत् ।

कथमवाद्या ? वदेर्निरुपपदात् घ्यण्, पश्चान्नञ्समासः । पणेर्ये-पण्यं, विक्रेयं चेत् । पण्यः कम्बलः, पण्या गौः, विक्रेयेत्यर्थः, अन्यत्र पाण्यः साधुः ॥३२॥

न्या० स०-वर्योप०-शतेन वर्य इति-यस्तु वरेण्यपर्यायः तस्य वरण् इत्यस्मात् णिजन्तात् सिद्धिः । अनुद्यमऽन्यदिति-यत्तु अनूद्यमिति तदऽनुवदनं अनूत्, अनूदि साधु 'तत्र साधौ' ७-१-१५ इति यः ।

स्वामि-वैश्येऽर्यः ॥ ५. १. ३३ ॥

अर्तेः स्वामिनि वैश्ये चाभिधेये यो निपात्यते । अर्यः स्वामी, अर्यो वैश्यः ।

स्वामि-वैश्य इति किम् ? आर्यः ॥३३॥

न्या० स०-स्वामिवैश्येऽर्यः--निपातनस्येष्टविषयत्वात् संज्ञायामेव निपातनम् ।

वह्यं करणे ॥ ५. १. ३४ ॥

वहेः करणे यो निपात्यते । वहन्ति तेनेति-वह्यं शकटम्, वाह्यमन्यत् ॥३४॥

नाम्नो वदः क्यप् च ॥ ५. १. ३५ ॥

अनुपसर्गादिति वर्तते, अनुपसर्गान्नाम्नः पराद् वदेः क्यप् यश्च प्रत्ययौ भवतः ।

ब्रह्मोद्यम्, ब्रह्मवद्यम्; सत्यवद्यम्, सत्योद्यम् । नाम्न इति किम् ? वाद्यम् । अनुपसर्गादित्येव ? प्रवाद्यम्, अनुवाद्यम् । ककारः कित्कार्यार्थः, पकार उत्तरत्र तागमार्थः ॥३५॥

हत्याभूयं भावे ॥ ५. १. ३६ ॥

अनुपसर्गान्नाम्नः परौ 'हत्या भूय' इत्येतौ भावे क्यबन्तौ निपात्येते । हन्तेः स्त्री-भावे क्यप् तकारश्चान्तादेशः ।

ब्रह्मणो वधः-ब्रह्महत्या, भ्रूणहत्या, दरिद्रहत्या, श्वहत्या । भवतेर्नपुंसके भावे क्यप् । ब्रह्मभूयं गतः, देवभूयं गतः, ब्रह्मत्वं देवत्वं गत इत्यर्थः । भाव इति किम् ? श्वघात्या वृषली । नाम्न इत्येव ? हतिः, घातः, भव्यम् ।

हन्तेर्भावे घ्यण् न भवत्यनभिधानात्, तथा च बहुलाधिकारः । अनुपसर्गादित्येव ? उपहतिः, प्रभव्यम् ॥३६॥

न्या० स०-हत्याभूयं-हत्या च भूयं चेति वाक्यं कार्यं, भूयस्य नपुंसके निपातन-ज्ञापनार्थम् । क्यबन्ताविति-चानुकृष्टत्वात् यो नाऽनुवर्त्तते । ब्रह्मणो वध इति-संबन्धे षष्ठो अकर्मकस्य विवक्षणात् । हतिरिति-'सातिहेति' ५-३-९४ इति निपातनबाधनार्थं श्वादि-भ्यः क्तिः । तथा च बहुलाधिकार इति-एतदर्थमेव बहुलाधिकारोऽनुवर्त्तते इत्यर्थः ।

अग्निचित्या ॥ ५. १. ३७ ॥

अग्नेः पराच्चिनोतेः स्त्रीभावे क्यप् निपात्यते । अग्नेश्चयनमग्निचित्या ॥३७॥

खेय-मृषोद्ये ॥ ५. १. ३८ ॥

अनुपसर्गादिति नाम्न इति च निवृत्तम् । खेय मृषोद्य' इत्येतौ क्यबन्तौ निपात्येते । खनेर्घ्यणोऽपवादः क्यप्, अन्त्यस्वरादेरेकारश्च ।

खन्यत इति-खेयम्, निखेयम्, उत्खेयम् । मृषापूर्वाद् वदतेः पक्षे ये प्राप्ते नित्यं क्यप् । मृषोद्यते-मृषोद्यम् । नात्र भाव एवेति योगविभागः ॥३८॥

न्या० स०-खेयमृषो०-निवृत्तमिति-निपातनस्येष्टविषयत्वात् । निखेयमिति-द्योतकत्वात् न्यादिप्रयोगेऽपि भवति ।

कुप्य-भिद्योद्ध्य-सिध्य-तिष्य-पुष्य-युग्या-ऽऽज्य-सूर्यं नाम्नि ॥ ५. १. ३९ ॥

एते क्यबन्ताः संज्ञायां निपात्यन्ते । गुपेः क्यप् आदिकत्वं च धनेऽर्थे । गोप्यते तदिति-कुप्यं धनम्, गोप्यमन्यत् । भिदेरुज्झेश्च नदेऽभिधेये क्यप् उज्झेर्धत्वं च । भिन्नत्ति कूलानि इति-भिद्यः, उज्झत्युदकम्-उद्ध्यः, अन्यत्र-भेत्ता, उज्झिता ।

सिधि-त्विषि-पुषिभ्यो नक्षत्रेऽभिधेये क्यप् त्विषेर्वलोपश्च । सिध्यन्ति त्वेषन्ति पुष्यन्ति अस्मिन् कार्याणीति सिध्यः, तिष्यः, पुष्यः, अन्यत्र-सेधनः, त्वेषणः, पोषणः । युजेः क्यप् गत्वं च वाहनेऽभिधेये । युञ्जन्ति तदिति-युग्यं वाहनं गजाश्वादि, योग्यमन्यत् । आङ् पूर्वादञ्जेर्घृतेऽर्थे क्यप् । आञ्जन्त्यनेनेति-आज्यं घृतम्, आञ्जनमन्यत् । सर्तेः क्यप् ऋकारस्योर्, सुवतेर्वा क्यप् रान्तश्च देवतायाम् । सरति सुवति वा कर्मसु लोकानिति-सूर्यो देवता । बहुलाधिकारान्निपातनसामर्थ्याद् वाऽनुक्तोऽपि निपातनेषु कारकविशेषो गम्यते ॥३९॥

दृ-वृग्-स्तु-जुषेति-शासः ॥ ५. १. ४० ॥

एभ्यः क्यप् भवति ।

दृ-आदृत्यः । वृग्-प्रावृत्यः । वृङस्तु वार्या-ऋत्विजः । स्तु-स्तुत्यः, अवश्यस्तुत्यः । जुष्-जुष्यः । एतीति इणिकोर्ग्रहणम् । इत्यः, अधीत्यः । अयतेरिङश्च न भवति-उपेयम्, अध्येयम् । इकोऽप्यध्येयमित्येके । ईयतेरप्युपेयमिति भवति । शास्-शिष्यः, आशासेस्तु "आशास्यमन्यत् पुनरुक्तभूतम्" (रघुवंशे) इति । कथम् "अनिवार्यो गजैरन्यैः स्वभाव इव देहिनाम् ।" इति, संभक्तेरन्यत्रापि वृङ् ॥४०॥

न्या० स०-दृवृग्-इणिकोर्ग्रहणमिति-इङस्तु परस्मैपद्यादादिकसाहचर्यात् निरासः । आशास्यमन्यदिति-आङः क्वावेवेति नियमान्न शिषादेशः ।

ऋदुपान्त्यादकृपि-चृदृचः ॥ ५. १. ४१ ॥

ऋकारोपान्त्याद् धातोः कृपि-चृति-ऋचिवर्जितात् क्यप् भवति ।

वृत्यम्, वृध्यम्, गृध्यम्, शृध्यम् । अकृपि-चृदृच इति किम् ? कल्प्यम्, चर्त्यम्, अर्च्यम् ॥४१॥

कृ-वृषि-मृजि-शंसि-गुहि-दुहि-जपो वा ॥ ५. १. ४२ ॥

एभ्य क्यप् वा भवति ।

कृत्यम्, कार्यम्, वृष्यम्, वर्ष्यम्, मृज्यम्, मार्ग्यम्, शस्यम्, शंस्यम्, गुह्यम्,

गोह्यम्, दुह्यम्, दोह्यम् । जप्यम्, जाप्यम्, जपेरपि क्यबभावपक्षे घ्यण् विकल्पसामर्थ्यात् । ४२।।

न्या० स०-कृवृषि—क्यबऽभावपक्षे घ्यणिति-'शकितकि' ५-१-२९ इति या प्रत्यये तु विशेषाऽभावः ।

जि-विपू-न्यो हलि-मुञ्ज-कल्के ॥ ५. १. ४३ ॥

जयतेर्विपूर्वाभ्यां च पू-नीभ्यां यथासंख्यं हलि-मुञ्ज-कल्केषु कर्मसु वाच्येषु क्यप् प्रत्ययो भवति ।

महद्धलं हलिः । मुञ्जस्तृणविशेषः । कल्कस्त्रिफलादीनाम् । जीयते निपुणेनेति-जित्या जित्यो वा हलिः । पूङ् पूग् वा-विपवितव्यो विपूयो मुञ्जः । पूगो नेच्छन्त्येके । विनेतव्यस्तैलादिना मध्ये इति-विनीयः कल्कः । हलि-मुञ्ज-कल्क इति किम् ? जेयम्, विपव्यम्, विनेयम् ।।४३।।

न्या० स०-जिविपून्यो०—तैलादिना मध्ये इति-तैलादिना कर्त्रात्मनो मध्ये विनेतव्यः, कोऽर्थः ? प्रापयितव्यः, यद्वा मध्ये वर्त्तमानेन तैलादिना उत्कर्षं विनेतव्यः ।

पदा-ऽस्वैरि-बाह्या-पक्ष्ये ग्रहः ॥ ५. १. ४४ ॥

विभक्त्यन्तं पदम्, अस्वैरी परतन्त्रः, बाह्या बहिर्भवा, पक्ष्यो वर्ग्यः, एष्वर्थेषु ग्रहः क्यप् भवति, घ्यणोऽपवादः ।

प्रगृह्यते-विशेषेण ज्ञायते प्रगृह्यं पदम्, यत् स्वरेण न संधीयते-अग्नी इति । अवगृह्यते-नानावयवसात् क्रियते-अवगृह्यं पदम् । अस्वैरिणि-गृह्याः कामिनः, रागादिपरतन्त्रा इत्यर्थः । बाह्यायां-ग्रामगृह्या श्रेणिः, नगरगृह्या सेना, बाह्येत्यर्थः, स्त्रीलिङ्गनिर्देशो लिङ्गान्तरेऽनभिधानख्यापनार्थः । पक्ष्येत्वद्गृह्याः, मद्गृह्याः, "गुणगृह्या वचने विपश्चितः" (किराते), तत्पक्षाश्रिता इत्यर्थः । एष्विति किम् ? ग्राह्यं वचः ।।४४।।

न्या० स०-पदास्वैरि०-प्रगृह्यं पदमिति-परैः स्वरेणाऽसंधीयमानस्य पदस्य प्रगृह्यमिति संज्ञा विहिता । नानावयवसात्क्रियते इति-यथा पचतीत्यत्र पच् शव् तिव् इत्यऽवयवाः ।

भृगोऽसंज्ञायाम् ॥ ५. १. ४५ ॥

भृगो धातोरसंज्ञायां क्यप् भवति ।

भ्रियते-भृत्यः, पोष्य इत्यर्थः । असंज्ञायामिति किम् ? भार्यो नाम क्षत्रियः, भार्या पत्नी । ननु च संज्ञायामपि स्त्रियां 'भृगो नाम्नि" (५-३-९८) इति क्यबस्ति, यथा-कुमारभृत्या ? न-तस्य भाव एव विधानात् ।।४५।।

न्या० स०-भृगोसं०-कुमारपोषणप्रतिपादकं शास्त्रमप्युपचारात् कुमारभृत्या ।

समो वा ॥ ५. १. ४६ ॥

संपूर्वाद् भृगः क्यप् वा भवति । संभृत्यः, संभार्यः ॥४६॥

ते कृत्याः ॥ ५. १. ४७ ॥

ते-'घ्यण् तव्य अनीय य क्यप्' इत्येते प्रत्ययाः कृत्यसंज्ञा भवन्ति । कृत्यप्रदेशाः-"तत् साप्याऽनाप्यात् कर्म-भावे कृत्य-क्त-खलर्थाश्च" (३-३-२१) इत्यादयः ॥४७॥

णक-तृचौ ॥ ५. १. ४८ ॥

धातोः परौ णक-तृचौ प्रत्ययौ भवतः, कृत्वात् कर्तरि ।

पाचकः, पक्ता; पाठकः, पठिता । णकारो वृद्ध्यर्थः, चकारः "अन्त्यस्वरादेः" (७-४-४३) इत्यत्र सामान्यग्रहणाविघातार्थः ॥४८॥

न्या० स०-णकतृ-सामान्यग्रहणाविघातार्थ इति-अन्यथा ❀ निरनुबन्धा० ❀ इति न्यायात् तृच् एव ग्रहः स्यात् न तु तृनः ।

अच् ॥ ५. १. ४९ ॥

धातोरच् प्रत्ययो भवति, कृत्वात् कर्तरि । करः, हरः, पचः, पठः उद्वहः । चकारः "अचि" (३-४-१५) इत्यत्र विशेषणार्थः ॥४९॥

लिहादिभ्यः ॥ ५. १. ५० ॥

लिहादिभ्यो धातुभ्योऽच् प्रत्ययो भवति, पृथग्योगो बाधकबाधनार्थः ।

लेहः, शेषः, सेवः, देवः, मेथः, मेषः, मेघः, देहः, प्ररोहः, न्यग्रोधः, कोपः, गोपः, सर्पः, नर्तः, दर्शः, एषु नाम्युपान्त्यलक्षणं कं दृशेस्तु वा शं बाधते । 'अनिमिष' इति बहुलाधिकारात् कोऽपि भवति । श्वपचः, पारापतः, कद्वदः, यद्वदः, अरीन् व्रणयतीत्यरिव्रणा शक्तिः, जारभरा, कन्यावरः, रघूद्वहः, रसावहः, एष्वणं बाधते । बहुवचनमाकृतिगणार्थम् । नदी, भषी, प्लवी, गरी, चरी, तरी, दरी, स्तरी, सूदी, देवी, सेवी, चोरी, गोही' एतेऽजन्ता गौरादौ द्रष्टव्याः ॥५०॥

न्या० स०-लिहादिभ्यः पृथग्योग इति-पूर्वेण सिद्धेऽस्यारम्भादित्यर्थः । वा शं बाधते इति-यदि हि नित्यं लिहाद्यच् स्यात्तदा दृशः शविधानमऽनर्थकं स्यादिति । कद्वद इति-कुत्सितं वदति 'रथवदे' ३-२-१३१ कदादेशः ।

आकृतिग्रहणार्थमिति-तेन वशा, अमर, क्षम, रण, श्लेष, अजगर इत्यादयोऽदर्शिता अपि ज्ञेयाः । गौरादौ द्रष्टव्या इति-अन्यैर्नदीइत्यादीनां ङ्यर्थं टित्वं कृतं तत् स्वमते कथम् ? इत्याह-नदीत्यादीनां सामान्योऽनेन वाऽच् भवतु, भरतस्तु गौरादौ ।

ब्रुवः ॥ ५. १. ५१ ॥

ब्रुवो धातोरचि ब्रुव इति निपात्यते । ब्राह्मणमात्मानं ब्रूते-ब्राह्मणब्रुवः । अण्-वचादेश-गुणबाधनार्थं निपातनम् ।।५१।।

नन्द्यादिभ्योऽनः ।। ५. १. ५२ ।।

नन्द्यादिभ्यो धातुभ्यो नामगणे दृष्टेभ्योऽनः प्रत्ययो भवति । नन्द्यादयो नन्दन-रमणेत्यादिनामगणशब्देभ्योऽपोद्धृत्य वेदितव्याः, स च सप्रत्ययपाठो विशिष्टविषयार्थो रूपनिग्रहार्थश्च ।

नन्दि-वाशि-मदि-दूषि-साधि-वर्धि-शोभि-रोचिभ्यो ण्यन्तेभ्यः संज्ञायाम्-नन्दनः, वाशनः, मदनः, दूषणः, साधनः, वर्धनः, शोभनः, रोचनः । सहि-रमि-दमि-रुचि-कृति-तपि-तृदि-दहि-यु-पू-लूभ्यः संज्ञायामेवाण्यन्तेभ्यः-सहते-सहनः, एवं-रमणः, दमनः, रोचनः विरोचनः, विकर्तनः, तपनः, प्रतर्दनः, दहनः, यवनः, पवनः, लवणः, निपातनाण्णत्वम् । समः क्रन्दि-कृषि-हृषिभ्यः संज्ञायामेव-संक्रन्दनः, संकर्षण संहर्षणः । कर्मणो दमि-अर्दि-नाशि-सूदिभ्यः-सवदमनः, जनार्दनः, वित्तविनाशनः मधुसूदनः, असंज्ञा-यामपि-रिपुदमनः, कुलदमनः, परार्दनः, रोगनाशनः, अरिसूदनः । नर्दि-भीषि-भूषि-दृपि जल्पिभ्यः-नर्दयति-नर्दनः, विभीषयते-विभीषणः । भूषयति-भूषणः, दृप्यति-दर्पणः, जल्पति-जल्पनः । बहुवचनमाकृतिगणार्थम् ।।५२।।

न्या० स०-नन्द्यादिभ्यो—सप्रत्ययपाठ इति-अथ प्रकृतय एव पठ्यन्तां किं सप्र-त्ययपाठेनेत्याह-विशिष्टविषयार्थ इति-तेन ये निरुपसर्गयदुपपदोपसर्गाः पठ्यन्ते ते तथा गृह्यन्ते इत्यर्थः ।

ग्रहादिभ्यो णिन् ।। ५. १. ५३ ।।

ग्रहादिभ्यो नामगणदृष्टेभ्यो णिन् प्रत्ययो भवति ।

ग्राही, स्थायी, उपस्थायी, मन्त्री, संमर्दी । उपा-ऽवाभ्यां रुधः-उपरोधी, अवरोधी । अपाद् राधः-अपराधी । उदः सहि-दसि-भासिभ्यः-उत्साही उद्दासी, उद्भासी । नेः श्रु-शी-विश-वस-वप-रक्षिभ्यः-निशृणोति-निश्रावी, निशायी, निवेशी, निवासी, निवापी, निरक्षी । नञो व्याहृ-संव्याहृ-संव्यवहृ-याचि-व्रज-वद-वासिभ्यः-न व्याहरति-अव्याहारी, असंव्यव-हारी, अयाची, अव्राजी, अवादी, अवासी । नञ्पूर्वात् स्वरान्तादचित्तवत्कर्तृकात् अकारी धर्मस्य बालातपः, अहारी शीतस्य शिशिरः, चित्तवत्कर्तृकान्न भवति-अकर्ता कटस्य चैत्रः । केचिदनञ्पूर्वादिच्छन्ति-कारी, हारी । व्यभिभ्यां भुवोऽतीते-विभवति स्म-विभावी, अभि-भावी । वि-परिभ्यां भुवो ह्रस्वश्च वा-विभवति-विभावी, विभवी; परिभावी, परिभवी । वेः शीङ्-षिगोर्देशे ह्रस्वश्च-गुणैश्चित्ते विशेते विसिनोति वा-विशयीविषयी च प्रदेशः, निपातनात् षत्वम् । ग्रहादिराकृतिगणः ।।५३।।

नाम्युपान्त्य-प्री-कृ-गृ-ज्ञः ।। ५. १. ५४ ।।

नाम्युपान्तेभ्यो धातुभ्यः 'प्री कृ गृ ज्ञा' इत्येतेभ्यश्च कः प्रत्ययो भवति, ककारः कित्कार्यार्थः ।

विक्षिपः, विलिखः, बुधः, युधः, कृशः, वितुदः । प्रीणातीति-प्रियः, किरतीति-किरः, उत्किरः, गिलतीति-गिलः, निगिलः, जानातीति-ज्ञः । काष्ठभेद इति परत्वादण् ॥५४॥

न्या० स०-नाम्युपान्त्य०-युध इति-युध्यतेः योधवाचकस्तु णिगि योधयतीति अचि। गिलः, निगिल इति-'नवा स्वरे' २-३-१०२ इत्यत्र व्यवस्थितविभाषाश्रयणान्नित्यं लत्वम् ।

गेहे ग्रहः ॥ ५. १. ५५ ॥

गेहेऽभिधेये ग्रहेः को भवति । गृहम्, गृहाणि; गृहाः । पुंसि बहुवचनान्त एव । उपचाराद् दारा गृहाः ॥५५॥

न्या० स०-ग्रेहे ग्र-बहुवचनान्त एवेति-दुर्गस्त्वेकवचनान्तमेवाह ।

उपसर्गादातो डोऽश्यः ॥ ५. १. ५६ ॥

उपसर्गात् परात् श्यैङ्वर्जितादाकारन्तात् धातोर्डः प्रत्ययो भवति ।

आह्वयतीति-आह्वः, प्रह्वः, संव्यः, परिव्यः, प्रज्यः, अनुज्यः, प्रस्थः, सुग्लः, सुम्लः, सुत्रः, व्यालः, सुरः । केनैव सिद्धे डविधानं वृद्धिनिषेधार्थम् । उपसर्गादिति किम् ? णे-दायः, धायः । आत इति किम् ? आहर्ता । अश्य इति किम् ? णे-अवश्यायः, प्रतिश्यायः । ❀ पूर्वेऽपवादा अनन्तरान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान् ❀ इति णो बाध्यते नाण्, तेन 'गोसंदाय वडवासंदाय' इत्यणेव ॥५६॥

व्याघ्रा-ऽऽघ्रे प्राणि-नसोः ॥ ५. १. ५७ ॥

'व्याघ्र आघ्रा' इत्येतौ शब्दौ जिघ्रतेर्यथासंख्यं प्राणिनि नासिकायां चार्थे डप्रत्ययान्तौ निपात्येते ।

विविधम् आजिघ्रति-व्याघ्रः प्राणी, आजिघ्रति-आघ्रा नासिका । शस्यापवादः ।५७।

न्या० स०-व्याघ्राघ्रे-व्याघ्र इति-अनेकार्थत्वाच्छिङ्घनपूर्वके हिंसने वर्त्तते । यत्क्षीरः विविधमाजिघ्रन् हिनस्तीति ।

घ्रा-ध्मा-पा-ट्धे-दृशः शः ॥ ५. १. ५८ ॥

एभ्यः शः प्रत्ययो भवति ।

घ्रा-जिघ्रतीति-जिघ्रः, विजिघ्रः, उज्जिघ्रः । ध्मा-धमः, विधमः, उद्धमः । घ्रादिसाहचर्यात् 'पा' इति पिबतेर्ग्रहणं न पातेः-पिबः, निपिबः, उत्पिबः, पायतेस्तु लाक्षणिकत्वान्न भवति । ट्धे-धयः विधयः, उद्धयः । दृशं-पश्यः, विपश्यः, उत्पश्यः । ट्धेष्टकारो ङयर्थः-उद्धयी, विधयी । उपसर्गादेवेच्छन्त्यन्ये । शकारः शित्कार्यार्थः ॥५८॥

साहि-साति-वेद्युदेजि-धारि-पारि-चेतेरनुपसर्गात् ॥ ५. १. ५९ ॥

एतेभ्य उपसर्गरहितेभ्यो ण्यन्तेभ्यः शः प्रत्ययो भवति ।

साहि-साहयतीति-साहयः । साति: सौत्रो धातुः-सातयः. वेदि-वेदयः, उदेजि-उदेजयः, धारि-धारय , पारि पारयः, चेति-चेतयः । अनुपसर्गादिति किम् ? प्रसाहयिता । छत्रधार इति परत्वादणेव ।।५६।।

लिम्प-विन्दः ॥ ५. १. ६० ॥

अनुपसर्गाभ्यां लिम्प-विन्दिभ्यां शो भवति । लिम्पतीति-लिम्पः, विन्दतीति-विन्दः । अनुपसर्गादित्येव ? प्रलिपः ।।६० ।

न्या० स०-लिम्पविन्दः-लिम्पिसाहचर्यात् विन्देस्तौदादिकस्य ग्रहः, न तु विदु अवयवे इत्यस्य ।

नि-गवादेर्नाम्नि ॥ ५. १. ६१ ॥

यथासंख्यं निपूर्वात् लिम्पेर्गवादिपूर्वाच्च विन्देर्नाम्नि-संज्ञायां शो भवति ।

निलिम्पन्तीति-निलिम्पा नाम देवाः । गा विन्दतीति-गोविन्दः, कुविन्दः, अरविन्दः कुरुविन्दः, उरविन्दः । नाम्नीति किम् ? निलिपः ।।६१।।

न्या० स०-निगवादेर्ना-अरविन्द इति- चक्रावयव विशेषः, अब्जे तु क्लीबत्वम् , कश्चित्त्वऽब्जेऽपि पुंस्त्वमाह, राजा च ।

वा ज्वलादि-दु-नी-भू-ग्रहा-ऽऽस्रोर्णः ॥ ५. १. ६२ ॥

ज्वलादेर्गणात् दु-नी-भू-ग्रहिभ्य आङ्-पूर्वाच्च स्रवतेरनुपसर्गाण्णो वा भवति, वहि-पर्यन्ता ज्वलादयो वृत्करणात् । ज्वलः, ज्वालः । चलः, चालः । 'निपातः, उत्क्रोशः' इति बहुलाधिकारात् । दवः. दावः । नयः, नायः । दुनीभ्यां नित्यमेवेत्येके । भवः, भावः । व्यवस्थितविभाषेयम् , तेन-ग्राहो मकरादिः, ग्रहः सूर्यादिः । आस्रवः, आस्रावः । अनुपसर्गादित्येव ? प्रज्वलः, प्रदवः, प्रणयः, प्रभवः, प्रग्रहः, प्रस्रवः । १ ज्वल २ कुच, ३ पत्लृ, ४ पथे, ५ क्वथे, ६ मथे, ७ षद्लृं, ८ शद्लृं , ९ बुध, १० टुवमू, ११ भ्रमू, १२ क्षर, १३ चल, १४ जल, १५ टल, १६ ट्वल, १७ ष्ठल, १८ हल, १९ णल, २० बल, २१ पुल, २२ कुल, २३ पल, २४ फल, २५ शल, २६ हुल, २७ कुशं, २८ कस, २९ रुहं, ३० रमि, ३१ षहि वृत् इति ज्वलादिः ।।६२।।

न्या० स०-वा ज्वलादि०-बहुलाधिकारादिति—सोपसर्गादपीत्यर्थः ।

अवहृ-सा-संस्रोः ॥ ५. १. ६३ ॥

अवपूर्वाभ्यां हृ-साभ्यां संपूर्वाच्च स्रवतेर्णः प्रत्ययो भवति ।

अवहारः, अवसायः, संस्रावः । संस्रव इत्यपि कश्चित् ।।६३।।

तन्-व्यधीण्-श्वसातः ॥ ५. १. ६४ ॥

'तन् व्यधि इण् श्वस्' इत्येतेभ्य आदन्तेभ्यश्च धातुभ्यो णः प्रत्ययो भवति ।

तानः, उत्तानः, अवतानः । व्याधः, प्रत्यायः, अत्यायः, अन्तरायः । अतिपूर्वादिवेण इत्येके । श्वासः, आश्वासः । आदन्त अवश्यायः, प्रतिश्यायः; ग्लायः, म्लायः । कथं ददः दधः ? ददिदध्योरचा सिद्धम् ॥६४॥

नृत्-खन्-रञ्जः शिल्पिन्यकट् ॥ ५. १. ६५ ॥

नृति-खनि-रञ्जिभ्यः शिल्पिनि कर्तर्यकट् प्रत्ययो भवति ।

शिल्पं कर्मकौशलम्, तद्वान् शिल्पी । नर्तकः, नर्तकी; खनकः, खनकी; रजकः, रजकी । शिल्पिनीति किम् ? नर्तिका, खानकः, रञ्जकः । टकारो ङ्यर्थः ॥६५॥

गस्थकः ॥ ५. १. ६६ ॥

गायतेः शिल्पिनि कर्तरि थकः प्रत्ययो भवति । गाथकः । गाङः प्रत्यये शिल्पी न गम्यत इति गायतेर्ग्रहणम् ॥६६॥

न्या० स०-गस्थकः-शिल्पी न गम्यत इति-शब्दशक्तिस्वाभाव्यात् ।

टनण् ॥ ५. १. ६७ ॥

गायतेः शिल्पिनि कर्तरि टनण् प्रत्ययो भवति । गायनः, गायनी । टकारो ङ्यर्थः । णकार ऐकारार्थः । योगविभाग उत्तरार्थः । एतौ प्रत्ययावशिल्पिन्यपीत्येके ॥६७॥

न्या० स०-टनण्-एके इति—तन्मते गामादाग्रहणे सामान्यग्रहणमिति न्यायात् गायतेर्गाङश्च ग्रहः ।

हः काल-व्रीह्योः ॥ ५. १. ६८ ॥

जहातेर्जिहीतेर्वा कालव्रीह्योः कर्त्रोष्टनण् प्रत्ययो भवति । जहाति जिहीते वा भावान्-हायनः संवत्सरः, जहत्युदकं दूरोत्थानात् जिहते वा द्रुतं हायना नाम व्रीहयः । काल-व्रीह्योरिति किम् ? हाता ॥६८॥

प्रु-सृ-ल्वोऽकः साधौ ॥ ५. १. ६९ ॥

'प्रु सृ लू' इत्येतेभ्यो धातुभ्यः साधुत्व-विशिष्टेऽर्थे वर्तमानेभ्योऽकः प्रत्ययो भवति । साधु प्रवते इति-प्रवकः, एवं-सरकः, लवकः । साधाविति किम् ? प्रावकः, सारकः, लावकः ॥६९॥

आशिष्यकन् ॥ ५. १. ७० ॥

इष्टस्य प्रार्थनमाशीः, तस्यां गम्यमानायां धातोरकन् प्रत्ययो भवति ।

जीवतादित्याशास्यमानो जीवकः, एवं नन्दकः, भवकः । आशिषीति किम् ? जीविका, नन्दिका, भाविका । नकार "इच्चापुंसोऽनित्क्याप्परे" (२-४-१०७) इत्यत्र व्युदासार्थः, तेन-जीवका, नन्दका, भवका ॥७०॥

तिक् कृतौ नाम्नि ॥ ५. १. ७१ ॥

आशिषि विषये संज्ञायां गम्यमानायां धातोस्तिक् कृतश्च सर्वे प्रत्यया भवन्ति । शम्यात्-शान्तिः, तन्यात्-तन्तिः, सन्यात्-सन्तिः, रमतामित्येवमाशंसितः-रन्तिः । कृत्-वीरो भूयादिति-वीरभूः, मित्रभूः, क्विप् । अग्निरस्य भूयात्-अग्निभूतिः, देवभूतिः, अश्वभूतिः, सोमभूतिः । कुमारोऽस्य दुरितानि नयतामित्याशंसितः-कुमारनीतिः, मित्र-मेनं वर्द्धिषीष्ट-मित्रवृद्धिः, क्तिः । देवा एनं देयासुर्देवदत्तः, यज्ञदत्तः, विष्णुरेनं श्रूयादिति-विष्णुश्रुतः क्तः । शर्व एनं वृषीष्ट-शर्ववर्मा, मन् । गङ्गा एनं मिद्यात्-गङ्गामित्रः, त्रक् । वर्धिषीष्ट—वर्धमानः ॥७१॥

न्या० स०-तिक्कृतौ नाम्नि-वीरभूरिति-वीरादेः शब्दात् भवत्यादेर्धातोरनेन प्रत्ययविधिः, ततो यद्यपि साक्षात् ङस्युक्तता नास्ति तथापि संज्ञायां प्रत्ययविधानात् सूचि-तेति 'ङस्युक्तम्' ३-१-४९ इति सः, 'नामनाम्ना' ३-१-१८ इति वा । अग्निभूतिरिति-कृत्वात् कर्त्तर्येव प्राप्तौ बहुलाधिकारात् संबन्धादावपि प्रत्ययः ।

कर्मणोऽण् ॥ ५. १. ७२ ॥

निर्वर्त्य-विकार्य-प्राप्यरूपात् कर्मणः परस्माद्धातोरण् प्रत्ययो भवति, अजाद्यप-वादः । निर्वर्त्यात्—कुम्भकारः नगरकारः । विकार्यात्-काण्डलावः शरलावः । प्राप्यात्-वेदाध्यायः, चर्चापारः, भारहारः, सूत्रधारः, भारवाहः, द्वारपाल, उष्ट्रप्रणायः, कमण्डलु-ग्राहः ।

'आदित्यं पश्यति, हिमवन्तं शृणोति, ग्रामं गच्छति' इत्यादौ प्राप्यात् कर्मणोऽन-भिधानान्न भवति, महान्तं घटं करोतीति सापेक्षत्वात्, अनभिधानाच्च । तथा च बहुला-धिकारः । निर्वर्त्य-विकार्याभ्यामपि क्वचिन्न भवति—संयोगं जनयतिः, स्रजं विरचयति, वृक्षं छिनत्ति, कन्यां मण्डयति । णकारो वृद्ध्यर्थः ॥७२॥

न्या० स०-कर्मणोऽण्-सापेक्षत्वादिति-अगमकत्वमनपेक्ष्य सापेक्षत्वमात्रमुत्तरम् । अनभिधानाच्चेति-विवक्षितार्थाप्रतिपादनात्, अणि हि सति महतो घटकारस्य प्रतीतिः ।

शीलि-कामि-भक्ष्या-ऽऽचरीक्षि-क्षमोः णः ॥ ५. १. ७३ ॥

कर्मणः परेभ्यः 'शीलि, कामि, भक्षि, आचरि, ईक्षि, क्षम्' इत्येतेभ्यो धातुभ्यो णः प्रत्ययो भवति ।

धर्मं शीलयति-धर्मशीलः, धर्मशीला, धर्मकामः, धर्मकामा, वायुभक्षः, वायुभक्षा,

आङ्पूर्वश्चरिः-कल्याणाचारः, कल्याणाचारा। सुखप्रतीक्षः, सुखप्रतीक्षा, बहुक्षमः, बहुक्षमा। अल्घञन्तैः शीलादिभिर्बहुव्रीहौ सति धर्मशीलादयः सिध्यन्ति, अण्बाधनार्थं तु वचनम्, अणि हि स्त्रियां ङीः स्यात्, तथा च धर्मशीलीत्याद्यनिष्टं रूपं स्यात्। एवंप्रायेषु च बहुव्रीह्याश्रयणे अम्भोऽतिगमेति स्यात्, अम्भोतिगामी चेष्यते। कामीति ण्यन्तस्योपादानादण्यन्तादणेव-पयस्कामीति, ण्यन्तस्य तु णे सति-पयःकामेति भवति। अत एव च ण्यन्तनिर्देशादण्यन्तनिर्देशे "अतः कृ-कमि-कंस० (२-३-५) इत्यादौ केवलस्यैव कमेर्ग्रहणम्, तेन-णे सति सकारादेशो न भवति ॥७३॥

न्या० स०-शीलिकामि०-अल्घञन्तैरिति-ण्यन्तेभ्योऽलि अण्यन्तेभ्यस्तु घञि। अम्भोतिगमेति स्यादिति-अतिगम्यते 'युवर्ण' ५-३-२८ इत्यलि बहुव्रीहौ न चैतदिष्यते, स्थिते तु अम्भः कर्म्म अतिगच्छति 'कर्मणोऽण्' ५-१-७२।

गायोऽनुपसर्गाट्टक् ॥ ५. १. ७४ ॥

कर्मणः परादनुपसर्गाद् गायतेष्टक् प्रत्ययो भवति। वक्रं गायति-वक्रगः, वक्रगी; सामगः, सामगी। अनुपसर्गादिति किम्? वक्रसंगायः, खरसंगायः। वक्रादयो गीतविशेषाः। गायतिनिर्देशो गाङ् निवृत्त्यर्थः ॥७४॥

सुरा-शीधोः पिबः ॥ ५. १. ७५ ॥

सुरा-शीधुभ्यां कर्मभ्यां परादनुपसर्गात् पिबतेष्टक् भवति। सुरां पिबति-सुरापः, सुरापी; शीधुपः शीधुपी।

सुराशीधोरिति किम्? क्षीरपा बाला। पिब इति किम्? सुरां पाति-सुरापा। कथं संज्ञायां सुरापा सुरापीति? पाति-पिबत्योर्भविष्यति। न च धात्वर्थभेदः, संज्ञासु धात्वर्थस्य व्युत्पत्तिमात्रार्थत्वात् ॥७५॥

न्या० स०-सुराशीधो०-कथमिति-अत्र ङीविकल्पः कथमित्याशङ्का।

आतो डोऽह्वा-वा-मः ॥ ५. १. ७६ ॥

कर्मणः परादनुपसर्गात् ह्वा-वा-मावर्जितादाकारान्ताद् धातोर्डः प्रत्ययो भवति। गां ददाति-गोदः, कम्बलदः, पार्ष्णित्रम्, अङ्गुलित्रम्, ब्रह्मज्यः, वपुर्वीतवान्-वपुर्व्यः। अह्वा-वा-म इति किम्? स्वर्गह्वायः, तन्तुवायः, धान्यमायः, अणेव। कथं मित्रह्वः? "क्वचित्" (५-१-१७१) इत्यनेन डः। अनुपसर्गादित्येव? गोसंदायः, वडवासंदायः। उपसर्गैरव्यवधानतैवेत्यण् ॥७६॥

न्या० स०-आतो डो-अनिर्दिष्टार्थास्त्रिष्वपि कालेषु भवन्तीति वपुर्व्य इत्यत्र भूतेऽपि डः। तन्तुवाय इति-वातिवायत्योरकर्मकत्वान्नग्रहणम्। धान्यमाय इति-धान्यं माति मिमीते मयते वा। अव्यवधानतैवेति-नन्वणपि ना प्राप्नोति कर्मण उपसर्गेण व्यव-

हितत्वादित्याह–**इत्यण् इति**। एतत् कुतो लभ्यते। 'गायोऽनुपसर्गाट्टक्' ५-१-७४ सूत्रे उपसर्गवर्जनात्, अन्यथा कर्मणः परात् उपसर्गव्यवधाने न प्राप्नोत्येव।

समः ख्यः ॥ ५. १. ७७ ॥

कर्मणः परात् संपूर्वात् ख्या' इत्येतस्मात् डो भवति। गां संख्याति संचष्टे वा-गोसंख्यः, पशुसंख्यः। उपसर्गार्थं वचनम् ॥७७॥

दश्चाङः ॥ ५. १. ७८ ॥

कर्मणः परादाङ्पूर्वाद् ददातेः 'ख्या' इत्येतस्माच्च डो भवति। दायमादत्ते-दायादः, स्त्रियमाचष्टेस्त्र्याख्यः, प्रियाख्यः। इदमुत्तरं चोपसर्गार्थं वचनम् ॥७८॥

प्राज्ज्ञश्च ॥ ५. १. ७९ ॥

कर्मणः परात् प्रपूर्वाज्जानातेर्दारूपाच्च डो भवति। पथिप्रज्ञः, प्रपाप्रदः। इह पूर्व-सूत्रे च दारूपं गृह्यते, न संज्ञा ज्ञा-ख्यासाहचर्यात्। पूर्वसूत्रे तु दाग एव ग्रहणं तस्यैवाङा योगात् तेन स्तनौ प्रधयति-स्तनप्रधायः ॥७९॥

न्या० स०-प्राज्ज्ञश्च०-दारूपं गृह्यते इति-तेन दांत्दैत्रोरपि ग्रहस्तेन केदारप्रदो भोजनप्रदश्चेति सिद्धम्।

आशिषि हनः ॥ ५. १. ८० ॥

आशिषि गम्यमानायां कर्मणः पराद्धन्तेर्डो भवति। शत्रुं वध्यात्-शत्रुहः, पापहः, दुःखहः। गतावपीति कश्चित्, क्रोशं हन्ति-क्रोशहः ॥८०॥

क्लेशादिभ्योऽपात् ॥ ५. १. ८१ ॥

क्लेशादिभ्यः कर्मभ्यः परादपपूर्वाद्धन्तेर्डो भवति, अनाशीरर्थ आरम्भः।

क्लेशमपहन्ति-क्लेशापहः, तमोपहः, दुःखापहः, ज्वरापहः, दर्पापह, दोषापहः, रोगापहः, वातपित्तकफापहः विषाग्निदर्पापहः। बहुवचनाद् यथादर्शनमन्येभ्योऽपि भवति। कथं 'दार्वाघाटः, चार्वाघाटः? घटतेरणि संज्ञायां भविष्यति। चारु आहन्तीति-चार्वाघातो हन्तेरेव। दार्वाघातोऽपि तर्हि स्यात्, असंज्ञायामिष्यत एव। एवमसंज्ञायां संपूर्वाभ्यां घटि-हनिभ्यां-'वर्णसंघाटः, वर्णसंघातः, पदसंघाटः, पदसंघातः' इत्यादि सिद्धम्, हन्तेरेव वा पृषोदरादित्वाद् वर्णविकारः ॥८१॥

न्या० स०-क्लेशादिभ्यो-कथं दार्वाघाट इत्यादि-दारावाङो हन्तेरण् अन्तस्य च टः संज्ञायां चारौ तु ड इति परेषां सूत्रद्वयमत्र तत् स्वमते कथमित्याह-**घटतेरणीति**-दारुः सारसः, चारुस्तु जीवभेदस्तमाघटते संबध्नाति।

कुमार-शीर्षाण्णिन् ॥ ५. १. ८२ ॥

कुमार-शीर्षाभ्यां कर्मभ्यां पराद्धन्तेर्णिन् प्रत्ययो भवति। कुमारं हन्ति-कुमारघाती, शीर्षघाती। अत एव निपातनाच्छिरसः (शीर्षभावः), शीर्षशब्दोऽकारान्तः प्रकृत्यन्तरं वा। तथा च "शीर्षे स्थितं पृष्ठतः" इति ॥८२॥

अचित्ते टक् ॥ ५. १. ८३ ॥

कर्मणः पराद्धन्तेरचित्तवति कर्तरि टक् प्रत्ययो भवति।

वातं हन्ति-वातघ्नं तैलम्, पित्तघ्नं घृतम्, श्लेष्मघ्नं मधु, रोगघ्नमौषधम्, जायाघ्नाः तिलकालकाः पतिघ्नी पाणिरेखा, सर्वकर्मघ्नी शैलेशी, स्रुघ्नो नगरम्, शतघ्नी आयुधविशेषः, हस्तघ्नो ज्याघात-त्रो वर्ध्रपट्टः। बहुलाधिकारात् स्रुघ्नादयः संज्ञायाम्। अचित्त इति किम्? पापघातो यतिः, चौरघातो राजा, आखुघातो बिडालः, मत्स्यघातो बकः, सस्यघातो वृषभः ॥८३॥

न्या० स०-अचित्ते टक् तिलकालका इति-तिलानां तुल्यास्तिलका अलका इवालकास्ते च ते अलकाश्च, येषां लोके मित्र इति प्रसिद्धिः। शैलेशीति-शिलानामीशः शिलेशस्तस्येयं निष्प्रकम्पत्वात्।

जाया-पतेश्चिह्नवति ॥ ५. १. ८४ ॥

जाया-पतिभ्यां कर्मभ्यां पराद्धन्तेश्चिह्नवति कर्तरि टक् भवति। चिह्नं शरीरस्थं शुभाशुभसूचकं तिलकालकादि। जायाघ्नो ब्राह्मणः, पतिघ्नी कन्या, अपलक्षणयुगित्यर्थः। चित्तवदर्थ आरम्भः ॥८४॥

ब्रह्मादिभ्यः ॥ ५. १. ८५ ॥

ब्रह्मादिभ्यः कर्मभ्यः पराद्धन्तेष्टक् प्रत्ययो भवति। ब्रह्म हन्ति-ब्रह्मघ्नः, कृतघ्नः, शत्रुघ्नः, वृत्रघ्नः, भ्रूणघ्नः, बालघ्नः, शशघ्नी पक्षिजातिः, गां हन्ति-गोघ्नः पातकी। बहुलाधिकारात् संप्रदानेऽपि-गां हन्ति यस्मै आगताय दातुं स-गोघ्नोऽतिथिः। बहुवचनाद् यथादर्शनमन्येभ्योऽपि भवति। चित्तवदर्थ आरम्भः ॥८५॥

हस्ति-बाहु-कपाटाच्छक्तौ ॥ ५. १. ८६ ॥

एभ्यः कर्मभ्यः पराद्धन्तेः शक्तौ गम्यमानायां टक् भवति, चित्तवदर्थ आरम्भः।

हस्तिनं हन्तुं शक्तः-हस्तिघ्नो मनुष्यः, बाहुघ्नो मल्लः, कपाटघ्नश्चौरः। शक्ताविति किम्? हस्तिनं हन्ति विषेण-हस्तिघातो रसदः ॥८६॥

नगरादगजे ॥ ५. १. ८७ ॥

नगरात् कर्मणः पराद्धन्तेर्गजवर्जिते कर्तरि टक् भवति, चित्तवदर्थ आरम्भः। नगरघ्नो व्याघ्रः। अगज इति किम्? नगरघातो हस्ती ॥८७॥

राजघः ॥ ५. १. ८८ ॥

राज्ञः कर्मणः पराद्धन्तेष्टक् प्रत्ययो घादेशश्च निपात्यते । राजानं हन्ति–राजघः ॥८८॥

पाणिघ-ताडघौ शिल्पिनि ॥ ५. १. ८९ ॥

पाणि-ताडाभ्यां कर्मभ्यां पराद्धन्तेः शिल्पिनि कर्तरि टक् घादेशश्च निपात्यते । पाणिं हन्ति पाणिघः, ताडघः शिल्पी । पाणिना ताडेन च हन्तीति करणादपि केचित् । शिल्पिनीति किम् ? पाणिघातः, ताडघातः ॥८९॥

कुक्ष्यात्मोदरात् भृगः खिः ॥ ५. १. ९० ॥

एभ्यः कर्मभ्यः परात् भृगो धातोः खिः प्रत्ययो भवति । कुक्षिमेव बिभर्ति–कुक्षिंभरिः, आत्मंभरिः, उदरंभरिः । उदरात् केचिदेवेच्छन्ति । खकारो मागमार्थः ॥९०॥

अर्होऽच् ॥ ५. १. ९१ ॥

कर्मणः परादर्हतेरच् प्रत्ययो भवति, अणोऽपवादः । पूजामर्हति–पूजार्हः, साधुः, पूजार्हा प्रतिमा ॥९१॥

धनु-र्दण्ड-त्सरु-लाङ्गला-ङ्कुशर्ष्टि-यष्टि-शक्ति-तोमर-घटाद् ग्रहः ॥ ५. १. ९२ ॥

एभ्यः कर्मभ्यः पराद् ग्रहेरच् प्रत्ययो भवति । धनुर्गृह्णाति–धनुर्ग्रहः, दण्डग्रहः, त्सरुग्रहः, लाङ्गलग्रहः, अङ्कुशग्रहः, ऋष्टिग्रहः यष्टिग्रहः, शक्तिग्रहः, तोमरग्रहः, घटग्रहः, ❀ नामग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम् ❀ इति–घटीग्रहः । अणपीत्येके–'धनुर्ग्राहः, दण्डग्राहः' इत्यादि चोदाहरन्ति ॥९२॥

सूत्राद्धारणे ॥ ५. १. ९३ ॥

सूत्रं कर्पासादिमयं लक्षणसूत्रं वाऽविशेषेण गृह्यते । सूत्रात् कर्मणः परात् ग्रहेर्ग्रहणपूर्वके धारणेऽर्थे वर्तमानादच् प्रत्ययो भवति ।

सूत्रं गृह्णाति–सूत्रग्रहः प्राज्ञः सूत्रधारो वा, सूत्रमुपादाय धारयतीत्यर्थः । अन्ये त्ववधारणे एवेच्छन्ति, तन्मते–सूत्रग्रहः प्राज्ञ एवोच्यते । धारण इति किम् ? सूत्रग्राहः, यो हि सूत्रं गृह्णाति न तु धारयति स एवमुच्यते ॥९३॥

न्या० स०–सूत्राद्धारणे–अन्ये त्ववधारण एवेति–तन्मते यः सूत्रं धारयत्येव तत्रैवाच्, सूत्रधारस्तु प्रयोजने एव गृह्णाति न तु सर्वकालम् ।

आयुधादिभ्यो धृगोऽदण्डादेः ॥ ५. १. ९४ ॥

दण्डादीन् वर्जयित्वा आयुधादिभ्यः कर्मभ्यः परात् धृगो धातोरच् भवति । धनुर्धरति-धनुर्धरः, शक्तिधरः, चक्रधरः, वज्रधरः, शूलधरः, हलधरः । आदिग्रहणाद् भूधरः, जलधरः, विषधरः, शशधरः विद्याधरः, श्रीधरः, जटाधरः, पयोधरः । बहुवचनाद् यथादर्शनमन्येभ्योऽपि भवति । अदण्डादेरिति किम् ? दण्डधारः, कुण्डधारः, काण्डधारः, कर्णधारः, सूत्रधारः, छत्रधारः ॥९४॥

न्या० स०—आयुधादि-दण्डादीनां वर्जनात्तेभ्योऽण् निर्णिन्ये, अन्यथा युधादिद्वारोऽच् प्रत्ययोऽपि स्यादिति संदेहः स्यात् ।

हृगो वयो-ऽनुद्यमे ॥ ५. १. ९५ ॥

कर्मणः पराद्धरतेर्वयसि अनुद्यमे च गम्यमाने अच् भवति । प्राणिनां कालकृतावस्था वयः, उद्यम उत्क्षेपणम्, आकाशस्थस्य वा धारणम्, तदभावोऽनुद्यमः । अस्थिहरः श्वशिशुः, कवचहरः क्षत्रियकुमारः । अनुद्यमे-अंशहरो दायादः, मनोहरः प्रासादः, मनोहरा माला । संज्ञायां टोऽपीति कश्चित्-मनोहरो विषहरी मणिः । वयो-ऽनुद्यम इति किम् ? भारहारः । वयसि क्रियमाणः संभाव्यमानो वोद्यम उच्यमानो वयो गमयतीति उद्यमार्थं वयोग्रहणम् ॥ ९५ ॥

न्या० स०-हृगो वयो-क्रियमाण इति-क्रियमाणतया संभाव्यमान इत्यर्थः । संभाव्यमानो वेति-अकुर्वन्नपि, ततः कर्मास्मिन्, कर्मणि अयं शक्त इत्येवं संभाव्यमान इत्यर्थः । वयोग्रहणमिति-नन्वत्र वयोग्रहणं किमर्थम् ? इत्याह-उद्यमार्थमिति, अयमर्थो यत्र वयस्तत्रोद्यमेऽसत्यपि भवतीत्यर्थ, यथा कवचहर इत्यादौ ।

आङः शीले ॥ ५. १. ९६ ॥

कर्मणः परादाङ्पूर्वाद्धरतेः शीले गम्यमानेऽच् प्रत्ययो भवति, शीलं स्वाभाविकी प्रवृत्तिः ।

पुष्पाण्याहरतीत्येवंशीलः-पुष्पाहरः, फलाहरः, सुखाहरः, पुष्पाद्याहरणे स्वाभाविकी फलनिरपेक्षा वृत्तिरस्येत्यर्थः । आङ इति किम् ? पुष्पाणि हर्ता, तृन् । शील इति किम् ? पुष्पाहारः । 'सुखाहरः' इत्यशीलेऽनुद्यमेऽर्थे पूर्वेणाच् । लिहादिप्रपञ्चः प्रकरणमिदम् ॥९६॥

न्या० स०-आङः शीले-ननु लिहादिगणे एव धातूपपदार्थनियमः क्रियतां, किममीभिः सूत्रैः ? इत्याह-लिहादिप्रपञ्च इति ।

दृति नाथात् पशाविः ॥ ५. १. ९७ ॥

आभ्यां कर्मभ्यां पराद्धरतेः पशौ कर्तरि 'इः' प्रत्ययो भवति । दृतिं हरति-दृतिहरिः श्वा, नाथहरिः सिंहः । पशाविति किम् ? दृतिहारो व्याधः, नाथहारी गन्त्री ॥९७॥

रजः-फले-मलाद् ग्रहः ॥ ५. १. ९८ ॥

एभ्यः कर्मभ्यः परात् ग्रहेरिर्भवति । रजोग्रहिः कञ्चुकः, फलेग्रहिर्वृक्षः, सूत्रनिर्देशादेत्वम्; मलग्रहिः कम्बलः । रजो-मलाभ्यां केचिदेवेच्छन्ति ॥९८॥

देव-वातादापः ॥ ५. १. ९९ ॥

देव-वाताभ्यां कर्मभ्यां परादापेर्धातोरिः प्रत्ययो भवति । देवानाप्नोति देवापिः, वातापिः ॥९९॥

शकृत् स्तम्बाद् वत्स-व्रीहौ कृगः ॥ ५. १. १०० ॥

शकृत्-स्तम्बाभ्यां कर्मभ्यां परात् कृगो यथासंख्यं वत्से व्रीहौ च कर्तरि 'इः' प्रत्ययो भवति । शकृत्करिर्वत्सः, स्तम्बकरिर्व्रीहिः । वत्स-व्रीहाविति किम् ? शकृत्कारः, स्तम्बकारः ॥१००॥

किं-यत्-तद् बहोरः ॥ ५. १. १०१ ॥

एभ्यः कर्मभ्यः परात् करोतेरः प्रत्ययो भवति । किं करोति-किंकरः, किंकरा, यत्करः, यत्करा, तत्करः, तत्करा, चौर्ये-तस्करः । बहुकरः, बहुकरा; बहुकरीति संख्यावचनादुत्तरेण टः । जातिरिदानीं किंकरोति हेत्वादौ टः ॥१०१॥

संख्याऽह-र्दिवा-विभा-निशा-प्रभा-भाश्चित्र-कर्त्राद्यन्ता-ऽनन्त-कार-बाह्वरुर्धनुर्नान्दी-लिपि-लिबि-बलि-भक्ति-क्षेत्र-जङ्घा-क्षपा-क्षणदा-रजनि-दोषा-दिन-दिवसाट्टः ॥ ५. १. १०२ ॥

संख्येत्यर्थप्रधानमपि, तेनैकादिपरिग्रहः, एभ्यः कर्मभ्यः परात् करोतेष्टः प्रत्ययो भवति । अहेत्वाद्यर्थ आरम्भः ।

संख्यां करोति-संख्याकरः, एककरः, द्विकरः, त्रिकरः । अहस्करः, दिवाकरः, विभाकरः, निशाकरः, प्रभाकरः, भास्करः, चित्रकरः, कर्तृकरः, आदिकरः, अन्तकरः, अनन्तकरः कारकरः, बाहुकरः, अरुष्करः, धनुष्करः, नान्दीकरः, लिपिकरः, लिबिकरः, बलिकरः, भक्तिकरः, क्षेत्रकरः, जङ्घाकरः, क्षपाकरः, क्षणदाकरः, रजनिकरः, रजनीकरः, दोषाकरः, दिनकरः, दिवसकरः । टकारो ङ्यर्थः-संख्याकरी ॥१०२॥

हेतु-तच्छीला-ऽनुकूलेऽशब्द-श्लोक कलह-गाथा-वैर-चाटु-सूत्र-मंत्र-पदात् ॥ ५. १. १०३ ॥

हेतुः प्रतीतशक्तिकं कारणम्, तच्छीलं तत्स्वभावः, अनुकूल आराध्यचित्तानुवर्त्ती, एषु कर्तृषु शब्दादिवर्जितात् कर्मणः परात् करोतेष्टः प्रत्ययो भवति ।

हेतौ-यशः करोति-यशस्करी विद्या, शोककरी कन्या, कुलकरं धनम् । तच्छीले-

क्रीडाकरः, श्राद्धकरः । अनुकूले-प्रेषणाकरः, वचनकरः । हेत्वादिष्विति किम् ? कुम्भकारः । शब्दादिनिषेधः किम् ? शब्दकारः, श्लोककारः, कलहकारः, गाथाकारः, वैरकारः, चाटुकारः, सूत्रकारः, मन्त्रकारः, पदकारः । तच्छीले ताच्छीलिकश्च प्रत्यय उदाहार्यः ।।१०३

भृतौ कर्मणः ।। ५. १. १०४ ।।

कर्मन्शब्दात् कर्मणः परात् करोतेर्भृतौ गम्यमानायां टो भवति, भृतिर्वेतनं कर्ममूल्यमिति यावत् ।

कर्मकरो भृतकः, कर्मकरी दासी । भृताविति किम् ? कर्मकारः । पुनः कर्मग्रहणं शब्दरूपकर्मप्रतिपत्त्यर्थम् ।।१०४।।

क्षेम-प्रिय-मद्र-भद्रात् खाण् ।। ५. १. १०५ ।।

एभ्यः कर्मभ्यः परात् करोतेः 'ख अण्' इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः । क्षेमं करोति-क्षेमंकरः, क्षेमकारः । प्रियंकरः, प्रियकारः । मद्रंकरः, मद्रकारः । भद्रंकरः, भद्रकारः । भद्रात् केचिदेवेच्छन्ति । एभ्य इति किम् ? तीर्थकरः, हेत्वादिषु टः । 'तीर्थंकरः, तीर्थकारः' इत्यपि कश्चित् । खो वेति सिद्धे अण्ग्रहणं हेत्वादिषु टबाधनार्थम् ।

कथं योग-क्षेमकरी लोकस्येति ? उपपदविधिषु तदन्तविधेरनाश्रयणात्, अत एव "संख्या" (५-१-१०२) इति सूत्रेऽन्तग्रहणे सत्यप्यनन्तग्रहणम्, उत्तरत्र च भयग्रहणेऽप्यभयग्रहणम् ।।१०५।।

मेघर्ति-भया-ऽभयात् खः ।। ५. १. १०६ ।।

एभ्यः कर्मभ्यः परात् करोतेः खप्रत्ययो भवति । मेघान् करोति-मेघंकरः । ऋतिर्गतिः सत्यता वा, ऋतिंकरः, भयंकरः, अभयंकरः । हेत्वादिविवक्षायां टमपि बाधते परत्वात्-भयंकरं श्मशानम् ।।१०६।।

प्रिय-वशाद् वदः ।। ५. १. १०७ ।।

आभ्यां कर्मभ्यां पराद् वदेः खो भवति । प्रियं वदति-प्रियंवदः, वशंवदः ।।१०७।।

द्विषन्तप-परन्तपौ ।। ५. १. १०८ ।।

द्विषत्-परशब्दाभ्यां कर्मभ्यां परात् ण्यन्तात् तपेः खः प्रत्ययो ह्रस्वत्वं द्विषत्तकारस्य मकारश्च निपात्यन्ते । द्विषतस्तापयति-द्विषन्तपः, परंतपः । निपातनस्येष्टविषयत्वात् स्त्रियामनभिधानम्-द्विषतीतापः । अण्यन्तस्य च तपेर्न भवति-द्विषतः परांश्च तपति-द्विषत्तापः, परतापः ।।१०८।।

परिमाणार्थ-मित-नखात् पचः ।। ५. १. १०९ ।।

सर्वतो मानं परिमाणम्, तदर्थाः प्रस्थादयः शब्दाः, एभ्यो मित-नखाभ्यां च कर्मभ्यां परात् पचेः खः प्रत्ययो भवति । प्रस्थंपचा स्थाली, द्रोणंपचा दासी, अल्पंपचा मुनयः, "पान्तावल्पंपचान् मुनीन्," मितंपचा ब्राह्मणी, नखंपचा यवागूः ।।१०९।।

कूला-ऽभ्र-करीषात् कषः ।। ५. १. ११० ।।

एभ्यः कर्मभ्यः परात् कषेः खः प्रत्ययो भवति । कूलंकषा नदी, अभ्रंकषो गिरिः, करीषंकषा वात्या ।।११०।।

सर्वात् सहश्च ।। ५. १. १११ ।।

सर्वशब्दात् कर्मणः परात् सहेः कषेश्च खः प्रत्ययो भवति । सर्वं सहते-सर्वंसहो मुनिः, सर्वंकषः खलः ।।१११।।

भृ-वृ-जि-तृ-तप-दमेश्च-नाम्नि ।। ५. १. ११२ ।।

कर्मणः परेभ्य एभ्यः सहश्च खो भवति, नाम्नि-संज्ञायाम् । विश्वं बिभर्ति–विश्वंभरा वसुधा । वृ–पतिंवरा कन्या । जि–शत्रुञ्जयः पर्वतः, धनंजयः पार्थः । तृ–रथंतरं साम । तप–शत्रुंतपो राजा । दमिरन्तर्भूतण्यर्थो ण्यन्तश्च गृह्यते, बलिं दाम्यति दमयति वा–बलिंदमः कृष्णः, अरिंदमः, सह–शत्रुंसहः, एतौ राजानौ । नाम्नोति किम् ? कुटुम्बं बिभर्ति-कुटुम्बभारः । केचित् तु–रथेन तरति–रथंतरं सामेत्यकर्मणोऽपीच्छन्ति ।।११२।।

धारेर्धर् च ।। ५. १. ११३ ।।

कर्मणः परात् धारयतेः संज्ञायां खः प्रत्ययो भवति, 'धर्' इत्ययमादेशश्च । वसु धारयति-वसुंधरा पृथ्वी । युगंधरः, सीमंधरः, तीर्थंकरावेतौ । संज्ञायामित्येव–छत्रधारः ।।११३।।

पुरंदर-भगंदरौ ।। ५. १. ११४ ।।

एतौ संज्ञायां खप्रत्ययान्तौ निपात्येते । पुरो दारयति-पुरंदरः शक्रः, भगं दारयति-भगंदरो व्याधिः । दारयतेर्ह्रस्वः पुरोऽमन्तता च निपात्यते । पुरशब्दपूर्वस्य तु पुरदार इति भवति ।।११४।।

न्या० स०–पुरन्दर०–पुरशब्दपूर्वस्येति–निपातनस्येष्टविषयत्वात् ।

वाचंयमो व्रते ।। ५. १. ११५ ।।

व्रतं शास्त्रीयो नियमः, तस्मिन् गम्यमाने वाचः कर्मणः परात् यमेर्धातोः खो वाचश्चामन्तता निपात्यते । वाचं यच्छति नियमयति वा–वाचंयमो व्रती । व्रत इति किम् ? वाग्यामोऽन्यः ।।११५।।

न्या० स०-वाचंयमो-शास्त्रीयो नियम इति-शास्त्रं संजातमस्य उपदेशकतया, शास्तुः सकाशात् इतः प्राप्तो वा, यद्वा शास्तारं कर्मतापन्नमित. प्राप्तः ।

मन्याण्णिन् ॥ ५. १. ११६ ॥

कर्मणः परान्मन्यतेर्णिन् प्रत्ययो भवति । पण्डितं मन्यते बन्धुं-पंडितमानी बन्धोः । दर्शनीयां मन्यते भार्यां-दर्शनीयमानी भार्यया । श्यनिर्देश उत्तरार्थः ॥११६॥

न्या० स०-मन्या०-उत्तरार्थ इति-मनुतेर्निवृत्त्यर्थश्च ।

कर्तुः खश् ॥ ५. १. ११७ ॥

प्रत्ययार्थात् कर्तुः कर्मणः परान्मन्यतेः खश् प्रत्ययो भवति । यदा प्रत्ययार्थं कर्ता आत्मानमेव दर्शनीयत्वादिना धर्मेण विशिष्टं मन्यते तदाऽयं कर्म, तत्रायं विधिः ।

पण्डितमात्मानं मन्यते-पण्डितंमन्यः, पट्वीमात्मानं मन्यते पटि्वमन्या, विद्वन्मन्यः, विदुषिमन्या । असरूपत्वाण्णिन्नपि-पण्डितमात्मानं मन्यते-पण्डितमानी पटुमानिनी; विद्वन्मानी, विद्वन्मानिनी । कर्तुरिति किम् ? दर्शनीयमानी चैत्रस्य, पूर्वेणात्र णिन्नेव । शकारः शित्कार्यार्थः ॥११७ ।

एजेः ॥ ५. १. ११८ ॥

कर्मणः परादेजयतेः खश् भवति । अङ्गान्येजयति-अङ्गमेजयः, जनमेजयः, अरिमेजयः ॥११८॥

शुनी-स्तन-मुञ्ज-कूला-ऽऽस्य-पुष्पात् ट्धेः ॥ ५. १. ११९ ॥

एभ्यः कर्मभ्यः परात् ट्धेः खश् भवति । शुनीं धयति-शुनिंधयः, स्तनंधयः, मुञ्जंधयः, कूलंधयः, आस्यंधयः, पुष्पंधयः । मुञ्जादिभ्यः केचिदेवेच्छन्ति । ट्धेष्टकारो ङ्यर्थः-शुनिंधयी स्तनंधयी सर्वजातिः ॥११९॥

न्या० स०-शुनीस्तन०-शुनिंधयीति-क्रियावाचकत्वात् जातिद्वारा ङीर्न प्राप्त इति टकरणम् ।

नाडी-घटी-खरी-मुष्टि-नासिका-वाताद् ध्मश्च ॥ ५. १. १२० ॥

एभ्यः कर्मभ्यः पराद् धमतेष्ट्धेश्च खश् भवति । नाडीं धमति धयति वा-नाडिंधमः, नाडिंधयः । घटिंधमः, घटिंधयः । खरिंधमः, खरिंधयः । मुष्टिंधमः, मुष्टिंधयः । नासिकंधमः, नासिकंधयः । वातंधमः, वातंधयः ।

ङ्यन्तनिर्देशस्तदभावे खश्प्रत्ययनिवृत्त्यर्थः-नाडिं धमति धयति वा-नाडिध्मः, नाडिधः, घटध्मः, घटधः, खरध्मः खरधः ॥१२०॥

पाणि-करात् ॥ ५. १. १२१ ॥

आभ्यां कर्मभ्यां पराद् धमतेः खश् प्रत्ययो भवति । पाणिं धमति-पाणिंधमः, करंधमः । पाणि-करात् ट्धेरपीति कश्चित्-पाणिंधयः, करंधयः । पाणिंधमाः, करंधमाः, नाडिंधमाः पन्थान इति तद्योगाद्, यथा-मञ्चाः क्रोशन्तीति ।।१२१।।

न्या० स०-पाणिकरात्-पाणिंधमा इति पाणिंधमपुरुषयोगात् पथां ताच्छब्द्यं, अधिकरणे वा 'बहुलम्' ५-१-२ इति खश् इति पारायणम् ।

कूलादुद्रुजोद्वहः ॥ ५. १. १२२ ॥

कूलात् कर्मण पराभ्याम् 'उद्रुज् उद्वह्' इत्येताभ्यां परः खश् भवति । कूलमुद्रुजो गजः, कूलमुद्वहा नदी ।।१२२।।

वहा ऽभ्राल्लिहः ॥ ५. १. १२३ ॥

वहा-ऽभ्राभ्यां कर्मभ्यां पराल्लिहेः खश् भवति । वहं लेढि-वहंलिहो गौः, अभ्रंलिहः प्रासादः ।।१२३ ।

बहु-विध्वरुस्-तिलात् तुदः ॥ ५. १. १२४ ॥

एभ्यः कर्मभ्यः परात् तुदेः खश् भवति । बहुं तुदति बहुन्तुदं युगम्, विधुंतुदो राहु, अरुंतुदः पीडाकरः, तिलंतुदः काकः । बहोः केचिदेवेच्छन्ति ।।१२४।।

न्या० स०-बहुविध्वरु०-अरुंतुद इति-मोन्ते संयोगस्य' २ १-८८ इति स लोपः ।

ललाट-वात-शर्धात् तपा-ऽज-हाकः ॥ ५. १. १२५ ॥

ललाटादिभ्यः कर्मभ्यः परेभ्यो यथासंख्यं 'तप् अज् हाक्, इत्येतेभ्यः खश् भवति । ललाटं तपति ललाटंतपः सूर्यः, वातमजन्ति-वातमजा मृगाः, शर्धंजहति शर्धंजहा माषाः । खशः शित्त्वादजेर्वी आदेशो न भवति । हाकः ककारो हाङो निवृत्त्यर्थः ।।१२५।।

असूर्योग्राद् दृशः ॥ ५. १. १२६ ॥

असूर्योग्राभ्यां कर्मभ्यां परात् दृशेः खश् भवति । सूर्यमपि न पश्यन्ति-असूर्यंपश्या राजदाराः, दृशिनां संबद्धस्य नञः सूर्येण सहासामर्थ्येऽपि गमकत्वात् समासः । उग्रं पश्यति-उग्रंपश्यः ।।१२६।।

न्या० स०-असूर्यो०-गमकत्वादिति-वाक्यार्थप्रतिपादकत्वादित्यर्थः ।

इरंमदः ॥ ५. १. १२७ ॥

कर्मण इति निवृत्तम्, इरापूर्वान्माद्यतेः खश् श्याभावश्च निपात्यते । इरा-सुरा, तया माद्यतीतिइरंमदः ।।१२७।।

न्या० स०-इरंमदः-कर्मण इति निवृत्तमिति-निपातनात् धातोरकर्मकत्वाद् वा ।

नग्न-पलित-प्रिया-न्ध-स्थूल सुभगा-ऽऽढ्य-तदन्ताच्च्व्यर्थेऽच्वे-र्भुवः खिष्णु खुकञ् ॥ ५. १. १२८ ॥

नग्नादिभ्यः केवलेभ्यस्तदन्तेभ्यश्चाच्व्यन्तेभ्यश्च्व्यर्थे वर्तमानेभ्यः पराद् भवतेः खिष्णु-खुकञौ प्रत्ययौ भवतः।

अनग्नो नग्नो भवति-नग्नंभविष्णुः, नग्नंभावुकः, पलितंभविष्णुः, पलितंभावुकः; प्रियंभविष्णुः, प्रियंभावुकः; स्थूलंभविष्णुः स्थूलंभावुकः; सुभगंभविष्णुः, सुभगंभावुकः; आढ्यंभविष्णुः, आढ्यंभावुकः। तदन्तेभ्यः-अननग्नोऽनग्नो भवति-अनग्नंभविष्णुः, अनग्नंभावुकः, असुनग्नः सुनग्नो भवति-सुनग्नंभविष्णुः, सुनग्नंभावुकः; इत्यादि। च्व्यर्थ इति किम् ? नग्नो भविता। अच्वेरिति किम् ? आढ्यीभविता, तृच्। उपपदविधिषु तदन्तविधिरनाश्रित इति तदन्तग्रहणम् ॥१२८॥

कृगः खनट् करणे ॥ ५. १. १२९ ॥

नग्नादिभ्योऽच्व्यन्तेभ्यश्च्व्यर्थवृत्तिभ्यः परात् करोतेः करणे खनट् प्रत्ययो भवति। करण इति "कर्तरि" (५-१-३) इत्यस्यापवादः।

अनग्नो नग्नः क्रियतेऽनेन नग्नंकरणं द्यूतम्। एवं-पलितंकरणं तैलम्, प्रियंकरणं शीलम्, अन्धंकरणः शोकः, स्थूलंकरणं दधि, सुभगंकरणं रूपम्, आढ्यंकरणं वित्तम्। तदन्तेभ्योऽपि-अननग्नोऽनग्नः क्रियतेऽनेन-अनग्नंकरणः पटः, सुनग्नंकरणः, अपलितंकरणो रस इत्यादि। च्व्यर्थ इत्येव ? नग्नं करोति द्यूतेन, नात्र प्रकृतिविकारभावो विवक्ष्यते। अच्वेरित्येव ? नग्नीकुर्वन्त्यनेन अत्र खनट्प्रतिषेधसामर्थ्यादनडपि न भवति, नहि नाग्नीकरणमित्यत्रानट्-खनटो रूपे समासे स्त्रियां वा विशेषोऽस्ति। केचित् तु च्व्यन्तपूर्वादपि खनटमिच्छन्ति-नग्नीकरणं द्यूतम् ॥१२९॥

न्या० स०-कृगः खनट्-विशेषोऽस्तीति-च्व्यन्तत्वादव्ययत्वं खित्यनव्यय' ३-२-१११ इति मोन्तोऽपि न भवति।

भावे चाशिताद् भुवः खः ॥ ५. १. १३० ॥

आशितशब्दात् पराद् भवतेर्भावे करणे चाभिधेये खः प्रत्ययो भवति। आशितेन तृप्तेन भूयते भवता-आशितंभवो वर्तते भवतः; आशितो भवत्यनेन-आशितंभव ओदनः, आशितो भवत्यनया-आशितंभवा पञ्चपूली। असरूपत्वादनडपि-आशितस्य भवनम्, न घञ् सरूपत्वात्। आशित इति निर्देशादश्नातेः कर्तरि क्तो दीर्घत्वं च। आङ्पूर्वाद् वा अविवक्षितकर्मकात् कर्तरि क्तः ॥१३०॥

न्या० स०-भावे चाशिता-कर्त्तरि क्त इति-शील्यादित्वात् अविवक्षितकर्मकादिति-'गत्यर्थाकर्म्मक' ५-१-११ इत्यनेन।

नाम्नो गमः खड्-डौ च विहायसस्तु विहः ॥ ५. १. १३१ ॥

नाम्नः परात् गमेः "खड् ड" इत्येतौ खश्च प्रत्ययौ भवन्ति, विहायसूशब्दस्य च विहादेशो भवति ।

खड्-तुरो गच्छति-तुरंगः, भुजेन भुज इव वा गच्छति-भुजंगः, प्रवेण प्लवेन गच्छति-प्रवङ्गः, प्लवङ्गः, पतो गच्छति-पतंगः, विहायसा गच्छति-विहंगः । ड-तुरगः, भुजगः, प्लवगः, विहगः, अत्यन्तगः, सर्वगः, सर्वत्रगः, अनन्तगः, परदारगः, ग्रामगः, गुरुतल्पगः, प्रतीपगः पुरोगः, पीठगः, तीरगः । अग्रादिभ्यस्तदन्तेभ्योऽपि-अग्रगः, सेनाग्रगः, आदिगः, पङ्क्त्यादिगः, मध्यगः गृहमध्यगः, अन्तगः, शाखान्तगः, अध्वगः, नगराध्वगः, दूरगः, अदूरगः, पारगः, वेदपारगः, अगारगः, स्त्र्यगारगः, इत्यादि ।

अथ संज्ञायाम् खे गच्छति-खगः पक्षी, न गच्छति-अगो वृक्षः पर्वतश्च, एवं-नगः, उरसा गच्छति-उरगः पृषोदरादित्वात् सलोपः । पतो गच्छति-पतगः पक्षी । पद्भ्यां न गच्छति-पन्नं गच्छति वा-पन्नगः सर्पः । आपमर्धिं गच्छत्यापगा नदी । आशु गच्छति-आशुगः शरः । निम्नगा, समुद्रगा, सततगा, इत्यादि । अगो वृषल शीतेनेत्यसंज्ञायामपि । अथ खः-सुतं सुतेन वा गच्छति-सुतंगमो नाम हस्ती यस्य सौतंगमिः पुत्रः । मितं गच्छति-मितंगमोऽश्वः, अमितंगमा हस्तिनो, जनंगमश्चण्डालः, पूर्वंगमाः पन्थानः, हृदयंगमा वाचः, तुरंगमोऽश्वः, भुजंगमः सर्पः, प्रवंगमः कपिः, प्लवंगमो भेकः, विहंगमो नभसंगमश्च पक्षी, नभसशब्दोऽकारान्तोऽप्यस्ति । उरंगम इत्यपि कश्चित् । बहुलाधिकाराद् यथाप्रयोगदर्शनं व्यवस्था । डकारोऽन्त्यस्वरादिलोपार्थः ।। १३१ ।।

न्या० स०-नाम्नो गमः-भूजेनेति-भोजनं स्थादित्वात्कः, भूजेन कौटिल्येन गच्छति । भूज इवेति भुज्यतेऽनेन भुजः पाणिस्तद्वद्गच्छति, पतो गच्छतीति-क्षीरस्तु पतत्यनेन 'पुन्नाम्नि' ५-३-१३० इति घे पतः पक्षस्तैर्गच्छतीति । आपमर्धिं गच्छतीति-आपोऽत्र सन्ति ज्योत्स्नाद्यण्, अपामयमाधारत्वेन तस्येदमण् वा, आप्यते नदीभिरिति वा भावे घञ् ।

सुग-दुर्गमाधारे ।। ५. १. १३२ ।।

सु-दुर्भ्यां पराद् गमेराधारे डः प्रत्ययो निपात्यते । सुखेन दुःखेन च गम्यतेऽस्मिन्निति-सुगः, दुर्गः पन्थाः । आधार इति किम् ? सुगन्ता, दुर्गन्ता । असरूपत्वादनडपि भवति सुगमनः, दुर्गमनः । सुगमो दुर्गम इति कर्मणि ।। १३२ ।।

निर्गो देशे ।। ५. १. १३३ ।।

निस्पूर्वाद् गमेराधारे देशे डो निपात्यते । निर्गम्यतेऽस्मिन् देशे इति-निर्गो देशः । देश इति किम् ? निर्गमनः ।। १३३ ।।

शमो नाम्न्यः ।। ५. १. १३४ ।।

शमो नाम्नः पराद् धातोर्नाम्नि-संज्ञायामः प्रत्ययो भवति । शमित्यव्ययं सुखे वर्तते, तत्र भवति-शंभवोऽर्हन् । शं करोति-शंकरः, शंगरः, शंवरः, शंवदः । स्वः पश्येत्या-

दिष्वव्ययानां कर्मत्वदर्शनाच्छमि कर्मणि हेत्वादिष्वपि परत्वात् कृगष्टो बाध्यते- शंकरा नाम परिव्राजिका, शंकरा नाम शकुनिका तच्छीला च । नाम्नीति किम् ? शंकरी जिन-दीक्षा ।। १३४ ।।

न्या० स०-शमो नाम्न्यः-कर्मत्वदर्शनादिति-एकेऽव्ययानां कर्मत्वं न मन्यन्ते तन्मतमाक्षिप्याह- ऊर्ध्वादिभ्यः-ननु कर्तृ शब्दाद् बहुवचनं प्राप्नोति ऊर्ध्वादिविशेषणत्वात् ? सत्यं,-सामान्यमिदमित्येकवचनं, यथा-पञ्चादौ घुट् ।

पार्श्वादिभ्यः शीङः ॥ ५. १. १३५ ॥

पार्श्वादिभ्यो नामभ्यः परात् शीङः 'अः' प्रत्ययो भवति । पार्श्वाभ्यां शेते-पार्श्व-शयः, एवं-पृष्ठशयः, उदरशयः । दिग्घेन सह शेते-दिग्धसहशयः, दिग्धसहात् तृतीयासमा-सात् शीङोऽकारः, पश्चादुपपदसमासः । बहुवचनाद् यथादर्शनमन्येभ्योऽपि भवति । अनाधारार्थ आरम्भः ।।१३५।।

ऊर्ध्वादिभ्यः कर्तुः ॥ ५. १. १३६ ॥

ऊर्ध्वादिभ्यो नामभ्यः कर्तृवाचिभ्यः परात् शीङः 'अः' प्रत्ययो भवति । ऊर्ध्वः शेते-ऊर्ध्वशयः, एवम्-उत्तानशयः, अवमूर्धशयः । बहुवचनं प्रयोगानुसरणार्थम् ।।१३६।।

आधारात् ॥ ५. १. १३७ ॥

आधारवाचिनो नाम्नः परात् शीङः 'अ' प्रत्ययो भवति । खे शेते-खशयः, गर्तशयः, गुहाशयः, हृच्छयः, 'बिलेशयः, मनसिशयः, कुशेशयः' इति सप्तम्या अलुप् । गिरिश इति संज्ञायां लोमादित्वाच्छः, क्रियार्थत्वे तु गिरिशय इति भवितव्यम् ।।१३७।।

न्या० स०-आधारात्-गर्त्तशय इति-फणगर्तेति पुंस्त्रीत्वे गर्त्ते शेते इति वाक्यम् । कुशेशय इति-कश्चित्पुमान्, जलजे तु क्लीबत्वं स्यात् । क्रियार्थत्वे इति-कलापके क्रियार्थत्वे तिपि साधितं, न तच्छिष्टसम्मतम् ।

चरेष्टः ॥ ५. १. १३८ ॥

आधारवाचिनो नाम्नः पराच्चरेष्टः प्रत्ययो भवति । कुरुषु चरति-कुरुचरः, मद्र-चरः, वनेचरः निशाचरः । टकारो ङ्यर्थः-कुरुचरी, मद्रचरी । आधारादित्येव ? कुरूंश्च-रति, पञ्चालांश्चरति ।।१३८।।

न्या० स०-चरेष्टः-कुरूंश्चरतीति-प्राप्यात्कर्म्मणः क्वचिदण् भवतीति यद्यणा-नीयते तदा समासोऽपि भवति तथा च कुरुचारः पञ्चालचारः इत्यपि ।

भिक्षा-सेना-ऽऽदायात् ॥ ५. १. १३९ ॥

अनाधारार्थ आरम्भः, एभ्यः पराच्चरेष्टो भवति । भिक्षां चरति-भिक्षाचरः,

भिक्षाचरी । सेनां चरति-परीक्षते-सेनाचरस्तापसव्यञ्जनः, सेनया वा चरति-सेनाचरः । आदाय-गृहीत्वा चरति-आदायचरः, आदानं कृत्वा चरतीत्यर्थः, किमादायेत्यविवक्षैव । एभ्य इति किम् ? कुरूंश्चरति ॥१३९॥

न्या० स०-भिक्षासे०-तापसव्यञ्जन इति-तपोऽस्यास्ति ज्योत्स्नादित्वादण् तापसः, तस्य व्यञ्जनं चिह्नं यस्य, यद्वा तपस इदं तापसं तत् व्यञ्जनं यस्य, यद्वा तापस इति व्यज्यते प्रकटीक्रियते ज्ञायते तापसव्यञ्जनः, यद्वा तापसे व्यञ्जनं व्याजो यस्येति ।

पुरो-ऽग्रतो-ऽग्रे सर्तेः ॥ ५. १. १४० ॥

एभ्यो नामभ्यः परात् सर्त्तेष्टो भवति । पुरः सरति-पुरःसरः, पुरः-सरी । अग्रतः सरति-अग्रतःसरः, आद्यादित्वात् तस् । अग्रे सरति-अग्रेसरः. सप्तम्यलुप्, एकारान्तमव्ययं वा; सूत्रनिपातनाद् वैकारः, तत्राग्रं सरति अग्रेण वा सरति-अग्रेसर इत्यपि भवति ॥१४०॥

पूर्वात् कर्तुः ॥ ५. १. १४१ ॥

पूर्वशब्दात् कर्तृवाचिनः परात् सरतेष्टो भवति । पूर्वः सरति-पूर्वसरः, पूर्वो भूत्वा सरतीत्यर्थः, कस्मात् पूर्व इति अविवक्षैव; पूर्वसरी । कर्तुरिति किम् ? पूर्वं देशं सरति-पूर्वसारः ॥१४१॥

न्या० स०-पूर्वात्कर्तुः अविवक्षैवेति-तेन सापेक्षत्वात् समासो न प्राप्नोतीति न वाच्यम् ।

स्था-पा-स्ना-त्रः कः ॥ ५. १. १४२ ॥

नाम्नः परेभ्य एभ्यः कः प्रत्ययो भवति । समे तिष्ठति-समस्थः, विषमस्थः, कूटस्थः, कपित्थः, दधित्थः, महित्थः, अश्वत्थः, कुलत्थः । द्विपः, पादपः, कच्छपः, अनेकपः, कटाहपः । नदीष्णः । आतपत्रम्, घर्मत्रम् । परत्वादयं "शमो नाम्न्यः" (५-१-१३४) इत्यप्रत्ययं बाधते शंस्थो नाम कश्चित् । 'शंस्थाः' इत्यसरूपत्वात् क्विप् ॥१४२॥

शोकापनुद-तुन्दपरिमृज-स्तम्बेरम-कर्णेजप-प्रिया-ऽलस-हस्ति-सूचके । ५. १. १४३ ॥

शोकापनुदादयः शब्दा यथासंख्यं प्रियादिष्वर्थेषु कप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते । शोकमपनुदति-शोकापनुदः प्रियः, पुत्रादिरानन्दकर एवमुच्यते । तुन्दं परिमार्ष्टि-तुन्दपरिमृजोऽलसः, स्तम्बे रमते-स्तम्बेरमो हस्ती, कर्णे जपति-कर्णेजपः सूचकः । एष्विति किम् ? शोकापनोदो धर्माचार्यः, तुन्दपरिमार्ज आतुरः, स्तम्बे रन्ता पक्षी, कर्णे जपिता मन्त्री ।४३।

मूलविभुजादयः ॥ ५. १. १४४ ॥

मूलविभुजादयः शब्दाः कप्रत्ययान्ता नियतार्थधातूपपदा यथाशिष्टप्रयोगं निपात्यन्ते ।

मूलानि विभुजति-मूलविभुजो रथः, उर्व्यां रोहति-उर्वीरुहो वृक्षः, कौ मोदते-कुमुदं कैरवम्, महीं धरति-महीध्रः शैलः, उषसि बुध्यते-उषर्बुधोऽग्निः, अपो बिभर्ति-अभ्रं मेघः, सरसि रोहति-सरसिरुहं पद्मम्, नखानि मुञ्चन्ति-नखमुचानि धनूंषि, काकेभ्यो गूहनीयाः-काकगुहास्तिलाः, धर्माय प्रददाति-धर्मप्रदः, एवं-कामप्रदः, शब्दप्रदः । शास्त्रेण प्रजानाति-शास्त्रप्रज्ञः, एवम्-आगमप्रज्ञः ॥१४४।

न्या० स०-मूलविभूजा-उर्वीरुह इति-'ङस्युक्तम्' ३-१-४९ इति समासार्थमत्र पाठोऽन्यथा 'नाम्युपान्त्य' ५-१-५४ इति सिध्यति, एवं धर्मप्रद इत्यत्रापि, अत्र हि 'उपसर्गादातो डोऽश्यः' ५-१-५६ इति डें समासो न स्यात् ।

दुहेर्डुघः ॥ ५. १. १४५ ॥

नाम्नः पराद् दुहेर्डुघः प्रत्ययो भवति । कामान् दुग्धे पूरयति-कामदुघा, धर्माय दुग्धे-धर्मदुघा । असरूपत्वात् क्विप्-कामधुक् । डकारोऽन्त्यस्वरादिलोपार्थः ॥१४५॥

भजो विण् ॥ ५. १. १४६ ॥

नाम्नः पराद् भजेर्विण् प्रत्ययो भवति । अर्धं भजते-अर्धभाक्, पादभाक्, दूरभाक्, प्रभाक्, विभाक् । णकारो वृद्ध्यर्थः, इकार उच्चारणार्थः, वकारो विण्-क्विपोः सारूप्यार्थस्तेनात्र विषये क्विप् न भवति ॥१४६॥

मन् वन् क्वनिप् विच् क्वचित् ॥ ५. १. १४७ ॥

नाम्नः पराद् धातोरेते प्रत्ययाः क्वचित्-लक्ष्यानुसारेण भवन्ति ।

मन्-इन्द्रं शृणाति-इन्द्रशर्मा, सुशर्मा, सुवर्मा, सुदामा, अश्वत्थामा । क्वचिद्ग्रहणात् केवलादपि-शर्म, वर्म, हेम, दामा, पामा । वन्-भूरिदावा, घृतपावा, अग्रेगावा, विजावा-"वन्याङ् पञ्चमस्य" (४-२-६५) इत्यात्वम् । क्वनिप् प्रातरित्वा, प्रातरित्वानौ; सुधीवा, सुपीवा । केवलादपि-कृत्वा, कृत्वानौ; धीवा, पीवा । विच्-कीलालपाः, शुभंयाः, पाप्मरेट् । केवलादपि-रेट्, रोट्, वेट्, जागः । ककार-पकारौ कित्-पित्-कार्यार्थौ ॥१४७॥

क्विप् ॥ ५. १. १४८ ॥

नाम्नः पराद् धातोः क्विप् प्रत्ययो भवति क्वचित् । उखेन उखया वा स्रंसते-उखास्रत्, वहात् भ्रश्यति-वहाभ्रट्, "घञ्युपसर्गस्य बहुलम्" (३-२-८६) इति बहुलग्रहणादुख-वहयोर्दीर्घः । पर्णानि ध्वंसते-पर्णध्वत् । शकान्-ह्वयति--शकहूः । परिव्ययति-परिवीः । यवलूः, खलपूः, अक्षद्यूः, मित्रभूः, प्रतिभूः, कटचिकीः ।

केवलादपि-पाः, वाः, कीः, गीः ऊः, लूः, कुङ्, पक् । सदि--सू-द्विष--द्रुह-दुह-युज-विद-भिद-च्छिद-जि-नी-राजिभ्यश्च । दिवि सीदति-दिविषत्, सप्तम्या अलुप्, भीरुष्ठाना-

दित्वात् षत्वं च । द्युसत्, अन्तरिक्षसत्, सभासत्, प्रसीदति प्रसत्, उपसत् । अण्डं सूते-अण्डसूः, शतसूः, प्रसूः । मित्रं द्वेष्टि-मित्रद्विट्, 'प्रद्विट् द्विषो जेघ्नीयिषोष्ट वः' । मित्राय द्रुह्यति-मित्रध्रुक् प्रध्रुक् विध्रुक् । गां दोग्धि-गोधुक्, कामधुक् प्रधुक् । अश्वं युनक्ति युज्यते वा-अश्वयुक्, प्रयुक्; युङ्, युञ्जौ, युञ्जः । तत्त्ववित्, वेदवित् प्रवित्, 'निर्विविदे विदां वरः', विदेरविशेषेण ग्रहणम्, लाभार्थस्येच्छन्त्येके । काष्ठं भिनत्ति-काष्ठभित्, बलभित्, गोत्रभित्, भिद् । रज्जुं छिनत्ति-रज्जुच्छित्, तमश्छित्, मर्मच्छित्, प्रच्छित्, छित् । शत्रुं जयति-शत्रुजित्, प्रसेनजित्, कर्मजित्, प्रजित्, अभिजित् । सेनां नयति-सेनानीः, अग्रणीः, ग्रामणीः, प्रणी; नीः, नियौ, नियः । विश्वस्मिन् राजते-विश्वाराट्, विश्वस्य "वसु-राटोः" (३-२-८१) इति दीर्घः, राजराट्, सम्राट्, विराट्, राट् । अञ्चेः-दध्यञ्चति-दध्यङ्, देवमञ्चति-देवद्र्यङ्, अदद्र्यङ् विश्वद्र्यङ्, यिर्यङ्, सध्र्यङ्, सम्यङ्, प्राङ्, प्रत्यङ्; केवलान्न भवति ।

तथा ऋतौ ऋतुम् ऋतवे ऋतुप्रयोजनो वा यजते-ऋत्विग् याजकः, "ऋत्विज्०" (२-१-६६) इत्यादिसूत्रेण गत्वम् । धृष्णोति-दधृक् प्रगल्भः, दधृगि-(षि)ति निर्देशात् द्वित्वम् । उत्स्निह्यति उष्णिह्यति वा-उष्णिक् छन्दः, उष्णिगिति निर्देशात् दलोप-षत्वादि । कथं 'दिश्यते दिक्, सृज्यते-स्रक्' ? कृत्संपदादित्वात् क्विप् । ककारः कित्कार्यार्थः । पकारः पित्कार्यार्थः । इकार उच्चारणार्थः ॥१४८॥

न्या० स०-क्विप्-उखेन उखया वेति-पुते वर्तमान उखशब्दः पुंस्त्री स्थाल्यां नित्यस्त्रीति वैयाकरणा मन्यन्ते पा इति-'ईर्व्यञ्जने' ४-३-९७ इत्यत्र साक्षात् व्यञ्जनग्रहणात् क्विप्लोपे ईत्वं न ।

स्पृशोऽनुदकात् ॥ ५. १. १४९ ॥

उदकवर्जितान्नाम्नः परात् स्पृशेः क्विप् प्रत्ययो भवति । घृतं स्पृशति-घृतस्पृक् । एवं-मर्मस्पृक्, व्योमस्पृक् । मन्त्रेण स्पृशति-मन्त्रस्पृक् । कर्मोपपदादेवेच्छन्त्यन्ये ।

अनुदकादिति किम् ? उदकस्पर्शः, उदकेन स्पर्ष्टा । अनुदक इति पर्युदासाश्रयणादुदकसदृशमनुपसर्गनाम गृह्यते तेनेह न भवति-उपस्पृशति ॥१४९॥

अदोऽनन्नात् ॥ ५. १. १५० ॥

अन्नवर्जितान्नाम्नः परादर्देः क्विप् प्रत्ययो भवति । आममत्ति-आमात्, सस्यात् । अनन्नादिति किम् ? अन्नादः । बहुलाधिकारात्-कणादः, पिप्पलादः । क्विप् सिद्धोऽन्नप्रतिषेधार्थं वचनम् ॥१५०॥

न्या० स०-अदोन-ननु लक्ष्यानुसारेण क्विप् ५-१-१४८ इति क्विप् भविष्यति किमनेन ? सत्यं,-तस्यैव प्रपञ्चोऽयमिति ।

क्रव्यात्-क्रव्यादावाम पक्वादौ ॥ ५. १. १५१ ॥

'क्रव्यात् क्रव्याद' इत्येतौ शब्दौ यथासंख्यं क्विबणन्तौ साधू भवतः, यद्यामात् पक्वाच्चाभिधेयौ भवतः।

क्रव्यमत्ति-क्रव्यात्, आममांसभक्षः, क्रव्यादः पक्वमांसभक्षः। क्रव्याद इति नेच्छन्त्यन्ये। आममांसवाच्यपि क्रव्यशब्दः क्रव्याद इति निपातनसामर्थ्यात् वृत्तौ पक्वमांसे वर्तते। अथवा कृत-विकृत्तशब्दस्य पक्वमांसार्थस्य पृषोदरादित्वात् क्रव्यादेशः। सिद्धौ प्रत्ययौ विषयनियमार्थं वचनम् ।।१५१।।

न्या० स०-क्रव्यात्-आममांसभक्ष इति-आमं च तत् मांसं चाममांसं तत् भक्षयतीति 'शीलिकामि' ५-१-७३ इति णः। कृत्तविकृत्तशब्दस्येति-विशेषेण कृत्तं विकृत्तं, पूर्वं कृत्तं पश्चाद्विकृत्तं कृत्तं च तद्विकृत्तं च कृत्तविकृत्तं तस्य।

त्यदाद्यन्यसमानादुपमानाद्व्याप्ये दृशष्टक्सकौ च ।। ५. १. १५२ ।।

त्यदादेरन्यशब्दात् समानशब्दाच्चोपमानभूताद् व्याप्ये कर्मणि वर्तमानात् परात् दृशेर्व्याप्य एव टक् सकौ क्विप् च प्रत्यया भवन्ति।

त्यदादि-स्य इव दृश्यते-त्यादृशः, त्यादृशी, त्यादृक्षः, त्यादृक्षा, त्यादृक्, एवं-तादृशः, तादृशी, तादृक्षः, तादृक्षा, तादृक्। अन्य-अन्यादृशः, अन्यादृशी, अन्यादृक्षः, अन्यादृक्षा, अन्यादृक्। समान-सदृशः, सदृशी, सदृक्षः, सदृक्षाः, सदृक्। केचित् सकमपि टितं मन्यते, तन्मते-त्यादृक्षीत्याद्येव भवति।

एष्य इति किम्? वृक्ष इव दृश्यते। उपमानादिति किम्? स दृश्यते। व्याप्ये वर्तमानादिति किम्? तेनेव दृश्यते, तस्मिन्निव दृश्यते, अस्मिन्निव दृश्यते। व्याप्य एवेति किम्? तमिव पश्यन्तीत्यत्र कर्तरि न भवति। वचनभेदान्न यथासंख्यम् ।।१५२।।

कर्तुर्णिन् ।। ५. १. १५३ ।।

कर्तृवाचिन उपमानभूतान्नाम्नः पराद्धातोर्णिन् प्रत्ययो भवति। कृत्त्वात् कर्तरि।
उष्ट्र इव क्रोशति-उष्ट्रक्रोशी, ध्वाङ्क्षरावी, खरनादी, सिंहनर्दी। कर्तुरिति किम्? शालीनिव कोद्रवान् भुङ्क्ते, उष्ट्रमिवाश्वमारोहति। उपमानभूतादित्येव? उष्ट्रः क्रोशति। अशीलार्थो जात्यर्थश्चारम्भः ।।१५३।।

अजातेः शीले ।। ५. १. १५४ ।।

अजातिवाचिनो नाम्नः पराद् धातोः शीलेऽर्थे वर्तमानात् णिन् प्रत्ययो भवति? उष्णं भुङ्क्ते इत्येवंशीलः-उष्णभोजी, शीतभोजी। अजातेरिति प्रसज्यप्रतिषेधादसत्त्ववाचिनोऽप्युपसर्गाद् भवति। उदासरतीत्येवंशीलः-उदासारी, प्रत्यासारी, प्रस्थायी, प्रतिबोधी, प्रयायी, प्रतियायी। उदाङ्-प्रत्याङ्भ्यां परं सर्तिं वर्जयित्वाऽन्यस्माद् धातोरुपसर्गपरान्नेच्छन्त्यन्ये।

अजातेरिति किम्? ब्राह्मणानामन्त्रयिता, शालीन् भोक्ता। प्रभोक्ता, उपभोक्ता, संभोक्ता इति बहुलाधिकारान्न भवति। शील इति किम्? उष्णभोज आतुरः ।।१५४।।

न्या० स०-अजातेः-प्रसज्यप्रतिषेधादिति-पर्युदासाश्रयणे तु जातिवाचिनो द्रव्यरूप-निषेधादजातिवाचिनोऽपि द्रव्यवचनादेव स्यात् । **सत्ति वर्जयित्वेति**-उत्प्रतिभ्यामाङः सत्तेः रिति परसूत्रमत्रार्थे ।

साधौ ॥ ५. १. १५५ ॥

नाम्नः परात् साधावर्थे वर्तमानात् धातोर्णिन् प्रत्ययो भवति । अशीलार्थ आरम्भः ।

साधु करोति साधुकारी, साधुदायी, चारुनर्ती, सुष्टुगामी । बहुलाधिकारात् 'साधु वादयति वादको वीणाम्, साधु गायति' इत्यादौ न भवति ॥१५५॥

ब्रह्मणो वदः ॥ ५. १. १५६ ॥

ब्रह्मन्शब्दात् पराद् वदेर्णिन् प्रत्ययो भवति । ब्रह्म ब्रह्माणं वा वदति—ब्रह्मवादी । अयमप्यशीलार्थ आरम्भः, जात्यर्थोऽसरूपविधिनिवृत्त्यर्थश्च ॥१५६॥

न्या० स०-ब्रह्मणो-निवृत्त्यर्थश्चेति-'कर्मणोऽण्' ५-१-७२ इत्यादेः ।

व्रता-ऽऽभीक्ष्ण्ये ॥ ५. १. १५७ ॥

व्रतं शास्त्रितो नियमः, आभीक्ष्ण्यं पौनः-पुन्यम्, तयोर्गम्यमानयोर्नाम्नः पराद् धातोर्णिन् प्रत्ययो भवति ।

व्रते-अश्राद्धं भुङ्क्ते-अश्राद्धभोजी, अलवणभोजी, स्थण्डिलस्थायी, स्थण्डिलवर्ती, वृक्षमूलवासी, पार्श्वशायी, तदन्यवर्जनमिह व्रतं गम्यते । आभीक्ष्ण्ये-पुनः पुनः क्षीरं पिबन्ति-क्षीरपायिण उशीनराः, तक्रपायिणः सौराष्ट्राः, कषायपायिणो गान्धाराः, सौवीरपायिणो बाह्लीकाः ।

व्रता-ऽऽभीक्ष्ण्य इति किम् ? स्थण्डिले शेते-स्थण्डिलशयः । बहुलाधिकारादाभीक्ष्ण्ये-ऽपीह न भवति-कुल्माषखादाश्चोलाः । अशीलार्थं जात्यर्थं च वचनम् ॥१५७॥

न्या० स०-व्रताभी०-सूत्रत्वात् समाहारः, कर्मधारयो वा । **अश्राद्धभोजीति**-श्राद्धं पितृदेवत्यं कर्म्म तदुद्दिश्य यत् क्रियते पिण्डादिकं तदपि श्राद्धम् । **तदन्यवर्जनमिति**-तस्या-श्राद्धस्यान्यत् श्राद्धं तस्य वर्जनम् ।

उशीनरा इति-उश्यते स्थादित्वात् कः, गौरादित्वात् ङी, उशी नगरी तस्या नराः ।

सौराष्ट्रा इति-सुराष्ट्रशब्द एकवचनान्तोऽपि केषां मते इति 'बहुविषयेभ्यः' ६-३-४५ इति नाकञ् किं त्वणेव । यद्वा सुराष्ट्रा नगरी तस्यां भवाः । **गान्धारा इति**-गन्धारदेश-स्येमे तस्येदमण् ।

करणाद् यजो भूते ॥ ५. १. १५८ ॥

करणवाचिनो नाम्नः पराद् भूतेऽर्थे वर्तमानाद् यजेर्णिन् प्रत्ययो भवति ।

अग्निष्टोमेनेष्टवान्-अग्निष्टोमयाजी, भवति हि सामान्यविशेषयोर्भेदविवक्षायां सामान्ययजौ विशेषयजिरग्निष्टोमः करणम् । भूत इति किम् ? अग्निष्टोमेन यजते । करणादिति किम् ? गुरूनिष्टवान् ॥१५८॥

निन्द्ये व्याप्यादिन् विक्रियः ॥ ५. १. १५९ ॥

व्याप्यान्नाम्नः परात् विपूर्वात् क्रीणातेर्भूतेऽर्थे वर्तमानात् कुत्सिते कर्तरीन् प्रत्ययो भवति ।

सोमं विक्रीतवान्-सोमविक्रयी, घृतविक्रयी, तैलविक्रयी ब्राह्मणः । निन्द्य इति किम् ! धान्यविक्रायः, घृतविक्रायः, तैलविक्रायो वणिक् । व्याप्यादिति किम् ? ग्रामे विक्रीतवान् । भावेऽलन्तस्य मत्वर्थीयेनेना सिध्यति कुत्सायामण्बाधनार्थं वचनम् ॥१५९॥

हनो णिन् ॥ ५. १. १६० ॥

व्याप्यान्नाम्नः पराद् भूतेऽर्थे वर्तमानात् हन्तेर्निन्द्ये कर्तरि णिन् प्रत्ययो भवति ।

पितृव्यं हतवान्-पितृव्यघाती, मातुलघाती । असरूपत्वादणपि-पितृव्यघातः, मातुलघातः । केचित् त्वसरूपविधिं नेच्छन्ति । निन्द्य इत्येव ? शत्रुं हतवान् शत्रुघातः, चौरघातः । व्याप्यादित्येव ?-दण्डेन हतवान् । घञन्तान्मत्वर्थीयेनेना सिद्धे भूतकुत्साभ्यामन्यत्र शत्रुघातीत्यादौ मत्वर्थीयनिवृत्त्यर्थं वचनम् । अन्यत्रापीच्छन्त्यन्यः । एवं पूर्वसूत्रेऽपि ॥१६०॥

न्या० स०-हनो णि-मत्वर्थीयनिवृत्त्यर्थमिति-हननं घातः घञि पश्चान्मत्वर्थीयो न । एवं पूर्वसूत्रेऽपीति-पूर्वसूत्रेऽनुक्तमपि द्वितीयमिदं फलं द्रष्टव्यम्, इह तु इदमेव ततोऽसरूपत्वादणत्रानुज्ञातः, घञन्तादित्याद्यारभ्येच्छन्त्यन्य इति पर्यन्तं पूर्वसूत्रेऽपीत्यत्र ज्ञेयम् ।

ब्रह्म-भ्रूण-वृत्रात् क्विप् ॥ ५. १. १६१ ॥

ब्रह्मादिभ्यः कर्मभ्यः पराद् भूतेऽर्थे वर्तमानाद्धन्तेः क्विप् प्रत्ययो भवति ।

ब्रह्माणं हतवान्-ब्रह्महा, भ्रूणहा, वृत्रहा । "क्विप्" (५-१-१४८) इत्यनेनैव सिद्धे नियमार्थं वचनम्, चतुर्विधश्चात्र नियमः ।

१-ब्रह्मादिभ्य एव हन्तेर्भूते क्विप् नान्यस्मात्-पुरुषं हतवान्-पुरुषघातः । 'मधुहा, अहिहा, गोत्रहा, हिमहा, तमोपहा, असुरहा, आखुहा' इत्यादिषु वर्तमानभविष्यतोः कालमात्रे वा "क्विप् । (५-१-१४८) इत्यनेनैव क्विप् ।

२-तथा ब्रह्मादिभ्यो हन्तेरेव भूते नान्यस्माद् धातोः क्विप्-ब्रह्माधीतवान् ब्रह्माध्याय इत्यणेव न तु क्विप् । ब्रह्मविदादयस्तु भूताविवक्षायाम् ।

३-तथा ब्रह्मादिभ्यो हन्तेर्भूते क्विबेव नान्यः प्रत्ययः-ब्रह्माणं हतवान्-ब्रह्महा इति क्विबेव भवति नाण्-णिनौ । ब्रह्मघ्नादयस्तु कालसामान्येन 'ब्रह्मादिभ्यः'' (५-१-८५) इति टक् प्रत्यये साधवः । कथं 'वृत्रस्य हन्तुः कुलिशम्' इति ? केवलादेव हन्तेस्तृच्

पश्चाद् वृत्रेण सम्बन्धः । ❀ मध्येऽपवादाः पूर्वान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान् ❀ इति क्विपाऽणादिरेव बाध्यते न क्त-क्तवतू ।

४-तथा ब्रह्मादिभ्यो हन्तेर्भूत एव काले क्विप् नान्यस्मिन्-ब्रह्माणं हन्ति हनिष्यति वा-ब्रह्मघात इत्यणेव । तदेतत् सर्वं बहुलाधिकाराल्लभ्यते ।।१६१।।

न्या० स०-ब्रह्मभ्रू०-कालमात्रे वा क्विबिति-कया रीत्या मधोर्हन्ता कोऽर्थः ? मधुहननयोग्यः काल इति वाक्ये क्विपि मधुहेत्यादि । ब्रह्मघात इति-'ब्रह्मादिभ्यः' ५-१-८५ इति टक् प्रसङ्गेऽपि बहुलमण् ।

कृगः सुपुण्य-पाप-कर्म-मन्त्र-पदात् ।। ५. १. १६२ ।।

सुशब्दात् पुण्यादिभ्यश्च कर्मभ्यः परात् करोतेर्भूतेऽर्थे वर्तमानात् क्विप् भवति ।

सुष्ठु कृतवान्-सुकृत्, पुण्यं कृतवान्-पुण्यकृत्, पापकृत्, कर्मकृत्, मन्त्रकृत्, पदकृत् । इदमपि नियमार्थं वचनम् । त्रिविधश्चात्र नियमः ।

१-एभ्यः कृग एव भूते क्विप् नान्यस्माद् धातोः-मन्त्रमधीतवान्-मन्त्राध्याय इत्यण्क्ता एव भवन्ति, न क्विप् । 'मन्त्रवित्, पापनुत्' इत्यादौ तु भूताविवक्षायां क्विप् ।

२-तथा एभ्यः कृगो भूत एव क्विप् । इह न भवति-कर्म करोति करिष्यति वा-कर्मकारः, मन्त्रकारः, पदकारः ।

३-तथा एभ्यः परात् कृगो भूते क्विबेव नान्यः प्रत्ययः, तेन कर्म कृतवान्-कर्मकार इति न भवति । एभ्य एव भूते कृगः क्विबिति धातुनियमो नेष्यते, तेन 'शास्त्रकृत्, तीर्थकृत्, वृत्तिकृत्, सूत्रकृत्, भाष्यकृत्' इत्यादयः सिद्धाः ।।१६२।।

न्या० स०-कृग सुपुण्य-इत्यण्क्ता एवेति-अण् च क्तौ चाण्क्ताः क्तवतुर्दर्शित एव क्तप्रत्ययस्तु आरम्भे यः क्तः स एव गृह्यते, अन्यस्य भावकर्मणोर्विधानात्, 'गत्यर्थ' ५-१-११ इत्यस्य तु सकर्मकत्वादप्राप्तिः ।

सोमात् सुगः ।। ५. १. १६३ ।।

सोमात् कर्मणः परात् सुनोतेर्भूतेऽर्थे वर्तमानात् क्विप् भवति ।

सोमं सुतवान्-सोमसुत् । अयमपि नियमार्थो योगः । चतुर्विधश्चात्रापि नियमः । १-सोमादेवेति नियमात्-सुरां सुतवान्-सुरासाव इत्यण् । सुरासुदिति भूताविवक्षायाम् । २-सुग एवेति नियमात्-सोमं पीतवान्-सोमपा इति विच् । ३-भूत एवेति नियमात्-सोमं सुनोति सोष्यति वा-सोमसाव इत्यण् । ४-क्विबेवेति नियमात्-सोमं सुतवान् इत्यण् न भवति ।।१६३।।

अग्नेश्चेः ।। ५. १. १६४ ।।

अग्नेः कर्मणः पराच्चिनोतेर्भूतेऽर्थे वर्तमानात् क्विप् भवति ।

अग्निं चितवान्-अग्निचित् । अत्रापि चतुर्विधो नियमः । १-अग्नेरेवेति नियमात्-कुड्यं चितवान्-कुडचचाय इत्यण् । २-चेरेवेति नियमात्-अग्निं कृतवान्--अग्निकारः । ३--भूत एवेति नियमात्--अग्निं चिनोति चेष्यति वा--अग्निचायः । ४--क्विबेवेति नियमात्-अग्निं चितवानित्यण् न भवति ।।१६४।।

कर्मण्यग्न्यर्थे ।। ५. १. १६५ ।।

कर्मणः परात् भूतेऽर्थे वर्तमानाच्चिनोतेः कर्मणि कारकेऽग्न्यर्थेऽभिधेये क्विप् भवति ।

श्येन इव चीयते स्म--श्येनचित्, एवं--कङ्कचित्, रथचक्रचित्, अग्न्यर्थं इष्टकचय उच्यते । बहुलाधिकाराद्रूढिविषय एवायं द्रष्टव्यः । केचित् तु संज्ञाशब्दत्वात् कालत्रयेऽप्ययं भवतीत्याहुः--श्येन इव चीयते चितश्चेष्यते वा--श्येनचित् ।।१६५।।

दृशः क्वनिप् ।। ५. १. १६६ ।।

कर्मणः परात् दृशो भूतेऽर्थे वर्तमानात् क्वनिप् प्रत्ययो भवति । मेरुं दृष्टवान्--मेरुदृश्वा विश्वदृश्वा, बहुदृश्वा, परलोकदृश्वा । सामान्यसूत्रेण क्वनिपि सिद्धे भूतकाले प्रत्ययान्तरबाधनार्थं वचनम् ।।१६६।।

न्या० स०--दृशः क्व--प्रत्ययान्तरबाधनार्थमिति--अणादेरित्यर्थः ।

सह-राजभ्यां कृग्-युधेः ।। ५. १. १६७ ।।

सहशब्दात् राजन्शब्दाच्च कर्मणः परात् करोतेर्युधेश्च वर्तमानात् क्वनिप् प्रत्ययो भवति ।

सह कृतवान्--सहकृत्वा, सहकृत्वानौ । सहयुद्धवान्-सहयुध्वा, सहयुध्वानौ । राजानं कृतवान् राजकृत्वा । राजानं योधितवान्--राजयुध्वा । युधिरन्तर्भूतण्यर्थः सकर्मकः । कर्मण इत्येव ? राज्ञा युद्धवान् । प्रत्ययान्तरबाधनार्थोऽयमप्यारम्भः ।।१६७।।

अनोर्जनेर्डः ।। ५. १. १६८ ।।

कर्मणः परादनुपूर्वाज्जनेर्भूतेऽर्थे वर्तमानाड्डः प्रत्ययो भवति ।

पुमांसमनुजातः-पुमनुजः, स्त्र्यनुजः, आत्मानुजः । अनुपूर्वो जनिर्जननोपसर्जनायां प्राप्तौ वर्तमानः सकर्मकः ।।१६८।।

न्या० स०-अनोर्जने-पुमनुज-इति पुमांसमनुजननेन प्राप्तवानित्यर्थः । जननोपसर्जनायामिति-जननमुपसर्ज्जनं यस्याः ।

सप्तम्याः ।। ५. १. १६९ ।।

सप्तम्यन्तान्नाम्नः पराद् भूतेऽर्थे जनेर्डो भवति ।

उपसरे जातः-उपसरजः, मन्दुरायां मन्दुरे वा जातः मन्दुरजः, अप्सु जातम्-अप्सुजम्, अब्जम् ।।१६९।।

न्या० स०-सप्तम्याः-अप्सुजमिति-'वर्षक्षर' ३-२-२६ इति वाऽलुक् ।

अजातेः पञ्चम्याः ॥ ५. १. १७० ॥

पञ्चम्यन्तादजातिवाचिनो नाम्नः परात् भूतेऽर्थे जनेर्डो भवति ।

बुद्धेर्जातो-बुद्धिजः संस्कारः, संस्कारजा स्मृतिः, संतोषजं सुखम्, कौशल्याया जातः-कौशल्याजः, संज्ञाशब्दोऽत्रोपपदम् । अजातेरिति किम् ? हस्तिनो जातः, अश्वाज्जातः ॥१७०॥

न्या० स०-अजातेः प-**कौशल्याज इति**-कोशलस्यापत्यं स्त्री 'दुनादि' ६-१-११८ इति ञ्यः । ननु गोत्रं च चरणैः सहेति जातित्वे डो न प्राप्नोति अतोऽत्र कथम् ? इत्याह-**संज्ञाशब्द इति ।**

क्वचित् ॥ ५. १. १७१ ॥

उक्तादन्यत्रापि क्वचिल्लक्ष्यानुसारेण डो भवति ।

उक्तान्नाम्नोऽन्यतोऽपि-किं जातेन-किंजः, केन जातः-किंजोऽनिर्ज्ञातपितृकः, अलं जातेनालंजः, द्विर्जातो द्विजः, न जातोऽजः, अधिजातोऽधिजः, उपजः, परिजः, प्रजाताः-प्रजाः, अभिजः । अकर्मणोऽपि-अनुजः । जातेरपि-ब्राह्मणजः पशुवधः, क्षत्रियजं युद्धम् स्त्रीजमनृतम् । उक्ताद्धातोरन्यतोऽपि-ब्रह्माणि जीनवान्-ब्रह्मज्यः । उक्तान्नाम्नो धातोश्चान्यतोऽपि-वरमाहृतवान्-वराहः । उक्तान्नाम्नो धातोः कारकाच्चान्यतोऽपि-परिखाता-परिखा, आखाता-आखा, उपखाता-उपखा ।

नाम-धातु-कालान्यत्वे-मित्रं ह्वयति-मित्रह्वः, अणोऽपवादो डः । धातु-कारकान्यत्वे-पटे हन्यते स्म-पटहः । धातुकालान्यत्वे-वार्चरति-वार्चो हंसः । नाम-कारकान्यत्वे-पुंसानुजातः-पुंसानुजः । नामाभावे उक्तधातु-कालान्यत्वे-अटति अतति वा-अः, कायति कामयते वा-कः, भातीति-भं नक्षत्रम् । नामाभावे उक्तधातु-काल-कारकान्यत्वे च खन्यत इति-खम् ॥१७१॥

न्या० स०-क्वचित्-**वार्चो हंस इति**-'वार्हपत्यादयः' १-३-५८ इति निषेधात् 'चटते सद्वितीये' १-३-७ इति शो न भवति ।

सु-यजो ङ्वनिप् ॥ ५. १. १७२ ॥

सुनोतेर्यजतेश्च भूतार्थवृत्तेर्ङ्वनिप् भवति ।

सुतवान्-सुत्वा, सुत्वानौ, सुत्वानः । इष्टवान्-यज्वा, यज्वानौ, यज्वानः । क्वनिप्-वन्भ्यां सिद्धे भूते नियमार्थं वचनम् । मन्त्रादिसूत्रस्थक्वचिद्ग्रहणस्यैव प्रपञ्चः । ङकारो गुणनिषेधार्थः । पकारः पित्कार्यार्थः । इकार उच्चारणार्थः ॥१७२॥

न्या० स०-सुयजो०-**मन्त्रादिसूत्रस्थक्वचिद्ग्रहणस्यैवेति**-ननु तत्रस्थ क्वचिद्ग्रहणादेव नियमो भविष्यतीत्याशङ्का ।

जषोऽतृः ॥ ५. १. १७३ ॥

जीर्यतेर्भूतार्थवृत्तेरतृप्रत्ययो भवति । जीर्यति स्म-जरन्, जरती । असरूपत्वात्-जीर्णः, जीर्णवान् । ऋकारो दीर्घत्वप्रतिषेधार्थः ॥१७३॥

क्त-क्तवतू ॥ ५. १. १७४ ॥

धातोर्भूतेऽर्थे वर्तमानात् क्त-क्तवतू प्रत्ययौ भवतः ।

क्रियते स्म-कृतः, करोति स्म-कृतवान् । प्रकृतः कटं देवदत्तः, अत्र समुदायस्याभूतत्वेऽपि कटैकदेशे कटत्वोपचारात् तस्य च निर्वृत्तत्वाद् भूत एव धात्वर्थ इत्यादिकर्मण्यप्यनेनैव क्त-क्तवतू सिद्धौ ॥१७४॥

इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्रविरचितायां सिद्धहेमचन्द्राभिधानस्वोपज्ञशब्दानुशासनवृत्तौ पञ्चमस्याध्यायस्य प्रथमः पादः ॥१॥

अगणितपञ्चेषुबलः पुरुषोत्तमचित्तविस्मयं जनयन् ।
रामोल्लासनमूर्तिः श्रीकर्णः कर्ण इव जयति ॥१॥

इत्याचार्यश्री० सिद्धहेमचन्द्राभिधानस्वोपज्ञ-शब्दानुशासनबृहद्वृत्तेः पञ्चमाध्यायस्य न्यासतः प्रथमः पादः समाप्तः ।

॥ अर्हम् ॥

अथ पञ्चमाध्याये द्वितीयपादः

श्रु-सद्-वस्भ्यः परोक्षा वा ॥ ५. २. १ ॥

भूत इति अनुवर्तते, श्रुणोत्यादिभ्यो धातुभ्यो भूतार्थवृत्तिभ्यः परोक्षा विभक्तिर्वा भवति ।

उपशुश्राव, उपससाद, अनूवास । वावचनात् यथास्वकालमद्यतनी ह्यस्तनी च-उपाश्रौषीत्, उपाश्रृणोत्; उपासदत्, उपासीदत्; अन्ववात्सीत्, अन्ववसत् । एवं-शुश्रुवे, अश्रावि, अश्रूयतेत्यादि ।

अन्ये तु श्रवादिभ्यो भूतमात्रे क्वसुमेवेच्छन्ति न परोक्षाम् । ह्यस्तनीमपीच्छत्यन्यः । बहुवचनं व्याप्त्यर्थम्, तेन भूतानद्यतनेऽपीयं ह्यस्तन्या न बाध्यते । असरूपत्वादेवाद्यतन्यादिसिद्धौ वावचनं विभक्तिष्वसरूपोत्सर्गविभक्तिसमावेशनिषेधार्थम् ॥१॥

न्या० स०-श्रुसदवस्भ्यः-यथास्वकालमिति-स्वकालस्याऽनतिक्रमेण तथा ह्यद्यतनेऽद्यतनी अनद्यतने तु ह्यस्तनी ।

ह्यस्तनीमपीच्छत्यन्य इति-न केवलं भूतमात्रे परोक्षां ह्यस्तनीमपीत्यर्थः । विभक्तिष्विति-तेन विभक्तीनामेवान्योन्यमसरूपविधिर्नास्ति, प्रत्ययेन तु विभक्तीनामस्त्येव तेनोपश्रुतवानित्यादि सिद्धम् । निषेधार्थमिति-तेन 'अयदि' ५-२-९ इति सूत्रे वर्त्स्यन्तीविषये ह्यस्तनी न ।

तत्र क्वसु-कानौ तद्वत् ॥ ५. २. २ ॥

तत्र-परोक्षामात्रविषये धातोः परौ क्वसुकानौ प्रत्ययौ भवतः, तौ च परोक्षावद् व्यपदिश्येते । तत्र क्वसुः परस्मैपदत्वात् कर्तरि, कानस्त्वात्मनेपदत्वाद् भाव-कर्मणोरपि ।

शुश्रुवान्, उपशुश्रुवान् ; सेदिवान्, उपसेदिवान्, प्रसेदिवान्, आसेदिवान्, निषेदिवान्, ऊषिवान्, अनूषिवान्, अध्यूषिवान्; पेचिवान्, पाचयांचकृवान्, जग्मिवान्, पपिवान्, पेचानः, चक्राणः । परोक्षावद्भावात् द्विर्वचनादि । परोक्षावद्भावादेव कित्त्वे सिद्धे कित्करणं संयोगान्तधात्वर्थम्, तेनाजिवान्, बभज्वान्, सस्वजानः, एषु कित्त्वात् नलोपः । ऋदन्तानां गुणप्रतिषेधार्थं च-शिशीर्वान्, तितीर्वान्, पुपूर्वान्, कर्मणि-शशिराणः, ततिराणः, पपुराणः । भावे-शशिराणमित्यादि ।

बहुलाधिकारात् श्रु-सद-वसिभ्यः कानो न भवति । केचित् तु-"एभ्य एव क्वसुर्नान्येभ्यः, कानस्तु प्रत्यय एव नेष्यते" इत्याहुः । अपरे तु सर्वधातुभ्यः क्वसुमेवेच्छन्ति न कानम् । भूताधिकारेणैवोक्तपरोक्षाविषयत्वे लब्धे तत्र ग्रहणं परोक्षामात्रप्रतिपत्त्यर्थम्, तेन 'पेचिवान्' इत्यादि सिद्धम् ॥२॥

न्या० स०-तत्र क्वसु-न लोप इति-अन्यथा 'इन्ध्यसंयोगात्' ४-३-२१ इत्यसंयोगान्तादेव कित्त्वेऽत्र नलोपो न स्यात् । प्रत्यय एव नेष्यते इति-तन्मते कानो नास्तीत्यर्थः । परोक्षामात्रप्रतिपत्त्यर्थमिति-अन्यथा 'श्रुसद' ५-२-१ इति विहितपरोक्षाविषय एव स्यात्, तेभ्य एव भूतमात्रे विधानान्न तु 'परोक्षे' ५-२-१२ इति विहितपरोक्षाया विषये । इत्यादि सिद्धमिति-भूताधिकारे हि अनुवर्त्तमानेऽपरोक्षे एवातीते स्यात्, परोक्षे तु परत्वात् परोक्षा स्यादित्युभयोरप्यर्थः संगृह्यते, तेन पपाचेति वक्तव्ये पेचिवानित्यादि सिद्धम् ।

वेयिवदनाश्वदनूचानम् ॥ ५. २. ३ ॥

एते शब्दा भूतेऽर्थे क्वसु-कानान्ताः कर्तरि वा निपात्यन्ते ।

इणः क्वसुर्निपात्यते-ईयिवान्, समीयिवान्, उपेयिवान् । तथा नञ्पूर्वादश्नातेः क्वसुरिडभावश्च निपात्यते-अनाश्वान् । तथा वचेर्ब्रूगादेशाद् वाऽनुपूर्वात् कानो निपात्यते-अनूचानः । निपातनस्येष्टविषयत्वात् कर्तुरन्यत्र अनूक्तमित्याद्येव भवति । ब्रूग एवेच्छन्त्यन्ये । वावचनात् पक्षेऽद्यतन्यादयोऽपि-अगात्, उपागात्, उपैत्, उपेयाय; नाऽऽशीत्, नाऽऽश्नात्, नाऽऽश, अन्ववोचत् अन्वब्रवीत्, अन्ववक्, अनूवाच ॥ ३ ॥

न्या० स०-वेयिवदना०-'तत्र क्वसु' ५-२-२ इत्यनेन परोक्षाविषये क्वसुकानौ विहिताविति ह्यस्तन्यादिविषये न स्यातामिति निपातनं, अत एवाऽत्राऽगात् ऐत् इत्याद्यपि वाक्यं क्रियते । अनुक्तमित्याद्येवेति-अत्र कानो न भवति । उपेयायेति-'नामिनोऽकलिहलेः' ४-३-५१ इति वृद्धौ 'पूर्वस्यास्वे' ४-१-३७ इति पूर्वस्येयादेशे च रूपम् ।

अद्यतनी ॥ ५. २. ४ ॥

भूतेऽर्थे वर्तमानाद् धातोरद्यतनी विभक्तिर्भवति । अहार्षीत् अकार्षीत् ॥४॥

विशेषाविवक्षा-व्यामिश्रे ॥ ५. २. ५ ॥

अनद्यतनादिविशेषस्याविवक्षायां व्यामिश्रणे च सति भूतेऽर्थे वर्तमानाद् धातोरद्यतनी विभक्तिर्भवति ।

अकार्षीत्, अहार्षीत्, अगमाम घोषान्, अपाम पयः, अजैषीत् गर्तो हूणान्, रामो वनमगमत् । सतोऽप्यत्र विशेषस्याविवक्षा, यथा-अनुदरा कन्या, अलोमिका एडकेति । व्यामिश्रे-अद्य ह्यो वाऽभुक्ष्महि ।

विशेषाविवक्षेति किम् ? अगच्छाम घोषान्, अपिबाम पयः, अजयद् गर्तो हूणान्, रामो वनं जगाम । ह्यस्तन्यादिविषयेऽप्यद्यतन्यर्थं वचनम् ॥५॥

न्या० स०-विशेषाविवक्षा०-अनद्यतनादिविशेषस्याऽविवक्षायामिति-आदिपदात् परोक्षपरिग्रहः ।

रात्रौ वसोऽन्त्ययामास्वप्तर्यद्य ॥ ५. २. ६ ॥

रात्रौ भूतेऽर्थे वर्तमानाद् वसतेर्धातोर्ह्यस्तन्यपवादोऽद्यतनी विभक्तिर्भवति, अन्त्ययामास्वप्तरि-स चेदर्थो यस्यां रात्रौ भूतस्तस्या एवान्त्ययामं व्याप्याऽस्वप्तरि कर्तरि वर्तते, अद्य-तेनैवान्त्ययामेनावच्छिन्नेऽद्यतने चेत् प्रयोगो भवति नाद्यतनान्तरे ।

न्याय्ये प्रत्युत्थाने प्रत्युत्थितं कश्चित् कंचिदाह्-क्व भवानुषितः ? स आह-अमुत्रावात्समिति । रात्र्यन्त्ययामे तु मुहूर्तमपि स्वापे ह्यस्तन्येव-अमुत्रावसमिति ।। ६ ।।

न्या० स०-रात्रौ वसो०-अमुत्रावात्समिति-उपाध्यायस्त्वाह-रात्रेश्च चतुर्थे यामे यदा वाक्यं प्रयुङ्क्ते तदाऽमुत्रावात्समिति, तस्यातिक्रान्तरात्रिप्रहरत्रयमनद्यतनमिति ह्यस्तनीप्रसङ्गे यदा प्रयोक्ता सकलमतिक्रम्य रात्रिप्रहरत्रयं जागरितवान् तदाऽद्यतनी, यदा सुप्त्वा प्रयुङ्क्ते तदा ह्यस्तन्येव । यत्सूत्रं वसेर्लुङ् रात्रिशेषे जागरणसंतताविति तन्मतसंग्रहार्थमिदं सूत्रं व्याख्येयम् ।

स्वप्तर्यद्येति-कोऽर्थः ? अन्त्ययामप्रयोगे क्रियमाणे अन्त्ययामेति लुप्तसप्तम्येकवचनान्तं पदम् ।

अनद्यतने ह्यस्तनी ।। ५. २. ७ ।।

आ न्याय्यादुत्थानादा न्याय्याच्च संवेशनादहरुभयतः सार्धरात्रं वा-अद्यतनः कालः, तस्मिन्नसति भूतेऽर्थे वर्तमानाद् धातोर्ह्यस्तनी विभक्तिर्भवति । अकरोत्, अहरत् । अनद्यतन इति किम् ? अकार्षीत् ।। ७ ।।

ख्याते दृश्ये ।। ५. २. ८ ।।

ख्याते-लोकविज्ञाते, दृश्ये-प्रयोक्तुः शक्यदर्शने, भूतेऽनद्यतनेऽर्थे वर्तमानाद् धातोर्ह्यस्तनी विभक्तिर्भवति, परोक्षापवादः ।

अरुणत् सिद्धराजोऽवन्तीन्, अजयत् सिद्धः सौराष्ट्रान् । ख्यात इति किम् ? चकार कटं चैत्रः । दृश्य इति किम् ? जघान कंसं किल वासुदेवः । अनद्यतन इत्येव ? उदगादद्यादित्यः ।। ८ ।।

न्या० स०-ख्याते दृ-प्रयोक्तुः शक्यदर्शने इति-प्रयोक्तुश्च स एव दृश्यः यः प्रयोक्तृकालेऽनतिविप्रकर्षेण वृत्तः स्यात्, प्रयोक्तुश्चान्यत्र व्यासक्तत्वेन तद्दर्शनाऽभावात् परोक्षत्वं, तस्यार्थस्य परं स यदि तत्र व्रजति तदा पश्यत्येव तस्मिन्नर्थे ह्यस्तनी, एवं च यस्मिन् कालेऽर्थो वृत्तस्तत्कालभावी पुरुषः कुर्व्वन् दुष्यति, यतोऽर्थभवनकाले तस्य पुरुषस्य तदर्थदर्शनयोग्यतायाः सद्भावात्, तथा जघान कंसं किल वासुदेव इत्यत्रापि यदि वधकालभावी प्रयोक्ता प्रयोगं कुरुते तदा तत्रापि अहन्निति भवति, यतस्तदा तस्यापि दृश्यत्वादिति, तदुक्तं—

परोक्षे लोकविज्ञाने, प्रयोक्तुः शक्यदर्शने ।
ह्यस्तने ह्यस्तनी प्रोक्ता, चैत्रो नृपमहन्निति ।।

अयदि स्मृत्यर्थे भविष्यन्ती ।। ५. २. ९ ।।

स्मृत्यर्थे धातावुपपदे सति भूतानद्यतनेऽर्थे वर्तमानाद् धातोर्भविष्यन्ती विभक्तिर्भवति, अयदि-न चेद् यच्छब्दः प्रयुज्यते ।

अभिजानासि देवदत्त ! कश्मीरेषु वत्स्यामः, स्मरसि साधो ! स्वर्गे स्थास्यामः, एवं-बुध्यसे चेतयसे अध्येष्यवगच्छसि चैत्र ! कलिङ्गेषु गमिष्यामः । अयदीति किम् ? अभिजानासि मित्र ! यत् कलिङ्गेष्ववसाम ।। ९ ।।

न्या० स०—अयदि-ने चेद्यत् शब्द इति-धात्वर्थवाचकः क्रियाविशेषणरूपो न प्रयुज्यते, यस्मादर्थे तु भविष्यन्त्येवेति न्यासः । यत्कलिङ्गेष्ववसामेति-क्रियाविशेषणमेतत्, यद्वसनं न स्मरसीत्यर्थः, यदा तु यस्माद्धेतोः कलिङ्गेषु उषितवन्त इति विवक्ष्यते तत्र भविष्यन्त्येव ।

वाऽऽकाङ्क्षायाम् ।। ५. २. १० ।।

अयदीति नानुवर्तते, स्मृत्यर्थे धातावुपपदे सति यद्ययदि वा प्रयुज्यमाने प्रयोक्तुः क्रियान्तराकाङ्क्षायां सत्यां भूतानद्यतनेऽर्थे वर्तमानाद् धातोर्भविष्यन्ती वा भवति ।

स्मरसि मित्र ! कश्मीरेषु वत्स्यामस्तत्रौदनं भोक्ष्यामहे पास्यामः पयांसि च, स्मरसि मित्र ! कश्मीरेष्ववसाम तत्रौदनमभुञ्ज्महि; स्मरसि मित्र ! यत् कश्मीरेषु वत्स्यामो यत् तत्रौदनम् भोक्ष्यामहे, स्मरसि मित्र ! यत् कश्मीरेष्ववसाम यत् तत्रौदनमभुञ्ज्महि । अत्र वासो लक्षणं भोजनं पानं च लक्ष्यमिति लक्ष्य-लक्षणयोः संम्बन्धे प्रयोक्तुराकाङ्क्षा भवति ।। १० ।।

कृतास्मरणा-ऽतिनिह्नवे परोक्षा ।। ५. २११. ।।

कृतस्यापि व्यापारस्य चित्तव्याक्षेपादिनाऽस्मरणेऽत्यन्तापह्नवे वा गम्यमाने भूतेऽनद्यतनेऽर्थे वर्तमानाद् धातोः परोक्षाविभक्तिर्भवति, अपरोक्षकालार्थ आरम्भः ।

सुप्तोऽहं किल विललाप, मत्तोऽहं किल विचचार, चिन्तयन् किलाहं शिरः कम्पयांबभूव, अङ्गुलिं स्फोटयामास । अतिनिह्नवे—कश्चित् केनचिदुक्तः-कलिङ्गेषु त्वया ब्राह्मणो हतः, स तदपह्नुवान आह-कः कलिङ्गान् जगाम को ब्राह्मणं ददर्श, नाहं कलिङ्गान् जगाम, इत्यत्यन्तमपह्नुते । अतिग्रहणादेकदेशापह्नवे ह्यस्तन्येव-न कलिङ्गेषु ब्राह्मणमहनम् ।। ११ ।।

परोक्षे ।। ५. २. १२ ।।

अक्षाणां परः-परोक्षः, अत एव निर्देशात् साधुः, अव्युत्पन्नो वा असाक्षात्कारार्थः, भूतानद्यतने परोक्षेऽर्थे वर्तमानाद् धातोः परोक्षा विभक्तिर्भवति । यद्यपि साध्यत्वेनानिष्पन्नत्वात् सर्वोऽपि धात्वर्थः परोक्षस्तथापि प्रत्यक्षसाधनत्वेन तत्र लोकस्य प्रत्यक्षत्वाभिमानोऽस्ति, यत्र स नास्ति स परोक्षः ।

जघान कंसं वासुदेवः, भरतं विजिग्ये बाहुबली, धर्मं दिदेश तीर्थंकरः ।।१२।।

ह-शश्वद्-युगान्तःप्रच्छ्ये ह्यस्तनी च ॥ ५. २. १३ ॥

पञ्चवर्षं युगं, तस्यान्तर्मध्यं, तत्र पृच्छ्यते यः स युगान्तःप्रच्छ्यः । हे शश्वति च प्रयुज्यमाने, युगान्तःप्रष्टव्ये च भूतानद्यतने परोक्षेऽर्थे वर्तमानाद् धातोर्ह्यस्तनी परोक्षा च विभक्ती भवतः ।

इति हाऽकरोत्, इति ह चकार, शश्वदकरोत्, शश्वच्चकार । प्रच्छ्ये-किमगच्छस्त्वं मथुराम् ? किं जगन्थ त्वं मथुराम् ? ह-शश्वद्युगान्तःप्रच्छ्य' इति किम् ? जघान कंसं किल वासुदेवः । वेत्येव कृते भूतानद्यतनमात्र भाविन्या ह्यस्तन्याः पक्षे सिद्धौ ह्यस्तनीविधानं स्मृत्यर्थयोगेऽपि ह्यस्तन्येव यथा स्यान्न भविष्यन्तीत्येवमर्थम्, तेन स्मरसि मित्र ! कश्मीरेष्वितिहाध्यैमहि, अभिजानासि चैत्र ! शश्वदध्यैमहि, इत्यादि सिद्धम् । क्रियान्तराकाङ्क्षायां तु ह-शश्वत्प्रयोग एव न संभवतीति नोदाह्रियते ॥१३॥

न्या० स०-हशश्वद्यु-इतिहाकरोदिति-निपातसमुदायः प्रवादपारंपर्ये इतिहाशब्दो वर्त्तते, यद्वा एतत् ह इति वाक्यालंकारे । प्रयोग एव न संभवतीति-निपातानां यथादर्शनं प्रयोगात् ।

अविवक्षिते ॥ ५. २. १४ ॥

भूतानद्यतने परोक्षे परोक्षत्वेनाविवक्षितेऽर्थे वर्तमानाद् धातोर्ह्यस्तनी विभक्तिर्भवति ।

अभवत् सगरो राजा, अहन् कंसं वासुदेवः । एवं च परोक्षानद्यतने विवक्षावशादद्यतनी-ह्यस्तनी-परोक्षास्तिस्रो विभक्तयः सिद्धाः । तथा च-"अन्वनैषीत् ततो वाली न्यक्षिपच्चाङ्गदं सुग्रीवं प्रोचे सद्भावमागतः ।"

'राक्षसेन्द्रस्ततोऽभैषीत् सैन्यं समस्तं सोऽयुयुत्सयत् स्वयं युयुत्सयांचक्रे' । तथा—

"अभूवंस्तापसाः केचित् पाण्डुपत्रफलाशिनः ।
पारिव्राज्यं तदाऽऽवस्त मरीचिश्च तृषार्दितः ।" इति ॥१४॥

न्या० स०-अविवक्षिते-तिस्रोऽपि विभक्तय इति-परोक्षत्वेन वा विवक्षिते विशेषाविवक्षा' ५-२-५ इत्यद्यतनी, परोक्षत्वेन त्वऽविवक्षितेऽनेन ह्यस्तनी, उभयसद्भावविवक्षायां तु 'परोक्षे' ५-२-१२ इत्यनेन परोक्षा ।

वाऽद्यतनी पुरादौ ॥ ५. २. १५ ॥

'परोक्षे' इति निवृत्तम्, भूतानद्यतने परोक्षे चापरोक्षे चार्थे वर्तमानाद् धातोः 'पुरा' इत्यादावुपपदेऽद्यतनी विभक्तिर्भवति वा । अपरोक्षे ह्यस्तन्याः परोक्षे तु परोक्षाया अपवादः । वावचनात् पक्षे यथाप्राप्ति ते अपि भवतः ।

अवात्सुरिह पुरा छात्राः, अवसन्निह पुरा छात्राः, ऊषुरिह पुरा छात्राः, तदाऽभाषिष्ट राघवः, तदाऽभाषत राघवः, बभाषे राघवस्तदा । भूतानद्यतनपरोक्षेऽद्यतनीं नेच्छ-

त्यन्ये, एवमुत्तरसूत्रे पुरादियोगे वर्तमानाम् । हशश्वच्छब्दयोगेऽपि पुरादियोगे परत्वाद् विकल्पेनाऽद्यतनी-इति ह पुराऽकार्षीत्, अकरोत्, चकार, शश्वत् पुराऽकार्षीदकरोच्चकार । भूतमात्रविवक्षयाऽद्यतन्याः सिद्धौ पुरादियोगे तद्वचनं स्मृत्यर्थं ह-शश्वत्स्मयोगे सामान्य-विवक्षयाऽद्यतनी न भवतीति ज्ञापनार्थम् ।।१५।।

न्या० स०-वाद्यतनी-ते अपि भवत इति-वाकरणादऽन्यथा च शब्दं कुर्यात् । अद्यतन्याः सिद्धाविति-'अद्यतनी' ५-२-४ इत्यनेन । सामान्यविवक्षयेति-भूतानद्यतन-विवक्षायां तु पुरादियोगेऽनेन भवत्येव ।

स्मे च वर्तमाना ।। ५. २. १६ ।।

भूतानद्यतने परोक्षेऽपरोक्षे चार्थे वर्तमानाद् धातोः स्मशब्दे पुरादौ चोपपदे वर्तमाना विभक्तिर्भवति ।

इति स्मोपाध्यायः कथयति, पृच्छति स्म पुरोधसम्, वसन्तीह पुरा छात्राः, भाषते राघवस्तदा ।

"अथाह वर्णी विदितो महेश्वरः, यावद् गिरः खे मरुतां चरन्ति ।" (कुमारसम्भवे)

आदिग्रहणमिह पूर्वत्र च प्रयोगानुसरणार्थम् । एवं च पुरादियोगेऽद्यतनी-ह्यस्तनी-परोक्षा-वर्तमानाश्चतस्रो विभक्तयः सिद्धाः, स्म-पुरायोगे तु परत्वाद् वर्तमानैव-नटेन स्म पुराऽधीयते । एवं-ह-शश्वत्-स्म-योगेऽपि-इतिह स्मोपाध्यायः कथयति, शश्वदधीयते स्म । त्रययोगेऽप्येवम्-न ह स्म वै पुराऽग्निरपरशुवृक्णं दहतीति ।। १६ ।।

न्या० स० स्मे च वर्तमाना-स्मशब्दोऽतीतकालद्योतकश्चादिः । पुरादियोगे इति-ननु पुरादियोगः स्मयोगश्च भवति तदा किं पूर्वेणाद्यतनी उतानेन वर्त्तमाना इत्याह-परत्वादिति ।

ननौ पृष्टोक्तौ सद्वत् ।। ५. २. १७ ।।

अनद्यतन इति निवृत्तम्, पृष्टस्य धात्वर्थस्योक्तिः प्रतिवचनं-पृष्टोक्तिः । ननुशब्दे उपपदे पृष्टोक्तौ भूतेऽर्थे वर्तमानाद् धातोः सद्वत्-वर्तमान इव वर्त्तमाना विभक्तिर्भवति । सद्वद्वचनादत्र विषये शत्रानशावपि भवतः ।

किमकार्षीः कटं चैत्र ? ननु करोमि भोः ! ननु कुर्वन्तं कुर्वाणं मां पश्य, किमवोचः किंचिच्चैत्र ? ननु ब्रवीमि भोः ! ननु ब्रुवन्तं ब्रुवाणं मां पश्य । पृष्टोक्ताविति किम् ? नन्वकार्षीच्चैत्रः कटम् ।।१७।।

न्या० स०-ननौ-अनद्यतन इति निवृत्तमिति-अपेक्षात इति न्यायात् । ननु कुर्वन्तं कुर्वाणमिति-करोमि कुर्वे इति वाक्ये शत्रानशौ, कृतकार्यं मां पश्येत्यर्थः ।

न-न्वोर्वा ।। ५. २. १८ ।।

'न नु' इत्येतयोः शब्दयोरुपपदयोः पृष्टोक्तौ भूतेऽर्थे वर्तमानाद् धातोर्वा वर्तमाना विभक्तिर्भवति, सा च सद्वत् ।

किमकार्षीः कटं चैत्र ? न करोमि भोः ! न कुर्वन्तं न कुर्वाणं पश्य माम्; नाकार्षम् । कस्तत्रावोचत् ? अहं नु ब्रवीमि, ब्रुवन्तं ब्रुवाणं नु मां पश्य; अहं न्ववोचम् ।१८

सति ॥ ५. २. १९ ॥

सन्-विद्यमानो वर्तमान इत्यर्थः, स च प्रारब्धापरिसमाप्तः क्रियाप्रबन्धः, सत्यर्थे वर्तमानाद् धातोर्वर्तमाना विभक्तिर्भवति ।

भवति, अस्ति, घटं करोति, ओदनं पचति । 'जीवं न मारयति, मांसं न भक्षयति' इत्यादौ नियमः प्रारब्धोऽसमाप्तश्च प्रतीयते । 'इहाऽधीमहे, इह कुमाराः क्रीडन्ति' इत्यादौ क्रियान्तरव्यवधानेऽप्यध्ययनादिक्रियायाः प्रारम्भापरिसमाप्तिरस्त्येव । 'चैत्रो भुङ्क्ते' इत्यादावपि हि क्रियान्तरव्यवधानमशक्यपरिहारम्, सोऽपि ह्यवश्यं भुञ्जानो हसति जल्पति पानीयं वा पिबतीति । 'तिष्ठन्ति पर्वताः, स्यन्दन्ते नद्यः' इत्यादौ तु स्फुटैव प्रारम्भापरिसमाप्तिः ।

कथं तर्हि 'तस्थुः स्थास्यन्ति गिरयः' इति ? भूत-भाविनां भरत-कल्किप्रभृतीनां राज्ञां याः क्रिय स्तदवच्छेदेन पर्वतादिक्रियाणामतीतत्वा-ऽनागतत्वोपपत्तेर्न भूत-भाविप्रत्ययानुपपत्तिदोषः । एवं च विद्यानकर्तृकेभ्योऽस्त्यर्थेभ्यो धातुभ्यः सर्वा विभक्तयो भवन्ति-कूपोऽस्ति, कूपो भविष्यति, कूपो भविता, कूपोऽभूत्, कूप आसीत्, कूपो बभूव ।।१९।।

न्या० स०-सति-प्रारब्धापरिसमाप्त इति-पूर्वं प्रारब्धः साक्षात् साध्यत्वेन प्रस्तुतो न च परिसमाप्तः फलस्यानिष्पत्तेः, फलार्थं हि उपादीयमानायाः क्रियायाः फलेऽधिगते तस्याः परिसमाप्तिर्भवति, एवं च महताकालेन साध्यते, या क्रिया तस्या अन्तराले क्रियान्तरैर्विच्छिन्नाया अपि प्रारब्धत्वादसमाप्तत्वाच्च वर्त्तमानत्वमस्त्येव ।

जीवं न मारयतीति-नन्वत्र निषेधस्याभावरूपत्वात् अभावस्य च प्रारम्भापरिसमाप्ती न घटेते इत्याह-प्रारब्ध इत्यादि-यावत् क्रिया प्रारब्धा न समर्थ्यते तावत्तस्याः क्रियान्तरैर्व्यवहितायाश्चाप्यसमाप्तिः ।

तदवच्छेदेनेति-तद्विशिष्टत्वेन तयोः क्रिययोर्विभागो भूतो भविष्यन् वा भवतीत्यर्थः । एवं चेति-पूर्वोक्तेनैव न्यायेन भूतभविष्यत्-क्रिययोरपेक्षयेत्यर्थः ।

शत्रानशावेष्यति तु सस्यौ ॥ ५. २. २० ॥

सत्यर्थे वर्तमानाद् धातोः शत्रानशौ प्रत्ययौ भवत, एष्यति तु-एष्यन्मात्रे भविष्यन्तीविषयेऽर्थे सस्यौ-स्यप्रत्ययसहितौ शत्रानशौ भवतः । स्योऽपि प्रत्ययत्वाद् धातोरेव ।

यान्, यान्तौ, यान्तः, शयानः शयानौ, शयानाः; निरस्यन् , निरस्यमानः; पचन् , पचमानः । एकविषयत्वाद् वर्तमानाऽपि-याति, यातः, यान्ति, एवं सर्वत्र । तथा-सन् ,

अस्ति; अधीयानः अधीते; विद्यमानः, विद्यते; जुह्वत्, जुहोति; विदन्, वेत्ति; जानन् जानाति ब्राह्मणः ।

तथा तरादौ प्रत्यये-पचत्तरः, पचत्तमः, पचतितरां, पचतितमाम् । पचद्रूपः, पचतिरूपम् । जल्पत्कल्पः, जल्पतिकल्पम् । पश्यद्देश्यः, पश्यतिदेश्यम् । पठद्देशीयः, पठतिदेशीयम् । एवं-पचमानतरः, पचमानतमः, पचतेतरां पचतेतमामित्यादि ।

द्वितीयाद्यन्तपदसामानाधिकरण्य-संबोधन-तरादिवर्जिततद्धितप्रत्ययोत्तरपद-क्रियालक्षण-क्रियाहेतुषु वर्तमानाया अन्वयायोगात् शत्रानशावेव-पचन्तं पचमानं पश्य, पचता पचमानेन कृतम्, पचते पचमानाय देहि, पचतः पचमानाद् भीतः, पचतः पचमानस्य स्वम्, पचति पचमाने गतः, संबोधने-हे पचन् ! हे पचमान ! तराद्यन्यतद्धिते-कुर्वतोऽपत्यं कौर्वतः, पाचतः, वैक्षमाणिः, कुर्वत्पाशः, पचत्पाशः; कुर्वच्चरः, पचच्चरः । उत्तरपदे-भज्यत इति भक्तिः, कुर्वन् भक्तिरस्य-कुर्वद्भक्तिः, कुर्वाणभक्तिः; कुर्वत्प्रियः, कुर्वाणप्रियः; ब्रुवन्माठरः, ब्रुवाणमाठरः । क्रियाया लक्षणं ज्ञापकं चिह्नम्, तत्र-तिष्ठन्तोऽनुशासति गणकाः, शयाना भुञ्जते यवनाः, बहुषु मूत्रयत्सु कश्चैत्र इति पृष्टः कश्चिदाह-यस्तिष्ठन् मूत्रयति, एवं-यो गच्छन् भक्षयति, यः शयानो भुङ्क्ते, योऽधीयान् आस्ते । तथा यः पठन् पचति स मैत्रः, एवं-यः पचन् पठति; योऽधीयान आस्ते, य आसीनोऽधीते । तथा-

"फलन्ती वर्द्धते द्राक्षा, पुष्प्यन्ती वर्द्धतेऽब्जिनी ।
शयाना वर्धते दूर्वा, आसीनं वर्धते बिसम् ।।"

क्रियाया हेतुर्जनकस्तत्र-अर्जयन् वसति, अधीयानो वसति ।

एष्यति तु सत्यौ-यास्यन्, शयिष्यमाणः, पक्ष्यन्, पक्ष्यमाणः; यास्यति, शयिष्यते, पक्ष्यति, पक्ष्यते । तथा-भविष्यन्, भविष्यति; अध्येष्यमाणः, अध्येष्यते ब्राह्मण इत्यादि । तथा-पक्ष्यत्तरः, पक्ष्यमाणतमः, पक्ष्यतितराम्, पक्ष्यतितमामित्यादि; सर्वेष्वेकविषयत्वाद् भविष्यन्त्यपि । 'पक्ष्यन् व्रजति, पक्ष्यमाणो व्रजति' इति क्रियायां क्रियार्थायाम्, एकविषयत्वाच्च भविष्यन्त्यादयोऽपि-पक्ष्यामीति व्रजति, पाचको व्रजति, पक्तुं व्रजति । पूर्ववदेव च द्वितीयाद्यन्तसामानाधिकरण्यादिषु भविष्यन्त्याः समन्वयाभावादभावः-पक्ष्यन्तं पश्य, पक्ष्यमाणं पश्य । हे पक्ष्यन् ! हे पक्ष्यमाण ! ब्राह्मण ! पाक्ष्यतः, पाक्ष्यमाणिः, पक्ष्यमाणपाशः, पक्ष्यद्भक्तिः, पक्ष्यमाणप्रियः, जल्पिष्यन्तो ज्ञास्यन्ते पण्डिताः, अध्येष्यमाणा वत्स्यन्तीत्यादि । सदेष्यतोरभावे तु श्वः पक्ता ।

बहुलाधिकाराद् द्रव्य-गुणयोर्लक्षणे, हेतुहेतुमद्भावद्योतके त्यादियोगे च न भवति-यः कम्पते सोऽश्वत्थः, यत् तरति तल्लघु, हन्तीति पलायते, वर्षतीति धावति, करिष्यतीति व्रजति, हनिष्यतीति नश्यति, पचत्यतो लभते, विजयतेऽतः पूज्यते । क्रियाया अपि लक्षणे चादियोगे न भवति-यः पचति च पठति च स चैत्रः, योऽधीते चास्ते च स मैत्रः, शकारः शित्कार्यार्थः । ऋकारो ङ्याद्यर्थः ।।२०।।

न्या० स०-शत्रानशा०-स्योऽपि प्रत्ययत्वादिति-शत्रानशौ प्रथमं प्रधानत्वात् धातोर्विधीयेते, ततः प्रत्ययत्वादेव स्योऽपि धातोरेवानन्तरं न तु शत्रानशभ्यां परः ।

द्वितीयाद्यन्तपदेति-शत्रानशोर्वर्त्तमानायाश्च समानविषयत्वेऽपि नातिप्रसक्तिरपि, द्वितीयाद्यन्तेन पदेन द्रव्याभिधायिना वर्त्तमानान्तेन च क्रियाभिधायिना सत्ता पश्येत्यादिक्रियायाः सामानाधिकरण्याऽसंभवात् संबोधने च सिद्धविषयत्वात् साध्यवाचिनि वर्त्तमानान्ताऽनुपपन्नत्वात्तरादिवर्जिततद्धितप्रत्ययस्योत्तरपदस्य च नामत्वे सति संभवाल्लक्षणहेतुत्वयोरपि सिद्धधर्मत्वात् साध्याभिधायिनाऽन्वयायोग, एतदेव पचन्तमित्यादिना क्रमेण दर्शयति ।

कुर्वन् भक्तिरस्येति-भज्यत इति कर्म्मणि क्तो भक्तिः सेव्य इत्यर्थः, अत्र वाच्ये पुंलिङ्गेऽपि शब्दशक्तिस्वाभाव्यात् क्त्यन्तस्य स्त्रीलिङ्गतैव । **तिष्ठन्तोऽनुशासति गणका इति**-अत्राऽनुशासनक्रियया गणका लक्ष्यन्ते, सा चाऽनुशासनक्रिया उपविष्ट उर्द्ध्वं गच्छत्युभयविषयत्वेन दुर्लक्षा अतः स्थानक्रियया लक्ष्यते । नन्वनुशासतीत्यत्रापि वर्त्तमाना न प्राप्नोति, यतोऽनयापि गणका लक्ष्यन्ते ? न, क्रियायाः कर्म्मतापन्नाया लक्षणमिति वचनात् द्रव्यादेर्गणकस्य लक्षणे वर्त्तमाना भवत्येव । **चादियोगे न भवतीति**-न केवलं द्रव्यगुणयोर्लक्षणे चादियोगे सति क्रियाया अपि लक्षणे न भवति, यः पचति चेत्यादौ न क्रिययोर्लक्ष्यलक्षणभावो विवक्षितः, क्रमेण हि प्रतीयमानयोरर्थयोर्लक्ष्यलक्षणभावः स्याज्जन्यजनकभावो वा, अत्र तु तुल्यकालतैव क्रिययोरऽत एव तद्द्योतकौ च शब्दौ प्रयुज्येते इति । स मैत्र इत्युभयत्र संबध्यते इति द्रव्यलक्षणे न भवति, क्रियालक्षणेऽपि न भवति, तथाहि-कुत्रापि एकस्मिन् प्रमातरि पचनपठनयोर्लक्ष्यलक्षणभावो येन गृहीतः स एवं ब्रवीति, यः पचति च स पठति च, एवं पचनक्रियालक्षणं पठनक्रिया लक्ष्या, चादियोगाऽभावे तु शत्रानशौ भवत एव, यथा पचन् पचमानो वा स पठति ।

तौ माङ्याक्रोशेषु ॥ ५. २. २१ ॥

माङ्युपपदे आक्रोशे गम्यमाने सति तौ-शत्रानशौ प्रत्ययौ भवतः, बहुवचनादसत्यपि ।

मा पचन् वृषलो ज्ञास्यति, मा पचमानोऽसौ मर्तुकामः ।

"मा जीवन् यः परावज्ञादुःखदग्धोऽपि जीवति ।
तस्याजननिरेवास्तु, जननीक्लेशकारिणः ॥१॥

(शिशुपालवधे, सर्ग-२)

शत्रानशोरनुवृत्तावपि 'तौ' ग्रहणमवधारणार्थम्, तेनात्र विषये असरूपविधिनाप्यद्यतनी न भवति । भवतीत्यपि कश्चित् ॥२१॥

न्या० स०-तौ माङ्या-बहुवचनादसत्यपीति-तेन ये केचित् सत्यसति वा आक्रोशास्तेषु शत्रानशौ भवत इति व्याख्येयम् । **मा पचन् वृषल इत्यादि**-मा पाक्षीत्, मा पक्त, मा जीवीदित्यादि वाक्यमर्थकथनम्, यावता आक्रोशविवक्षायामनेन शत्रानशावेव, असरूपविधिनाप्यत्राद्यतनी नेष्टा । केचिदऽसरूपविधिमिच्छन्ति, तन्मतेन वा वाक्यम् यद्वा मा क्लेदयन्, मा क्लेदयमानः, मा प्राणान् धारयन्नित्यर्थान्तरेण वा वाक्यम् ।

वा वेत्तेः क्वसुः ॥ ५. २. २२ ॥

सत्यर्थे वर्तमानाद् वेत्तेः क्वसुप्रत्ययो वा भवति, पक्षे यथाप्राप्तम् ।

विद्वान्, साधुस्तत्त्वं विद्वान् विदन् वेत्ति । विदुषा कृतम्, विदता कृतम् । हे विद्वन् !, हे विदन् ! । वैदुषः, वैदतः । विद्वद्भुक्तिः । विदद्भुक्तिः । विद्वानास्ते, विदन्नास्ते । विद्वाल्लंभते, विदल्लंभते । द्वितीयाद्यन्तपदसामानाधिकरण्यादिषु पूर्ववदनन्वयादेव न वर्तमाना । ककारः कित्कार्यार्थः । उकारो ङ्यर्थः ।।२२।।

न्या० स०—वा वेत्तेः—'असरूपोऽपवादेन' ५-१-१६ इत्यनेन विकल्पे सिद्धे वाग्रहणमत्र प्रकरणे असरूपविधेर्लक्ष्यानुरोधार्थं, अत एव 'वयः शक्ति' ५-२-१४ इत्यत्रानभिधानान्न वाऽसरूपः शतृरित्युक्तम् ।

कित्कार्याद्यर्थ इति—आदिपदात् 'तृन्नुदन्त' २-२-९० इत्यादि ।

पूङ्-यजः शानः ।। ५. २. २३ ।।

सत्यर्थे वर्तमानाभ्यां पवति-यजिभ्यां परः शानः प्रत्ययो भवति, कृत्वात् कर्तरि ।

पवते—पवमानः, मलयं पवमानः । यजति यजते वा—यजमानः । आनशा योगे न षष्ठीसमासो, न च यजेरफलवति कर्तरि सोऽस्तीति वचनम्, एवमुत्तरत्रापि । शकारः शित्कार्यार्थः ।।२३।।

न्या० स०-पूङ्यजः-मलयं पवमान इति-'तृन्नुदन्त' २-२-९० इत्यनेन आनद्वारा कर्मषष्ठीनिषेधे मलयस्य संबन्धी पवमान इति संबन्धषष्ठीसमासः । ननु पूङ् आत्मनेपदित्वात् यजेरप्युभयपदित्वात् फलवत्कर्त्तरि 'शत्रानशौ' ५-२-२० इत्यनेनैव वानश् सिद्धः किमनेन ? इत्याह-आनशा योगे न षष्ठीसमासः-तृप्तार्थेति निषेधात् ।

वयः शक्ति-शीले ।। ५. २. २४ ।।

सत्यर्थे वर्तमानाद् धातोर्वयः-शक्ति-शीलेषु गम्यमानेषु शानो भवति, वयः-प्राणिनां कालकृता बाल्याद्यवस्था ।

कतीह शिखण्डं वहमानाः, स्त्रियं गच्छमानाः । शक्तिः—सामर्थ्यम्, कतीह हस्तिनं निघ्नानाः, समश्नानाः । शीलं-स्वभावः, कतीहात्मानं वर्णयमानाः, परान्निन्दमानाः । अनभिधानान्न वाऽसरूपः शतृः ।।२४।।

धारीङोऽकृच्छ्रेऽतृश् ।। ५. २. २५ ।।

अकृच्छ्रः—सुखसाध्यः, अकृच्छ्रे सत्यर्थे वर्तमानाद् धारेरिङश्च परोऽतृश् प्रत्ययो भवति ।

धारयन् आचाराङ्गम्, अधीयन् द्रुमपुष्पीयम् । अकृच्छ्र इति किम् ? कृच्छ्रेण धारयति यतिधर्मम्, कृच्छ्रेणाधीते पूर्वगतम् । इङ आनशि प्राप्ते धारेरुभयप्राप्तौ वचनम् । वाऽसरूपोऽपि नेष्यत एव ।।२५।।

न्या० स०-धारीङो-इङ् इत्यात्मनेपदित्वात् फलवत्कर्त्तरि धोरश्च सामान्यसूत्रेण शतृन प्राप्नोतीति सूत्रं कर्त्तव्यम्, तथापि प्रत्ययान्तरं मा विधायि शतृरेव विधीयतां सूत्रसामर्थ्यादिङ आत्मनेपदिनोऽपि भविष्यति ? नैवं,-इङ आत्मनेपदित्वेऽपि विधानसामर्थ्यात् शतृः स्यात् धारेस्तु फलवत्कर्त्तरि अकृच्छ्र एवार्थे शतृरिति नियमार्थः स्यात्, यद् वा धारीत्युभयपदी ततश्च यद्युभयपदिनामऽकृच्छ्रे शतृः स्यात्, तदा धारेरेवेति नियमः स्यात् ।

आचाराङ्गमिति-आचारप्रतिपादकमङ्गमाचाराङ्गं, आचर्यते शोभनं कर्मानेन 'व्यञ्जनाद् घञ्' ५-३-१३२ आचारश्च तदङ्गं चेति वा ।

द्रुमपुष्पीयमिति-द्रुमपुष्पमधिकृत्य कृतो ग्रन्थः, 'शिशुक्रन्दादिभ्य ईयः' ६-३-२००, अथवा द्रुमपुष्पस्य तुल्यं 'काकतालीयादयः' ७-१-११७, अथवा द्रुमपुष्पमत्रास्ति 'सूक्तसाम्नोरीयः' ७-२-७१ ।

कृच्छ्रेण धारयतीति-अत्र शत्रानशावपि भवतः । **यतिधर्ममिति**-यमनं यतं तदस्यास्ति इन् यतिनो धर्म्मः, यदा तु यतिधातोरौणादिक इप्रत्ययस्तदा यतेर्द्धर्म्मः ।

सुग्-द्विषा-ऽर्हः सत्रि-शत्रु-स्तुत्ये ॥ ५. २. २६ ॥

सत्यर्थे वर्तमानात् सुनोतेर्द्विषोऽर्हश्च धातोर्यथासंख्यं सत्रिणि शत्रौ स्तुत्ये च कर्तरि अतृश् प्रत्ययो भवति ।

सत्री-यजमानः, सर्वे सुन्वन्तः, यज्ञस्वामिन इत्यर्थः । चौरं द्विषन्, चौरस्य द्विषन्, शत्रुरित्यर्थः । पूजामर्हन्, प्रशस्य इत्यर्थः । एष्विति किम् ? सुरां सुनोति, भार्यां द्वेष्टि परं पश्यन्तीम्, वधमर्हति चौरः ॥२६॥

न्या० स०-सुग्द्वि-नन्वेषु शतृप्रत्यये अतृश्प्रत्यये वा रूपसाम्यान्न कश्चिद्विशेषः ? उच्यते, प्राकृते शत्रानशौ इति सूत्रे विशेषोऽस्ति ।

तृन् शील-धर्म-साधुषु ॥ ५. २. २७ ॥

शीले धर्मे साधौ च सत्यर्थे वर्तमानाद् धातोस्तृन् प्रत्ययो भवति ।

शीले-कर्ता कटम्, वदिता जनापवादान्, करणं वदनं चास्य शीलमित्यर्थः । धर्मः-कुलाद्याचारः, तत्र-वधूमूढां मुण्डयितारः श्राविष्ठायनाः, श्राद्धे सिद्धमन्नमपहर्तार आह्वरकाः, मुण्डनादि तेषां कुलधर्म इत्यर्थः । साधौ-गन्ता खेलः, कर्ता विकटः, साधु गच्छति साधु करोतीत्यर्थः ।

नप्तृ-नेष्टृ-त्वष्टृ-क्षत्तृ-होतृ-पोतृ-प्रशास्तृशब्दा औणादिकाः पितृमात्रादिवत्, अत एवैषामाविधौ पृथगुपादानम् । शीलादिष्विति किम् ? कर्ता कटस्य । बहुवचनं "सन्-भिक्षा-शंसेरुः" (५-२-३३) इत्यादौ यथासंख्यपरिहारार्थम् । नकारः सामान्यग्रहणविघातार्थः ॥२७॥

न्या० स०-तृन्शील-श्राविष्ठायना इति-श्रूयतेऽनेन 'पुन्नाम्नि' ५-३-१३० इति घः, श्रवोऽस्त्यासां श्रववत्यः, अतिशयेन श्रववत्य इति विगृह्य इष्ठप्रत्यये पुंभावे 'विन्मतोः' ७-४-३२ इति लुपि श्रविष्ठा धनिष्ठास्ताभिश्चन्द्रयुक्ताभिर्युक्तः कालः, 'चन्द्रयुक्त' ६-२-६ इत्यणि लुपि श्रविष्ठास्तासु जाता 'श्रविष्ठाषाढा' ६-३-१०५ इति अः, श्रविष्ठाया अपत्यानि वृद्धानि अश्वादेरायनञ्' ६-१-४९ ।

भ्राज्यलंकृग्-निराकृग्-भू-सहि-रुचि-वृति-वृधि-चरि-प्रजना-ऽपत्रप इष्णुः ॥ ५. २. २८ ॥

एभ्यः शीलादौ सत्यर्थे वर्तमानेभ्य इष्णुः प्रत्ययो भवति ।

भ्राजनशीलो भ्राजनधर्मा साधु भ्राजते वा-भ्राजिष्णुः, "भ्राजिष्णुना लोहित-चन्दनेन", अलंकृग्-अलंकरिष्णुः, निराकृग्-निराकारिष्णुः, भू-भविष्णुः, "सर्वेषां भविष्णूनां जन्यानां न तु स योग्यः" । सह्-सहिष्णुः, रुच्-रोचिष्णुः, वृत्-वर्तिष्णुः, वृध्-वर्धिष्णुः, चर्-चरिष्णुः, प्रजन्-प्रजनिष्णुः, अपत्रप्-अपत्रपिष्णुः । भ्राजेर्नेच्छन्त्येके ॥२८॥

उदः पचि-पति-पदि-मदेः ॥ ५. २. २९ ॥

उत्पूर्वेभ्य एभ्यः शीलादौ सत्यर्थे वर्तमानेभ्य इष्णुर्भवति ।

उत्पचिष्णुः, उत्पतिष्णुः, उत्पदिष्णुः, उन्मदिष्णुः । पदेर्नेच्छन्त्यन्ये ॥२९॥

भू-जेः ष्णुक् ॥ ५. २. ३० ॥

शीलादौ सत्यर्थे वर्तमानाभ्यां भू-जिभ्यां ष्णुक् प्रत्ययो भवति । भूष्णुः, जिष्णुः । ककारः कित्कार्यार्थः ॥३०॥

स्था-ग्ला-म्ला-पचि-परिमृजि-क्षेः स्नुः ॥ ५. २. ३१ ॥

एभ्यः शीलादौ सत्यर्थे वर्तमानेभ्यः स्नुप्रत्ययो भवति ।

स्थास्नुः, ग्लास्नुः, म्लास्नुः पक्ष्णुः, परिमार्क्ष्णुः, क्षेष्णुः । ग्लादिभ्यः केचिदेवेच्छन्ति ॥३१॥

न्या० स०-स्थाग्लाम्ला-परिमार्क्ष्णुरिति-'धूगौदितः' ४-४-३८ इत्यनेन विकल्पेनेटि प्रत्यये परिमार्जिष्णुरित्यपि ।

क्षेष्णुरिति-'क्षिप्ष्' इत्यस्य न सानुबन्धत्वात् ।

त्रसि-गृधि-धृषि-क्षिपः क्नुः ॥ ५. २. ३२ ॥

शीलादौ सत्यर्थे वर्तमानेभ्य एभ्यः क्नुः प्रत्ययो भवति । त्रस्नुः, गृध्नुः, धृष्णुः, क्षिप्नुः ॥३२॥

सन्-भिक्षाऽऽशंसेरुः ॥ ५. २. ३३ ॥

शीलादौ सत्यर्थे वर्त्तमानात् सन्प्रत्ययान्ताद् धातोर्भिक्षा-शंसिभ्यां च पर उः प्रत्ययो भवति ।

चिकीर्षुः, जिहीर्षुः, भिक्षुः । 'आशंस्' इति "आङः शसुङ् इच्छायाम्" इत्यस्य ग्रहणम्, न तु "शंसू स्तुतौ च" इत्यस्य, तत्राङ्योगस्यानियतत्वात् । आशंसुः । स्तुत्यर्थस्यापीच्छत्यन्यः ।।३३।।

न्या० स०-सन्भिक्षा-गर्गादौ जिगीषुशब्दपाठात् सन्निति सन्प्रत्ययान्तस्य ग्रहः, न भिक्षादिसाहचर्यात् सनतिसनोत्योर्धात्वोः प्रत्ययाप्रत्यययोरिति न्यायाद् वा इत्याह-सन्प्रत्ययान्तादिति ।

विन्द्विच्छू ।। ५. २. ३४ ।।

शीलादौ सत्यर्थे वर्त्तमानाद् वेत्तेरिच्छतेश्च उः प्रत्ययो यथासंख्यं नोपान्त्य-छकारान्तादेशौ च निपात्यन्ते ।

वेदनशीलो-विन्दुः, एषणशील-इच्छुः । कथमपां विन्दुः ? विन्देरवयवार्थात् औणादिक उः । अन्ये त्वस्यैव निपातनं, क्रियानिमित्तस्तु विन्दुरित्यनागमिक एवेत्याहुः । सर्वविदीनां सर्वेषीणां च निपातनमिदमित्यन्यः ।।३४।।

शृ-वन्देरारुः ।। ५. २. ३५ ।।

शीलादौ सत्यर्थे वर्तमानाभ्यां शृश्-वन्दिभ्यामारुः प्रत्ययो भवति । शृणातीत्येवंशीलः-शरारुः, विशीर्यते-विशरारुः । वन्दते-वन्दारुः ।।३५।।

दा-ट्धे-सि-शद-सदो रुः ।। ५. २. ३६ ।।

शीलादौ सत्यर्थे वर्तमानेभ्यो 'दारूप ट्धे सिशद सद' इत्येतेभ्यो रुः प्रत्ययो भवति ।

ददाति, दयते, यच्छति, द्यति, दाति, दायति वेत्येवंशीलो-दारुः । कथं द्यति तदिति-दारु काष्ठम् ? औणादिकः कर्मणि रुः । धयति-धारुर्वत्सो मातरम् । सिनोति-सेरुः । शीयते-शद्रुः । सीदति-सद्रुः । एभ्य इति किम् ? दधातीत्येवंशीलो-दधिर्गाः । ट्धेग्रहणाद् दारूपमिह गृह्यते न संज्ञा ।।३६।।

शीङ्श्रद्धा-निद्रा-तन्द्रा-दयि-पति-गृहि-स्पृहेरालुः ।। ५. २. ३७ ।।

एभ्यः शीलादौ सत्यर्थे वर्तमानेभ्य आलुः प्रत्ययो भवति ।

शेते इत्येवंशीलः-शयालुः । श्रत्पूर्वो धाग्, श्रद्धत्ते-श्रद्धालुः । निद्राति निद्रायति वा-निद्रालुः, तत् द्राति द्रायति वा-तन्द्रालुः, निपातनात् तदो दस्य नः, तन्द्रेति सौत्रो वा । दयते-दयालुः । पति-गृहि-स्पृहयोऽदन्ताश्चौरादिकाः, पतिगृही सौत्राविकारान्तौ वा, पतयति-पतयालुः, गृहयते-गृहयालुः, स्पृहयति-स्पृहयालुः, मृगयतेरपि कश्चित्-मृगयालुः ।

लज्जालुः, ईर्ष्यालुः, शलालुप्रभृतयस्त्वौणादिकाः । कृपालु हृदयालू मत्वर्थीयान्तौ ॥३७॥

डौ सासहि-वावहि-चाचलि-पापति ॥ ५. २. ३८ ॥

शीलादौ सत्यर्थे वर्तमानानां सहि-वहि-चलि-पतीनां यङन्तानां डौ सति यथासंख्यमेते निपात्यन्ते । अत एव वचनात् ङिरपि ।

सासह्यते इत्येवंशीलः-सासहिः । वावह्यते-वावहिः । चाचल्यते-चाचलिः । पनीपत्यते-पापतिः, निपातनात् न्यागमाभावः । ङाविति ङकारः "तृन्नुदन्ताव्ययवस्वान०" (२-२-९०) इत्यत्र विशेषणार्थः ॥३८॥

सस्रि-चक्रि-दधि-जज्ञि-नेमि ॥ ५. २. ३९ ॥

एते शीलादौ सत्यर्थे कृतद्विर्वचना ङिप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते ।

सरतीत्येवंशीलः-सस्रिः करोति-चक्रिः, दधाति-दधिः, जायते जानाति वा-जज्ञिः, नमति-नेमिः, द्विर्वचनाभाव एत्वं च निपातनात् ॥३९॥

शॄ-कम-गम-हन-वृष-भू-स्थ उकण् ॥ ५. २. ४० ॥

शीलादौ सत्यर्थे वर्तमानेभ्य एभ्य उकण् प्रत्ययो भवति ।

शृणातीत्येवंशीलः-शारुकः, प्रशारुकः शरः । कामुकः, कामुकी रिरंसुः, कामुका येच्छां विना कामयते, कामुका अन्यस्य स्त्रियो भवन्ति । गामुकः, आगामुकः स्वगृहम् । घातुकः, आघातुको व्याधः । वर्षुकः, प्रवर्षुकः पर्जन्यः । भावुकः, प्रभावुकः क्षत्रियः । स्थायुकः प्रमत्तः, उपस्थायुको गुरुम्, गुणानधिष्ठायुकः ॥४०॥

न्या० स०-शॄकमगम-कामुका अन्यस्येति-'अकमेरुकस्य' २-२-९३ इत्यत्र कमिवर्ज्जनान्न षष्ठीनिषेधः ।

लष-पत-पदः ॥ ५. २. ४१ ॥

शीलादौ सत्यर्थे वर्तमानेभ्य एभ्य उकण् प्रत्ययो भवति ।

अपलषतीत्येवंशीलमपलाषुकं नीचसांगत्यम् , अभिलाषुकः । उत्पातुकं ज्योतिः, प्रपातुका गर्भाः । उपपादुका देवाः । योगविभाग उत्तरार्थः ॥४१॥

भूषा-क्रोधार्थ-जु-सृ-गृधि-ज्वल-शुचश्चानः ॥ ५. २. ४२ ॥

भूषार्थेभ्यः क्रोधार्थेभ्यो जु-सृ-गृधि-ज्वलशुचिभ्यो लष-पत-पदिभ्यश्च शीलादौ सत्यर्थे वर्तमानेभ्योऽनः प्रत्ययो भवति ।

भूषार्थे-भूषयतीत्येवंशीलो-भूषणः कुलस्य, मण्डना गगनस्य भाः, प्रसाधनः । क्रोधार्थे-क्रोधनः, कोपनः, रोषणः । जवतिः सौत्रो वेगाख्ये संस्कारे वर्तते, तेन चलत्यर्थ-

द्वारेण न सिध्यतीतीहोपादानम् । जवनः । सृ-सरणः, गृधू-गर्धनः, ज्वल-ज्वलनः, शुच-शोचनः, लष-अभिलषणः, पत-पतनः । पदेरिदित्वादुत्तरेणैव सिद्धे सकर्मकार्थं वचनम् । अर्थस्य पदनः ग्रन्थस्य पदनः; पदनः क्षेत्राणाम् ।

उत्तरत्र सकर्मकेभ्योऽपि विधिरित्येकेषां दर्शनम्, तथा चोकरणा बाधितोऽप्यसरूपत्वात् पदेरनः प्रत्ययो भविष्यतीति चेत् ? एवं तर्हि शीलादिप्रत्ययेष्वसरूपत्वेन शीलादिप्रत्ययो न भवतीति ज्ञापनार्थं पदिग्रहणम्, तेन-चिकीर्षिता कटम्, अलंकर्ता कन्यामिति न भवति । कथं तर्हि 'गन्ता खेलः, आगामुकः; भविता, भावुकः; जागरिता, जागरूकः, विकत्थनः, विकत्थी; भासनं, भासुरम्; वर्धनः, वर्धिष्णुः; अपलाषुकः, अपलाषी; कम्पना कम्प्रा शाखा; कमना कामुका युवतिः ?' क्वचित् समावेशोऽपि भवति । एतदर्थमेव च "न ण्यादि०" (५-२-४५) सूत्रे दीपिग्रहणम्, अन्यथा रेणाऽनोऽस्य बाध्येतेति तदनर्थकं स्यात् । अनस्यैव विषये समावेश इत्येके ॥४२॥

न्या० स०-भूषाक्रोधार्थ०-वेगाख्ये इति-स्थिति-स्थापक-भावनादिभेदात् त्रिधा संस्कारः, वेगाख्यस्तु चलनस्य हेतुरेव न तु चलनमित्यर्थः । अपलाषुक इति-निरुपसर्गस्य उकणश्चरितार्थत्वमतो न समानविषयता ।

चाल-शब्दार्थादकर्मकात् ॥ ५. २. ४३ ॥

चलनार्थाच्छब्दार्थाच्च धातोः शीलादौ सत्यर्थे वर्तमानादकर्मकादविवक्षितकर्मकाद् वा परोऽनः प्रत्ययो भवति ।

चलतीत्येवंशीलः-चलनः, कम्पनः, चोपनः, चेष्टनः । शब्दयतीत्येवंशीलः-शब्दनः, रवणः, आक्रोशनः । अकर्मकादिति किम् ? पठिता विद्याम् ॥४३॥

इङितो व्यञ्जनाद्यन्तात् ॥ ५. २. ४४ ॥

व्यञ्जनमादिरन्तश्च यस्य सव्यञ्जनाद्यन्तः । इदनुबन्धात् ङानुबन्धाच्च व्यञ्जनाद्यन्ताद् धातोः शीलादौ सत्यर्थे वर्तमानादनः प्रत्ययो भवति ।

इदित्, स्पर्धि-स्पर्धनः । ङित्, वृतूङ्-वर्तनः, वृधूङ्-वर्धनः । णेरतश्च विषय एव लोपे व्यञ्जनान्तत्वात् इहापि भवति-चितिण्-चेतनः, गुपि-जुगुप्सनः, मानि-मीमांसनः । इङित इति किम् ? स्वप्ता । व्यञ्जनाद्यन्तादिति किम् ? एधिता, शयिता । अकर्मकादित्येव ? वासिता वस्त्रम्, सेविता विषयान् । कथमुत्कण्ठावर्धनैरिति ? नात्र कर्मषष्ठीसमासो वृधेरकर्मकत्वात्, किन्तु तृतीयासमासः, उत्कण्ठया वर्धनैः, वर्धमानोत्कण्ठाशीलैरिति यावत् । अन्ये त्वकर्मकादेवेति नेच्छन्ति ॥४४॥

न्या० स०-इङितो-इहापि भवतीति-अन्यथाऽनेकस्वरात् 'निन्दहिंस' ५-२-६८ इति णकः स्यात् । जुगुप्सन इति-नन्वत्राकारस्य विषयेऽपि लोपे सन्नन्तस्य ङिदित्वाभावादनो न प्राप्नोति ? न, अत्र गुपेः स्वार्थे एव सन् ततश्च गुपिलक्षणे ॐ अवयवे कृतं लिङ्गं समुदायस्याऽपि विशेषकम् ॐ इति न्यायात् गुपिरेव द्रष्टव्यः ।

ननु तथापि सन्नन्तत्वात् 'सन्भिक्ष' ५-२-३३ इत्यादिना उः प्रत्ययः प्राप्नोति ? नैवं, विषयव्याख्यानात् , यद्यकारलोपेऽपि उः प्रत्ययस्तदा विषयव्याख्या फलं न ।

न णिङ्-य-सूद-दीप-दीक्षः ॥ ५. २. ४५ ॥

णिङन्तेभ्यो यान्तेभ्यः सूदादिभ्यश्च धातुभ्यः शीलादौ सत्यर्थेऽनः प्रत्ययो न भवति ।

भावयिता, हस्तयिता, उत्पुच्छयिता, क्ष्मायिता, क्ष्मूयिता, दयिता, सूदिता, दीपिता, दीक्षिता । मधुसूदनाऽरिसूदन-बलसूदनादयो नन्द्यादिषु द्रष्टव्याः ॥४५॥

न्या० स०-न णिङ्य भावयितेति-अत्रानेकस्वरत्वात् णकविषये णिलोपात् व्यञ्जनान्तत्वात् अनः प्राप्तः प्रतिषिध्यते, तत इटि सति 'णेरनिटि' ४-३-८३ इत्युक्तेः पुनर्निवर्त्तते एवं हस्तयितेत्यादौ भावना ।

द्रम-क्रमो यङः ॥ ५. २. ४६ ॥

शीलादौ सत्यर्थे वर्तमानाभ्यां यङन्ताभ्यां द्रमि-क्रमिभ्यामनः प्रत्ययो भवति ।

कुटिलं द्रमति क्रामतीत्येवंशीलः-दन्द्रमणः, चङ्क्रमणः । सकर्मकार्थं वचनम्, य इति प्रतिषेधनिवृत्त्यर्थं च । "अतः" (४-३-८२) इति हि लुक् प्रत्यये विषयभूतेऽपि भवति ॥४६॥

न्या० स०-द्रमक्रमो-सकर्मकार्थमिति- इङितः' ५-२-४४ इत्यनेन तु अकर्म्मकाद् विहितः । **प्रतिषेधनिवृत्त्यर्थमिति**-ननु यदि सकर्म्मकार्थमारम्भस्तदा न विधेयः, यतोऽविवक्षितकर्मकाभ्यामाभ्यां 'इङितः' ५-२-४४ इत्यनेन भविष्यतीत्याह-**य इतीति**-ननु यङोऽकारान्तत्वात् कथं यान्तत्वमित्याह-**अत इतीति । विषयेभूतेऽपीति**-अनेकस्वरत्वाण्णकस्य ।

यजि-जपि-दंशि-वदादूकः ॥ ५. २. ४७ ॥

एभ्यो यङन्तेभ्यः शीलादौ सत्यर्थे वर्तमानेभ्य ऊकः प्रत्ययो भवति ।

भृशं पुनः पुनर्वा यजतीत्येवंशीलो-यायजूकः, जंजपूकः, दन्दशूकः, वावदूकः । अन्येभ्योऽपीति केचित्-दंदहूकः, पापयूकः, निजागदूकः, नानशूकः, पंपशूकः ॥४७॥

जागुः ॥ ५. २. ४८ ॥

शीलादौ सत्यर्थे वर्तमानाज्जागर्तेरूकः प्रत्ययो भवति, यङ इति निवृत्तम् । जागर्तीत्येवंशीलो-जागरूकः ॥४८॥

न्या० स०-जागुः-यङ इति निवृत्तमिति-अनेकस्वरत्वेनासंभवात् ।

शमष्टकाद् घिनण् ॥ ५. २. ४९ ॥

शीलादौ सत्यर्थे वर्तमानेभ्यः शमादिभ्योऽष्टाभ्यो धातुभ्यो घिनण् प्रत्ययो भवति ।

शाम्यतीत्येवंशीलः-शमी दमी, तमी श्रमी क्षमी, प्रमादी, उन्मादी क्लमी । घञन्ता-

न्मत्वर्थीयेन सिद्धयति तृन्बाधनार्थं तु वचनम् । अष्टकादिति किम् ? असिता । णकारो वृद्धयर्थः । घकार उत्तरत्र कत्व-गत्वार्थः । अभिधानात् घिणन् अकर्मकेभ्यस्तेनेह न भवति-अरण्यं भ्रमिता, सकर्मकेभ्यस्तु यथादर्शनं दर्शयिष्यामः ॥४९॥

युज-भुज-भज-त्यज-रञ्ज-द्विष-दुष-द्रुह-दुहा-ऽभ्याहनः ॥ ५. २. ५० ॥

एभ्यः शीलादौ सत्यर्थे वर्तमानेभ्यः घिनण् भवति ।

युज्यते युनक्ति वा इत्येवंशीलो-योगी । भुङ्क्ते भुनक्ति भुजतीति वा-भोगी, भागी, कल्याणभागी, त्यागी, प्राणत्यागी, रागी "अकट्घिनोश्च रञ्जेः" (४-२-६०) इति न लोपः । द्वेषी, दोषी, द्रोही, दोही, अभ्याघाती । अकर्मकादित्येव ? गां दोग्धा, शत्रूनभ्याहन्ता ॥५०॥

आङः क्रीड-मुषः ॥ ५. २. ५१ ॥

शीलादौ सत्यर्थे वर्तमानाभ्यामाङः पराभ्यामाभ्यां घिनण् भवति ।

आक्रीडत इत्येवंशीलः-आक्रीडी, आमोषी । शीलादिप्रत्ययान्ताः प्रायेण रूढिप्रकारा यथादर्शनं प्रयुज्यन्त इति उपसर्गान्तराधिक्ये न भवति । एवमुत्तरत्रापि ।५१॥

न्या० स०-आङः क्रीडमुषः-शीलादिप्रत्ययान्ता इति-ननु पूर्वं आङमाङ्यसाङ्मुषाक्रीडेति पठित्वा घिनणमाहुस्तेषां विशिष्टस्वरूपोपादानान् नोपसर्गान्तराधिक्ये भवति । इह तु आङः पराभ्यामित्युच्यमाने उपात्तोपसर्गात् पूर्वमन्यस्मिन्नुपसर्गे सत्यपि व्यवधानाभावात् ततः परत्वस्य संभवादुपसर्गान्तराधिक्येऽपि भवतीत्याह-शीलादिप्रत्ययान्ता इत्यादि-शीलधर्म्मसाधुषु अर्थेषु ये प्रत्ययास्तदन्ता इमे प्रायेण रूढिशब्दप्रकारा यथा रूढिशब्दा रूढिविषय एव प्रवर्त्तन्ते तत्र च नियतरूपस्तथा इमेऽपि ये यथा प्रयोगे दृश्यन्ते यद्युपसर्गाः सोपसर्गा अनुपसर्गा वा ते तथैव प्रयोगानुसारेण प्रयोक्तव्याः, तथाहि-कामुक इति अनुपसर्ग एव प्रयुज्यते न सोपसर्गः, एवमागामुकः इति आङुपसर्गपूर्व एव, न त्वनुपसर्गोऽन्योपसर्गपूर्वो वा इत्येवमन्यदपि द्रष्टव्यमिति नोपसर्गान्तराधिक्ये भवति ।

प्राच्च यम-यसः ॥ ५. २. ५२ ॥

शीलादौ सत्यर्थे वर्तमानाभ्यां प्रादाङश्च पराभ्यामाभ्यां घिनण् भवति ।

प्रयच्छतीत्येवंशीलः-प्रयामी, आयामी; प्रयासी, आयासी ॥५२॥

न्या० स०-प्राच्च यम-यथासंख्यं यद्यभिप्रेतं स्यात्तदा प्राङ इति क्रियेत ।

मथ-लपः ॥ ५. २. ५३ ॥

प्रात् पराभ्यामाभ्यां शीलादौ सत्यर्थे वर्तमानाभ्यां घिनण् भवति । प्रमथतीत्येवंशीलः-प्रमाथी, प्रलापी ॥५३॥

वेश्च द्रोः ॥ ५. २. ५४ ॥

वेः प्राच्च पराच्छीलादौ सत्यर्थे वर्तमानाद् द्रवतेर्घिनण् भवति ।

विद्रवतीत्येवंशीलो-विद्रावी, प्रद्रावी ॥५४॥

वि-परि-प्रात् सर्त्तेः ॥ ५. २. ५५ ॥

वि-परि-प्रेभ्यः पराच्छीलादौ सत्यर्थे वर्तमानात् सर्त्तेर्घिनण् भवति ।

विसरतीत्येवंशीलो-विसारी, परिसारी, प्रसारी ॥५५॥

समः पृचैप्-ज्वरेः ॥ ५. २. ५६ ॥

शीलादौ सत्यर्थे वर्तमानाभ्यां समः पराभ्यां पृणक्ति-ज्वरिभ्यां घिनण् भवति ।

संपृणक्तीत्येवंशीलः-संपर्की । पिन्निर्देशादादादिकस्य न ग्रहणम्-संपर्चिता । संज्वरतीत्येवंशीलः-संज्वारी । केचिद् ण्यन्तादपीच्छन्ति-संज्वरी । त्वरयतेरपि कश्चिद्-संत्वरी । अकर्मकादित्येव ? संपृणक्ति शाकम् ॥५६॥

सं-वेः सृजः ॥ ५. २. ५७ ॥

शीलादौ सत्यर्थे वर्तमानात् सं-विभ्य परात् सृजेर्घिनण् भवति ।

संसृजतीत्येवंशीलः संसृज्यते वा-संसर्गी, विसर्गी ॥५७॥

सं-परि-व्यनु-प्राद् वदः ॥ ५. २. ५८ ॥

शीलादौ सत्यर्थे वर्तमानात् सं-परि-व्यनुप्रेभ्यः पराद् वदेर्घिनण् भवति ।

संवदतीत्येवंशीलः-संवादी, परिवादी, विवादी, अनुवादी, प्रवादी । परिपूर्वाण्ण्यन्तादपीति केचित् ॥५८॥

वेर्विच-कत्थ-स्रम्भू-कष-कस-लस-हनः ॥ ५. २. ५९ ॥

एभ्यो विपूर्वेभ्यः शीलादौ सत्यर्थे वर्तमानेभ्यो घिनण् भवति ।

विविनक्तीत्येवंशीलो-विवेकी । विकत्थी, विस्रम्भी, विकाषी, विकासी, विलासी, विघाती ॥५९॥

व्यपा-ऽभेर्लषः ॥ ५. २. ६० ॥

व्यपा-ऽभिभ्यः पराच्छीलादौ सत्यर्थे वर्तमानाल्लषेर्घिनण् भवति ।

विलषतीत्येवंशीलो-विलाषी, अपलाषी, अभिलाषी ॥६०॥

सं-प्राद् वसात् ॥ ५. २. ६१ ॥

सं-प्राभ्यां पराच्छीलादौ सत्यर्थे वर्तमानाद् वसतेर्घिनण् भवति ।

संवसतीत्येवंशीलः-संवासी, प्रवासी । शव्निर्देशाद् वस्तेर्न भवति ।।६१।।

समत्यपाभिव्यभेश्चरः ॥ ५. २. ६२ ॥

'सम्, प्रति, अप, अभि, व्यभि' इत्येतेभ्यः पराच्छीलादौ सत्यर्थे वर्तमानाच्चरेर्घिणन् भवति ।

संचरतीत्येवंशीलः-संचारी, प्रतिचारी, अपचारी, अभिचारी, व्यभिचारी ।।६२।।

समनुव्यवाद् रुधः ॥ ५. २. ६३ ॥

'सम्, अनु, वि, अव' इत्येतेभ्यः पराच्छीलादौ सत्यर्थे वर्तमानात् रुधेर्घिनण् भवति ।

संरुन्धे इत्येवंशीलः-संरोधी, अनुरोधी, विरोधी, अवरोधी ।।६३।।

वेर्दहः ॥ ५. २. ६४ ॥

विपूर्वाच्छीलादौ सत्यर्थे वर्तमानाद् दहेर्घिनण् भवति । विदहतीत्येवंशीलो-विदाही ।।६४।।

परेर्देवि-मुहश्च ॥ ५. २. ६५ ॥

देवीति देवृधातोरण्यन्तस्य ण्यन्तस्य च ग्रहणम् । परिपूर्वाभ्यां शीलादौ सत्यर्थे वर्तमानाभ्यामाभ्यां दहश्च घिनण् भवति ।

परिदेवते परिदेवयति वा-परिदेवी । ण्यन्तान्नेच्छन्त्यन्ये । परिमोही, परिदाही ।।६५।।

न्या० स०—परेर्देवि-देवृधातोरिति-लाक्षणिकत्वात् दीव्यतेर्ण्यन्तस्य न ग्रहणम् ।

क्षिप-रटः ॥ ५. २. ६६ ॥

परिपूर्वाभ्यामाभ्यां शीलादौ वर्तमानाभ्यां घिनण् प्रत्ययो भवति ।

परिक्षिप्यति परिक्षिपति वा-परिक्षेपी, परिक्षेप्यम्भसाम्, परिराटी ।।६६।।

वादेश्च णकः ॥ ५. २. ६७ ॥

परिपूर्वाच्छीलादौ सत्यर्थे वर्तमानाद् वादयतेः क्षिप-रटिभ्यां च णकः प्रत्ययो भवति ।

परिवादयतीत्येवंशीलः-परिवादकः । वदेरपि केचित् । परिक्षेपकः । परिराटकः । असरूपत्वात् "णक-तृचौ" (५-१-४८) इति सिद्धे पुनर्विधानं शीलादिप्रत्ययेष्वशीलादिकृत्प्रत्ययोऽसरूपविधिना न भवतीति ज्ञापनार्थम्, तेनालंकारकः, परिक्षिपः, परिरट इत्यादि शीलाद्यर्थे न भवति । बाहुलकात् क्वचिद् भवत्यपि—

"काम-क्रोधो मनुष्याणां खादितारौ वृकाविव" । अत्र णकविषये तृच् ।।६७।।

निन्द-हिंस-क्लिश-खाद-विनाशि व्याभाषा-ऽसूया-ऽनेकस्वरात् ॥ ५. २. ६८ ॥

एभ्यः शीलादौ सत्यर्थे वर्तमानेभ्यो णको भवति ।

निन्दतीत्येवंशीलो-निन्दकः, हिंसकः, क्लिश्नाति क्लिश्यते वा-क्लेशकः, खादकः, विनाशयति-विनाशकः, व्याभाषकः । असूयः कण्ड्वादौ-असूयकः, दरिद्रायकः, चकासकः, गणकः, चुलुम्पकः । अनेकस्वरत्वादेव सिद्धेऽसूयग्रहणं कण्ड्वादिनिवृत्त्यर्थम् , तेन-कण्डूयिता, मन्तूयिता, तृन्नेव । विनाशिग्रहणं तु अन्यस्य ण्यन्तस्य निवृत्त्यर्थम्-कारयिता । अनेकस्वरान्नेच्छन्त्यन्ये । क्लिशेर-विशेषेण ग्रहणाद् दैवादिकादिदित्वेऽपि अनो न भवति ।।६८।।

न्या० स०-निन्दहिंस-अन्यस्य ण्यन्तस्येति-कथं तर्हि गणकः, अत्रेदं व्याख्यानं कर्त्तव्यं, यत् विनाशीति णिगन्तस्योपादानं करोति तत् ज्ञापयति अन्यस्यापि, णिगन्तस्य वर्ज्जनं तेन णिजन्तस्य भवत्येव ।

उपसर्गाद् देवृ-देवि-क्रुशः ॥ ५. २. ६९ ॥

उपसर्गात् परेभ्यः शीलादौ सत्यर्थे वर्तमानेभ्य एभ्यो णको भवति ।

आदेवत इत्येवंशीलः-आदेवकः, परिदेवकः । देवीति दीव्यतेर्देवतेर्वा ण्यन्तस्य ग्रहणम् , आदेवयतीति-आदेवकः, परिदेवकः, आक्रोशकः, परिक्रोशकः । उपसर्गादिति किम् ? देवनः, देवयिता, क्रोष्टा । देवतेर्ण्यन्तादेवेति कश्चित् ।।६९।।

न्या० स०-उपसर्गाद्देवृ-ण्यन्तस्य ग्रहणमिति-लक्षणप्रतिपदेत्यस्य न्यायस्यानित्यत्वात् अथवा भिन्नदेवृग्रहणात् अन्यथा देवग्रहणमेव कुर्यात् ।

वृङ्-भिक्षि-लुण्टि-जल्पि-कुट्टाट्टाकः ॥ ५. २. ७० ॥

एभ्यः शीलादौ सत्यर्थे वर्तमानेभ्यष्टाकः प्रत्ययो भवति ।

वृणीते इत्येवंशीलो-वराकः, वराकी । भिक्षाकः, भिक्षाकी । लुण्टाकः, लुण्टाकी । जल्पाकः, जल्पाकी । कुट्टाकः, कुट्टाकी । टकारो ङ्यर्थः ।।७०।।

प्रात् सू-जोरिन् ॥ ५. २. ७१ ॥

प्रात् पराभ्यां सुवति-जुभ्यां शीलादौ सत्यर्थे वर्तमानाभ्यामिन् प्रत्ययो भवति ।

'सू' इति निरनुबन्धग्रहणात् सुवतेर्ग्रहणम्, न सूति-सूयत्योः । प्रसुवतीत्येवंशीलः-प्रसवी । प्रजवी ।।७१।।

जीणृ-दृ-क्षि-विश्रि-परिभू-वमा-ऽभ्यमा-ऽव्यथः ॥ ५. २. ७२ ॥

एभ्यः शीलादौ सत्यर्थे वर्तमानेभ्य इन् भवति ।

जि-जयतीत्येवंशीलो-जयी, इण्-अत्ययी, उदयी, दृ-आदरी, क्षीति क्षि-क्षितो

ग्रहणम्, क्षयी, विश्रि-विश्रयी, परिभू-परिभवी, वम्-वमी, अभ्यम्-अभ्यमी, अव्यथ्-न व्यथते इति-अव्यथी ॥७२॥

न्या० स०-जीण् दृक्षि-क्षिक्षितोरिति क्षिष्श् इत्यस्य तु सानुबन्धत्वान्न ग्रहः ।

सृ-घस्यदो मरक् ॥ ५. २. ७३ ॥

एभ्यः शीलादौ सत्यर्थे वर्तमानेभ्यो मरक् प्रत्ययो भवति ।

सरतीत्येवंशीलः-सृमरः, घस्मरः, अद्मरः ॥७३॥

भञ्जि-भासि-मिदो घुरः ॥ ५. २. ७४ ॥

एभ्यः शीलादौ सत्यर्थे वर्तमानेभ्यो घुरः प्रत्ययो भवति ।

भज्यते स्वयमेवेत्येवंशीलं-भङ्गुरं काष्ठम् । भासते-भासुरं वपुः, मेद्यति मेदते वा-मेदुरः । घकारो गत्वार्थः ॥७४॥

न्या० स०-भञ्जिभासि-'व्याप्ये घुरकेलिम' ५-१-४ इति घुरप्रत्ययस्य व्याप्ये कर्त्तरि विधानादित्याह-भज्यते स्वयमेवेत्यादि-भासिमिदिविदां तु कर्त्तर्येव घुरोऽकर्म्मकत्वेन कर्म्मकर्तुरसंभवात् ।

वेत्ति-छिद्-भिदः कित् ॥ ५. २. ७५ ॥

एभ्यः शीलादौ सत्यर्थे वर्तमानेभ्यः किद् घुरः प्रत्ययो भवति ।

वेत्तीत्येवंशीलो-विदुरः, छिद्यते भिद्यते स्वयमेव-छिदुरः, भिदुरः, कित्वाद् गुणो न भवति । वेत्तीति तिव्निर्देश इतरविदित्रयव्युदासार्थः ॥७५॥

भियो रु-रुक-लुकम् ॥ ५. २. ७६ ॥

शीलादौ सत्यर्थे वर्तमानाद् बिभेते 'रु रुक लुक' इति प्रत्ययत्रयं किद् भवति ।

बिभेतीत्येवंशीलो-भीरुः, भीरुकः भीलुकः । ऋफिडादित्वात् लत्वं प्रयोगानुसारणाद् गरीय इति लाघवार्थं लुकवचनम् ॥७६॥

सृ-जीण्-नशष्ट्वरप् ॥ ५. २. ७७ ॥

एभ्यः शीलादौ सत्यर्थे वर्तमानेभ्यः कित् ट्वरप् प्रत्ययो भवति ।

सरतीत्येवंशीलः-सृत्वरः, सृत्वरी, जित्वरः, जित्वरी । इण् इत्वरः, इत्वरी । क्रूरकर्मणि पथिके नीचे दुर्विधे । नश्वरः, नश्वरी । टकारो ङ्यर्थः । पकारस्तागमार्थः ॥७७॥

गत्वरः ॥ ५. २. ७८ ॥

गमेष्ट्वरप् मकारस्य च तकारो निपात्यते । गत्वरः, गत्वरी ॥७८॥

स्म्यजस-हिंस-दीप-कम्प-कम-नमो रः ॥ ५. २. ७९ ॥

स्म्यादिभ्यः शीलादौ सत्यर्थे वर्तमानेभ्यो रः प्रत्ययो भवति ।

स्मयत इत्येवंशीलं-स्मेरं मुखम् । अजसिति "जसूच् मोक्षणे" नञ्पूर्वः, न जस्यति-अजस्रं श्रवणम्, अजस्रा प्रवृत्तिः, अजस्रः पाकः, अजस्रं पचति । अजस्रशब्दोऽयं स्वभावात् सातत्यविशिष्टां क्रियामाह, तेन धात्वर्थ एव कर्तरि रः प्रत्ययोऽन्यथा क्रियाभिधानानुपपत्तेः, तेनाजस्रो घट इति न भवति । अजस्रमित्यव्ययमपि नित्यार्थं क्रियाविशेषणमस्ति । हिंस्-हिंस्रो व्याघः । दीप्-दीप्रो दीपः । कम्प्-कम्प्रः । कम्-कामयते कम्रा युवतिः ।

बहुलाधिकारात् कर्मण्यपि, कम्यते-कम्रः, तत एव कमितेत्यपि । नम्-नमतीति-नम्रः । अजसि-कमि-नमिभ्यः कर्मकर्तर्येवेच्छन्त्येके ॥७९॥

न्या० स०-स्म्यजस जसूच् मोक्षणे इति-अन्येषामणिजन्तानां साहचर्याच्चुरादिणिजन्तो न गृह्यते । धात्वर्थ एव कर्त्तरीति-अन्यस्य धातोरर्थ इत्यर्थः, यथाऽजस्रः पाकः इत्यत्र पाकलक्षणेऽर्थे ।

तृषि-धृषि-स्वपो नजिङ् ॥ ५. २. ८० ॥

तृषि-धृषि-स्वपिभ्यः शीलादौ सत्यर्थे वर्तमानेभ्यो नजिङ् प्रत्ययो भवति ।

तृष्यतीत्येवंशीलः-तृष्णक्, तृष्णजौ । धृष्णक्, धृष्णजौ । स्वप्नक्, स्वप्नजौ । ङकारो गुणप्रतिषेधार्थः, इकार उच्चारणार्थः । धृषो नेच्छन्त्येके ॥८०॥

स्थेश-भास-पिस-कसो वरः ॥ ५. २. ८१ ॥

स्थादिभ्यः शीलादौ सत्यर्थे वर्तमानेभ्यो वरः प्रत्ययो भवति ।

तिष्ठतीत्येवंशीलः-स्थावरः, स्थावरा । ईश्वरः, ईश्वरी । कथमीश्वरी ? "अश्नोरीच्चादेः" (४४२) इत्यौणादिके वरटि भवति । भास्वरः, भास्वरा । पेस्वरः, पेस्वरा । विकस्वरः, विकस्वरा । प्रमदेरपीति कश्चित्-प्रमाद्यति-प्रमद्वर ॥८१॥

यायावरः ॥ ५. २. ८२ ॥

यातेर्धातोः शीलादौ सत्यर्थे वर्तमानाद् यङन्ताद् वरः प्रत्ययो निपात्यते ।

कुटिलं यातीत्येवंशीलो-यायावरः ॥८२॥

न्या० स०-यायावर इति-'य्वोः' ४-४-१२१ इति यलुप्, 'योऽशिति' ४-३-८० इति न व्यञ्जनादित्यधिकारात् ।

दिद्युद्-दद्दज्जगज्जुहू-वाक्-प्राट्-धी-श्री-द्रू-स्रू-ज्वायतस्तू-कटप्रू-परिव्राड्-भ्राजादयः क्विपः ॥ ५. २. ८३ ॥

एते शब्दाः क्विबन्ताः शीलादौ सत्यर्थे निपात्यन्ते ।

द्योतते इत्येवंशीलो-दिद्युत्,-दिद्युतौ, दृणातीति-दद्रत्, दद्रतौ, गच्छतीति-जगत्, जुहोतीति-जुहूः, एषु द्वित्वम्, दृणाति-जुहोत्योर्ह्रस्वत्वदीर्घत्वे च । वक्तीतिवाक् । पृच्छतीति-प्राट्, प्राशौ; शब्दप्राट्, तत्त्वप्राट् । दधाति ध्यायति वा-धीः, श्रयतीति-श्रीः । शतं द्रवतीति-शतद्रूः, स्रवतीति स्रूः । जवतीति-जूः । आयतं स्तौतीति-आयतस्तूः, कटं प्रवते-कटप्रूः, परिव्रजतीति-परिव्राट्, परिव्राजौ, एषु दीर्घत्वम् दधातेराकारस्य ध्यायतेर्याशब्दस्य चेकारः ।

बहुलाधिकारादशीलादावपि । धीः, प्रधीः, आधीः । भ्राजादि-विभ्राजत इति-विभ्राट्, विभ्राजौ । भासत इति-भाः, भासौ, भासः । पिपर्तीति-पूः, पुरौ, पुरः । धर्वतीति-धूः, धूरौ, धूरः । विद्योतत इति-विद्युत्, विद्युतौ । ऊर्जयतीति-ऊर्क्-ऊर्जौ, ऊर्जः । ग्रावाणं स्तौति-ग्रावस्तुत्, ग्रावस्तुतौ । पचतीति-पक् । शक्नोतीति-शक् । भिनत्तीति-भित् । वेत्तीति-वित् । शोकच्छित् । "भुवः संज्ञायामेव" । भूः-पृथिवी, शंभूः-शिवः, आत्मभूः-कामः, मनोभूः-स एव, स्वयंभूर्ब्रह्मा, स्वर्भूर्विष्णुश्च । मित्रभूनाम कश्चित्, प्रतिभूः-उत्तमर्णाधमर्णयोरन्तरस्थः, दृन्भूः-व्यसनसहायः, कारभूः-पण्यमूल्यादिनिर्णेता, वर्षाभूर्दर्दुर औषधिश्च, पुनर्भूः-पुनरूढा औषधिश्च, संज्ञायाम्, अन्यत्र-भविता ।

शीलादिषु असरूपविधिनास्ति, तेन-सामान्यलक्षणः क्विप् न प्राप्नोतीति पुनर्विधीयते । शीलादिप्रत्ययानां पूर्णोऽवधिः । केचित् तु संज्ञाशब्दानां शीलाद्यर्थेषु कामचारस्ते यथाकथंचिद् व्युत्पादनीया इति मन्यन्ते ।।८३।।

न्या० स०-दिद्युद्दद्रत्-जगदिति-क्रियाशब्दोऽयं तेन जगतौ जगत इति । विष्टपवाचकस्तु गमेर्डिद् द्वे चेति साधुस्तस्य च जगती जगन्तीति द्विवचनबहुवचने सति भवतः । वाक् इति-निपातनात् कर्मण्यपि । पूरिति-पिपर्त्तीति पॄश् इत्यस्य धात्वन्तरेण वाक्यं तच्चार्थकथनमेव, पृणातीत्येवंशीला इति तु कार्यम् । शीलादिष्विति-ननु तृन्नादीनां पक्षेऽसरूपत्वात् सामान्यक्विप् भविष्यति किमनेन ? इत्याह-असरूपविधिर्नास्तीति-सामान्यलक्षणः क्विबिति-भ्राजादिभ्य इति शेषः, दिद्युदादयस्तु निपातनीया एवाऽनेन सूत्रेण तेषां 'क्विप्' ५-१-१४८ इत्यनेन सिद्ध्यऽभावात् ।

शं-सं-स्वयं-विप्राद् भुवो डुः ।। ५. २. ८४ ।।

एभ्यः पराद् भुवः सत्यर्थे वर्तमानाड्डुः प्रत्ययो भवति ।

शं सुखं तत्र भवति-शंभुः शंकरः, संभुर्जनिता, स्वयंभुः, विभुर्व्यापकः, प्रभुः स्वामी । बहुलाधिकारात् शंभुः संज्ञायाम् । अन्ये त्वसंज्ञायामपि । मितद्र्वादयस्त्वौणादिकाः ।।८४।।

पुव इत्रो दैवते ।। ५. २. ८५ ।।

सामान्यनिर्देशात् पवतेः पुनातेश्च दैवते-देवतायां कर्तरि सत्यर्थे इत्रः प्रत्ययो भवति ।

पुनाति पवते वा-पवित्रोऽर्हन्, स मां पुनातु । करणेऽप्यन्ये ॥८५॥

ऋषि-नाम्नोः करणे ॥ ५. २. ८६ ॥

सत्यर्थे वर्तमानात् पुवः करणे इत्रो भवति, ऋषौ संज्ञायां च ।

पूयतेऽनेनेति-पवित्रोऽयमृषिः । नाम्नि-दर्भः पवित्रः, बर्हिः पवित्रम्, यज्ञोपवीतं पवित्रम्, ओघोपकरणं पवित्रम्, पवित्रा नदी । दर्भादीनां पवित्रमिति संज्ञा । ऋषौ कर्तर्यपि केचित् ॥८६॥

न्या० स०- ऋषिनाम्नोः-ओघोपकरणमिति-वहति प्रापयति निरवद्यां सर्वसावद्यविरतिमिति अचि 'न्यङ्कूद्ग' ४-१-११२ इति साधुः, यद्वा उङ् शब्दे ऊयते शब्द्यते उपादेयतया लोकोत्तरे मघाघेति घः ।

लू-धू-सू-खन-चर-सहा-ऽर्तः ॥ ५. २. ८७ ॥

एभ्यः सत्यर्थे वर्तमानेभ्यः करणे इत्रो भवति ।

लुनात्यनेन-लवित्रम् , धुवत्यनेन-धुवित्रम्, धूनोतेरपि कश्चित्-धवित्रम् , सुवत्यनेन-सवित्रम्, निरनुबन्धनिर्देशात् धूग्-सूङोर्न भवति । खनित्रम्, चरित्रम्, सहित्रम्, ऋच्छतीर्यति वा-ऽनेनारित्रम् । वहेरपि कश्चित्-वहित्रम् ॥८७॥

नी-दाव्-शसू-यु-युज-स्तु-तुद-सि-सिच-मिह-पत-पा-नहस्त्रट् ॥ ५. २. ८८ ॥

एभ्यः सत्यर्थे वर्तमानेभ्यः करणे त्रट् प्रत्ययो भवति ।

नयत्यनेन-नेत्रम्, दांव् , दान्त्यनेन-दात्रम्, शसू-शस्त्रम्, यु-योत्रम्, युज्-योक्त्रम्, स्तु-स्तोत्रम्, तुद्-तोत्रम्, सि-सेत्रम्, सिच्-सेक्त्रम्, मिह्-मेढ्रम्, पत्-पत्रम्, पा-पात्रम्, पात्री, नह्-नद्ध्रः, नद्ध्री । टकारो ङ्यर्थः ॥८८॥

हल क्रोडाऽऽस्ये पुवः ॥ ५. २. ८९ ॥

आस्यं मुखम्, पुवो धातोः सत्यर्थे हलास्ये क्रोडास्ये च करणे त्रट् प्रत्ययो भवति ।

पुनाति पवते वाऽनेन-पोत्रम्, हलस्य सूकरस्य च मुखमुच्यते ॥८९॥

दंशेस्त्रः ॥ ५. २. ९० ॥

दंशेः सत्यर्थे वर्तमानात् करणे त्रः प्रत्ययो भवति ।

दशत्यनया-दंष्ट्रा । प्रत्ययान्तरकरणमावर्थम् ॥९०॥

धात्री ॥ ५. २. ९१ ॥

ट्धेर्दधातेर्वा कर्मणि त्रट् प्रत्ययो निपात्यते ।

धयन्ति तामिति-धात्री स्तनदायिनी । दधति तां भैषज्यार्थमिति धात्री आमलकी ।।९१।।

ज्ञानेच्छार्चार्थजीच्छील्यादिभ्यः क्तः ५. २. ९२ ॥

ज्ञानार्थेभ्य इच्छार्थेभ्योऽर्चा पूजा तदर्थेभ्यो ञीद्भ्यः शील्यादिभ्यश्च धातुभ्यः सत्यर्थे वर्तमानेभ्यः क्तः प्रत्ययो भवति । पूर्ववच्चास्य कर्तृ-कर्माद्यर्थनिर्देशः ।

ज्ञानार्थ-राज्ञां ज्ञातः, राज्ञां बुद्धः, राज्ञां विदितः, राज्ञामवगतः । इच्छार्थ-राज्ञामिष्टः, राज्ञां मतः । अर्चार्थ-राज्ञामर्चितः, राज्ञां पूजितः । ञीत्-ञिमिदा-मिन्नः, क्ष्विण्णः, स्विन्नः, धृष्टः, तूर्णः, सुप्तः, भीतः, इद्धः, तृषितः, फुल्लः । शील्यादि—

शीलितो रक्षितः क्षान्त, आक्रुष्टो जुष्ट उद्यतः ।
संयतः शयितस्तुष्टो रुष्टो रुषित आशितः ।। १ ।।

कान्तोऽभिव्याहृतो हृष्टस्तृप्तः सृप्तः स्थितो भृतः ।
अमृतो मुदितः पूर्तः शक्तोऽक्तः श्रान्त-विस्मितौ ।। २ ।।

संरब्धाऽऽरब्ध-दयिता दिग्धः स्निग्धोऽवतीर्णकः ।
आरूढो मूढ आयस्तः, क्षुधित-क्लान्त-व्रीडिताः ।। ३ ।।

मत्तश्चैव तथा क्रुद्धः, श्लिष्टः सुहित इत्यपि ।
लिप्त-दृप्तौ च विज्ञेयौ सति लग्नादयस्तथा ।। ४ ।।

बहुलाधिकाराद् यथाभिधानमेभ्यो भूतेऽपि क्तो भवति, तथा च तद्योगे तृतीयासमासोऽपि सिद्धः—"अर्हद्भ्यस्त्रिभुवनराजपूजितेभ्यः" इति, एवं-शीलितो मैत्रेण, रक्षितो मैत्रेणाऽऽक्रुष्टश्चैत्रेणेत्यादावपि द्रष्टव्यम् । वर्तमानक्ते तु षष्ठ्येव-"कान्तो हरिश्चन्द्र इव प्रजानाम्" इति । अन्ये तु-ज्ञानाद्यर्थेभ्यः ❀ तक्रकौण्डिन्य ❀ न्यायेन भूते क्तस्य बाधनात् वर्तमानक्तेन च योगे कर्तरि षष्ठीविधानात् 'त्वया ज्ञातो मया ज्ञातः' इत्यादिरपशब्द इति मन्यन्ते ।।९२।।

न्या० स०-ज्ञानेच्छा०-पूर्ववच्चास्येति-कर्त्तरि कर्म्मणि भावे च यथा यस्य प्रत्ययोऽभिहितस्तस्य तथैव केवलं वर्तमानकाल एव । ननु 'गत्यर्थ' ५-१-११ इति 'क्तक्तवतु' ५-१-१७४ इत्यनेन च सामान्येन विधानादमीषामपि सिद्धौ इत्याह-तक्रकौण्डिन्यन्यायेनेति ।

उणादयः ॥ ५. २. ९३ ॥

बहुलमिति वर्तते, सत्यर्थे वर्तमानाद् धातोरुणादयः प्रत्यया बहुलं भवन्ति ।

करोतीति-कारुः, वायुः, पायुः । बहुलवचनात् प्रायः संज्ञाशब्दाः, केचिस्त्वसंज्ञा शब्दा इति अनुक्ता अपि प्रत्यया भवन्ति । ऋफिडः, ऋफिड्डः । तथा सति विहिता उणादयः क्वचिद् भूतेऽपि दृश्यन्ते-भसितं तदिति भस्म, कषितोऽसौ-कषिः, ततोऽसौ-तनिः वृत्तं तदिति-वर्त्म, चरितं तदिति-चर्म, अद्भ्यः सरन्ति स्म-अप्सरसः । उक्तं च—

"संज्ञासु धातुरूपाणि प्रत्ययाश्च ततः परे ।।
कार्यानुबन्धोपपदं विज्ञातव्यमुणादिषु ।।१।।"

तथा—

"बाहुलकं प्रकृतेस्तनुदृष्टेः प्रायसमुच्चयनादपि तेषाम् ।
कार्यसशेषविधेश्च तदूह्यं, नैगम-रूढिभवं हि सुसाधु ।।२।।
नाम च धातुजमाह निरुक्ते, व्याकरणे शकटस्य च तोकम् ।
यन्न पदार्थविशेषसमुत्थं, प्रत्ययतः प्रकृतेश्च तदूह्यम् ।।३।। इति ।।९३।।

इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्रविरचितायां सिद्धहेमचन्द्राभिधानस्वोपज्ञशब्दानुशासनवृत्तौ पञ्चमस्याध्यायस्य द्वितीयः पादः ।

अकृत्वाऽऽसननिर्बन्धमभित्त्वा पावनीं गतिम् ।
सिद्धराजः परपुरप्रवेशवशितां ययौ ।।१।।

न्या० स०-उणादयः-प्रायसमुच्चयनादपीति-प्रायेण अकृत्स्नबहुत्वेन समुच्चयनं राशीकरणम् । कार्यसशेषविधेश्चेति-काक इत्यादिसिद्ध्यर्थं सूत्रान्तरं न प्रारेभे इति सविशेषविधित्वम् ।

इत्याचार्यश्री सिद्धहेमचन्द्राभिधानस्वोपज्ञ-शब्दानुशासनबृहद्वृत्तेः पञ्चमाध्यायस्य न्यासतः द्वितीयः पादः समाप्तः ।

॥ अर्हम् ॥

अथ पञ्चमाध्याये तृतीयपादः

वर्त्स्यति गम्यादिः ॥ ५. ३. १ ॥

गम्यादयः शब्दा वर्त्स्यति-भविष्यति धात्वर्थे इन्नादिप्रत्ययान्ताः साधवो भवन्ति, अनेन सामान्यतः सिद्धानां प्रत्ययानां भविष्यद्धात्वर्थता विधीयते ।

गमिष्यतीति-गमी ग्रामम्, इन्नौणादिकः सति प्राप्तो वर्त्स्यति भवति । आगामी, भावी, प्रस्थायी, एभ्य औणादिको णिन् । प्रयायी, प्रतियायी, प्रबोधी, प्रतिबोधी, प्रतिरोधी एभ्योऽजातेः शीले आवश्यके वा णिन् सिद्धो भविष्यति नियम्यते । कथं श्वो ग्रामं गमी ? भविष्यत्सामान्ये पदं निष्पाद्य पश्चाच्छ्वःशब्देन योगः कार्यः ॥१॥

न्या० स०-वर्त्स्यति-सामान्यतः सिद्धानामिति-ननु गमेरिन्नित्यादीनां सत्यधिकारे विहितत्वात् कथं सामान्यतः सिद्धता ? सत्यं,-एकदेशेन, गम्यादिगणे हि प्रयायीत्यादौ 'अजातेः शीले' ५-१-१५४ इत्यादिभिर्णिन्, ते चानिर्दिष्टकालत्वात् सामान्यतः सिद्धाः । उणादिप्रत्ययानां सत्यर्थे विधानात् अप्राप्तौ वर्त्स्यत्यर्थे विधिः, अन्येषां च सामान्यविधानात् वर्त्स्यत्येवेति नियम इति सिद्धम् । कथमिति-अनद्यतने श्वस्तनी प्राप्नोति, न णिन्नित्याशङ्कार्थः ।

वा हेतुसिद्धौ क्तः ॥ ५. ३. २ ॥

हेतुः-कारणं तस्य सिद्धिः-निष्पत्तिः, वर्त्स्यत्यर्थे वर्तमानाद् धातोर्धात्वर्थे हेतोः सिद्धौ सत्यां क्तः प्रत्ययो वा भवति ।

किं ब्रवीषि वृष्टो देवः संपन्नास्तर्हि शालयः संपत्स्यन्त इति वा, प्राप्ता नौस्तीर्णा तर्हि नदी तरिष्यत इति वा ॥२॥

कषोऽनिटः ॥ ५. ३. ३ ॥

कषेः-कृच्छ्र-गहनयोरनिट्त्वमुक्तम्. तस्माद् वर्त्स्यति वर्तमानात् क्तो भवति ।

कषिष्यतीति-'कष्टम् , कष्टा दिशस्तमसा । सत्यपि कश्चित् , कषति-कष्टम् । अनिट इति किम् ? कषिताः शत्रवः शूरेण ॥३॥

न्या० स०-कषोऽनिटः-कषिष्यतीति-अर्थकथनमिदं यावता कष्टगहने वर्त्स्यति क्त एव भवति, असरूपविधिरपि नेष्टः, पूर्वत्र वाग्रहणात् । कषिताः शत्रव इति-अत्र भविष्यत्तापि नास्तीति द्व्यङ्गविकलतेति नाशङ्कनीयं यतोऽनिट इति विशेषणे सति वर्त्स्यतीति वाच्यं स्थितेष्वेतत्समर्थनमिति न्यायात् ।

भविष्यन्ती ॥ ५. ३. ४ ॥

वर्त्स्यत्यर्थे वर्तमानाद् धातोः परा भविष्यन्ती विभक्तिर्भवति । गमिष्यति, भोक्ष्यते ।।४।।

अनद्यतने श्वस्तनी ॥ ५. ३. ५ ॥

न विद्यतेऽद्यतनो यत्र तस्मिन् वर्त्स्यति धात्वर्थे वर्तमानाद् धातोः श्वस्तनी विभक्तिर्भवति ।

कर्ता श्वः, कर्ता । अनद्यतन इति बहुव्रीहिः किम् ? व्यामिश्रे भविष्यन्ती मा भूत्-अद्य श्वो वा गमिष्यति । कथं श्वो भविष्यति ? मासेन गमिष्यति ? पदार्थे भविष्यन्ती पश्चात् श्वःशब्देन योगः ।।५।।

न्या० स०-अनद्यतने श्वस्तनी-पदार्थे भविष्यन्तीति-पदं गमिष्यति क्रिया सार्थो यस्य धात्वर्थस्य तस्मिन् ।

परिदेवने ॥ ५. ३. ६ ॥

परिदेवनमनुशोचनम्, तस्मिन् गम्यमाने वर्त्स्यति धात्वर्थे वर्तमानाद् धातोः श्वस्तनी विभक्तिर्भवति । अनद्यतनार्थ आरम्भः ।

इयं नु कदा गन्ता यैवं पादौ निदधाति, अयं नु कदाऽध्येता य एवमनभियुक्तः । विशेषविधानात् कदा-कर्हिलक्षणा विभाषा बाध्यते ।।६।।

न्या० स०-परिदेवने-विभाषा बाध्यते इति-'कदाकर्ह्योर्नवा' ५-३-८ इत्यर्थः ।

पुरा-यावतोर्वर्तमाना ॥ ५. ३. ७ ॥

पुरा-यावतोर्निपातयोरुपपदयोर्वर्त्स्यति धात्वर्थे वर्तमानाद् धातोर्वर्तमाना विभक्तिर्भवति ।

पुरा भुङ्क्ते, यावद् भुङ्क्ते । भविष्यदनद्यतनेऽपि परत्वाद् वर्तमानैव-पुरा श्वो भुङ्क्ते, यावच्छ्वो व्रजति । लाक्षणिकत्वादिह न भवति-महत्या पुरा जेष्यति ग्रामम्, यावद् दास्यते तावद् भोक्ष्यते, यत्परिमाणमित्यर्थः ।।७।।

न्या० स०-पुरायावतो-पुराभुङ्क्ते इति-पुरेति क्रियाविशेषणं कालविशेषणे वा सप्तमी 'कालाध्व' २-२-२३ इति कर्म्मसंज्ञायामऽम् वा कर्तृविशेषणे प्रथमा वा ।

कदा-कर्ह्योर्नवा ॥ ५. ३. ८ ॥

कदा-कर्ह्योरुपपदयोर्वर्त्स्यत्यर्थे वर्तमानाद् धातोर्वर्तमाना वा भवति, पक्षे भविष्यन्ती-श्वस्तन्यावपि भवतः ।

कदा भुङ्क्ते, कदा भोक्ष्यते, कदा भोक्ता; कर्हि भुङ्क्ते, कर्हि भोक्ता, कर्हि भोक्ष्यते; इति । कर्हिशब्दस्यानद्यतनार्थवृत्तित्वान्न प्राप्नोति, श्वो गमिष्यतीत्यादिवत् तु भविष्यति । भूते तु नित्यं परोक्षादयः-कदा बुभुजे, कदा भुक्तवान्; कर्हि बुभुजे, कर्हि भुक्तवान् ।।८।।

न्या० स०-कदाकर्ह्योः-अनद्यतनार्थवृत्तित्वादिति-अनद्यतन एव र्हिप्रत्ययविधानात् । भूते तु नित्यमिति-ये कदार्कह्योगे सर्वेषु कालेषु वर्त्तमानामिच्छन्ति तन्मतमऽपास्यमित्याह ।

किंवृत्ते लिप्सायाम् ॥ ५. ३. ९ ॥

विभक्त्यन्तस्य डतर-डतमान्तस्य च किमो वृत्तं-किंवृत्तमिति वैयाकरणसमयः, तेन किंतरां किंतमामिति न किंवृत्तम् । तस्मिन्नुपपदे प्रष्टुर्लिप्सायां गम्यमानायां वर्त्स्यत्यर्थे वर्तमानाद् धातोर्वर्तमाना वा भवति, पक्षे भविष्यन्ती-श्वस्तन्यावपि भवतः । लब्धुमिच्छा-लिप्सा ।

को भवतां भिक्षां ददाति दास्यति दाता वा, के के भवन्तो भोजयन्ति भोजयिष्यन्ति भोजयितारो वा, कतरो भवतोर्भिक्षां ददाति दास्यति दाता वा, कतमो भवतां भिक्षां ददाति दास्यति दाता वा । किंवृत्त इति किम् ? भिक्षां दास्यति । लिप्सायामिति किम् ? कः सिद्धपुरं यास्यति ॥९॥

लिप्स्यसिद्धौ ॥ ५. ३. १० ॥

लब्धुमिष्यमाण ओदनादिर्लिप्स्यस्तस्माद् सिद्धौ-स्वर्गाद्यवाप्तिलक्षणायां गम्यमानायां वर्त्स्यत्यर्थे वर्तमानाद् धातोर्वा वर्तमाना भवति, पक्षे भविष्यन्ती-श्वस्तन्यावपि भवतः । अकिंवृत्तार्थोऽयमारम्भः ।

यो भिक्षां ददाति दास्यति दाता वा स स्वर्गलोकं याति यास्यति याता वा, लिप्स्याद् भक्तात् स्वर्गसिद्धिमाचक्षाणो दातारं प्रोत्साहयति ॥१०॥

न्या० स०-लिप्स्यसिद्धौ-यो भिक्षां ददातीति-अत्रोभयोर्वाक्ययोर्मिलितयोर्लिप्स्यसिद्धिरवगम्यते तेनोभयत्राप्यनेनैव वर्त्तमाना सिद्धा ।

पञ्चम्यर्थहेतौ ॥ ५. ३. ११ ॥

पञ्चम्यर्थः प्रैषादिस्तस्य हेतुर्निमित्तमुपाध्यायागमनादि तस्मिन्नर्थे वर्त्स्यति वर्तमानाद् धातोर्वर्तमाना वा भवति, पक्षे भविष्यन्ती-श्वस्तन्यावपि भवतः ।

उपाध्यायश्चेदागच्छति आगमिष्यति आगन्ता वा, अथ त्वं सूत्रमधीष्व, अथ त्वमनुयोगमादत्स्व; अत्र भविष्यदुपाध्यायागमनमध्ययनादिविषयस्य प्रैषस्यातिसर्गस्य प्राप्तकालतायाश्च हेतुर्भवति ॥११॥

न्या० स०-पञ्चम्यर्थहे-प्रैषस्येत्यादि-न्यक्कारपूर्वं प्रेषणं प्रैषः, अनुमतादेशदानमतिसर्गः, अवसरः प्राप्तकालता ।

सप्तमी चोर्ध्वमौहूर्तिके ॥ ५. ३. १२ ॥

ऊर्ध्वं मुहूर्ताद् भव ऊर्ध्वमौहूर्तिकः "नाम नाम्ना०" (३-१-१८) इति समासः,

उत्तरपदवृद्धिस्त्वस्मादेव निर्देशात् । पञ्चम्यर्थहेतौ ऊर्ध्वमौहूर्तिके वर्त्स्यर्थे वर्तमानाद् धातोः सप्तमी चकाराद् वर्तमाना च विभक्तिर्वा भवति, पक्षे भविष्यन्ती-श्वस्तन्यावपि भवतः ।

ऊर्ध्वं मुहूर्तादुपरि मुहूर्तस्य परं मुहूर्तादुपाध्यायश्चेदागच्छेत् आगच्छति आगमिष्यति आगन्ता वा, अथ त्वं तर्कमधीष्व, अथ त्वं सिद्धान्तमधीष्व ।।१२।।

न्या० स०-सप्तमी चो-ऊर्ध्वं मुहूर्त्तादिति-ऊर्ध्वमुपाध्यायागमनक्रियाविशेषणम् । परं मुहूर्त्तादिति-परमुपाध्यायागमनम् अव्ययं वा ।

क्रियायां क्रियार्थायां तुम् णकच् भविष्यन्ती ॥ ५. ३. १३ ॥

वेति निवृत्तम्, यस्माद् धातोस्तुमादिस्तद्वाच्या या क्रिया साऽर्थः प्रयोजनं यस्याः सा क्रियार्था, तस्यां क्रियायामुपपदे वर्त्स्यत्यर्थे वर्तमानाद् धातोस्तुम्-णकच्-भविष्यन्ती-प्रत्यया भवन्ति ।

कर्तुं व्रजति, कारको व्रजति, करिष्यमीति व्रजति; भोक्तुं व्रजति, भोजको व्रजति, भोक्ष्ये इति व्रजति । क्रियायामिति किम् ? भिक्षिष्ये इत्यस्य जटाः । क्रियार्थायामिति किम् ? धावस्ते पतिष्यति वासः, अत्रास्ति धावनक्रियोपपदं न त्वसौ पतनार्थमुपात्तेति न भवति । "णक-तृचौ" (५-१-४८) इति सामान्येन सिद्धे क्रियार्थोपपदभाविन्या भविष्यन्त्या बाधा मा भूदिति णकज्विधानम्, असरूपविधिना णकोऽपि भविष्यतीति चेत् ? एवं तर्हि असरूपविधिना तृजादयो मा भूवन्निति पुनर्णकज्विधानम्, तेनौदनस्य पाचको व्रजति, पक्ता व्रजति, पचो व्रजति; विक्षिपो व्रजतीत्यादि न भवति ।।१३।।

न्या स०-क्रियायां क्रियार्थायां-वेति निवृत्तमिति-केवलविभक्तिविधानप्रस्तावे विकरयोस्तुमृणकचोर्विधानात् । धावतस्ते पतिष्यति वास इति-भिन्नकर्तृकत्वेऽपि सूत्रस्य प्रवृत्तिरिति प्राप्नोति, अत्र हि धावनक्रियाया देवदत्तः कर्त्ता, पतनक्रियायास्तु वासः ।

कर्मणोऽण् ॥ ५. ३. १४ ॥

क्रियायां क्रियार्थायामुपपदे कर्मणः पराद् वर्त्स्यत्यर्थे वर्तमानाद् धातोरण् प्रत्ययो भवति ।

कुम्भकारो व्रजति, काण्डलावो व्रजति । "कर्मणोऽण्" (५-१-७२) इति सामान्येन विहितोऽण् णकचाऽनेन बाध्येतासरूपविधिश्च नास्तीति पुनर्विधीयते, सोऽपवादत्वाण्णकच बाधते, परत्वात् सामान्यस्याणो बाधकान् टगादीनपि, तेन-वक्रगायो व्रजति, सुरापायो व्रजति, गोदायो व्रजति । बहुलाधिकाराण्णकच्-भविष्यन्त्यावपि भवतः-कटं कारको व्रजति, ओदनं भोजको व्रजति, काण्डानि लविष्यामीति व्रजति, कम्बलं दास्यामीति व्रजति ।।१४।।

न्या० स० कर्मणोऽण्-सामान्येन विहित इति-अनेन क्रियायां क्रियार्थायामुपपदे वर्त्स्यत्यर्थे च विधानं पूर्वेण तु सामान्येन कर्म्मणः परादित्यर्थः ।

भाववचनाः ॥ ५. ३. १५ ॥

भाववचना घञ्-क्त्यादयस्ते क्रियायां क्रियार्थायामुपपदे वर्त्स्यत्यर्थे वर्तमानाद् धातोर्भवन्ति । क्रियार्थोपपदेन तुमा मा बाधिषतेति वचनम् , असरूपविध्यभावस्य ज्ञापितत्वात् ।

पाकाय व्रजति, पक्तये व्रजति, पचनाय व्रजति, पाचनायै व्रजति । वचनग्रहणाद् यो यथा विहितः स तथा भवति । "तुमोऽर्थे भाववचनात्" (२-२-६१) इति चतुर्थी ।१५।।

न्या० स०-भाववचनाः-वचनग्रहणादिति-यदि भावे इति क्रियेत तदा भावमात्र एव ये विहितास्त एव लभ्येरन् न सर्वे, वचनग्रहणे तु ये केचिद् भावं ब्रुवन्ति ते येन केनापि प्रकारेण भावं ब्रुवाणा गृह्यन्ते एव ।

पद-रुज-विश-स्पृशो घञ् ।। ५. ३. १६ ।।

एभ्यो धातुभ्यो घञ् प्रत्ययो भवति, कृत्त्वात् कर्तरि । वर्त्स्यतीत्यादि निवृत्तम् ।

पद्यते पत्स्यते अपादि पेदे वा-पादः, एवं-रागः, वेशः, स्पर्शो व्याधिविशेषः, स्पर्शो देवदत्तः कम्बलस्य, घकारः कत्वगत्वार्थः । ञकारो वृद्ध्यर्थः ।।१६।।

न्या० स०-पदरुज-वर्त्स्यतीत्यादि निवृत्तमिति-'पदरुज' ५-२-१६ इत्यादिप्रकृतिनियंत्रितप्रत्ययोपादानात्, आदिशब्दात्क्रिया क्रियार्थोपपदं च । केचिदुपतापे एव स्पृशेर्घञमिच्छन्ति तन्मतव्युदासार्थं स्पृशेरुदाहरणद्वयम् ।

सर्तेः स्थिर-व्याधि-बल-मत्स्ये ।। ५. ३. १७ ।।

सर्तेरेषु कर्तृषु घञ् भवति ।

स्थिरे-सरति कालान्तरमिति सारः स्थिरः पदार्थः, सालसारः, खदिरसारः, कार्ष्यसारः । व्याध्यादौ-अतीसारो व्याधिः, सारो बलम्, विसारो मत्स्यः ।।१७।।

भावा-ऽकर्त्रोः ।। ५. ३. १८ ।।

भावे वाच्ये कर्तृवर्जिते कारके च सर्वधातुभ्यो घञ् भवति ।

पचनं पाकः, एवं-रागः, त्यागः; प्रकुर्वन्ति तमिति-प्राकारः, एवं-प्रासः, प्रसेवः, समाहारः, कारः, करणाधिकरणयोरनट् तदपवादश्च व्यञ्जनान्तेभ्यो घञ् वक्ष्यते । दाशन्तेऽस्मा इति-दाशः, तालव्योपान्त्योऽयम् । आहरन्त्यस्मादित्याहारः । असंज्ञायामपिदायो दत्तः, लाभो लब्धः । 'कृतः कटो हृतो भारः' इत्यादौ बहुलाधिकारान्न भवति । अकर्त्रिति पर्युदासेन कारकाश्रयणात् संबन्धे न भवति देवदत्तस्य पच्यते ।

भावा-ऽकर्त्रोरिति किम् ? पचः । भावो भवत्यर्थः साध्यरूपः क्रियासामान्यं धात्वर्थः, स धातुनैवोच्यते तत्रैव च त्यादयः क्त्वातुमम्तव्यानीयादयश्च भवन्ति । यस्तु भावो धात्वर्थधर्मः सिद्धता नाम लिङ्गसंख्यायोगी स द्रव्यवद् धात्वर्थादन्यः, तत्रायं घञादिविधिः, तेन तद्योगे लिङ्गवचनभेदः सिद्धो भवति-पाकः पाकौ पाकाः, पचनं पचने पचनानि, पक्तिः पक्ती पक्तय इति ।।१८।।

न्या० स०-भावाकर्त्रोः-केचित्तु अत्र संज्ञायामित्याहुस्तन्निराकरणार्थमाह-असंज्ञायामपीति-करकाश्रयणादिति-भावग्रहणाच्च, यदि हि भावग्रहणमपनीयाऽकर्त्तरीति कृत्वा प्रसज्य नञ् व्याख्यायते तदापि भाववत्संबन्धेऽपि घञ् स्यादिति संबन्धे घञ् निवृत्त्यर्थं भावग्रहणम् । क्रियासामान्यमिति-क्रियाणां साधारणं रूपमित्यर्थः, तथाहि-सर्वासु क्रियासु सत्त्वमिति भवत्यर्थः साधारण एव, स च धात्वर्थः, अत एव धातुनैवोच्यते, स न प्रत्ययैः । यः पुनः सिद्धता नाम स धात्वर्थस्य धर्म्म एव न धात्वर्थः, अत एव प्रत्ययैरेवोच्यते, स न धातुना, तदुक्तम्—

आख्यातसाध्यैरर्थोऽसावन्तर्भूतोऽभिधीयते ।
नाम शब्दाः प्रवर्त्तन्ते, संहरन्त इव क्रमम् ।।१।।

इङोऽपादाने तु टिद् वा ।। ५. ३. १९ ।।

इङो धातोर्भावाऽकर्त्रोर्घञ् भवति, अपादाने तु कारके वा टिद् भवति ।

अध्ययनमध्यायः, अधीयत इति-अध्यायः, उपेत्याधीयतेऽस्मादिति-उपाध्यायः । टिद्विधानसामर्थ्यात् स्त्रियां क्तिर्बाध्यते-उपाध्यायी उपाध्याया ।।१९।।

न्या० स०-इङोपादाने-क्तिर्बाध्यत इति-टित्त्वस्य हि स्त्रियां ङी प्रत्ययः फलं, ततो यदि स्त्रियां क्तिर्भविष्यति तदा किं टिद्विधानेन ।

श्रो वायु-वर्ण-निवृते ।। ५. ३. २० ।।

'शॄ' इत्यस्माद् भावाऽकर्त्रोर्वाय्वादिष्वर्थेषु घञ् भवति ।

शीर्यते औषधादिभिरिति-शारो वायुः, मालिन्येन शीर्यते इति-शारो वर्णः, निवृतं निवरणं प्रावरणमित्यर्थः, निशीर्यते शीताद्युपद्रवो येन तत्-नीशारो निवृतम्, "गौरिवाकृतनीसारः प्रायेण शिशिरे कृशः" निवृता द्यूतोपकरणमिति कश्चित्, 'नियमेन वृता' इत्यन्वर्थात्, शारैरिव क्रीडितम् । एष्विति किम् ? शरः ।।२०।।

न्या० स०-श्रो वायु-नीशार इति-बाहुलकात् परमप्यऽनटं घं वा बाधते घञ् प्रत्ययः ।

निरभेः पू-ल्वः ।। ५. ३. २१ ।।

'पू' इति पूग्-पूङोः सामान्येन ग्रहणम्, निरभिपूर्वाभ्यां यथासंख्यं पू-लूभ्यां परो भावाऽकर्त्रोर्घञ् भवति ।

निष्पूयते-निष्पावः, अभिलावः ।।२१।।

रोरुपसर्गात् ।। ५. ३. २२ ।।

उपसर्गपूर्वाद् रौतेर्भावाऽकर्त्रोर्घञ् भवति ।

संरवणं-संरावः, उपरावः, विरावः । उपसर्गादिति किम् ? रवः । सांराविणमित्यत्र जिन् बाधकः । कथं रावः ? बहुलाधिकारात् ।।२२।।

न्या० स०-रोरुपस०-सांराविणमिति-समंताद्रावः अभिव्याप्तौ' ५-३-९० इति ञिन् तत. स्वार्थे 'नित्यं ञाञ्नोऽण्' ७-३-५८ 'नो पदस्य' ७-४-६१ इत्यन्त्यस्वरादेर्लुक् न 'अनपत्ये' ७-४-५५ इति निषेधात् ।

भू-श्र्योदऽल् ॥ ५. ३. २३ ॥

'भू श्रि अद्' इत्येतेभ्य उपसर्गपूर्वेभ्यो भावाकर्त्रोरल् प्रत्ययो भवति ।

प्रभवः, विभवः, संभवः; प्रश्रयः, प्रतिश्रयः, संश्रयः; प्रघसः, विघसः, संघसः । उपसर्गादित्येव ? भावः, श्रायः, घासः । भू-श्र्योरुपसर्गादेवेति नियमार्थं वचनम् । कथं प्रभावः, विभावः, अनुभावः ? बहुलाधिकारात्, प्रकृष्टो भाव इत्यादिप्रादिसमासो वा । लकारो "मिग्-मीगोऽखलचलि" (४-२-८) इत्यत्र विशेषणार्थः ।।२३।।

न्यादो नवा ॥ ५. ३. २४ ॥

निपूर्वाददेरलि घस्लृभावोऽकारस्य दीर्घत्वं च वा निपात्यते । न्यादः, निघसः ।२४।

सं-नि-व्युपाद् यमः ॥ ५. ३. २५ ॥

एभ्य उपसर्गेभ्यः पराद् यमेर्भावा-ऽकर्त्रोरल् वा भवति ।

संयमः, संयामः; नियमः, नियामः; वियमः, वियामः; उपयमः, उपयामः ।।२५।

नेर्नद-गद-पठ-स्वन-क्वणः ॥ ५. ३. २६ ॥

नेरुपसर्गात् परेभ्य एभ्यो भावा-ऽकर्त्रोरल् प्रत्ययो वा भवति ।

निनदः, निनादः; निगदः, निगादः; निपठः, निपाठः; निस्वनः, निस्वानः; निक्वणः, निक्वाणः ।।२६।।

वैणे क्वणः ॥ ५. ३. २७ ॥

वीणायां भवो-वैणः, वैणेऽर्थे वर्तमानादुपसर्गपूर्वात् क्वणेर्भावाऽर्त्रोरल् वा भवति ।

प्रक्वणो वीणायाः, प्रक्वाणो वीणायाः; एवं-निक्वणः, निक्वाणः । वैण इति किम् ? प्रक्वाणः शृङ्खलस्य । कथं क्वणः क्वाणो वीणायाः ? "नवा क्वण०" (५-३-४८) इत्यादिना सामान्येन विधानात् वैणेऽपि भवति ।।२७।।

युवर्ण-वृ-दृ-वश-रण-गमृद्-ग्रहः ॥ ५. ३. २८ ॥

उपसर्गाद् वा इति च निवृत्तम् । इवर्णान्तेभ्य उवर्णान्तेभ्यो वृ-दृ-वश-रण-गमिभ्य ऋकारान्तेभ्यो ग्रहेश्च धातोर्भावाऽकर्त्रोरल् भवति, घञोऽपवादः ।

चयः, निश्चयः, जयः, क्षयः, क्रयः, यवः, रवः; नवः, स्तवः, लवः, पवः; वरः, प्रवरः; दरः, आदरः, वशः, रणः, गमः, अवगमः; कॄ-करः, गॄ-गरः, तॄ-तरः, दॄ-दरः,

भृ-शरः, ग्रहः । कथं वारः समूहः, वारोऽवसरः, वारः क्रियाभ्यावृत्तिः ? बहुलाधिकाराद् घञ् । परिवार इति तु ण्यन्तादचि सिद्धम् ।।२८।।

न्या० स०-युवर्णवृ-उपसर्गाद्वेति च निवृत्तम्-'आङो रुप्लो' ५-३-४९ इति सूत्रकरणात् ।

वर्षादयः क्लीबे ।। ५. ३. २९ ।।

वर्षादयः शब्दा अलन्ताः क्लीबे यथादर्शनं भावाऽकर्त्रोर्निपात्यन्ते । नपुंसके क्ताऽनड्-निवृत्त्यर्थं वचनम् ।

वर्षं भयं धनं वनं खलं पदम् । युगम्, अत्र रथाङ्गकालविशेष-युग्मेष्वल् गत्वगुणा-भावौ च निपातनात् । अनपुंसकक्तस्तु असरूपविधिना भवत्येव-वृष्यते स्म-वृष्टं मेघेन, भीतं बटुना ।।२९।।

न्या० स०-वर्षाद-ग्रनट्निवृत्त्यर्थमिति-तत्किं वर्षणमिति न भवति ? भवत्येव, वृषभो वर्षणादिति भाष्यकारवचनात् ।

वृष्टं मेघेनेति-अत्र भावे 'तत्साप्या' ३-३-२१ इति क्तः ।

समुदोऽजः पशौ ।। ५. ३. ३० ।।

समुद्भ्यां परादजतेः पशुविषये धात्वर्थे वर्तमानाद् भावाऽकर्त्रोरल् भवति । समजः पशूनाम्, समूह इत्यर्थः; उदजः पशूनां, प्रेरणमित्यर्थः । समुद इति किम् ? व्याजः पशूनाम् । पशाविति किम् ? समाजः साधूनाम्, उदाजः खगानाम् ।।३०।।

सृ-ग्लहः प्रजनाऽक्षे ।। ५. ३. ३१ ।।

सर्ति-ग्लहिभ्यां यथासंख्यं प्रजनाऽक्षविषये धात्वर्थे वर्तमानाभ्यां भावाऽकर्त्रोरल् भवति ।

गवामुपसरः, पशूनामुपसरः, "वीनामुपसरं दृष्ट्वा"; प्रजनो गर्भग्रहणम्, तदर्थं स्त्रीषु पुंसां प्रथमं सरणमुपसर उच्यते । अक्षाणां ग्लहः, ग्रहणमित्यर्थः, ग्रहेः सूत्रनिपातना-ल्लत्वम्, ग्लहिः प्रकृत्यन्तरं वा । प्रजनाऽक्ष इति किम् ? उपसारो भृत्यै राज्ञाम्, ग्लहः ग्लाहो वा पादस्य । कथं परिसरविषमेषुलीढमुक्तौ ? अधिकरणे पुंनाम्नि घेन सिद्धम् ।।३१।

पणेर्माने ।। ५. ३. ३२ ।।

पणेर्मानेऽर्थे वर्तमानाद् भावाऽकर्त्रोरल् भवति । मूलकपणः, शाकपणः, पण्यत इति पणः, मूलकादीनां संव्यवहारार्थं परिमितो मुष्टिरित्यर्थः । माने इति किम् ? पाणः। घञोऽपवादो योगः ।।३२।।

संमद-प्रमदौ हर्षे ।। ५. ३. ३३ ।।

'संमद प्रमद' इत्येतौ भावाऽकर्त्रोर्हर्षेऽर्थेऽलन्तौ निपात्येते ।

सम्मदः कोकिलानाम्, प्रमदः कन्यानाम् । हर्ष इति किम् ? संमादः, प्रमादः । "संप्रान्मदे" इत्यनुक्त्वा निपातनं रूपनिग्रहार्थम्, तेनोपसर्गान्तरयोगे न भवति-प्रसंमादः, संप्रमादः, अभिसंमादः ॥३३॥

न्या० स०-सम्मद-प्रसंमाद इति-प्रकृष्टः संमद इति कृते प्रसम्मद इत्यपि ।

हनोऽन्तर्घनाऽन्तर्घणौ देशे ॥ ५. ३. ३४ ॥

अन्तःपूर्वाद्धन्तेरल् प्रत्ययो घन-घणौ चादेशौ निपात्येते देशेऽभिधेये भावाऽकर्त्रोः ।

अन्तर्हण्यतेऽस्मिन्निति-अन्तर्घनः, अन्तर्घणो वा वाहीकेषु देशविशेषः; अन्तर्घातोऽन्यः । एके त्वन्तः संहतो देशोऽन्तर्घनः । अभ्यन्तरो देश इति केचित्-'तस्मिन्नन्तर्घणेऽपश्यत्' घणिः प्रकृत्यन्तरमित्यन्ये ॥३४॥

प्रघण-प्रघाणौ गृहांशे ॥ ५. ३. ३५ ॥

प्रपूर्वाद्धन्तेर्गृहांशेऽभिधेयेऽल् प्रत्ययो घणघाणौ चादेशौ निपात्येते । प्रघणः प्रघाणो वा द्वारालिन्दकः; प्रघातोऽन्यः ॥३५॥

निघोद्घ-संघोद्घनाऽपघनोपघ्नं निमित-प्रशस्त-गणाऽत्याधानाऽङ्गा-ऽऽसन्नम् ॥ ५. ३. ३६ ॥

हन्तेर्निघादयः शब्दा यथासंख्यं निमितादिषु वाच्येषु कृतघत्वादयोऽलन्ता निपात्यन्ते ।

समन्ततो मितं तुल्यमविशेषेण वा मितं परिच्छिन्नं-निमितम्, तुल्यारोहपरिणाहमित्यर्थः । निर्विशेषं निश्चयेन वा हन्यन्ते ज्ञायन्ते-निघा वृक्षाः, निघाः शालयः, निघा बृहतिका, निघं वस्त्रम्; निघातोऽन्यः । उत्कर्षेण हन्यते ज्ञायते-उद्घः प्रशस्तः, उद्घातोऽन्यः । गणः-प्राणिसमूहः, संहतिः, संघः, अन्यत्र संघातः ।

कथं संघातो मनुष्याणाम् ? संघातशब्दः समुदायमात्रे । अत्याधीयन्ते छेदनार्थं कुट्टनार्थं च काष्ठादीनि यत्र तदत्याधानम्, उद्धन्यतेऽस्मिन्निति-उद्घनः, काष्ठोद्घनः, ताम्रोद्घनः, लोहोद्घनः, घनः, स्कन्धः; उद्घातोऽन्यः । अङ्ग-शरीरावयवः, अपहन्यतेऽनेनेत्यपघनोऽङ्गम्, "व्रणिभिरपघनैर्घर्घराव्यक्तघोषान्" । पाणिः पादश्चापघनो नापरमङ्गमित्यन्ये । अपघातोऽन्यः । उपहन्यते-समीप इति ज्ञायते-उपघ्न आसन्नः, गुरूपघ्नः, ग्रामोपघ्नः, उपघातोऽन्यः । निपातनादेवोपात्तार्थविशेषे वृत्तिरसरूपप्रत्ययबाधनं च विज्ञायते ।३६

न्या० स०-निघोद्घ-समन्ततो मितमिति-निशब्दस्य द्वावर्थौ समन्ततोऽविशेषश्चेति । निर्विशेषं निश्चयेन वेति-समन्ततो मितमविशेषेण वा मितमिति भणितपूर्वार्थापेक्षया आभ्यां यथासंख्यं न, यतः स्वतन्त्राविमौ । कथं संघातो मनुष्याणामिति-नन्वत्र प्राणिसमूहत्वात् निपातः कथं न ? सत्यं,-संघातशब्दं प्रसाध्य पश्चात् मनुष्यशब्देन संबन्धः, अन्ये त्वपघनशब्देन हस्तपादस्यैव ग्रहणमाहुस्तन्निरासायाह-व्रणिभिरपघनैर्घर्घराव्यक्तघोषानिति-ननु

निघादिशब्दानां निमिताद्यर्थविशेषे कथं वृत्तिः कथमाधारादौ असरूपविधिनाऽनडादयश्च न भवन्ति ? इत्याह-निपातनादेवेति-अन्यथा निमितात्याधानादिषु विशेषार्थप्रतीतिस्तुल्यारोहपरिणाहादिका न स्यात् ।

मूर्त्ति-निचिताऽभ्रे घनः ॥ ५. ३. ३७ ॥

हन्तेर्मूर्त्यादिष्वर्थेषु अल् प्रत्ययो घनादेशश्च निपात्यते ।

मूर्त्तिः काठिन्यम्, अभ्रस्य घनः, काठिन्यमित्यर्थः; एवं-दधिघनः, लोहघनः । निचितं निरन्तरं तत्र, घनाः केशाः, घना व्रीहयः । अभ्रं मेघस्तत्र-घनः । कथं घनं दधि ? गुणशब्दोऽयं तद्योगाद् गुणिन्यपि वर्तते ॥३७॥

व्ययो-द्रोः करणे ॥ ५. ३. ३८ ॥

'वि अयस् द्रु' इत्येतेभ्यः पराद्धन्तेः करणेऽल् प्रत्ययो घनादेशश्च निपात्यते । भावस्य कारकान्तरस्य चानुप्रवेशो मा भूदिति करणग्रहणम् ।

विहन्यतेऽनेन तिमिरं-विघनः, विघनेन्दुसमद्युतिः, वयः पक्षिणो हन्यन्तेऽनेनेति वा-विघनः, अयोघनः, द्रुर्हन्यतेऽनेनेति-द्रुघनः कुठारः । कथं द्रुघणः ? अरीहणादिपाठाण्णत्वे भविष्यति, घणतेर्वाऽजन्तस्य रूपम्, स्त्रियां त्वडेव परत्वात्-विहननी, अयोहननी, द्रुहननी ॥३८॥

न्या० स०-व्ययोद्रोः-द्रुघन इति-'हनोघि' २-३-९४ इति व्याप्त्या प्रवृत्तेः 'पूर्वपदस्था' २-३-६४ इति न णत्वम् ।

घणतेर्वेति-घणिः सौत्रः, द्रूणि दारूणि घणति लिहाद्यच् ।

स्तम्बाद् घ्नश्च ॥ ५. ३. ३९ ॥

स्तम्बशब्दात् पराद्धन्तेरल् घ्न-घनादेशौ च निपात्येते करणे ।

स्तम्बो हन्यतेऽनेन-स्तम्बघ्नो दण्डः, स्तम्बघ्नो यष्टिः, स्त्रियां परत्वादनडेव-स्तम्बहननी यष्टिः । केचित् तु-कप्रत्यये निपातनं कृत्वा स्त्रियामपि स्तम्बघ्नेतीच्छन्ति । अन्ये तु-स्तम्बपूर्वस्यापि हन्तेः "सातिहेति०" (५-३-९४) इति निपातनात् स्तम्बहेतिरितीच्छन्ति । करण इत्येव-स्तम्बहननं स्तम्बघातः । कथं स्तबघ्नीषीका ? करणस्यापि कर्तृत्वविवक्षया "अचित्ते टक्" (५-१-८४) इत्यनेन टकि सिद्धम् ॥३९॥

परेर्घः ॥ ५. ३. ४० ॥

परिपूर्वाद्धन्तेरल् घादेशश्च करणे निपात्यते । परिहण्यतेऽनेनेति-परिघोऽर्गला, लत्वे पलिघः ॥४०॥

हः समाह्वया-ऽऽह्वयौ द्यूत-नाम्नोः ॥ ५. ३. ४१ ॥

करण इति निवृत्तम्, द्यूते नाम्नि चाभिधेये यथासंख्यं समाङ्पूर्वादाङ्पूर्वाच्च ह्वयतेरल् ह्वयादेशश्च निपात्यते ।

समाह्वयः प्राणिद्यूतम्, आह्वयो नाम ।।४१।।

न्यभ्युप-वेर्वाश्चोत् ।। ५. ३. ४२ ।।

नि-अभि-उप विभ्यः परात् ह्वयतेर्भावाऽकर्त्रोरल् तत्संनियोगे च वाशब्द उकारो भवति, अभेदनिर्देशः सर्वादेशार्थः ।

निहवः, अभिहवः, उपहवः विहवः । न्यभ्युपवेरिति किम् ? प्रह्वायः । ह्व इत्येव ? निवायः । ह्वो हव इत्यनिपातनं किम् ? यङ्लुपि निपातनं मा भूत् तेन विजोहव इति सिद्धम्, अन्यथा विहव इति स्यात् । जुहोतिनैव सिद्धे ह्वयते रूपान्तरनिवृत्त्यर्थं वचनम् ।।४२।।

न्या० स०—न्यभ्युपवे-विजोहव इति-भृशं विह्वयति, यङ्लुप् 'द्वित्वे ह्वः' ४-१-८७ इति य्वृत्-विजोहवनं, अनेनाल् । अन्यथा विहव इति-प्रकृतिग्रहणे इति न्यायात् यङ्लुबन्तस्याप्यनेनाऽलि ह्वो हव इति कृतद्वित्वस्यापि निपाते विहव इति स्यादित्यर्थः ।

आङो युद्धे ।। ५. ३. ४३ ।।

आङ्पूर्वाद् ह्वयतेर्युद्धेऽर्थे भावाऽकर्त्रोरल् भवति, वाशब्दश्चोकारः ।

आहूयन्ते योद्धारोऽस्मिन्निति-आहवो युद्धम् । युद्ध इति किम् ? आह्वायः, आह्वानम् ।।४३।।

आहावो निपानम् ।। ५. ३. ४४ ।।

निपिबन्त्यस्मिन्–निपानम्, पशु-शकुनीनां पानार्थं कृतो जलधारः । आङ्पूर्वात् ह्वयतेर्भावाकर्त्रोरल्, आहावादेशश्च निपात्यते, निपानं चेदभिधेयं भवति ।

आहूयन्ते पशवः पानायास्मिन्नित्याहावः पशूनाम्, आहावः शकुनीनाम्, निपानमित्यर्थः । निपानमिति किम् ? आह्वायः, आह्वानम् ।।४४।।

भावेऽनुपसर्गात् ।। ५. ३. ४५ ।।

अविद्यमानोपसर्गात् ह्वयतेर्भावेऽल् वाशब्दश्चोकारो भवति । अकर्तरीत्यस्यानुप्रवेशो मा भूदिति भावग्रहणम् ।

ह्वानं हवः । भाव इति किम् ? कर्मणि ह्वायः । अनुपसर्गादिति किम् ? आह्वायः ।।४५।।

हनो वा वध् च ।। ५. ३. ४६ ।।

अनुपसर्गाद्धन्तेर्भावेऽल् वा भवति, तत्संनियोगे चास्य वधादेशः । हननं वधः, घातः । अनुपसर्गादित्येव-संघातः ।।४६।।

न्या० स०-हनो घा-वध इति-यङ्लुबन्तस्यापि वधो घात इत्येव भवति ।

व्यध-जप-मद्भ्यः ॥ ५. ३. ४७ ॥

एभ्योऽनुपसर्गेभ्यो भावाकर्त्रोरल् भवति । बहुवचनाद् भाव इति निवृत्तम् ।

व्यधः, जपः, मदः । अनुपसर्गादित्येव ? आव्याधः, उपजापः, उन्मादः ॥४७॥

नवा क्वण-यम-हस-स्वनः ॥ ५. ३. ४८ ॥

अनुपसर्गेभ्य एभ्यो भावाकर्त्रोरल् वा भवति । क्वणः, क्वाणः; यमः, यामः; हसः, हासः; स्वनः, स्वानः । अनुपसर्गादित्येव ? प्रक्वाणः, प्रयामः, प्रहासः, विष्वाणः । अप्राप्तविभाषेयम् ॥४८॥

आङो रु-प्लोः ॥ ५. ३. ४९ ॥

आङः पराभ्यां रु-प्लुभ्यां भावाऽकर्त्रोरल् वा भवति ।

आरवः, आरावः; आप्लवः, आप्लावः । आङ इति किम् ? विरावः, विप्लवः । रौतेर्घञि प्लवतेरलि नित्यं प्राप्ते विकल्पः ॥४९॥

वर्षविघ्नेऽवाद् ग्रहः ॥ ५. ३. ५० ॥

अवपूर्वात् ग्रहेर्वर्षविघ्ने वाच्ये भावाऽकर्त्रोरल् वा भवति ।

अवग्रहः, अवग्राहः; वृष्टेः प्रतिबन्ध इत्यर्थः । वर्षविघ्न इति किम् ? अवग्रहः पदस्य, अवग्रहोऽर्थस्य ॥५०॥

प्राद् रश्मि-तुलासूत्रे ॥ ५. ३. ५१ ॥

प्रपूर्वाद् ग्रहे रश्मौ तुलासूत्रे चार्थे भावाऽकर्त्रोरल् वा भवति । प्रगृह्यत इति-प्रग्रहः, प्रग्राहः; अश्वादेः संयमनरज्जुस्तुलासूत्रं चोच्यते, अन्यस्तु प्रग्रहः ॥५१॥

वृगो वस्त्रे ॥ ५. ३. ५२ ॥

प्रपूर्वाद् वृणोतेर्वस्त्रविशेषे वाच्ये भावाऽकर्त्रोरल् वा भवति ।

प्रवृण्वन्ति तमिति-प्रवरः, प्रावारः; "घञ्युपसर्गस्य बहुलम्" (३-२-८६) इति दीर्घः । अन्ये तु प्राङ्पूर्व एव वृणोतिः स्वभावाद् वस्त्रविशेषे वर्तते, तेन प्रावारः प्रावरः इति भवति । वस्त्र इति किम् ? प्रवरो यतिः ॥५२॥

उदः श्रेः ॥ ५. ३. ५३ ॥

उत्पूर्वाच्छ्रेर्भावाऽकर्त्रोरल् वा भवति । उच्छ्रयः, उच्छ्रायः । नित्यमलि प्राप्ते विकल्पः ॥५३॥

यु-पू-द्रोर्घञ् ॥ ५. ३. ५४ ॥

वेति निवृत्तं पृथग्योगात्–उत्पूर्वेभ्य एभ्यो भावाऽकर्त्रोर्घञ् भवति, अलोऽपवादः। उद्यावः उत्पावः, उद्द्रावः ।।५४।।

ग्रहः ॥ ५. ३. ५५ ॥

उत्पूर्वात् ग्रहेर्भावाऽकर्त्रोर्घञ् भवति, अलोऽपवादः।

उद्ग्राहः। उद इत्येव ? ग्रहः, विग्रहः ।।५५।।

न्यवाच्छापे ॥ ५. ३. ५६ ॥

न्यवाभ्यां परात् ग्रहेः शापे–आक्रोशे गम्यमाने भावाऽकर्त्रोर्घञ् भवति। निग्राहो हते वृषल ! भूयात्, अवग्राहो हते जाल्म ! भूयात्। शाप इति किम् ? निग्रहश्चौरस्य, अवग्रहः पदस्य ।।५६।।

प्राल्लिप्सायाम् ॥ ५. ३. ५७ ॥

प्रपूर्वाद् ग्रहेर्लिप्सायां गम्यमानायां भावाऽकर्त्रोर्घञ् भवति।

पात्रप्रग्राहेण चरति पिण्डपातार्थी भिक्षुः, स्रुवस्य प्रग्राहेण चरति दक्षिणार्थी द्विजः। लिप्सायामिति किम् ? स्रुवस्य प्रग्रहः ।।५७।।

समो मुष्टौ ॥ ५. ३. ५८ ॥

संपूर्वाद् ग्रहेर्मुष्टिविषये धात्वर्थे भावाऽकर्त्रोर्घञ् भवति। मुष्टिरङ्गुलिसंनिवेशो न परिमाणम्, तत्र "माने" (५-३-८१) इत्येव सिद्धत्वात्।

संग्राहो मल्लस्य, अहो मौष्टिकस्य संग्राहः, मुष्टेर्दार्ढ्यमुच्यते। मुष्टाविति किम् ? संग्रहः शिष्यस्य ।।५८।।

यु-दु-द्रोः ॥ ५. ३. ५९ ॥

संपूर्वेभ्य एभ्यो भावाऽकर्त्रोर्घञ् भवति। संयावः, संदावः, संद्रावः। सम इत्येव ? विद्रवः, उपद्रवः ।।५९।।

नियश्चानुपसर्गाद् वा ॥ ५. ३. ६० ॥

अविद्यमानोपसर्गान्नियतेर्यु-दु-द्रोश्च भावाऽकर्त्रोर्घञ् वा भवति।

नयः, नायः, यवः, यावः; दवः, दावः; द्रवः, द्रावः। अनुपसर्गादिति किम् ? प्रणयः ।।६०।।

वोदः ॥ ५. ३. ६१ ॥

उत्पूर्वान्नयतेर्भावाऽकर्त्रोर्वा घञ् भवति । उन्नायः, उन्नयः ।।६१।।

अवात् ।। ५. ३. ६२ ।।

अवपूर्वान्नयतेर्भावाऽकर्त्रोर्घञ् भवति । अवनायः ।।६२।।

परेर्द्यूते ।। ५. ३. ६३ ।।

परिपूर्वान्नयतेर्द्यूतविषये धात्वर्थे वर्तमानाद् भावाऽकर्त्रोर्घञ् भवति ।

परिणायेन शारीन् हन्ति, समन्तान्नयनेनेत्यर्थः । द्यूत इति किम् ? परिणयः कन्यायाः ।।६३।।

भुवोऽवज्ञाने वा ।। ५. ३. ६४ ।।

परिपूर्वाद् भवतेरवज्ञानेऽर्थे वर्तमानाद् भावाकर्त्रोर्घञ् वा भवति । अवज्ञानमसत्कारपूर्वकोऽवक्षेपः ।

परिभावः, परिभवः । अवज्ञान इति किम् ! समन्ताद् भवनं परिभवः ।।६४।।

यज्ञे ग्रहः ।। ५. ३. ६५ ।।

परिपूर्वाद् ग्रहेर्यज्ञविषये प्रयोगे भावाऽकर्त्रोर्घञ् भवति ।

पूर्वपरिग्राहः, उत्तरपरिग्राहः, वेदेर्यज्ञाङ्गभूताया ग्रहणविशेष एताभ्यामभिधीयते । यज्ञ इति किम् ? परिग्रहः कुटुम्बिनः ।।६५।।

संस्तोः ।। ५. ३. ६६ ।।

संपूर्वात् स्तौतेर्भावाऽकर्त्रोर्यज्ञविषये घञ् भवति । संस्तुवन्त्यत्रेति संस्तावश्छन्दोगानाम्, समेत्य स्तुवन्ति छन्दोगा यत्र देशे स देशः संस्ताव उच्यते । यज्ञे इत्येव ? संस्तवोऽन्यद्दृष्टे ।।६६।।

प्रात् स्रु-द्रु-स्तोः ।। ५. ३. ६७ ।।

प्रात् परेभ्यः स्रवत्यादिभ्यो भावाऽकर्त्रोर्घञ् भवति । प्रस्रावः, प्रद्रावः, प्रस्तावः । प्रादिति किम् ? स्रवः, द्रवः, स्तवः । कथं स्रावः ? बहुलाधिकारात् ।।६७।।

अयज्ञे स्त्रः ।। ५. ३. ६८ ।।

प्रपूर्वात् 'स्तॄ' इत्येतस्मात् धातोर्भावाऽकर्त्रोर्घञ् भवति । अयज्ञे–न चेत् यज्ञविषयः प्रयोगो भवति ।

प्रस्तारः, मणिप्रस्तारः, विमानप्रस्तारः, नयप्रस्तारः । अयज्ञ इति किम् ? बर्हिष्प्रस्तरः, "समासेऽसमस्तस्य" (२-३-१३) इति षत्वम् ।।६८।।

वेरशब्दे प्रथने ॥ ५. ३. ६९ ॥

प्रथनं विस्तीर्णता, वेः परात् स्तृणातेरशब्दविषये प्रथनेऽभिधेये घञ् भवति । विस्तारः पटस्य । प्रथन इति किम् ? तृणस्य विस्तरः, छादनमित्यर्थः । अशब्द इति किम् ? अहो द्वादशाङ्गस्य विस्तरः ॥६९॥

छन्दोनाम्नि ॥ ५. ३. ७० ॥

छन्दः-पद्यो वर्णविन्यासः. विपूर्वाद् स्तृणातेश्छन्दोनाम्नि विषये घञ् भवति । विष्टारपङ्क्तिः । केचित् तु वेरन्यतोऽपीच्छन्ति-आस्तारपङ्क्तिः, प्रस्तारपङ्क्तिः, छन्दोनाम ॥७०॥

न्या० स०-छन्दोनाम्नि-विष्टारपङ्क्तिरिति-पङ्क्त्यन्तं छन्दोनामेति वाक्यावस्थायां घञ् न तेन विस्तरश्चासौ पङ्क्तिश्चेति कर्म्मधारयः, षष्ठोपञ्चमीतत्पुरुषो वा ।

क्षु-श्रोः ॥ ५. ३. ७१ ॥

क्षौतेः श्रृणोतेश्च विपूर्वाद् भावाऽकर्त्रोर्घञ् भवति । विक्षावः, विश्रावः । वेरित्येव ? क्षवः, श्रवः ॥७१॥

न्युदो ग्रः ॥ ५. ३. ७२ ॥

न्युद्भ्यां पराद् गिरतेर्गृणातेर्वा भावाऽकर्त्रोर्घञ् भवति । निगारः, उद्गारः । न्युद इति किम् ? गरः, संगरः ॥७२॥

न्या० स०-न्युदो ग्रः-संगर इति-संगीर्यतेऽभ्युपगम्यते योद्धृभिर्युद्धं संगरणं वा तदा प्रतिज्ञा ।

किरो धान्ये ॥ ५. ३. ७३ ॥

न्युत्पूर्वात् किरतेर्धान्यविषये धात्वर्थे वर्तमानाद् भावाऽकर्त्रोर्घञ् भवति । निकारो धान्यस्य, उत्कारो धान्यस्य, राशिरित्यर्थः । धान्य इति किम् ? फलनिकरः, पुष्पोत्करः ।७३

न्या० स०-किरो धा-निकारस्तिरस्कार इति तु करोतेर्घञ् ।

नेर्वुः ॥ ५. ३. ७४ ॥

निपूर्वात् वृणोतेर्वृणातेर्वा धान्यविशेषेऽभिधेये भावाऽकर्त्रोर्घञ् भवति ।

निव्रियन्त इति-नीवारा नाम व्रीहिविशेषाः, "घञ्युपसर्गस्य बहुलम्" (३-२-८६) इति दीर्घत्वम् । धान्य इत्येव ? निवरा कन्या, स्वभावादलन्तोऽप्ययं स्त्रियां वर्तते, किन्तु बहुलाधिकारान्न भवति ॥ ७४ ॥

इणोऽभ्रेषे ॥ ५. ३. ७५. ॥

स्थितेरचलनमभ्रेषः, निपूर्वादिणोऽभ्रेषविषयेऽर्थे वर्तमानाद् भावाऽकर्त्रोर्घञ् प्रत्ययो भवति। शास्त्रलोकप्रसिद्ध्यादिना नियतमयनं-न्यायः। अभ्रेष इति किम्? न्ययं गतश्चौरः ।। ७५ ।।

परेः क्रमे ।। ५. ३. ७६ ।।

क्रमः परिपाटी, परिपूर्वादिणः क्रमविषयेऽर्थे वर्तमानाद् भावाऽकर्त्रोर्घञ् भवति।

तव पर्यायो भोक्तुम्, मम पर्यायो भोक्तुम्, क्रमेण पदार्थानां क्रियासंबन्धः पर्यायः। क्रम इति किम्? पर्ययः स्वाध्यायस्य, अतिक्रम इत्यर्थः, विपर्ययो मतेः, अन्यथाभवनमित्यर्थः ।। ६७ ।।

व्युपाच्छीङः ।। ५. ३. ७७ ।।

व्युपाभ्यां पराच्छीङो भावाऽकर्त्रोर्घञ् भवति, क्रमे-क्रम विषयश्चेद् धात्वर्थो भवति।

तव राजविशायः, मम राजोपशायः। क्रमप्राप्तं पर्यायसाध्यं शयनमुच्यते। अन्ये तु शयितुं पर्याय उच्यते इत्याहुः। क्रम इति किम्? विशयः, उपशयः ।।७७।।

न्या० स०–व्युपाच्छीङः–स्वमते शयनस्य प्राधान्यं तन्मते तु पर्यायस्येति तात्पर्यार्थः।

हस्तप्राप्ये चेरस्तेये ।। ५. ३. ७८ ।।

हस्तेनोपायान्तरनिरपेक्षेण प्राप्तुं शक्यं-हस्तप्राप्यम्, तद्विषयाच्चिनोतेर्भावाऽकर्त्रोर्घञ् भवति, अस्तेये-न चेद् धात्वर्थः स्तेये-चौर्यं भवति। हस्तप्राप्यशब्देन प्रत्यासत्तिः प्राप्यस्य लक्ष्यते, तेन प्रत्यासत्तिविषये धात्वर्थे विधानम्।

पुष्पप्रचायः, फलावचायः, फलोच्चायः, फलोच्चायश्च संहृतः। उदो नेच्छन्त्यन्ये–फलोच्चयः। हस्तप्राप्य इति किम्? पुष्पप्रचयं करोति तरुशिखरे। अस्तेय इति किम्? स्तेयेन पुष्पप्रचयं करोति। हस्तप्राप्यशब्देन प्रमाणमप्युच्यते–यद्धस्ते संभवति न हस्तादतिरिच्यते इति, ततश्च "माने" (५-३-८१) इत्यनेनैव सिद्धे नियमार्थं वचनम्-अस्तेय एवेति, तेन पुष्पाणां हस्तेन प्रचयं करोति चौर इत्यत्र "माने" (५-३-८१) इत्यनेनापि घञ् न भवति ।।७८।।

न्या० स०–हस्तप्राप्ये-यद्धस्ते संभवतीति-हस्ते सम्मातीत्यर्थः।

चिति-देहा-ऽऽवासोपसमाधाने कश्चादेः ।। ५. ३. ७९ ।।

चीयत इति–चितिर्यज्ञेऽग्निविशेषः, तदाधारो वा; देहः शरीरम्, आवासो निवासः, उपसमाधानमुपर्युपरि राशीकरणम्, एष्वर्थेषु चिनोतेर्भावाऽकर्त्रोर्घञ् तत्संनियोगे चादेः ककारादेशो भवति।

आकायमग्निं चिन्वीत। देहे-कायः शरीरम्। आवासे-ऋषिनिकायः। उपसमाधाने-गोमयनिकायः, गोमयपरिकायः। कथं काष्ठनिचयः? बहुत्वमात्रविवक्षया। एष्विति

किम् ? चयः । चः क इत्येव सिद्धे आदिग्रहणमादेरेव यथा स्यात्, तेन चेर्यङ्लुपि-निकेचाय इत्येव भवति ॥७६॥

संघेऽनूर्ध्वे ॥ ५. ३. ८० ॥

न विद्यते कुतश्चिदूर्ध्वमुपरि किंचिद् यस्मिन् सोऽनूर्ध्वः, तस्मिन् संघे-प्राणिसमुदायेऽभिधेये चिनोतेर्भावाऽकर्त्रोर्घञ् तत्संनियोगे चादेः को भवति ।

वैयाकरणनिकायः, तार्किकनिकायः । संघ इति किम् ? सारसमुच्चयः, प्रमाणसमुच्चयः । अनूर्ध्व इति किम् ? सूकरनिचयः, सूकरा ह्युपर्युपरि चीयन्ते ॥८०॥

न्या० स०-संघेऽनू-सूकरनिचय इति-पूर्वेणापि न भवति व्यावृत्तिबलात् ।

माने ॥ ५. ३. ८१ ॥

माने गम्यमाने धातोर्भावाऽकर्त्रोर्घञ् भवति । मानमियत्ता, सा च द्वेधा-संख्या परिमाणं च । एको निघासः, द्वौ निघासौ; एकस्तण्डुलावक्षायः; एकस्तण्डुलनिश्चायः, एकः कारः, द्वौ कारौ, त्रयः काराः; द्वौ सूर्पनिष्पावौ; समित्संग्राहः, तण्डुलसंग्राहः, मुष्टिरित्यर्थः । मान इति किम् ? निश्चयः । अल एवायमपवादः, क्त्यादिभिस्तु बाध्यते-एका तिलोच्छितिः, द्वे प्रसृती ॥८१॥

न्या० स०-माने-द्वौ सूर्पनिष्पावाविति-पवने पावौ निश्चितौ पावाविति कार्यं, निष्पवने इति तु कृते 'निरभेः पूल्वः' ५-३-२१ इत्यनेनापि सिद्धम् । **अल एवायमपवाद इति**-❀ मध्ये अपवादाः पूर्वान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान् ❀ इति न्यायात् ।

स्थादिभ्यः कः ॥ ५. ३. ८२ ॥

स्थादिभ्यो धातुभ्यो भावाऽकर्त्रोः कः प्रत्ययो भवति ।

आखूनामुत्थानम्-आखूत्थो वर्तते, शलभोत्थो वर्तते, प्रतिष्ठन्त्यस्मिन्निति-प्रस्थः सानुः, संतिष्ठन्तेऽस्यामिति-संस्था, व्यवतिष्ठन्तेऽनयेति-व्यवस्था, प्रस्नात्यस्मिन्निति-प्रस्नः, प्रपिबन्त्यस्यामिति-प्रपा, विध्यतेऽनेनेति विधः, आविध्यतेऽनेनेत्याविधः, विहन्यतेऽनेनास्मिन् वा-विघ्नः आयुध्यन्तेऽनेनेत्यायुधम् । आध्यायन्ति तमित्याढ्यः, पृषोदरादित्वात् धस्य ढः । सर्वापवादत्वादनटमपि कप्रत्ययो बाधते । कथमाव्याधः, घातः, विघातः, उपघातः ? बहुलाधिकारात् । बहुवचनं प्रयोगानुसरणार्थम् ॥८२॥

न्या० स०-स्थादिभ्यः कः-प्रस्थ इति-प्रपूर्वस्तिष्ठतिर्गत्यर्थ इति क्षीरः, यदि प्रतिष्ठते मानार्थमिति क्रियते तदा 'उपसर्गादातो डोऽश्वः' ५-१-५६ इति डे प्रस्थो मानमिति भवति ।

संस्थेति-'उपसर्गादातः' ५-३-११० इत्यङं बाधित्वा स्त्रियाः खलनावित्यनट् स्यादित्यत्र पाठः । **विघ्न इति**-स्थादिगणपाठबलात् करणेऽपि कः प्रत्ययो, न तु 'व्ययोद्रोः करणे' ५-३-३८ इत्यनेनाल् । **घात इति**-विघात इतिवत् ।

घात उपघात इति-अत्रापि करणाधिकरणत्वं द्रष्टव्यम् ।

ट्वितोऽथुः ॥ ५. ३. ८३ ॥

ट्वितो धातोर्भावाऽकर्त्रोरथुः प्रत्ययो भवति । वेपथुः, वमथुः, श्वयथुः, स्फूर्जथुः, श्रासथुः, नन्दथुः, क्षवथुः, दवथुः । असरूपत्वाद् घञलावपि-वेपः, क्षवः ॥८३॥

ड्वितस्त्रिमक् तत्कृतम् ॥ ५. ३. ८४ ॥

ड्वितो धातोर्भावाऽकर्त्रोस्त्रिमक् प्रत्ययो भवति, तेन-धात्वर्थेन, कृतं-निर्वृत्तमित्येतस्मिन्नर्थे ।

पाकेन निर्वृत्तं-पक्त्रिमम्, उप्त्रिमम्, कृत्रिमम्, लब्धिमम्, विहित्रिमम्, याचित्रिमम्, ट्विदसाविति कश्चित्-याचथुः । ककारः कित्कार्यार्थः ॥८४॥

न्या० स०- ड्वितस्त्रिमक्-निर्वृत्तमित्येतस्मिन्नर्थे इति-अन्तर्भूतण्यर्थत्वात् निर्वर्त्तितमित्यर्थः, कृतमित्येव वार्थः, तदा तु कर्म्मकर्त्तरि क्तः ।

यजि-स्वपि-रक्षि-यति-प्रच्छो नः ॥ ५. ३. ८५ ॥

एभ्यो भावाऽकर्त्रोर्नः प्रत्ययो भवति । यज्ञः, स्वप्नः, रक्ष्णः यत्नः, प्रश्नः ॥८५॥

विच्छो नङ् ॥ ५. ३. ८६ ॥

विच्छेर्भावाकर्त्रोर्नङ् प्रत्ययो भवति । विश्नः । ङकारो गुणप्रतिषेधार्थः ॥८६॥

उपसर्गाद् दः किः ॥ ५. ३. ८७ ॥

उपसर्गपूर्वाद् दासंज्ञकाद् धातोर्भावाऽकर्त्रोः किः प्रत्ययो भवति ।

आदिः, प्रदिः प्रधिः, आधिः, निधिः, उपविधिः, संधिः, समाधिः । कित्करणमाकारलोपार्थम् ॥८७॥

व्याप्यादाधारे ॥ ५. ३. ८८ ॥

व्याप्यात् कर्मणः पराद् दासंज्ञादाधारे-अधिकरणे कारके किर्भवति । जलं धीयतेऽस्मिन्निति-जलधिः, शरधिः, इषुधिः, वालधिः, शेवधिः । आधारग्रहणमर्थान्तरनिषेधार्थम् ॥८८॥

न्या० स०-व्याप्यादाधारे-शेवधिरिति-शेते निधाविति 'शीङापो ह्रस्वश्च वा' ५०६ (उणादि) इति वे शेवं स्थाप्यधनं तद्धीयतेऽस्मिन् ।

अन्तर्धिः ॥ ५. ३. ८९ ॥

अन्तःपूर्वाद् दधातेर्भावाऽकर्त्रोः किः प्रत्ययो निपात्यते । अन्तर्धिः ॥८९॥

अभिव्याप्तौ भावेऽन-ञिन् ॥ ५. ३. ९० ॥

क्रियया स्वसंबन्धिनः साकल्येनाभिसंबन्धोऽभिव्याप्तिः, तस्यां गम्यमानायां भावे धातोः 'अन ञिन्' इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः ।

समन्ताद् रावः-संवरणं सांराविणं सेनायां वर्तते । संकुटनं सांकोटिनमेषाम् । अभिव्याप्ताविति किम् ? संरावः, संकोटः । भावग्रहणं कर्मादिप्रतिषेधार्थम् । असरूपविधिना क्त-घञादिनिवृत्त्यर्थमनग्रहणम् ॥९०॥

न्या० स०-अभिव्याप्तौ-क्रियया इति-'द्विहेतोः' २-२-८७ इति कर्त्तरि वा षष्ठीत्यऽत्र न । असरूपविधिनेति-अयमर्थो यदि असरूपन्यायेनानट् भविष्यति तदानग्रहणं न क्रियते, यथा ह्यनट् तथा असरूपविधिनैव क्तघञावपि प्राप्नुतः तौ माभूतामित्यनग्रहणम् ।

स्त्रियां क्तिः ॥ ५. ३. ९१ ॥

स्त्रियामिति प्रत्ययार्थविशेषणम् । धातोर्भावाऽकर्त्रोः स्त्रीलिङ्गे क्तिः प्रत्ययो भवति, घञादेरपवादः ।

कृतिः, हृतिः, चितिः, नीतिः, नुतिः, भूतिः । स्त्रियामिति किम् ? कारः, चयः ।९१।

श्रुवादिभ्यः ॥ ५. ३. ९२ ॥

शृणोत्यादिभ्यो धातुभ्यो स्त्रीलिङ्गे भावाऽकर्त्रोः क्तिर्भवति । वक्ष्यमाणैः क्विबादिभिः सह समावेशार्थं वचनम् ?

श्रु-श्रुतिः, प्रतिश्रुत् । स्तु-स्तुतिः, प्रतिस्तुत् । पद्-संपत्तिः, संपद् । सद्-आसत्तिः, संसद्; उपनिषद्, निषद्या । विद्-संवित्तिः, संवित्; विद्या, वेदना । लभ्-लब्धि लभा । अर्द्-शिरोऽर्तिः, अर्दिका । शस्-प्रशस्तिः, प्रशंसा । पच्-पक्तिः, पचा । कण्डूय्-कण्डूतिः, कण्डूः, कण्डूया । व्यवक्रुश्-व्यवक्रुष्टिः, व्यावक्रोशी । इष्-इष्टिः, इच्छा । यज्-इष्टिः, इज्या । मन्-मतिः, मन्या । आस्-आस्या, उपास्तिः, उपासना । शास्-अनुशिष्टिः, आशीः । मृग्-मृतिः, मृत्या । स्तूयते इज्यते इष्यतेऽनयेति-स्तुतिः, इष्टिः इष्टिरिति, संज्ञाशब्दत्वात् करणेऽपि क्तिरेव नानट् । एवं-स्तुतिः । अन्यत्र तु स्पर्धे परत्वात् ❀ स्त्रीखलना अलो बधकाः, स्त्रियाः खलनौ ❀ इति न्यायः ॥९२॥

न्या० स०-श्रुवादिभ्यः आसत्तिरिति-उपसर्गाणामतन्त्रत्वात् श्रुसदादिभ्यः क्ति-क्विबादयोऽप्यनुज्ञाताः ।

अर्दिकेति-यद्यपि णकप्रस्तावे शिरसोऽर्दनं शिरोऽर्तिरित्यत्र बाहुलकाण्णको निषिद्धः 'क्तेट' ५-३-१०६ इति अप्रत्ययोऽपि तथापि तत्र भाव एवात्र त्वपादानादौ अर्द्यतेऽस्याः 'नाम्नि पुंसि च' ५-३-१२१ इति णकः, भावे तु न तत्रैव बाहुलकादिति भणनात् ।

समिणासुगः ॥ ५. ३. ९३ ॥

संपूर्वादिण आङ्पूर्वात् सुनोतेश्च भावाऽकर्त्रोः स्त्रियां क्तिर्भवति, क्यपोऽपवादः । समितिः, आसुतिः । समाङोऽन्यत्र-इत्या, सुत्येति क्यबेव भवति ॥९३॥

साति-हेति-यूति-जूति-ज्ञप्ति-कीर्ति ॥ ५. ३. ९४ ॥

एते शब्दा भावाऽकर्त्रोः क्तिप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते ।

सिनोतेः सुनोतेः स्यतेर्वा आत्वमित्वाभावश्च निपात्यते-सातिः । हिनोतेर्गुणे हन्तेर्वाऽन्त्यस्वरादेरेत्वेहेतिः । यौतेर्जवतेश्च दीर्घत्वे-यूतिः, जूतिः । ज्ञपयतेर्ज्ञप्तिः, कीर्तयतेः-कीर्तिः, आभ्यां ण्यन्तलक्षणोऽनो न भवति । कीर्तनेत्यपि कश्चित् ॥९४॥

गा-पा-पचो-भावे ॥ ५. ३. ९५ ॥

एभ्यो भावेऽर्थे स्त्रियां क्तिर्भवति । 'गा' इति सामान्येन ग्रहणम्, प्रगीतिः, संगीतिः । 'पा' इति गा-पचिसाहचर्यात् पिबतेर्ग्रहणम्, प्रपीतिः, संपीतिः । पक्तिः, प्रपक्तिः । भावग्रहणमर्थान्तरनिरासार्थम् । बाधकस्याङोऽपवादः ॥९५॥

न्या० स०—गापापचो- पिबतेर्ग्रहणमिति- पायतेस्तु लाक्षणिकत्वान्न ग्रहः । प्रपीतिरिति-भावेऽनेन क्तिरेव आधारे तु स्थादिभ्यः कः, अपादाने तु 'उपसर्गादातः' ५-३-११० इत्यङ् ।

आस्यटिव्रज्यजः क्यप्-अस्य क्यपो न कृत्यसंज्ञा प्रकरणात्तत्र विहितस्यैव भवति ।

स्थो वा ॥ ५. ३. ९६ ॥

तिष्ठतेर्भावेऽर्थे स्त्रियां क्तिर्वा भवति । प्रस्थितिः, उपस्थितिः । वावचनादङपि-आस्था, व्यवस्था, संस्था । पूर्ववदङोऽपवादः ॥९६॥

आस्यटि-व्रज्-यजः क्यप् ॥ ५. ३. ९७ ॥

एभ्यः परो भावेऽर्थे स्त्रियां क्यप् प्रत्ययो भवति । आस्-आस्या । अट्-अट्या, "वृथाऽट्या खलु सा तस्याः" । व्रज्-व्रज्या । यज्-इज्या । ककारः कित्कार्यार्थः । पित्करणमुत्तरत्र तागमार्थम् ॥९७॥

भृगो नाम्नि ॥ ५. ३. ९८ ॥

भृगः परो भावेऽर्थे स्त्रियां नाम्नि-संज्ञायां क्यप् प्रत्ययो भवति । भरणं-भृत्या । नाम्नीति किम् ? भृतिः । भाव-इत्येव ? भ्रियत इति-भार्या वधूः ॥९८॥

समज-निपन्निषद्-शीङ्-सुग्-विदि-चरि-मनीणः ॥ ५. ३. ९९ ॥

योगविभागाद् भाव एवेति निवृत्तम् । एभ्यः परो नाम्नि भावाऽकर्त्रोः स्त्रियां क्यप् भवति ।

समज्-समजन्त्यस्यामिति-समज्या । निपन्निषदेति संहितानिर्देशात् पतेः पदेश्च ग्रहणम्, निपतन्त्यस्यामिति-निपत्या, निपद्या । निषद्-निषदनं निषीदन्त्यस्यामिति वा-निषद्या । शीङ्-शेरतेऽस्यामिति शय्या । सुग्-सवनं सुन्वन्त्यस्यामिति वा-सुत्या । विद्-वेदनं विदन्ति तस्यां तया वा हिताहितमिति-विद्या । चर् चरणं चरन्ति अनयेति वा-चर्या । मन्-मननं मन्यतेऽनयेति वा-मन्या । इण्-अयनमेत्यनयेति वा-इत्या । नाम्नीत्येव ? संवीतिः, निपत्तिः, निषत्तिः ॥९९॥

न्या० स०-समजनि-पूर्ववत् संज्ञाशब्दत्वात् आधारेऽपि क्यप् । विद्येति-संज्ञाशब्दत्वात् आदादिकस्यैव विदेर्ग्रहणं न त्वऽन्यस्य ।

कृगः श च वा ॥ ५. ३. १०० ॥

करोतेर्भावाऽकर्त्रोः स्त्रियां शः प्रत्ययो वा भवति, चकारात् क्यप् च । क्रिया, कृत्या, पक्षेकृतिः । क्रियेति यदा भाव-कर्मणोः शस्तदा मध्ये क्यः, यदा त्वपादानादौ शस्तदा क्यो नास्तीति रेरिकारस्येयादेशः ॥१००॥

मृगयेच्छा-याच्ञा-तृष्णा-कृपा-भा-श्रद्धाऽन्तर्धा ॥ ५. ३. १०१ ॥

एते शब्दाः स्त्रियां निपात्यन्ते । तत्रेच्छा भाव एव, शेषास्तु भावाऽकर्त्रोः । अन्ये तु सर्वान् भाव एवानुमन्यन्ते ।

मृगयतेः शः शव् च क्यापवादो निपात्यते-मृगया । इच्छतेः शः क्याभावश्च-इच्छा । याचितृष्योर्न-नङौ-याच्ञा, तृष्णा । कृपेरङ् रेफस्य च ऋकारः-कृपा । भातेरङ्-भा । श्रत्पूर्वादन्तःपूर्वाच्च दधातेरङ्-श्रद्धा, अन्तर्धा ॥१०१॥

न्या० स०-मृगयेच्छा-तृष्णेति-केचित्तु भिदादित्वात् तृषा, स्वमते तु क्रुत्संपदादित्वात् तृट् ।

परेः सृ-चरेर्यः ॥ ५. ३. १०२ ॥

परिपूर्वाभ्यां सृ-चरिभ्यां परः स्त्रियां यः प्रत्ययो भवति, भावाऽकर्त्रोः । भाव इत्यन्ये । परिसर्या, परिचर्या । परेरिति किम् ? संसृतिः, चूर्तिः ॥१०२॥

वाऽटाट्यात् ॥ ५. ३. १०३ ॥

अटतेर्यङन्तात् स्त्रियां यः प्रत्ययो वा भवति, भावाऽकर्त्रोः । भाव इत्यन्ये ।

अटाट्या, पक्षे-अः प्रत्ययः-अटाटा । अन्ये तु क्तिप्रत्ययबाधनार्थमटतेरयङन्तस्य यप्रत्ययं द्विर्वचनं पूर्वदीर्घत्वं च निपात्यन्ति-अटनमटाट्या ॥१०३॥

जागुरश्च ॥ ५. ३. १०४ ॥

जागर्तेः स्त्रियामः प्रत्ययो यश्च भवति । भावाऽकर्त्रोः । भाव इत्यन्ये । जागरा, जागर्या ॥१०४॥

शंसि-प्रत्ययात् ॥ ५. ३. १०५ ॥

शंसेः प्रत्ययान्तेभ्यश्च धातुभ्यो भावाऽकर्त्रोः स्त्रियामः प्रत्ययो भवति ।

प्रशंसा, गोपाया, ऋतीया, मीमांसा, कण्डूया, लोलूया, चिकीर्षा, पुत्रकाम्या, पुत्रीया, गवा, गल्भा, श्येनाया, पटपटाया । शंसूः क्तेऽनिट् इति वचनम् ॥१०५॥

क्तेटो गुरोर्व्यञ्जनात् ॥ ५. ३. १०६ ॥

क्तस्येट् यस्मात् स क्तेट्, क्तेटो गुरुमतो व्यञ्जनान्ताद् धातोर्भावाऽकर्त्रोः स्त्रियामः प्रत्ययो भवति । ईहा, ऊहा, ईक्षा, उक्षा, कुण्डा, हुण्डा, शिक्षा, भिक्षा, व्यतीहा, व्यतीक्षा । क्तेट इति किम् ? स्रस्तिः, ध्वस्तिः, आप्तिः, दीप्तिः, अक्तिः, राद्धिः, चाय्-अपचितिः, स्फुर्छा-स्फूर्तिः, मुर्छा-मूर्तिः । गुरोरिति किम् ? स्फुर्-स्फूर्त्तिः, निपठितिः । व्यञ्जनादिति किम् ? संशीतिः ॥१०६॥

न्या० स०-क्तेटो गु-क्तस्येट् यस्मादिति-क्तस्य इडेव यस्मादित्यवधारणं कार्यं, तेन स्फूर्च्छादिषु धातुषु यद्यपि भावारम्भयोः क्तस्यादौ विकल्पेन इट् विहितस्तथापि एकस्मिन् पक्षे नागच्छतीति व्यावृत्तिः । व्यतीहेति-'व्यतिहार' ५-३-११६ इत्यत्र ईहादिवर्जनात् क्त्यादीनामऽपवादोऽपि ञो न भवति ।

षितोऽङ् ॥ ५. ३. १०७ ॥

षिद्भ्यो धातुभ्यो भावाऽकर्त्रोः स्त्रियामङ् प्रत्ययो भवति ।

पचा, क्षमा, क्षान्तिरिति तु क्षाम्यतेः, घटा, त्वरा, प्रथा, व्यथा, जरा, "ऋवर्ण-दृशोऽङि" (४-३-७) इति गुणः । ङकारो ङित्कार्यार्थः ॥१०७॥

भिदादयः ॥ ५. ३. १०८ ॥

भिदादयः शब्दा भावाऽकर्त्रोः स्त्रियामङ्प्रत्ययान्ता यथादर्शनं निपात्यन्ते ।

भिदा विदारणम्, छिदा द्वैधीकरणम् विदा विचारणा, मृजा शरीरसंस्कारः, क्षिपा प्रेरणम्, दया अनुकम्पा, रुजा रोगः, चुरा चौर्यम्, पृच्छा प्रश्नः, एतेऽर्थविशेषे । अन्यत्र-भित्तिः कुडचम्, छित्तिश्चौर्यादिकरणाद् राजापराधः, विच्छित्तिः प्रकार इत्यादि । तथा ऋ-कृ-हृ-धृ-तृभ्यः संज्ञायां वृद्धिश्च-आरा शस्त्री, ऋतिरन्या । कारा गुप्तिः कृतिरन्या । हारा मानम्, हृतिरन्या । धारा प्रपातः खड्गादेर्वा, धृतिरन्या । तारा ज्योतिः, तीर्णिरन्या । तथा-गुहि-कुहि-वशि-वपि-तुलि-क्षपि-क्षिभ्यश्च संज्ञायाम्-गुहा पर्वतकन्दरा औषधिश्च, गूढिरन्या । कुहा नाम नदी, कुहनाऽन्या । वशा स्नेहनद्रव्यं धातुविशेषश्च, उष्टिरन्या । वपा मेदोविशेषः, उप्तिरन्या । एवं-तुला उन्मानम्, क्षपा रात्रिः, क्षिया आचारभ्रंशः । तथा संज्ञायामेव रिखि-लिखि-शुभि-सिधि-मिधि-गुधिभ्यो-गुणश्च-रिखिः लिखेः समानार्थः सौत्रो धातुः, रेखा राजिः, लेखा सैव, शोभा कान्तिः सेधा सत्त्वम्, मेधा बुद्धिः, गोधा प्राणिविशेषो दोस्त्राणं च भिदादिराकृतिगणः, तेन चूडेत्यादि सिद्धम् ।

प्रकृतस्य क्रिया चैव प्राप्तेर्बाधनमेव च ।
अधिकार्थविवक्षा च त्रयमेतन्निपातनात् ।।१०८।।

न्या० स०-भिदादयः-मृजेति-निपातनसामर्थ्यादेव 'ऋतः स्वरे वा' ४-३-४३ इति वृद्धिर्न भवति ।

मेधा बुद्धिरिति-केचित्तु मेधृगः स्थाने मिधृगिति पठन्ति सौत्रो वा ।

भीषि-भूषि-चिन्ति-पूजि-कथि कुम्बि-चर्चि-स्पृहि-तोलि-दोलिभ्यः ॥ ५. ३. १०९ ॥

एभ्यो ण्यन्तेभ्यः स्त्रियां भावाऽकर्त्रोरङ् भवति । ण्यन्तत्वादने प्राप्ते वचनम् ।

भीषा, भूषा, चिन्ता, पूजा, कथा, कुम्बा, चर्चा, स्पृहा, तोला, दोला । बहुवचनाद् यथादर्शनमन्येभ्योऽपि भवति-पीडा, ऊना ।।१०९।।

न्या० स०-भीषिभूषि-अप्रत्ययाधिकारेऽप्यस्मिन् कृते साध्यसिद्धिः स्यात् परं अङ्प्रत्ययाधिकारे यत्कृतं तण्णिग्लोपस्यानित्यत्वज्ञापनार्थं तेन चिन्तिया, पूजिया, सुप्रकथियेत्यादि सिद्धम् ।

उपसर्गादातः ॥ ५. ३. ११० ॥

उपसर्गपूर्वेभ्य आकारान्तेभ्यो धातुभ्यः स्त्रियां भावाकर्त्रोरङ् भवति ।

उपदा, उपधा, आधा, प्रदा, प्रधा, विधा, संधा, प्रभा, श्वादित्वात् क्तौ-प्रमितिः । उपसर्गादिति किम् ? दत्तिः ।।११०।।

णि-वेत्त्यास-श्रन्थ-घट्ट-वन्देरनः ॥ ५. ३. १११ ॥

ण्यन्तेभ्यो वेत्त्यास-श्रन्थ-घट्ट-वन्दिभ्यश्च धातुभ्यः स्त्रियां भावाऽकर्त्रोरनः प्रत्ययो भवति ।

कारणा, हारणा, कामना, लक्षणा, भावना; वेदना, आसना, उपासना, श्रन्थना, ग्रन्थेरप्यन्ये-ग्रन्थना, घट्टना, वन्दना । वेत्तीति तिव्निर्देशो ज्ञानार्थपरिग्रहार्थः ।।१११।।

न्या० स०-णिवेत्त्यास-ज्ञानार्थपरिग्रहार्थं इति-यङ्लुप्निवृत्त्यर्थश्च तेनाऽस्मात् श्वादिभ्यः क्तौ वेवित्तिः ।

इषोऽनिच्छायाम् ॥ ५. ३. ११२ ॥

इषेरनिच्छायां वर्तमानात् स्त्रियां भावाऽकर्त्रोरनो भवति ।

अन्वेषणा, एषणा, पिण्डैषणा । अनिच्छायामिति किम् ? इष्टिः । कथं प्राणैषणा वित्तैषणा परलोकैषणा ? बहुलाधिकारात् ।।११२।।

पर्यधेर्वा ॥ ५. ३. ११३ ॥

पर्यधिपूर्वादिषेरनिच्छायां वर्तमानाद् भावाऽकर्त्रोः स्त्रियामनो वा भवति । पर्येषणा, परीष्टिः । अध्येषणा, अधीष्टिः । अधीष्टिरिति नेच्छन्त्यन्ये ॥ ११३ ॥

क्रुत्-संपदादिभ्यः क्विप् ॥ ५. ३. ११४ ॥

क्रुधादिभ्योऽनुपसर्गपूर्वेभ्यः पदादिभ्यश्च समादिपूर्वेभ्यो धातुभ्यः स्त्रियां भावाऽकर्त्रोः क्विप् प्रत्ययो भवति ।

क्रुधेः-क्रुत् । युधेः-युत् । क्षुधेः-क्षुत् । तृषेः-तृट् । त्विषेः-त्विट् । रुषेः-रुट् । रुजेः-रुक् । रुचे-रुक् । शुचेः-शुक् । मुदेः-मुत् । मृदेः-मृत् । गॄ-गीः । त्रै-त्राः । दिशेः-दिक् । सृजेः-स्रक । तथा पदेः संपद्, विपद्, आपद्, व्यापद्, प्रतिपद् । षद्लृं-संसत्, परिषत्, उपसत्, उपनिषत् । विदेः-निवित् । शासेः-प्रशीः, आशीः । श्रु-प्रतिश्रुत्, उपश्रुत् । स्रु-परिस्रुत् । नहेः-उपानत् । वृषेः-प्रावृट् । प्रुषेः-विप्रुट् । वृतेः-नीवृत्, उपावृत् । यतेः-संयत् । इणः-समित् । भृगः-उपभृत् । इन्धेः-समित् । क्रुधादिः संपदादिश्चाकृतिगणः ॥११४॥

भ्यादिभ्यो वा ॥ ५. ३. ११५ ॥

बिभेत्यादिभ्यो धातुभ्यः स्त्रियां भावाकर्त्रोः क्विप् वा भवति ।

भीः भीतिः । ह्रीः, ह्रीतिः । लूः, लूनिः । भूः, भूतिः । कण्डूः, कण्डूया । कृत्, कृतिः । भित्, भित्तिः । छित्, छित्तिः । तुत्, तुत्तिः । दृक्, दृष्टिः । नशेः-नक्, नष्टिः । युजेः-युक्, युक्तिः । ज्वरेः-जूः, जूतिः । त्वरेः-तूः, तूतिः । अवतेः-ऊः, ऊतिः । श्रिवेः-श्रूः, श्रूतिः । मवतेः-मूः, मूतिः । नौतेः-नुवः, नुतिः । शकेः-शक्, शक्तिः ॥११५॥

न्या० स०-भ्यादि-नन्वत्र ये क्विबन्तास्ते क्रुधादिगणे पठिष्यन्ते क्त्यन्तास्तु श्र्वादौ किमनेन ? सत्यं, कण्डूयेति तृतीयरूपार्थम् ।

भीतिरित्यादि-एषु सर्वेषु स्त्रियां क्तिः । तूर्त्तिरिति-षित्त्वादऽङः पक्षे श्र्वादित्वात् क्तिः ।

व्यतिहारेऽनीहादिभ्यो ञः ॥ ५. ३. ११६ ॥

व्यतिहरणं व्यतिहारः, परस्परस्य कृतप्रतिकृतिः । व्यतिहारविषयेभ्यो धातुभ्य ईहादिवर्जितेभ्यः स्त्रियां ञः प्रत्ययो भवति । बाहुलकाद् भावे क्त्यादीनामपवादः ।

परस्परमाक्रोशनं-व्यावक्रोशी, व्याक्रोशी; व्यावमोषी, व्यावहासी, व्यावलेखी, व्यातिचारी, व्यावचर्ची, व्यात्युक्षी । अनीहादिभ्य इति किम् ? व्यतीहा, व्यतीक्षा, व्यतिपृच्छा, व्यवहृतिः । व्यत्युक्षेत्यप्येके । "नित्यं ञजिनोऽण्" (५-३-५८) इति स्वार्थेऽण् वक्ष्यते, तेन केवलस्य प्रयोगो न भवति । "श्र्वादिभ्यः" (५-३-९२) इति समावेशाभिधानात्-व्यवकुष्टिर्व्याकुष्टिरित्यपि भवति । स्त्रियामित्येव ? व्यतिपाको वर्तते ॥११६॥

न्या० स०-व्यतिहारे-व्यात्युक्षीति-'य्वः पदान्तात्' ७-४-५ इति ऐकारो न । 'न ञ्स्वङ्गादेः' ७-४-९ इति निषेधात् ।

नञोऽनिः शापे ॥ ५. ३. ११७ ॥

नञः पराद् धातोः शापे गम्यमाने भावाऽकर्त्रोः स्त्रियामनिः प्रत्ययो भवति ।

अजननिस्ते वृषल ! भूयात्, एवमजीवनिः, अकरणिः, अप्रयाणिः, अगमनिः । नञ इति किम् ? मृतिस्ते जाल्म ! भूयात् । शापे इति किम् ? अकृतिस्तस्य पटस्य ।।११७।

ग्ला-हा-ज्यः ॥ ५. ३. ११८ ॥

एभ्यः स्त्रियां भावाऽकर्त्रोरनिः प्रत्ययो भवति । ग्लानिः, हानिः, ज्यानिः । म्लानिरित्यपि कश्चित् ।।११८।।

प्रश्ना-ऽऽख्याने वेञ् ॥ ५. ३. ११९ ॥

प्रश्ने आख्याने च गम्यमाने स्त्रियां भावाऽकर्त्रोर्धातोरिञ् प्रत्ययो वा भवति, वावचनाद् यथाप्राप्तं च ।

कां त्वं कारिमकार्षीः ?, कां कारिकां, कां क्रियां, कां कृत्यां, कां कृतिम् । आख्याने-सर्वां कारिमकार्षम्, सर्वां कारिकां, सर्वां क्रियां, सर्वां कृत्यां, सर्वां कृतिम् । कां त्वं गणिमजीगणः ?, कां गणिकां, कां गणनाम्; सर्वां गणिमजीगणम्, सर्वां गणिकाम्, सर्वां गणनाम् । एवं-पाचिं पाचिकां पक्तिं पचाम्, पाठिं पाठिकां पठितिम् । प्रश्ना-ऽऽख्यान इति किम् ? कृतिः, हृतिः ।।११९।।

न्या० स०-प्रश्नाख्या-कां कारिकामिति-'पर्यायार्हर्ण' ५-३-१२० इति णकः । कां कृतमिति-स्यादित्वात् क्विपि कां कृतमित्यपि ।

पर्यायाऽर्हर्णोत्पत्तौ च णकः ॥ ५. ३. १२० ॥

एष्वर्थेषु प्रश्नाऽऽख्यानयोश्च गम्यमानयोः स्त्रियां भावाऽकर्त्रोर्धातोर्णकः प्रत्ययो भवति, क्त्याद्यपवादः ।

पर्यायः-क्रमः परिपाटिरिति यावत् । भवत आसिका, भवतः शायिका, भवतोऽग्रगामिका; आसितुं शयितुमग्रे गन्तुं च भवतः क्रम इत्यर्थः । अर्हणमर्हः-योग्यता । अर्हति भवान् इक्षुभक्षिकाम्, ओदनभोजिकाम्, पयःपायिकाम् । ऋणं-यत् परस्मै धार्यते । इक्षुभक्षिकां मे धारयसि । उत्पत्तिर्जन्म, इक्षुभक्षिका मे उदपादि । प्रश्ने-कां त्वं कारिकामकार्षीः ? कां त्वं गणिकामजीगणः ? आख्याने-सर्वां कारिकामकार्षम्, सर्वां गणिकामजीगणम् । बहुलाधिकारात् क्वचिन्न भवति-चिकीर्षा, बुभुक्षा मे उदपादि । प्रश्नाऽऽख्यानयोगेऽपि पर्यायादिषु परत्वात् णक एव भवति, नेञ् ।।१२०।।

न्या० स०-पर्यायार्हर्णो-इक्षुभक्षिकामिति-अत्र 'कृति' ३-१-७७ इति समासः । णक एव भवतीति-यथा कुत्र भवत आसिकेति आसितुं पर्यायः ।

नाम्नि पुंसि च ॥ ५. ३. १२१ ॥

धातोः स्त्रियां भावाऽकर्त्रोर्नाम्नि-संज्ञायां णकः प्रत्ययो भवति, यथादर्शनं पुंसि च।

प्रच्छर्दनं प्रच्छर्द्यतेऽनयेति वा-प्रच्छर्दिका, एवं-प्रवाहिका, विचर्चिका, प्रस्कन्दिका, विपादिका, एता रोगसंज्ञाः। उद्दालकपुष्पाणि भज्यन्ते यस्यां सा-उद्दालकपुष्पभञ्जिका, एवं-वारणपुष्पप्रचायिका, अभ्योषाः खाद्यन्तेऽस्यामिति-अभ्योषखादिका, एवमवोषखादिका; साला भज्यन्ते यस्यां सा-सालभञ्जिका, एवंनामानः क्रीडाः।

बहुलाधिकारादिह न भवति-शिरसोऽर्दनं-शिरोर्तिः, एवं-शीर्षार्त्तिः, शिरोऽभितप्तिः, शीर्षाभितप्तिः, तथा चन्दनतक्षा क्रीडा। बहुलाधिकारादेव चार्तिरित्यत्रार्दतेरर्दयतेश्च यथाक्रममप्रत्ययमनप्रत्ययं च बाधित्वा क्तिरेव भवति। पुंसि च-अरोचनं न रोचतेऽस्मिन्निति वा-अरोचकः, अनाशकः, उत्कन्दकः, उत्कर्णकः ॥१२१॥

न्या स०-नाम्नि पुंसि च-उद्दालकपुष्पभञ्जिकेति-अत्र 'कृति' ३-१-७७ इति षष्ठीसमासः, उद्दालकपुष्पाणि भज्यन्ते यस्यामिति त्वर्थकथनम्। वाक्यं तु भज्यन्ते यस्यां भञ्जिका उद्दालकपुष्पाणां भञ्जिकेति कार्यं, न तु 'अकेन क्रीडा' ३-१-८१ इति समासस्तेन कर्तृविहिताऽकान्तेन सह विधानात्, णकस्त्वनेन कर्तृवर्जं प्रवर्त्तते। **चन्दनतक्षेति**-चन्दनास्तक्ष्यन्ते यस्यां बाहुलकात् 'पुंनाम्नि' ५-३-१३० (इति) विहितोऽपि स्त्रियामपि 'व्यञ्जनाद् घञ्' ५-३-१३२। ननु यथा शिरोर्त्तिरित्यत्र बाहुलकाण्णको निषिद्धस्तथा क्तिरपि न प्राप्नोति स्त्रीखलना इति न्यायादित्याह-**बहुलाधिकारादिति-अर्दयतेश्चेति**-ऋथर्आर्दृणित्यस्य। **उत्कन्दक इति**-उत्स्कन्दनं उत्स्कद्यतेऽनेनेति वा पृषोदरादित्वात् सलोप।

भावे ॥ ५. ३. १२२ ॥

भावे-धात्वर्थनिर्देशे स्त्रियां धातोर्णकः प्रत्ययो भवति। आसिका, शायिका, जीविका, कारिका। बहुलाधिकारात्-ईक्षा, ऊहा, ईहा, स्मरणा ॥१२२॥

क्लीबे क्तः ॥ ५. ३. १२३ ॥

क्लीबे-नपुंसकलिङ्गे भावेऽर्थे धातोः क्तः प्रत्ययो भवति, घञाद्यपवादः। स्त्रियां भावाऽकर्त्रोरिति च निवृत्तम्।

हसितं छात्रस्य, नृत्तं मयूरस्य, व्याहृतं कोकीलस्य, गतं मतंगजस्य। क्लीब इति किम्? हसः, हासः ॥१२३॥

न्या० स०-क्लीबे क्तः-घञाद्यपवाद इति-आदिशब्दात् 'ट्वितोऽथुः' ५-३-८३ इत्यादयः।

अनट् ॥ ५. ३. १२४ ॥

क्लीबे भावेऽर्थे धातोरनट् प्रत्ययो भवति। गमनं भोजनं वचनं हसनं छात्रस्य। टकार उत्तरत्र ङ्यर्थः ॥१२४॥

यत्कर्मस्पर्शात् कर्त्रङ्गसुखं ततः ॥ ५. ३. १२५ ॥

येन कर्मणा संस्पृश्यमानस्य कर्तुरङ्गस्य-शरीरस्य सुखमुत्पद्यते ततः कर्मणः परात् धातोः क्लीबे भावेऽर्थेऽनट् भवति। पूर्वेणैव प्रत्यये सिद्धे नित्यसमासार्थं वचनम्।

पयःपानं सुखम्। ओदनभोजनं सुखम्। कर्मेति किम्? अपादानादिस्पर्शे मा भूत्-तूलिकाया उत्थानं सुखम्। स्पर्शादिति किम्? अग्निकुण्डस्योपासनं सुखम्। कर्त्रिति किम्? शिष्येण गुरोः स्नापनं सुखम्, स्नापयतेर्न गुरुः कर्ता, किं तर्हि! कर्म। अङ्गग्रहणं किम्? पुत्रस्य परिष्वञ्जनं सुखम्, पुत्रस्य स्पर्शान्न शरीरस्य सुखं, किं तर्हि! मानसी प्रीतिः, अन्यथा परपुत्रपरिष्वङ्गेऽपि स्यात्।

सुखमिति किम्? कण्टकानां मर्दनम्। सर्वत्रासमासः प्रत्युदाहार्यः। अथवा तत इति सप्तम्यन्तात् तसुः, येन कर्मणा स्पृश्यमानस्य कर्तुरङ्गसुखमुत्पद्यते तस्मिन् कर्मण्यभिधेये सामर्थ्यात् कर्तुः परात् धातोरनट् भवति, इत्यपरोऽर्थः। राज्ञा भुज्यन्ते-राजभोजनाः शालयः, राजाच्छादनाः प्रावाराः, राजपरिधानानि वासांसि ॥१२५॥

न्या० स० यत्कर्मस्पर्शा-नित्यसमासार्थमिति-'ङस्युक्तं कृता' ३-१-४९ इत्यनेन, पूर्वेण हि प्रत्यये ङस्युक्तत्वाऽभावे केन समासः स्यात्। पयः पानमिति-नित्यसमासत्वात् पयसां पानमिति न कार्यं, किन्तु पयसः पीतिरिति शब्दान्तरेणार्थः कथ्यते। सप्तम्यन्तात्तसुरिति-तदा पृषोदरादित्वाद्दलोपः, 'आ द्वेर' ७-१-४१ इति तु न तसादौ चेत्यधिकारात्. एके तु तस्वादावपीच्छन्ति।

रम्यादिभ्यः कर्तरि ॥ ५. ३. १२६ ॥

रम्यादिभ्यो धातुभ्यः कर्तर्यनट् भवति। रम्-रमणी। नन्द्-नन्दनी। कम्-कमनी। ह्लाद्-ह्लादनी। व्रश्च्-इध्मव्रश्चनः। शातिः-पलाशशातनः। बहुवचनं प्रयोगानुसरणार्थम् ॥१२६॥

न्या० स० रम्यादिभ्यः कर्त्तरि-रमणी इति-रमते इति कृते णकतृचादयोऽनेन अनटा बाधिताः सन्तो बाहुलकादेव भवन्ति, एवमन्येषाम्। इध्मव्रश्चन इति-वृश्चतीति, इध्मानां व्रश्चनः 'कृति' ३-१-७७ इति समासः।

कारणम् ॥ ५. ३. १२७ ॥

कृगः कर्तर्यनट् वृद्धिश्च निपात्यते। करोतीति-कारणम्। कर्तरीति किम्? करणम् ॥१२७॥

भुजि-पत्यादिभ्यः कर्माऽऽपादाने ॥ ५. ३. १२८ ॥

भुज्यादिभ्यः पत्यादिभ्यश्च धातुभ्यो यथासंख्यं कर्मण्यपादाने चानट् भवति।

भुज्यते इति-भोजनम्। निरदन्ति तदिति निरदनम्। आच्छादि-आच्छादनम्। अवस्रावि-अवस्रावणम्। अवसिच्-अवसेचनम्। अस्-असनम्। वस्-वसनम्। आभृग्-

आभरणम् । अपादाने, पत्-प्रपतत्यस्मादिति-प्रपतनः । स्कन्दि-प्रस्कन्दनः । श्च्योति-प्रश्च्योतनः । झृष्-निर्झरणाः । धृ-शङ्खोद्धरणः । दाग्-अपादानम् । बहुवचनं प्रयोगानुसरणार्थम् ॥१२८॥

न्या० स०-भूजिपत्यादिभ्यः अवस्रावणमिति-अवस्रवत् अधः पतत् प्रयुङ्क्ते णिगि अवस्राव्यते । वसनमिति-वसिक् वस्यते तदिति ।

करणाऽऽधारे ॥ ५. ३. १२९ ॥

करणाऽऽधारयोरर्थयोर्धातोरनट् भवति, घञाद्यपवादः ।

करणे-एषणी, लेखनी, विचयनी, इध्मव्रश्चनः, पलाशशातनः, अविलवनः, श्मश्रुकर्तनः । आधारे-गोदोहनी, सक्तुधानी, तिलपीडनी, शयनम्, आसनम्, अधिकरणम्, आस्थानम् ॥१२९॥

पुंनाम्नि घः ॥ ५. ३. १३० ॥

पुंसो नाम-संज्ञा पुन्नाम, तत्र गम्यमाने करणाऽऽधारयोर्धातोर्घः प्रत्ययो भवति ।

करणे-प्रच्छदः, उरश्छदः, दन्तच्छदः, प्लवः, प्रणवः, करः, प्रत्ययः, शरः । आधारे-एत्य कुर्वन्त्यस्मिन्नित्याकरः, आलवः, आरवः, आपवः, भवः, लयः, विषयः, भरः, प्रहरः, प्रसरः, अवसरः, परिसरः, विसरः, प्रतिसरः । पुंग्रहणं किम् ? विचीयतेऽनयेति-विचयनी, प्रधीयते विकारोऽस्मिन्निति-प्रधानम् । नाम्नीति किम् ? प्रहरणो दण्डः । बहुलाधिकारात् क्वचिन्न भवति-प्रसाधनः, दोहनः । घकार "एकोपसर्गस्य च घे" (४-२-३४) इत्यत्र विशेषणार्थः ॥१३०॥

न्या० स०-पुन्नाम्नि घः-प्रणव इति-स्मरस्तु स्मरन्ति कामिनीमनेनेति वाक्ये अनेन घः इति पारायणम् । प्रधानमिति-सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः प्रधानम् । प्रसाधन इत्यत्र-णिगन्तादऽनट् एवं दोहन इत्यत्र ।

गोचर-संचर-वह-व्रज-व्यज-खला-ऽऽपण-निगम-बक-भग-कषाऽऽकष-निकषम् ॥ ५. ३. १३१ ॥

एते शब्दाः करणाऽऽधारयोः पुंनाम्नि व्यञ्जनाद् घञि प्राप्ते घप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते ।

गावश्चरन्ति अस्मिन्निति-गोचरो देशः, व्युत्पत्तिमात्रं चेदम्, विषयस्य तु संज्ञा-"अनेकान्तात्मकं वस्तु गोचरः सर्वसंविदाम्" । संचरन्तेऽनेन-संचरः । वहन्ति तेन-वहः, वृषस्कन्धदेशः । व्रजन्त्यस्मिन्निति-व्रजः । विपूर्वोऽजिः, व्यजत्यनेन-व्यजः, निपातनाद्वीभावाभावः । खलन्त्यस्मिन्निति-खलः । एत्य पणायन्ति अस्मिन्निति-आपणः । निगच्छन्ति तत्रेति-निगमः । वक्तीति-बकः, बाहुलकाद् कर्तरि । निपचन्त्यनेन-निपक-इत्यपि कश्चित् ।

भज्यतेऽनेनास्मिन्निति वा-भगः, भगमिति बाहुलकात् क्लीबेऽपि घः । कषन्त्यस्मिन्निति-कषः, एवमाकषः, निकषः ॥१३१॥

व्यञ्जनाद् घञ् ॥ ५. ३. १३२ ॥

व्यञ्जनान्ताद् धातोः पुंनाम्नि करणाऽऽधारे घञ् प्रत्ययो भवति, घस्यापवादः । विदन्त्यनेन विन्दति विन्दते वा-वेदः । चेष्टतेऽनेन-चेष्टो बलम् । एत्य पचन्त्यस्मिन्नित्या-पाकः । आरामः, लेखः, बन्धः, नेगः, वेगः, रागः, रङ्गः, क्रमः, प्रसादः, अपामार्गः, नीमार्गः ॥१३२॥

न्या० स०-व्यञ्जनाद् घञ्-घस्यापवाद इति-'पुंनाम्नि' ५-३-१३० इति प्राप्तस्य ।

अवात् तॄ-स्तॄभ्याम् ॥ ५. ३. १३३ ॥

अवपूर्वाभ्यां तॄ-स्तॄभ्यां करणाऽऽधारयोः पुंनाम्नि घञ् भवति ।

अवतरन्त्यनेनास्मिन् वेति-अवतारः । अवस्तृणन्त्यनेनास्मिन्निति वा-अवस्तारः । बहुलाधिकारादसंज्ञायामपि-अवतारो नद्याः, उत्पूर्वादपि-नद्युत्तारः । करणाऽऽधार इत्येव ? अवतरः । केचित् तु-संज्ञायामसंज्ञायां च भावेऽकर्तरि कारके च स्त्रो नित्यं तरतेस्तु विकल्पेन घञमिच्छन्ति । द्विवचनं करणाऽऽधार इति यथासंख्यनिवृत्त्यर्थम् ॥१३३॥

न्या० स०-अवात्तॄस्तॄभ्याम्-अवतारो नद्या इति-येन केनाऽपि पथाऽवतीर्यते स एवावतारो न तु कस्यापि संज्ञा ।

न्यायाऽऽवायाऽध्यायोद्याव-संहाराऽवहाराऽऽधार-दार-जारम् ॥ ५. ३. १३४ ॥

स्वरान्तार्थ आरम्भ, एते शब्दाः पुंनाम्नि करणाधारयोर्घे प्राप्ते घञन्ता निपात्यन्ते ।

निपूर्वस्येणो नीयतेऽनेनेति-न्यायः । एत्य वयन्ति वायन्ति वा तत्रेत्यावायः । अधीयतेऽनेनास्मिन् वा-अध्यायः । उद्युवन्ति तेन तस्मिन् वा-उद्यावः । संहरन्ति तेन-संहारः । अवहरन्ति तेन तस्मिन् वा-अवहारः । आध्रियते तत्रेत्याधारः । दीर्यन्ते एभि-रिति-दाराः । जीर्यतेऽनेनेति-जारः । दारयन्तीति-दाराः । जरयतीति-जार इति कर्तरि केचिन्निपातयन्ति ॥१३४॥

न्या० स०-न्यायावाया-केचिन्निपातयन्तीति-ननु जार इत्यस्य 'कगेवनूजनैजॄष्' ४-२-२५ इति ह्रस्वत्वे दीर्घार्थं निपातः क्रियतां, दार इत्यस्य तु किं निपातनेन ? सत्यं, भयविवक्षायां दॄ धातोर्घटादित्वात् दरयतीति यदा क्रियते तदापि दीर्घो भूयादित्येवमर्थं निपातः ।

उदङ्कोऽतोये ॥ ५. ३. १३५ ॥

उत्पूर्वादञ्चतेः पुंनाम्नि करणाऽऽधारयोर्घञ् निपात्यते, अतोये-तोयविषयश्चेद् धात्वर्थो न भवति, जलं चेत् तेन नोदच्यत इत्यर्थः ।

तैलोदङ्कः, घृतोदङ्कः । अतोय इति किम् ? उदकोदञ्चनः । "व्यञ्जनाद् घञ्" (५-३-१३२) इति सिद्धे तोये प्रतिषेधार्थं वचनम् । रूपाविशेषाद् घोऽपि न भवति ।।१३५।

न्या० स०-उदङ्कोऽतोये-घोऽपि न भवतीति-ननु 'पुन्नाम्नि घ' ५-३-१३० इत्यस्यापवादो घञ् तत उदकविषये घञ् निवृत्तौ प्रत्यनीकाभावात् घेनैव भवितव्यमित्याह-रूपाऽविशेषादिति-

आनायो जालम् ।। ५. ३. १३६ ।।

आङ् पूर्वान्नयतेः करणे पुंनाम्नि घञ् निपात्यते, जालं चेद् वाच्यं भवति । आनयन्ति तेन-आनायो मत्स्यानाम्, आनायो मृगाणाम् ।।१३६।।

खनो ड-डरेकेकवक-घं च ।। ५. ३. १३७ ।।

खनेः पुंनाम्नि करणाऽऽधारयोर्ड डर इक इकवक घ घञ् च प्रत्यया भवन्ति । आखायत आखन्यते वाऽनेनास्मिन् वा-आखः, आखरः, आखनिकः, आखनिकवकः, आखनः, आखानः ।।१३७।।

न्या० स०-खनो डडरे-अनुकार्यानुकरणयोः कथंचिद् भेदाद् धातुत्वाऽभावे इकिश्तिवां खन इत्यत्राऽभावः ।

इ कि श्तिव् स्वरूपाऽर्थे ।। ५. ३. १३८ ।।

धातोः स्वरूपेऽर्थे चाभिधेये 'इ कि श्तिव्' इत्येते प्रत्यया भवन्ति । भञ्जिः, क्रुधिः, वेत्तिः । अर्थे-यजेरङ्गानि, भुजिः क्रियते, पचतिर्वर्तते ।।१३८।।

न्या० स० इकिश्तिव्-केचिदेतान् प्रत्ययान् कर्त्तरि समानयन्ति स्वमते तु कर्तृकर्म्मभाव इति विशेषाभावात् सामान्येन भवन्ति । 'भवतेः सिज्लुपि' ४-३-१२ 'न कवतेर्यङः' ४-१-४७ इत्यादौ भावेऽपि सूत्रसामर्थ्यात् शव् न तु क्यः । पचतिर्वर्त्तते इति-बाहुलकाद् भावेऽपि शव् क्याऽभावश्च ।

दुःस्वीषतः कृच्छ्राऽकृच्छ्रार्थात् खल् ।। ५. ३. १३९ ।।

कृच्छ्रं दुःखम्, अकृच्छ्रं सुखम्, कृच्छ्रार्थवृत्तेर्दुरः सामर्थ्यादकृच्छ्रार्थवृत्तिभ्यां स्वीषद्भ्यां पराद् धातोर्भाव-कर्मणोरर्थयोः खल् प्रत्ययो भवति । कृत्यादीनामपवादः ।

दुःखेन शय्यत इति-दुःशयम्, सुखेन शय्यते इति-सुशयम्, ईषच्छयं भवता । दुःखेन क्रियते इति-दुष्करः । सुखेन क्रियते इति-सुकरः, ईषत्करः कटो भवता । दुष्करं सुकरम् ईषत्करं भवता । दुःस्वीषत इति किम् ? कृच्छ्रसाध्यः, सुखसाध्यः । कृच्छ्राकृच्छार्थादिति किम् ? ईषल्लभ्यं धनं कृपणात्, अल्पं लभ्यमित्यर्थः । खकार उत्तरत्र मागमार्थः ।

लकार: 'खलर्थाश्च' इत्यत्र विशेषणार्थः । इह स्त्रीप्रत्ययात् प्रभृति असरूपविधेरभावात् स्पर्धे 'अल: स्त्रीखलना:, स्त्रियास्तु खलनौ' परत्वाद् भवत: । तत्र 'चयः, जयः, लवः' इत्यादावलोऽवकाशः, 'कृतिः, हृतिः' इत्यादौ स्त्रीप्रत्ययस्य, 'चितिः, स्तुतिः' इत्यादौ तूभयं प्राप्नोति, अलोऽविशेषेणाभिधानात् तत्र परत्वात् स्त्रीप्रत्ययो भवति । तथा 'दुर्भेदः, सुभेदः' इत्यादौ खलोऽवकाशः, अलस्तु पूर्व एव, 'दुश्चयं सुचयम्, दुर्लवं सुलवम्' इत्यादौ तूभयप्राप्तौ परत्वात् खल् भवति । तथा 'इध्मव्रश्चनः, पलाशच्छेदनः' इत्यादावनस्याव-काशः, अलस्तु पूर्वक एव, 'पलाशशातनो विलवनः' इत्यादौ तूभयप्राप्तौ परत्वादनो भवति । एवं 'हृतिः, कृतिः' इत्यादौ स्त्रीप्रत्ययस्यावकाशः 'दुर्भेदः, सुभेदः' इत्यादौ खलः 'दुर्भेदा सुभेदा' इत्यादौ तूभयप्राप्तौ परत्वात् खल् भवति । तथा 'इध्मव्रश्चनः, पलाशच्छेदनः' इत्यादावनस्यावकाशः, कृतिरित्यादौ स्त्रीप्रत्ययस्य, 'सक्तुधानी, तिलपिडनी' इत्यादौ तूभयप्राप्तौ परत्वादनडेव भवति ॥१३९॥

न्या० स०-दुःस्वीषतः-परत्वादनो भवतीति-'करणाधारे' ५-३-१२० इत्यनेन ।

च्व्यर्थे कर्त्राप्याद् भू-कृगः ॥ ५. ३. १४० ॥

कृच्छ्राऽकृच्छ्रार्थेभ्यो दुःस्वीषद्भ्यः पराभ्यां च्व्यर्थे वर्तमानाभ्यां कर्तृ-कर्मवाचिभ्यां शब्दाभ्यां पराभ्यां यथासंख्यं भू-कृग्भ्यां परः खल् प्रत्ययो भवति । खानुबन्धबलात् कर्तृ-कर्मणोरेवानन्तर्यम् ।

दुःखेनाऽनाढ्येनाऽऽढ्येन भूयते-दुराढ्यंभवं भवता, सुखेनाऽनाढ्येनाऽऽढ्येन भूयते-स्वाढ्यंभवं भवता, ईषदाढ्यंभवं भवता । दुःखेनाऽनाढ्य आढ्यः क्रियते दुराढ्यं-करो मैत्रो भवता, सुखेनानाढ्य आढ्यः क्रियते-स्वाढ्यंकरश्चैत्रो भवता, ईषदाढ्यंकर-श्चैत्रो भवता । सुखेनाऽकटः कटः क्रियन्ते सुकटंकराणि वीरणानि । सुकरः कटो वीरणै-रित्यत्र तु करणविवक्षा ।

च्व्यर्थे इति किम् ? दुराढ्येन भूयते, स्वाढ्येन भूयते, ईषदाढ्येन भूयते, आढ्य एव सन् कंचिद् विशेषमापद्यत इत्यर्थः; एवं-दुराढ्यः क्रियते इत्यादि, अभूतप्रादुर्भावेऽपि वा प्रकृतेरविवक्षणात् च्व्यर्थो नास्ति ॥१४०॥

न्या० स०-च्व्यर्थे कर्त्रा-खानुबन्धबलादिति-मागमार्थं हि खानुबन्धः ततो यद्यत्र कर्तृकर्म्मवाचिभ्यां परेभ्यो दुःस्वीषद्भ्यः पराभ्यामिति विपरीतो विशेषणविशेष्यभावः क्रियेत तदा कर्तृकर्म्मवाचिभ्यां दुरादिभिर्व्यवधानात् मोन्तो न स्यात्, दुःस्वीषद्भ्यस्तु अव्ययत्वात् मागमाऽप्राप्तिरिति ।

दुराढ्येन भूयते इति-आढ्येन सता दुःखेन भूयते इत्यर्थः ।

प्रकृतेरविवक्षणादिति-अनाढ्य इत्येवंरूपायाः ।

शासू-युधि-दृशि-धृषि-मृषातोऽनः ॥ ५. ३. १४१ ॥

कृच्छ्राकृच्छ्रार्थदुःस्वीषत्पूर्वेभ्यः शासूप्रभृतिभ्य आकारान्तेभ्यश्च धातुभ्यो भाव-कर्मणोरर्थयोरनः प्रत्ययो भवति ।

दुःखेन शिष्यते-दुःशासनः, सुखेन शिष्यते-सुशासनः, ईषच्छासनः । एवं-दुर्योधनः, दुर्दर्शनः, दुर्धर्षणः, दुर्मर्षणः । आदन्त-दुरुत्थानं भवता, सूत्थानम्, ईषदुत्थानम् । दुष्पानं पयो भवता, सुपानम्, ईषत्पानम् । आदन्तवर्जितेभ्यः केचिद् विकल्पमिच्छन्ति, तन्मते-'दुःशासः, दुर्योधः, दुर्दर्शः, दुर्धर्षः, दुर्मर्षः' इत्याद्यपि भवति । दुर्दर्शो हि राजा कार्याकार्यविपर्यासमासन्नैः कार्यते । कथम् ईषद्दरिद्रः ? विषयेऽप्याकारस्य लोपेनादन्तत्वाभावात् खलेव । खलोऽपवादो योगः ॥१४१॥

इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्रविरचितायां सिद्धहेमचन्द्राभिधानस्वोपज्ञशब्दानुशासनवृत्तौ पञ्चमाध्यायस्य तृतीयः पादः ।

मात्रयाप्यधिकं किंचिन्न सहन्ते जिगीषवः ।
इतीव त्वं धरानाथ ! धारानाथमपाकृथाः ॥१॥

न्या स०-शास्युधि-अनुपसर्गयुध्यादि-साहचर्यान्न आङः शास इति । दुर्योधन इति-दुःखेन युध्यते अन्तर्भूतण्यर्थः सूत्रे शास इति निरनुबन्धता यङ्लोपेऽपि दुःशासन इति प्रयोगार्था ।

दुर्दर्शो हि राजेति-'ह्रक्रोर्नवा' २-२-८ इति राजन्नित्यस्य वा कर्म्मता ।

इषद्दरिद्र इति-ननु धातोरकर्म्मकत्वाद्भावे प्रत्यये कथमत्र पुंस्त्वं दुराढ्यंभवमित्यादिवन्नपुंसकत्वप्राप्तिः ? सत्यं,-अत्र 'कालाध्व' २-२-२३ इत्यनेन मासादेः कर्म्मत्वे कर्मणि खल्, न तु भावे ततो यत्र मासादौ दरिद्रैर्भयते स ईषद्दरिद्र उच्यते । विषयेऽपीति-अस्याऽनप्रत्ययस्य विषये इत्यर्थः ।

इत्याचार्यश्री सिद्धहेमचन्द्राभिधानस्वोपज्ञ-शब्दानुशासनबृहद्वृत्तेः पञ्चमाध्यायस्य न्यासतः तृतीयः पादः समाप्तः ।

॥ अर्हम् ॥

अथ पञ्चमाध्याये चतुर्थः पादः

सत्सामीप्ये सद्वद् वा ॥ ५. ४. १ ॥

समीपमेव सामीप्यम्, सतो-वर्तमानस्य सामीप्ये-भूते भविष्यति चार्थे वर्तमानाद् धातोः सद्वद्-वर्तमानवत् प्रत्यया वा भवन्ति। "सति" (५-२-१९) इति सूत्रादारभ्याऽऽपादपरिसमाप्तेर्विहिताः प्रत्यया भूतभविष्यतोर्वा अतिदिश्यन्ते।

कदा चैत्रागतोऽसि? अयमागच्छामि, आगच्छन्तमेव मां विद्धि। वावचनाद् यथाप्राप्तं च-अयमागमम्, एषोऽस्म्यागतः। कदा मैत्र! गमिस्यसि? एष गच्छामि, गच्छन्तमेव मां विद्धि, पक्षेएष गमिस्यामि, गन्ताऽस्मि, गमिष्यन्तमेव मां विद्धि। वत्करणस्य सादृश्यार्थत्वात् येनैव प्रकृत्युपपदोपाध्यादिना विशेषेण वर्तमाने विहितास्तेनैव विशेषेण भूत-भविष्यतोरपि भवन्ति-कदा भवान् सोमं पूतवान् पविष्यते वा? एषोऽस्मि पवमानः। कदा भावनिष्टवान् यक्ष्यते वा? एषोऽस्मि यजमानः। कदा भवान् कन्यामलंकृतवान् करिष्यते वा? एषोऽस्म्यलंकरिष्णुरिति। सामीप्य इति किम्? परुदगच्छत्, वर्षेण गमिष्यति ॥१॥

न्या० स०-सत्सामीप्ये-अतिदिश्यन्त इति-अतिक्रम्य निजं कालं दिश्यन्त इत्यर्थः। ननु सत्सामीप्ये सति वेत्येतावदेव क्रियतां वर्त्तमाने ये प्रत्ययास्ते सत्सामीप्ये वा भवन्तीति सूत्रार्थे साध्यसिद्धिर्भविष्यति किं वत्करणेन? इत्याह वत्करणस्येति-उपाध्यादिनेति-आदिशब्दात् कर्तृ विशेषेणापि। पवमानः यजमान इत्यत्र प्रकृतिविशेषः, अलंकरिष्णुरित्यत्र तु उपपदविशेषः शीलाद्युपाधिविशेषश्च।

भूतवच्चाऽऽशंस्ये वा ॥ ५. ४. २ ॥

अनागतस्य प्रियस्यार्थस्याशंसनं प्राप्तुमिच्छा-आशंसा, तद्विषय आशंस्यः, तस्मिन्नर्थे वर्तमानाद् धातोर्भूतवच्चकारात् सद्वच्च प्रत्यया वा भवन्ति। आशंस्यस्य भविष्यत्वादयमतिदेशः। वाग्रहणाद् यथाप्राप्तं च।

उपाध्यायश्चेदागमत्, एते तर्कमध्यगीष्महि; उपाध्यायश्चेदागतः, एतैस्तर्कोऽधीतः; उपाध्यायश्चेदागच्छति, एते तर्कमधीमहे। पक्षे-उपाध्यायश्चेदागमिष्यति, एते तर्कमध्येष्यामहे; उपाध्यायश्चेदागन्ता, एते तर्कमध्येतास्महे। सामान्यस्यातिदेशे विशेषस्यानतिदेशात् ह्यस्तनी-परोक्षे न भवतः। आशंस्य इति किम्? उपाध्याय आगमिष्यति तर्कमध्येष्यते मैत्रः ॥२॥

न्या० स०-भूतवच्च-आगमदित्यत्र अध्यगीष्महीत्यत्र चाऽनेनैव भूतप्रत्ययः उभयत्राप्याशंस्यस्य विद्यमानत्वात्।

विशेषस्यानतिदेशादिति-एतच्च व्याख्यानतो विशेष प्रतिपत्तिरिति न्यायात्।

क्षिप्राऽऽशंसार्थयोर्भविष्यन्ती-सप्तम्यौ ॥ ५. ४. ३ ॥

क्षिप्रार्थे आशंसार्थे चोपपदे आशंस्येऽर्थे वर्तमानाद् धातोर्यथासंख्यं भविष्यन्ती-सप्तम्यौ विभक्ती भवतः । भूतवच्चेत्यस्यापवादः ।

उपाध्यायश्चेदागच्छति आगमत् आगमिष्यति आगन्ता, क्षिप्रमाशु त्वरितमरं शीघ्रमेते सिद्धान्तमध्येष्यामहे । क्षिप्रार्थे नेति वक्तव्ये भविष्यन्तीवचनं श्वस्तनीविषयेऽपि भविष्यन्ती यथा स्यादित्येवमर्थम् । उपाध्यायश्चेच्छ्वः शीघ्रमागमिष्यति, एते श्वः क्षिप्रमध्येष्यामहे । आशंसार्थे खल्वपि-उपाध्यायश्चेदागच्छति आगमत् आगमिष्यति आगन्ता वा, आशंसेऽवकल्पये संभावये युक्तोऽधीयीय । द्वयोरुपपदयोः सप्तम्येव भवति शब्दतः परत्वात्-आशंसे क्षिप्रमधीयीय ॥३॥

न्या० स०-क्षिप्राशंसा-भूतवच्चेत्यस्यापवाद इति-अथ क्षिप्रार्थे आशंसार्थे च उपपदे आशंस्ये एवार्थे वर्त्तमानाद् धातोर्भविष्यन्तीसप्तम्यौ विधीयेते तत्राशंस्यस्य भविष्यत्त्वात् सिद्धैव 'विधिनिमन्त्रणा' ५-४-२८ इति सप्तम्यपि प्रार्थनारूपत्वात् किमर्थमिदमुच्यते ? इत्याह-भूतवच्चेत्यादि-क्षिप्रार्थे न इतीति-ननु क्षिप्रार्थे न इति आशंसार्थे सप्तमी इति च पृथक्सूत्रद्वयं क्रियतां किं क्षिप्रार्थे भविष्यन्तीविधानेन ? एवमपि कृते भविष्यन्ती सेत्स्यति, तथाहि-भूतवच्चेत्यनेन सामान्यभणनात् क्षिप्रार्थेऽक्षिप्रार्थे चोपपदे भूतवत्सद्वच्च प्राप्तानां प्रत्ययानां क्षिप्रार्थे नेत्यनेन निषेधे कृते पारिशेष्यात् स्वयमेव भविष्यन्ती भविष्यति किं तद्ग्रहणेनेत्याह-श्वस्तनीविषयेऽपीति-असति हि भविष्यन्तीग्रहणे यथा प्राप्तस्य भविष्यत्प्रत्ययस्य प्रत्युज्जीवनं भवति । भविष्यत्प्रत्ययश्च भविष्यदद्यतने भविष्यन्ती भविष्यदनद्यतने तु श्वस्तनी प्राप्नुयात्, इदानीं पुनर्भविष्यत्यद्यतनेऽनद्यतने च क्षिप्रार्थे उपपदे भविष्यन्त्येव न तु श्वस्तनी । द्वयोरुपपदयोरिति-क्षिप्राशंसार्थयोर्युगपत् प्रयोगे क्षिप्रार्थोपपदनिबन्धना भविष्यन्ती आशंसार्थनिबन्धना सप्तमी वा भवतीत्याह-शब्दतः परत्वादिति ।

संभावने सिद्धवत् ॥ ५. ४. ४ ॥

हेतोः शक्तिश्रद्धानं-संभावनम्, तस्मिन् विषयेऽसिद्धेऽपि वस्तुनि सिद्धवत् प्रत्यया भवन्ति ।

समये चेत् प्रयत्नोऽभूत्, उदभूवन् विभूतयः ।
इषे चेन्माधवोऽवर्षीत्, समपत्सत शालयः ॥
जातश्चायं मुखेन्दुश्चेत्, भृकुटिप्रणयी पुनः ।
गतं च वसुदेवस्य, कुलं नामावशेषताम् ॥४॥

न्या० स०-संभावने-जातश्चायं गतं चेति-अजनि, जायते स्म, अगमत्, गच्छति स्मेति वाक्यं कार्यं न तु गमिष्यति जनिष्यत इति तत्राप्यस्य सूत्रस्य प्रवर्त्तनात् ।

नाऽनद्यतनः प्रबन्धाऽऽसत्त्योः ॥ ५. ४. ५ ॥

प्रबन्धः सातत्यम्, आसत्तिः सामीप्यम्, तच्च कालतः, सजातीयेन कालेनाव्यवहितकालतेति यावत् । धात्वर्थस्य प्रबन्धे आसत्तौ च गम्यमानायां धातोरनद्यतनविहितः प्रत्ययो न भवति। भूतानद्यतने ह्यस्तनी भविष्यदनद्यतने च श्वस्तनी विहिता तयोः प्रतिषेधः।

यावज्जीवं भृशमन्नमदात्, यावज्जीवं भृशमन्नं दत्तवान्, यावज्जीवं भृशमन्नं दास्यति; यावज्जीवं युक्तोऽध्यापिपत्, यावज्जीवं युक्तोऽध्यापयिष्यति । आसत्तौ खल्वपि–येयं पौर्णमास्यतिक्रान्ता एतस्यां जिनमहः प्रावर्तिष्ट, प्रवृत्तः । येयं पौर्णमास्यागामिनी अस्यां जिनमहः प्रवर्तिष्यते । द्वौ प्रतिषेधौ यथाप्राप्तस्याभ्यनुज्ञानाय । केचित् तु–अनद्यतनविशेषविहितानामपि परोक्षादीनां प्रतिषेधमिच्छन्ति ॥५॥

न्या० स०–नानद्यतन:–न अद्यतनोऽनद्यतन इति कार्यं, न तु न विद्यतेऽद्यतनो यत्रेति, यतो बहुव्रीहेर्व्यापकत्वात् परोक्षाया अपि निषेधः स्यात्, तत्राप्यद्यतनो नास्तीति कृत्वा । नञ्तत्पुरुषे तु सामान्येन कृते विशेषो नान्तर्भवति, सामान्यमध्ये विशेषाऽयोगात् । **तयोः प्रतिषेध इति**–❀ सामान्यातिदेशे विशेषानतिदेश ❀ इति न्यायात् सामान्यानद्यतनस्यैव प्रतिषेधो न विशेषानद्यतनस्य, तेन परोक्षाया न प्रतिषेधः ।

यावज्जीवमिति–यावन्तं कालं जीव्यते भावे 'यावतो विन्दजीवः' ५–४–५५ यावच्छब्दात् 'कालाध्वनो' २–२–४२ 'कालाध्व' २–२–२३ इति वा द्वितीया यावज्जीवं शब्दात्तु प्रथमासिः, यावज्जीवं यावद्वर्त्तते तावद्ददातीत्यर्थः ।

यथाप्राप्तस्याभ्यनुज्ञानायेति–❀ द्वौ नञौ प्रकृतार्थं गमयत ❀ इति न्यायात् । ननु प्रबन्धासत्त्योरिति विधिसूत्रं कर्त्तव्यं विधिप्रतिषेधसंभवे हि विधेरेव ज्यायस्त्वात्, एवमपि ते अद्यतनी भविष्यन्ती सेत्स्यतः ? नैवं, अद्यभवोऽद्यतनः, अनया व्युत्पत्त्या वर्त्तमानापि स्यात् ।

प्रतिषेधमिच्छन्तीति–स्वमते तु ❀ सामान्यातिदेशे विशेषस्यानतिदेशात् ❀ परोक्षादीनां न निषेधः, एवं च भूतानद्यतने अद्यतनीक्तप्रत्यययोर्विधिर्भविष्यदनद्यतने च भविष्यन्त्या एव ।

एष्यत्यवधौ देशस्याऽर्वाग्भागे ॥ ५. ४. ६ ॥

देशस्य योऽवधिस्तद्वाचिन्युपपदे देशस्यैवार्वाग्भागे य एष्यन्नर्थस्तत्र वर्तमानाद् धातोरनद्यतनविहितः प्रत्ययो न भवति । अप्रबन्धार्थमनासत्त्यर्थं च वचनम् । यद्यप्यनद्यतन इति प्रकृतं तथापीहैष्यतीति वचनात् श्वस्तन्या एव निषेधः ।

योऽयमध्वा गन्तव्य आ शत्रुञ्जयात् तस्य यदवरं वलभ्यास्तत्र द्विरोदनं भोक्ष्यामहे, द्विः सक्तून् पास्यामः । योऽयमध्वा गन्तव्य आ पाटलिपुत्रात् तस्य यदवरमर्धं (कौशाम्ब्याः) तत्रोदनं भोक्ष्यामहे । एष्यतीति किम् ? योऽयमध्वातिक्रान्त आ शत्रुञ्जयात् तस्य यदवरं वलभ्यास्तत्र युक्ता द्विरध्यैमहि, द्विः सक्तूनपिबाम ।

अवधाविति किम् ? योऽयमध्वा निरवधिको गन्तव्यस्तस्य यदवरं वलभ्यास्तत्र

द्विरोदनं भोक्तास्महे, द्विः सक्तून् पातास्मः । अर्वाग्भाग इति किम् ? योऽयमध्वा गन्तव्य आ शत्रुंजयात् तस्य यत् परं वलभ्यास्तत्र द्विरोदनं भोक्तास्महे, द्विः सक्तून् पातास्मः ।।६।।

न्या० स०–एष्यत्यव–अत्र सूत्रे देश: प्रदेशमात्रं तेनाऽध्वनोऽपि देशता 'कालाध्वभाव' २-२-२३ इत्यत्र तु देशो राष्ट्रादिः, अत एव तत्र देशे सत्यपि अध्वग्रहणम् ।

कालस्याऽनहोरात्राणाम् ।। ५. ४. ७ ।।

कालस्य योऽवधिस्तद्वाचिन्युपपदे कालस्यैवार्वाग्भागे य एष्यन्नर्थस्तत्र वर्तमानाद् धातोरनद्यतनविहितः प्रत्ययो न भवति । अनहोरात्राणां–न चेत् सोऽर्वाग्भागोऽहोरात्राणां संबन्धी भवति ?

योऽयमागामी संवत्सरस्तस्य यदवरम् आग्रहायण्यास्तत्र जिनपूजां करिष्यामोऽतिथिभ्यो दानं दास्यामहे । एष्यतीत्येव–योऽयं संवत्सरोऽतीतस्तत्र यदवरमाग्रहायण्यास्तत्र युक्ता द्विरध्यैमहि । अवधावित्येव–योऽयमागामी निरवधिकः कालस्तत्र यदवरमाग्रहायण्यास्तत्र युक्ता अध्येतास्महे । अर्वाग्भाग इत्येव–परस्मिन् विभाषा वक्ष्यते । अनहोरात्राणामिति किम् ? योऽयं मास आगामी तस्य योऽवरः पञ्चदशरात्रस्तत्र युक्ता द्विरध्येतास्महे, योऽयं त्रिंशद्रात्र आगामी तस्य योऽवरोऽर्धमासस्तत्र द्विरोदनं भोक्तास्महे । योऽयं त्रिंशद्रात्र आगामी तस्य योऽवरः पञ्चदशरात्रस्तत्र द्विः सक्तून् पातास्म इति त्रिविधेऽप्यहोरात्रसंबन्धे मा भूत् । योगविभाग उत्तरार्थः । बहुवचनं कालस्येति सामानाधिकरण्यभ्रमनिरासार्थम् ।।७।।

न्या० स०–**कालस्यान–आग्रहायण्या इति**–अग्रं हायनस्य 'द्वित्रिचतुष्पूरण' ३-१-५६ इति समासः, 'पूर्वपदस्था' २-३-६४ इति णत्वम्, ततः स्वार्थे अण् ङीः । **अनहोरात्राणामिति किमिति**–यत्राहः शब्दो रात्रिशब्दो वा प्रयुज्यते तत्राहोरात्रत्वम् । **पञ्चदशरात्र इति**–अत्र कालसंबन्धी तादात्म्येनाऽहोरात्ररूपोऽर्वाग्भागः । **योऽवरोऽर्धमास इति**–अत्र कालोऽहोरात्ररूपस्तस्य संबन्धी अवयवावयविभावेनाऽर्वाग्भागः ।

पञ्चदशरात्र इति–अत्र कालोऽर्वाग्भागश्चाहोरात्ररूपः । **सामानाधिकरण्यभ्रमनिरासार्थमिति** कालस्य किंभूतस्याऽनहोरात्रस्येत्येवं सामानाधिकरण्यं निषिध्यते, कालसामानाधिकरण्ये हि व्यावृत्तिप्रथमोदाहरणेऽपि सूत्रप्रवृत्तौ श्वस्तनीनिषेधः स्यात्, अत्रापि कालस्यानहोरात्ररूपत्वात्, वैयधिकरण्ये तु त्रिप्रकारेऽपि कालसंबन्धे व्यावृत्तिर्भवति ।

परे वा ।। ५. ४. ८ ।।

कालस्य योऽवधिस्तद्वाचिन्युपपदे कालस्यैव परस्मिन् भागेऽनहोरात्रसंबन्धिनि य एष्यन्नर्थस्तत्र वर्तमानात् धातोरनद्यतनविहितः प्रत्ययो वा न भवति ।

आगामिनः संवत्सरस्याग्रहायण्याः परस्तात् द्विः सूत्रमध्येष्यामहे, अध्येतास्महे वा । प्रबन्धासत्तिविवक्षायामपि परत्वादयमेव विकल्पः–आगामिनः संवत्सरस्याग्रहायण्याः परस्तादविच्छिन्नं सूत्रमध्येष्यामहे, अध्येतास्महे वा । कालस्येत्येव–आ शत्रुञ्जयाद् गन्तव्येऽ-

स्मिन्नध्वनि वलभ्याः परस्तात् द्विरोदनं भोक्तास्महे । प्रबन्धासत्योस्तु नित्यं भविष्यन्ती-आ शत्रुञ्जयाद् गन्तव्येऽस्मिन्नध्वनि वलभ्याः परस्तादविच्छिन्नं सूत्रमध्येष्यामहे ।

पर इति किम् ? अर्वाग्भागे पूर्वेण नित्यं प्रतिषेधः । एष्यतीत्येव ? अतीते वत्सरे परस्तादाग्रहायण्याः सूत्रं युक्ता अध्यैमहि । अवधावित्येव ? योऽयमागामी निरवधिकः कालस्तस्य यत् परमाग्रहायण्यास्तत्र द्विरध्येतास्महे । अनहोरात्राणामित्येव ? योऽयं त्रिंशद्रात्र आगामी तस्य यः परः पञ्चदशरात्रस्तत्र युक्ता अध्येतास्महे ।।८।।

न्या० स०-परे वा-अयमेव विकल्प इति-न तु 'नानद्यतन' ५-४-५ इति नित्यं निषेधः । नित्यं भविष्यन्तीति-'नानद्यतन' ५-४-५ इति श्वस्तन्या निषेधात् ।

सप्तम्यर्थे क्रियातिपत्तौ क्रियातिपत्तिः ।। ५. ४. ९ ।।

सप्तम्या अर्थो निमित्तं हेतु-फलकथनादिका सामग्री । कुतश्चिद् वैगुण्यात् क्रियाया अतिपतनमनभिनिर्वृत्तिः-क्रियातिपत्तिः, तस्यां सत्यामेष्यत्यर्थे वर्तमानाद् धातोः सप्तम्यर्थे क्रियातिपत्तिर्विभक्तिर्भवति ।

दक्षिणेन चेदयास्यन्न शकटं पर्याभविष्यत्, यदि कमलकमाह्वास्यन्न शकटं पर्याभविष्यत्, अत्र दक्षिणगमनं कमलकाह्वानं च हेतुरपर्याभवनं फलम्, तयोः कुतश्चित् प्रमाणाद् भविष्यन्तीमनभिनिर्वृत्तिमवगम्यैवं प्रयुङ्क्ते । एवमभोक्ष्यत भवान् घृतेन यदि मत्समीपमागमिष्यत्, स यदि गुरूनुपासिष्यत शास्त्रान्तमगमिष्यत् ।।९।।

भूते ।। ५. ४. १० ।।

भूतेऽर्थे वर्तमानाद् धातोः क्रियातिपत्तौ सत्यां सप्तम्यर्थे क्रियातिपत्तिर्विभक्तिर्भवति । "सप्तम्युताप्योर्बाढे" (५-४-२१) इत्यारभ्य सप्तम्यर्थेऽनेन विधानम्, ततः प्राक् "वोतात् प्राक्" (५-४-११) इति विकल्पो वक्ष्यते ।

दृष्टो मया भवतः पुत्रोऽन्नार्थी चंक्रम्यमाणः; अपराश्चातिथ्यर्थी, यदि स तेन दृष्टोऽभविष्यत् उताभोक्ष्यत अप्यभोक्ष्यत, न तु दृष्टोऽन्येन पथा गत इति न भुक्तवान् ।।१०

न्या० स०-भूते-दृष्टोऽभविष्यदिति-अत्राश्रद्धाया गम्यमानत्वात् 'जातुयद्यदा' ५-४-१७ इति सप्तमीनिमित्तत्वम् ।

उताभोक्ष्यतेति-'सप्तम्युताप्योर्बाढे' ५-४-२१ इति सप्तम्यर्थः ।

वोतात् प्राक् ।। ५. ४. ११ ।।

"सप्तम्युताप्योर्बाढे" (५-४-२१) इत्यत्र यद् उतशब्दसंकीर्तनं ततः प्राक् सप्तमीनिमित्ते क्रियातिपत्तौ सत्यां भूतेऽर्थे वर्तमानाद् धातोर्वा क्रियातिपत्तिर्भवति ।

कथं नाम संयतः सन्ननागाढे तत्रभवान् आधायकृतमसेविष्यत, धिग् गर्हामहे ।

वावचनाद् यथाप्राप्तं च-कथं सेवते, धिग् गर्हामहे । उतात् प्रागिति किम् ? कालो यदभोक्ष्यत भवान् । भूत इत्येव ? एष्यति नित्यमेव ।।११।।

न्या० स०-वोतात् प्राक्-आधायकृतमिति-'अव्ययं प्रवृद्धादिभिः' ३-१-४८ इति सः। असेविष्यतेति-'कथमि सप्तमी च वा' ५-४-१३ इति सप्तम्यर्थः । यदभोक्ष्यतेति-अत्र 'सप्तमी यदि' ५-४-३४ इति सप्तम्यर्थता ततो भूते क्रियातिपत्तिः ।

क्षेपेऽपि-जात्वोर्वर्तमाना ॥ ५. ४. १२ ॥

भूत इति निवृत्तम्, क्षेपो-गर्हा, तस्मिन् गम्यमानेऽपि-जात्वोरुपपदयोर्धातोर्वर्तमाना विभक्तिर्भवति । कालसामान्ये विधानात् कालविशेषे विहिता अपि प्रत्ययाः परत्वादनेन बाध्यन्ते ।

अपि तत्रभवान् जन्तून् हिनस्ति, जातु तत्रभवान् भूतानि हिनस्ति, अपि संयतः सन्नागाढे तत्रभवानाधायकृतं सेवते, धिग् गर्हामहे । इह सप्तमीनिमित्ताभावात् क्रियातिपतने क्रियातिपत्तिर्नोदाह्रियते ।।१२।।

न्या० स०-क्षेपेऽपिजा-भूत इति निवृत्तमिति-क्रियातिपत्तिसंबद्धत्वात् भूतस्य ।

कथमि सप्तमी च वा ॥ ५. ४, १३ ॥

कथंशब्दे उपपदे क्षेपे गम्यमाने धातोः सर्वेषु कालेषु सप्तमी चकाराद् वर्तमाना च विभक्ती वा भवतः । वावचनाद् यथाप्राप्तं च ।

कथं नाम तत्रभवान् मांसं भक्षयेत्, मांसं भक्षयति, धिग् गर्हामहे, अन्याय्यमेतत् । पक्षे-अबभक्षत्, अभक्षयत्, भक्षयांचकार, भक्षयिता, भक्षयिष्यति । अत्र सप्तमीनिमित्तमस्तीति भूते क्रियातिपतने वा क्रियातिपत्तिर्भवति-कथं नाम तत्रभवान् मांसमभक्षयिष्यत्, भक्षयेत्, भक्षयति, अबभक्षत्, अभक्षयत्, भक्षयांचकार । भविष्यति तु क्रियातिपतने नित्यमेव क्रियातिपत्तिः-कथं नाम तत्रभवान् मांसमभक्षयिष्यत्, न तु वर्तमाना-सप्तमी-भविष्यन्तीश्वस्तन्यः । क्षेप इत्येव ? कथं नाम तत्रभवान् साधूनपूपुजत्, एवं-यथाप्राप्ति वर्तमानादयो भवन्ति ।।१३।।

किंवृत्ते सप्तमी-भविष्यन्त्यौ ॥ ५. ४. १४ ॥

किंवृत्ते उपपदे क्षेपे गम्यमाने धातोः सप्तमी-भविष्यन्त्यौ भवतः, सर्वविभक्त्यपवादः ।

किं तत्रभवाननृतं ब्रूयात्, किं तत्रभवान् अनृतं वक्ष्यति, को नाम कतरो नाम कतमो नाम यस्मै तत्रभवाननृतं ब्रूयात्, अनृतं वक्ष्यति । अत्रापि सप्तमीनिमित्तमस्तीति भूते क्रियातिपतने वा क्रियातिपत्तिः-किं तत्रभवाननृतमवक्ष्यत्, पक्षे-ब्रूयात् वक्ष्यति च । भविष्यति तु नित्यम्-तत्रभवाननृतमवक्ष्यत् । क्षेप इत्येव ? किं तत्रभवान् देवानपूपुजदित्यादि ।।१४।।

अश्रद्धाऽमर्षेऽन्यत्रापि ॥ ५. ४. १५ ॥

क्षेप इति निवृत्तम्, अश्रद्धा-असंभावना, अमर्षोऽक्षमा, अन्यत्र-अकिंवृत्ते, अपिशब्दात् किंवृत्ते चोपपदेऽश्रद्धाऽ-मर्षयोर्गम्यमानयोर्धातोः सप्तमी-भविष्यन्त्यौ भवतः । सर्वविभक्त्यपवादः, वचनभेदाद् यथासंख्यं नास्ति ।

अश्रद्धायाम्-न श्रद्दधे, न संभावयामि नावकल्पयामि तत्रभवान् नामाऽदत्तं गृह्णीयात्, ग्रहीष्यति । किंवृत्तेऽपि-न श्रद्दधे न संभावयामि नावकल्पयामि किं तत्रभवान् नामाऽदत्तमाददीत, अदत्तमादास्यते । अमर्षे-न मर्षयामि न क्षमे, धिग् मिथ्या, नैतदस्ति, तत्रभवान् नामाऽदत्तं गृह्णीयात्, अदत्तं ग्रहीष्यति । किंवृत्तेऽपि-न मर्षयामि न क्षमे, धिग् मिथ्या, नैतदस्ति, किं तत्रभवानदत्तं गृह्णीयात्, अदत्तं ग्रहीष्यति । अत्रापि सप्तमीनिमित्तमस्तीति भूते क्रियातिपतने वा क्रियातिपत्तिर्भवति-न श्रद्दधे न मर्षयामि तत्रभवानदत्तमग्रहीष्यत्, पक्षे-गृह्णीयात् ग्रहीष्यति च । भविष्यति तु नित्यम्-न श्रद्दधे न मर्षयामि तत्रभवानदत्तमग्रहीष्यत् । अन्यत्रापीति किम्? यदाऽर्थात् प्रकरणाद् वाऽश्रद्धाऽमर्षयोर्गम्यमानत्वात् तद्वाचकेनाप्युपपदेन धातोर्न योगस्तदा मा भूत् ॥१५॥

न्या० स०-अश्रद्धामर्षे:-अन्यत्रापीति अपिशब्दसमुच्चितेन किंवृत्तेन द्वित्वात् अश्रद्धामर्षाभ्यां सहात्र सूत्रे यथासंख्यं न, 'राष्ट्रक्षत्रियात्' ३-१-११४ इति सूत्रेऽपत्याधिकारे सति राज्ञ्यपीति कर्त्तव्ये अपत्यग्रहणात्, अन्यथा अपिशब्दसमुच्चितेनाधिकृतेनाऽपत्येन सिद्धत्वादपत्यग्रहणं व्यर्थं स्यात् ।

अन्यत्रापीति किमिति-पूर्वसूत्रात् किंवृत्तानुवृत्त्यभावात् किंवृत्तेऽकिंवृत्ते च भविष्यति, किमन्यत्रापीत्यनेनेत्याशङ्का? तद्वाचकेनापीति-यथा किंवृत्तेऽकिंवृत्ते च विभक्ती स्तो न तथाऽश्रद्धामर्षयोर्गम्यमानयोः किन्तु पदैः प्रयुज्यमानयोरेव एतच्चास्मिन्नेव सूत्रे ज्ञातव्यं नोत्तरत्र यतः 'शेषे भविष्यन्त्ययदौ' ५-४-२० इत्यत्र आश्चर्यं, यदि स भुञ्जीत चित्रं यदि सोऽधीयीत, अत्राऽश्रद्धाप्यस्तीति कथयिष्यति ।

किंकिलाऽस्त्यर्थयोर्भविष्यन्ती ॥ ५. ४. १६ ॥

किंकिलेति समुदायशब्देऽस्त्यर्थे च शब्दे उपपदेऽश्रद्धाऽमर्षयोर्गम्यमानयोर्धातोर्भविष्यन्ती भवति । सप्तम्यपवादः । वचनभेदादश्रद्धामर्ष इति यथासंख्यं नास्ति ।

न श्रद्दधे न मर्षयामि, किंकिल नाम तत्रभवान् परदारानुपकरिष्यते, "गन्धना०" (३-३-७६) इति सूत्रेण साहसे आत्मनेपदम् । अस्त्यर्था अस्ति-भवति-विद्यतयः । न श्रद्दधे न मर्षयामि अस्ति नाम, भवति नाम, विद्यते नाम तत्रभवान् परदारानुपकरिष्यते । अत्र सप्तमीनिमित्तं नास्तीति क्रियातिपतने क्रियातिपत्तिर्न भवति ॥१६॥

न्या० स०-किंकिला-सप्तम्यपवाद इति-अश्रद्धामर्षे इति प्राप्तायाः, किलशब्द प्रसिद्धिद्योतने वाक्यालंकारे अमर्षद्योतने कोमलामन्त्रणे, एवं किंकिलशब्दोऽपि ।

जातु-यद्-यदा-यदौ सप्तमी ॥ ५. ४. १७ ॥

'जातु यद् यदा यदि' इत्येतेषूपपदेषु अश्रद्धाऽमर्षयोर्गम्यमानयोर्धातोः सप्तमी भवति । भविष्यन्त्यपवादः ।

न श्रद्दधे न क्षमे-जातु तत्रभवान् सुरां पिबेत्, यद् तत्रभवान् सुरां पिबेत्, यदा तत्रभवान् सुरां पिबेत्, यदि तत्रभवान् सुरां पिबेत् । अत्र सप्तमीनिमित्तमस्तीति भूते क्रियातिपतने वा क्रियातिपत्तिः-न श्रद्दधे न क्षमे जातु तत्रभवान् सुरामपास्यत्, पक्षे-पिबेत् । भविष्यति तु नित्यम्-जातु तत्रभवान् सुरामपास्यत् ॥१७॥

न्या० स०-जातुयद्यदा-भविष्यन्त्यपवाद इति-'अश्रद्धामर्षे' ५-४-१५ इति प्राप्तायाः ।

क्षेपे च यच्च-यत्रे ॥ ५. ४. १८ ॥

यच्च-यत्रशब्दयोरुपपदयोः क्षेपेऽश्रद्धाऽमर्षयोश्च गम्यमानयोर्धातोः सप्तमी भवति । अश्रद्धाऽमर्षयोर्भविष्यन्त्याः, क्षेपे तु सर्वविभक्तीनामपवादः ।

धिग् गर्हामहे-यच्च तत्रभवानस्मानाक्रोशेत्, यत्र तत्रभवानस्मानाक्रोशेत्, न श्रद्दधे न क्षमे-यच्च तत्रभवान् परिवादं कथयेत्, यत्र तत्रभवान् परिवादं कथयेत् । अत्रापि सप्तमीनिमित्तमस्तीति भूते क्रियातिपतने वा क्रियातिपत्तिर्भवति-धिग् गर्हामहे न श्रद्दधे न क्षमे-यच्च यत्र वा तत्रभवानस्मानाक्रोक्ष्यत्, पक्षे-आक्रोशेत् । भविष्यति तु नित्यम्-धिग् गर्हामहे, न श्रद्दधे क्षमे-यच्च यत्र वा तत्रभवान् परिवादमकथयिष्यत् ॥१८॥

चित्रे ॥ ५. ४. १९ ॥

चित्रमाश्चर्यम्, तस्मिन् गम्यमाने यच्च यत्रयोरुपपदयोर्धातोः सप्तमी भवति । सर्वविभक्त्यपवादः ।

चित्रमाश्चर्यमद्भुतं विस्मनीयं-यच्च तत्रभवानकल्प्यं सेवेत, यत्र तत्रभवानकल्प्यं सेवेत । अत्रापि सप्तमीनिमित्तमस्तीति भूते क्रियातिपतने वा क्रियातिपत्तिर्भवति-चित्रं यच्च यत्र वा तत्र भवानकल्प्यमसेविष्यत्, पक्षे-सेवेत । भविष्यति तु नित्यम्-चित्रं वा यच्च वा तत्रभवानकल्प्यमसेविष्यत ॥१९॥

न्या० स०-चित्रे-सर्वविभक्त्यपवाद इति-कालस्याऽनिर्देशात् त्रिष्वपि कालेष्वस्य प्रवर्त्तनात् ।

शेषे भविष्यन्त्ययदौ ॥ ५. ४. २० ॥

शेषे यच्च-यत्राभ्यामन्यस्मिन्नुपपदे चित्रे गम्यमाने धातोर्भविष्यन्ती विभक्तिर्भवति, अयदौ-यदिशब्दश्चेन्न प्रयुज्यते । सर्वविभक्त्यपवादः ।

चित्रमाश्चर्यमन्धो नाम पर्वतमारोक्ष्यति, बधिरो नाम व्याकरणं श्रोष्यति, मूको नाम धर्मं कथयिष्यति । अत्र सप्तमीनिमित्तं नास्तीति न क्रियातिपत्तिः । शेष इति किम् ?

यच्च-यत्रयोः पूर्वेण सप्तम्येव । अयदाविति किम् ? आश्चर्यं यदि स भुञ्जीत, चित्रं यदि सोऽधीयीत्त, अत्र अश्रद्धाऽप्यस्तीति "जातु-यद्-यदा-यदौ सप्तमी" (५-४-१७) इत्यनेन सप्तमी ॥२०॥

न्या० स०-शेषे भविष्य पूर्वेण सप्तम्येवेति-'चित्रे' ५-४-१९ इत्यनेन । अश्रद्धाप्यस्तीति-न केवलं यदिशब्दयोगः ।

सप्तम्युताऽप्योर्बाढे ॥ ५. ४. २१ ॥

बाढेऽर्थे वर्तमानयोरुताऽप्योपपदयोर्धातोः सप्तमी भवती । सर्वविभक्त्यपवादः ।

उत कुर्यात्, अपि कुर्यात्, बाढं करिष्यतीत्यर्थः । बाढ इति किम् ? उतः दण्डः पतिष्यति ?, अपिधास्यति द्वारम्, प्रश्नः पिधानं च यथा क्रमं गम्यते । वोतात् प्रागिति निवृत्तम् । इतः प्रभृति सप्तमीनिमित्ते सति भूते भविष्यति च क्रियातिपतने नित्यं क्रियातिपत्तिः-उताऽकरिष्यत्, अप्यकरिष्यत् ॥२१॥

न्या० स०-सप्तम्युताप्यो-बाढं करिष्यतीति एवमन्या अपि विभक्तयो द्रष्टव्याः, सन्निहितत्वाच्च भविष्यन्त्येव दर्शिता ।

संभावनेऽलमर्थे तदर्थानुक्तौ ॥ ५. ४. २२ ॥

अलमोऽर्थः सामर्थ्यं तद्विषये संभावने-श्रद्धाने गम्यमाने तदर्थस्यालमर्थार्थस्य शब्दस्यानुक्तावप्रयोगे धातोः सप्तमी भवति । सर्वविभक्त्यपवादः ।

शक्यसंभावने-अपि मासमुपवसेत्, अपि पुण्डरिकाध्ययनमह्नाऽधीयीत, अपि स्कन्दकोद्देशं यामेनाधीयीत । अशक्यसंभावने-अपि शिरसा पर्वतं भिन्द्यात्, अपि खारीपाकं भुञ्जीत, अपि समुद्रं दोर्भ्यां तरेत् । अलमर्थं इति किम् ? निदेशस्थायी मे जिनदत्तः प्रायेण गमिष्यति । तदर्थानुक्ताविति किम् ? वसति चेत् सुराष्ट्रेषु वन्दिष्यतेऽलमुज्जयन्तम्, शक्तश्चैत्रो धर्मं करिष्यति । अत्र सप्तमीनिमित्तमस्तीति भूते भविष्यति च क्रियातिपतने नित्यं क्रियातिपत्तिर्भवति-अपि पर्वतं शिरसाऽभेत्स्यत् । तथा 'काकिन्या हेतोरपि मातुः स्तनं छिन्द्यात्' इत्यत्र "क्षेपेऽपि-जात्वोर्वर्तमाना" (५-४-१२) इति वर्तमानां बाधित्वा, चित्रमाश्चर्यमपि शिरसा पर्वतं भिन्द्यादित्यत्र तु "शेषे भविष्यन्त्ययदौ" (५-४-२०) इति भविष्यतीं च बाधित्वा परत्वादनेन सप्तम्येव भवति ॥२२॥

अयदि श्रद्धाधातौ नवा ॥ ५. ४. २३ ॥

श्रद्धा-संभावना, तदर्थे धातावुपपदेऽलमर्थविषये संभावने गम्यमाने धातोः सप्तमी वा भवति, अयदि-यच्छब्दश्चेन्न प्रयुज्यते । पूर्वेण नित्यं प्राप्ते विकल्पः ।

श्रद्दधे संभावयामि अवकल्पयामि-भुञ्जीत भवान् । पक्षे यथाप्राप्तम्-भोक्ष्यते भवान्, अभुक्त भवान्, अभुङ्क्त भवान् । अयदीति किम् ? संभावयामि यद् भुञ्जीत भवान्, श्रद्धाधाताविति किम् ? अपि शिरसा पर्वतं भिन्द्यात्, उभयत्र पूर्वेण नित्यं सप्तमी ।

अत्रापि सप्तमीनिमित्तमस्तीति भूते भविष्यति च क्रियातिपतने नित्यं क्रियातिपत्तिः-संभावयामि नाभोक्ष्यत भवान् ।।२३।।

न्या० स०-अयदि श्रद्धा-यच्छब्दश्चेन्न प्रयुज्यते इति-क्रियाविशेषणत्वेन चेद् यच्छब्दो न प्रयुज्यते, हेत्वर्थे तु भवत्येव ।

पूर्वेण नित्यं प्राप्ते इति-'संभावने अलमर्थे' ५-४-२२ इत्यनेन ।

सतीच्छार्थात् ॥ ५. ४. २४ ॥

सति-वर्तमानेऽर्थे वर्तमानादिच्छार्थाद् धातोः सप्तमी वा भवति, पक्षे तु वर्तमानैव ।

इच्छेत् इच्छति, उश्यात् वष्टि, कामयेत कामयते, वाञ्छेत् वाञ्छति । "क्षेपेऽपिजात्वोर्वर्तमाना" (५-४-१२) इत्यादावपि परत्वादयमेवविकल्पः-अपि संयतः सन्नकल्प्यं सेवितुमिच्छेत्, अपि संयतः सन्नकल्प्यं सेवितुमिच्छति, धिग् गर्हामहे । भूत-भविष्यतोरभावात् सत्यपि सप्तमीनिमित्ते सत्यपि च क्रियातिपतने क्रियातिपत्तिर्न भवति ।।२४।।

वर्त्स्यति हेतु-फले ॥ ५. ४. २५ ॥

हेतुः कारणं, फलं कार्यम्, हेतुभूते फलभूते च वर्त्स्यत्यर्थे वर्तमानाद् धातोः सप्तमी वा भवति ।

यदि गुरूनुपासीत शास्त्रान्तं गच्छेत्, यदि गुरूनुपासिष्यते शास्त्रान्तं गमिष्यति, अत्र गुरूपासनं हेतुः, शास्त्रान्तगमनं फलम् । वर्त्स्यतीति किम् ? दक्षिणेन चेद् याति न शकटं पर्याभवति । केचित् तु वा सर्वेषु कालेषु सर्वविभक्त्यपवादं सप्तमीं मन्यन्ते-दक्षिणेन चेद् यायान्न शकटं पर्याभवेत्, दक्षिणेन चेद् यास्यति न शकटं पर्याभविष्यति, दक्षिणेन चेद् याति न शकटं पर्याभवति, दक्षिणेन चेदयासीन्न शकटं पर्याभूत । अत्रापि सप्तमीनिमित्तमस्तीति भविष्यति क्रियातिपतने क्रियातिपत्तिः-दक्षिणेन चेदयास्यन्न शकटं पर्याभविष्यत् । कथम्-

"अमङ्क्ष्यद् वसुधा तोये, च्युतशैलेन्द्रबन्धना ।
नारायण इव श्रीमान् यदि त्वं नाधरिष्यथाः ।।"

इति ? वर्त्स्यत्येवायं प्रयोगः । केचित् तु भूत इच्छन्ति । हनिष्यतीति पलायिष्यते वर्षिष्यतीति धाविष्यतीत्यत्र तु हेतुफलभावस्येतिशब्देनैव द्योतितत्वात् सप्तमी न भवति ।।२५।।

न्या० स०-वर्त्स्यति हेतुफले-केचित्तु भूते इति-भूते हेतुफले सप्तमीमिच्छन्ति इत्यर्थः । हनिष्यतीति पलायिष्यते इति-बहुलाधिकाराद्धेतुहेतुमद्भावे शत्रानशौ न भवत इति ।

इतिशब्देनैव द्योतितत्वादिति-सप्तम्या हि हेतुफलभाव एव द्योत्यते स च इतिशब्देनैव द्योतितः ।

कामोक्तावकच्चिति ॥ ५. ४. २६ ॥

वेति निवृत्तम् । काम इच्छा, तस्योक्तिः प्रवेदनं तस्यां गम्यमानायां धातोः सप्तमी भवति, अकच्चिति-न चेत् कच्चिच्छब्दः प्रयुज्यते । सर्वविभक्त्यपवादः ।

कामो मे भुञ्जीत भवान्, इच्छा मे, अभिप्रायो मे, श्रद्धा मे, अभिलाषो मे, अधीयीत भवान् । अकच्चितीति किम् ? कच्चिज्जीवति मे माता । अत्र सप्तमीनिमित्त-मस्तीति भूते भविष्यति च क्रियातिपतने नित्यं क्रियातिपत्तिः-कामो मे भोक्ष्यत भवान् ।२६।

न्या० स०-कामोक्ता-वेति निवृत्तमिति-कामप्रवेदने विभक्त्यन्तरप्रयोगादर्शनात् ।

इच्छार्थे सप्तमी-पञ्चम्यौ ॥ ५. ४. २७ ॥

इच्छार्थे धातावुपपदे कामोक्तौ गम्यमानायां धातोः सप्तमी-पञ्चम्यौ भवतः । सर्व-विभक्त्यपवादौ ।

इच्छामि भुञ्जीत भवान्, इच्छामि भुङ्क्तां भवान्, कामये, प्रार्थये, अभिला-षामि, वश्मि, अधीयीत भवान्, अधीतां भवान् । कामोक्तावित्येव ? इच्छया इच्छतः, कामयमानः कामयमानस्य भुङ्क्ते, नात्र प्रयोक्तुः कामोक्तिः । अत्र सत्यपि सप्तमीनिमित्ते इच्छार्थ उपपदे कामोक्तौ क्रियातिपतनस्यासामर्थ्येनासंभवात् क्रियातिप्रत्तिर्न भवति । केचित् तु "सप्तम्युताऽप्योर्वाढे" (५-४-२१) इत्यत आरभ्य यत्र सप्तम्या एव केवलाया निमित्तमस्ति न विभक्त्यन्तरसहितायास्तत्रैव क्रियातिपतने क्रियातिपत्तिर्भवतीति मन्यन्ते ॥२७॥

न्या० स०-इच्छार्थे सप्तमी-असामर्थ्येनासंभवादिति-कामप्रवेदनस्य क्रियातिपतनस्य च परस्परं विरुद्धत्वात् संबन्धाभावेनेत्यर्थः ।

विधि-निमन्त्रणाऽऽमन्त्रणाऽधीष्ट-संप्रश्न-प्रार्थने ॥ ५. ४. २८ ॥

विध्यादिविशिष्टेषु कर्तृ-कर्म-भावेषु प्रत्ययार्थेषु धातोः सप्तमी-पञ्चम्यौ भवतः, सर्वप्रत्ययापवादौ । विधिरप्राप्ते नियोगः, क्रियायां प्रेरणेति यावत्; अज्ञातज्ञापनमित्येके ।

कटं कुर्यात् करोतु भवान्, प्राणिनो न हिंस्यात् न हिनस्तु भवान् । प्रेरणायामेव यस्यां प्रत्याख्याने प्रत्यवायस्तन्निमन्त्रणम्, इच्छामन्तरेणापि नियोगतः कर्तव्यमिति यावत् । द्विसंध्यमावश्यकं कुर्यात् करोतु भवान्, सामायिकमधीयीत अधीतां भवान् । यत्र प्रेरणायामेव प्रत्याख्याने कामचारस्तदामन्त्रणम् । इहासीत आस्तां भवान्, इह शयीत शेतां भवान्, यदि रोचते । प्रेरणैव सत्कारपूर्विकाऽधीष्टम् अध्येषणम् । तत्त्वज्ञानं नः प्रसीदेयुः प्रसीदन्तु गुरुपादाः, व्रतं रक्षेत् रक्षतु भवान् । संप्रश्नः संप्रधारणा । किन्नु खलु भो व्याकरणमधीयीय अध्ययै, उत सिद्धान्तमधीयीय अध्ययै । प्रार्थनं याच्ञा । प्रार्थना मे व्याकरणमधीयीय अध्ययै, तर्कमधीयीय अध्ययै ॥२८॥

न्या० स०-विधिनिमन्त्रणा-नन्वत्र निमन्त्रणादीनां किमर्थमुपादानं विधिः क्रियायां प्रेरणेति यावदित्युक्तं ततः सा प्रेरणा क्वचिन्निमन्त्रणरूपा क्वचिदामन्त्रणरूपेति यथा प्रयोक्तृव्यापार इत्यत्र व्यापारः प्रेषणाध्येषणादिरूप इति विधिग्रहणेनैव सिद्धम् ? उच्यते,-

यद्यपि वृत्तौ व्याख्यानेनापि सिध्यति तथापि सूत्रे एषामुपादानं सुखावसेयं भवतीति। तत्वज्ञानमित्यादि-तत्वज्ञानं कर्मतापन्नं नोऽस्मभ्यं प्रसादपूर्वकं दद्युः प्रसीदेयुः गुरुपादाः, अथवा तत्वज्ञानरूपक्रियाविशेषणमिदम् नोऽस्माकं प्रसीदेयुः।

प्रैषा-ऽनुज्ञा-ऽवसरे कृत्य-पञ्चम्यौ ॥ ५. ४. २९ ॥

प्रैषादिविशिष्टे कर्त्रादावर्थे धातोः कृत्यप्रत्ययाः पञ्चमी च विभक्तिर्भवति। न्यत्कारपूर्विका प्रेरणा-प्रैषः, अनुज्ञा-कामचारानुमतिः, प्रतिसर्ग इति यावत्। अवसरः-प्राप्तकालता निमित्तभूतकालोपनतिः।

भवता खलु कटः कार्यः कर्तव्यः करणीयः कृत्यः, भवान् कटं करोतु, भवान् हि प्रेषितोऽनुज्ञातो भवतोऽवसरः कटकरणे। यद्यपि कृत्याः सामान्येन भाव-कर्मणोर्विहिता-स्तथापि सर्वप्रत्ययापवादभूतया पञ्चम्या बाध्येरन्निति पुनर्विधीयन्ते। अनुज्ञायां केचित् सप्तम्येवेत्याहुः-अतिसृष्टो भवान् ग्रामं गच्छेत्॥२९॥

न्या० स०-प्रैषानुज्ञावसरे-कामचारानुमतिरिति-केनचित् पुंसा कश्चित् पृष्टो यदुताहं कटं करोमि ततस्तेन कटमयं करोतु मा वेति मनसिकृत्वा एवमुच्यते कुरु इति, ततः स्वेच्छाप्रच्छकस्य कदाचिदेवमुच्यतेऽवश्यं कुरु, ततो नियोगः; प्रच्छकस्यैवंविधानुज्ञाऽत्र सूत्रे न गृह्यते।

सप्तमी चोर्ध्वमौहूर्तिके ॥ ५. ४. ३० ॥

ऊर्ध्वं मुहूर्तादुपरि मुहूर्तस्य भवोऽर्थ ऊर्ध्वमौहूर्तिकः, तस्मिन् वर्तमानाद् धातोः प्रैषादिषु गम्यमानेषु सप्तमी कृत्याः पञ्चमी च भवन्ति। ऊर्ध्वं मुहूर्तात् कटं कुर्याद् भवान्, कार्यः कर्तव्यः करणीयः कृत्यः कटो भवता, कटं करोतु भवान्, भवान् हि प्रेषितोऽनुज्ञातो भवतोऽवसरः कटकरणे॥३०॥

न्या० स०-सप्तमी चोर्ध्व-ऊर्ध्वमौहूर्त्तिक इति-कालादन्यत्र 'वर्षाकालेभ्यः' ६-३-८० इति न सिध्यति इत्यध्यात्मादिभ्य इकण्।

स्मे पञ्चमी ॥ ५. ४. ३१ ॥

स्मशब्द उपपदे प्रैषादिषु गम्यमानेषु उर्ध्वमौहूर्तिकेऽर्थे वर्तमानाद् धातोः पञ्चमी भवति। कृत्यानां सप्तम्याश्चापवादः।

ऊर्ध्वं मुहूर्ताद् भवान् कटं करोतु स्म, भवान् हि प्रेषितोऽनुज्ञातो भवतोऽवसरः कटकरणे इति॥३१॥

न्या० स० स्मे पञ्चमी-स्मशब्दः स्पष्टार्थः।

अधीष्टौ ॥ ५. ४. ३२ ॥

ऊर्ध्वमौहूर्तिक इति निवृत्तम्, पृथग्योगात्। स्म उपपदेऽधीष्टावध्येषणायां गम्य-

मानायां धातोः पञ्चमी भवति । सप्तम्यपवादः ।

अङ्ग स्म विद्वन्नणुव्रतानि रक्ष, शिक्षाः प्रतिपद्यस्व ॥३२॥

न्या० स०-अधोष्टौ-पृथग्योगादिति-स्मेऽधीष्टौ च पञ्चमीत्यकरणात् । **सप्तम्यपवाद इति**-अधीष्टावर्थे 'विधिनिमन्त्रण' ५-४-२८ इति प्राप्तायाः । अङ्गशब्दः प्रकाशे कोमलामन्त्रणे वा ।

काल-वेला-समये तुम् वाऽवसरे ॥ ५. ४. ३३ ॥

काल-वेला-समयशब्देषूपपदेष्ववसरे गम्यमाने धातोस्तुम् प्रत्ययो वा भवति ।

कालो भोक्तुम्, वेला भोक्तुम्, समयो भोक्तुम् । वावचनाद् यथाप्राप्तं च-कालो भोक्तव्यस्य । 'ऊर्ध्वं मुहूर्तात् कालो भोक्तुम्, ऊर्ध्वं मुहूर्ताद् भोक्तुं स्म कालः, अङ्ग स्म राजन् ! भोक्तुं काल' इत्येतेषु परत्वात् तुमेव । अवसर इति किम् ? कालः पचति भूतानि, कालोऽत्र द्रव्यं न त्ववसरः ॥३३॥

न्या० स०-कालवेला-कालोभोक्तुमिति-'प्रैषानुज्ञा' ५-४-२९ इति प्राप्तेऽयं विकल्प इति भुज्यतां भोक्तव्यस्य चेति वाक्ये तुमि षष्ठ्येकवचनस्य 'अव्ययस्य' ३-२-७ इति लुप् । **कालो भोक्तव्यस्येति**-प्रैषादि सूत्रेण तव्य इति भुज्यतामिति वाक्यं, विकल्पपक्षे प्रैषादीति प्रवर्त्तत इत्यत्र सूत्रे कालो भोजनस्येति वालितम् । **परत्वात्तुमेवेति**-उर्ध्वं मुहूर्तात् कालो भोक्तुमित्यादिप्रयोगत्रये । ननु तुम् विकल्पेन भवति तत्कथं तुमेवेत्युक्तम् ? उच्यते,-विकल्पेन तुमेव भवति नानडादयः, 'सप्तमी चोर्ध्वे' ५-३-१२ 'स्मे पञ्चमी' ५-४-३१ इति 'अधीष्टौ' ५-४-३२ इति च यथाक्रमं प्रवर्त्तत एव ।

सप्तमी यदि ॥ ५. ४. ३४ ॥

यदि-यच्छब्दप्रयोगे सति कालादिषूपपदेषु धातोः सप्तमी भवति । तुमोऽपवादः ।

कालो यदधीयीत भवान्, वेला यद् भुञ्जीत भवान्, समयो यच्छयीत भवान् । बहुलाधिकारात् 'कालो यदध्ययनस्य, वेला यद् भोजनस्य, समयो यच्छयनस्य' इत्याद्यपि भवति ॥३४॥

न्या० स०-सप्तमी यदि-इत्याद्यपि भवतीति-यच्छब्दप्रयोगेऽनेन सप्तमी विहितेति अनट् न प्राप्नोति, बाहुलकात् तु सोऽपि भवतीत्यर्थः ।

शक्तार्हे कृत्याश्च ॥ ५. ४. ३५ ॥

शक्तेऽर्हे च कर्तरि गम्यमाने धातोः कृत्याः सप्तमी च भवति ।

भवता खलु भारो वाह्यः, वोढव्यः, वहनीयः, उह्येत, भवान् भारं वहेत्; भवान् हि शक्तः । अर्हे-भवता खलु कन्या वाह्या, वोढव्या, वहनीया, भवान् खलु कन्यां वहेत्; भवता खलु छेदसूत्रं वाह्यम्, वोढव्यम्, वहनीयम्, भवान् खलु च्छेदसूत्रं वहेत्; भवानेत-

दर्हति । सप्तम्या बाधो मा भूदिति कृत्यग्रहणम् । बहुवचनमिहोत्तरत्र च यथासंख्य-निवृत्त्यर्थम् ।।३५।।

न्या० स०-शक्तार्हे-गम्यमाने इति-न तु वाच्य एवेत्यर्थः । भवान् खलु कन्यां वहेदिति-अत्रार्हे कर्त्तरि वाच्ये व्यक्तिव्याख्यानादनेन सप्तमी, अन्यथाऽर्हे कर्त्तरि 'अर्हे तृच्' ५-४-३७ इति परत्वात् तृजेव स्यात्, भावकर्म्मणोरस्य चरितार्थत्वात् । यथासंख्यनिवृत्त्यर्थमिति-ननु समुच्चीयमानेन सह यथासंख्यस्य 'राष्ट्रक्षत्रिय' ३-१-११४ इत्यत्रापत्यग्रहणेन निरस्तत्वात् व्यर्थं बहुवचनम् ? सत्यं,-ज्ञापकज्ञापिका विधयो ह्यनित्या इति न्यायज्ञापनार्थम् ।

णिन् चाऽऽवश्यकाऽधमर्ण्ये ।। ५. ४. ३६ ।।

अवश्यंभाव आवश्यकम्, ऋणेऽधमोऽधमर्णः, तस्य भाव आधमर्ण्यम् । आवश्यके आधमर्ण्ये च गम्यमाने कर्तरि वाच्ये धातोर्णिन् कृत्याश्च भवन्ति ।

अवश्यं करोतीति-कारी, हारी । यदा त्ववश्यमोऽपि प्रयोग उभाभ्यामपि द्योतनात् तदा मयूरव्यंसकादित्वात् समासः-अवश्यंकारी, अवश्यंहारी । अवश्यशब्दप्रयोगे तु-अवश्यकारी, अकारान्तोऽपि ह्यनव्ययमवश्यशब्दोऽस्ति । अवश्यं गेयो गाथको गीतस्य, अवश्यं भव्यश्चैत्रः । आधमर्ण्ये-शतं दायी, सहस्रं दायी, कारी मे कटमसि, हारी मे भारमसि, गेयो गाथानाम् । णिना बाधो मा भूदिति कृत्यविधानम् । कृत्वाच्च कर्तरि णिनो विधानात् कृत्यानामपि कर्तर्येव विधानम्, भाव-कर्मणोस्तु सामान्येन विधानात् सिद्धा एव बाधकाभावात् ।।३६।।

न्या स०-णिन् चावश्य-अवश्यं करोतीत्यादीनि वाक्यानि सामान्यविशेषभावेन उदाहारिषत अवश्यं भावे तु गम्यमाने नित्यमेव णिन् कृत्याश्च, वाक्यं त्ववश्यं विधायीत्यादि धात्वन्तरेण कार्यम् । कर्त्तर्येव विधानमिति-ये पूर्वं 'भव्यगेय' ५-१-७ इत्यादिषु कर्त्तरि विहितास्त एवेह ज्ञायन्ते इत्यर्थः, यद्वा भावकर्म्मणोरपि ये विहितास्तेऽत्र कर्त्तरि भवन्तीत्यर्थः । बाधकाभावादिति-कर्त्तर्येव णिना बाध्यन्ते, न भावकर्म्मणोः ।

अर्हे तृच् ।। ५. ४. ३७ ।।

अर्हे कर्तरि वाच्ये धातोस्तृच् प्रत्ययो भवति । भवान् कन्याया वोढा, भवान् खलु च्छेदसूत्रस्य वोढा । सप्तम्या बाधा मा भूदित्यर्हे तृज्विधानम् ।।३७।।

न्या० स०-अर्हे तृच् सप्तम्या बाधा माभूदिति-'शक्तार्हे' ५-४-३५ इति विहितया, सप्तम्येत्युपलक्षणं कर्तृ विहितैः कृत्यैरपि बाधा माभूदिति तृज्विधानम् ।

आशिष्याशीःपञ्चम्यौ ।। ५. ४. ३८ ।।

आशासनमाशीः, आशीर्विशिष्टेऽर्थे वर्तमानाद् धातोराशीः-पञ्चम्यौ विभक्ती भवतः ।

जीयात्, जीयास्ताम्, जीयासुः; जयतात्, जयताम्, जयन्तु । आशिषीति किम् ?

चिरं जीवति मैत्रः । कश्चित् तु समर्थनायां पञ्चमीमिच्छति, परैरशक्यस्य वस्तुनोऽध्यवसायः समर्थना, कश्चिदाह-समुद्रः शोषयितुमशक्यः, स आह-समुद्रमपि शोषयाणि, पर्वतमप्युत्पाटयानि ।।३८।।

न्या० स०-आशिष्याशीः-चिरं जीवतीति-चिर इत्यकारान्तो वा 'कालाध्व' २-२-२३ इति कर्म्म ।

माङ्यद्यतनी ।। ५. ४. ३९ ।।

माङ्युपपदे धातोरद्यतनी भवति । सर्वविभक्त्यपवादः ।

मा कार्षीदधर्मम्, मा हार्षीत् परस्वम् । कथं 'मा भवतु तस्य पापं, मा भविष्यति' इति ? असाधुरेवायम् । केचिदाहुरङितो माशब्दस्यायं प्रयोगः ।।३९।।

न्या० स०-माङ्यद्यतनी-केचिदिति-स्वमतेऽप्यङिन्माशब्दप्रयोगोऽस्ति किंतु क्रियायोगेऽङिन्माशब्दस्य प्रयोगो नेष्यते अतः केचिदाहुरित्युक्तम् ।

सस्मे ह्यस्तनी च ।। ५. ४. ४० ।।

स्मशब्दसहिते माङ्युपपदे धातोर्ह्यस्तनी चकाराद्यतनी च भवति ।

मा स्म करोत्, मा स्म कार्षीत्, मा चैत्र ! स्म हरः परद्रव्यम्, मा चैत्र ! स्म हार्षीः परद्रव्यम् ।।४०।।

न्या० स०-सस्मे ह्यस्तनी च-मा स्म करोदिति-माशब्देन निषेध उच्यते, स्मशब्देन च स एव द्योत्यते ।

धातोः संबन्धे प्रत्ययाः ।। ५. ४. ४१ ।।

धातुशब्देन धात्वर्थ उच्यते, धात्वर्थानां संबन्धे-विशेषणविशेष्यभावे सति, अयथाकालमपि प्रत्ययाः साधवो भवन्ति ।

विश्वदृश्वाऽस्य पुत्रो भविता, कृतः कटः श्वो भविता, भावि कृत्यमासीत् । विश्वदृश्वेति भूतकालः प्रत्ययो भवितेति भविष्यत्कालेन प्रत्ययेनाभिसंबध्यमानः साधुर्भवति । एवं कृतः कटः श्वो भवितेति । भावि कृत्यमासीदित्यत्र तु भावीति भविष्यत्कालः प्रत्यय आसीदिति भूतकालेन प्रत्ययेनाभिसंबध्यमानः साधुर्भवति । विशेषणं गुणत्वाद् विशेष्यकालमनुरुध्यते, तेन विपर्ययो न भवति । तथा त्याद्यन्तमपि यदाऽपरं त्याद्यन्तं प्रति विशेषणत्वेनोपादीयते तदा तस्यापि समुदायवाक्यार्थापेक्षया कालान्यत्वं भवत्येव ।

"साटोपमुर्वीमनिशं नदन्तो, यैः प्लावयिष्यन्ति समन्ततोऽमी ।
तान्येकदेशान्निभृतं पयोधेः, सोऽम्भांसि मेघान् पिबतो ददर्श ।। (रघु० ३ सर्ग)

अत्र प्लावयिष्यन्तीति भविष्यदर्थस्य ददर्शेति भूतानुगमः । बहुवचनात् अधात्वधिकारविहिता अपि प्रत्ययास्तद्धिता धातुसंबन्धे सति कालभेदे साधवो भवन्ति-गोमानासीत्, गोमान् भविता, अस्तिविवक्षायां हि मतुरुक्तः स कालान्तरे न स्यादिति ।।४१।।

न्या० स०-धातोः संबन्धे-धात्वर्थ उच्यते इति-शब्दतः संबन्धाऽभावात् । **भाविकृत्यमिति**-भविष्यतीति 'भुवो वा' ९२२ (उणादि) इत्यौणादिको णिन् । **भावीति भविष्यत्कालः प्रत्यय इति**-नन्वौणादिकानां अनुपात्तकालविशेषाणां त्रिष्वपि कालेषु प्रवृत्तेः कथं भविष्यत्त्वम् ? सत्यं, अस्य गम्यादित्वात् 'वर्त्स्यति गम्यादिः' ५-३-१ इत्यनेन भविष्यत्त्वम् । **विपर्ययो न भवतीति**-भवितेति भविष्यत्कालः प्रत्ययो विश्वदृश्वेति भूतकालेन सबध्यमानः साधुर्भवतीत्यादिरूपः, विश्वदृश्वेत्यादि हि विशेषणं भवितेति च विशेष्यम् ।

अधात्वधिकारविहिता अपीति-अन्यथा धातुप्रकरणत्वात् धातोरेव परे ये प्रत्ययास्त एव स्युः ।

भृशा-ऽऽभीक्ष्ण्ये हि-स्वौ यथाविधि, त-ध्वमौ च तद्युष्मदि ॥ ५. ४. ४२ ॥

गुणक्रियाणामधिश्रयणादीनां क्रियान्तरैरव्यवहितानां साकल्यं फलातिरेको वा भृशत्वम्, प्रधानक्रियाया विक्लेदादेः क्रियान्तरैरव्यवहितायाः पौनःपुन्यमाभीक्ष्ण्यम्, तद्विशिष्टे सर्वकालेऽर्थे वर्तमानाद् धातोः सर्वविभक्ति-सर्ववचनविषये हि-स्वौ पञ्चमीसंबन्धिनौ भवतः, यथाविधि धातोः संबन्धे-यत एव धातोर्यस्मिन्नेव कारके हि-स्वौ विधीयेते तस्यैव धातोस्तत्कारकविशिष्टस्यैव संबन्धेऽनुप्रयोगरूपे सति; तथा त-ध्वमौ हि-स्वसाहचर्यात् पञ्चम्या एव संबन्धिनौ, तयोः त-ध्वमोः संबन्धी बहुत्वविशिष्टो युष्मत्, तस्मिंस्तद्युस्मदि अभिधेये भवतः, चकाराद्धि-स्वौ च यथाविधि धातोः संबन्धे ।

लुनीहि लुनीहीत्येवायं लुनाति, अनुप्रयोगात् कालवचनभेदोऽभिव्यज्यते । लुनीहि लुनीहीत्येवेमौ लुनीतः, लुनीहि लुनीहीत्येवेमे लुनन्ति; लुनीहि लुनीहीत्येव त्वं लुनासि, युवां लुनीथः, यूयं लुनीथ; लुनीहि लुनीहीत्येवाहं लुनामि, आवां लुनीवः, वयं लुनीमः; एवं लुनीहि लुनीहीत्येवायमलावीत्, लुनीहि लुनीहित्येवायमलुनात्, लुनीहि लुनीहीत्येवाऽयं लुलाव, लुनीहि लुनीहीत्येवायं लविष्यति, लुनीहि लुनीहीत्येवायं लविता, लुनीहि लुनीहीत्येवायं लुनीयात् , लुनीहि लुनीहीत्येवायं लुनातु, लुनीहि लुनीहीत्येवायं लूयात् ।

एवमधीष्वाऽधीष्वेत्येवायमधीते, इमावधीयाते, इमेऽधीयते; अधीष्वाऽधीष्वेत्येव त्वमधीषे, युवामधीयाथे, यूयमधीध्वे; अधीष्वाऽधीष्वेत्येवाऽहमधीये, आवामधीवहे, वयमधीमहे । तथा-अधीष्वाऽधीष्वेत्येवायमध्यगीष्ट, अधीष्वाऽधीष्वेत्येवायमध्यैत, अधीष्वाऽधीष्वेत्येवायमधिजगे, अधीष्वाऽधीष्वेत्येवायमध्येष्यते, अधीष्वाऽधीष्वेत्येवायमध्येता, अधीष्वाऽधीष्वेत्येवायमधीयीत, अधीष्वाऽधीष्वेत्येवाऽयमधीताम्, अधीष्वाऽधीष्वेत्येवायमध्येषीष्ट । एवं सर्वविभक्तिवचनान्तरेष्वपि हि-स्वावुदाहरणीयौ ।

एवं भावकर्मणोरपि-शय्यस्व शय्यस्वेत्येव शय्यते अशायि शायिष्यते भवता, लूयस्व लूयस्वेत्येव लूयते अलावि लाविष्यते केदारः ।

तध्वमौ च तद्युष्मदि-लुनीत लुनीतेत्येव यूयं लुनीथ, लुनीहि लुनीहीत्येव यूयं

लुनीथ; अधीध्वमधीध्वमित्येव यूयमधीध्वे, अधीष्वाधीष्वेत्येव यूयमधीध्वे । तथा लुनीत लुनीतेत्येव यूयमलाविष्ट, लुनीहि लुनीहीत्येव यूयमलाविष्ट । अधीध्वमधीध्वमित्येव यूयमध्यैढ्वम्, अधीष्वाऽधीष्वेत्येव यूयमध्यगीढ्वम् । एवं ह्यस्तन्यादिष्वप्युदाहार्यम् ।

यथाविधीति किम् ? लुनीहि लुनीहीत्येवायं लुनाति, छिनत्ति लूयते वेति धातोः संबन्धे मा भूत् । अधीष्वाऽधीष्वेत्येवायमधीते, पठति अधीयते वेति धातोः संबन्धे मा भूत् । लुनीत लुनीतेत्येव यूयं लुनीथ, छिन्थेति धातोः संबन्धे मा भूत् । अधीध्वमधीध्वमित्येव यूयमधीध्वे, पठथेति धातोः संबन्धे मा भूत् । लुनीहि लुनीहीत्यादौ च भृशाभीक्ष्ण्ये द्विर्वचनम् ।

ननु च भृशाभीक्ष्ण्ययोर्यङपि विधीयते न तु तत्र द्विर्वचनम्, इह तु द्विर्वचनमित्यत्र को हेतुः ? उच्यते-यङ् स्वार्थिकत्वात् प्रकृत्यर्थोपाधी भृशाभीक्ष्ण्ये समर्थोऽवद्योतयितुमिति तदभिव्यक्तये द्विर्वचनं नापेक्षते, हि-स्वादयस्तु-कर्तृ-कर्म-भावार्थत्वेनास्वार्थिकत्वादसमर्थाः प्रकृत्यर्थोपाधी भृशाभीक्ष्ण्ये अवद्योतयितुमिति तदवद्योतनाय द्विर्वचनमपेक्षन्ते इति ॥४२॥

न्या० स०–भृशाभीक्ष्ण्ये-लुनीहिलुनीहीत्येवायमिति–इति शब्दः संबन्धोपादानार्थोऽन्यथाऽसत्त्वभूतार्थवाचिनोराख्यातयोः परस्परेण संबन्धो नावगम्येत । न तु तत्र द्विर्वचनमिति–किंतु भृशाभीक्ष्ण्यनिरपेक्षं 'सन्यङश्च' ४–१–३ इत्यनेन ।

प्रचये नवा सामान्यार्थस्य ॥ ५. ४. ४३ ॥

भृशा-ऽऽभीक्ष्ण्ये यथाविधीति च नानुवर्तते । प्रचयः-समुच्चयः, स्वतः साधनभेदेन वा भिद्यमानस्य एकत्रानेकस्य धात्वर्थस्याध्यावाप इति यावत्, तस्मिन् गम्यमाने सामान्यार्थस्य धातोः संबन्धे सति धातोः परौ हि-स्वौ, त-ध्वमौ च तद्युष्मदि वा भवतः ।

व्रीहीन् वप लुनीहि पुनीहीत्येव यतते चेष्टते समीहते, यत्यते चेष्टयते समीह्यते, पक्षे-व्रीहीन् वपति लुनाति पुनातीत्येव यतते, यत्यते । देवदत्तोऽद्धि गुरुदत्तोऽद्धि जिनदत्तोऽद्धि इत्येव भुञ्जते, भुज्यते, पक्षे–देवदत्तोऽत्ति गुरुदत्तोऽत्ति जिनदत्तोऽत्तीत्येव भुञ्जते भुज्यते । ग्राममट वनमट गिरिमटेत्येवाटति घटते, अटयते घटयते, पक्षे-ग्राममटति वनमटति गिरिमटतीत्येवाटति घटते अटयते घटयते । सक्तून् पिब, धानाः खाद, ओदनं भुङ्क्ष्वेत्येवाभ्यवहरति अभ्यवह्रियते, पक्षे-सक्तून् पिबति, धानाः खादति, ओदनं भुङ्क्ते इत्येवाभ्यवहरति अभ्यवह्रियते ।

सूत्रमधीष्व निर्युक्तिमधीष्व भाष्यमधीष्वेत्येवाधीते पठति अधीयते पठ्यते, पक्षे-सूत्रमधीते, निर्युक्तिमधीते, भाष्यमधीते, इत्येवाधीते पठति, अधीयते पठ्यते ।

त-ध्वमौ तद्युष्मदि–व्रीहीन् वपत, लुनीत, पुनीतेत्येव यतध्वे, चेष्टध्वे समीहध्वे; व्रीहीन् वप लुनीहि पुनीहीत्येव यतध्वे चेष्टध्वे, समीहध्वे, पक्षे-व्रीहीन् वपथ, लुनीथ, पुनीथेत्येव यतध्वे चेष्टध्वे समीहध्वे । ग्राममटत वनमटत गिरिमटतेत्येवाटथ घटध्वे, ग्राममट वनमट गिरिमटेत्येवाटथ घटध्वे, पक्षे-ग्राममटथ, वनमटथ, गिरिमटथेत्येवाटथ घटध्वे । सूत्रमधीध्वं, निर्युक्तिमधीध्वं, भाष्यमधीध्वमित्येवाधीध्वे पठथ, सूत्रमधीष्व निर्युक्ति-

मधीध्व भाष्यमधीध्वेत्येवाधीध्वे पठथ, पक्षे-सूत्रमधीध्वे निर्युक्तिमधीध्वे भाष्यमधीध्वे इत्येवाधीध्वे पठथ । एवं-वचनान्तरे त्रिकान्तरे विभक्त्यन्तरेऽप्युदाहार्यम् ।

सामान्यार्थस्येति किम् ? व्रीहीन् वप लुनीहि पुनीहीत्येव वपति, लुनाति, पुनातीति मा भूत्, ग्राममट, वनमट, गिरिमटेत्येव ग्राममटति, वनमटति, गिरिमटतीति च मा भूत्, कारकभेदेनाटतीत्यस्य सामान्यार्थत्वाभावात् ।।४३।।

न्या० स०-प्रचये नवा-समान एव सामान्यः स्वार्थे घ्यणन्तो वाचस्पतिना पुंलिङ्गो निर्णिन्ये, सामान्योऽर्थो यस्य, यद्वा समानस्य भावः सामान्यमर्थो यस्य । यथाविधीति च नानुवर्त्तत इति-प्रचय इति भणनात् सामान्यार्थस्येति भणनाच्च । एवं वचनान्तरे त्रिकान्तरे इति-एतच्च हिस्वौ प्रत्येव ज्ञातव्यं, न तध्वमौ तयोरेव घटनात् ।

निषेधेऽलं-खल्वोः क्त्वा ।। ५. ४. ४४ ।।

निषेधे वर्तमानयोरलं-खलुशब्दयोरुपपदयोर्धातोः क्त्वा प्रत्ययो वा भवति ।

अलं कृत्वा, खलु कृत्वा, न कर्तव्यमित्यर्थः; पक्षे यथाप्राप्तम्-अलं वत्स ! रोदनेन, अलं रुदितेन, अलं रुदितम्, क्त्वान्तयोग एव खलुशब्दो निषेधवाचीति पक्षे खलुशब्दो नोदाह्रियते । अन्ये तु-'खलु कृतेन, खलु भोजनेन, खलु भोजनम्' इत्यप्युदाहरन्ति । निषेध इति किम् ? अलंकारः स्त्रियाः, सिद्धं खलु । अलंखल्वोरिति किम् ? मा कारि भवता ।४४।

न्या० स०-निषेधेऽलंखल्वोः-क्त्वातुमादीनां कृत्संज्ञाया 'निसनिक्षनिन्द' ५-२-६८ इत्यत्र फलम् । खलुशब्दो नोदाह्रियत इति-वाक्यमपि खलु विधायेति धात्वन्तरेण कार्यम् ।

परावरे ।। ५. ४. ४५ ।।

परे अवरे च गम्यमाने धातोः क्त्वा वा भवति ।

अतिक्रम्य नदीं पर्वतः, नद्याः परः पर्वत इत्यर्थः; बाल्यमतिक्रम्य यौवनम् । अवरे-अप्राप्य नदीं पर्वतः, नद्या अर्वाक् पर्वत इत्यर्थः; अप्राप्य यौवनं बाल्यम् । नदी-पर्वतयोर्बाल्य-यौवनयोर्वा परावरत्वमात्रं प्रतीयते, अस्ति प्राप्यत इति वा, न द्वितीया क्रियेति तुल्यकर्तृकक्रियान्तराभावात् "प्राक्काले" (५-४-४७) इति न सिध्यतीति वचनम् । वाऽधिकाराद् यथाप्राप्तं च-नद्यतिक्रमेण पर्वतः, नद्यप्राप्त्या पर्वतः ।।४५।।

न्या० स० परावरे-अतिक्रम्य नदीं पर्वत इति-अतिक्रमेणेति वाक्यं वाक्ये च इत्थंभूतलक्षणे तृतीया । परावरत्वमात्रमिति-क्रियाद्वये विद्यमानेऽपि परावरत्वमात्रं जिज्ञासितम् ।

निमील्यादिमेङस्तुल्यकर्तृके ।। ५. ४. ४६ ।।

तुल्यो धात्वर्थान्तरेण कर्ता यस्य स तुल्यकर्तृकस्तस्मिन्नर्थे वर्तमानेभ्यो निमील्यादिभ्यो मेङश्च धातोः संबन्धे सति क्त्वा वा भवति । निमील्यादीनां समानकालार्थो मेङस्तु परकालार्थ आरम्भः । स्वभावात् मेङ् व्यतिहार एव वर्तते ।

अक्षिणी निमील्य हसति, मुखं व्यादाय स्वपिति, पादौ प्रसार्य पतति, दन्तान् प्रकाश्य जल्पति, शिशुरयं मातरं भक्षयित्वोपजातः । मेङ्-अपमाय अपमित्य याचते, अपमातुं प्रतिदातुं याचत इत्यर्थः, पूर्वं ह्यसौ याचते पश्चादपमयत इति । याचेस्तु पूर्वकालेऽपि क्त्वा न भवति मेङः परकालभाविन्या क्त्वया याचिप्राक्कालस्योक्तत्वात् । पक्षे-याचित्वाऽपमयते, अपमातुं याचते । तुल्यकर्तृक इति किम् ? चैत्रस्याक्षिनिमीलने मैत्रो हसति, चैत्रस्यापमाने मैत्रो याचते ।।४६।।

न्या० स०-**निमील्यादिमे-मेङ् व्यतिहार एव वर्त्तत इति**-अपरे धातवो व्यतिपूर्वा व्यतिहारे वर्त्तन्तेऽयं तु स्वभावात् केवलोऽपीति नान्यैरिव व्यतिहारग्रहणमस्य विशेषकं कर्त्तव्यमित्यर्थः ।

अक्षिणी निमील्य हसतीति-निमीलने इति वाक्यं, अन्तर्भूतण्यर्थः सकर्मकः साक्षाण्णिगन्तो वा, अन्यथा तुल्यकर्तृकत्वं न संगच्छेत, एवमुत्तरेऽपि ।

याचेस्तु पूर्वकालेऽपीति-नन्वेवमपि याचेः प्राक्कालवर्तित्वात् उत्तरेण कस्मात् क्त्वा न भवति ? इत्याह-**याचेस्त्वित्यादि**-उत्तरेण हि प्राक्कालद्योतनाय क्त्वाप्रत्ययः क्रियते, याचेस्तु पूर्वकालवर्त्तिता मेङः परकालभाविन्या क्त्वया उक्तेति नैरर्थक्यात्ततः क्त्वा न भवति ।

प्राक्काले ॥ ५. ४. ४७ ॥

परकालेन धात्वर्थेन तुल्यकर्तृके प्राक्कालेऽर्थे वर्तमानाद् धातोर्धातोः संबन्धे क्त्वा वा भवति ।

आसित्वा भुङ्क्ते, भुक्त्वा व्रजति, भुक्त्वा पुनर्भुङ्क्ते, स्नात्वा भुक्त्वा पीत्वा व्रजति; पक्षे-आस्यते भोक्तुमित्यपि भवति । तुल्यकर्तृक इत्येव-भुक्तवति गुरौ शिष्यो व्रजति । प्राक्काल इति किम् ? भुज्यते पीयते चानेन । अथ 'यदनेन भुज्यते ततोऽयं पचति, यदनेनाधीयते ततोऽयं शेते' इत्यत्र कथं क्त्वा न भवति ? उच्यते-यत्र यच्छब्देन सह ततःशब्दः प्रयुज्यते तत्र ततःशब्देनैव प्राक्कालताऽभिधीयत इत्युक्तार्थत्वात् क्त्वा न भवति । 'यदनेन भुक्त्वा गम्यते ततोऽयमधीते' इत्यत्र तु भोजन-गमनयोः क्रमे क्त्वा, गमनाऽध्ययनयोस्तु ततःशब्देन क्रमस्याभिधानात् गमेर्न भवति । "प्राक्काले" इत्युत्तरत्र यथासंभवमभिधानतोऽनुवर्तनीयम् ।।४७।।

न्या० स०-**प्राक्काले**-प्राक्पूर्वः कालोऽस्येति प्राक्कालस्तस्मिन् । **आसित्वा भुङ्क्त इति**-आसिक्रियाया वर्त्तमानत्वेऽपि भुजिक्रियाऽपेक्षया प्राक्काल्यं, अत एव क्त्वो विकल्पपक्षे आस्यते भोक्तुमित्यत्र वर्त्तमाना ।

ख्णम् चाभीक्ष्ण्ये ॥ ५. ४. ४८ ॥

आभीक्ष्ण्यविशिष्टे परकालेन तुल्यकर्तृके प्राक्कालेऽर्थे वर्तमानाद् धातोर्धातोः संबन्धे ख्णम्, चकारात् क्त्वा च भवति ।

भोजं भोजं व्रजति, भुक्त्वा भुक्त्वा व्रजति; पायं पायं गच्छति, पीत्वा पीत्वा गच्छति; अग्रे भोजं भोजं व्रजति, अग्रे भुक्त्वा भुक्त्वा व्रजति। अत्र क्त्वा-ख्णमोर्हित्वा-दिवत् प्रकृत्यर्थोपाधिद्योतने सामर्थ्यं नास्तीत्याभीक्ष्ण्याभिव्यक्तये द्विर्वचनं भवति। इह कस्मात् ख्णम् न भवति-यदयं पुनः पुनर्भुक्त्वा व्रजति, अधीते एव ततः परम्, आभीक्ष्ण्यस्य स्वशब्देनैवोक्तत्वात्। क्त्वापि तर्हि न प्राप्नोति ? मा भूदाभीक्ष्ण्ये, प्राक्काल्ये भविष्यति। वाऽधिकारेणैव पक्षे क्त्वाप्रत्ययस्य सिद्धौ चकारेण तस्य विधानं वर्तमानादिप्रत्ययान्तरनिषेधार्थम्। ननु क्त्वादिभिर्भावे विधीयमानैः कर्तुरनभिहितत्वादोदनं पक्त्वा भुङ्क्ते देवदत्त इत्यादिषु कर्तरि तृतीया प्राप्नोति ? नैवम्-भुजिप्रत्ययेनैव कर्तुरभिहितत्वान्न भवति 'प्रधानशक्त्यभिधाने हि गुणशक्तिरभिहितवत् प्रकाशते' इति। खित्वं 'चौरंकारमाक्रोशति, स्वादुंकारं भुङ्क्ते' इत्युत्तरार्थम्॥४८॥

न्या० स०-ख्णम् चाभीक्ष्ण्ये-यदयं पुनः पुनरिति-ननु भृशाभीक्ष्ण्ये वर्त्तमानस्य धातोर्द्विर्वचनं भवति इह तु कथम् ? सत्यं, क्रियाविशेषणमपि क्रिया। वर्त्तमानादिप्रत्ययान्तरेति-तेनाग्रे भुङ्क्ते भुङ्क्ते व्रजितुमित्यादि न भवति।

पूर्वाऽग्रे-प्रथमे ॥ ५. ४. ४९ ॥

'पूर्व अग्रे प्रथम' इत्येतेषूपपदेषु परकालेन तुल्यकर्तृके प्राक्कालेऽर्थे वर्तमानाद् धातोर्धातोः संबन्धे ख्णम् वा भवति। अनाभीक्ष्ण्यार्थं वचनम्।

पूर्वं भोजं व्रजति, पूर्वं भुक्त्वा व्रजति। अग्रे भोजं व्रजति, अग्रे भुक्त्वा व्रजति। प्रथमं भोजं व्रजति, प्रथमं भुक्त्वा व्रजति। वर्तमानादयोऽपि-पूर्वं भुज्यते ततो व्रजति, अग्रे भुज्यते ततो व्रजति, प्रथमं भुज्यते ततो व्रजति। पूर्वादयश्चात्र व्यापारान्तरापेक्षे प्राक्काल्ये व्रज्यापेक्षे तु क्त्वा-ख्णमाविति नोक्तार्थता, ततश्चायमर्थोऽन्यभोक्तृभुजिक्रियाभ्यः स्वक्रियान्तरेभ्यो वा पूर्वं भोजनं कृत्वा व्रजतीत्यर्थः। पूर्वप्रथमसाहचर्यात् अग्रेशब्दः कालवाची॥४९॥

न्या० स०-पूर्वाग्रेप्रथमे-पूर्वश्चाऽग्रेश्च प्रथमश्चेति द्वंद्वात् सप्तमी, उदाहरणेषु पूर्वाग्रेप्रथमेभ्यः 'कालाध्वनोः' २-२-४२ इति द्वितीया। अनाभीक्ष्ण्यार्थं वचनमिति-एतच्चोपलक्षणं, पक्षे वर्त्तमानादिप्राप्त्यर्थं च। पूर्वं भुज्यते ततो व्रजतीति-वर्त्तमानायाः प्राक्काल्याभिधानेऽसामर्थ्यात्तत इत्युपादायि। पूर्वादयश्चेति-नन्वनेन प्राक्काले क्त्वा प्राक्कालश्च पूर्वादिभिरेवोक्त इति क्त्वा न प्राप्नोति ? इत्याशङ्का-साहचर्यादिति-पूर्वप्रथमौ तावदऽस्याद्यन्तौ कालवाचकौ अयमपि तादृशो गृह्यते।

अन्यथैवकथमित्थमः कृगोऽनर्थकात् ॥ ५. ४. ५० ॥

एभ्यः परात् तुल्यकर्तृकेऽर्थे वर्तमानात् करोतेरनर्थकात् धातोः संबन्धे ख्णम् वा भवति।

अन्यथाकारं भुङ्क्ते, एवंकारं भुङ्क्ते, कथंकारं भुङ्क्ते, इत्थंकारं भुङ्क्ते; पक्षे क्त्वैव-अन्यथा कृत्वा, एवं कृत्वा, कथं कृत्वा, इत्थं कृत्वा भुङ्क्ते। एवमुत्तरत्रापि। आन-

र्थक्यं करोतेरन्यथादिभ्यः पृथगर्थाभावात् । यावदुक्तं भवति 'अन्यथा भुङ्क्ते' तावदुक्तं भवति 'अन्यथाकारं भुङ्क्ते' इति । अनर्थकादिति किम् ? अन्यथा कृत्वा शिरो भुङ्क्ते, अत्रान्यथाशब्दः शिरःप्रकारे, करोतेश्च शिरः कर्म, तन्न करोतिना विना गम्यत इति ।५०।

न्या० स०-अन्यथैवं-पक्षे क्त्वैवेति-'प्राक्काले' ५-४-४७ इत्यनेन एवमुत्तरत्रापि इति-यथाऽत्र वाधिकारात् पक्षे क्त्वा तथोत्तरत्रापीत्यर्थः, प्रथममऽन्यथात्वं पश्चाद् भुङ्क्ते इत्यत्रापि प्राक्कालः ।

यथा-तथादीर्ष्योत्तरे ॥ ५. ४. ५१ ॥

यथा-तथाशब्दाभ्यां परात् तुल्यकर्तृकेऽर्थे वर्तमानादनर्थकात् करोतेर्धातोः संबन्धे सति णम् वा भवति, ईर्ष्योत्तरे-ईर्ष्यश्चेत् पृच्छते उत्तरं ददाति ।

कथं भवान् भोक्ष्यत इति पृष्टोऽसूयसा तं प्रत्याह-यथाकारमहं भोक्ष्ये तथाकारमहं भोक्ष्ये किं तवानेन, ? किं ते मया, यथाहं भोक्ष्ये तथाऽहं भोक्ष्ये इत्यर्थः । ईर्ष्योत्तर इति किम् ? यथा कृत्वाऽहं भोक्ष्ये तथा द्रक्ष्यसि । अनर्थकादित्येव ? यथा कृत्वाऽहं शिरो भोक्ष्ये तथा कृत्वाऽहं शिरो भोक्ष्ये किं तवानेन ? ।।५१।।

शापे व्याप्यात् ॥ ५. ४. ५२ ॥

अनर्थकादिति निवृत्तम् , व्याप्यात् कर्मणः परात् तुल्यकर्तृकेऽर्थे वर्तमानात् करोतेर्धातोः संबन्धे णम् वा भवति, शापे-आक्रोशे गम्यमाने ।

चौरंकारमाक्रोशति, करोतिरिहोच्चारणे, चौरं कृत्वा-चौरशब्दमुच्चार्याक्रोशति, चौरोऽसीत्याक्रोशतीत्यर्थः । एवं-दस्युंकारमाक्रोशति, व्याधंकारमाक्रोशति । शाप इति किम् ? चौरं कृत्वा हेतुभिः कथयति ।।५२ ।

न्या० स०-शापे व्याप्यादिति-अनर्थकादिति निवृत्तमिति-शापेऽसंभवात् व्याप्यादिति भणनाद् वा ।

स्वाद्वर्थाददीर्घात् ॥ ५. ४. ५३ ॥

स्वाद्वोरर्थे वर्तमानाच्छब्दाददीर्घान्ताद् व्याप्यात् परस्मात् तुल्यकर्तृके वर्तमानात् करोतेर्धातोः संबन्धे णम् भवति वा ।

स्वादुंकारं भुङ्क्ते, संपन्नंकारं भुङ्क्ते, मिष्टंकारं भुङ्क्ते, लवणंकारं भुङ्क्ते; पक्षे-स्वादुं कृत्वा, मिष्टं, कृत्वा, लवणं कृत्वा, भुङ्क्ते । अदीर्घादिति किम् ? स्वाद्वीं कृत्वा, स्वादूकृत्य, संपन्नां कृत्वा, यवागूं भुङ्क्ते । 'स्वादुंकारं यवागूं भुङ्क्ते, अस्वादुं स्वादुं कृत्वा-स्वादुंकारं भुङ्क्ते' इत्यत्र तु ङी-च्व्योर्विकल्पितत्वात् न दीर्घ इति भवति । 'संपन्नंकारं यवागूं भुङ्क्ते' इति तु सामान्येन पदं निष्पाद्य पश्चाद् यवाग्वा संबन्धे भविष्यति ।५३।

विद्-दृग्भ्यः कार्त्स्न्ये णम् ॥ ५. ४. ५४ ॥

कार्त्स्न्यविशिष्टाद् व्याप्यात् परेभ्यस्तुल्यकर्तृके प्राक्कालेऽर्थे वर्तमानेभ्यो विदिभ्यो दृशेश्च धातोः संबन्धे णम् वा भवति । विद्यतेरकर्मकत्वात् तद्वर्जास्त्रयो विदयो गृह्यन्ते ।

अतिथिवेदं भोजयति, यं यमतिथिं जानाति लभते विचारयति वा तं तं सर्वं भोजयतीत्यर्थः । कन्यादर्शं वरयति, यां यां कन्यां पश्यति तां तां सर्वां वरयति । बहुवचनात् त्रयाणामपि विदीनां ग्रहणम्, अन्यथा ❀ निरनुबन्धग्रहणे न सानुबन्धकस्य ❀ इत्युपतिष्ठेत । कार्त्स्न्यं इति किम् ? अतिथिं विदित्वा भोजयति, कन्यां दृष्ट्वा वरयति ।।५४।।

न्या० स०–विद्दृग्भ्यः-अतिथिवेदमिति-अतिथिं विदित्वा वित्त्वा वा । वरयतीति-वरण् ईप्सायाम् । न सानुबन्धकस्येति-ततो विद्लृ तीत्यस्य न स्यात् ।

यावतो विन्द-जीवः ॥ ५. ४. ५५ ॥

कार्त्स्न्यविशिष्टाद् व्याप्यात् यावच्छब्दात् पराभ्यां विन्द-जीविभ्यामेककर्तृकेऽर्थे वर्तमानाभ्यां धातोः संबन्धे णम् वा भवति । विन्देति शनिर्देशाल्लाभार्थस्य ग्रहणम् ।

यावद्वेदं भुङ्क्ते, यावल्लभते तावद् भुङ्क्ते, इत्यर्थः । यावज्जीवमधीते, यावज्जीवति तावदधीते इत्यर्थः । जीवेः पूर्वकालासंभवाद् अपूर्वकाल एव विधिः ।।५५।।

न्या० स०–यावतो-जीवेः पूर्वकालासंभवादिति–विशेषणयावत्योगे जीवनादुत्तरकालमध्ययनस्यासंभवात् द्वयोरपि युगपदुपपत्तौ जीवतेरपूर्वकाल एव प्रत्ययः, एतच्चोपलक्षणं विदेरप्यपूर्वकाल एव, तथाहि-भोजनक्रियायामारब्धायामपरिसमाप्तायां परिवेषणादिना भोजनार्हलाभस्य समानकालत्वात् यद्यपि भोजनादौ भोजनार्हद्रव्यलाभस्य प्राक्कालत्वमपि संभवति तथापि न विवक्षितमिति स्पष्टतया नोक्तम्, अत एव पक्षे क्त्वाप्रत्ययो न दर्शितः, तस्य प्राक्काल एव विधानात् ।

चर्मोदरात् पूरेः ॥ ५. ४. ५६ ॥

व्याप्याभ्यां चर्मोदरशब्दाभ्यां परादेक-कर्तृकेऽर्थे वर्तमानात् पूरयतेर्धातोः संबन्धे णम् वा भवति । चर्मपूरमास्ते, चर्म पूरयित्वाऽऽस्ते इत्यर्थः । उदरपूरं शेते, उदरं पूरयित्वा शेते इत्यर्थः ।।५६।।

न्या० स०–चर्मोदरात्-पूरयतेर्धातोरिति-पूरेरिति णिगि तदभावे च निर्देशस्य समानत्वेऽप्यणिगन्तस्याऽकर्मकत्वात् चर्मोदराभ्यां कर्म्मभ्यां संबन्धानुपपत्तेः "पूरैचि आप्यायने" इत्यस्य णिगन्तस्यैव ग्रहणं, तस्यैव सकर्म्मकत्वादित्याह–पूरयतेरित्यादि ।

चर्मपूरमास्ते इत्यादि-यावत् पूरणं न संपन्नं तावदासनं शयनं च न करोति इति पूरणस्य प्राक्कालता, अतः पर्यायः क्त्वान्तो दर्शितः ।

वृष्टिमान ऊलुक् चास्य वा ॥ ५. ४. ५७ ॥

व्याप्यात् परात् पूरयतेर्धातोः संबन्धे णम् वा भवति, अस्य च पूरयतेरूकारस्य लुग् वा भवति, समुदायेन चेद् वृष्टिमानं-वृष्टीयत्ता गम्यते ।

गोष्पदप्रं वृष्टो मेघः, गोष्पदपूरं वृष्टो मेघः, सीताप्रं सीतापूरं वृष्टो मेघः, यावता गोष्पदादिपूरणा भवति तावद् वृष्ट इत्यर्थः । अस्येति ग्रहणादुपपदस्य न भवति मूषकबिलपूरं वृष्टो मेघः । गोष्पदप्रमिति प्रातेर्धातोः "आतो डोऽह्वावामः" (५-१-७६) इति डेन, गोष्पदपूरमित्यणा च क्रियाविशेषणत्वे सिध्यति, एवं-सर्वे णमन्ताः प्रयोगाः; तत्र णम् विधानमव्ययत्वेन तरामाद्यर्थमनुस्वारश्रवणार्थं च, तेन 'गोष्पदप्रंतराम्, गोष्पदप्रंतमाम्, गोष्पदप्रंरूपं गोष्पदप्रं-कल्पं देश्यं देशीयम्, गोष्पदपूरं-तरां तमां रूपं कल्पं देश्यं देशीयम्' इत्यादि सिद्धं भवति, अन्यथा हि गोष्पदप्रतरं गोष्पदपूरतरमित्याद्येव स्यात् । 'गोष्पदप्रेण, गोष्पदप्रीभवति, गोष्पदपूरेण, गोष्पदपूरीभवति' इत्यादिप्रयोगास्तु ड-घञादि-प्रत्ययान्ता द्रष्टव्याः ॥५७॥

न्या० स०-वृष्टिमाने-मानशब्दः करणसाधनो भावसाधनो वा ततः कर्मषष्ठी समासः । **क्रियाविशेषणत्व इति**-स्थिते तु न क्रियाविशेषणत्वं भावसाधनत्वेन सामानाधिकरण्याभावात्, गोष्पदं प्रातीत्यादौ कर्तृसाधनत्वात् सामानाधिकरण्ये सति क्रियाविशेषणत्वमुपपद्यते ।

एवं सर्वे णमन्ता इति-एतत् सूत्रोपात्ताः सीताप्रमित्यादयः ।

चेलार्थात् क्नोपेः ॥ ५. ४. ५८ ॥

चेलार्थात् व्याप्यात् परात् क्नोपयतेस्तुल्यकर्तृकेऽर्थे वर्तमानात् वृष्टिमाने गम्यमाने धातोः संबन्धे णम् वा भवति ।

चेलक्नोपं वृष्टो मेघः, वस्त्रक्नोपम्, वसनक्नोपम्; यावता चेलं क्नूयते-आर्द्रीभवति तावद् वृष्ट इत्यर्थः । अर्थग्रहणादत्र स्वरूप-पर्याय-विशेषाणां त्रयाणामपि ग्रहणम्, तेन-'पटिकाक्नोपम्, कम्बलक्नोपम्' इत्यादौ चेलविशेषादपि भवति । अयमप्यप्राक्काले विधिः ॥५८॥

गात्र-पुरुषात् स्नः ॥ ५. ४. ५९ ॥

गात्र-पुरुषाभ्यां व्याप्याभ्यां परादन्तर्भूतण्यर्थात् स्नातेस्तुल्यकर्तृकेऽर्थे वर्तमानात् वृष्टिमाने गम्यमाने धातोः संबन्धे णम् वा भवति ।

गात्रस्नायं वृष्टो मेघः, पुरुषस्नायं वृष्टो मेघः; यावता गात्रं पुरुषश्च स्नाप्यते तावद् वृष्ट इत्यर्थः । इदं केचिदेवेच्छन्ति ॥५९॥

न्या० स०-गात्र पुरुष-अन्तर्भूतण्यर्थादिति-एतेन उपपदयोः कर्मत्वमानीतम् ।

शुष्क-चूर्ण-रूक्षात् पिषस्तस्यैव ॥ ५. ४. ६० ॥

शुष्क-चूर्ण-रूक्षेभ्यो व्याप्येभ्यः परात् पिषेर्णम् वा भवति, तस्यैव धातोः संबन्धे सति ।

शुष्कपेषं पिनष्टि, शुष्कं पिनष्टीत्यर्थः, एवं-चूर्णपेषम्; रूक्षपेषम्; शुष्कपेषं पिष्टः,

शुष्कपेषं पेष्टव्यः, शुष्कपेषं पिष्यते, क्तादिभिरूक्तेऽपि व्याप्ये तदुपपदताऽस्त्येव । प्रयोगानुप्रयोगक्रिययोरैक्यात् तुल्यकर्तृकत्वं प्राक्कालत्वं च नास्तीत्यत्र प्रकरणे पक्षे क्त्वा न भवति । घञादय एव तु भवन्ति-शुष्कस्य पेषं पिनष्टि, सामान्यविशेषभावविवक्षया च धातुसंबन्धः । यदाहुः-सामान्यपुषेरवयवपुषिः कर्म भवतीति । कश्चित् तु 'सामान्य-विशेषविवक्षयाऽत्रापि क्रियाभेदोऽस्तीति तुल्यकर्तृकत्वं प्राक्कालत्वं च, तेन-क्त्वाऽपि, निमूलं कषित्वा कषति' इत्यादि मन्यते ।।६०।।

न्या० स०-शुष्क चूर्ण-शुष्कपेषमित्यादि-क्रियाविशेषणेभ्यः 'अव्ययस्य' ३-१-२१ इत्यमो लुप् । तदुपपदताऽस्त्येवेति-शुष्कलक्षणविशेषकर्मोपपदता ।

सामान्यविशेषभावविवक्षयेति-अन्यथा प्रयोगो हि यौगपद्येन नेष्यते इत्यर्थभेदात्त-स्यैव धातोरनुप्रयोगो न स्यात् ।

सामान्यपुषेरिति-तैः 'स्वस्नेहन' ५-४-६५ इति सूत्रे एतदुक्तमत्र तु प्रकरणात् कथितमिति पुषेरिति संशोध्य पिषेरिति न कर्त्तव्यं, सामान्यपिषेरनुप्रयोगे पिनष्टीत्यत्र ।

कर्म भवतीति-ननु शुष्कपेषमित्यादि क्रियाविशेषणं तत्कथं कर्म्म भवति ? सत्यं, तन्मते क्रियाविशेषणस्यापि कर्म्मता ।

कृग्-ग्रहोऽकृत-जीवात् ।। ५. ४. ६१ ।।

'अकृत जीव' इत्येताभ्यां व्याप्याभ्यां पराभ्यां यथासंख्यं करोति-गृह्णातिभ्यां तस्यैव धातोः संबन्धे सति णम् वा भवति ।

अकृतकारं करोति, अकृतं करोतीत्यर्थः । जीवग्राहं गृह्णाति, जीवन्तं गृह्णातीत्यर्थः ।६१।

निमूलात् कषः ।। ५. ४. ६२ ।।

निमूलाद् व्याप्यात् परात् कषस्तस्यैव धातोः संबन्धे सति णम् वा भवति । निमूलमित्यत्रात्ययेऽव्ययीभावः, निर्गतानि मूलान्यस्येति बहुव्रीहिर्वा ।

निमूलकाषं कषति, निमूलं कषतीत्यर्थः, पक्षे-निमूलस्य काषं कषति ।।६२।।

हनश्च समूलात् ।। ५. ४. ६३ ।।

समूलशब्दाद् व्याप्यात् पराद्धन्तेः कषेश्च तस्यैव धातोः संबन्धे सति णम् वा भवति । समूलमिति साकल्येऽव्ययीभावो बहुव्रीहिर्वा ।

समूलघातं हन्ति, समूलं हन्तीत्यर्थः । समूलकाषं कषति, समूलं कषतीत्यर्थः ।६३।

करणेभ्यः ।। ५. ४. ६४ ।।

करणात् कारकात् पराद्धन्तेस्तस्यैव धातोः संबन्धे सति णम् वा भवति । पाणिघातं कुड्यमाहन्ति, पादघातं शिलां हन्ति, पाणिना पादेन वा हन्तीत्यर्थः । बहुवचनं व्याप्त्यर्थम्,

तेन-करणपूर्वाद्धिंसार्थादपि हन्तेरनेनैव णम्-अस्युपघातमरीन् हन्ति, शरोपघातं मृगान् हन्ति, तथा च सति नित्यसमासस्तस्यैव धातोरनुप्रयोगश्च सिध्यति ॥६४॥

न्या० स०-करणेभ्यः-अनेनैव णमिति-न तु 'हिंसार्थादेकाप्यात्' ५-४-७४ इत्यनेन । नित्यसमास इति-हिंसार्थादित्यनेन तु प्रत्यये 'तृतीयोक्तं वा' ३-१-५० इति वा स्यात् ।

स्व-स्नेहनार्थात् पुष-पिषः ॥ ५. ४. ६५ ॥

आत्मा आत्मीयं ज्ञातिर्धनं च स्वम्, स्निह्यते-सिच्यते येनोदकादिना तत् स्नेहनम्, स्वार्थात् स्नेहनार्थाच्च करणवाचिनः पराद् यथासंख्यं पुषः पिषश्च तस्यैव धातोः संबन्धे सति णम् वा भवति ।

स्वपोषं पुष्णाति पुष्यति पोषति वा, एवम्-आत्मपोषं, गोपोषं, महिषीपोषं, पितृपोषं, मातृपोषं, धनपोषं, रैपोषम्, स्वादिभिः पुष्णातीत्याद्यर्थः । स्नेहनार्थात्-उदपेषं पिनष्टि, एवं-घृतपेषं, तैलपेषं, क्षीरपेषम्, उदकादिना पिनष्टीत्यर्थः ॥६५॥

हस्तार्थाद् ग्रह-वर्ति-वृतः ॥ ५. ४. ६६ ॥

हस्तार्थात् करणवाचिनः शब्दात् परेभ्यो ग्रह-वर्ति-वृद्भ्यस्तस्यैव धातोः संबन्धे सति णम् वा भवति । हस्तग्राहं गृह्णाति, एवं-करग्राहम्, पाणिग्राहम्; हस्तेन गृह्णातीत्यर्थः । वर्ति-वृत इति वर्ततेर्ण्यन्तस्याण्यन्तस्य च ग्रहणम् ।

हस्तवर्तं वर्तयति, करवर्तम्, पाणिवर्तम्; हस्तेन वर्तयतीत्यर्थः । हस्तवर्तं वर्तते, करवर्तम्, पाणिवर्तम्; हस्तेन वर्तत इत्यर्थः । अण्यन्तान्नेच्छन्त्येके ॥६६॥

बन्धेर्नाम्नि ॥ ५. ४. ६७ ॥

बन्धेरिति प्रकृतिर्नामविशेषणं च । बन्धेर्बन्ध्यर्थस्य बन्धनस्य यन्नाम-संज्ञा तद्विषयात् करणवाचिनः पराद् बन्धेर्धातोस्तस्यैव धातोः संबन्धे सति णम् वा भवति ।

क्रौञ्चबन्धं बद्धः, मर्कटबन्धः बद्धः, मयूरिकाबन्धं बद्धः, गोबन्धं बद्धः, महिषीबन्धं बद्धः, अट्टालिकाबन्धं बद्धः, चण्डालिकाबन्धं बद्धः, क्रौञ्चादीनि बन्धनामधेयानि, क्रौञ्चाद्याकारो बन्धः क्रौञ्चादिरित्युच्यते, तेन बन्धेन बद्ध इत्यर्थः । केचित् तु उपपदप्रकृतिप्रत्ययसमुदायस्य क्रौञ्चबन्धमित्यादेः संज्ञात्वं मन्यन्ते, व्युत्पत्तिं च क्रौञ्चेन क्रौञ्चाय क्रौञ्चाद् वा बन्धनमित्यादि यथाकथंचित् कुर्वन्ति, तन्मतसंग्रहार्थं नाम्नीति प्रत्ययान्तोपाधित्वेन व्याख्येयम् ॥६७॥

न्या० स०-बन्धेर्नाम्नि-बन्धिरिति यदा प्रकृतिस्तदा स्वरूपे यदा तु नामविशेषणं तदाऽर्थे इः प्रत्ययः । प्रत्ययान्तोपाधित्वेनेति-प्रत्ययान्तं चेन्नाम भवतीत्यर्थः ।

आधारात् ॥ ५. ४. ६८ ॥

आधारवाचिनः पराद् बन्धेस्तस्यैव धातोः संबन्धे णम् वा भवति । चक्रबन्धं बद्धः, चारकबन्धं बद्धः, कूटबन्धं बद्धः, गुप्तिबन्धं बद्धः; चक्रादिषु बद्ध इत्यर्थः । 'ग्रामे बद्धः, हस्ते बद्धः' इति बहुलाधिकारान्न भवति ।।६८।।

न्या० स०—आधारात्-बहुलाधिकारान्न भवतीति-ग्रामबन्धं बद्ध इत्यादि न भवतीत्यर्थः ग्रामे बन्धं बद्ध इति तु घञि भवत्येव । आधारादित्यनेन णमि ङस्युक्तत्वात् समासः स्यात्, णम् च बाहुलकान्नेष्यते ।

कर्तुर्जीव-पुरुषान्नश-वहः ५. ४. ६९ ।।

कर्तृवाचिभ्यां जीव-पुरुषाभ्यां पराभ्यां यथासंख्यं नशि-वहिभ्यां तस्यैव धातोः संबन्धे सति णम् वा भवति ।

जीवनाशं नश्यति, जीवन् नश्यतीत्यर्थः; पुरुषवाहं वहति, पुरुषः प्रेष्यो भूत्वा वहतीत्यर्थः । कर्तुरिति किम् ? जीवेन नश्यति, पुरुषं वहति ।।६९।।

न्या० स०-कर्तुः-जीवनाशमिति-जीवतीत्यच् , तस्य कर्तुर्नशनम् । पुरुषः प्रेष्यो भूत्वेति-पृणाति प्रैषणमित्यत्र पुरुषः क्रियाशब्दः प्रेष्यपर्यायः, अनेकार्थत्वाद् धातूनाम् ।

जीवेन नश्यतीति-इदमर्थकथनं प्रयोगस्तु अस्मिन्नर्थे जीवनाशं नश्यतीत्यादि न भवति, जीवेन नाशं घञन्तं नश्यतीति भवति न तु जीवनाशम् । पुरुषं वहतीति-पुरुषस्य वाहमिति तु भवति, न तु पुरुषवाहमिति ।

ऊर्ध्वात् पूः-शुषः ।। ५. ४. ७० ।।

कर्तृवाचिन ऊर्ध्वशब्दात् परात् पूरः शुषश्च तस्यैव धातोः संबन्धे सति णम् वा भवति । पूरीत्यनिर्देशात् पूर्दैवादिको, न चौरादिकः । ऊर्ध्वपूरं पूर्यते, ऊर्ध्वः पूर्यत इत्यर्थः । ऊर्ध्वशोषं शुष्यति, उर्ध्वः शुष्यतीत्यर्थः ।।७०।।

व्याप्याच्चेवात् ।। ५. ४. ७१ ।।

व्याप्यात् कर्मणश्चकारात् कर्तुश्चेवात्इवार्थादुपमानार्थात् पराद् धातोस्तस्यैव धातोः संबन्धे सति णम् वा भवति ।

सुवर्णनिधायं निहितः, सुवर्णमिव निहित इत्यर्थः । एवं-रत्ननिधायम्, घृतनिधायम् । शाकक्लेशं क्लिष्टः, ओदनपाचं पक्वः । कर्तुः-काकनाशं नष्टः, काक इव नष्ट इत्यर्थः; एवं-जमालिनाशं नष्टः; अभ्रविलायं विलीनः, अभ्रमिव विलीन इत्यर्थः ।। ७१ ।।

न्या० स०-व्याप्याच्चेवात्-जमालिनाशमिति-जमतीत्यच् , जमं भोजनकारकं अलति वारयति इत्येवंशीलः तदा 'अजातेः शीले' ५-१-१५४ णिन् , अलिरिव वा तत्त्वपुष्पैकदेशचुम्बनात् , जमश्चासावलिश्च तस्येव नशनम् ।

उपात् किरो लवने ।। ५. ४. ७२ ।।

उपपूर्वात् किरतेर्लवनेऽर्थे वर्तमानस्यान्यस्य धातोः संबन्धे सति णम् वा भवति। लवन इति वचनात् तस्यैवेति निवृत्तम्।

उपस्कारं मद्रका लुनन्ति, विक्षिपन्तो लुनन्तीत्यर्थः। लवन इति किम्? उपकीर्य गच्छति ॥ ७२ ॥

न्या० स०–उपात्किरो–तस्यैवेति निवृत्तमिति–इत ऊर्ध्वं तस्यैवान्यस्यैवेति कामचारः परं यत्र तस्यैव तत्र क्रियाविशेषणमेव।

विक्षिपन्त इति–पूर्वं विक्षिपन्तः पश्चाल्लुनन्तीत्यर्थः।

दंशेस्तृतीयया ॥ ५. ४. ७३ ॥

तृतीयान्तेन योगे उपपूर्वात् तुल्यकर्तृकेऽर्थे वर्तमानाद् दंशेरन्यस्य धातोः संबन्धे सति णम् वा भवति।

मूलकेनोपदंशं भुङ्क्ते, मूलकोपदंशं भुङ्क्ते; आर्द्रकेणोपदंशं भुङ्क्ते, आर्द्रकोपदंशं भुङ्क्ते; पक्षे-मूलकेनोपदश्य भुङ्क्ते, आर्द्रकेणोपदश्य भुङ्क्ते। मूलकाद्युपदंशेः कर्मापि प्रधानस्य भुजेः करणमिति तृतीयैव भवति। प्रधानक्रियोपयुक्ते हि कारके गुणक्रिया न स्वानुरूपां विभक्तिमुत्पादयितुमलमप्रधानत्वादेव, यथेष्यते ग्रामो गन्तुं, पक्त्वा भुज्यते ओदन इति। यदा त्ववयवक्रियापेक्षया पूर्वकालविवक्षायां क्त्वा क्रियते तदा क्रियाभेदात् संबन्धभेदे द्वितीयाऽपि भवति-मूलकमुपदश्य भुङ्क्ते इति ॥ ७३ ॥

हिंसार्थादेकाप्यात् ॥ ५. ४. ७४ ॥

हिंसा प्राण्युपघातस्तदर्थाद् धातोः संबध्यमानेन धातुना सहैकाप्यात्-एककर्मकात् तृतीयान्तेन योगे तुल्यकर्तृकेऽर्थे वर्तमानात् णम् वा भवति।

दण्डेनोपघातं गाः सादयति, दण्डोपघातं गाः सादयति। खड्गेन प्रहारं खड्गप्रहारं शत्रून् विजयते, दण्डेनाताडं दण्डाताडं गाः कलयति; पक्षे-दण्डेनोपहत्येत्यादि। हिंसार्थादिति किम्? चन्दनेनानुलिप्य जिनं पूजयन्ति। एकाप्यादिति किम्? दण्डेनाहत्य चौरं गोपालको गाः खेटयति ॥ ७४ ॥

न्या० स०–हिंसार्थादे–दण्डेनोपघातमिति दण्डशब्दात् हेतौ करणे वा तृतीया, ननु करणोपपदात् हिंसार्थादपि 'करणेभ्यः' ५-४-६४ इति प्रवर्त्तते, तत्र च तस्यैवेत्युक्तमिति तस्यैवेति व्यावृत्तिः प्राप्नोति? सत्यं,–'करणेभ्यः' ५-४-६४ इति सूत्रस्य तस्यैवेति व्यावृत्तिर्गत्यर्थस्यापि हन्तेश्चरितार्था इति करणोपपदादपि।

उपपीड-रुध-कर्षस्तत्सप्तम्या ॥ ५. ४. ७५ ॥

तया तृतीयया युक्ता सप्तमी-तत्सप्तमी, तदन्तेन योगे उपपूर्वेभ्यः पीड-रुध-कर्षतिभ्यस्तुल्यकर्तृकेऽर्थे वर्तमानेभ्यो धातोः संबन्धे णम् वा भवति।

पार्श्वाभ्यामुपपीडं शेते, पार्श्वोपपीडं शेते; पार्श्वयोरुपपीडं शेते, पार्श्वोपपीडं शेते; व्रजेनोपरोधं व्रजोपरोधं गाः सादयति, व्रजे उपरोधं व्रजोपरोधं गाः स्थापयति; पाणिनोपकर्षं पाण्युपकर्षं धानाः पिनष्टि, पाणावुपकर्षं पाण्युपकर्षं धाना गृह्णाति। कर्ष इति शब्निर्देशाद् भौवादिकस्य 'कर्षन्ति शाखां ग्रामम्' इति द्विकर्मकस्याकर्षणार्थस्य ग्रहणम्, न तु तौदादिकस्य पञ्चभिर्हलैः कृषतीति विलेखनार्थस्य, तेनभूमावुपकृष्य तिलान् वपति, हलेनोपकृष्य वपतीत्यत्र न भवति। अन्ये त्वनयोरर्थभेदमप्रतिपद्यमानास्तौदादिकादपीच्छन्ति।

उपेति किम्? पार्श्वेन निपीड्य तिष्ठति। अन्ये तूपपूर्वादेव पीडेरिच्छन्ति, रुध-कर्षाभ्यां तु कामचारेण, तेन-व्रजरोधं गाः स्थापयति, हस्तरोधं दधद्धनुः, व्रजेन रोधम् हस्तेन रोधम्। उपपूर्वादपि-व्रजोपरोधं गाः स्थापयति। अन्योपसर्गपूर्वादपि-व्रजानुरोधं गाः स्थापयति, एवं-पाणिकर्षं धाना गृह्णाति, पाणौ कर्षं, पाणिना कर्षमित्याद्यपि भवति ॥७५॥

न्या० स०-उपपीड-पीडश्च रुधश्च कर्षश्च पीडरुधकर्षम्, उपः पूर्वो यस्मात्तदुपपूर्वं उपपीडं च तत् पीडरुधकर्षं चेति कर्मधारयः तस्मात्, निर्देशस्य सौत्रत्वात् कर्षशब्दाऽकारलोपः। रुधकर्षाभ्यां त्विति-उपपूर्वाभ्यामन्योपसर्गपूर्वाभ्यां निरुपसर्गाभ्यां चेत्यर्थः।

प्रमाण-समासत्त्योः ॥ ५. ४. ७६ ॥

आयाममानं प्रमाणं, समासत्तिः संरम्भपूर्वकः संनिकर्षः, तयोर्गम्यमानयोस्तृतीयान्तेन सप्तम्यन्तेन च योगे धातोस्तुल्यकर्तृकेऽर्थे वर्तमानाद् धातोः सम्बन्धे, सति णम् वा भवति।

द्व्यङ्गुलेनोत्कर्षं द्व्यङ्गुलोत्कर्षं गण्डिकाश्छिनत्ति, द्व्यङ्गुले उत्कर्षं द्व्यङ्गुलोत्कर्षं गण्डिकाश्छिनत्ति। समासत्तौ-केशैर्ग्राहं केशग्राहं युध्यन्ते, केशेषु ग्राहं केशग्राहं युध्यन्ते, एवं-हस्तग्राहम्, अस्यपनोदं युध्यन्ते, युद्धसंरम्भादत्यन्तं संनिकृष्य युध्यन्त इत्यर्थः। पक्षे-द्व्यङ्गुलेनोत्कृष्य द्व्यङ्गुले उत्कृष्य गण्डिकाश्छिनत्ति, केशैर्गृहीत्वा केशेषु गृहीत्वा युध्यन्ते ॥ ७६ ॥

न्या० स०-प्रमाणसमास-द्व्यङ्गुलेनोत्कर्षमिति-द्वयोरङ्गुल्योः समाहारः 'संख्याव्यय' ७-३-१२४ इति डः, द्वे अङ्गुलीप्रमाणमस्येति तु न कर्त्तव्यं, तस्मिन् हि न प्रमाणप्रतीतिः किंतु प्रमाणवतः द्व्यङ्गुलेन दैर्घ्यं परिच्छिद्य इक्ष्वादेर्गण्डिकाश्छिनत्ति।

पञ्चम्या त्वरायाम् ॥ ५. ४. ७७ ॥

त्वरा परीप्सा औत्सुक्यमिति यावत्, तस्यां गम्यमानायां पञ्चम्यन्तेन योगे धातोस्तुल्यकर्तृकेऽर्थे वर्तमानाद् धातोः सम्बन्धे सति णम् वा भवति।

शय्याया उत्थायं शय्योत्थायं धावति, एवं नाम त्वरते यदावश्यकादिकमपि नापेक्षते। स्तनरन्ध्रादपकर्षं स्तनरन्ध्रापकर्षं पयः पिबति, एवं नाम त्वरते यत् पात्रे दोहमप्यप्रतीक्ष्य मुख एव पयः पिबतीत्यर्थः। पक्षे-शय्याया उत्थाय धावति। त्वरायामिति किम्? आसनादुत्थाय गच्छति ॥७७॥

द्वितीयया ॥ ५. ४. ७८ ॥

द्वितीयान्तेन योगे धातोस्तुल्यकर्तृकेऽर्थे वर्तमानात् त्वरायां गम्यमानायां धातोः सम्बन्धे णम् वा भवति ।

लोष्टान् ग्राहं लोष्टग्राहं युध्यन्ते, यष्टीर्ग्राहं यष्टिग्राहं युध्यन्ते, दण्डमुद्यामं दण्डोद्यामं धावति, एवं नाम योद्धुं त्वरन्ते यदायुद्धग्रहणमपि नाद्रियन्ते यत्किंचिदासन्नं तद् गृह्णन्ति; पक्षे-लोष्टान् यष्टीर्गृहीत्वा युध्यन्ते । त्वरायामित्येव-खड्गं गृहीत्वा युध्यन्ते । योगविभाग उत्तरार्थः ॥ ७८ ॥

स्वाङ्गेनाऽध्रुवेण ॥ ५. ४. ७९ ॥

"अविकारोऽद्रवं मूर्तम्" इत्यादिलक्षणं स्वाङ्गम्, यस्मिन्नङ्गे छिन्ने भिन्ने वा प्राणी न म्रियते तदध्रुवम् , अध्रुवेण स्वाङ्गेन द्वितीयान्तेन योगे धातोस्तुल्यकर्तृकेऽर्थे वर्तमानात् धातोः संबन्धे णम् वा भवति ।

भ्रुवौ विक्षेपं भ्रूविक्षेपं जल्पति, अक्षिणी निकाणमक्षिनिकाणं हसति, केशान् परिधायं केशपरिधायं नृत्यति, प्रतिमायाः पादवनुलेपं पादानुलेपं प्रणमति । पक्षे-भ्रुवौ विक्षिप्य जल्पतीत्यादि । स्वाङ्गेनेति किम् ? कफमुनमूल्य जल्पति । अध्रुवेणेति किम् ? शिर उत्क्षिप्य कथयति ॥७९॥

परिक्लेश्येन ॥ ५. ४. ८० ॥

परि-समन्तात् क्लिश्यमानं-पीड्यमानं-परिक्लेश्यम् , तेन स्वाङ्गेन द्वितीयान्तेन योगे तुल्यकर्तृकेऽर्थे वर्तमानाद् धातोर्धातोः संबन्धे णम् वा भवति । ध्रुवार्थोऽयमारम्भः ।

उरांसि प्रतिपेषमुरःप्रतिपेषं युध्यन्ते, शिरांसि च्छेदं शिरश्छेदं युध्यन्ते, उरांसि परितः पीडयन्तः शिरांसि छिन्दन्तो युध्यन्त इत्यर्थः । पक्षे-उरांसि प्रतिपिष्य, शिरांसि छित्वा ॥ ८० ॥

विश-पत-पद-स्कन्दो वीप्सा-ऽऽभीक्ष्ण्ये ॥ ५. ४. ८१ ॥

श्रुतत्वाद् विश्यादिक्रियाभिः साकल्येनोपपदार्थानां व्याप्तुमिच्छा-वीप्सा, प्रकृत्यर्थस्य पौनःपुन्येनासेवनम्-आभीक्ष्ण्यम् , यदाहुः-सुप्सु वीप्सा, तिङ्षु अव्ययकृत्सु चाभीक्ष्ण्यमिति । द्वितीयान्तेन योगे विशादिभिस्तुल्यकर्तृकेऽर्थे वर्तमानेभ्यो वीप्सायामाभीक्ष्ण्ये च गम्यमाने धातोः सम्बन्धे सति णम् वा भवति ।

गेहं गेहमनुप्रवेशं गेहानुप्रवेशमास्ते, गेहमनुप्रवेशमनुप्रवेशं गेहानुप्रवेशमास्ते; गेहंगेहमनुप्रपातं गेहानुप्रपातमास्ते, गेहमनुप्रपातमनुप्रपातं गेहानुप्रपातमास्ते; गेहं गेहमनुप्रपादं गेहानुप्रपादमास्ते, गेहमनुप्रपादमनुप्रपादं गेहानुप्रपादमास्ते; गेहं गेहमवस्कन्दं गेहावस्कन्दमास्ते, गेहमवस्कन्दमवस्कन्दं गेहावस्कन्दमास्ते । पक्षे-'गेहं गेहमनुप्रविश्यास्ते, गेह-

मनुप्रविश्याऽनुप्रविश्यास्ते' इत्यादि । वीप्सायामुपपदस्य, आभीक्ष्ण्ये तु धातोर्द्विर्वचनम् । 'गेहानुप्रवेशमास्ते' इत्यादौ तु वीप्साभीक्ष्ण्ये शब्दशक्तिस्वाभाव्यात् समासेनैवोक्ते, इति द्विर्वचनं न भवति । आभीक्ष्ण्ये णम् सिद्ध एव विकल्पेनोपपदसमासार्थं वचनम्, तेन हि समासाभावः स्यात् । वीप्साभीक्ष्ण्य इति किम् ? गेहमनुप्रविश्यास्ते ।।८१।।

न्या० स०–विशपतपद–गेहानुप्रवेशमिति–वाच्यतया यद्यपि ते वीप्साभीक्ष्ण्ये समासस्य न विहिते, तथाप्यऽसावऽभिधानशक्तिस्वाभाव्यात्ते आचष्ट इति न तत् प्रतिपादनाय तत्र द्विर्वचनं प्रवर्त्तते ।

शब्दशक्तिस्वाभाव्यादिति–स्वभावे पर्यनुयोगो न हि । णम् सिद्ध एवेति–'ख्णम् चाभीक्ष्ण्ये' ५-४-४८ इति अनेन, न वाच्यं 'खित्यनव्य' ३-२-१११ इति मोन्तप्राप्तिः यतस्तस्मिन्समासाभावे विभक्तेरलुपि प्राप्त्यभावात् । विकल्पेनेति–'तृतीयोक्तं वा' ३-१-५० इत्यनेन ।

कालेन तृष्यस्वः क्रियान्तरे ॥ ५. ४. ८२ ॥

क्रियामन्तरयतीति–क्रियान्तरः क्रियाव्यवधायकः, तस्मिन्नर्थे वर्तमानाभ्यां तृष्यसूभ्यां धातुभ्यां द्वितीयान्तेन कालवाचिना योगे धातोः सम्बन्धे णम् वा भवति ।

व्यहं तर्षं व्यहतर्षं गावः पिबन्ति, व्यहमत्यासं व्यहात्यासं गावः पिबन्ति, तर्षणात्यासेन च गवां पानक्रिया व्यवधीयते, अद्य पीत्वा व्यहमतिक्रम्य पिबन्तीत्यर्थः । अन्तर्मुहूर्तमत्यासमन्तर्मुहूर्तात्यासं सम्यक् पश्यन्ति, सम्यग् दृष्ट्वाऽन्तर्मुहूर्तं मिथ्यात्वमनुभूय पुनः सम्यग्दृष्टयो भवन्तीत्यर्थः । कालेनेति किम् ? योजनं तर्षित्वा गावः पिबन्ति, योजनमत्यस्य गावः पिबन्ति । तृष्यस्व इति किम् ? व्यहमुपोष्य भुङ्क्ते । क्रियान्तरे इति किम् ? अहरत्यस्येषून् गतः, इहात्यासेनाहरिषवश्च व्याप्यन्ते न तु गतिक्रिया व्यवधीयते ।८२

न्या० स०–कालेन–द्वयोरह्नोः समाहारः द्वे अहनी समाहृते वा द्विगोरनह्नोऽट्' ७-३-९९ 'नोपदस्य' ७-४-६१ इत्यन्तलुक् । अहरत्यस्येति–अत्राऽत्यसनेन गतेर्व्यवधानं नास्ति, न हि गत्वा पुनरेकमहरत्यस्य गच्छतीत्येवंविधोऽर्थोऽत्र प्रतिपाद्यते किं तर्ह्यहरिषूनत्यस्य गत इति ।

नाम्ना ग्रहा–ऽऽदिशः ॥ ५. ४. ८३ ॥

नामशब्देन द्वितीयान्तेन योगे तुल्यकर्तृकेऽर्थे वर्तमानाद् ग्रहेरादिशश्च धातोः संबन्धे णम् वा भवति ।

नामानि ग्राहं नामग्राहमाह्वयति, नाम्नी देवदत्तो ग्राहं नामग्राहं देवदत्त आह्वयति; नामान्यादेशं नामादेशं ददाति । पक्षे–नाम गृहीत्वा दत्ते, नामाऽऽदिश्य दत्ते ।।८३।।

न्या० स०–नाम्ना ग्रहा–नाम्नी देवदत्तो ग्राहमिति–यस्य येनाभिसंबन्धो दूरस्थस्यापि तेन स इति न्यायाद्देवदत्तपदेन व्यवधानेऽपि भवति ।

कृगोऽव्ययेनाऽनिष्टोक्तौ क्त्वा-णमौ ॥ ५. ४. ८४ ॥

अव्ययेन योगे करोतेस्तुल्यकर्तृकेऽर्थे वर्तमानादनिष्टायामुक्तौ गम्यमानायां धातोः सम्बन्धे क्त्वाणमौ भवतः ।

ब्राह्मण ! पुत्रस्ते जातः, किं तर्हि वृषल ! नीचैः कृत्वा नीचैःकृत्य कथयसि, किं तर्हि नीचैर्वृषल ! कारं वृषल ! नीचैःकारं कथयसि, उच्चैर्नाम प्रियमाख्येयम् । ब्राह्मण ! कन्या ते गर्भिणी, किं तर्हि वृषल ! उच्चैः कृत्वा, उच्चैःकृत्य, कथयसि, किं तर्हि उच्चैर्वृषल ! कारं वृषलोच्चैःकारं कथयसि, नीचैर्नामाप्रियमाख्येयम् । अनिष्टोक्ताविति किम् ? उच्चैः कृत्वाऽऽचष्टेब्राह्मण ! पुत्रस्ते जात इति, नीचैः कृत्वाऽऽचष्टे ब्राह्मण ! कन्या ते गर्भिणी जातेति । अव्ययेनेति किम् ? ब्राह्मण ! पुत्रस्ते जातः, किं तर्हि वृषल ! मन्दं कृत्वा कथयसि, ब्राह्मण ! कन्या ते गर्भिणी जातेति किं तर्हि वृषल ! तारं कृत्वा कथयसि । वाऽधिकारेणैव पक्षे क्त्वायाः सिद्धौ समासार्थं तद्विधानम्, अन्यथा हि णम एव पाक्षिकः समासः स्यात्, न तु क्त्वः । क्त्वा चेत्यकृत्वा णम्विधानमुत्तरत्रोभयानुवृत्यर्थम् ॥८४॥

तिर्यचाऽपवर्गे ॥ ५. ४. ८५ ॥

अपवर्गः-क्रियासमाप्तिः समाप्तिपूर्वको वा विरामः, त्यागो वा । तस्मिन् गम्यमाने 'तिर्यच्' इत्यनेनाव्ययेन योगे करोतेस्तुल्यकर्तृकेऽर्थे वर्तमानात् धातोः सम्बन्धे क्त्वा णमौ प्रत्ययौ भवतः ।

तिर्यक्कृत्वा तिर्यक्कृत्य तिर्यक्कारमास्ते, समाप्य विरम्य वा उत्सृज्य वाऽऽस्ते इत्यर्थः । अपवर्ग इति किम् ? तिर्यक्कृत्वा काष्टं गतः ॥८५॥

न्या० स०-तिर्यचापवर्गे-तिर्यक्कृत्येति-समाप्त्यादिद्योतकात्तिर्यक्शब्दात् प्रथमा, वाचकाद् द्वितीया, तिर्यक् समाप्तिं कृत्वा; द्योतकपक्षे समुदायेनार्थः कथ्यते तिर्यक्कारंलक्षणेन ।

स्वाङ्गतस्च्व्यर्थे नाना-विना धार्थेन भुवश्च ॥ ५. ४. ८६ ॥

स्वाङ्गमुक्तलक्षणम्, तस्प्रत्ययान्तेन स्वाङ्गेन च्व्यर्थवृत्तिभिर्नाना-विनाभ्यां धार्थप्रत्ययान्तैश्च योगे भुवः कृगश्च तुल्यकर्तृकेऽर्थे वर्तमानात् धातोः सम्बन्धे क्त्वा-णमौ भवतः । वचनभेदाद् धातु-प्रत्ययथासंख्यं नास्ति ।

मुखतो भूत्वा मुखतोभूय मुखतोभावमास्ते । मुखतः कृत्वा मुखतःकृत्य मुखतःकारमास्ते । पार्श्वतो भूत्वा पार्श्वतोभूय पार्श्वतोभावं शेते । पार्श्वतः कृत्वा पार्श्वतःकृत्य पार्श्वतःकारं शेते । अनाना नाना भूत्वा गतः-नाना भूत्वा नानाभूय नानाभावं गतः । अनाना नाना कृत्वा गतः-नाना कृत्वा नानाकृत्य नानाकारं गतः । एवं-विना भूत्वा विनाभूय विनाभावं गतः । विना कृत्वा विनाकृत्य विनाकारं गतः । धाऽर्था धा-धमञ् एधा-ध्यमञः । द्विधा भूत्वा द्विधाभूय द्विधाभावमास्ते । द्विधा कृत्वा द्विधाकृत्य द्विधाकारं गतः । द्वैधं भूत्वा

द्वैधंभूय द्वैधंभावमास्ते। द्वैधं कृत्वा द्वैधंकृत्य द्वैधंकारं गतः। द्वेधा भूत्वा द्वेधाभूय द्वेधाभावमास्ते। द्वेधा कृत्वा द्वेधाकृत्य द्वेधाकारं गतः। ऐकध्यं भूत्वा ऐकध्यंभूय ऐकध्यंभावमास्ते। ऐकध्यं कृत्वा ऐकध्यंकृत्य ऐकध्यकारं गतः।

धणस्तु प्रकारविचालवदर्थत्वेनाधार्थत्वाद् अव्ययाधिकाराच्च निरासः। अस्यापि ग्रहणमित्यन्ये। अव्ययाधिकारादेव च-'मुखे तस्यति-मुखतः कृत्वा गत' इत्यत्र न भवति। स्वाङ्गेति किम्? सर्वतो भूत्वाऽऽस्ते। तसिति किम्? मुखे भूत्वा गतः। च्व्यर्थेति किम्? नाना कृत्वा भक्ष्याणि भुङ्क्ते, द्विधा कृत्वा काष्ठानि गतः॥८६॥

न्या० स०-स्वाङ्गतसश्च्व्यर्थे-नानाभूत्वेति-च्व्यन्तानां 'गतिक्वन्य' ३-१-४२ इति नित्यं स इत्यत्राच्व्यन्ता एव। धार्थत्वादिति-धार्थो कि प्रकारो विचालो वाऽयं तु तद्वति। अव्ययाधिकाराच्चेति-अव्ययत्वाभावश्चास्य 'अधणतस्वा' १-१-३२ इत्यत्र वर्जनात्। मुखतः कृत्वेति-सेः 'दीर्घङ्याब्' १-४-४५ लुक् म्वादित्वात् 'अम्वादेः' १-४-९० इति न दीर्घः, मुखतः करणं पूर्वं मुखे उपक्षीणो यः स कृत्वा गत इत्यर्थः।

तूष्णीमा ॥ ५. ४. ८७ ॥

तूष्णींशब्देन योगे भवतेर्धातोः संबन्धे क्त्वा-णमौ भवतः तूष्णीं भूत्वा तूष्णींभूय तूष्णींभावमास्ते ॥ ८७ ॥

न्या० स०-तूष्णीमा-तूष्णीं भूत्वेति-तूष्णींशब्दो मौने तद्वति च तेनायमर्थो मौनेन सह भूत्वा मौनवान् वा भूत्वास्त इति।

आनुलोम्येऽन्वचा ॥ ५. ४. ८८ ॥

आनुलोम्यमनुकूलता परचित्ताराधनम्, 'अन्वच्' इत्यनेनाव्ययेन योगे भवतेस्तुल्यकर्तृकेऽर्थे वर्तमानादानुलोम्ये गम्यमाने धातोः संबन्धे क्त्वा-णमौ भवतः।

अन्वग् भूत्वा अन्वग्भूय अन्वग्भावमास्ते, अनुकूलो भूत्वा तिष्ठतीत्यर्थः। आनुलोम्य इति किम्? अन्वग् भूत्वा विजयते शत्रुः, पश्चाद् भूत्वेत्यर्थः। तिर्यचाऽन्वचेति शब्दानुकरणात्, तिरश्चाऽनूचेति न भवति॥ ८८॥

न्या० स०-आनुलोम्येऽन्वचा-अव्ययेनेति अन्वचित्यस्य दिक्शब्दत्वाऽभावाद् धाप्रत्यायाऽभावेऽपि स्वरादिपाठादऽव्ययत्वम्।

इच्छार्थे कर्मणः सप्तमी ॥ ५. ४. ८९ ॥

इच्छार्थे धातौ उपपदे तुल्यकर्तृकेऽर्थे वर्तमानात् कर्मभूताद् धातोः सम्बन्धे सप्तमी विभक्तिर्भवति। कर्मत्वं तुल्यकर्तृकत्वं च धातोः श्रुतत्वादुपपदापेक्षे।

भुञ्जीयेतीच्छति, भुञ्जीयेति वाञ्छति, भुञ्जीयेति कामयते। इच्छार्थ इति किम्? भोजको व्रजति। कर्मण इति किम्? इच्छन् करोति, अत्र करोतीच्छत्योर्लक्ष्यलक्षणभावो न तु कर्म-क्रियाभावः। तुल्यकर्तृक इति किम्? इच्छामि भुङ्क्तां भवान्॥८९॥

न्या० स०-इच्छार्थे कर्मणः-उपपदे इति-उप समीपे पदमिति कृत्वा इच्छार्थेऽग्रेऽपि स्थिते भवति ।

भोजको व्रजतीति-अत्र कर्मतापि नास्तीति व्यावृत्तेर्द्व्यङ्गविकलत्वमिति न वाच्यं, यतो व्रजति कोऽर्थो बुद्ध्या प्राप्नोति ? किं तत् कर्मतापन्नं भावि भोजनं यतो भोजक इत्यत्र भविष्यदर्थे णकः, यद्वा गत्यर्थत्वात् ज्ञानार्थो वा ततो व्रजतीति कोऽर्थः ? अध्यवस्यति जानाति इत्येक एवार्थः ।

शक-धृष-ज्ञा-रभ-लभ-सहा-ऽर्ह-ग्ला-घटा-ऽस्ति-समर्थार्थे च तुम्

॥ ५. ४. ९० ॥

शक्याद्यर्थेषु धातुषु समर्थार्थेषु नामसु च चकारादिच्छार्थेषु धातुषूपपदेषु कर्मभूताद् धातोस्तुम् प्रत्ययो भवति ।

शक्नोति पारयति वा भोक्तुम्, धृष्णोत्यध्यवस्यति वा भोक्तुम्, जानाति वेत्ति वा भोक्तुम्, आरभते प्रक्रमते वा भोक्तुम्, लभते विन्दते वा भोक्तुम्, सहते क्षमते वा भोक्तुम्, अर्हति प्राप्नोति वा भोक्तुम्, ग्लायति म्लायति वा भोक्तुम्, घटते युज्यते वा भोक्तुम्, अस्ति विद्यते वा भोक्तुम्, समर्थोऽलं प्रभवति ईष्टे वा भोक्तुम् । समर्थार्थप्रतीतावपि भवति-द्रष्टुं चक्षुः, योद्धुं धनुः । 'शक्त्या भुज्यते, सामर्थ्येन भुज्यते' इत्यादौ त्वनभिधानान्न भवति ।

इच्छार्थेषु-इच्छति भोक्तुम्, भोक्तुं वाञ्छति, भोक्तुम् वष्टि, भोक्तुमभिलषति, समर्थार्थत्वादेव सिद्धे शकग्रहणमसमर्थार्थम् । कर्मण इति च सामर्थ्याच्छकादिष्वर्हपर्यन्तेषु इच्छार्थेषु चोपपदेषु सत्सु सम्बन्धनीयम् । अन्ये तु शकादिषु घटान्तेषु स्वरूपोपपदेष्वेवेच्छन्ति, न तदर्थेषु । अतादर्थ्यार्थमक्रियोपपदार्थं चेदं प्रस्तूयत इति ॥९०॥

इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्रविरचितायां सिद्धहेमचन्द्राभिधानस्वोपज्ञशब्दानुशासनवृत्तौ पञ्चमाध्यायस्य चतुर्थः पादः ।

न्या० स०-शकधृषज्ञा-अत्र तुल्यकर्तृक इति यथासंभवं योज्यम् ।

शक्नोतीति-समापयतीत्यर्थ इति समर्थार्थद्वारा न सिध्यतीति शक्रिग्रहणम् ।

इत्याचार्यश्री सिद्धहेमचन्द्राभिधानस्वोपज्ञ-शब्दानुशासनबृहद्वृत्तेः पञ्चमाध्यायस्य न्यासतः चतुर्थः पादः समाप्तः ।

॥ अर्हं ॥

श्रीकुमारपालभूपाललालितचरणरेणुना कलिकालसर्वज्ञेन

श्रीहेमचन्द्रसूरिभगवता प्रणीतं

स्वोपज्ञोणादिगणसूत्रविवरणम् ॥

—卐—

श्रीसिद्धहेमचन्द्र-व्याकरणनिवेशिनामुणादीनाम् ।
आचार्यहेमचन्द्रः, करोति विवृत्तिं प्रणम्यार्हम् ॥१॥

कृ-वा-पा-जि स्वदि-साध्य-ऽशौ-दृ-स्ना-सनि-जा-निरहीणभ्य उण ॥१॥

करोत्यादिभ्यो धातुभ्यः सत्यर्थे वर्तमानेभ्यः संप्रदानाऽपादानाभ्यामन्यत्र कारके भावे च संज्ञायां विषये बहुलमुण्प्रत्ययो भवति । डुकृंग् करणे, कृंगट् हिंसायां वा, निरनुबन्धग्रहणे सामान्यग्रहणात् ; करोति करति कृणोति वा कारुः-कारी नापितादिः, इन्द्रश्च । वांक् गतिगन्धनयोः, पैं ओवैं शोषणे वा, वाति वायति वा द्रव्याणि-वायुः-नभस्वान् । पां पाने, पिबन्त्यनेन तैलादि द्रव्यं-पायुः-अपानमुपस्थश्च; पाति-पायत्योस्त्वर्थासंगतेर्न ग्रहणम् । जि अभिभवे, जयत्यनेन रोगान् श्लेष्माणं वा-जायुः-औषधं, पित्तं, वा, ष्वदि आस्वादने, स्वद्यत इदमनेन वा-स्वादुः रुच्यं, स्वदनं वा-स्वादुः । साधंट् संसिद्धौ, उत्तमक्षमादिभिस्तपोविशेषैर्भावितात्मा साध्नोतीति-साधुः, सम्यग्दर्शनादिभिः परमपदं साधयति वा-साधुः-संयत, उभयलोकफलं साधयति वा साधुः-धर्मशीलः । अशौटि व्याप्तौ, अश्नुते तेजसा सर्वं केदारं वा-इत्याशुः-सूर्यो, व्रीहिश्च, अशनं वा-आशु-क्षिप्रम् , अश्नुत इति वा-आशुः-शीघ्रगामी शीघ्रकारी च । दृ भये, दृश् विदारणे वा, दरति दृणाति दीर्यते वा-दारु-काष्ठम् , भव्यं च । ष्णैं वेष्टने, स्नायति स्नायुः-अस्थिसंहननम् । षन भक्तौ, षणूयी दाने वा, सनति सनोति वा मृगादीनिति-सानुः-पर्वतैकदेशः । जनैचि प्रादुर्भावे, जायतेऽनेनाकुञ्चनादि जानु उरुजङ्घासन्धिमण्डलम्, जानीत्याकारनिर्देशात् "न जनवधः" (४-३-५४) इति प्रतिषिद्धाऽपि वृद्धिर्भवति । रह त्यागे, रहति गृहीत्वा सूर्याचन्द्रमसौ स्वशरीरं वा-राहुः-सैंहिकेयः । इंण्क् गतौ, एति-आयुः-पुरुषः, शकटम्, औषधम्, जीवनम्, पुरुरवः पुत्रो वा; जरायुः-गर्भवेष्टनम् , जलमलं वा, जटायुः-पक्षी, धनायुः-देशः, रसायुः भ्रमरः, "संप्रदानात् चान्यत्रोणादयः" (५-१-१५) इति यथायोगं प्रत्ययो वेदितव्यः ॥१॥

अः ॥ २ ॥

सर्वस्माद् धातोर्यथाप्रयोगमकारः, प्रत्ययो भवति । भवः, तरः, वरः, प्लवः, शयः, शरः, परः, करः, स्तवः, चरः, वदः ॥२॥

म्लेच्छीडेर्ह्रस्वश्च वा ॥ ३ ॥

आभ्यामः प्रत्ययो भवति, दीर्घस्य च ह्रस्वो वा भवति । म्लेछ अव्यक्तायां वाचि, म्लिच्छः—मूकः, म्लेच्छः-कुमनुष्यजातिः । ईडिक् स्तुतौ, इड इडश्च- देवताविशेषौ मेदिनी च ॥ ३ ॥

नञः क्रमिः-गमि-शमि-खन्याकमिभ्यो डित् ॥ ४ ॥

नञः परेभ्य एभ्यो डित्, अः प्रत्ययो भवति । क्रमू पादविक्षेपे, न क्रामति-नक्रः-जलचरो ग्राहः । गम्लृं गतौ, नगः-वृक्षः, पर्वतश्च । शमूच् उपशमे, नशः—यक्षः । खनूग् अवदारणे, नखः—करजः, नास्य खमस्तीति वा-नख इत्यपि । कमूङ् कान्तौ, नाकः-स्वर्गः, नात्राकमस्तीति—नाक इत्यपि, नखादित्वात् "अन् स्वरे" (३-२-१२९) इत्यन् न भवति । डित्करणमन्त्यस्वरादिलोपार्थम् ॥ ४ ॥

तुदादि-विषि—गुहिभ्यः कित् ॥ ५ ॥

तुदादिभ्यो विष—गुहिभ्यां च कित् अः प्रत्ययो भवति । तुदः, नुदः क्षिपः, सुरः, बुधः, सिवः । सुरत् ऐश्वर्य-दीप्त्योः । तुदादिर्न धातुगणः. किं तर्हि ? भिन्न इति, तेन बुधादीनामिति लिङ्गपरिणामस्तु ज्ञेयः, शिवः, तुदादीनां यथासंभवं कारकविधिः । विष्लृकी व्याप्तौ, वेवेष्टि-विषं प्राणहरं द्रव्यम् गुहौग् संवरणे, गूहति—गुहः स्कन्दः, गुहा पर्वतैकदेशः ॥५॥

विन्देर्नलुक् च ॥ ६ ॥

विन्देः कित् अः प्रत्ययो भवति, तत्संनियोगे नस्य लुक् च । विदु अवयवे, विदः—गोत्रकृद् वृक्षजातिश्च ॥६॥

कृगो द्वे च ॥ ७ ॥

करोतेः कित् अः प्रत्ययो भवति, अस्य च धातोर्द्वे रूपे भवतः । डुकृंग् करणे, चक्रं-रथाङ्गम्, आयुधं च ॥७॥

कनि-गदि-मनेः सरूपे ॥ ८ ॥

किदिति निवृत्तम्, एभ्योऽकारः प्रत्ययो भवति, एषां च सरूपे-समानरूपे द्वे उक्ते भवतः । कनैदीप्ति-कान्तिगतिषु, कनति-दीप्यते-कङ्कनः-कान्तः । गद व्यक्तायां वाचि, गदति-अव्यक्तं वदति, गद्यते-अव्यक्तं कथ्यते वा गद्गदः-अव्यक्तवाक्, गद्गदम्-अव्यक्तं वचनम् । मनिच् ज्ञाने, मन्मनः-अविस्पष्टवाक् । सरूपग्रहणं "व्यञ्जनस्यानादेर्लुक्" (४-१-४४) इत्यादिकार्यनिवृत्त्यर्थम् ॥ ८ ॥

ऋतष्टित् ॥ ९ ॥

ऋकारान्ताद् धातोरकारः प्रत्ययो भवति, स च बहुलं टित्, धातोश्च सरूपे द्वे रूपे भवतः । दृश् विदारणे, दीर्यते भिद्यतेऽनेन श्रोत्रमिति-दर्दरः वाद्यविशेषः, पर्वतश्च, दर्दरी-सस्यलुण्टिः । कॄत् विक्षेपे, कर्करः–क्षुद्राश्मा, कर्करी-गलन्तिका । वॄश् वरणे वर्वरः-म्लेच्छजातिः, वर्वरी-केशविशेषः । भृश् , भरणे, भर्भरः–छद्मवान् , भर्भरी-श्रीः । जॄष्च् जरसि, जर्जरः अदृढः, जर्जरी-स्त्री । झॄषच् जरसि, झर्झरः-वाद्य-विशेषः झर्झरी-झल्लरिका । गॄत् निगरणे, गर्गरः-रजर्षिः, गर्गरी-महाकुम्भः । मॄश् हिंसायाम् , मर्मरः-शुष्कपत्रप्रकरः, तद्धर्माऽन्योऽपि, क्षोदासहिष्णुर्मर्मरो दानवश्च । 'मर्मरायां दूर्वायाम्' इत्यत्र टित्त्वेऽपि ङीर्न भवति बहुलाधिकारात् । तत एव च ऋकारान्तादपि-घृ सेचने, घर्घरः सघोषाव्यक्तवाक् घर्घरी-किङ्किणिका ॥९॥

किच्च ॥ १० ॥

ऋकारान्ताद् धातोर्यथादर्शनं किदकारः प्रत्ययो भवति, धातोश्च सरूपे द्वे रूपे भवतः । मॄश् हिंसायाम् , मूर्यतेऽनेनेति–मुर्मुरः–ज्वलदङ्गारचूर्णम् । पॄश् पालन-पूरणयोः, पूर्यते जलाघातेन—पुर्पुरः–फेनः । तॄ प्लवन तरणयोः,तीर्यतेऽनेनास्मिन् वा-तिर्तिरः-संक्रमः । भृश् भर्जने च, भूर्यते-संचीयते-भुर्भुरः संचयः । शॄश् हिंसायाम् , शीर्यते समन्तात्-शिर्शिरः-पुञ्जः ॥ १० ॥

पॄ-पलिभ्यां टित् पिप् च पूर्वस्य ॥ ११ ॥

आभ्यां टिदः प्रत्ययो भवति, अनयोश्च सरूपे द्वे रूपे भवतः, पूर्वस्य च स्थाने 'पिप्' इत्यादेशो भवति । पॄश् पालन-पूरणयोः, पृणाति छायया-पिप्परी-वृक्ष-जातिः । पल् गतौ, पलत्यातुरं-पिप्पली-औषधजातिः । टित्करणं ङ्यर्थम् ॥ ११ ॥

क्रमि-मथिभ्यां चन्-मनौ च ॥ १२ ॥

आभ्यामः प्रत्ययो भवति, सरूपे च द्वे रूपे भवतः, पूर्वस्य च स्थाने यथासंख्यं 'चन् मन्' इत्यादेशौ भवतः । क्रमू पादविक्षेपे, क्रामति सुखमनेनास्मिन् वा-चङ्क्रमः-संक्रमः । मथे विलोडने, मथति चित्तं रागिणां-मन्मथः-कामः ॥ १२ ॥

गमेर्जम् च वा ॥ १३ ॥

गमेरः प्रत्ययो भवति, सरूपे च द्वे रूपे भवतः, पूर्वस्य च 'जम्' इत्यादेशो वा भवति । गम्लृ गतौ, गच्छति-पादविहरणं करोति-जङ्गमः–चरः, गच्छत्यमाध्यस्थ्य-मिति-गङ्गमः-चपलः ॥ १३ ॥

अदुपान्त्य-ऋद्भ्यामश्चान्ते ॥ १४ ॥

अकारोपान्त्याद् ऋकारान्ताच्च धातोरः प्रत्ययो भवति, सरूपे च द्वे रूपे भवतः, पूर्वस्य चान्तोऽकारो भवति । पल फल शल गतौ, शलशलः । सल गतौ । सलसलः । हल

विलेखने, हलहल: । कलि शब्द-संख्यानयो:, कलकल: । मलि धारणे, मलमल: । घटिष् चेष्टायाम्, घटघट: । वद व्यक्तायां वाचि, वदवद: । पदिच् गतौ, पदपद: । ऋदन्त: डुकृंग् करणे, करकर: । मृत् प्राणत्यागे, मरमर: । दृंङत् आदरे, दरदर: । सृङ्गतौ, सरसर: । वृग्ट् वरणे वरवर: । अनुकरणशब्दा एते ।। १४ ।।

मषि-मसेर्वा ।। १५ ।।

आभ्याम: प्रत्ययो भवति, सरूपे च द्वे रूपे भवत:, पूर्वस्य चान्तोऽकारो वा भवति । मष हिंसायाम्, मषमष:, मष्मष: । मसैच् परिमाणे, मसमस:, मस्मस: ।। १५ ।।

हृ-सृ-फलि-कषेरा च ।। १६ ।।

एभ्यो अ: प्रत्ययो भवति, सरूपे च द्वे रूपे भवत:, पूर्वस्य चान्त आकारो भवति । हृंग् हरणे, हरति-नयति शस्त्राण्यस्खलन् लक्ष्यं-हराहर:-योग्याचार्य: । सृंगतौ, धावति वायुना नीयमान: समन्तात् सरासर:-सारङ्ग: । फल निष्पत्तौ, फलति-निष्पादयति नाना-विधानि पुष्पफलानि-फलाफलम्-अरण्यम् । कष हिंसायाम्, कषति विदारयति-कषाकष:-कृमिजाति: ।। १६ ।।

इदुदुपान्त्याभ्यां किदिदुतौ च ।। १७ ।।

इकारोपान्त्यादुकारोपान्त्याच्च कित् अ: प्रत्ययो भवति, स्वरूपे च द्वे रूपे भवत:, पूर्वस्य च यथासंख्यमिकारोकारौ चान्तौ भवत: । किलत् श्वैत्य-क्रीडनयो:, किलिकिल: । हिलत् हावकरणे, हिलिहिल: । शिलत् उञ्छे, शिलिशिल: छुरत् छेदने, छुरुच्छुर: । मुरत् संवेष्टने, मुरुमुर: । घुरत् भीमार्थ-शब्दयो:, घुरुघुर: । पुरत् अग्रगमने, पुरुपुर: । सुरत् ऐश्वर्य-दीप्त्यो:, सुरुसुर:, । कुरत् शब्दे, कुरुकुर: । चुरण् स्तेये, चुरुचुर: । हुल हिंसा-संवरणयोश्च, हुलुहुल: । गुजत् शब्दे, गुजुगुज: । गुडत् रक्षायाम् गुडुगुड: । कुटत् कौटिल्ये, कुटुकुट: । पुटत् संश्लेषणे, पुटुपुट: । कुणत् शब्दोपकरणयो:, कुणुकुण: । मुणत् प्रतिज्ञाने मुणुमुण: । अनुकरणशब्दा एते ।। १७ ।।

जजल-तितल-काकोली-सरीसृपादय: ।। १८ ।।

एते अप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते । जल घात्ये, अस्य द्वित्वे पूर्वस्य जभाव:, जजल:, यस्य जाजलि: पुत्र: । तिलत् स्नेहने, अस्य द्वित्वे पूर्वस्य च तिभावे धातोरिकारस्य अकारे तितल: । कुल बन्धु-संस्त्यानयो:, अस्य दित्वे पूर्वस्य च काभावे-काकोली, क्षीरकाकोलीति च वल्लीजाति: । सृप्लृ गतौ, अस्य द्वित्वे गुणाभावे पूर्वस्य च सरीभावे–सरीसृप:–उरग-जाति: । आदिग्रहणाद् यथादर्शनमन्येऽपि ।। १८ ।।

बहुलं गुण-वृद्धी चादे: ।। १९ ।।

धातो: कित् अ: प्रत्ययो भवति, सरूपे च द्वे रूपे भवत:, पूर्वस्य चेकारवन्तौ भवत:, यथादर्शनं च गुणवृद्धी भवत: । केलिकिल:, कैलिकिलश्च-हसनशील: । हिलत्

हावकरणे, हेलिहिलः, हैलिहिलश्च-विलनशीलः। शेलिशिलः, शैलिशिलश्च। शुभि दीप्तौ शोभते पुनः पुनरिति-शोभुशुभः, शौभुशुभः। णुदंत् प्रेरणे, नुदति पुनः पुनरिति-नोदुनुदः, नौदुनुदः। गुडत् रक्षायाम्, गुलति-भ्राम्यति पुनः पुनरिति-गोलुगुलः, गौलुगुलः। बुलण् निमज्जने, बोलयति पुनः पुनरिति-बोलुबुलः। बौलुबुलः। तत्तद्धात्वर्थास्तच्छीला अनुवादविशेषा वेते ॥ १९ ॥

णेर्लुप् ॥ २० ॥

धातोरप्रत्ययसन्नियोगे बहुलं णेर्लुप् भवति। वज्रं धारयतीति-वज्रधरः-इन्द्रः। एवं-चक्रधरः-विष्णुः, भूधरः-अद्रिः, जलधरः-मेघः। बाहुलकात् प्रत्ययान्तरेऽपि,-देवयतीति -दिव्-द्यौः, व्योम, स्वर्गश्च। पुण्यं कारयन्तीति पुण्यकृतो देवाः, एवं-पर्णं शोषयतीति पर्णशुट्।

"वान्ति पर्णशुषो वातास्ततः पर्णमुचोऽपरे।
ततः पर्णरुहः पश्चात् ततो देवः प्रवर्षति ॥ १ ॥

तथा-महतः कारयांचक्रुराक्रन्दान् इति प्राप्ते 'महतश्चक्रुराक्रन्दान्' इति भवति। "महीपालवचः श्रुत्वा जुघुषुः पुष्यमाणवाः। घोषयांचक्रुरित्यर्थः ॥ २० ॥

भीण्-शलि-बलि-कल्यति-मर्च्यर्चि-मृजि-कु-तु-स्तु-दा-धा-रा-त्रा-का-पा-निहानञ्शुभ्यः कः ॥ २१ ॥

एभ्यः कप्रत्ययो भवति। ञिभींक् भये, बिभेति दुन्दुभात् परस्माच्च-भेकः-मण्डूकः, कातरश्च बिभेति वायोः-भेकः-मेघः। 'इंण्क् गतौ' एत्यद्वितीय इतिएकः असहायः, संख्या, प्रधानम्, असमानम्, अन्यश्च। पल फल शल गतौ, शलन्त्यात्मरक्षणाय तमिति शल्कः-शरणम् शलति त्यक्तं बहिरिति-शल्कं गृहीतरसं शकलम्, शल्कः-काष्ठत्वक् मलिनं च काष्ठमुद्गरः करणं च। वलि संवरणे, वल्कः-दशनः, वासः, त्वक् च। कलि शब्द-संख्यानयोः कल्कः-कषायः दम्भः, पिष्टपिण्डश्च। अत सातत्यगमने, अत्कः-आत्मा वायुः व्याधितः, चन्द्रः, उत्पातश्च। मर्चः सौत्रो धातुः प्राप्तौ मर्कः, देवदारुः, वायुः, दानवः, मनः, पन्नगः, विघ्नकारी च। "च-जः क-गम्" (२-१-८६) इति कत्वम्। अर्च पूजायाम् अर्कः-सूर्यः, पुष्पजातिः, का (झा) टजातिश्च। मृजौक् शुद्धौ, मार्कः-वायुः। कुंक् शब्दे, कोकः-चक्रवाकः। तुक् वृत्ति-हिंसा-पूरणेषु, तोकम्-अपत्यम्। ष्टुंगक् स्तुतौ, स्तोकम्-अल्पम्। डुदांग्क् दाने, दाकः, यजमानः, यज्ञश्च। डुधांग्क् धारणे च, धाकः-ओदनः, अनड्वान्, अम्भः, स्वम्भश्च। रांक् दाने, राकः-दाता, अर्थः, सूर्यश्च, राका-पौर्णमासी, कुमारी रजस्वला च। त्रैंङ् पालने त्राकः-धर्मः शरणस्थानीयश्च। कैं शब्दे, काकः-वायसः। पां पाने, पांक् रक्षणे वा, पाकः-बालः, असुरः, पर्वतश्च। ओहांक् त्यागे, निहाकः-निःस्नेहः, निर्मोकश्च, निहाकः-गोधा। शुं गतौ, न शवतीति-अशोकः ॥२१॥

विचि-पुषि-मुषि-शुष्यवि-सृ-वृ-शु-सु-भू-धू-मू-नी-वीभ्यः कित् ॥ २२ ॥

एभ्यः कित् कः प्रत्ययो भवति। विचृंपी पृथग्भावे, विक्कः-करिपोतः। पुषंच् पुष्टौ, पुष्कः-निशाकरः। मुषश् स्तेये, मुष्कः-चौरः, मांसलो वा, मुष्कौ-वृषणौ। शुषंच् शोषणे, शुष्कम्-अपगतरसम्। अवरक्षणादिषुः ऊकः-कुन्दुमः। सृं गतौ, सृकः-वायुः, बाणः, सृगालः, बकः, निरयश्च, सृका-आयुधविशेषः। वृग्ट् वरणे, वृङ्श् संभक्तौ वा वृकः-मृगजातिः, आदित्यः, धूर्तः, जाठरश्चाग्निः। शुं गतौ, शुकः-कीरः, ऋषिश्च। षुंग्ट् अभिषवे, सुकः-निरामयः। भू सत्तायाम् भूकः-कालः, छिद्रं च। धूत् विधूनने, धूग्ट् कम्पने धूग्श् कम्पने वा धूकः-वायुः, व्याधिश्च धूका-पताका। मूङ् बन्धने, मूकः-अवाक्। णींग् प्रापणे, नीकः-खगः ज्ञाता च; नीका-उदकहारिका, ज्ञातिश्च। वींक् प्रजनादिषु, वीकः-वायुः, व्याधिः, नाशः, अर्थः मनः, वसन्तश्च, वीका-पक्षिजातिः, नेत्रमलं च ॥२२॥

कृगो वा ॥ २३ ॥

कृगः कः प्रत्ययो भवति, स च कित् वा भवति। डुकृंग् करणे, कर्कः-अग्निः, सारङ्गः, दर्भः, श्वेताश्वश्च। कृकः-शिरोग्रीवम् ॥२३॥

धु-यु-हि-पि-तु-शोर्दीर्घश्च ॥ २४ ॥

एभ्यः कित् कः प्रत्ययो भवति, एषां च दीर्घो भवति। घुङ् शब्दे, घूकः-कोशिकः। युक् मिश्रणे, यूका-क्षुद्रजन्तुः स्वेदजः। हिंट् गति-वृद्ध्योः, हीकः पक्षी। पित् गतौ, पीकः-उपस्थो, जलाश्रयश्च। तुंक् वृत्यादिषु, तूकः-उपस्थः, पर्वतश्च। शुं गतौ, शूकः-किंशारुः, अभिषवः शोकश्च, शूका-हृल्लेखः ॥२४॥

ह्रियो रश्च लो वा ॥ २५ ॥

ह्रियः, कित् कः प्रत्ययो भवति, रेफस्य च लकारो वा भवति। (ह्रींक् लज्जायाम्) ह्रीकः, ह्लीकः-लज्जापरः, नकुलश्च। ह्लीकः-लिङ्गयपि ॥ २५ ॥

निष्क-तुरुष्कोदर्का-ऽलर्क-शुल्क-श्वफल्क-किञ्जल्कोल्का-वृक्क-च्छेक-केका-यस्का-ऽऽदयः ॥ २६ ॥

एते कप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते। नेः सीदतेर्डिच्च, निष्कः-सुवर्णादिः। तुरेचि त्वरायाम्, अस्य ह्रस्व उषश्चान्तः, तुरुष्कः-वृक्षः, म्लेच्छश्च। उदः परात् अर्तः, उदर्कः-क्रियाफलम्। अली भूषणादौ, अस्मादर् चान्तः, अलर्कः-उन्मत्तः, मदालसात्मजश्च। "पल फल शल गतौ" इत्यस्योपान्त्योत्वं च, शुल्कं-रक्षा-निवेशः। शुनः परात् फालेर्ह्रस्वश्च, श्वफल्कः-अन्धकविशेषः। किमः परात् जृषो रस्य लश्च, किञ्जल्कः-पुष्परेणुः। ज्वलेरुलादेशश्च, उलेः सौत्रस्य वा, उल्का औत्पातिकं ज्योतिः, अग्निज्वाला च वृजैकि वर्जने, अगुणत्वं च, वृक्कः-मुष्कः। छ्यतिकायत्योरेत्वं च, छेकः-मनीषी, केका-मयूरवाक्। यमेर्मस्य सः, यस्कः-आदिग्रहणात् ढक्का-स्पृक्काऽऽदयोऽपि ॥२६॥

दृ-कॄ-नॄ-सृ-भृ-धृ-वृ-मृ-स्तु-कु-क्षु-लङ्घि-चरि-चटि-कटि-कण्टि-चणि-चषि-फलि-वमि-तम्यवि-देवि-बन्धि-कनि-जनि-मशि-क्षारि-कुरि-वृति-वल्लिमल्लिसल्लयलिभ्योऽकः ॥२७॥

एभ्योऽकः प्रत्ययो भवति । दॄश् विदारणे, दरकः–भीरुः । कॄत् विक्षेपे, करकः–जलभाजनम्, कमण्डलुश्च; करकाः-वर्षपाषाणः । नॄश् नये, नरकः–निरयः । सृं गतौ, सरको–मद्यविशेषः । कंसभाजनविशेषश्च, सरका-मधुपानवारः । डुडुभृंगक् पोषणे च, भरकः–गोण्यादिः धृङ् अवध्वंसने, धरकः–सुवर्णोन्माननियुक्तः । वृंगट् वरणे, वरकः वधूजानि-सहायः वाजसनेयभेदश्च । मृंत् प्राणत्यागे, मरकः–जनोपद्रवः । ष्टुंगक् स्तुतौ, स्तबकः–पुष्पगुच्छः । कुंक् शब्दे, कवकम्-अभक्ष्यद्रव्यविशेषः । टुक्षुक् शब्दे, क्षवकः–राजसर्षपः । लघुङ गतौ, लङ्घकः–रङ्गोपजीवी । चर् भक्षणे च, चरकः–मुनिः । चटण् भेदे; चटकः-पक्षी । कटे वर्षाऽऽवरणयोः कटकः–वलयः । कटु गतौ, कण्टकः-तरुरोम । चण शब्दे, चणकः-मुनिः, धान्यविशेषश्च । चषी भक्षणे, चषकः-पानभाजनम् । फल निष्पत्तौ, फलकः–खेटकम् । टुवम् उद्गिरणे, वमकः–कर्मकरः । तमूच् काङ्क्षायाम्, तमकः–व्याधिः, क्रोधश्च । अव रक्षणादौ, अवका-शैवलम् । देवृङ् देवने, देवका–अप्सराः, देविका-नदी । बन्धंश् बन्धने, बन्धकः-चारकपालः । कनै दीप्त्यादिषु, कनकं-सुवर्णम् । जनैचि प्रादुर्भावे, जनकः–सीतापिता । मश रोषे च, मशकः-क्षुद्रजन्तुः । क्षर संचलने ण्यन्त, क्षारकं-बालमुकुलम् । कुरत् शब्दे, कोरकं प्रौढमुकुलम् । वृतूङ वर्तने, वर्तका वर्तिका वा-शकुनिः वल्लि संवरणे, वल्लकी–वीणा । मल्लि धारणे, मल्लकः-शरावः, मल्लिका–पुष्पजातिः, दीपाधारश्च । सल्लः सौत्रः, सल्लकी-वृक्षः, सत्कृत्य लक्यते स्वाद्यते गजैरिति वा-सल्लकी । अली भूषणादिषु, अलकः–केशविन्यासः, अलका-पुरी ।।२७।।

को रु-रुण्टि-रण्टिभ्यः ॥ २८ ॥

कुशब्दात् परेभ्य एभ्योऽकः प्रत्ययो भवति । रुक् शब्दे, कुरवकः-वृक्षः । रुटु स्तेये, कुरुण्टको-वर्णगुच्छः । रण्टिः प्राणहरणे सौत्रः, कुरण्टकः–स एव ।। २८ ।।

ध्रु-धून्दि-रुचि-तिलि–पुलि-कुलि-क्षिपि-क्षुपि-क्षुभि-लिखिभ्यः कित् ॥ २९ ॥

एभ्यः कित् अकः प्रत्ययो भवति । ध्रु स्थैर्ये च, ध्रुवकः–स्थिरः, ध्रुवका-आवपनविशेषः । धूत् विधूनने, धुवकं-धूननम्, धुवकः–प्रधानं, स्त्री धुवका–आवपनविशेषः । उन्दैप् क्लेदने, उदकं-जलम् । रुचि अभिप्रीत्यां च, रुचकः–आभरणविशेषः । तिलत् स्नेहने, तिलकः–विशेषकः, वृक्षश्च । पुलण् समुच्छ्राये, पुल महत्त्वे वा, पुलकः–रोमाञ्चः । कुल बन्धु-संस्त्यानयोः, कुलकं-संयुक्तम् । क्षिपींत् प्रेरणे, क्षिपकः–वायुः, क्षिपका–आयुधम् । क्षुपः सौत्रो ह्रस्वीभावे, क्षुपकः–गुल्मः । क्षुभच् संचलने, क्षुभकः–पाञ्चालकः । लिखत् अक्षरविन्यासे, लिखकः-चित्रकरः ।। २९ ।।

छिदि-भिदि-पिटेर्वा ॥ ३० ॥

एभ्योऽकः प्रत्ययो भवति, स च किद् वा भवति । छिदूंपी द्वैधीकरणे, छिदकः–

खड्गः, क्षुरश्च, छेदकः-परशुः । भिदृंपी विदारणे, भिदकं-जलं, पिशुनश्च, भेदकं-वज्रम् । पिट शब्दे च, पिटकः-क्षुद्रस्फोटकः, पेटकं-संघातः ।। ३० ।।

कृषेर्गुण-वृद्धी च वा ।। ३१ ।।

कृषेरकः प्रत्ययो भवति, गुण-वृद्धी चास्य वा भवतः । कृषींत् विलेखने, कर्षकः, कृषकः-परशुः, कार्षकः, कृषकः-कुटुम्बी ।। ३१ ।।

नञः पुंसेः ।। ३२ ।।

नञः परात् "पुंसण् अभिमर्दने" इत्यस्मात् किदकः प्रत्ययो भवति । नपुंसकं-तृतीया प्रकृतिः, नखादित्वात् "नञत्" (३-२-१२५) न भवति ।। ३२ ।।

कीचक-पेचक-मेचक-मेनका-ऽर्भक-धमक-वधक-लघक-जहकैरकैडका-ऽश्मक-लमक-क्षुल्लक-वटवकाऽऽढकाऽऽदयः ।। ३३ ।।

एते कीचकादायः शब्दा अकप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते । कचि बन्धने, अस्योपान्त्यस्येत्वं च, कीचकः-वंशविशेषः । डुपचींष् पाके, मचि कल्कने, मनिच् ज्ञाने, एषामुपान्त्यस्यैत्वं च पेचकः-करिजघनभागः, मेचकः-वर्णः, मेनका-अप्सराः । अर्तेर्भश्चान्तः, अर्भकः-बालः । ध्मां शब्दाऽग्निसंयोगयोः, अस्य धमादेशश्च, धमकः-कीटः, कर्मारश्च, अन्यत्रापि धमादेशो दृश्यते, क्ते-धान्तः । हन्तेर्वधश्च, वधकः-हन्ता, व्याधिश्च, वधकं-पद्मबीजम्, अन्यत्रापि दृश्यते, वृत्रं हन्ति अचि-वृत्रवधः-शक्रः, बधिता-निर्मोचकः, बध्यः, वधनम् । लघुङ् गतौ, नलुक् च, लघकः-असमीक्ष्यकारी । जहातेर्द्वे रूपे अन्तलुक् च, जहकः-कालः, क्षुद्रश्च । ईरिक् गति-कम्पनयोः, ईडिक् स्तुतौ, अनयोर्गुणश्च, एरका-उदकतृणजातिः, एडका-अविजातिः । अशौटि व्याप्तौ, अस्य मोऽन्तः, अश्मका-जनपदः । रमि क्रीडायाम्, अस्य लमादेशः लमकः-ऋषिविशेषः । क्षुदृंपी संपेषे, अस्य क्षुल्लादेशश्च, क्षुल्लकं-दभ्रम्, क्षुधं लातीति वा क्षुल्लः, क्षुल्ल एव क्षुल्लक इति वा । वट वेष्टने, अस्यावोऽन्तश्च, वटवकः-तृणपुञ्जः । आङ्पूर्वात् ढौकतेर्डिच्च, आढकंमानम् । आदिग्रहणाद् वृहत्तन्त्रात्, कला आपिबन्तीति-कलापकाः शास्त्राणि । कथण् वाक्यप्रबन्धे, कथयतीति-कथकः-तोटकाख्यायिकादीनां वर्णयिता । एवम्-उपक चम्पक-फलहकादयोऽपि ।।३३।।

शलि-बलि-पति-वृति-नभि-पटि-तटि-तडि-गडि-भन्दि-चन्दि-मन्दि-नमि-कु-दु-पू-मनि-खजिभ्य आकः ।। ३४ ।।

एभ्य आकः प्रत्ययो भवति । पल फल शल गतौ, शलि चलने च वा, शलाका-एषणी, पूरणरेखा, द्यूतोपकरणं, सूची च । बल प्राणन-धान्यावरोधयोः, बलाका-जल-चरी शकुनिः । पत्लृ गतौ, पताका-वैजयन्ती । वृतूङ् वर्तने, वर्ताका-शकुनिजातिः । णभच् हिंसायाम्, नभाकः-चक्रवाकजातिः, तमः, काकश्च । पट गतौ, पटाका-वैजयन्ती, पक्षिजातिश्च । तट ऊच्छ्राये, तटाकं-सरः । तडण् आघाते, तडाकं-तदेव । गड सेचने, गडाकः-

शाकजातिः । भदुङ् सुख-कल्याणयोः, भन्दाकं-शासनम् । वदुङ् स्तुत्यभिवादनयोः, वन्दाकः-चीवरभिक्षुः । मदुङ् स्तुत्यादिषु, मन्दाका-औषधी । णमं प्रह्वत्वे, नमाका-म्लेच्छजातिः । कुंङ् शब्दे, कवाकः-पक्षी । टुदुंट् उपतापे, दवाकः-म्लेच्छः । पूङ् पवने, पवाका-वात्या । मनिच् ज्ञाने, मनाका-हस्तिनी । खज मन्थे, खजाकः-आकरः, मन्थाः, दर्विः, आकाशं, बन्धकी, शरीरं पक्षी च ।। ३४ ।।

शुभि-गृहि-विदि-पुलि-गुभ्यः कित् ॥ ३५ ॥

एभ्यः किदाकः प्रत्ययो भवति । शुभि दीप्तौ, शुभाका-पक्षिजातिः । गृहणि ग्रहणे, गृहाकः । विदंक् ज्ञाने, विदाका भूतग्रामः । पुल महत्त्वे, पुलाकः, अर्धस्विन्नो धान्यविशेषः । गुंङ् शब्दे, गुंत् पुरीषोत्सर्गे वा, गुवाकं-पूगफलम् ।। ३५ ।।

पिषेः पिन्-पिण्यौ च ॥ ३६ ॥

'पिष्लृंप् संचूर्णने" इत्यस्मात् किदाकः प्रत्ययो भवति, अस्य च 'पिन् पिण्य' इत्यादेशौ भवतः । पिनाकम्-ऐशं धनुः, शूलं वा, पिनाकः-दण्डः, पिण्याकः-तिलादिखलः ।। ३६ ।।

मवाक-श्यामाक-वार्ताक-वृन्ताक-ज्योन्ताक-गूवाक-भद्राकाऽऽदयः ॥ ३७ ॥

एते आकप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते । मव्य बन्धने, यलोपः, मवाकः-रेणुः । श्यैङ् गतौ, मोऽन्तश्च, श्यामाकः-जघन्यो व्रीहिः । वृतेर्वृद्धिश्च, वार्ताकी-शाकविशेषः तत्फलं वार्ताकम् । स्वरान्नोऽन्तश्च, वृन्ताकी उच्चबृहती, तत्फलं-वृन्ताकम् । ज्युङ् गतौ, न्तश्च प्रत्ययादिः, ज्यवतेऽस्मिन् स्विद्यमान इति-ज्योन्ताकं-स्वेदसद्मविशेषः । गुंत् पुरीषोत्सर्गे, गुंङ्शब्दे वा, ऊवादेशश्च, गूवाकं पूगफलम् । भदुङ् सुखकल्याणयोः, अस्य भद्रादेशश्च, भद्राकः-अकुटिलः । आदिग्रहणात् स्योनाक-चार्वाक-पराकाऽदयो भवन्ति ।। ३७ ।।

क्री-कल्यलि-दलि-स्फटि-दूषिभ्य इकः ॥ ३८ ॥

एभ्य इकः प्रत्ययो भवति । डुक्रींगश् द्रव्यविनिमये, क्रयिकः-क्रेता । कलि शब्दसंख्यानयोः, कलिका-कोरकः, उत्कलिका-ऊर्मिः । अली भूषणादौ, अलिकं-ललाटम् । दल विशरणे, दलिकं दारु । स्फट स्फुट् विसरणे, स्फटिकः-मणिः । दुषच् वैकृत्ये, दूषिका-नेत्रमलः ।। ३८ ।।

आङः पणि-पनि-पदि-पतिभ्यः ॥ ३९ ॥

आङः परेभ्य एभ्य इकः प्रत्ययो भवति । पणि व्यवहार-स्तुत्योः, आपणिकः-पत्तनवासी, व्यवहारज्ञो वा । पनि स्तुतौ, आपनिकः-स्तावकः, इन्द्रनीलः, इन्द्रकीलो वा । पदिच् गतौ, आपदिकः-इन्द्रनीलः, इन्द्रकीलो वा । पत्लृ गतौ, आपतिकः-पथि वर्तमानः, मयूरः, श्येनः कालो वा । आपणिकादयश्चत्वारो वणिजोऽपि ।।३९।।

नसि-त्रसि-कसिभ्यो णित् ॥ ४० ॥

एभ्यो णिदिकः प्रत्ययो भवति । णसि कौटिल्ये, नासिका-घ्राणम् । वसं निवासे, वासिका-माल्यदामविशेषः, छेदनद्रव्यं च । कस गतौ, कासिका-वनस्पतिः ॥ ४० ॥

पा-पुलि-कृषि-क्रुशि-व्रश्चिभ्यः कित् ॥ ४१ ॥

एभ्यः किदिकः प्रत्ययो भवति । पां पाने, पिकः-कोकिलः । पुल महत्त्वे, पुलिकः-मणिः । कृषींत् विलेखने, कृषिकः-पामरः, तृणजातिश्च । क्रुशं आह्वान-रोदनयोः, क्रुशिकः-क्रोष्टुकः, उलूकश्च । ओव्रश्चौत् छेदने, वृश्चिकः-सविषः कीटः, राशिश्च नक्षत्रपादनवकरूपः ॥ ४१ ॥

प्राङः पणि-पनि-कषिभ्यः ॥ ४२ ॥

'प्राङ' इत्येतस्मादुपसर्गसमुदायात् परेभ्यः एभ्यः किदिकः प्रत्ययो भवति । पणि व्यवहार-स्तुत्योः, प्रापणिकः-वणिक् । पनि स्तुतौ, प्रापनिकः-पथिकः । कष हिंसायाम्, प्राकषिकः-वायुः, खलः, नर्तकः, मालाकारश्च । प्रपूर्वात् पणेराङ्पूर्वाच्च कषेरिच्छन्त्यन्ये-प्रपणिकः-गन्धविक्रयी, आकषिको न कर्तव्यः ॥ ४२ ॥

मुषेर्दीर्घश्च ॥ ४३ ॥

मुषेरिकः प्रत्ययो भवति, दीर्घश्च स्वरस्य भवति । मूषिकः-आखुः ॥ ४३ ॥

स्यमेः सीम् च ॥ ४४ ॥

स्यमेरिकः प्रत्ययो भवति, अस्य च 'सीम्' इत्यादेशो भवति । स्यमू शब्दे, सीमिकः-वृक्षः, उदक कृमिश्च, सीमिका-उपजिह्विका सीमिकं वल्मीकम् । केचित् 'सिम्' इति ह्रस्वोपान्त्यमादेशं प्रत्ययस्य च दीर्घत्वमिच्छन्ति-सिमीकः-सूक्ष्मकृमिः ॥ ४४ ॥

कुशिक-हृदिक-मक्षिकेतिक-पिपीलिकादयः ॥ ४५ ॥

एते किदिकप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते कुषेः श च कुशिकः मुनिः । ह्लगे दोऽन्तश्च, ह्लदिकः-यादवः । मषेः सोऽन्तश्च, मक्षिका-क्षुद्रजातिः । ऐतेस्तोऽन्तश्च, इतिकः-मुनिः । पीलेर्द्वे च, पिपीलिका-मध्यक्षामा कीटजातिः । आदिग्रहणात् गब्दिकभूरिकभुलि-काऽऽदयो भवन्ति ॥ ४५ ॥

स्यमि-कषि-दूष्यनि-मनि-मलि-वल्यलि-पालि-कणिभ्य ईकः ॥ ४६ ॥

एभ्य ईकः प्रत्ययो भवति । स्यमू शब्दे, स्यमीकः-वृक्षः, वल्मीकः, नृप गोत्रं च स्यमीकं-जलम् स्यमीका-कृमिजातिः । कष हिंसायाम्, कषीका-कुद्दालिका । दुषंच् वैकृत्ये, ण्यन्तः, दूषिका-नेत्रमलः, वीरणजातिः, वर्तिः, लता च । अनक् प्राणने, अनीकं-सेनासमूहः, संग्रामश्च । मनिच् ज्ञाने, मनीकः-सूक्ष्मः । मलि धारणे, मलीकम्-अञ्जनम्, अरिश्च । वलि संवरणे, वलीकः-बलवान् पटलान्तश्च, वलीकं वेश्मदारु । अली भूषणादौ, अलीकम्-

असत्यम्, अलीका-पण्यस्त्री, व्यलीकम्-अपराधः, व्यलीका-लज्जा । पलण् रक्षणे, पालीकं-तेजः । कण शब्दे, कणीकः-पटवासः, कणीका-भिन्नतण्डुलावयवः, वनस्पति-बीजं च ॥ ४६ ॥

जॄ-पॄ-दॄ-शॄ-वृ-मृभ्यो द्वे रश्चादौ ॥ ४७ ॥

एभ्यः ईकः प्रत्ययो भवति, द्वे च रूपे भवतः, एषां चादौ रो भवति । जॄष्च् जरसि, जर्जरीका-शतपत्त्री । पॄश् पालन-पूरणयोः, पर्परीका-जलाशयः, सूर्यश्च; पर्परीकः-अग्निः, कुररः, भक्ष्यम्, कुक्कुरश्च । दॄश् विदारणे, दर्दरीकः-दाडिमः, इन्द्रः, वादित्रविशेषः, वादित्रभाण्डं च । शॄश् हिंसायाम्, शर्शरीकः-कृमिः, विकलेन्द्रियः, दुष्टाश्वः, लावकश्च, शर्शरीका-माङ्गल्याभरणम् वृग्ट् वरणे, वर्वरीकः-संवरणम्, उरणः, पतत्त्री; केशसंघातश्च, वर्वरीका-सरस्वती मृत् प्राणत्यागे, मर्मरीकः-अग्निः, शूर, श्येनश्च ॥ ४७ ॥

ऋच्यृजि-हृषीषि-दृशि-मृडि-शिलि-निलीभ्यः कित् ॥ ४८ ॥

एभ्यः किदीकः प्रत्ययो भवति । ऋचत् स्तुतौ ऋचीकः-ऋषिः । ऋजि गति-स्थानार्जनोर्जनेषु, ऋजीकं-वज्रम् बलं, स्थानं च । हृष् अलीके, हृषच् तुष्टौ वा, हृषीकम्-इन्द्रियम् । इषत् इच्छायाम् ईष उञ्छे, ईष गति-हिंसा-दर्शनेषु वा, इषीका, ईषीका च तृणशलाका । दृशं प्रेक्षणे, दृशीकं-मनोज्ञम्, दृशीका रजस्वला । मृडत् सुखने, मृडीकं-सुखकृत्, सुखं चशिलत् उञ्छे, शिलीकः-सस्यविशेषः । लींङच् श्लेषणे निपूर्वः, निलीकं-वृत्तम् । बाहुलकादीलुक् ॥ ४८ ॥

मृदेर्वोऽन्तश्च वा ॥ ४९ ॥

मृदेः किदीकः प्रत्ययो भवति, वकारश्चान्तो वा भवति । मृदश् क्षोदे, मृद्वीका मृदीका च-द्राक्षा ॥ ४९ ॥

सृणीका-ऽस्तीक-प्रतीक-पूतीक-समीक-वाहीक-वाह्लीक-वल्मीक-कल्मलीक-तिन्तिडीक-कङ्कणीक-किङ्किणीक-पुण्डरीक-चञ्चरीक-फर्फरीक-झर्झरिक-घर्घरीका-ऽऽदयः ॥ ५० ॥

एते किदीकप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते । सर्तेर्णोऽन्तश्च, सृणीकः-वायुः अग्निः अशनिः, उन्मत्तश्च, सृणीका लाला अस्तेस्तोऽन्तश्च । अस्तीकः-जरत्कारुसुतः । प्रांक् पूरणे, प्रातेस्तोऽन्तो ह्रस्वश्च प्राति शरीरमिति-प्रतीकः-वायुः अवयवः, सुखं च । सुप्रतीकः-दिग्गजः । पुवस्तोऽन्तश्च, पूतीकं तृणजातिः । सम्पूर्वस्य एतेर्लुक् च, संयन्त्यस्मिन्निति समीकं-संग्रामः । वहि-वल्ह्यो-र्दीर्घश्च, वाहीकः, वाल्हीकः, एतौ देशौ । वलेर्मोऽन्तश्च, वल्मीकः-नाकुः । कलेर्मलश्चान्तः, कल्मलीकं-ज्वाला । तिमेस्तिड् चान्त, तिन्तिडीकः-पक्षी, वृक्षाम्लश्च, तन्तिडीक इति पूर्वस्येत्वं नेच्छन्त्येके । चङक्षण्यतेः कङ्कण् च, कङ्कणीकः-घण्टाजालम् । किमः परात् कणतेः किण् च, किङ्किणीका-घण्टिका । पुणेर्डर चान्तः, पुण्डतेर्वा अर्, पुण्डरीकं-पद्मं, छत्रं व्याघ्रश्च । चञ्चेरर् चान्तः, चञ्चरीकः-भ्रमरः । पिपर्त्तेर्गुणो द्वित्वं

पकारयोः फत्वं रश्चान्तः पूर्वस्य, फर्फरीकं–पल्लवं, पादुका, मर्दलिका च झोर्यतेर्द्वित्वं तृतीयाभावः पूर्वस्य रश्चान्तः, झर्झरीकः-देहः, झर्झरीका–वादित्रभाण्डम् । एवं–घस्ते, घर्घरीका–घण्टिका आदिग्रहणादन्येऽपि ।। ५० ।।

मि-वमि-कटि-भल्लि-कुहेरुकः ॥ ५१ ॥

एभ्य उकः प्रत्ययो भवति । डुमिंग्ट् प्रक्षेपणे, मयुकः–आतपः । बाहुलकात् "मिग्-मीनो०" [४–२–८] इति नात्वम् । टुवम् उद्गिरणे, वमुकः–जलदः । कटे वर्षा-ऽऽवरणयोः, कटुकः–रसविशेषः । भल्लि परिभाषण-हिंसादानेषु, भल्लुकः–ऋक्षः । कुहणि विस्मापने, कुहुकम्–आश्चर्यम् ।। ५१ ।।

सं-विभ्यां कसेः ॥ ५२ ॥

आभ्यां परस्मात् कसेरुकः प्रत्ययो भवति कस गतौ, संकसुकः-सुकुमारः, परापवादशीलः, श्राद्धाग्निश्च, संकसुकं–व्यक्ताव्यक्तं संकीर्णं च । विकसुकः-गुणवादी, परिश्रान्तश्च ।। ५२ ।।

क्रमेः क्रुम् च वा ॥ ५३ ॥

क्रमेरुकः प्रत्ययो भवति, अस्य च 'क्रुम' इत्यादेशो वा भवति । क्रमू पादविक्षेपे, क्रुमुकः–बन्धनम् आदेशविधानबलाच्च न गुणः क्रमुकः पूगतरु ।। ५३ ।।

कमि-तिमेर्दोऽन्तश्च ॥ ५४ ॥

आभ्यामुकः प्रत्ययो भवति, दश्चान्तो भवति । कमुङ्कान्तौ, कन्दुकः- क्रीडनम् । तिमच् आर्द्रभावे, तिन्दुकः–वृक्षः ।। ५४ ।।

मण्डेर्मड्डश्च ॥ ५५ ॥

मण्डेरुकः प्रत्ययो भवति मड्ड च आदेशो भवति । मड्ड भूषायाम् मड्डुकः–वाद्यविशेषः ।। ५५ ।।

कण्यणेर्णित् ॥ ५६ ॥

आभ्यां णिदुकः प्रत्ययो भवति । कण अण शब्दे, काणुकः काकः, हिंस्रश्च, काणुकम् आणुकं च–अक्षिमलम् ।। ५६ ।।

कञ्चुकांशुक–नंशुक-पाकुक-हिबुक-चिबुक-जम्बुक-चुलुक-चूचुकोल्मुक-भावुक-पृथुकमधुकादयः ॥ ५७ ॥

एते किदुकप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते कचि बन्धने अशौटि व्याप्तौ, नशौच् अदर्शने, एषां स्वरान्नोऽन्तश्च कञ्चुकः–कूर्पासः, अंशुकं–वस्त्रम् नंशुको–रणरेणुः, प्रवासशीलः, चन्द्रः, प्रावरणं च । पचेः पाक् च पाकुकः–लघुपाची सूपः, सूपकारः अध्वर्युश्च । हिनोति–चिनोति जमतीनां वोऽन्तश्च, हिबुकं–लग्नाच्चतुर्थं स्थानम्, रसातलं, चिबुकं–मुखा-

घोभागः, जम्बुकः-सृगालः। चुलुम्पः सौत्रः, अन्त्यस्वरादिलोपश्च चुलुम्पतीति-चुलुकः करकोशः चतेश्चूच् च, चूचुकः-स्तनाग्रभागः। ज्वलेरुल्म् च, उल्मुकम्-अलातम्। भातेर्वोऽन्तश्च, भावुकः-भगिनीपतिः। प्रथिष् प्रख्याने, पृथुकः-शिशुः व्रीह्याद्यभ्यूषश्च। मचि कल्कने, घश्चान्तादेशः, मधुकं-यष्टीमधुः। आदिग्रहणाद् वालुकी-वालुकादयो भवन्ति ॥५७॥

मृ-मन्यञ्जि-जलि-बलि-तलि-मलि-मल्लि-भालि-मण्डि-बन्धिभ्य ऊकः ॥ ५८ ॥

एभ्य ऊकः प्रत्ययो भवति। मृत् प्राणत्यागे, मरूकः-मयूरः, मृगः, निदर्शनेभः, तृणं च। मनिच् ज्ञाने, मनूकः-कृमिजातिः। अञ्जौप् व्यक्ति-म्रक्षण-गतिषु, अञ्जूकः-हिस्रः। जल घात्ये, जलूका-जलजन्तुः। बल प्राणन-धान्यावरोधनयोः, बलूकः-उत्पलमूलं, मत्स्यश्च तलण् प्रतिष्ठायाम्, तलूकः-त्वक्कृमिः। मलि धारणे, मलूकः-सरोजशकुनिः। मल्लि धारणे, मल्लूकः-कृमिजातिः। भलिण् आभण्डने, भालूकः ऋक्षः। मुह् भूषायाम् मण्डूकः-दुर्दुरः बन्धंश् बन्धने, बन्धूकः-बन्धुजीवः ॥ ५८ ॥

शल्यणेर्णित् ॥ ५९ ॥

आभ्यां णिदूकः प्रत्ययो भवति। पल फल शल गतौ, शालूकं-जलकन्दः, बलवांश्च। अण शब्दे, आणूकम्-अक्षिमलम् ॥ ५९ ॥

कणि--भल्लेर्दीर्घश्च वा ॥ ६० ॥

आभ्यामूकः प्रत्ययो भवति, दीर्घश्चानयोर्वा भवति। कण शब्दे, कणूकः-धान्यस्तोकः, काणूकः-पक्षी, काणूकम्-अक्षिमलम्, तमो वा। भल्लि परिभाषण-हिंसा-दानेषु, भल्लूकः भाल्लूकश्च-ऋक्षः ॥ ६० ॥

शम्बूक--शाम्बूक-वृधूक-मधूकोलूकोरुबूक-वरूकादयः ॥ ६१ ॥

एते ऊकप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते। शमेर्वोऽन्तो दीर्घश्च वा। शम्बूकः-शङ्खः, शाम्बूकः स एव। वृश् भरणे, अस्य वृधभावश्च, वृधूकः-मातृवाहकः, वृधूकं जलम्। मदेर्धश्च, मदयतीति-मधूकः-वृक्षः। अलेरुच्चोपान्त्यस्य, उलूकः-काकारिः। उरुपूर्वाद् वातेः किच्च, उरु वाति उरुबूकः-एरण्डः। वृधेर्लोपश्च, वर्धत इति-वरूकः-तृणजातिः आदिग्रहणादनूकवावदूकाऽऽदयो भवन्ति ॥ ६१ ॥

किरोऽङ्को रो लश्च वा ॥ ६२ ॥

किरतेरङ्कः प्रत्ययो भवति। रेफस्य च लकादेशो वा भवति। करङ्कः-समुद्रः, कलङ्कः-लाञ्छनम् ॥ ६२ ॥

रा-ला-पा-का-भ्यः कित् ॥ ६३ ॥

एभ्य किदङ्कः प्रत्ययो भवति। रांक् दाने, रङ्कः बलीयान्। लांक् दाने, लङ्का पुरी। पांक् रक्षणे, पङ्कः कर्दमः। कैं शब्दे कङ्कः पक्षी ॥ ६३ ॥

कुलि-चिरिभ्यामिङ्कक् ॥ ६४ ॥

आभ्यामिङ्कक् प्रत्ययो भवति । कुल बन्धुसंस्त्यानयोः, कुलिङ्कः चटका । चिर हिंसायाम् सौत्रः, चिरिङ्कं जलयन्त्रम् ॥ ६४ ॥

कलेरविङ्कः ॥ ६५ ॥

कलेरविङ्कः प्रत्ययो भवति । कलि शब्दसंख्यानयोः, कलविङ्कः गृहचटकः ॥ ६५ ॥

क्रमेरेलकः ॥ ६६ ॥

क्रमू पादविक्षेपे, इत्यस्मादेलकः प्रत्ययो भवति । क्रमेलकः करभः ॥ ६६ ॥

जीवेरातृको जैव् च ॥ ६७ ॥

जीव प्राणधारणे, इत्यस्मादातृकः प्रत्ययो भवति, जैव इत्यादेशश्च भवति । जैवातृकः आयुष्मान् चन्द्रः आम्रः वैद्यः मेघश्च । जैवातृका जीवद्वत्सा स्त्री ॥ ६७ ॥

हृ-भू-लाभ्य आणकः ॥ ६८ ॥

एभ्य आणकः प्रत्ययो भवति । हृंग् हरणे, हराणकः चौरः । भू सत्तायाम् , भवाणकः गृहपतिः । लांक् आदाने, लाणकः हस्ती ॥ ६८ ॥

प्रियः कित् ॥ ६९ ॥

प्रींग्श् तृप्तिकान्त्योः, इत्यस्मादाणकः प्रत्ययो भवति स च कित् भवति । प्रियाणकः पुत्रः ॥ ६९ ॥

धा--लू-- शिङ्घिभ्यः ॥ ७० ॥

योगविभाग उत्तरार्थः एभ्यश्च आणकः प्रत्ययो भवति । डुधांग्क् धारणे च, धाणकः दीनारद्वादशभागः हविषां ग्रहः छिद्रपिधानं च । लूग्श् छेदने, लवाणकः कालः तृणजातिः दात्रं च । शिघु आघ्राणे, शिङ्घाणकः नासिकामलः ॥ ७० ॥

शी-भी राजेश्चानकः ॥ ७१ ॥

शीभीराजिभ्यो धालूशिङ्घिभ्यश्च आनकः प्रत्ययो भवति । शीङ्क् स्वप्ने, शयानकः-अजगरः, शैलश्च । ञिभींक् भये, बिभेत्यस्मादिति भयानकः भीमः, व्याघ्रः, वराहः, राहुश्च । राजृग् दीप्तौ, राजानकः-क्षत्रियः । डुधांग्क् धारणे च, धानकः-हेमादिपरिमाणम् । लूग्श् छेदने, लवानकः-देशविशेषः, दात्रं च । शिङ्घन्त्यनेनेति शिङ्घानकः-श्लेष्मायुः पुरीषं च ॥ ७१ ॥

अणेर्डित् ॥ ७२ ॥

अणेर्डिदानकः प्रत्ययो भवति । अण् शब्दे, आनकः-पटहः ॥ ७२ ॥

कनेरीनकः ॥ ७३ ॥

कनै दीप्तिकान्तिगतिषु, इत्यस्मादीनकः प्रत्ययो भवति । कनीनकः–कनीनिका वाऽक्षितारका ॥ ७३ ॥

गुङ् ईधुकैधुकौ ॥ ७४ ॥

गुङ् शब्दे, इत्यस्मादीधुक एधुक–इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः । गवीधुकं–नरम्, धान्यजातिश्च । गवेधुकातृणजातिः ॥ ७४ ॥

वृतेस्तिकः ॥ ७५ ॥

वृतूङ् वर्तने, इत्यस्मात्तिकः प्रत्ययो भवति । वर्तिका-चित्रकरोपकरणम्, शकुनिः, द्रव्यगुटिका च ॥ ७५ ॥

कृति-पुति-लति-भिदिभ्यः कित् ॥ ७६ ॥

एभ्यः कित्तिकः प्रत्ययो भवति । कृतैत् छेदने, कृत्तिका नक्षत्रम् । पुतिलती सौत्रौ, पुत्तिका-मधुमक्षिका लत्तिका-वाद्यविशेषः; गौः गोधा च, गोपूर्वात् गोलत्तिका-गृहगोलिका; अवपूर्वात्, अवलत्तिका–गोधा, आलत्तिका–गानप्रारम्भः । भिदृंपी विदारणे, भित्तिका, कुड्यम्, माषादिचूर्णम्, शरावती च नदी ॥ ७६ ॥

इष्यशि-मसिभ्यस्तकक् ॥ ७७ ॥

एभ्यस्तकक् प्रत्ययो भवति । इषत् इच्छायाम्, इष्टका–मृद्विकारः । अशौटि व्याप्तौ, अष्टकाः–श्राद्धतिथयस्तिस्रः, अष्टम्यः, पितृदैवत्यं च । मसैच् परिणामे, मस्तकः–शिरः ॥ ७७ ॥

भियो द्वे च ॥ ७८ ॥

ञिभींक् भये, इत्यस्मात्तकक् प्रत्ययो भवति द्वे च रूपे भवतः । बिभीतकः-अक्षः ।७८

हृ-रुहि-पिण्डिभ्य ईतकः ॥ ७९ ॥

एभ्य ईतकः प्रत्ययो भवति । हृंग् हरणे हरीतकी पथ्या । रुहं जन्मनि, रोहीतकः–वृक्षविशेषः । पिडुङ् संघाते, पिण्डीतकः-करहाटः ॥ ७९ ॥

कुषेः कित् ॥ ८० ॥

कुषश् निष्कर्षे, इत्यस्मात् किदीकः प्रत्ययो भवति । कुषीतकः–ऋषिः ॥ ८० ॥

बलि-बिलि-शलि-दमिभ्य आहकः ॥ ८१ ॥

एभ्य आहकः प्रत्ययो भवति । बल प्राणनधान्यावरोधयोः, बलाहकः-मेघः, वातश्च । बिलत् भेदने, बिलाहकः–वज्रः । बाहुलकान्न गुणः । शल गतौ, शलाहकः-वायुः । दमूच् उपशमे, दमाहकः–शिष्यः ॥ ८१ ॥

चण्डि-भल्लिभ्यामातकः ॥ ८२ ॥

आभ्यामातकः प्रत्ययो भवति । चडुङ् कोपे, चण्डातकं-नर्तक्यादिवासः । भल्लि परिभाषणहिंसादानेषु, भल्लातकः-वृक्षः ॥ ८२ ॥

श्लेष्मातकाम्रातकामिलातक-पिष्टातकादयः ॥ ८३ ॥

एते आतकप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते । श्लिषेर्मश्च परादिः, श्लेष्मातकः कफेलुः । अमेर्वृद्धो रश्चान्तः, आम्रातकः-वृक्षः । नञः परस्य म्लायतेर्मिल् च, अमिलातकम्-वर्णपुष्पम् । पिषेस्तोऽन्तश्च, पिष्टातकंवर्णचूर्णम् आदिग्रहणात् कोशातक्यादयो भवन्ति ॥८३॥

शमि-मनिभ्यां खः ॥ ८४ ॥

आभ्यां खः प्रत्ययो भवति, शमूच् उपशमे, शङ्खः-कम्बुः, निधिश्च । मनिच् ज्ञाने, मङ्खः मागधः, कृपणः, चित्रपटश्च मङ्खा-मङ्गलम् ॥ ८४ ॥

श्यतेरिच्च वा ॥ ८५ ॥

शोंच् तक्षणे, इत्यस्मात् खः प्रत्ययो भवति, इश्चास्यान्तादेशो वा भवति । शिखा-चूडा, ज्वाला च, विशिखा-आपणः । विशिखः-बाणः । शाखा-विटपः । विशाखा-नक्षत्रम् । विशाखः-स्कन्दः ॥ ८५ ॥

पू-मुहोः पुन्मुरौ च ॥ ८६ ॥

पूङ् पवने मुहौच् वैचित्ये, इत्येताभ्यां खः प्रत्ययो भवति । अनयोश्च यथासंख्यं पुन्मुर् इत्यादेशौ भवतः । पुङ्खः-बाणबुध्नभागः, मङ्गलाचारश्च । मूर्खः-अज्ञः ॥ ८६ ॥

अशेर्डित् ॥ ८७ ॥

अशौटि व्याप्तौ, इत्यस्मात् डित् खः प्रत्ययो भवति । अश्नुत इति खमाकाशमिन्द्रियं च, नास्य खमस्ति नखः, शोभनानि खानि अस्मिन् सुखम् । दुष्टानि खान्यस्मिन् दुःखम् ॥ ८७ ॥

उषेः किल्लुक् च ॥ ८८ ॥

उष् दाहे, इत्यस्मात् कित् खः प्रत्ययो भवति, लुक् चान्त्यस्य भवति । उषन्त्यस्यामिति उखा-स्थाली, ऊर्ध्वक्रिया वा ॥ ८८ ॥

महेरुच्चास्य वा ॥ ८९ ॥

मह पूजायाम्, इत्यस्मात् खः प्रत्ययः अन्तलुक् अकारस्य च उकारादेशो वा भवति । मुखमाननम्, मखः यज्ञः, अध्वर्युः, ईश्वरश्च ॥ ८९ ॥

न्युङ्खादयः ॥ ९० ॥

न्युङ्खादयः शब्दाः खप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते । नयतेः ख उन् चान्तः, न्युङ्खाः-षडोङ्काराः । आदिग्रहणादन्येऽपि ॥ ९० ॥

मये-धिभ्यामूखेखौ ॥ ९१ ॥

मयि गतौ, एधि वृद्धौ, इत्याभ्यां यथासंख्यं ऊख, इख इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः । मयूखः-रश्मिः । एधिखः-वराहः ॥ ९१ ॥

गम्यमि-रम्यजि-गद्यदि-छो-गडि-खडि-गॄ-भृ-वृ-स्वृभ्यो गः ॥ ९२ ॥

एभ्यो गः प्रत्ययो भवति । गम्लृं गतौ, गङ्गादेवनदी । अम गतौ अङ्गम्-शरीरावयवः, अङ्गः समुद्रः, वह्निः, राजा च, अङ्गा-जनपदः । रमि क्रीडायाम्, रङ्गः-नाट्यस्थानम् । अज क्षेपणे च, वेगः-त्वरा, रेतश्च । गद वक्तायां वाचि, गदः-वाग्विकलः । अदंक् भक्षणे, अद्गः समुद्रः, अग्निः, पुरोडाशश्च । छोंच् छेदने, छागः-बस्तः । गड सेचने, गङ्गः-मृगजातिः । खडण् भेदे, खड्गः मृगविशेषः असिश्च । गॄत् निगरणे, गर्गः-ऋषिः । डुडुभृंग्क् पोषणे च, भर्गः-रुद्रः, सूर्यश्च । वृग्ट् वरणे, वर्गः संघातः औस्वृ शब्दोपतापयोः, स्वर्गः-नाकः ॥ ९२ ॥

पू-मुदिभ्यां कित् ॥ ९३ ॥

आभ्यां किद्गः प्रत्ययो भवति । पूग्श् पवने पूगः-संघातः, क्रमुकश्च । मुदि हर्षे मुद्गः-धान्यविशेषः ॥ ९३ ॥

भृ-वृभ्यां नोऽन्तश्च ॥ ९४ ॥

आभ्यां किद्गः प्रत्ययो भवति, नकारश्चान्तो भवति । डुडुभृंग्क् पोषणे भृङ्गः-पक्षी, भ्रमरः वर्णविशेषः, लवङ्गश्च । वृग्ट् वरणे, वृङ्गः-पक्षी, उपपतिः ॥ ९४ ॥

द्रमो णिद्वा ॥ ९५ ॥

द्रम गतौ, इत्यस्माद्गः प्रत्ययो भवति स च णिद्वा । द्राङ्गं-शीघ्रम्, द्राङ्गः-पांशुः, द्रङ्गः-नगरम्, द्रङ्गा-शुल्कशाला ॥ ९५ ॥

शृङ्ग-शार्ङ्गादयः ॥ ९६ ॥

शृङ्गादयः शब्दा गप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते । शॄश् हिंसायाम्, इत्यस्य नोऽन्तो ह्रस्वश्च । शृङ्गं-विषाणम्, शिखरं च, तस्यैव नोऽन्तो वृद्धिश्च, शार्ङ्गः-पक्षी । आदिग्रहणात् हृंग् हरणे, हार्गः-परितोषः । मृंत् प्राणत्यागे, मार्गः-पन्थाः ॥ ९६ ॥

तडेरागः ॥ ९७ ॥

तडण् आघाते, इत्यस्मादागः प्रत्ययो भवति । तडागं सरः ॥ ९७ ॥

पति-तमि-तॄ-पॄ-कॄ-शॄल्वादेरङ्गः ॥ ९८ ॥

एभ्योऽङ्गः प्रत्ययो भवति । पत्लृ गतौ, पतङ्गः-पक्षी शलभः, सूर्यः, शालि-

विशेषश्च । तमूच् काङ्क्षायाम् , तमङ्गः-हर्म्यनिर्यूहः । तॄ प्लवनतरणयोः, तरङ्गः-ऊर्मिः । पॄश् पालनपूरणयोः, परङ्गः-खगः, वेगश्च । कॄत् विक्षेपे, करङ्गः-कर्मशीलः । शॄश् हिंसायाम् , शरङ्गः-पक्षिविशेषः । लूग्श् छेदने, लवङ्गः-सुगन्धिवृक्षः । आदिग्रहणादन्येभ्योऽपि ।। ९८ ।।

सृ-वॄ-नॄभ्यो णित् ॥ ९९ ॥

एभ्यो णिदङ्गः प्रत्ययो भवति । सृं गतौ, सारङ्गः-हरिणः, चातकः, शबलवर्णश्च । वृग्ट् वरणे, वारङ्गः, काण्डखड्गयोः, शल्यं, शकुनिश्च । नॄश् नये, नारङ्गः-वृक्षजातिः ।९९।

मनेर्मत्मातौ च ॥ १०० ॥

मनिच् ज्ञाने, इत्यस्मादङ्गः प्रत्ययो भवति, मत्-मातौ चास्यादेशौ भवतः । मतङ्गः-ऋषिः, हस्ती च । मातङ्गः-हस्ती, अन्त्यजातिश्च ।। १०० ।।

विडि-विलि-कुरि-मृदि-पिशिभ्यः कित् ॥ १०१ ॥

एभ्यः किदङ्गः प्रत्ययो भवति । विड आक्रोशे, विडङ्गः-वृक्षजातिः, गृहावयवश्च । विलत् वरणे, विलत् भेदने वा, विलिङ्गः औषधम् । कुरत् शब्दे, कुरङ्गः-हरिणः, कुरङ्गी भोजकन्या मृदश् क्षोदे, मृदङ्गः-मुरजः । पिशत् अवयवे, पिशङ्गः-वर्णः । १०१ ।।

स्फुलि-कलि-पल्यादभ्य इङ्गक् ॥ १०२ ॥

स्फुल्यादिभ्य आदन्तेभ्यश्च इङ्गक् प्रत्ययो भवति । स्फुलत् संचये च, स्फुलिङ्गः स्फुलिङ्गा च अग्निकणः । कलि शब्दसंख्यानयोः, कलिङ्गो-राजा कलिङ्गा-जनपदः । पल-गतौ, पलिङ्गः, ऋषिः, शिला च । पातेः पिङ्गः । भातेः, भिङ्गाः । द्वावपि वर्णविशेषौ । ददातेः दिङ्गः-अध्यक्षः । दधातेः धिङ्गः-श्रेष्ठी । लातेः लिङ्गं-स्त्रीत्वादि हेतुश्च । आलिङ्गः-वाद्यविशेषः । श्यतेः शिङ्गः-वनस्पतिः, किशोरश्च ।। १०२ ।।

भलेरिदुतौ चातः ।। १०३ ॥

भलिण् आभण्डने, इत्यस्मादिङ्गक् प्रत्ययो भवति । अकारस्य च इकार-उकारौ भवतः । भिलिङ्गः-कर्मारोपकरणम् । भुलिङ्गः-ऋषिः, पक्षी च । भुलिङ्गाः साल्वावयवाः ।। १०३ ।।

अदेर्णित् ॥ १०४ ॥

अदंक् भक्षणे, इत्यस्मात् दिङ्गक् प्रत्ययो भवति । स च णित् भवति । आदिङ्गः-वाद्यजातिः ।। १०४ ।।

उच्चिलिङ्गादयः ।। १०५ ॥

उच्चिलिङ्गादयः शब्दा इङ्गक्प्रत्ययान्ता निपात्यन्ते । उत्पूर्वाच्चलेरस्येत्वं च । उच्चिलिङ्गः-दाडिमी । आदिग्रहणादन्येऽपि ।। १०५ ।।

माङस्तुलेरुङ्गक् च ॥ १०६ ॥

माङ्पूर्वात् तुलण् उन्माने, इत्यस्मात् उङ्गक् इङ्गक् च प्रत्ययौ भवतः । मातुलुङ्गः बीजपूरः, मातुलिङ्गः-स एव ।। १०६ ।।

कमि-तमि-शमिभ्यो डित् ॥ १०७ ॥

एभ्यो डिदुङ्गः प्रत्ययो भवति । कमूङ् कान्तौ, कुङ्गा जनपदः । तमूच् काङ्क्षायाम्, तुङ्गः-महावर्ष्मा, शमूच् उपशमे, शुङ्गः-मुनिः, शुङ्गा-विनता । शुङ्गाः-कन्दलयः ।१०७।

सर्तेः सुर्च ॥ १०८ ॥

सृं गतौ इत्यस्मादुङ्गः प्रत्ययो भवति, सुर् चास्यादेशो भवति । सुरुङ्गा-गूढमार्गः ।। १०८ ।।

स्था-र्ति-जनिभ्यो घः ॥ १०९ ॥

एभ्यो घः प्रत्ययो भवति । ष्ठां गतिनिवृत्तौ, स्थाघः-गाधः । ऋं प्रापणे च, अर्घः-मूल्यम्, मानप्रमाणं, पादोदकादि च । जनैचि प्रादुर्भावे, जङ्घाशरीरावयवः ।। १०९ ।।

मघा घङ्घाघ-दीर्घादयः ॥ ११० ॥

एते घप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते । मङ्घेर्नूघलोपश्च । मघा नक्षत्रम् । हन्तेर्हस्य घश्च, घङ्घः-घस्मरः, घङ्घा काङ्क्षा । अमेर्लुक् च, अघं-पापम् । दृणातेर्दीर् च, दीर्घ-आयतः, उच्चश्च । आदिशब्दादन्येऽपि ।।११०।।

सर्तेरघः ॥ १११ ॥

सृं गतौ, इत्यस्मादघः प्रत्ययो भवति । सरघामधुमक्षिका ।।१११।।

कु-पू-समिणभ्यश्चट् दीर्घश्च ॥ ११२ ॥

कुपूभ्यां सम्पूर्वाच्च इणश्चट् प्रत्ययो भवति । दीर्घश्च भवति, टो ङ्यर्थः । कुङ् शब्दे, कूचः-हस्ती, कूची-प्रमदा चित्रभाण्डम् , उदश्वित्, विकारश्च । पूग्श् पवने, पूचः, पूची मुनिः । इंणक् गतौ, समीचः ऋत्विक्, समीचं-मिथुनयोगः । समीची-पृथ्वी, उदीची च, दीर्घवचनाद् गुणो न भवति ।। ११२ ।।

कूर्च-चूर्चादयः ॥ ११३ ॥

कूर्च इत्यादयः शब्दाश्चट्प्रत्ययान्ता निपात्यन्ते । कवतेः किरतेः करोतेर्वा ऊरादेशश्चान्तस्य । कूर्चं-श्मश्रु आसनं, तन्तुवायोपकरणं, यतिपवित्रकं च । कूर्चमिव कूर्चकः कूर्चिकेति च भवति । चरतेश्चोरयतेर्वा चूरादेशश्च, चूर्चः-बलवान् । आदिशब्दादन्येऽपि ।। ११३ ।।

कल्यवि-मदि-मणि-कु-कणि-कुटि कुभ्योऽचः ॥ ११४ ॥

एभ्योऽचः प्रत्ययो भवति । कलि शब्दसंख्यानयोः, कलचः-गणकः । अव रक्षणादौ, अवचः-उच्चैस्तरः । मदैच् हर्षे, मदचः-मत्तः । मण शब्दे, मणचः-शकुनिः । कुङ् शब्दे, कवचं-वर्म । कण शब्दे, कणचः-कणयः । कुटत् कौटिल्ये, कुटचः-वृक्षजातिः, कृत् विक्षेपे, करचः-धान्यावपनम् ॥ ११४ ॥

क्रकचादयः ॥ ११५ ॥

क्रकच इत्यादयः शब्दा अच्प्रत्ययान्ता निपात्यन्ते । क्रमेः कश्च, क्रकचः-करपत्रः । आदिशब्दादन्येऽपि ॥ ११५ ॥

पिशेराचक् ॥ ११६ ॥

पिशत् अवयवे, इत्यस्मादाचक् प्रत्ययो भवति । पिशाचः-व्यन्तरजातिः ॥११६॥

मृ-त्रपिभ्यामिचः ॥ ११७ ॥

आभ्यामिचः प्रत्ययो भवति । मृंत् प्राणत्यागे, मरिचम् ऊषणम् । त्रपौषि लज्जायाम्, त्रपिचा-कुधा ॥ ११७ ॥

म्रियतेरीचण् ॥ ११८ ॥

मृंत् प्राणत्यागे, इत्यस्मादीचण् प्रत्ययो भवति । मारीचः-रावणमातुलः ॥११८॥

लषेरुचः कश्च ॥ ११९ ॥

लषी कान्तौ । इत्यस्मादुचः प्रत्ययो भवति । अन्त्यस्य च को भवति । लकुचः-वृक्षजातिः ॥ ११९ ॥

गुडेरूचट् ॥ १२० ॥

गुडत् रक्षायाम्, इत्यस्मादूचट् प्रत्ययो भवति । गुडूची-छिन्नरुहा । कुटादित्वात् टित्त्वम् ॥ १२० ॥

सिवेर्डित् ॥ १२१ ॥

षिवूच् ऊतौ, इत्यस्यात् उचट् प्रत्ययो डित् भवति । सूचः-पिशुनः, स्तिभिश्चः । सूची-संधानकरणी ॥१२१॥

चि-मेर्डोचडञ्चौ ॥ १२२ ॥

चिमिभ्यां प्रत्येकं डोच डञ्च इति प्रत्ययौ भवतः । वचनभेदान्न यथासंख्यम् । चिंग्ट् चयने, चोचः वृक्षविशेषः, चञ्चा-तृणमयः पुरुषः । डुमिंगट् प्रक्षेपणे, मोचा-कदली, मञ्चःपर्यङ्कः ॥१२२॥

कुटि-कुलि-कल्युदिभ्य इञ्चक् ॥ १२३ ॥

एभ्य इञ्चक् प्रत्ययो भवति । कुटेः, कुटिञ्चः-क्षुद्रकर्कटः । कुलेः, कुलिञ्चः-राशिः । कलेः, कलिञ्चः-उपशाखावयवः । उद आघाते सौत्रः, उदिञ्च कोणः-येन तूर्यं वाद्यते, परपुष्टश्च ॥१२३॥

तुदि-मदि-पद्यदि-गु-गमि-कचिभ्यश्छक् ॥ १२४ ॥

एभ्यश्छक् प्रत्ययो भवति । तुदींत् व्यथने, तुच्छः-स्तोकः । मदैच् हर्षे, मच्छः-मत्स्यः, प्रमत्तपुरुषश्च; मच्छा-स्त्री । पदिच् गतौ, पच्छः-शिला । अदंक् भक्षणे, अच्छः-निर्मलः । गुङ् शब्दे, गुच्छः स्तबकः । गम्लृ गतौ, गच्छः क्षुद्रवृक्षः । कचि बन्धने, कच्छः-कूर्मपादः, कुक्षिः नद्यवकुटारश्च । कच्छा जनपदः । बाहुलकात् कत्वाभावः ।१२४।

पीपूङोर्ह्रस्वश्च ॥ १२५ ॥

आभ्यां छक् प्रत्ययो भवति, ह्रस्वश्च भवति । पीङच् पाने, पिच्छम्-शकुनिपत्त्रम्, पिच्छः-गुणविशेषः । यद्वान् पिच्छिल उच्यते । पूङ् पवने, पुच्छं वालधिः ॥१२५॥

गुलुञ्छ-पिलिपिञ्छैधिच्छादयः ॥ १२६ ॥

एते छप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते । गुडेर्ल उम् चान्तः, गुलुञ्छः स्तवकः । पीलेरिपि नोन्तो ह्रस्वश्च, पिलिपिञ्छः-रक्षाविशेषः । एधेरिट् च, एधिच्छः-नगः । आदिग्रहणात् पिञ्छादयोऽपि भवन्ति ॥ १२६ ॥

वियो जक् ॥ १२७ ॥

वींक् प्रजनकान्त्यसनखादनेषु च, इत्यस्मात् जक् प्रत्ययो भवति । बीजम्-उत्पत्तिहेतुः ॥ १२७ ॥

पुवः पुन् च ॥ १२८ ॥

पूङ पवने, इत्यस्मात् जक् प्रत्ययो भवति । अस्य च पुन् इत्यादेशो भवति । पुञ्जः राशिः ॥१२८॥

कुवः कुब्कुनौ च ॥ १२९ ॥

कुङ शब्दे, इत्यस्मात् जक् प्रत्ययो भवति । अस्य च कुब् कुन् इत्यादेशौ भवतः । कुब्जः-वक्रानताङ्गः, गुच्छश्च । कुञ्जः-हनुः, पर्वतैकदेशश्च । निकुञ्जः-गहनम् ॥१२९॥

कुटेरजः ॥ १३० ॥

कुटत् कौटिल्ये, इत्यस्मादजः प्रत्ययो भवति । कुटजः-वृक्षविशेषः । कुटादित्वात् टित्त्वम्, कुटजी ॥ १३० ॥

भिषेर्भिषभिष्णौ च वा ॥ १३१ ॥

भिषेरजः प्रत्ययो भवति, भिषभिष्ण इत्यादेशौ चास्य वा भवतः। भिषिः सौत्रः, भिषजः। आदेशबलान्न गुणः। भिष्णजः-वैद्यः, भेषजम्-औषधम् ॥१३१॥

मुर्वेर्मुर् च ॥ १३२ ॥

मुर्वे बन्धने, इत्यस्मादजः प्रत्ययो भवति। अस्य च मुर् इत्यादेशो भवति। मुरजः-मृदङ्गः ॥ १३२ ॥

बलेर्वोन्तश्च वा ॥ १३३ ॥

बल प्राणनधान्यावरोधयोः, इत्यस्मात् अजः प्रत्ययो भवति, वकारश्चान्तो वा भवति। बल्वजः-मुञ्जविशेषः। बलजा-सबुसो धान्यपुञ्जः ॥ १३३ ॥

उटजादयः ॥ १३४ ॥

उटजादयः शब्दा अजप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते, वटेर्वस्योत्वं च। उटजं-मुनिकुटीरः। आदिशब्दात् भूर्जभरुजादयो भवन्ति ॥ १३४ ॥

कुलेरिजक् ॥ १३५ ॥

कुल बन्धुसंस्त्यानयोः, इत्यस्मात् इजक् प्रत्ययो भवति। कुलिजं-मानम् ॥१३५॥

कृगोऽञ्जः ॥ १३६ ॥

करोतेरञ्जः प्रत्ययो भवति। करञ्जः-वृक्षजातिः ॥ १३६ ॥

झमेर्झः ॥ १३७ ॥

झमू अदने, इत्यस्मात् झः प्रत्ययो भवति। झञ्झा-सशीकरो मेघवातः ॥१३७॥

लुषेष्टः ॥ १३८ ॥

लुष स्तेये, इत्यस्मात्टः प्रत्ययो भवति। लोष्टोमृत्पिण्डः ॥ १३८ ॥

नमि-तनि-जनि-वनि-सनो लुक् च ॥ १३९ ॥

एभ्यष्टः प्रत्ययो भवति, लुक् चान्तस्य भवति। णमं प्रह्वत्वे, नटः-भरतपुत्रः। तनूयी विस्तारे, तटंकूलम्। जनैचि प्रादुर्भावे, जटा-ग्रथितकेशसंघातः। वन षण संभक्तौ, वटः-न्यग्रोधः। सटा-अग्रथितः केशसंघातः ॥ १३९ ॥

जनि पणि किजुभ्यो दीर्घश्च ॥ १४० ॥

एभ्यष्टः प्रत्ययो भवति, दीर्घश्चैषां गुणापवादो भवति। जनैचि प्रादुर्भावे, पणि व्यवहारस्तुत्योः, जाण्टः, पाण्टः-वृक्षविशेषावेतौ। किजू सौत्रौ, कीटः-क्षुद्रजन्तुः। जूटः मौलिः ॥ १४० ॥

घटा घाटा घण्टादयः ॥ १४१ ॥

एते टप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते । हन्तेर्घघाघनश्च, घटा वृन्दम् । घाटा-स्वाङ्गम् । घण्टा-वाद्यविशेषः । आदिग्रहणात् छटादयो भवन्ति ॥ १४१ ॥

दिव्यवि श्रु-कु-कर्बि-शकि कङ्कि कृपि चपि चमि-कम्येधि-कर्कि मर्कि कक्खि तॄ-कृ-सृ-भृ-वृ-भ्यो-ऽटः ॥ १४२ ॥

एभ्योऽटः प्रत्ययो भवति । दिवूच् क्रीडादौ, देवटः देवकुलविशेषः, शिल्पी च । अव रक्षणादौ, अवटः-प्रपातः कूपश्च । श्रुंट् श्रवणे, श्रवटः छत्त्रम् कुंक् शब्दे, कवटः-उच्छिष्टम् । कर्ब गतौ कर्बटंक्षुद्रपत्तनम् । शक्लृंट् शक्तौ, शकटम्-अनः । ककुङ् गतौ, कङ्कटः-सन्नाहः । कङ्कटं सीमा । कृपौङ् सामर्थ्ये कर्पटं-वासः । चप सान्त्वने, चपटः-रसः । चमू अदने, चमटःघस्मरः । कमूङ् कान्तौ, कमटः-वामनः । एधि वृद्धौ, एघटः वल्मीकः । कर्कि-मर्की-सौत्रौ । कर्कटः-कपिलः, कुलीरश्च, कर्कटी-त्रपुसो । मर्कटः कपिः, क्षुद्रजन्तुश्च । कक्ख हसने, कक्खटः कर्कशः । तॄ प्लवनतरणयोः तरटः पीनः । डुकृंग् करणे, करटः काकः, करिकपोलश्च । सृ गतौ, सरटः कृकलासः । टुडुभृंग्क् पोषणे च, भरटः प्लवविशेषः भृत्यः, कुलालश्च । वृग्ट् वरणे, वरटः क्षुद्रधान्यम्, प्रहारश्च ॥ १४२ ॥

कुलि-विलिभ्यां कित् ॥ १४३ ॥

आभ्यां किदटः प्रत्ययो भवति । कुल बन्धुसंस्त्यानयोः, कुलटा-बन्धकी । विलत् विरणे, विलटानदी ॥ १४३ ॥

कपट-कीकटादयः ॥ १४४ ॥

कपटादयः शब्दा अटप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते । कम्पेर्नलोपश्च, कपटं माया । ककेरत ईच्च, कीकटः कृपणः । आदिग्रहणात् लघटपर्पटादयो भवन्ति ॥ १४४ ॥

अनि-शृ-पॄ-वृ ललिभ्य आटः ॥ १४५ ॥

एभ्य आटः प्रत्ययो भवति । अनक् प्राणने, अनाटः-शिशुः । शॄंश् हिंसायाम्, शराटः शकुन्तः । पॄश् पालनपूरणयोः, पराट आयुक्तकः । वृङश् संभक्तौ वराटः सेवकः । ललिण् ईप्सायाम्, ललाटम्, अलिकम् ॥ १४५ ॥

सृ सृपेः कित् ॥ १४६ ॥

आभ्यां किदाटः प्रत्ययो भवति । सृं गतौ, स्राटः पुरःसरः । सृप्लृं गतौ, सृपाटः अल्पः, कुमुदादिपत्त्रं च । सृपाटी-उपानत्, कुप्यम् अल्पपुस्तकश्च ॥ १४६ ॥

किरो लश्च वा ॥ १४७ ॥

किरतेः किदाटः प्रत्ययो भवति लश्चान्तो वा भवति । किलाटो-भक्ष्यविशेषः किराटो वणिक्, म्लेच्छश्च ॥ १४७ ॥

कपाट विराट शृङ्गाटप्रपुन्नाटादयः ॥ १४८ ॥

एते आटप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते । कम्पेर्नलोपश्च, कपाट अररिः 'जपादीनां पो वः' [२–३–१०५] इति वत्वे-कवाटः । वृङ् इत्वं च, विराटः-राजा । श्रयतेः शृङ्ग् च, शृङ्गाटं जलजविशेषः, विपणिमार्गश्च । प्रपूर्वात् पुणेर्नश्च, प्रपुनाटः–एडगजः । आदिशब्दात् खल्वाटादयो भवन्ति ॥ १४८ ॥

चिरेरिटो भ् च ॥ १४६ ॥

चिरेः सौत्रादिटः प्रत्ययो भवति, भकारश्चान्तादेशो भवति । चिर्भिटी वालुङ्की ॥ १४९ ॥

टिण्टश्चर् च वा ॥ १५० ॥

चिरेष्टिर्दिण्टः प्रत्ययो भवति, चर् इति चास्यादेशो वा भवति । चरिण्टी चिरिण्टी च-प्रथमवयाः स्त्री ॥ १५० ॥

तॄ-कॄ-कृषि-कम्पि-कृषिभ्यः कीटः ॥ १५१ ॥

एभ्यः किदिटः प्रत्ययो भवति । तॄ प्लवनतरणयोः, तिरीटं कूलवृक्षः, मुकुटं, वेष्टनं च । कॄत् विक्षेपे किरीटं मुकुटं, हिरण्यं च । कृपौङ् सामर्थ्ये, कृपीटं-हिरण्यं जलं च । कपुङ् चलने, कम्पीटं-कम्पः, कम्प्रं च । कृषींत् विलेखने, कृषीटं जलम् ॥ १५१ ॥

खञ्जेररीटः ॥ १५२ ॥

खञ्जु गतिवैकल्ये, इत्यस्मादरीटः प्रत्ययो भवति । खञ्जरीट खञ्जनः ॥१५२॥

गॄ-जॄ-दॄ-वॄ-भॄभ्य उट उडश्च ॥ १५३ ॥

एभ्य उट उडश्च प्रत्ययौ भवतः । भिन्नविभक्तिनिर्देश उटस्योत्तरत्रानुवृत्त्यर्थः । अप्रकृतस्यापि उडस्य विधानमिह लाघवार्थम् । गॄश् शब्दे, गरुटः–गरुडश्च-गरुत्मान् जॄष्च् जरसि, जरुटः, जरुडश्च वनस्पतिः । दॄश् विदारणे, दरुटः दरुडश्च बिडालः । वॄग्श् वरणे, वरुटः वरुडश्च मेषः । भॄष् भर्जने च, भरुटः भरुडश्च मेष एव ॥ १५३ ॥

मङ्केर्मकमुकौ च ॥ १५४ ॥

मकुङ् मण्डने, इत्यस्मात् उटः प्रत्ययो भवति, मक मुक इत्यादेशौ चास्य भवतः । मकुटः मुकुटश्च-किरीटः ॥ १५४ ॥

नर्कुट कुक्कुटोत्कुरुट-मुरुट-पुरुटादयः ॥ १५५ ॥

एते उटप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते । नृतेः कश्च, नर्कुटः-बन्दी । कुकेः कोऽन्तश्च, कुक्कुटः–कृकवाकः । उत्पूर्वात् कृगः, कुर् च उत्कुरुटः कचवारपुञ्जः । मुरिपुर्योर्गुणाभावश्च, मुरुटः यत् वेण्वादिमूलमृजूकर्तुं न शक्यते । पुरुटः-जलजन्तुः । आदिशब्दात् स्थपुटादयो भवन्ति ॥ १५५ ॥

दुरो द्रः कूटश्च दुर् च ॥ १५६ ॥

दुर्पूर्वात् दृणातेः किद्‌ूट उठश्च प्रत्ययौ भवतः । दुर् चास्यादेशो भवति । दुर्दुरूटः-दुर्मुखः, दुर्दुरुटः देशकालवादी ॥ १५६ ॥

बन्धेः ॥ १५७ ॥

बन्धंश् बन्धने, इत्यस्माद् कित उटः प्रत्ययो भवति । वधूटी-प्रथमवयाः स्त्री ।१५७

चपेरेटः ॥ १५८ ॥

चप् सांत्वने, इत्यस्मादेटः प्रत्ययो भवति । चपेटः चपेटा वा-हस्ततलाहतिः ।१५८

ग्रो णित् ॥ १५९ ॥

गृत् निगरणे, इत्यस्मात् णिदेटः प्रत्ययो भवति । गारेटः-ऋषिः ॥ १५९ ॥

कृ-शक् शाखेरोटः ॥ १६० ॥

एभ्य ओटः प्रत्ययो भवति । डुकृंग् करणे, करोटः भृत्यः, शिरः, कपालं च, करोटं-भाजनविशेषः । शक्लृंट् शक्तौ, शकोटः-बाहुः । शाखृ श्लाखृ व्याप्तौ, शाखोटः वृक्षविशेषः ॥ १६० ॥

कपोट-वकोटाक्षोट-कर्कोटादयः ॥ १६१ ॥

एते ओटप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते । कवृङ् वर्णे, पश्च, कपोटः-वर्णः, कितवश्च । वचे कश्च, वकोटः वकः । अश्नातेः सश्च परादिः, अक्षोटः-फलवृक्षः । कृगः-कोऽन्तश्च, कर्कोटः-नागः । आदिशब्दादन्येऽपि भवन्ति ॥ १६१ ॥

वनि-कणि-काश्युषिभ्यष्ठः ॥ १६२ ॥

एभ्यष्ठप्रत्ययो भवति । वन भक्तौ, वण्ठः अनिविष्टः । कण शब्दे, कण्ठः-कन्धरा । काशृङ् दीप्तौ, काष्ठं-दारु, काष्ठा-दिक् अवस्था च । उषू दाहे, ओष्ठः-दन्तच्छदः ।१६२

पी-विशि-कुणि-पृषिभ्यः कित् ॥ १६३ ॥

एभ्यः कित् ठः प्रत्ययो भवति । पीङ्च् पाने, पीठम्-आसनम् । विशंत् प्रवेशने, विष्ठा-पुरीषम् । कुणत् शब्दोपकरणयोः, कुण्ठः-अतीक्ष्णः पृषू सेचने पृष्ठः-अङ्कुशः, शरीरैकदेशश्च ॥ १६३ ॥

कुषेर्वा ॥ १६४ ॥

कुषश् निष्कर्षे, इत्यस्मात् ठः प्रत्ययो भवति स च वा कित् भवति । कुष्ठं-व्याधिः गन्धद्रव्यं च, कोष्ठः-कुशूलः, उदरं च ॥ १६४ ॥

शमेलुक् च वा ॥ १६५ ॥

शमूच् उपशमे, इत्यस्मात् ठः प्रत्ययो भवति, लुक् चान्तस्य वा भवति । शठः धूर्तः शण्ठः-स एव, नपुंसकं च ।। १६५ ।।

पष्ठैधिठादयः ॥ १६६ ॥

षष्ठादयः शब्दाष्ठप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते । पुषेः कित् ठः पषादेशश्च । पष्ठः-प्रस्थः, पर्वतश्च । एधतेरिट् च, एधिठं वनम्, एधिठः-गिरिसरिद्‌ह्रदः । आदिशब्दादन्येऽपि ।। १६६ ।।

मृ-जॄ-शॄ-कम्यमि-रमि-रपिभ्योऽठः ॥ १६७ ॥

एभ्योऽठः प्रत्ययो भवति । मृंत् प्राणत्यागे, मरठः दध्यतिद्रवीभूतम्, कृमिजातिः, कण्ठः, प्राणश्च । जॄष्च् जरसि, जरठः-कठोरः । शॄश् हिंसायाम् . शरटः आयुधं, पापं, क्रीडनशीलश्च । कमूङ् कान्तौ कमठः-भिक्षाभाजनम्, कूर्मास्थि, कच्छपः मयूरः, वामनश्च । अम गतौ, अमठः-प्रकर्षगतिः । रमि क्रीडायाम्, रमठः-देशः, कृमिजातिः, क्रीडनशीलः म्लेच्छः, देवश्च, विलातानाम् । रप व्यक्ते वचने रपठः-विद्वान्, मण्डूकश्च ।। १६७ ।।

पञ्चमात् डः ॥ १६८ ॥

पञ्चमान्तात् धातोर्डः प्रत्ययो भवति । षन भक्तौ, षण्डः-वनं, वृषभश्च । बाहुलकात् सत्वाभावः । भण शब्दे, भण्डः-प्रहसनकरः, बन्दी च । चण शब्दे, चण्डः-क्रूरः । पणि व्यवहारस्तुत्योः पण्डः-शण्डः । गणण् संख्याने, गण्डः-पौरुषयुक्तः पुरुषः । मण शब्दे, मण्डः-रश्मिः, अग्रम्, अन्नविकारश्च । वन भक्तौ, वण्डः-अल्पशेफः, निश्चर्माग्रशिश्नश्च । शमू दमूच् उपशमे, शण्डः-उत्सृष्टः, पशुः ऋषिश्च । दण्डः-वनस्पतिप्रतानः, राजशासनं, नालं, प्रहरणं च रमि क्रीडायाम्, रण्डः-पुरुषः, रण्डा-स्त्री, रण्डम्-अन्तःकरणम् । त्रयमपि स्वसम्बन्धिशून्यमेवमुच्यते । तमेस्तनेर्वा, तण्डः ऋषिः । वितण्डा-तृतीयकथा । गमेः, गण्डः-कपोलः । भामि क्रोधे, भाण्डम्-उपस्करः ।। १६८ ।।

कण्यणि-खनिभ्यो णिद्वा ॥ १६९ ॥

एभ्यो डः प्रत्ययो भवति, स च णिद्वा भवति । कण अण शब्दे, काण्डः शरः, फलसंघातः, पर्व च कण्डं-भूषणं, पर्व च । आण्डः-मुष्कः, अण्डः-स एव, योनिविशेषश्च खनूग् अवदारणे, खाण्डः-कालाश्रयो गुडः । खण्डः-इक्षुविकारोऽन्यः । खण्डं-शकलम् ।१६९।

कु-गु-हु-नी-कुणि-तुणि-पुणि-मुणि-शुन्यादिभ्यः कित् ॥ १७० ॥

एभ्यः कित् डः प्रत्ययो भवति । कुङ शब्दे, कुडः-घटः, हलं च । गुङ् शब्दे, गुडः-गोलः, इक्षुविकारश्च, गुडा-सन्नाहः । हुंक् दानादानयोः, हुडः-मूर्खः मेषश्च । णींग् प्रापणे, नीडं-कुलायः । कुणत् शब्दोपकरणयोः, कुण्डं-भाजनम्, जलाधारविशेषश्च । कुण्डः-भर्तरि जीवति जारेण जातः अपट्वीन्द्रियश्च । तुणत् कौटिल्ये, तुण्डम्-मुखम् । पुणत् शुभे,

पुण्डः भिन्नवर्णः । मुणत् प्रतिज्ञाने, मुण्डः-परिवापितकेशः । शुनत् गतौ, शुण्डा–सुरा, हस्तिहस्तश्च । आदिग्रहणादन्येभ्योऽपि भवति ।। १७० ।।

ऋ-सृ-तृ-व्या-लिह्यवि-चमि-वमि यमि-चुरि-कुहेरडः ।। १७१ ।।

एभ्यो अडः प्रत्ययो भवति । ऋंक् गतौ, अरडः-तरुः । सृं गतौ, सरडः–भुजपरिसर्पः, तरुश्च । तॄ प्लवनतरणयोः, तरडः-वृक्षजातिः । व्येंग् संवरणे, व्याडः–दुःशीलः, हिंस्रः, पशुः, भुजगश्च । लिहींक् आस्वादने, लेहडः–श्वा, चौर्यग्रासी च । अव रक्षणादौ, अवडः–क्षेत्रविशेषः । चमू अदने, चमडः पशुजातिः । टुवम् उद्गिरणे, वमडः-लूताजातिः । यमू उपरमे, यमडः-वनस्पतिः, युगलं च । चुरण् स्तेये चोरडः-चोरः । कुहणि विस्मापने, कुहडः–उन्मत्तकः ।। १७१ ।।

विहड-कहोड-कुरड-केरड-क्रोडादयः ।। १७२ ।।

एतेऽडप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते । विपूर्वात् हन्तेरनो लुक् च, विहडः शकुनिः मूढचित्तश्च । कषेर्हः प्रत्ययोऽकारस्य च ओकारः, कहोडः ऋषिः । करेर्गुणाभावश्च, कुरडः–मार्जारः । किरतेः केर् च, केरडः–त्रैराज्ये राजा । कृगः कित् प्रत्ययोकारस्य च ओकारः । क्रोडः-किरिः, अङ्कश्च । आदिग्रणात् लहोडादयो भवन्ति ।। १७२ ।।

जॄ-कॄ-तॄ-शॄ-सॄ-भृ-वॄभ्योऽण्डः ।। १७३ ।।

एभ्योऽण्डः प्रत्ययो भवति । जॄष्च् जरसि, जरण्डः–अतीतवयस्कः । कॄत् विक्षेपे, करण्ड –समुद्गः, समुद्रः, कृमिजातिश्च । तॄ प्लवनतरणयोः, तरण्डः–प्लवः, वायुश्च । शॄश् । हिंसायाम्, शरण्डः-हिंस्रः, आयुधं च । सृं गतौ, सरण्डः–कृमिजातिः, इषीका, वायुः, भूतसंघातः, तृणसमवायश्च । टुडुभृंग्क् पोषणे च, भरण्डः–भण्डजातिः, पक्षी च । वॄग्ट् वरणे, वरण्डः-कुड्यम् , तृणकाष्ठादिभारश्च ।। १७३ ।।

पूगो गादिः ।। १७४ ।।

पूग्श् पवने, इत्यस्मात् गकारादिः अण्डः प्रत्ययो भवति । पोगण्डः–विकलाङ्गः युवा च ।। १७४ ।।

वनेस्त् च ।। १७५ ।।

वन भक्तौ, इत्यस्माद् अण्डः प्रत्ययो भवति, तकारश्चान्तादेशो भवति । वतण्डः–ऋषिः ।। १७५ ।।

पिचण्डैरण्ड-खरण्डादयः ।। १७६ ।।

एतेऽण्डप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते । पिचेरगुणत्वं च । पिचण्डः-लघुलगुडः । ईरेर्गुणश्च, एरण्ड.–पञ्चाङ्गुलः । खादृ भक्षणे, अन्त्यस्वरादेरादेशश्च, खरण्डः-सर्वर्तुकम् । आदिग्रहणात् कूष्माण्डशयण्डशयाण्डादयोऽपि भवन्ति ।। १७६ ।।

लगेरुडः ॥ १७७ ॥

लगे सङ्गे इत्यस्मात् उडः प्रत्ययो भवति। लगुडः यष्टिः। गॄ-जॄ-दॄ-वॄ-भॄभ्यस्तु उडो विहित एव ।। १७७ ।।

कुशेरुण्डक् ॥ १७८ ॥

कुशच् श्लेषे, इत्यस्मात् उण्डक् प्रत्ययो भवति कुशुण्डः–वपुष्मान् ।। १७८ ।।

शमि-षणिभ्यां ढः ॥ १७९ ॥

आभ्यां ढः प्रत्ययो भवति। शमूच् उपशमे, शण्ढः–नपुंसकम्। षन भक्तौ, षण्ढः–स एव। बाहुलकात् सत्वाभावः ।। १७९ ।।

कुणेः कित् ॥ १८० ॥

कुणत् शब्दोपकरणयोः, इत्यस्मात् कित् ढः प्रत्ययो भवति। कुण्ढः–धूर्तः। बाहुलकान्न दीर्घः ।। १८० ।।

नञः सहेः षा च ॥ १८१ ॥

नञ्पूर्वात् षहि मर्षणे, इत्यस्मात् ढः प्रत्ययो षा चास्यादेशो भवति। अषाढा-नक्षत्रम् ।। १८१ ।।

इणुर्वि-शा-वेणि-पॄ-कॄ-वॄ-तॄ-जॄ-दॄ-सृपि-पणिभ्यो णः ॥ १८२ ॥

एभ्यो णः प्रत्ययो भवति। इंणक् गतौ, एणः-कुरङ्गः। उर्वै हिंसायाम्, उर्णा-मेषादिलोम, भ्रुवोरन्तरावर्तश्च। शोंच् तक्षणे, शाणः–परिमाणम्, शस्त्रतेजनं च। वेणृग् गतिज्ञानचिन्तानिशामनवादित्रग्रहणेषु, वेण्णा कृष्णवेण्णा च नाम नदी। पॄश् पालन-पूरणयोः, पर्णं-पत्रं, शिरश्च। कॄत् विक्षेपे, कर्णः-श्रवणं, कौन्तेयश्च। वॄग्श् वरणे, वर्णः-शुक्लादिः, ब्राह्मणादि, अकारादिः, यशः, स्तुतिः, प्रकारश्च। तॄ प्लवनतरणयोः, तर्णः-वत्सः। जॄष्च् जरसि, जर्णः–चन्द्रमाः, वृक्षः, कर्कः, क्षयधर्मा, शकुनिश्च। दॄङ्त् आदरे, दर्णः–पर्णम्। सृप्लृं गतौ, सर्प्णः–सरीसृपजातिः। पणि व्यवहारस्तुत्योः, पण्णम्-व्यवहारः ।। १८२ ।।

घृ-वी-ह्ला-शुष्युषि-तृषि-कृष्यर्तिभ्यः कित् ॥ १८३ ॥

एभ्यः कित् णः प्रत्ययो भवति। घृं सेचने, घृणाकृपा। वीं‌क् प्रजननादिषु, वीणा-वल्लकी। ह्लींग् स्पर्धाशब्दयोः, ह्लूणः-म्लेच्छजातिः। शुषंच् शोषणे, शुष्णः-निदाघः। उष् दाहे, उष्णः–स्पर्शविशेषः। ञितृषच् पिपासायाम्, तृष्णा–पिपासा। कृषींत् विलखने, कृष्णः–वर्णः, विष्णुः, मृगश्च। ऋ‌क् गतौ, ऋणं–वृद्धिधनम्, जलं, दुर्गभूमिश्च ।।१८३।।

द्रोर्वा ॥ १८४ ॥

द्रुं गतौ, इत्यस्मात् णः प्रत्ययो भवति, स च किद्वा भवति । द्रुणा-ज्या, द्रोणः-चतुराढकं, पाण्डवाचार्यश्च । द्रोणी नौः, गौरादित्वात् ङीः ।। १८४ ।।

स्था-क्षु-तोरूच ।। १८५ ।।

एभ्यो णः प्रत्ययो भवति, ऊकारश्चान्तादेशो भवति । ष्ठां गतिनिवृत्तौ, स्थूणा तन्तुधारिणी, गृहधारिणी, शरीरधारिणी, लोहप्रतिमा, व्याधिविशेषश्च । टुक्षुक् शब्दे, क्षूणम्-अपराधः । तुंक् वृत्त्यादिषु, तूणः-इषुधिः ।। १८५ ।।

भ्रूण-तृण-गुण-कार्ण-तीक्ष्ण-श्लक्ष्णाभीक्ष्णादयः ।। १८६ ।।

एते णप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते । भृगो भ्रू च भ्रूणः-निहीनः, अर्भकः, स्त्रैणगर्भश्च । तरतेर्हृस्वश्च, तृणं-शष्पादि । गायतेर्गमेर्गृणातेर्वा गुभावश्च, गुणः-उपकारः, आश्रितः, अप्रधानं, ज्या च । कृगो वृद्धिः कोऽन्तश्च, कार्णः-शिल्पी । तिजेर्दीर्घः सश्च परादिः तीक्ष्णं-निशितम् । श्लिषेः सोऽन्तोच्चेतः श्लक्ष्णम्-अकर्कशं, सूक्ष्मं च । अभिपूर्वादिषेः किच्च सोन्तः अभीक्ष्णम्-अजस्रम् । आदिग्रहणादन्येऽपि ।। १८६ ।।

तॄ-कॄ-शॄ-पॄ-भृ-वृ-श्रु-रुहि-लक्षि--विचक्षि--चुक्कि-बुक्कि--तङ्गयङ्गि-मङ्कि-कङ्कि-चरि-समीरेरणः ।। १८७ ।।

एभ्योऽणः प्रत्ययो भवति । तॄ प्लवनतरणयोः, तरणम् । कॄत् विक्षेपे, करणम् । शॄश् हिंसायाम्, शरणं-गृहम् । पॄश् पालनपूरणयोः, परणम् । टुडुभृंग्क पोषणे च, भरणम् । वृग्ट् वरणे, वरणः-वृक्षः, सेतुबन्धश्च । वरणं-कन्याप्रतिपादनम् । श्रुंट् श्रवणे, श्रवणः--कर्णः, भिक्षुश्च । रुक् शब्दे, रुंङ् रेषणे वा, रवणः-करभः, अग्निः, द्रुमः, वायुः, भृङ्गः, शकुनिः, सूर्यः, घण्टा च । रुहं जन्मनि, रोहणः-गिरिः । लक्षीण् दर्शनाङ्कनयोः, लक्षणं-व्याकरणम्, शुभाशुभसूचकं मषीतिलकादि अङ्कनं च । चक्षिक् व्यक्तायां वाचि, विचक्षणः-विद्वान् । चुक्कण् व्यथने, चुक्कणः-व्यायामशीलः । बुक्क भाषणे, बुक्कणः-श्वा, वावदूकश्च । तगु गतौ, तङ्गणाः-जनपदः । अगु गतौ, अङ्गणम्-अजिरम् । मकुङ् मण्डने, मङ्कणः-ऋषिः । ककुङ् गतौ, कङ्कणं-प्रतिसरः । चर भक्षणे च, चरणः-पादः । ईरिक् गतिकम्पनयोः सम्पूर्वः, समीरणः-वातः ।। १८७ ।।

कॄ-गॄ-पॄ-कृपि-वृषिभ्यः कित् ।। १८८ ।।

एभ्यः किद् अणः प्रत्ययो भवति । कॄत् विक्षेपे, किरणः-रश्मिः । गॄत् निगरणे, गिरणः-मेघः, आचार्यः, ग्रामश्च । पॄश् पालनपूरणयोः, पुरणः-समग्रयिता, समुद्रः पर्वत-विशेषश्च । कृपौङ् सामर्थ्ये, कृपणः कीनाशः । वृष् सेचने, वृषणः-मुष्कः ।। १८८ ।।

धृषि-वहेरिश्चोपान्त्यस्य ।। १८९ ।।

आभ्यां किद् अणः प्रत्यय इच्चोपान्त्यस्य भवति । ञिधृषाट् प्रागल्भ्ये, धिषणः-बृहस्पतिः, धिषणा-बुद्धिः । वहीं प्रापणे, विहणः-ऋषिः, पाठश्च ।। १८९ ।।

चिक्कण-दुक्कण-कुक्कण-कुङ्कण-त्रवणोल्वणोरणलवण-वङ्क्षणादयः ॥ १९० ॥

एते किद् अणप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते । चिनोतेश्चिक्क् च, चिक्कणः-पिच्छिलः । कुकिक्कगोः कोऽन्तश्च, कुक्कणः-शकुनिः । कुकणः-ऋषिः । कुकेः स्वरान्नोऽन्तश्च, कुङ्कणाः-जनपदः । त्रपेर्वश्च, त्रवणः-देशः । वलेर्वस्य उत्, वोऽन्तश्च, उल्वणः-स्फारः । अर्तेरुर् च, उरणः-मेषः । लीयतेः क्लिद्यतेः-स्वद्यतेर्वा-लवादेशश्च । लवणं, गुणः, द्रव्यं च । वञ्चेः सः परादिर्नलोपाभावश्च, वङ्क्षणः ऊरुमूलसंधिः । आदिशब्दात् ज्योतिरिङ्गणतुरणभुरणादयो भवन्ति ॥ १९० ॥

कृषि-विषि-वृषि-धृषि-मृषि-युषि-द्रुहि-ग्रहेराणक् ॥ १९१ ॥

एभ्य आणक् प्रत्ययो भवति । कृपौङ् सामर्थ्ये कृपाणः-खड्गः । विषू सेचने, विषाणः-शृङ्गम्, करिदन्तश्च । वृषू सेचने, वृषाणः । ञिधृषाट् प्रागल्भ्ये, धषाणः-देवः । मृषू सहने च, मृषाणः । युषि सेवने सौत्रः, युषाणः । द्रुहौच् जिघांसायाम्, द्रुहाणः-मुखरः । ग्रहीश् उपादाने, गृहाणः । वृषाणादयः स्वप्रकृत्यर्थवाचिनः सर्वेऽपि कर्तरि कारके ज्ञेयाः ॥ १९१ ॥

पषो णित् ॥ १९२ ॥

पषी बाधनस्पर्शनयोः इत्यस्माद् आणक् प्रत्ययो भवति, स च णिद् भवति । पाषाणः-प्रस्तरः ॥ १९२ ॥

कल्याण-पर्याणादयः ॥ १९३ ॥

कल्याणादयः शब्दा आणक्प्रत्ययान्ता निपात्यन्ते । कलेर्योऽन्तश्च, कल्याणं श्वोवसीयम् । परिपूर्वात् इणो लुक् च । पर्याणम्-अश्वादीनां पृष्ठच्छदः । आदिशब्दाद् द्रेक्काण-बोक्काण-केक्काणादयोऽपि भवन्ति ॥ १९३ ॥

द्रु-हृ-बृहि-दक्षिभ्य इणः ॥ १९४ ॥

एभ्यः इणः प्रत्ययो भवति । द्रुं गतौ, द्रविणं-द्रव्यम् । हृंग् हरणे, हरिणः-मृगः । बृह वृद्धौ, बर्हिणः-मयूरः । दक्षि शैघ्र्ये च दक्षिणः-कुशलः, अनुकूलश्च । दक्षिणा, दिग्, ब्रह्मदेयं च ॥ १९४ ॥

ॠ-द्रुहेः कित् ॥ १९५ ॥

आभ्यां किद् इणः प्रत्ययो भवति । ॠश् गतौ, इरिणम्-ऊषरम्, कुञ्जः, वनदुर्गं च । द्रुहौच् जिघांसायाम्, द्रुहिणः-ब्रह्मा, क्षुद्रजन्तुश्च ॥ १९५ ॥

ऋ-कॄ-वॄ-धृ-दारिभ्य उणः ॥ १९६ ॥

एभ्य उणः प्रत्ययो भवति । ऋंक् गतौ, अरुणः सूर्यः; सारथिः, उषा, वर्णश्च । कृत् विक्षेपे, करुणा-दया, करुणः-करुणाविषयः, करुणं-दैन्यम् । वृश् भरणे, वरुणः-प्रचेताः । धृंग् धारणे, धरुणः-धर्ता, आयुक्तो, लोकश्च । दृश् विदारणे, णौ, दारुणः-उग्रः ॥ १९६ ॥

क्षः कित् ॥ १९७ ॥

क्षैं क्षये, इत्यस्मात् किद् उणः प्रत्ययो भवति । क्षुणः-व्याधिः, क्षामः, क्रोधः, उन्मत्तश्च ॥ १९७ ॥

भिक्षुणी ॥ १९८ ॥

भिक्षेरुणः प्रत्ययो भवति, ङीश्च निपात्यते । भिक्षुणी-व्रतिनी ॥ १९८ ॥

गा-दाभ्यामेष्णक् ॥ १९९ ॥

आभ्यां एष्णक् प्रत्ययो भवति । गैं शब्दे, गेष्णः-मेषः, उद्गाता, रङ्गोपजीवी च । गेष्णं-साम, मुखं च, रात्रिगेष्णः-रङ्गोपजीवी । सुगेष्णा-किन्नरी । डुदांग्क् दाने, देष्णः-बाहुः, दानशीलश्च । चारुदेष्णः-सात्यभामेयः । सुदेष्णा-विराटपत्नी ॥ १९९ ॥

दम्यमि-तमि-मा वा-पू-धू-गॄ-जॄ-हसि वस्यसि वितसि मसीण्भ्यस्तः ॥ २०० ॥

एभ्यस्तः प्रत्ययो भवति । दमूच् उपशमे, दन्तः-दशनः, हस्तिदंष्ट्रा च । अम गतौ, अन्तः-अवसानम्, धर्मः, समीपं च । तमूच् काङ्क्षायाम्, तन्तः-खिन्नः । मांक् माने, मातम्-अन्तःप्रविष्टम् । वांक् गतिगन्धनयोः, वातः-वायुः । पूगश् पवने, पोतः-नौः, अग्निः, बालश्च । धूगश् कम्पने, धोतः धूमः, शठः, वातश्च । गॄत् निगरणे, गर्तः-श्वभ्रम् । जॄष्च् जरसि, जर्त-प्रजननं, राजा च । हसे हसने, हस्त-करः, नक्षत्रं च । वसूच् स्तम्भे, वस्तः-छागः । असूच् क्षेपणे, अस्तः-गिरिः । तसूच् उपक्षये, वितस्ता-नदी । मसैच् परिणामे, मस्तः-मूर्धा । इणंक् गतौ, एतः-हरिणः, वर्णः, वायुः, पथिकश्च ॥ २०० ॥

शी-री-भू-दू-मू-घृ-पा-धाग्-चित्यर्त्यञ्जि-पुसि मुसि-वुसि-विसि-रमि-धुर्वि-पूर्विभ्यः कित् ॥ २०१ ॥

एभ्यः कित् तः प्रत्ययो भवति । शीङ्क् स्वप्ने, शीतं-स्पर्शविशेषः । रींश् गति-रेषणयोः, रीतं-सुवर्णम् । भू सत्तायाम्, भूतः-ग्रहः, भूतं-पृथिव्यादि । दूङ्च् परितापे, दूतः-वचोहरः । मूङ् बन्धने, मूतः दध्यर्थं क्षीरे तक्रसेकः, वस्त्रावेष्टनबन्धनम्, आचमनी, आलानं, पाशः, बन्धनमात्रं, धान्यादिपुटश्च । घृं सेचने, घृतंसर्पिः । पां पाने, पीतं-वर्णविशेषः । डुधांग्क् धारणे च, 'धागः' [४-४-१५] इति हिः, हितम्-उपकारि । चितै संज्ञाने, चित्तं मनः । ऋक् गतौ, ऋतं-सत्यम् । अञ्जौप् व्यक्तिम्रक्षणादिषु, अक्तः-म्रक्षितः, व्यक्तीकृतः, परिमितः, प्रेतश्च । पुसच् विभागे, पुस्तः-लेख्यपत्रसंचयः, लेप्यादिकर्म च । मुसच् खण्डने, मुस्तागन्धद्रव्यम् । वुसच् उत्सर्गे, वुस्तः-प्रहसनम् । विसच् प्रेरणे, विस्तं-सुवर्णमानम् । रमिं क्रीडायाम्, सुरतं-मैथुनम् । धुर्वै हिंसायाम्, धूर्तः-शठः । पूर्व पूरणे, पूर्तः-पुण्यम् ॥ २०१ ॥

लु-म्रो वा ॥ २०२ ॥

आभ्यां तः प्रत्ययो भवति, स च किद्वा भवति । लूगश् छेदने, लूता-क्षुद्रजन्तुः ।

लोतः-बाष्पं, लवनं, वस्तः, कीटजातिश्च । मृत् प्राणत्यागे मृतः-गतप्राणः मर्तः-ऋषिः, प्राणी, पुरुषश्च ।। २०२ ।।

सु-सि-तनि-तुसेर्दीर्घश्च वा ।। २०३ ।।

एभ्यः कित् तः प्रत्ययो भवति, दीर्घश्च वा भवति । षुंग्ट् अभिषवे, सूतः-सारथिः, सुतः-पुत्रः । षिंग्ट् बन्धने, सीता-जनकात्मजा, सस्यं, हलमार्गश्च । सितः-वर्णः, बन्धश्च । तनूयी विस्तारे, तातः-पिता, पुत्रेष्टनाम च, ततं-विस्तीर्णं, वाद्यविशेषश्च । तुस शब्दे, तूस्तानि-वस्त्रदशाः, तुस्ता-जटाः, प्रदीपनं च ।। २०३ ।।

पुत-पित्त-निमित्तोत-शुक्त-तिक्त-लिप्त-सूरतमुहूर्तादयः ।। २०४ ।।

एते कित्तप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते । पूङो ह्रस्वश्च, पुतः-स्फिक् । पीङ्स्तोऽन्तश्च, पित्तं-मायुः । निपूर्वात् मिनोतेर्मित् च, निमित्तं-हेतुः, दिव्यज्ञानं च । उभेर्लुक् च, उतं-आशङ्काद्यर्थमव्ययम् । शकेः शुचेर्वा शुक्भावश्च । शुक्तं-कल्कजातिः । ताडयतेस्तकतेस्तिजेर्वा तिक् च, तिक्तः-रसविशेषः । लीयतेः पोऽन्तो ह्रस्वश्च, लिप्तं-श्लेषः, अंशदेशश्च । सुपूर्वात् रमेः सोर्दीर्घश्च, सूरतः-दमितो हस्ती, अन्यो वा दान्तः । हुर्च्छेः मुश्च धात्वादिः, मुहूर्तः-कालविशेषः । आदिग्रहणाद् अयुतनियुतादयो भवन्ति ।। २०४ ।।

कृगो यङः ।। २०५ ।।

करोतेर्यङन्तात् कित् तः प्रत्ययो भवति । चेक्रीयितः-पूर्वाचार्याणां यङ्प्रत्ययसंज्ञा ।। २०५ ।।

इवर्णादिर्लुपि ।। २०६ ।।

करोतेर्यङो लुपि, इवर्णादिस्तः प्रत्ययो भवति । चर्करितं, चर्करीतं-यङ्लुबन्तस्याख्ये ।। २०६ ।।

दृ-पृ-भृ-मृ-शी-यजि-खलि-वलि-पर्वि-पच्यमि-नमि-तमि-दृशि-हर्यि-कङ्कि-भ्योऽतः ।। २०७ ।।

एभ्योऽतः प्रत्ययो भवति । दृङत् आदरे, दरतः आदरः । पृंक् पालनपूरणयोः, परत. कालः । डुभृंक् पोषणे च, भरतः-आदिचक्रवर्त्ती, हिमवत्समुद्रमध्यक्षेत्रं च । मृत् प्राणत्यागे, मरतः-मृत्युः, अग्निः, प्राणी च । शीङ्क् स्वप्ने, शयतः-निद्रालुः, चन्द्रः, स्वप्नः, अजगरश्च । यजीं देवपूजासंगतिकरणदानेषु, यजतः-यज्वा, अग्निश्च । खल संचये च, खलतः-शीर्णकेशशिराः । वलि संवरणे, वलतः-कुशूलः । पर्व पूरणे, पर्वतः-गिरिः । डुपचींष् पाके, पचतः-अग्निः, आदित्यः, पालः, इन्द्रश्च । अम गतौ, अमतः-मृत्युः, जीवः आतङ्कश्च । णमं प्रह्वत्वे, नमतः-नटः, देवः, ऊर्णास्तरणं ह्रस्वश्च । तमूच् काङ्क्षायाम्, तमतः-निर्वेदी, आकाङ्क्षी, धूमश्च । दृशृं प्रेक्षणे दर्शतः द्रष्टा, अग्निश्च । हर्य क्लान्तौ, हर्यतः-वायुः, अश्वः, कान्तः, रश्मिः, यज्ञश्च । ककुङ् गतौ, कङ्कतः-केशमार्जनम् ।।२०७।।

पृषि-रञ्जि-सिकि-का-ला-वृभ्यः कित् ॥ २०८ ॥

एभ्यः किद् अतः प्रत्ययो भवति । पृषू सेचने, पृषतः–हरिणः । रञ्जीं रागे, रजतं-रूप्यम् । सिकिः सौत्रः, सिकता-वालुका । कैं शब्दे, कतः–गोत्रकृत् । लांक् आदाने, लता–वल्ली । वृगट् वरणे, व्रतं–शास्त्रविहितो नियमः ॥ २०८ ॥

कृ-वृ-कल्यलि-चिलि-विलीलि-ला-नाथिभ्य आतक् ॥ २०९ ॥

एभ्य आतक् प्रत्ययो भवति । कृत् विक्षेपे, किरातः-शबरः । वृगट् वरणे, व्रातः–समूहः, उत्सेधजीविसंघश्च । कलि शब्दसंख्यानयोः, कलातः-ब्रह्मा । अली भूषणादौ, अलातम्–उल्मुकम् । चिलत् वसने, चिलाताः–म्लेच्छाः । विलत् वरणे, विलातः-शवाच्छादनवस्त्रम् । इलत् गत्यादौ, इलातः–नगः । लांक् आदाने, लातः–मृत्तिकादानभाजनम् । नाथृङउपतापैश्वर्याशी षु च । नाथातः–आहारः, प्रजापतिश्च ॥ २०९ ॥

हृ-श्या-रुहि-शोणि-पलिभ्य इतः ॥ २१० ॥

एभ्यः इतः प्रत्ययो भवति । हृंग् हरणे, हरितः-वर्णः । श्यैङ् गतौ, श्येतः–वर्णः, मृगः, मत्स्यः श्येनश्च । रुहं जन्मनि, रोहितः–वर्णः, मत्स्यः, मृगजातिश्च । लत्वे लोहितः वर्णः, लोहितम्–असृक् । शोणृ वर्णगत्योः, शोणितं–रुधिरम् । पल गतौ, पलितंश्वेतकेशः ॥ २१० ॥

नञ आपेः ॥ २११ ॥

नञ्पूर्वाद् आप्लृंट् व्याप्तौ, इत्यस्माद् इतः प्रत्ययो भवति । नापितः–कारुविशेषः ॥ २११ ॥

कुशि-पिशि-पृषि-कुषि-कुश्युचिभ्यः कित् ॥ २१२ ॥

एभ्यः किद् इतः प्रत्ययो भवति । कुशं आह्वानरोदनयोः कुशितं–पापम् । पिशत् अवयवे, पिशितंमांसम् । पृषू सेचने, पृषितं-वारिबिन्दुः । कुषश् निष्कर्षे, कुषितं–पापम् । कुशच् श्लेषे, कुशितः-ऋषिः, कुशितम्–ऋणं, श्लिष्टं च । उचच् समवाये, उचितं–स्वभावः योग्यं, चिरानुयातं, श्रेष्ठं च ॥ २१२ ॥

हृग ईतण् ॥ २१३ ॥

हृंग् हरणे, इत्यस्माद् ईतण् प्रत्ययो भवति । हारीतः–पक्षी, ऋषिश्च ॥ २१३ ॥

अदो भुवो डुतः ॥ २१४ ॥

अद्पूर्वात् भुवो डुतः प्रत्ययो भवति । अद् विस्मितं भवति तेन तस्मिन् वा मनः अद्भुतम्-आश्चर्यम् ॥ २१४ ॥

कुलि-मयिभ्यामूतक् ॥ २१५ ॥

आभ्यां ऊतक् प्रत्ययो भवति । कुल बन्धुसंस्त्यानयोः, कुलूता-जनपदः मयि गतौ, मयूता-वसतिः ।। २१५ ।।

जीवेर्मश्च ।। २१६ ।।

जीव प्राणधारणे, इत्यस्माद् ऊतक् प्रत्ययो भवति, मश्चान्तादेशश्च । जीमूतः-मेघः, गिरिश्च ।। २१६ ।।

कबेरोतः प् च ।। २१७ ।।

कबृङ् वर्णे, इत्यस्माद् ओतः प्रत्ययो भवति, पश्चान्तादेशो भवति । कपोतः-पक्षी, वर्णश्च ।।२१७।।

आस्फायेर्डित् ।। २१८ ।।

आङ्पूर्वात् स्फायैङ् वृद्धौ, इत्यस्मात् डिद् ओतः प्रत्ययो भवति । आस्फोता-नाम औषधिः ।। २१८ ।।

जॄ-विशिभ्यामन्तः ।। २१९ ।।

आभ्यां अन्तः प्रत्ययो भवति । जॄष्च् जरसि, जरन्तः-भूतग्रामः, वृद्धः, महिषश्च । विंशत् प्रवेशने, वेशन्तः-पल्वलम् । वल्लभः-अप्राप्तापवर्गः, आकाशं च ।।२१९।।

रुहि-नन्दि-जीवि-प्राणिभ्यष्टिदाशिषि ।। २२० ।।

एभ्य आशिषि टिदन्तः प्रत्ययो भवति । रुहं जन्मनि, रोहतात् रोहन्तः-वृक्षः, रोहन्ती-औषधिः । टुनदु समृद्धौ, नन्दतात् नन्दन्तः-सखा, आनन्दश्च, नन्दन्ती सखी । जीव प्राणधारणे, जीवतात् जीवन्तः आयुष्मान्, जीवन्ती शाकः । अनक् प्राणने, प्राण्यात् प्राणन्तः-वायुः, रसायनं च, प्राणन्ती-स्त्री ।। २२० ।।

तॄ-जि-भू-वदि-वहि-वसि-भास्यदि-साधि-मदि-गडि-गण्डि-मण्डि-नन्दि-रेविभ्यः ।। २२१ ।।

एभ्यष्टिदन्तः प्रत्ययो भवति । आशिषीत्येके । तॄ प्लवनतरणयोः, तरन्तः-आदित्यः, भेकश्च, तरन्ती स्त्री । जि अभिभवे । जयन्तः-रथरेणुः, ध्वजः इन्द्रपुत्रः, जम्बूद्वीपपश्चिमद्वारम्, पश्चिमानुत्तरविमानं च, जयन्ती-उदयनपितृष्वसा । भू सत्तायाम्, भवन्तः-कालः, भवन्ती । वद व्यक्तायां वाचि, वदन्तः, वदन्ती । वहीं प्रापणे, वहन्तः-रथः, अनड्वान् रथरेणुः, वायुश्च, वहन्ती । वसं निवासे, वसन्तः-ऋतुः । भासि दीप्तौ, भासन्तः-सूर्यः, भासन्ती, ण्यन्तोऽपि, भासयन्तः-सूर्यः । अदंक् भक्षणे, अदन्तः, अदन्ती । साधंट् संसिद्धौ, साधन्तः-भिक्षुः, ण्यन्तोऽपि, साधयन्तः-भिक्षुः, साधयन्ती । मदैच् हर्षे, णौ, मदयन्तः, मदयन्ती-पुष्पगुल्मजातिः । गड सेचने, गडन्तः-जलदः, ण्यन्तोऽपि, गडयन्तः, गडयन्ती । गडु वदनैकदेशे, ण्यन्तः, गण्डयन्तः-मेघः । मडु भूषायाम्, ण्यन्तः, मण्डयन्तः-

प्रसाधकः, अलंकारः-आदर्शश्च । टुनदु समृद्धौ, ण्यन्तः, नन्दयन्तः-सुखकृत्, राजा, हिरण्यं, सुखं च, नन्दयन्ती । रेवृङ पथि गतौ, रेवन्तः-सूर्यपुत्रः । अनुक्तार्था धात्वर्थकर्त्रर्थाः ।२२१।

सीमन्त-हेमन्त-भदन्त-दुष्यन्तादयः ॥ २२२ ॥

एतेऽन्तप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते । सिनोतेः सीम् च, सीमन्तः-केशमार्गः, ग्रामक्षेत्रान्तश्च । हन्तेर्हिनोतेर्वा हेम् च, हेमन्त -ऋतुः । भदन्तेर्नलुक् च, भदन्तः-निर्ग्रन्थेषु शाक्येषु च पूज्यः । दुषेर्योऽन्तश्च । दुष्यन्तः-राजा । आदिग्रहणादन्येऽपि ॥ २२२ ॥

शकेरुन्तः ॥ २२३ ॥

शक्लृंट् शक्तौ, इत्यस्माद् उन्तः प्रत्ययो भवति । शकुन्तः-पक्षी ॥२२३॥

कषेर्डित् ॥ २२४ ॥

कष हिंसायाम् इत्येतस्माद् डिदुन्तः प्रत्ययो भवति । कुन्तः-आयुधम् ॥ २२४ ॥

कमि-प्रु-गार्तिभ्यस्थः ॥ २२५ ॥

एभ्यस्थः प्रत्ययो भवति । कमूङ् कान्तौ, कन्था-प्रावरणम्, नगरं च । प्रुंङ् गतौ, प्रोथः-प्रियो, युवा, सूकरमुखं, घोणा च । गैं शब्दे, गाथाश्लोकः, आर्या वा । ऋंक् गतौ, अर्थः-जीवाजीवादिपदार्थः, प्रयोजनम्, अभिधेयं, धनं, याच्ञा, निवृत्तिश्च ॥ २२५ ॥

अवाद् गोऽच ॥ २२६ ॥

अवपूर्वाद्गायतेः थः प्रत्ययो भवति, अच्चान्तादेशो वा भवति । अवगथः, अवगाथः-अक्षसंघः, प्रातःसवनं, रथयानं, साम, पन्थाश्च ॥ २२६ ॥

नी-नू-रमि-तृ-तुदि-वचि-रिचि-सिचि-श्वि-हनि-पा-गो पा-शोद्गाभ्यः कित् ।२२७।

एभ्यः कित् थः प्रत्ययो भवति । णींग् प्रापणे, नीथं-जलम्, सुनीथो नाम राजा, नीतिमान्, धर्मशीलः ब्राह्मणश्च । णूत् स्तवने, नूथं-तीर्थम् । रमिं क्रीडायाम्, रथः-स्यन्दनः । तॄ प्लवनतरणयोः, तीर्थं-जलाशयावगाहनमार्गः, पुण्यक्षेत्रम्, आचार्यश्च । तुदींत् व्यथने, तुत्थं-चक्षुष्यः, धातुविशेषः । वचंक् भाषणे, उक्थं-शास्त्रं, सामवेदश्च, उक्थानि-सामानि । रिचृंपी विरेचने, रिक्थं-धनम् । षिचींत् क्षरणे, सिक्थंमदनं, पुलाकश्च । ट्वोश्वि गतिवृद्ध्योः, शूथः-यज्ञप्रदेशः । हनंक् हिंसागत्योः, हथः-पन्थाः, कालश्च । पां पाने, पीथं बालघृतपानम्, अम्भः, नवनीतं च, पीथः-मकरः रविश्च । गोपूर्वात्, गोपीथः तीर्थविशेषः, गोनिपानं, जलद्रोणी, कालविशेषश्च । गैं शब्दे, अवगीथम्-यज्ञकर्मणि प्रातःशंसनम्, उद्गीथः-शुनामूर्ध्वमुखानां विरावः, सामगानम्, प्रथमोच्चारणं च ॥२२७॥

न्युद्भ्यां शीङः ॥ २२८ ॥

नि-उद्पूर्वात् शीङ्क् स्वप्ने, इत्यस्मात् कित् थः प्रत्ययो भवति । निशीथः-अर्धरात्रः, रात्रिः, प्रदोषश्च । उच्छीथः-स्वप्न, टिट्टिभश्च ॥ २२८ ॥

अवभृ-निर्ऋ-समिण्भ्यः ॥ २२९ ॥

अवपूर्वाद् बिभर्तेः, निस्पूर्वादर्तेः, सम्पूर्वात् एतेश्च कित् थः प्रत्ययो भवति । अवभृथः-यज्ञावसानं, यज्ञस्नानं च, निर्ऋथः-निकायः, निर्ऋथं-स्नानम् । समिथः-संगमः, गोधूमपिष्टं च, समिथं-समूहः ॥ २२९ ॥

सर्तेर्णित् ॥ २३० ॥

सृं गतौ, इत्यस्माद् णित् थःप्रत्ययो भवति । सार्थः समूहः ॥२३०॥

पथ-यूथ-गूथ-कुथ-तिथ-निथ-सूरथादयः ॥ २३१ ॥

एते थप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते । पलतेर्लो लुक् च, पथः पन्थाः । यौतेर्गुवतेश्च दीर्घश्च यूथः-समूहः, गूथम्-अमेध्यं विष्ठा च । किरतेः करोतेर्वा कुश्च, कुथः-कुथा वा-आस्तरणम् । तनोतेस्तिष्ठतेर्वा तिश्च तिथः-कालः । तिम्यते, तिथः-प्रावृट्कालः । नयतेर्ह्रस्वश्च, निथः-पूर्वक्षत्रियः कालश्च । सुपूर्वात् रमेः सोर्दीर्घश्च कित् च । सूरथः-दान्तः । आदिग्रहणाद् निपूर्वाद् रौतेर्दीर्घत्वं च निरूथः-दिक्, निरूथं-पुण्यक्रमनियतम् । एवं संगीथ-प्रगाथादयोऽपि ॥ २३१ ॥

भृ-शी-शपि-शमि-गमि-रमि-वन्दि-वञ्चि-जीवि-प्राणिभ्योऽथः ॥ २३२ ॥

एभ्योऽथः प्रत्ययो भवति । टुडुभृंग्क् च, भरथः-कैकयीसुतः, अग्निः, लोकपालश्च । शीङ्क् स्वप्ने, शयथः-अजगरः, प्रदोषः, मत्स्यः, वराहश्च । शपीं आक्रोशे, शपथः-प्रत्ययकरणम्, आक्रोशश्च । शमूच् उपशमे, शमथः-समाधिः, आश्रमपदं च । गम्लृं गतौ, गमथः-पन्थाः, पथिकश्च । रमिं क्रीडायाम्, रमथः-प्रहर्षः । वदुङ् स्तुत्यभिवादनयोः, वन्दथः-स्तोता, स्तुत्यश्च । वञ्चू गतौ, वंचथः-अध्वा, कोकिलः, काकः, दम्भश्च । जीव प्राणधारणे, जीवथः-अर्थवान्, जलम्, अन्नं, वायुः, मयूरः, कूर्मः, धार्मिकश्च । अनक् प्राणने, प्राणथः-बलवान्, ईश्वरः, प्रजापतिश्च ॥ २३२ ॥

उपसर्गाद्वसः ॥ २३३ ॥

उपसर्गात् परस्मात् वसं निवासे, इत्यस्मादथः प्रत्ययो भवति । आवसथः-गृहम्, उपवसथः-उपवासः, संवसथः-संवासः, सुवसथः-सुवासः, निवसथः-निवासः ॥ २३३ ॥

विदि-भिदि-रुदि-द्रुहिभ्यः कित् ॥ २३४ ॥

एभ्यः किदथः प्रत्ययो भवति । विदंक् ज्ञाने, विदथः-ज्ञानी, यज्ञः अध्वर्युः, संग्रामश्च । भिदृंपी विदारणे, भिदथः-शरः । रुदृक् अश्रुविमोचने, रुदथः बालः, असत्त्वः, श्वा च । द्रुहौच् जिघांसायाम्, द्रुहथः-शत्रुः ॥ २३४ ॥

रौतेर्वा ॥ २३५ ॥

रुक् शब्दे, इत्यस्मादथः प्रत्ययो भवति, सच किद्वा भवति । रुवथः-शकुनिः, शिशुश्च । रवथः-आक्रन्दः, शब्दकारश्च ॥ २३५ ॥

जॄ-वॄभ्यामूथः ॥ २३६ ॥

आभ्यामूथः प्रत्ययो भवति । जॄष्च् जरसि, जरूथः-शरीरम् अग्रमांसम् , अग्निः, संवत्सरः, मार्गः, कल्मषं च । वृग्श् , वरणे, वरूथः-वर्मः, सेनाङ्गं, बलसंघातश्च ॥२३६॥

शा-शपि-मनि-कनिभ्यो दः ॥ २३७ ॥

एभ्यो दः प्रत्ययो भवति । शोंच् तक्षणे, शादः-कर्दमः, तरुणतृणं, मृदुः, बन्धः, सुवर्णं च । शपीं आक्रोशे, शब्दः-श्रोत्रग्राह्योऽर्थः । मनिंच् ज्ञाने, मन्दः-अलसः, बुद्धिहीनश्च । कनै दीप्त्यादिषु कन्दः-मूलम् ॥ २३७ ॥

आपोऽप् च ॥ २३८ ॥

आप्लृंट् व्याप्तौ, इत्यस्मात् दः प्रत्ययो भवति । अस्य चाप् इत्ययमादेशो भवति । अब्दं-वर्षम् ॥ २३८ ॥

गोः कित् ॥ २३९ ॥

गुंत् पुरीषोत्सर्गे, इत्यस्मात् कित् दः प्रत्ययो भवति । गुदम्-अपनाम् ॥ २३९ ॥

वृ-तु-कु-सुभ्यो नोऽन्तश्च ॥ २४० ॥

एभ्यः कित् दः प्रत्ययो भवति, नकारश्चान्तादेशो भवति । वृग्ट् वरणे वृन्दं-समूहः तुंक् वृत्यादिषु, तुन्दं जठरम् । कुङ् शब्दे, कुन्दः-पुष्पजातिः । षुंग्ट् अभिषवे, सुन्दः-दानवः ॥ २४० ॥

कुसेरिदेदौ ॥ २४१ ॥

कुस्च् श्लेषे, इत्यस्मात् इद ईद इत्येतौ कितौ प्रत्ययौ भवतः । कुसिदम्-ऋणम्; कुसीदं-वृद्धिजीविका ॥ २४१ ॥

इङ्ग्यर्बिभ्यामुदः ॥ २४२ ॥

आभ्यामुदः प्रत्ययो भवति । इगु गतौ, इङ्गुदः-वृक्षजातिः । अर्ब गतौ, अर्बुदः-पर्वतः अक्षिव्याधिः, संख्याविशेषश्च । निपूर्वात् न्यर्बुदम्-संख्याविशेषः ॥ २४२ ॥

ककेर्णिद्वा ॥ २४३ ॥

ककि लौल्ये, इत्यस्मादुदः प्रत्ययो भवति, स च णिद्वा भवति । काकुदं-तालु, ककुदं स्कन्धः ॥ २४३ ॥

कुमुद-बुद्बुदादयः ॥ २४४ ॥

एते उदप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते । कमेः कुम् च कुमुदं-कैरवम् । बुन्देः किद् वोऽन्तश्च, बुद्बुदः-जलस्फोटः, बुद्बुदः नेत्रजो व्याधिः । आदिग्रहणात् दुहींक क्षरणे प्रत्ययादेरत्वे, दोहदः-अभिलाषविशेषः । एवमन्येऽपि ॥ २४४ ॥

कक्कि-मक्किभ्यामन्दः ॥ २४५ ॥

आभ्यामन्दः प्रत्ययो भवति । कक्कि लौल्ये । मक्किः सौत्रः । कक्कन्दः मकन्दश्च राजानौ, यकाभ्यां निर्वृत्ता काकन्दी, माकन्दी च नगरी ॥ २४५ ॥

कल्यलि-पुलि-कुरि-कुणि-मणिभ्य इन्दक् ॥ २४६ ॥

एभ्य इन्दक् प्रत्ययो भवति । कलि शब्दसंख्यानयोः, कलिन्दः पर्वतः यतो यमुना प्रभवति । अली भूषणादौ, अलिन्दः प्रघाणः, भाजनस्थानं च । पुल महत्त्वे, पुलिन्दः-शबरः । कुरत् शब्दे, कुरिन्दः-धान्यमलहरणोपकरणम्, तेजनोपकरणं च । कुणत् शब्दोपकरणयोः, कुणिन्दः-म्लेच्छः, शब्द उपकरणं च । मण शब्दे, मणिन्दः-अश्वबल्लवः ।२४६।

कुपेर्व च वा ॥ २४७ ॥

कुपच् क्रोधे, इत्यस्माद् इन्दक् प्रत्ययो भवति । वश्चान्तादेशो वा भवति । कुपिन्दः, कुविन्दः-तन्तुवायः ॥ २४७ ॥

पॄपलिभ्यां णित् ॥ २४८ ॥

आभ्यां णिद् इन्दक् प्रत्ययो भवति । पॄश् पालनपूरणयोः, पल गतौ, पारिन्दः, पलिन्दः, द्वावपि वृक्षगाथकौ, पारिन्दः-मुख्यः, पूज्यश्च । पालिन्दो-नृपतिः, रक्षकश्चेत्येके ॥ २४८ ॥

यमेरुन्दः ॥ २४९ ॥

यमूं उपरमे, इत्यस्माद् उन्दः प्रत्ययो भवति । यमुन्दः-क्षत्रियविशेषः ॥२४९॥

मुचेर्डुकुन्द-कुकुन्दौ ॥ २५० ॥

मुच्लृंती मोक्षणे, इत्यस्मात् डित् उकुन्दः किदुकुन्दश्च प्रत्ययो भवतः । मुकुन्दः विष्णुः, मुचुकुन्दः-राजा, वृक्षविशेषश्च ॥ २५० ॥

स्कन्द्यमिभ्यां धः ॥ २५१ ॥

आभ्यां धः प्रत्ययो भवति । स्कन्दृं गतिशोषणयोः, स्कन्धः-बाहुमूर्धा, ककुन्दविभागश्च । बाहुलकाद् दस्य लुक् । अम गतौ, अन्धः-चक्षुर्विकलः ॥ २५१ ॥

नेः स्यतेरधक् ॥ २५२ ॥

निपूर्वात् षोच् अन्तकर्मणि, इत्यस्माद् अधक् प्रत्ययो भवति । निषधः पर्वतः, निषधाः जनपदः ॥ २५२ ॥

मङ्गेर्नलुक् च ॥ २५३ ॥

मगु गतौ, इत्यस्माद् अधक् प्रत्ययो भवति, नकारस्य च लुग् भवति । मगधाः जनपदः ॥ २५३ ॥

आरगेर्वधः ॥ २५४ ॥

आङ् पूर्वात् रगे शङ्कायाम्, इत्यस्माद् वधः प्रत्ययो भवति। आरग्वधः-वृक्षजातिः ॥ २५४ ॥

परात् श्रो डित् ॥ २५५ ॥

परपूर्वात् शॄश् हिंसायाम्, इत्यस्मात्, डित् वधः प्रत्ययो भवति। परश्वधः-आयुधजातिः ॥ २५५ ॥

इषेरुधक् ॥ २५६ ॥

इषत् इच्छायाम् इत्यस्माद् उधक् प्रत्ययो भवति। इषुधः-याञ्चा ॥ २५६ ॥

कोरन्धः ॥ २५७ ॥

कुङ शब्दे, इत्यस्माद् अन्धः प्रत्ययो भवति। कवन्धः-छिन्नमूर्धा देहः ॥ २५७ ॥

प्या-धा-पन्यनि-स्वदि-स्वपि-वस्यज्यति-सिविभ्यो नः ॥ २५८ ॥

एभ्यो नः प्रत्ययो भवति। प्यैङ वृद्धौ, प्यानः-समुद्रः चन्द्रश्च। डुधांग्क् धारणे च, धाना-भृष्टः यवः, अङ्कुरश्च। पनि स्तुतौ, पन्नं-नीचैः करणम्, सून्नं, जिह्वा च। अनक् प्राणने, अन्नं-भक्तम्, आचारश्च। ष्वदि आस्वादने, स्वन्नं-रुचितम्। ञिष्वपंक् शये, स्वप्नः मनोविकारः, निद्रा च। वसं निवासे, वस्नं-वासः, मूल्यम्, मेढ्रम्, आगमश्च। अज क्षेपणे च, वेनः-प्रजापतिः, ध्यानी, राजा, वायुः यज्ञः, प्राज्ञः, मूर्खश्च। अत सातत्यगमने, अत्नः-आत्मा, वायुः, मेघः प्रजापतिश्च। षिवूच् उतौ, स्योनं सुखम्, तन्तुवायसूत्रसंतानः, समुद्रः, सूर्यः, रश्मिः, आस्तरणं च ॥ २५८ ॥

षसेर्णित् ॥ २५९ ॥

षसक् स्वप्ने इत्यस्मात् णिद् नः प्रत्ययो भवति। सास्ना-गोकण्ठावलम्बि चर्म, निद्रा च ॥ २५९ ॥

रसेर्वा ॥ २६० ॥

रस शब्दे, इत्यस्माद् न प्रत्ययो भवति, स च णिद् वा भवति। रास्ना-धेनुः औषधिजातिश्च। रस्नं-द्रव्यजातिः, रस्ना-जिह्वा, रस्नः-तुरङ्गः, दण्डश्च ॥ २६० ॥

जीण्-शी-दी-बुध्यवि-मीभ्यः कित् ॥ २६१ ॥

एभ्यः किद् नः प्रत्ययो भवति। जिं अभिभवे, जिनः-अर्हन्, बुद्धश्च। इंण्क गतौ, इनः-स्वामी, संनिपातः, ईश्वरः, राजा, सूर्यश्च। शीङ्क् स्वप्ने, शीनः पीलुः। दीङ्च् क्षये। दीनः, कृपणः, खिन्नश्च। बुधिंच् ज्ञाने, बुध्नः-मूलं, पृष्ठान्तः, रुद्रश्च। अव रक्षणादौ, ऊनम्-अपरिपूर्णम्। मीङ्च् हिंसायाम्, मीनः-मत्स्यः, राशिश्च ॥ २६१ ॥

सेर्ना ॥ २६२ ॥

षिंग्ट् बन्धने, इत्यस्माद् नः प्रत्ययो भवति, स च किद्वा भवति । सिनः-कायः, वस्त्रं, बन्धश्च । सेना-चमूः ॥ २६२ ॥

सोरू च ॥ २६३ ॥

षुंग्ट् अभिषवे, इत्यस्मान्नः प्रत्ययो भवति, ऊकारश्चान्तादेशो भवति । सूना-घातस्थानम्, दुहिता, पुत्रः, प्रकृतिः, आघाटस्थानं च ॥ २६३ ॥

रमेस्त् च ॥ २६४ ॥

रमिं क्रीडायाम् इत्यस्माद् नः प्रत्ययो भवति, तश्चान्तादेशो भवति । रत्नं-वज्रादिः ॥ २६४ ॥

क्रुशेर्वृद्धिश्च ॥ २६५ ॥

क्रुशं आह्वानरोदनयोः, इत्यस्माद् नः प्रत्ययो भवत्यस्य च वृद्धिर्भवति । क्रौश्नः-श्वापदः ॥ २६५ ॥

द्यु-सु-निभ्यो माङोडित् ॥ २६६ ॥

द्युसुनिपूर्वात् माङ्क् मानशब्दयोः, इत्यस्मात् डिद् नः प्रत्ययो भवति । द्युम्नं-द्रविणम्, सुम्नं-सुखम् निम्नं-नतम् ॥ २६६ ॥

शीङः सन्वत् ॥ २६७ ॥

शीङ्क् स्वप्ने इत्यस्मात्, डिद् नः प्रत्ययो भवति स च सन्वद्भवति । शिश्न-शेषः ॥ २६७ ॥

दिन-नग्न-फेन-चिह्न-ब्रध्न-धेन-स्तेन-च्यौक्नादयः ॥ २६८ ॥

एते नप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते । दिव्यते किल्लुक् च, दिनम्-अहः । अञ्पूर्वात् वसे-र्गोऽन्तो धातोर्लुक्च । न वस्ते, नग्नः-अवसनः । फणेः, फलेः स्फायेर्वा फेभावश्च, फेनः-बुद्बुद-संघातः । चहेरिच्चोपान्त्यस्य, चिह्नम्-अभिज्ञानम् । बन्धेर्ब्रध्च । ब्रध्नः-रविः, प्रजापतिः, ब्रह्मा, स्वर्गः, पृष्ठान्तश्च । धयतेरेत्वं च, धेना-सरस्वती, माता च, धेनः समुद्रः, ईत्वं चेत्येके, धीना । स्त्यायेस्ते च स्तेनः-चौरः, च्यवतेर्वृद्धिः कोऽन्तश्च । च्यौक्नम् अक्षस्थानम्, अनुजः, क्षीणपुण्यश्च । च्यौक्नी-कांस्यादिपात्री । आदिशब्दादन्येऽपि ॥ २६८ ॥

य्वसि-रसि--रुचि-जि-मस्जि-देवि-स्यन्दि चन्दि-मन्दि-मण्डि-मदि-दहि--वह्या-देरनः ॥ २६९ ॥

एभ्यः अनः प्रत्ययो भवति । युक् मिश्रणे, यवनाः-जनपदः, यवनं मिश्रणम् । असूच् क्षेपणे, असनः-बीजकः, रसण् आस्वादनस्नेहनयोः, रसनाजिह्वा । रुचि अभिप्रीत्यां च, रोचना-गोपित्तम्, रोचनः-चन्द्रः, विपूर्वात्, विरोचनः-अग्निः, सूर्यः, इन्दुः, दान-

वश्च। जि अभिभवे, जयनम्-ऊर्णापटः। टुमस्जोंत् शुद्धौ, मज्जनं-स्नानं, तोयं च। देवृङ् देवने, देवनः-अक्षः, कितवश्च। स्यन्दौङ् स्रवणे, स्यन्दनः-रथः। चदु-दीप्त्याह्लादनयोः, चन्दनं-गन्धद्रव्यम्, मदुङ् स्तुत्यादौ, मन्दनम्-स्तोत्रम्। मडु भूषायाम्, मण्डनम् अलंकारः। मदैच् हर्षे, मदनः-वृक्षः, कामः, मधूच्छिष्टं च। दहं भस्मीकरणे, दहनः-अग्निः। वहीं प्रापणे, वहनं-नौः। आदिग्रहणात् पचेः पचनः-अग्निः। पुनातेः, नयनं पवनः-वायुः। बिभर्तेः भरणं-साधनम्। नयतेः नयनं-नेत्रम्। द्युतेः, द्योतनः-सूर्यः। रचेः, रचना-वैचित्र्यम्। गृञ्जेः-गृञ्जनम्-अभक्ष्यद्रव्यविशेषः। प्रस्कन्दनः, प्रपतनः इत्यादयो भवन्ति ॥ २६९ ॥

अशो रश्चादौ ॥ २७० ॥

अशौटि व्याप्तौ, इत्यस्माद् अनः प्रत्ययो भवति रेफश्चादौ भवति। रशना मेखला। रशिमेके प्रकृतिमुपादिशन्ति, सा च राशिः, रशना, रश्मिः इत्यत्र प्रयुज्यत इत्याहुः ॥ २७० ॥

उन्देर्नलुक् च ॥ २७१ ॥

उन्दैप् क्लेदने, इत्यस्माद् अनः प्रत्ययो भवति, नलोपश्च भवति। ओदनः-भक्तम् ॥ २७१ ॥

हनेर्घतजघौ च ॥ २७२ ॥

हनंक् हिंसागत्योः, इत्यस्माद् अनः प्रत्ययो भवति, घतजघावित्यादेशौ चास्य भवतः। घतनः रङ्गोपजीवी, पापकर्मा, निर्लज्जश्च। जघनं श्रोणिः ॥ २७२ ॥

तुदादि-वृजि-रञ्जि-निधाभ्यः कित् ॥ २७३ ॥

एभ्यः किद् अनः प्रत्ययो भवति। तुदींत् व्यथने, तुदनः। क्षिपींत् प्रेरणे क्षिपणः। सुरत् ऐश्वर्यदीप्त्योः, सुरणः। बुधिच् ज्ञाने, बुधनः। षिवूच् उतौ, सिवनः। एषां यथासंभवं कारकमुच्यते। लबुङ् अवस्रंसने, लम्बनः-शकुनिः। वृजैकि वर्जने, वृजिनम्-अन्तरिक्षम्, निवारणं, मण्डनं च। रञ्जीं रागे, रजनं-हरिद्रा। महारजनं-कुसुम्भम्, रजनः-रङ्गविशेषः। डुधांग्क् धारणे च। निधनम्-अवसानम् ॥ २७३ ॥

सू-धू-भू-भ्रस्जिभ्यो वा ॥ २७४ ॥

एभ्यः अनः प्रत्ययो भवति, स च किद्वा भवति षूत् प्रेरणे, सुवनः-अङ्कुरः, आदित्यः, प्रादुर्भावश्च, सुवनं-चन्द्रप्रभा, सवनं-यज्ञः पूर्वाह्णापराह्णमध्याह्नकालश्च। त्रिषवणम्। धूत् विधूनने, धुवनः धूमः, वायुः, अग्निश्च, धुवनम्-एधः, धवनम्। भू सत्तायाम्, भुवनं-जगत्, भवनं-गृहम्, भ्रस्जींत्, पाके, भृज्जनम् अन्तरीक्षम्, अम्बरीषः, पाकश्च। भ्रज्जनः-पावकः ॥ २७४ ॥

बिदन-गगन-गहनादयः ॥ २७५ ॥

एते किदनप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते । बिदु अवयवे नलोपश्च, बिदनः-गोत्रकृत् । गमेर्ग् च, गगनम्-आकाशम् । गाहौङ् विलोडने, ह्रस्वश्च, गहनं-दुर्गमम् । आदिग्रहणात् काञ्चनकाननादयो भवन्ति ।। २७५ ।।

संस्तु-स्पृशि-मन्थेरानः ॥ २७६ ॥

संपूर्वात् स्तोः स्पृशेश्च सन्पूर्वाभ्यां वा स्तु-स्पृशिभ्यां मन्थेश्च आनः प्रत्ययो भवति । ष्टुंग्क् स्तुतौ संस्तवानः-सोमः, होता, महर्षिः, वाग्मी च । स्पृशंत् स्पर्शे, स्पर्शानः–मनः, अग्निश्च । मन्थश् विलोडने, मन्थानः खजकः ।। २७६ ।।

यु-युजि-युधि-बुधि-मृशि-दृशीशिभ्यः कित् ॥ २७७ ॥

एभ्यः किद्, आनः प्रत्ययो भवति । युक् मिश्रणे, युवानः-तरुणः । युजूंपी योगे, युजानः सारथिः । युधिच् संप्रहारे युधानः-रिपुः । बुधिच् ज्ञाने, बुधानः-आचार्यः, पण्डितो वा । मृशंत् आमर्शने, मृशानः-विमर्शकः । दृशूं प्रेक्षणे, दृशानः लोकपालः । युजादिप्रसिद्धकर्त्रर्था एते । ईशिक् ऐश्वर्ये, ईशानः-ईश्वरः ।। २७७ ।।

मुमुचान-युयुधान-शिश्विदान-जुहुराण-जिह्रियाणाः ॥ २७८ ॥

एते किद् आनप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते । मुचेर्द्वित्वं च, मुमुचानः-मेघः । एवं युधिच् संप्रहारे, युयुधानः-साहसिकः, राजा च कश्चित् । श्वितांङ् वर्णे, अस्य दश्च, शिश्विदानः–दुराचारो द्विजः । हुर्च्छा कौटिल्ये, अस्यान्तलुक् च, जुहुराणः–कठिनहृदयः, कुटिलः, अग्निः, अध्वर्युः, अनड्वांश्च । ह्रींक् लज्जायाम्, जिह्रियाणः, नीतिमान् । सर्वे एवैते मुच्यादिप्रसिद्धक्रियाकर्तृवचना इत्येके । अन्ये तु मुमुक्षादिसन्नन्तप्रकृतीनामेतन्निपातनं, तेन सन्नन्तक्रियाकर्तृवचना इत्याहुः ।। २७८ ।।

ऋञ्जि-रञ्जि-मन्दि-सह्यर्हिभ्योऽसानः ॥ २७९ ॥

एभ्यः असानः प्रत्ययो भवति । ऋजुङ् भर्जने, ऋञ्जसानः–महेन्द्रः, मेघः, श्मशानं च । रञ्जीं रागे, रञ्जसानः-मेघः, धर्मश्च । मदुङ् स्तुत्यादिषु, मन्दसानः-हंसः, चन्द्रः, सूर्यः, जीवः, स्वप्नः, अग्निश्च । षहि मर्षणे, सहमानः दृढः, मयूरः, यजमानः, क्षमावांश्च । अर्ह पूजायाम्, अर्हसानः-चन्द्रः, तुरङ्गमश्च ।। २७९ ।।

रुहि-यजेः कित् ॥ २८० ॥

आभ्यां किद् असानः प्रत्ययो भवति । रुहं जन्मनि, रुहसानः–विटपः । यजीं देवपूजासंगतिकरणदानेषु, इजसानः-धर्मः ।। २८० ।।

वृधेर्वा ॥ २८१ ॥

वृधेः असानः प्रत्ययो भवति, स च किद्वा भवति । वृधूङ् वृद्धौ, वृधसानः-गर्भः । वर्धसानः-गिरिः, मृत्युः, गर्भः, पुरुषश्च ।। २८१ ।।

श्या-ऋठि-खलि-नल्यवि-कुण्डिभ्य इनः ॥ २८२ ॥

एभ्य इनः प्रत्ययो भवति। श्यैङ् गतौ श्येनः-पक्षी, अभिचारयज्ञश्च। कठ कृच्छ्रजीवने, कठिनम् अमृदु। खल संचये च, खलिनम् अश्वमुखसंयमनम्। णल गन्धे, नलिनं-पद्मम्। अव रक्षणादौ अविनं जलं, मृगः, नाशः अग्निः, राजा, अध्वर्युः, विधानं, गुप्तिश्च। कुडुङ् दाहे, कुण्डिनः-ऋषिः, कुण्डिनं-नगरम्। ॥ २८२ ॥

वृजि-तुहि-पुलि-पुटिभ्यः कित् ॥ २८३ ॥

एभ्यः किद् इनः प्रत्ययो भवति। वृजैकि वर्जने, वृजिनं-पापं, कुटिलं च। तुहृ अर्दने, तुहिनम्-हिममन्धकारश्च। पुल महत्त्वे, पुटत् संश्लेषणे, पुलिनं, पुटिनं च-नदीतीरं, वालुकासंघातश्च ॥ २८३ ॥

विपिनाजिनादयः ॥ २८४ ॥

विपिनादयः शब्दाः किद् इनप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते। डुवपीं बीजसंताने, टुवेपृङ् चलने इत्यस्य वा, इच्चोपान्त्यस्य। विपिनं-गहनम्, अब्जं, जलदुर्गं च। अज क्षेपणे च, अस्य वीभावाभावश्च। अजिनं-चर्म। आदिग्रहणादन्येऽपि ॥ २८४ ॥

महेर्णिद्वा ॥ २८५ ॥

मह पूजायाम्, इत्यस्माद् इनः प्रत्ययो भवति स च णिद्वा भवति। माहिनं-राज्यं, बलं च। महिनं राज्यं, शयनं च। महिनः-माहात्म्यवान् ॥ २८५ ॥

खलि-हिंसिभ्यामीनः ॥ २८६ ॥

आभ्याम् ईनः प्रत्ययो भवति। खल संचये च, खलीनं-कवियम्। हिंसुप् हिंसायाम्, हिंसीनः-श्वापदः ॥ २८६ ॥

पठेर्णित् ॥ २८७ ॥

पठ व्यक्तायां वाचि, इत्यस्मात् णिद् ईनः प्रत्ययो भवति। पाठीनः-मत्स्यः ॥२८७॥

यम्यजि-शक्य-र्जि-शी-यजि-तॄभ्य उनः ॥ २८८ ॥

एभ्य उनः प्रत्ययो भवति। यमूं उपरमे, यमुना-नदी। अज क्षेपणे च, वयुनं-विज्ञानम्, अङ्गं च, वयुनः-विद्वान्, चन्द्रः, यज्ञश्च। शक्लृंट् शक्तौ, शकुनः-पक्षी। अर्ज अर्जने, अर्जुनः-ककुभः, वृक्षविशेषः, पार्थः, श्वेतवर्णः, श्वेताश्वः, कार्तवीर्यश्च। अर्जुनी-गौः। अर्जुनं तृणं, श्वेतसुवर्णं च। शीङ्क् स्वप्ने, शयुनः-अजगरः। यजीं देवपूजादौ, यजुनाक्रतुद्रव्यम्। तॄ प्लवनतरणयोः, तरुणः समर्थः, युवा, वायुश्च। ऋफिडादित्वाल्लत्वे तलुनः ॥ २८८ ॥

लषेः शू च ॥ २८९ ॥

लषी कान्तौ इत्यस्माद् उनः प्रत्ययो भवति । तालव्यः शकारश्चान्तादेशो भवति । लशुनं-कन्दजातिः ।। २८९ ।।

पिशि-मिथि-क्षुधिभ्यः कित् ॥ २९० ॥

एभ्यः किद् उनः प्रत्ययो भवति । पिशत् अवयवे, पिशुनः-खलः, पिशुनं-मैत्रीभेदकं वचनम् । मिथृङ् मेधाहिंसयोः, मिथुनं-स्त्रीपुंसद्वन्द्वम्, राशिश्च । क्षुधंच् बुभुक्षायाम्, क्षुधनः-कीटकः ।। २९० ।।

फलेर्गोऽन्तश्च ॥ २९१ ॥

फल निष्पत्तौ, इत्यस्माद् उनः प्रत्ययो भवति, गश्चान्तो भवति । फल्गुनः-अर्जुनः । फल्गुनीनक्षत्रम् ।। २९१ ।।

वी-पति-पटिभ्यस्तनः ॥ २९२ ॥

एभ्यस्तनः प्रत्ययो भवति । वींक् प्रजननादौ, वेतनं भृतिः । पत्लृ गतौ, पत्तनम् । पट गतौ, पट्टनम् । द्वावपि नगरविशेषौ ।

पट्टनं शकटैर्गम्यं, घोटकैर्नौभिरेव च । नौभिरेव तु यद् गम्यं, पत्तनं तत् प्रचक्षते ।। २९२ ।।

पृ-पूभ्यां कित् ॥ २९३ ॥

आभ्यां कित् तनः प्रत्ययो भवति । पृङ्त् व्यायामे, पृतना सेना । पूग्श् पवने, पूतनाराक्षसी ।। २९३ ।।

कृत्यशौभ्यां स्नक् ॥ २९४ ॥

आभ्यां स्नक्प्रत्ययो भवति । कृतैत् छेदने, कृत्स्नं-सर्वम् । अशौटि व्याप्तौ । अक्ष्णं-नयनं, व्याधिः, रज्जुः, तेजनम्, अखण्डं च ।। २९४ ।।

अर्तेः शसानः ॥ २९५ ॥

ऋंक् गतौ, इत्यस्मात्तालव्यादिः शसानः प्रत्ययो भवति । अर्शसानः-पन्थाः, इषुः, अग्निश्च ।। २९५ ।।

भा-पा-चणि-चमि-विषि-सृ-पृ-तृ-शी-तल्यलिशमि-रमि-वपिभ्यः पः ॥ २९६ ॥

एभ्य पः प्रत्ययो भवति । भांक् दीप्तौ, भापःआदित्यः, ज्येष्ठश्च भ्राता । पांक्-रक्षणे पापं-कल्मषम्, पापः-चोरः । चण हिंसादानयोश्च, चण्पानगरी, चण्पः-वृक्षः । चमू अदने, चम्पा नगरी । विष्लृंकी व्याप्तौ, वेष्पः-परमात्मा, स्वर्गः, आकाशश्च । निपूर्वात्, निवेष्पः-अपां गर्भः, कूपः, वृक्षजातिः, अन्तरीक्षं च । सृं गतौ, सर्पः-अहिः । पृश् पालनपूरणयोः, पर्पः-प्लवः, शङ्कुः समुद्रः, शस्त्रं च । तॄ प्लनवतरणयोः, तर्पः-उडुपः

नौश्च । शीङ्क् स्वप्ने, शेपः-पुच्छम् । तलण् प्रतिष्ठायाम्, तल्पं-शयनीयम्, अङ्गं, दाराः, युद्धं च । अली भूषणादौ, अल्पं-स्तोकम् शमूच् उपशमे, शम्पा-विद्युत्, काञ्ची च । विपूर्वात् विशम्पः-दानवः रमि क्रीडायाम्, रम्पा चर्मकारोपकरणम् । डुवपीं बीजसंताने, वप्पः-पिता ॥ २९६ ॥

यु-सु-कु-रु-तु-च्यु-स्त्वादेरूच्च ॥ २९७ ॥

एभ्य पः प्रत्ययो भवति, ऊकारश्चान्तादेशो भवति । युक् मिश्रणे, यूपः-यज्ञपशुबन्धनकाष्ठम् । षुंग्ट् अभिषवे, सूपः-मुद्गादिभिन्नकृतः । कुंक् शब्दे कूपः-प्रहिः । रुक्-शब्दे, रूपं-श्वेतादि, लावण्यं, स्वभावश्च । तुंक् वृत्यादौ, तूपः-आयतनविशेषः । च्युंङ्-गतौ, च्यूपः-आदित्यः, वायुः, संग्रामश्च । ष्टुंग्क् स्तुतौ, स्तूपः-बोधिसत्त्वभवनम्, उपायतनं च । आदिशब्दादन्येऽपि ॥ २९७ ॥

कॄ-शॄ-सृभ्य-ऊर् चान्तस्य ॥ २९८ ॥

एभ्यः पः प्रत्ययो भवति, अन्तस्य च ऊर् भवति कॄत् विक्षेपे, कूर्पम्-भ्रूमध्यम् । शॄश् हिंसायाम्, शूर्पःधान्यादिनिष्पवनभाण्डं, संख्या च । सृं गतौ, सूर्पः-भुजङ्गमः, मत्स्यजातिश्च ॥ २९८ ॥

शदि-बाधि-खनि-हने षः च ॥ २९९ ॥

एभ्यः पः प्रत्ययो भवति, षश्चान्तादेशो भवति । शदॢं शातने, शष्पं-बालतृणम् । शष हिंसायाम् इत्यस्य वा रूपम् । बाधृङ-रोटने, बाष्पः-अश्रु, धूमाभासं च मुखपानीयादौ । खनूग् अवदारणे, खष्पः-बलात्कारः, दुर्मेधाः कूपश्च । खष्पं-खलीनं, जनपदविशेषः, अङ्गारश्च । हनंक् हिंसागत्योः, हष्पः-प्रावरणजातिः ॥ २९९ ॥

पम्पा-शिल्पादयः ॥ ३०० ॥

पम्पादयः शब्दा पप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते । पांक् रक्षणे, मोऽन्तो ह्रस्वश्च । पम्पा-पुष्करिणी । शीलयतेः शलतेः शेतेर्वा शिलादेशश्च । शिल्पं-विज्ञानम् । आदिशब्दादन्येऽपि ॥ ३०० ॥

क्षु-चुपि-पूभ्यः कित् ॥ ३०१ ॥

एभ्यः कित् पः प्रत्ययो भवति । टुक्षुक् शब्दे क्षुपः-गुच्छः । चुप मन्दायां गतौ, चुप्पं मन्दगमनम् । पूग्श् पवने, पूपः पिष्टमयः ॥ ३०१ ॥

नियो वा ॥ ३०२ ॥

णींग् प्रापणे, इत्यस्मात् पः प्रत्ययो भवति । स च किद्वा भवति । नीपः-वृक्षविशेषः, नेपः-नयः, पुरोहितः, वृक्षः, भृतकश्च, नेपम्-उदकं, यानं च ॥ ३०२ ॥

उम्यवेलुक् च ॥ ३०३ ॥

आभ्यां कित् पः प्रत्ययो भवति, लुक् चान्तस्य भवति । उभत् पूरणे । अव रक्षणादौ । उप, अप च अव्यये ।। ३०३ ।।

दलि-वलि-तलि खजि ध्वजि-कचिभ्योऽपः ॥ ३०४ ॥

एभ्यः अपः प्रत्ययो भवति । दल विशरणे, दलपः-प्रहरणम् , रणमुखम् , त्रिदलं, दलविशेषश्च, दलपं व्रणमुखत्राणम् । वलि संवरणे, वलपः-कर्णिका । तलण् प्रतिष्ठायाम्, तलपः-हस्तप्रहारः । खज मन्थे, खजपः-मन्थः, खजपं दधि, घृतम् उदकं च । ध्वज गतौ, ध्वजपः-ध्वजः । कचि बन्धने, कचपः-शाकपणः, बन्धश्च ।। ३०४ ।।

भुजि-कुति-कुटि-विटि-कुणि-कुष्युषिभ्यः कित् ॥ ३०५ ॥

एभ्यः किदपः प्रत्ययो भवति । भुजंप् पालनाभ्यवहारयोः, भुजपः-राजा, यजमानपालनादग्निश्च । कुतिः सौत्रः, कुतपः-छागलोम्नां कम्बलः आस्तरणं, श्राद्धकालश्च । कुटस् कौटिल्ये, कुटपः-प्रस्थचतुर्भागः नीडं च शकुनीनाम् । विट् शब्दे, विटपः-शाखा । कुणत् शब्दोपकरणयोः । कुणपः-मृतकं कुथितं, शब्दार्थसारूप्यं च । कुषश् निष्कर्षे, कुषपः-विन्ध्यः, संदंशश्च । उषू दाहे, उषपः-दाहः, सूर्यः, वह्निश्च ।। ३०५ ।।

शंसेः श इच्चातः ॥ ३०६ ॥

शंसू स्तुतौ च, इत्यस्मादपः प्रत्ययो भवति तालव्यः शकारोऽन्तादेशोऽकारस्य च इकारो भवति । शिंशपाः-वृक्षविशेषः ।। ३०६ ।।

विष्टपोलप-वातपादयः ॥ ३०७ ॥

विष्टपादयः शब्दाः किद् अपप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते । विषेस्तोऽन्तश्च । विष्टपं-जगत्, सुकृतिनां स्थानं च । वलेरुल् च । उलप-पर्वततृणम्, पङ्कजं, जलं च । उलपः ऋषिः । वातेस्तोऽन्तश्च । वातपः-ऋषिः । आदिग्रहणात् खरपादयोऽपि भवन्ति ।। ३०७ ।।

कलेरापः ॥ ३०८ ॥

कलि शब्दसंख्यानयोः, इत्यस्मादापः प्रत्ययो भवति । कलापः-काञ्चीसमूहः, शिखण्डश्च ।। ३०८ ।।

विशेरिपक् ॥ ३०९ ॥

विशंत् प्रवेशने, इत्यस्मादिपक् प्रत्ययो भवति । विशिपः-राशिः । विशिपं-तृणं, वेश्म, आसनं, पद्मं च ।। ३०९ ।।

दलेरीपो दिल् च ॥ ३१० ॥

दल विशरणे, इत्यस्मादीपः प्रत्ययो भवति । दिल् चास्यादेशो भवति । दिलीपः-राजा ।। ३१० ।।

उडेरुपक् ॥ ३११ ॥

उड् संघाते, इति सौत्रात् उपक्प्रत्ययो भवति । उडुपः-प्लवः । जपादित्वाद् वत्वे उडुवः ।। ३११ ।।

अश ऊपः पश्च ।। ३१२ ।।

अशौटि व्याप्तौ, इत्यस्मादूपः प्रत्ययः भवति, पश्चान्तादेशो भवति । अपूपः पक्वान्नविशेषः ।। ३१२ ।।

सर्तेः षपः ।। ३१३ ।।

सृं गतौ, इत्यस्मात् षपः प्रत्ययो भवति । सर्षपः-रक्षोघ्नंद्रव्यम् , शाकं च ।।३१३।।

री-शीभ्यां फः ।। ३१४ ।।

आभ्यां फः प्रत्ययो भवति । रीङ्च् श्रवणे, रेफः-कुत्सितः । शीङ्क् स्वप्ने । शेफः-मेढ्रः ।।३१४।।

कलि-गलेरस्योच्च ।। ३१५ ।।

आभ्यां फः प्रत्ययो भवत्यस्य चोकारो भवति । कलि शब्दसंख्यानयोः, गल अदने, कुल्फः-जङ्घाङ्घ्रिसन्धिः । गुल्फः-पादोपरिग्रन्थिः ।।३१५।।

शफ-कफ शिफा-शोफादयः ।। ३१६ ।।

शफादयः शब्दाः फप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते । श्यतेः कायतेश्च ह्रस्वश्च । शफः-खुरः, प्रियंवदश्च । कफः-श्लेष्मा । श्यतेरित्वमोत्वं च । शिफा-वृक्षजटा । शोफः-श्वयथुः, खुरश्च । आदिशब्दाद् रिफानफासुनफादयो भवन्ति ।। ३१६ ।।

वलि-नितनिभ्यां बः ।। ३१७ ।।

वलि संवरणे, निपूर्वाच्च, तनूयी विस्तारे इत्याभ्यां बः प्रत्ययो भवति । बल्बः-वृक्षः । नितम्बः-श्रोणिः, पर्वतैकदेशः, नटश्च ।। ३१७ ।।

शम्यमेर्णिद्वा ।। ३१८ ।।

आभ्यां बः प्रत्ययो भवति, स च णिद्वा भवति । शमूच् उपशमे, शम्बः-वज्रः, कर्षणविशेषः, वेणुदण्डः, तोत्रम् , अरित्रं च । शम्बशाम्बौ-जाम्बवतेयौ । अम् गतौ, अम्बा-माता । आम्बः-अपह्नवः ।। ३१८ ।।

शल्यलेरुच्चातः ।। ३१९ ।।

आभ्यां बः प्रत्ययो भवत्यकारस्य चोकारो भवति । पल-फल शल गतौ, शुल्बं-ताम्रम् । अली भूषणादौ, उल्बं-रजतम् , गर्भवेष्टनम् । शुल्बं-बभ्रुः, तरक्षुश्च ।। ३१९ ।।

तुम्ब-स्तम्बादयः ।। ३२० ।।

तुम्बादयः शब्दा बप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते । ताम्यतेरत उत्वं च । तुम्बम् अलाबु,

चक्राङ्गं च । स्तम्भेर्लुक् च । स्तम्बः-तृणं, विटपः, संघातः, अङ्कुरसमुदायः, स्तबकः, पुष्पापीडश्च । आदिग्रहणात् कुशाम्बादयो भवन्ति ॥ ३२० ॥

कृ-कडि-कटि-वटेरम्बः ॥ ३२१ ॥

एभ्यः अम्बः प्रत्ययो भवति । डुकृंग् करणे, करम्बः-दध्योदनः, दधिसक्तवः, पुष्पं च । कडत् मदे, कडम्बः-जातिविशेषः, जनपदविशेषश्च । कटे वर्षावरणयोः, कटम्बः-पक्वान्नविशेषः, वादित्रं च । कडम्ब-कटम्बौ वृक्षौ च । वट वेष्टने, वटम्बः-शैलः, तृणपुञ्जश्च ॥ ३२१ ॥

कदेर्णिद्वा ॥ ३२२ ॥

कद वैक्लव्ये, इति सौत्राद् अम्बः प्रत्ययो भवति, स च णिद्वा भवति । कादम्बः-हंसः । कदम्बः-वृक्षजातिः ॥ ३२२ ॥

शिल-विलादेः कित् ॥ ३२३ ॥

शिलादिभ्यः किद् अम्बः प्रत्ययो भवति । शिलत् उञ्छे, शिलम्बः-ऋषिः, तन्तुवायश्च । विलत् वरणे, विलम्बः-वेषविशेषः, रङ्गावसरश्च । आदिग्रहणादन्येऽपि ॥३२३॥

हिण्डि-विलेः किम्बो नलुक् च ॥ ३२४ ॥

आभ्यां किद् इम्बः प्रत्ययो भवति, नस्य च लुग् भवति । हिडुङ् गतौ, विलत् वरणे, हिडिम्बः-विलिम्बश्च राक्षसौ ॥ ३२४ ॥

डी-नी-बन्धि-शृधि-चलिभ्यो डिम्बः ॥ ३२५ ॥

एभ्यः डिद् इम्बः प्रत्ययो भवति । डीङ् विहायसा गतौ, डिम्बः-राजोपद्रवः । णींग् प्रापणे, निम्बः-वृक्षविशेषः । बन्धंश् बन्धने, बिम्बं-प्रतिच्छन्दः, देहश्च, बिम्बी-वल्लिजातिः । शृधूङ् शब्दकुत्सायाम् । शिम्बः-मृगजातिः । शिम्बी-निष्पाववल्ली च । चल कम्पने, चिम्बा-यवागूजातिः ॥ ३२५ ॥

कुट्युन्दि-चुरि-तुरि-पुरि-मुरि-कुरिभ्यः कुम्बः ॥ ३२६ ॥

एभ्यः किद् उम्बः प्रत्ययो भवति । कुटत् कौटिल्ये, कुटुम्बं-दारादयः । उदैप् क्लेदने, उदुम्बः-समुद्रः । चुरण् स्तेये । तुरण् त्वरणे, सौत्रः, चुरुम्बः तुरुम्बश्च-गहनम् । पुरत् अग्रगमने, पुरुम्बः-आहारः । मुरत् संवेष्टने, मुरुम्बः-मृद्यमाणपाषाणचूर्णम् । कुरुत् शब्दे, कुरुम्बः-अङ्कुरः । निपूर्वात् निकुरुम्बः-राशिः ॥ ३२६ ॥

गॄ-दॄ-रमि-हनि-जन्यर्ति-दलिभ्यो भः ॥ ३२७ ॥

एभ्यो भः प्रत्ययो भवति । गत् निगरणे, गर्भः-जठरस्थः प्राणी । दॄश् विदारणे, दर्भः-कुशः । रमि क्रीडायाम्, रम्भा-अप्सराः, कदली च । हनंक् हिंसागत्योः, हम्भा-गोधे-

नुनादः । जनैचि प्रादुर्भावे, जम्भः-दानवः, दन्तश्च, जम्भा-मुखविदारणम् । ऋंक् गतौ, अर्भः-शिशुः । दलण् विदारणे, दलभः-ऋषिः, वल्कलं, विदारणं च ॥ ३२७ ॥

इणः कित् ॥ ३२८ ॥

इंणक् गतौ, इत्यस्मात् किद् भः प्रत्ययो भवति । इभः-हस्ती ॥ ३२८ ॥

कॄ-शॄ-गॄ-शलि-कलि-कडि-गर्दि-रसि-रमि-वडि वल्लेरभः ॥ ३२९ ॥

एभ्यः अभः प्रत्ययो भवति । कॄत् विक्षेपे, करभः-त्रिवर्ष उष्ट्रः । शॄश् हिंसायाम्, शरभः-श्वापदविशेषः । गॄत् निगरणे, गरभः-उदरस्थो जन्तुः । पल-फल-शल-गतौ, शलभः-पतङ्गः । कलि शब्दसंख्यानयोः, कलभः हस्ती यौवनाभिमुखः । कडत्-मदे, कडभः हस्तिपोतकः । गर्द शब्दे, गर्दभः-खरः । रासृङ् शब्दे, रासभः-स एव । रमि क्रीडायाम्, रमभः-प्रहर्षः । वडः सौत्रः, वडभीवेश्माग्रभूमिका । ऋफिडादित्वाल्लत्वे वलभी । वल्लि संवरणे, वल्लभः-स्वामी, दयितश्च ॥ ३२९ ॥

सनेर्डित् ॥ ३३० ॥

षण् भक्तौ इत्यस्मात् डिद् अभः प्रत्ययो भवति । सभा-परिषत्, शाला च ।३३०।

ऋषि-वृषि-लुसिभ्यःकित् ॥ ३३१ ॥

एभ्यः किद् अभः प्रत्ययो भवति । ऋषैत् गतौ, वृषू सेचने, ऋषभः वृषभश्च पुङ्गवः, भगवांश्चादितीर्थकरः । ऋषभः-वायुः । लुसिः सौत्रः, लुसभः-हिंस्रः, मत्तहस्ती, वनं च ॥ ३३१ ॥

सि-टिकिभ्यामिभः सैर-टिट्टौ च ॥ ३३२ ॥

आभ्याम् इभः प्रत्ययो भवति । दन्त्यादिः, सैरः टिट्टश्चादेशौ यथासंख्यं भवतः । षिगट् बन्धने, सैरिभः-महिषः । टिकि गतौ, टिट्टिभः-पक्षी ॥ ३३२ ॥

ककेरुभः ॥ ३३३ ॥

कक्कि लौल्ये, इत्यस्माद् उभः प्रत्ययो भवति । ककुभः-अर्जुनः ॥ ३३३ ॥

कुकेः कोऽन्तश्च ॥ ३३४ ॥

कुकि आदाने, इत्यस्माद् उभः प्रत्ययो भवति, ककारश्चान्तादेशो भवति । कुक्कुभः-पक्षिविशेषः ॥ ३३४ ॥

दमो दुण्ड् च ॥ ३३५ ॥

दमूच् उपशमे, इत्यस्माद् उभः प्रत्ययो भवत्यस्य च दन्त्यादिष्टवर्गतृतीयान्तो दुण्ड् इत्यादेशो भवति । दुण्डुभः-निर्विषाहिः ॥ ३३५ ॥

कु-कलेरम्भः ॥ ३३६ ॥

आभ्याम् अम्भः प्रत्ययो भवति । डुकृंग् करणे, करम्भः-दधिसक्तवः । कलि शब्दसंख्यानयोः, कलम्भः-ऋषिः ।। ३३६ ।।

का-कुसिभ्यां कुम्भः ॥ ३३७ ॥

आभ्यां किद् उम्भः प्रत्ययो भवति । कै शब्दे, कुम्भः-घटः, राशिश्च । कुसच् श्लेषणे, कुसुम्भः-महारजनम् ।। ३३७ ।।

अर्तीरि-स्तु-सु-हु-सृ-घृ-धृ-शॄ-क्षि-यक्षि-भा-वा-व्या-धा-पा-या-वलि-पदि-नीभ्यो मः ॥ ३३८ ॥

एभ्यो मः प्रत्ययो भवति । ऋंक् गतौ, अर्मः-अक्षिरोगः, ग्रामः, स्थलं च । ईरिक् गतिकम्पनयोः, ईर्मं-व्रणः । ष्टुंग्क् स्तुतौ, स्तोमः-समूहः, यज्ञः, स्तोत्रं च । षुंग्ट्-अभिषवे, सोमः-चन्द्रः, वल्ली च । हुंक् दानादनयोः, होमः-आहुतिः । सृं गतौ, सर्मः-नदः, कालश्च; सर्म-स्नानं, सुखं च । घृं सेचने, घर्मः-ग्रीष्मः । धृंङ्त् स्थाने, धर्मः-उत्तमक्षमादिः, न्यायश्च । शॄश् हिंसायाम् । शर्म सुखम् । क्षित् निवासगत्योः, क्षेमं-कल्याणम् । यक्षिण् पूजायाम्, यक्ष्मः-व्याधिः । भांक् दीप्तौ, भामः-क्रोधः, भामा-स्त्री । वांक् गतिगन्धनयोः, वामः-प्रतिकूलः, सव्यश्च । व्येंग् संवरणे, व्यामः-वक्षोभुजायतिः । डुधांग्क् धारणे च, धामं-निलयः-मेघश्च । पां पाने, पामा-कच्छूः । यांक् प्रापणे, यामः-प्रहरः । वलि संवरणे, वल्मः-ग्रन्थिः । पदिच् गतौ, पद्मं-कमलम् । णींग् प्रापणे, नेमः-अर्धः, समीपश्च ।।३३८।।

ग्रसि-ह्वाग्भ्यां ग्राजिह्वौ च ॥ ३३९ ॥

आभ्यां मः प्रत्ययो भवत्यनयोश्च ग्राजिह्वावित्यादेशौ यथासंख्यं भवतः । ग्रामः-समूहादिः । जिह्मः-कुटिलः ।। ३३९ ।।

विलि-भिलि-सिधीन्धि-धू-सू-श्या-ध्या-रु-सिवि-शुषि-मुषीषि-सुहि-युधि-दसिभ्यः कित् ॥ ३४० ॥

एभ्यः किद् मः प्रत्ययो भवति । विलत् वरणे, विल्मं-प्रकाशः । भिलिः सौत्रः, भिल्मं-भास्वरम् । षिधू-गत्याम्, सिध्मं-त्वग्रोगः । ञिइन्धैपि दीप्तौ, इध्मम्-इन्धनम् । धूग्श् कम्पने, धूमः-अग्निकेतुः । षूङौच् प्राणिप्रसवे, सूमः-कालः, स्वयथुः, रविश्च । सूमम्-अन्तरिक्षम् । श्यैङ् गतौ, श्यामः-वर्णः, श्यामं-नभः । श्यामा-रात्रिः, औषधिश्च । ध्यै चिन्तायाम्, ध्यामः-अव्यक्तवर्णः । रुक् शब्दे, रुमा-लवणभूमिः । षिवूच् उतौ, स्यूमः-रश्मिः, दीर्घसूत्रतन्तुश्च । स्यूमम्-जलम् । शुषंच् शोषणे, शुष्मं-बलं, जलं, संयोगश्च । मुषश् स्तेये मुष्मः-मूषिकः । ईष उञ्छे, ईष्मः-वसन्तः, बाणः, वातश्च । षुहच् शक्तौ सुह्माः-जनपदः, सुह्मः-राजा । युधिच् संप्रहारे, युध्मः-शरत्कालः, शूरः, शत्रुः, संग्रामश्च । दसूच् उपक्षये दस्मः-होनः, वह्निर्यज्ञश्च ।। ३४० ।।

क्षु-हिभ्यां वा ॥ ३४१ ॥

आभ्यां मः प्रत्ययो भवति, स च किद्वा भवति । टुक्षुक् शब्दे, क्षुमा-अतसी, मोक्षं-वस्त्रम् । हिंट् गतिवृद्ध्योः, हिमं-तुषारः, हेमं-सुवर्णम् ।। ३४१ ।।

अवेर्हस्वश्च वा ॥ ३४२ ॥

अव रक्षणादौ, इत्यस्मात् किद् मः प्रत्ययो भवति ऊटो ह्रस्वश्च वा भवति । उमा-गौरी, अतसी, कीर्तिश्च । ऊमम्-ऊनम्, आकाशं, नगरम् ।। ३४२ ।।

सेरी च वा ॥ ३४३ ॥

षिग्ट् बन्धने, इत्यस्मात् किद् मः प्रत्ययो भवति, ईकारश्चान्तादेशो वा भवति । सीमोग्रामगोचरभूमिः, क्षेत्रमर्यादा, हयश्च । सिमः-एव, सर्वार्थश्च ।। ३४३ ।।

भियः षोऽन्तश्च वा ॥ ३४४ ॥

ञिभीक् भये, इत्यस्मात् किद् मः प्रत्ययो भवति । षकारश्चान्तादेशो वा भवति । बिभेति अस्मादिति भीष्मः-भयानकः । भीमः-स एव ।। ३४४ ।।

तिजि-युजेर्ग् च ॥ ३४५ ॥

आभ्यां किद् मः प्रत्ययो भवति, गकारश्चान्तादेशो भवति । तिजि क्षमानिशानयोः, तिग्मं-तीक्ष्णं, दीप्तं, तेजश्च । युजूंपी योगे, युग्मं-युगलम् ।। ३४५ ।।

रुक्म-ग्रीष्म-कूर्म-सूर्म-जाल्म-गुल्म-घ्रोम-परि-स्तोम-सूक्ष्मादयः ॥३४६॥

एते किन्मप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते । रोचतेः क् च रुक्मं-सुवर्णं रूप्यं च । ग्रसेर्गीष् च, ग्रीष्मः-ऋतुः । कुरते दीर्घश्च, कूर्मः-कच्छपः । षूत् प्रेरणे, इत्यस्माद्रोऽन्तश्च भवति । सूर्मी-लोहप्रतिमा, चुल्लिश्च जल घात्ये दीर्घश्च, जाल्मः-निकृष्ट । गुपच् व्याकुलत्वे लश्च, गुल्मः-व्याधिः तरुसमूहः, वनस्पतिः, सेनाङ्गं च, गुल्मम्-आयस्थानम् । जिघ्रते-रोत्वं च, घ्रोमः-यज्ञाङ्गलक्षणः सोमः । परिपूर्वात् स्तौतेः षत्वाभावो गुणश्च, परिस्तोमः-यज्ञविशेषः । सूचण् पैशुन्ये कत्वं षोऽन्तश्च । सूक्ष्मः-निपुणः, सूक्ष्मम्-अणु । आदिग्रहणात् क्ष्मादयो भवन्ति ।। ३४६ ।।

सृ-पृ-प्रथि-चरि-कडि-कर्देरमः ॥ ३४७ ॥

एभ्यः अमः प्रत्ययो भवति । सृं गतौ, सरमादेवशुनी । पृश् पालनपूरणयोः, परमः-उत्कृष्टः । प्रथिष् प्रख्याने, प्रथमः-आद्यः । चर भक्षणे, चरमः-पश्चिमः । कडत् मदे, कडमः-शालिः । ऋफिडादित्वाल्लत्वे कलमः- स एव । कर्द कुत्सिते शब्दे, कर्दमः-पङ्कः ।।३४७।।

अवेर्ध् च वा ॥ ३४८ ॥

अव रक्षणादौ, इत्यस्मादम प्रत्ययो भवति, धश्चान्तादेशो वा भवति । अधमः, अवमश्चहीनः ।। ३४८ ।।

कुट्टि-वेष्टि-पूरि-पिषि-सिचि-गण्यर्पि-वृ-महिभ्य इमः ॥ ३४९ ॥

एभ्य इमः प्रत्ययो भवति । कुट्टण् कुत्सने च, कुट्टिमं-संस्कृतभूतलम् । वेष्टि वेष्टने, वेष्टिमं-पुष्पबन्धविशेषः, भक्ष्यविशेषश्च । पूरैचि आप्यायने, पूरिमं-मालाबन्धविशेषः, भक्ष्यविशेषश्च । पिषृलृंप्, संचूर्णने, पेषिमं-भक्ष्यविशेषः । षिचींत् क्षरणे, सेचिमं-मालाविशेषः । गणण् संख्याने, गणिमं-गणितम्-ऋंक् गतौ, णौ पौ, अर्पिमं बालवत्साया दुग्धम् । वृगट् वरणे, वरिमं-तुलोन्मेयम् । मह पूजायाम्, महिमं-पूजनीयम् ।। ३४९ ।।

वयिम-खचिमादयः ॥ ३५० ॥

वयिमादयः शब्दा इमप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते । वेंग् तन्तुसन्ताने, वयादेशश्च, वयिमं-माल्यं, कन्दुकः, तन्तुवायदण्डश्च । खनूग् अवदारणे, चश्च, खचिमं-मणिलोहविद्धं, घृतविहीनं च दधि । आदिशब्दादन्येऽपि ।। ३५० ।।

उद्वटि-कुल्यलि-कुथि-कुरि-कुटि-कुडि-कुसिभ्यः कुमः ॥ ३५१ ॥

उत्पूर्वाद्वटेः कुल्यादिभ्यश्च किदुमः प्रत्ययो भवति । वट वेष्टने, उद्वटुमः-परिक्षेपः । कुल बन्धुसंस्त्यानयोः, कुलुमः–उत्सवः । अली भूषणादौ, अलुमः-प्रसाधनम्, नापितः, अग्निश्च । कुथच् पूतीभावे, कुथुमः–ऋषिः, कुथुमं–मृगाजिनम् । कुरत् शब्दे, कुरुमः–कारुः, भाजनं च । कुटत् कौटिल्ये, कुटुमः-प्रेष्यः । कुडत् बाल्ये च, कुडुमाभूमिः । कुसच् श्लेषे, कुसुमं–पुष्पम् ।। ३५१ ।।

कुन्दुम-लिन्दुम-कुङ्कुम-विद्रुम-पट्टुमादयः ॥ ३५२ ॥

एते कुमप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते । कुकि आदाने स्वरान्नो दश्च, कुन्दुमः–निचयः, गन्धद्रव्यं च । लीङच् श्लेषणे, लिन्दभावश्च, लिन्दुमः–गन्धद्रव्यम् । कुकेः स्वरान्नोन्तश्च । कुङ्कुमं-घुसृणम् । विद्लृंती लाभे, रोन्तश्च, विद्रुमः–प्रवालः । पटेष्टोऽन्तश्च । पट्टुमं-नगरम् । आदिग्रहणादन्येऽपि ।। ३५२ ।।

कुथि-गुधेरूमः ॥ ३५३ ॥

आभ्यामूमः प्रत्ययो भवति । कुथच् पूतिभावे, कोथूमः चरणकृदृषिः । गुधच् परिवेष्टने, गोधूमः-धान्यविशेषः ।। ३५३ ।।

विहा-विशा-पचि-भिद्यादेः केलिमः ॥ ३५४ ॥

विपूर्वाभ्याम् ओहांक् त्यागे, शोंच् तक्षणे, इत्येताभ्यां पच्यादिभ्यश्च किद् एलिमः प्रत्ययो भवति । विहीयते त्यज्यतेऽशुचि शरीरमस्मिन्निति विहेलिमः स्वर्गः । विश्यति तनूभवति मासि मासि कलाभिर्हीयमान इति विशेलिमः–चन्द्र, स्वर्गश्च । डुपचींष् पाके, पचति असावन्नमिति पचेलिमः–अग्निः, आदित्यः, अश्वश्च । भिदृंपी विदारणे, भिदेलिमः–तस्करः । आदिशब्दात् दृशृं प्रेक्षणे, दृशेलिमम् अदं प्सांक् भक्षणे, अदेलिमम् । हनंक् हिंसागत्योः, घ्नेलिमम् । डुयाचृग् याच्ञायाम्, याचेलिमम् । पांक् रक्षणे, पेलिमम् । डुकृंग् करणे, केलिमम् इत्यादयो भवन्ति ।। ३५४ ।

दो डिमः ॥ ३५५ ॥

दांम् दाने, इत्यस्मात् डिमः प्रत्ययो भवति । दाडिमः दाडिमी वा-वृक्षजातिः ।३५५।

डिमेः कित् ॥ ३५६ ॥

डिमेः सौत्रात् कित् डितः प्रत्ययो भवति । डिण्डिमः-वाद्यविशेषः ॥ ३५६ ॥

स्था-छा-मा-सा-सू-मन्यनि-कनि-षसि-पलि-कलि-शलि-शकीर्ष्यि-सहि-बन्धिभ्यो यः ॥ ३५७ ॥

एभ्योः यः प्रत्ययो भवति । ष्ठां गतिनिवृत्तौ, स्थायः-स्थानम्, स्थाया-भूमिः । दो छोंच् छेदने, छाया-तमः, प्रतिरूपम्, कान्तिश्च । मांक् माने, माया-छद्म, दिव्यानुभावदर्शनं च । षौंच् अन्तकर्मणि, सायं दिनावसानम् । षूत् प्रेरणे, सव्यः-वामः, दक्षिणश्च । मनिच् ज्ञाने, मन्या-धमनिः । अनक् प्राणने, अन्यः-परः । कनै दीप्त्यादिषु, कन्या कुमारी षसक् स्वप्ने, सस्यं-क्षेत्रस्थं गोधूमादि । पल गतौ, पल्यः-कटकुसूलः । कलि शब्दसंख्यानयोः, कल्यः-नीरोगः । पल फल शल गतौ, सल्यमन्तर्गतं लोहादि शक्लृंट् शक्तौ-शक्यम्-असारम् । ईर्ष्यिरीर्ष्यार्थः, ईर्ष्यति ईर्ष्यणं वा ईर्ष्या-मात्सर्यम् । षहि मर्षणे, सह्यः-पश्चादर्णवपार्श्वशैलः । बन्धश् बन्धने, वन्ध्या-अप्रसूतिः ॥ ३५७ ॥

नञो हलि-पतेः ॥ ३५८ ॥

नञ्पूर्वाभ्यामाभ्यां यः प्रत्ययो भवति । हल विलेखने, अहल्या-गौतमपत्नी । पत्लृं गतौ, अपत्यं-पुत्रसंतानः ॥ ३५८ ॥

सञ्जेर्ध् च ॥ ३५९ ॥

षञ्जं सङ्गे इत्यस्माद् यः प्रत्ययो भवति, धकारश्चान्तादेशो भवति । संध्या-दिननिशान्तरम् ॥ ३५९ ॥

मृशी-पसि-वस्यनिभ्यस्तादिः ॥ ३६० ॥

एभ्यस्तकारादिर्यः प्रत्ययो भवति । मृंत् प्राणत्यागे मर्त्यः-मनुष्यः । शीङ्क् स्वप्ने, शैत्यः-शकुनिः, संवत्सरः, अजगरश्च । पसि निवासे, सौत्रो दन्त्यान्तः, पस्त्यं-गृहम् । वसं निवासे, वस्त्यः-गुरुः । अनक् प्राणने, अन्त्यः-निरवसितः, चण्डालादिश्च ॥ ३६० ॥

ऋशि-जनि-पुणि-कृतिभ्यः कित् ॥ ३६१ ॥

एभ्यः किद् यः प्रत्ययो भवति । ऋश् गतौ स्तुतौ वा स्वरादिस्तालव्यान्तः, ऋश्यः-मृगजातिः । जनैचि प्रादुर्भावे, जन्यं-संग्रामः । जाया-पत्नी, 'ये नवा' इत्यात्वम् । पुणत् शुभे, पुण्यं सत्कर्म । कृतैत् छेदने, कृन्ततीति कृत्या-दुर्गा ॥ ३६१ ॥

कुलेर्ड च वा ॥ ३६२ ॥

कुल बन्धुसंस्त्यानयोः, इत्यस्मात् किद् यः प्रत्ययो भवति–डकारश्चान्तादेशो वा। कुड्यं-भित्तिः। कुल्या–सारणी ॥ ३६२ ॥

अग-पुलाभ्यां स्तम्भेर्डित् ॥ ३६३ ॥

अग-पुल इत्येताभ्यां परस्मात् स्तम्भेः सौत्रात् डिद् यः प्रत्ययो भवति। अगस्त्यः पुलस्त्यश्च-ऋषिः ॥ ३६३ ॥

शिक्यास्याढ्य-मध्य-विन्ध्य-धिष्ण्याघ्न्यहर्म्य सत्य-नित्यादयः ॥ ३६४ ॥

एते यप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते। शोंच् तक्षणे, इकश्चान्तः, शिक्यं-लम्बमानः पिठर्याद्याधारः, परिव्राड्भिक्षाभाजनस्थानम्, असारं च। असूच् क्षेपणे-दीर्घत्वं च आस्यं-मुखम्। आङ्पूर्वाद् ढौकतेर्डिच्च, आढ्यः–धनवान्। मव बन्धने ध् च, मध्यं-गर्भः। विधत् विधाने, स्वरान्नोऽन्तश्च, विन्ध्यः-पर्वतः। ञिधृषाट् प्रागल्भ्ये, णोऽन्तो धिष् च, धिष्ण्यं-भवनम्, आसनं च, धिष्ण्या-उल्का। नञ्पूर्वाद्धन्तेरुपान्त्यलोपश्च। अघ्न्यः-धर्मः, गोपतिश्च, अघ्न्या गौः। हरतेर्मोऽन्तश्च, हर्म्यं-सौधम्। अस्तेः, सत् च सत्यम् अमृषा। निपूर्वाद्यमेस्तोऽन्तो धातुलुक् च। नित्यं-ध्रुवम्। आदिग्रहणाल्लह्यंद्रुह्यादयो भवन्ति ॥ ३६४ ॥

कु-गु-वलि-मलि-कणि-तन्याम्यक्षेरयः ॥ ३६५ ॥

एभ्यः अयः प्रत्ययो भवति। कुंङ् शब्दे, कवयः-ऋषिः, पुरोडाशश्च। गुंङ् शब्दे, गवयः–गवाकृतिः पशुविशेषः। वलि संवरणे, वलयः-कटकः। मलि धारणे, मलयः-पर्वतः। कण शब्दे, कणयः–आयुधविशेषः। तनूयी विस्तारे, तनयः-पुत्रः। अमण् रोगे णिचि च आमयः–व्याधिः। अक्षौ व्याप्तौ च, अक्षयः–विष्णुः ॥ ३६५ ॥

चायेः केक् च ॥ ३६६ ॥

चायृग् पूजानिशामनयोः इत्यस्माद् अयः प्रत्ययो भवत्यस्य च केक् इत्यादेशो भवति। केकयः-क्षत्रियः ॥ ३६६ ॥

लादिभ्यः कित् ॥ ३६७ ॥

लादिभ्यः किद् अयः प्रत्ययो भवति। लांक् आदाने, लयः। पां पाने, पयः। ष्णांक् शौचे, स्नयः। देङ् पालने, दयः। ट्धें पाने, धयः। मेंङ् प्रतिदाने, मयः, कैं शब्दे, कयः। खैं खदने, खयः। श्रां पाके, श्रयः। क्षैं-जैं-सैं क्षये, क्षयः, जयः सयः, त्रैङ् पालने, त्रयः। ओवैं शोषणे वयः। इत्यादि ॥ ३६७ ॥

कसेरलादिरिच्चास्य ॥ ३६८ ॥

कस गतौ इत्यस्मादलादिरयः प्रत्ययो भवत्यकारस्य चेकारो भवति। किसलयं-प्रवालम् ॥ ३६८ ॥

वृङः शषौ चान्तौ ॥ ३६९ ।

वृङश् संभक्तौ इत्यस्मात् किद् अयः प्रत्ययो भवति, शकार-षकारौ चान्तौ भवतः। वृशयं-देशनाम, आकाशम् आसनं शयनं च। वृषयः-आशयः ॥ ३६९ ॥

गय-हृदयादयः ॥ ३७० ॥

गय-हृदयादयः शब्दाः किदयप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते। गमेर्डिच्च, गयः-प्राणः, गया तीर्थम्। हरतेर्दोऽन्तश्च, हृदयं मनः, स्तनमध्यम् च, आदिशब्दात् गणेरेयः गणेयं गणनीय-मित्यादि ॥ ३७० ॥

मुचे-र्घय-घुयौ ॥ ३७१ ॥

मुच्लृंती मोक्षणे, इत्यस्माद् घितौ अय उय इति प्रत्ययौ कितौ भवतः। मुकयः-मुकुयश्च-अश्वतरादश्वायां जातः। घित्करणं कत्वार्थम् ॥ ३७१ ॥

कुलि-लुलि-कलि-कषिभ्यः कायः ॥ ३७२ ॥

एभ्यः किद् आयः प्रत्ययो भवति। कुल बन्धुसंस्त्यानयोः-कुलायः-नीडम्। लुलिः सौत्रं, लुलायः-महिषः। कलि शब्दसंख्यानयोः, कलायः-त्रिपुटः। कष हिंसायाम्, कषायः-कल्कादिः ॥ ३७२ ॥

श्रु-दक्षि-गृहि-स्पृहि-महेराय्यः ॥ ३७३ ॥

एभ्यः आय्यः प्रत्ययो भवति। श्रुंट् श्रवणे, श्रवाय्यः-यज्ञपशुः, ग्रहणसमर्थश्च श्रोता। दक्षि हिंसागत्योः, दक्षाय्यः-अग्नि, गृध्रः, वैनतेयः, दक्षतमश्च। गृह्लि ग्रहणे, गृहयाय्यः, वैनतेयः, गृहकर्मकुशलश्च। स्पृहण् ईप्सायाम्, स्पृहयाय्यः-स्पृहयालुः, घृतं च। स्पृहया-य्याणि-तृणानि च, अहानि च। महण् पूजायाम्। महयाय्यः-अश्वमेधः ॥ ३७३ ॥

दधिषाय्य-दीधीषाय्यौ ॥ ३७४ ॥

एतौ आय्यप्रत्ययान्तौ निपात्येते। दधिपूर्वात् स्यतेः षत्वं च। दधिषाय्यं-पृषदा-ज्यम्, मृषावादी च। दिव्यतेर्दीधीष् च दीधीषाय्यं तदेव ॥ ३७४ ॥

कौतेरियः ॥ ३७५ ॥

कुंङ् शब्दे इत्यस्माद् इयः प्रत्ययो भवति। कवियं खलीनम् ॥ ३७५ ॥

कृगः कित् ॥ ३७६ ॥

डुकृंग् करणे इत्यस्मात् किद् इयः प्रत्ययो भवति। क्रियः-मेषः ॥ ३७६ ॥

मृजेर्णालीयः ॥ ३७७ ॥

मृजौक् शुद्धौ, इत्यस्माद् णिदालीयः प्रत्ययो भवति। मार्जालीयम्-पापशोधनम्, मार्जालीयः-अग्निः, मृजोऽस्य वृद्धिरिति वृद्धिः, णकार उत्तरार्थः ॥ ३७७ ॥

वेतेस्तादिः ॥ ३७८ ॥

वींक् प्रजनादौ इत्यस्मात्तकारादिर्णिद् आलीयः प्रत्ययो भवति । वेतालीयं-छन्दोजातिः ॥ ३७८ ॥

धाग्-राजि-शॄ-रमि-याज्यर्तेरन्यः ॥ ३७९ ॥

एभ्यः अन्यः प्रत्ययो भवति । डुधांग्क् धारणे च, धान्यं सस्यजातिः । राजृग् दीप्तौ, राजन्यः-ज्योतिः, अग्निः, क्षत्रियश्च । शॄश् हिंसायाम् । शरण्य -त्राता । रमि क्रीडायाम्, रमण्यं-शोभनम् । यजीं देवपूजादौ, याजन्यः-क्षत्रियः, यज्ञश्च । ऋक् गतौ अरण्यं-वनम् ॥ ३७९ ॥

हिरण्य-पर्जन्यादयः ॥ ३८० ॥

हिरण्यादयः शब्दा अन्यप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते । हरतेरिच्चातः । हिरण्यं-सुवर्णादि द्रव्यम् । परिपूर्वस्य पृष् सेचने इत्यस्योपसर्गान्तलोपो धातोश्च जः समस्तादेशः, गर्जतेर्वा गकारस्य पकारः । पर्जन्यः-इन्द्रः, मेघः, शङ्कुः, पुण्यं, कुशलं च कर्म । आदिग्रहणा-दन्येऽपि ॥३८०॥

वदि-सहिभ्यामान्यः ॥ ३८१ ॥

आभ्याम् आन्यः प्रत्ययो भवति । वद वक्तायां वाचि, वदान्यः-दाता, गुणवान् चारुभाषी वा । षहि मर्षणे, सहान्यः-शैलः ॥ ३८१ ॥

वृङ एण्यः ॥ ३८२ ॥

वृङ्श् संभक्तौ, इत्यस्माद् एण्यः प्रत्ययो भवति । वरेण्यः-परंब्रह्म, धाम, श्रेष्ठः, प्रजापतिः, अन्नं च ॥ ३८२ ॥

मदेः स्यः ॥ ३८३ ॥

मदेच् हर्षे, इत्यस्मात् स्यः प्रत्ययो भवति । मत्स्यः-मीनः, धूर्तश्च ॥ ३८३ ॥

रुचि भुजिभ्यां किष्यः ॥ ३८४ ॥

रुचि-भुजिभ्यां किद् इष्यः प्रत्ययो भवति । रुचि अभिप्रीत्यां च, रुचिष्यः-वल्लभः, सुवर्णं च । भुजंप् पालनाभ्यवहारयोः, भुजिष्यः-आचार्यः, भोक्ता, अन्नं, मृदु, ओदनः-दासश्च, भुजिष्यं-धनम् ॥ ३८४ ॥

वच्यर्थिभ्यामुष्यः ॥ ३८५ ॥

आभ्याम् उष्यः प्रत्ययो भवति । वचंक् भाषणे, वतुष्यः-वक्ता । अर्थणि उपयाचने, अर्थुष्यः अर्थी ॥ ३८५ ॥

वचोऽथ्य उत् च ॥ ३८६ ॥

वचंक् भाषणे, इत्यस्मादथ्यः प्रत्ययो भवत्यस्य च उद् इत्यादेशो भवति । उतथ्यः-ऋषिः ।। ३८६ ।।

भी-वृधि-रुधि-वज्यगि-रमि-वमि-वपि-जपि-शकि-स्फायि-वन्दीन्दि-पदि-मदि-मन्दि-चन्दि-दसि-घसि-नसि-हस्यसि-वासि-दहि-सहिभ्यो रः ।। ३८७ ।।

एभ्यः रः प्रत्ययो भवति । ञिभींक् भये, भेरः-भेदः, करभः, शरः, मण्डूकः, दुन्दुभिः, कातरश्च । ऋफिडादित्वाद् लत्वे, भेलः-चिकित्साग्रन्थकारः, शरः, मण्डूकः, प्रहीणः अप्राज्ञश्च । वृधूङ् वृद्धौ, वध्रः-चर्मविकारः, चन्द्रः, मेघश्च । रुधूंपी आवरणे, रौध्रः-वृक्षविशेषः । वज गतौ, वज्रं-कुलिशम्, रत्नविशेषश्च । अग कुटिलायां गतौ, अग्रः-प्राग्भागः, श्रेष्ठश्च । रमि क्रीडायाम्, रम्रः-कामुकः । टुवम् उद्गिरणे, वम्रः-धर्मविशेषः, धूमश्च, वम्री-उपदेहिका । डुवपीं बीजसंताने, वप्रः-केदारः, प्राकारः, वास्तुभूमिश्च । जप मानसे च, जप्रः-ब्राह्मणः, मण्डूकश्च । शक्लृंट् शक्तौ, शक्रः-इन्द्रः । स्फायैङ् वृद्धौ, स्फारम्-उल्वणं, प्रभूतं च । वदुङ् स्तुत्यभिवादनयोः, वन्द्रः-वन्दी, केतुः, कामश्च, वन्द्रं-समूहः । इदु परमैश्वर्ये, इन्द्रः-शक्रः । पदिच् गतौ, पद्रं-ग्रामादिनिवेशः, शून्यं च । मदैच् हर्षे, मद्राजनपदः, क्षत्रियश्च मद्रं-सुखम् । मदुङ् स्तुत्यभिवादनयोः, मन्द्रः-मधुरः स्वरः, मन्द्रं-गभीरम् । चन्दु दीप्त्याह्लादनयोः, चन्द्रः-शशी, सुवर्णं च । दसूच् उपक्षये, दस्रः-शिशिरम्, चन्द्रमाः, अश्विनोर्ज्येष्टश्च, दस्रौ-अश्विनौ । घस्लृं अदने, घस्रः दिवसः । णसि कौटिल्ये नस्रः-नासिकापुटः, ऋषिश्च । हसे हसने, हस्रः-दिनं, घातुकः, हर्षुलश्च, हस्रं-बलाधानं संनिपातश्च, सहस्रं-दश शतानि । असूच् क्षेपणे, अस्रम्-अश्रु । वासिच् शब्दे, वास्रः-पुरुषः, शब्दः संघातः, शरभः, रासभः पक्षी च, वास्रा-धेनुः । दहं भस्मीकरणे, दह्रः-अग्निः, शिशुः, सूर्यश्च । षहि मर्षणे, सह्रः-शैलः ।। ३८७ ।।

ऋज्यजि-तञ्चि-वञ्चि-रिपि-सृपि-तृपि-दृपि-चुपि-क्षिपि-क्षुपि-क्षुदि-मुदि-रुदि-छिदि-भिदि-खिद्युन्दि-दम्भि-शुम्युम्भि-दंशि-चिसि-वहि-विसि-वसि-शुचि-सिधि-गृधि-वीन्धि-श्विति-वृति-नी-शी-सु-सूभ्यः कित् ।। ३८८ ।।

एभ्यः किद् रः प्रत्ययो भवति । ऋजि गतिस्थानार्जनोपार्जनेषु, ऋज्रः-नायकः, इन्द्रः, अर्थश्च । अज क्षेपणे च, अज्रः-वीरः, विक्रान्तः । तञ्चू वञ्चू गतौ, तक्रम्-उदश्वित्, वक्रः-कुटिलः, अङ्गारकः, विष्णुश्च । उभयत्र न्यङ्क्वादित्वात् कत्वम् । रिपिः सौत्रः, रिप्रं-कुत्सितम् । सृप्लृं गतौ, सृप्रः-चन्द्रः, सृप्रं-मधु, सृप्रा-नाम नदी । तृपौच् प्रीतौ, तृप्रं-मेघान्तर्धर्मः, आज्यं, काष्ठं, पापं, दुःखं वा । दृपौच् हर्ष-मोहनयोः, दृप्रं-बलं, दुःखं च, दृप्रा-बुद्धिः । चुप मन्दायां गतौ, चुप्रः-वायुः । क्षिपींत्-प्रेरणे, क्षिप्रं शीघ्रम् । क्षुपि सादने सौत्रः, क्षुप्रं-तुहिनं, कण्टकिगुल्मकश्च । क्षुदृंपी संपेषे, क्षुद्रम्-अणु, जलगर्तश्च, क्षुद्रा-मधुकर्यः, क्षुद्रः हिंस्रः । मुदि हर्षे, मुद्रा-चिह्नकरणम् । रुदृक् अश्रुविमोचने, रुद्रः-शम्भुः । छिदृंपी द्वैधीकरणे, छिद्रं-विवरम् । भिदृंपी विदारणे, भिद्रम्-अदृढम्, भिद्रः-शरः । खिदंत् परिघाते, खिद्रम्-विघ्नः । खिद्रः-विषाणम्, विषादः, चन्द्रः, दीनश्च ।

उन्दैप् क्लेदने, उद्रः-ऋषिः, मत्स्यश्च । संपूर्वात् समुन्दन्ति-आर्द्रीभवन्ति वेलाकाले नद्योऽस्मादिति समुद्रः-सागरः । भीमादित्वादपादाने । दम्भूट् दम्भे, दभ्रः-अल्पः, चन्द्रः, कुशः, कुशलः, सूर्यश्च । शुभि दीप्तौ, शुभ्रः-अवदातः । उम्भत् पूरणे, उभ्र-मेघः, पेलवश्च । दंशं दशने, दश्रः-दन्तः, सर्पश्च । चिंगट् चयने, चिरम् अशीघ्रम् । षिंग्ट् बन्धने, सिरा-रुधिरस्रोतोवाहिनी नाडी । वहीं प्रापणे उह्रः-अनड्वान् । विसच् प्रेरणे, विस्रम्-आमगन्धि । वसं निवासे, उस्रः-रश्मिः । बाहुलकात् षत्वं न भवति । उस्रा गौः । शुच शोके, शुक्रः-ग्रहः, मासः, शुक्लश्च, शुक्रं-रेतः, लत्वे शुक्लः-वर्णः, कत्वं न्यङ्क्वादित्वात् । षिधू गत्याम्, सिध्रः-साधुः, वृक्षः, मांसप्रभेदश्च । गृधूच् अभिकाङ्क्षायाम् गृध्रः-श्येनः, लुब्धकः, कङ्कश्च । ञिइन्धैपि दीप्तौ, विपूर्वात्, वीध्रः-अग्निः, वायुः, नभः, निर्मलः, पूर्णचन्द्रमण्डलं च । श्वितांङ् वरणे, श्वित्रं-श्वेतकुष्ठम् । वृतूङ् वर्तने । वृत्रः-दानवः-बलवान्, रिपुश्च, वृत्रं-पापम् । णींग् प्रापणे, नीरं-जलम् । शीङ्क् स्वप्ने. शीरः-अजगरः षुंग्ट् अभिषवे, सुरः-देवः, सूरा-मद्यम् । षूङौच् प्राणिप्रसवे, सूरः-आदित्यः, रश्मिश्च । ३८८॥

इण्-धाग्भ्यां वा ॥ ३८९ ॥

आभ्यां रः प्रत्ययो भवति, स च किद्वा । इंण्क् गतौ, इरा-मदनीयपानविशेषः मेदिनी च, एरा-एडका । डुधांग्क् धारणे च । धीरः-सत्त्ववान्, धृतिमांश्च, धारा जलयष्टिः-खड्गावयवः, अश्वगतिविशेषश्च ॥ ३८९ ॥

चुम्बि-कुम्बि-तुम्बेर्नलुक् च ॥ ३९० ॥

एभ्यः किद् रः प्रत्ययो भवति, नकारस्य चैषां लुग् भवति । चुबु वक्त्रसंयोगे, चुब्रं-वक्त्रम् चुम्ब्रः-रश्मिः । कुबु आच्छादने, कुब्रं-संकटम्, भग्नपृष्ठः, फल्गुहस्ती, चर्म, गृहाच्छादनं च । तुबु अर्दने, तुब्रं-कुटिलम् ॥ ३९० ॥

भन्देर्वा ॥ ३९१ ॥

भदुङ् सुख-कल्याणयोः, इत्यस्माद् रः प्रत्ययो भवति, नकारस्य च लुग् वा भवति । भद्रं, भन्द्रं च कल्याणम्, सुखं च ॥ ३९१ ॥

चि-जि-शु-सि-मि-तम्यमर्देर्दीर्घश्च ॥ ३९२ ॥

एभ्यो रः प्रत्ययो भवति दीर्घश्चैषां भवति । चिंग्ट् चयने, चीरं-जीर्णं वस्त्रं, वल्कलं च । जिं अभिभवे जीरः-अजाजी, अग्निः, वायुः, अश्वश्च, जीरम्-अन्नम्, लत्वे जीलः-चर्मपुटः । शुं गतौ, शूरः-विक्रान्तः । षिंग्ट् बन्धने, सीरं-हलम्, सीरा हलविलेखिता लेखा । डुमिंग्ट् प्रक्षेपणे, मीरः-समुद्रः, मीरं-जलम्, मीरा-मांसपचनी, देवसीमा च । तमूच् काङ्क्षायाम्, ताम्रः-वर्णः, शुल्वं च । अम गतौ, आम्रः-वृक्षः । अर्द गतियाचनयोः, आर्द्रं-सरसम् ॥ ३९२ ॥

चकि-रमि-विकसे-रुचास्य ॥ ३९३ ॥

चकि-रमिभ्यां विपूर्वाच्च कसे रः प्रत्ययो भवति। अकारस्य चैषामुकारो भवति। चकि तृप्तिप्रतीघातयोः, चुक्रः-अम्लो रसः, बीजपूरकमिञ्जिका, असुरः, निमन्त्रणं च। रमि क्रीडायाम्, रुम्रः-सुन्दरः, आदित्यसारथिः, ब्राह्मणः, विनाशश्च। कस गतौ विकुस्रः-चन्द्रः, समुद्रश्च, विकुस्रं-पुष्पितम्। बाहुलकाद् विकसेर्विकल्पः विकस्रः॥ ३९३॥

शदेरूच॥ ३९४॥

शद्लृं शातने, इत्यस्माद् रः प्रत्ययो भवत्यकारस्य चोकारो भवति। शूद्रः-चतुर्थो वर्णः॥ ३९४॥

कृतेः क्रू-कृच्छौ च॥ ३९५॥

कृतैत् छेदने, इत्यस्माद् रः प्रत्ययो भवत्यस्य च क्रू कृच्छ इत्यादेशौ भवतः। क्रूरम्-अमृदु, क्रूरः-पापकर्मा। कृच्छ्रम्-दुःखम्॥ ३९५॥

खुर-क्षुर-दूर-गौर-विप्र-कुप्र-श्वभ्राभ्र-धूम्रान्ध्र-रन्ध्रशिलीन्ध्रौड्र-पुण्ड्र-तीव्र-नीव्र-शीघ्रोग्र-तुग्र-भुग्र-निद्रा-तन्द्रा-सान्द्र-गुन्द्रा-रिज्रादयः॥ ३९६॥

एते रप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते। खुरत् छेदने, क्षुरत् विलेखने, अनयो रलोपो गुणाभावश्च। खुरः शफः, क्षुरः-नापितभाण्डम्। ननु च खुर-क्षुरशब्दौ 'नाम्युपान्त्यप्री-कृ-गृ-ज्ञः कः' [५ १.५४] इति केन सिध्यतः। सत्यम्, तत्र कर्तैवार्थ इह तु संप्रदानाच्चान्यत्रोणादय इत्यर्थभेदः, असर्वविषयत्वं वाऽनयोर्ज्ञाप्यते, यथा अदेः परोक्षायां वा घस्लादेशवचनेन घसेः एवमन्यत्रापि स्वयमभ्यूह्यम्। टुदूं वादिणो लुक् च। दूरं विप्रकृष्टम्। गवतेर्वृद्धिश्च, गौरः-अवदातः। विपूर्वात् पातेर्लुक् च, विप्रः-ब्राह्मणः विविधं प्रातीति वा विप्रः। गुप्च् व्याकुलत्वे, आदेः कत्वं च कुप्रंगहनम्, गृहाच्छादनं च। ट्वोश्वि गतिवृद्धयोः अकारः भोऽन्तश्च, श्वभ्रं-बिलम्, आकाशं च। आप्लृंट् व्याप्तौ, अभादेशश्च अभ्रं मेघः। ध्रुगश् कम्पने, मोऽन्तश्च, धूम्रः-वर्णविशेषः। अहुङ् गतौ, धश्च अन्ध्रः-क्षत्रजातिः रधेः स्वरान्नोऽन्तश्च, रन्ध्रं-छिद्रम्। ञिइन्धैपि दीप्तौ, अस्य च तालव्यादिशिलश्चादिः शिलिन्ध्रम्-उद्भिद्विशेषः। ओणेः डश्च, ओड्रः-क्षत्रजातिः। पुणेः स्वरान्नोऽन्तो डश्च, पुण्ड्रः-क्षत्रजातिः, तिलकश्च पुण्डेर्वा रूपम्। तिजेर्वो दीर्घश्च, तीवतेर्वा, तीव्रः-तीक्ष्णः, उत्कृष्टश्च। नियो वोऽन्तश्च, नीवतेर्वा नीव्रं-गृहच्छदिरुपान्तः। श्यैङ ईत्वं यलोपो घश्चान्तः, शीघ्रः-त्वरितः। उवेरुषेर्वा गः किच्च, उग्रः-रुद्रः रौद्रश्च। तुदींत् व्यथने गः किच्च तुग्रं-शृङ्गम्। भुजंप् पालनाभ्यवहारयोः गः किच्च, भुग्रः-रश्मिसमूहः। णिदु कुत्सायाम्, किन्नलोपश्च, निद्रा-स्वापः, तमूच् काङ्क्षायाम् दोऽन्तश्च, तन्द्रा-आलस्यम्। षद्लृं विशरणगत्यवसादनेषु, अस्य स्वरान्नोऽन्तो वृद्धिश्च, सान्द्रं-घनम्। गुदेः स्वरान्नोऽन्तश्च, गुन्द्रा-जलतृणविशेषः। राजे रञ्जेर्वा किच्चेच्चोपान्त्यस्य, रिज्रः नायकः। आदिग्रहणादन्येऽपि॥ ३९६॥

ऋच्छि-चटि-वटि-कुटि-कठि-वठि-मण्डि-शी-कृ-शी-भृ-कदि-वदि-कन्दि-मन्दि-

सुन्दि-मन्थि-मञ्जि-पञ्जि-पिञ्जि-कमि-समि-चमि-वमि-भ्रम्यमि-देवि-वासि-कास्यर्ति-जीवि-बर्बि-कु-शु-दोररः ॥ ३९७ ॥

एभ्यः अरः प्रत्ययो भवति। ऋच्छत् इन्द्रियप्रलयमूर्तिभावयोः; ऋच्छरः-त्वरावान्, ऋच्छरा-वेश्या, कुलटा, त्वरा, अङ्गुलिश्च। चट्ण् भेदे, चटरः-तस्करः। वट वेष्टने, वटरः-मधुकण्डरा। कुटत् कौटिल्ये, कोटरं-छिद्रम्। बाहुलकाद् गुणः। कठ कृच्छ्रजीवने, कठरः-दरिद्रः। वठ स्थौल्ये, वठरः-मूर्खः, बृहद्देहश्च। मठ मदनिवासयोश्च, मठरः-ऋषिः, अज्ञानी, गौत्रम्, अलसश्च। अड उद्यमे, अडरः-वृक्षः-शीकृङ् सेचने, शीकरः-जललवसेकः। शीभृङ् कत्थने, शीभरः-हस्तिहस्तमुक्तो जललवसेकः। कदिः सौत्रः, कदरः-वृक्षविशेषः। बद स्थैर्ये, बदरी-फलवृक्षः। कदुङ् वैक्लव्ये, कन्दरः-गिरिगर्तः। मदुङ् स्तुत्यादौ, मन्दरः-शैलः। सुन्दिः सौत्रः शोभायाम्, सुन्दरः-मनोज्ञः। मन्थश् विलोडने, मन्थरः-मन्दः, खर्वश्च। मञ्जि-पञ्जी सौत्रौ, मञ्जरी-आम्रादिशाखा। गौरादित्वाद् ङीः, पञ्जरः-शुकाद्यवरोधसद्म। पिजुण्-हिंसाबलदाननिकेतनेषु, पिञ्जरः-पिशङ्गः। कमूङ् कान्तौ, कमरः-मूर्खः, कार्मुकं कोमलः, चौरः, कान्तश्च। षम वैक्लव्ये, समरः-संग्रामः। चमू अदने, चमरः-आरण्यपशुः। टुवम् उद्गिरणे, वमरः-दुर्मेधाः। भ्रमुच् अनवस्थाने, भ्रमरः-षट्पदः। अम गतौ, अमरः-सुरः। देवृङ् देवने, देवरः-पत्यनुजः। वसं निवासे, णौ वासरः-दिवसः, कामः, अग्निः, प्रावृट् च। अन्ये वाशिच् शब्दे इत्यस्मादपि तालव्यान्तादिच्छन्ति, वाशरः-अग्निः, मेघः, दिवसश्च। कासृङ् शब्दकुत्सायाम्, कासरः-महिषः। ऋंक् गतौ अररः-कपाटः, बुधः, भ्रमरः, गृहं, हरणं, शलाका च। जीव प्राणधारणे, जीवरः-दीर्घायुः। बर्ब गतौ, बर्बरः-म्लेच्छजातिः, बर्बरी-कुञ्चिताः केशाः। कुंक् शब्दे, कबरः-वर्णः, कबरी-वेणिः। शुं गतौ, शबरः-म्लेच्छजातिः। शव गतौ इत्यस्येत्यन्ये। टुदुंट् उपतापे, दवरः-गुणः ॥ ३९७ ॥

अवेर्ध् च वा ॥ ३९८ ॥

अव रक्षणादौ, इत्यस्माद् अरः प्रत्ययो भवति-धकारश्चान्तादेशो वा भवति। अधरः-हीनः, उपरिभागस्य प्रतियोगी, दन्तच्छदश्च। अवरः-परप्रतियोगी ॥ ३९८ ॥

मृद्युन्दि-पिठि-कुरि-कुहिभ्यः कित् ॥ ३९९ ॥

एभ्य अरः प्रत्ययः किद् भवति। मृदश् क्षोदे, मृदरः-व्याधिः, अतिकायः, क्षोदश्च। उन्दैप् क्लेदने, उदरं-जठरं, व्याधिश्च। पिठ हिंसासंक्लेशयोः, पिठरं-भाण्डम्। कुरत् शब्दे, कुररः-जलपक्षिजातिः। कुहणि विस्मापने, कुहरं-गम्भीरगर्तः ॥ ३९९ ॥

शाखेरिदेतौ चातः ॥ ४०० ॥

शाखृ व्याप्तौ, इत्यस्माद् अरः प्रत्ययो भवति, आकारस्य च इकार-एकारौ भवतः। शिखरम्-अग्रम्, शेखरः-आपीडः ॥ ४०० ॥

शपेः फ् च ॥ ४०१ ॥

शपीं आक्रोशे, इत्यस्माद् अरः प्रत्ययो भवति। फकारश्चान्तादेशो भवति। शफरः-क्षुद्रमत्स्यः ॥ ४०१ ॥

दमेर्णिद्वा दश्च डः ॥ ४०२ ॥

दमूच् उपशमे, इत्यस्माद् अरः प्रत्ययो भवति, स च णिद् वा दकारस्य च डकारो भवति। डामरः-भयानकः, डमरः स एव ॥ ४०२ ॥

जठर-क्रकर-मकर-शंकर-कर्पर-कूर्पर-तोमर-पामर-प्रामर-प्राम्रर-सगर-नगर-तगरोर्दरा-दर-श्रृदर-दृदर-कृदर-कुकुन्दर-गोर्वराम्बर-मुखर-खर-डहर-कुञ्जरा-जगरा-दयः ॥ ४०३ ॥

एते किदरप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते। जनेष्ठ च, जठरं-कोष्ठम्। क्रमेः क च, क्रकरः-गौरतित्तिरः। मङ्केर्नलोपश्च, मकरः-ग्राहः। शंपूर्वात् किरतेर्डिच्च, शङ्करः-रुद्रः। कृपेरुपान्त्यस्य उर्च वा, कर्परं-कपालम्। कूर्परं-कफोणी। ताम्यतेरत ओच्च, तोमरः-आयुधम्। पातेर्मोन्तश्च, पामरः-ग्रामीणः। प्रपूर्वादमतेः प्रामरः-ग्राम्यमन्दजातिः। प्रपूर्वादत्तेर्मोऽन्तश्च प्राम्ररः-नरपशुः। सहिनश्योर्ग च, सगरः-द्वितीयश्चक्रवर्ती। नगरं-पुरम्। तङ्गेर्नलोपश्च, तगरः-वृक्ष-विशेषः। ऊर्जः पराद् दृणातेर्डित् जलुक् च, ऊर्जा-बलेन दृणाति बिभेति। ऊर्दरः-दुर्बलः। अदु बन्धने, नलुक् च, अदरं-वक्षः, वृक्षः, संग्रामः, चञ्चुसमूहः, मातृवाहश्च। शृश् हिंसायाम्। दृश् विदारणे अनयोर्ह्रस्वत्वं दश्चान्तः, श्रृदरः-सर्पः। दृदरः-भयं, विषं च। डुकृंग् करणे, दोऽन्तश्च कृदरः-वृक्षः-सर्वकर्मप्रवृत्तो दस्युजनः, कुशूलश्च। कुपूर्वात् स्कुदुङ् आप्रवणे, सलोपश्च, कुकुन्दरं-श्रोणीकूपकः। गोपूर्वाद् वृगो डिद् रश्चादिः, गोर्वरः-करीषः। अमेर्बोऽन्तश्च, अम्बरं-वस्त्रम्, आकाशं च। मुहेः ख च, मुखरः-वाचालः। खनेर्डिच्च, खरः-रासभः। दहेरादेर्डश्च, डहरं-हृत्कमलम्। कूज अव्यक्ते शब्दे, ह्रस्वः स्वरान्नोऽन्तश्च, कुञ्जरः-हस्ती। अजेरगश्चान्तः वीभावाभावश्च। अजगरः-शयुः। आदिग्रहणात् कोठराङ्गरशाङ्गरपाण्डरवानरादयो भवन्ति ॥ ४०३ ॥

मुदि-गूरिभ्यां टिद्गजौ चान्तौ ॥ ४०४ ॥

आभ्यां टिद् अरः प्रत्ययो भवति। गकार-जकारौ वा यथासंख्यमन्तौ भवतः। मुदि हर्षे, मुद्गरः-प्रहरणविशेषः, मुद्गरी-स्त्री। गूरैचि गतौ, गूर्जरः-सौराष्ट्रादिः, गूर्जरी स्त्री ॥ ४०४ ॥

अग्यङ्गि-मदि-मन्दि-कडि-कसि-कासि-भृजि-कञ्जि-कलि-मलि-कर्चिभ्य आरः ॥ ४०५ ॥

एभ्यः आरः प्रत्ययो भवति। अग कुटिलायां गतौ, अगारं-वेश्म। अगु गतौ, अङ्गारः-निर्वातज्वालः, निर्वाणश्चोल्मुकावयवः, भूमिसुतश्च। मदैच् हर्षे, मदारः-पानशौण्डः, वराहः, हस्ती, अलसश्च। मदुङ् स्तुत्यादौ, मन्दारः वृक्षविशेषः। कडत् मदे, कडारः-पिङ्गलः, विषमदशनश्च। कस गतौ, कसारः-हिंस्रः। कासृङ् शब्दकुत्सायाम्,

कासारः–पल्वलम् । मृजौक् शुद्धौ, मार्जारः-बिडालः । कञ्जिः सौत्रः, कञ्जारः कुशूल-जातिः, यूपः, व्यञ्जनं च । कलि शब्दसंख्यानयोः, कलारः-विषमरूपः । मलि धारणे, मलारः-अलसः । मलमिवारा तोदोऽस्येति वा मलारः । कचि बन्धने, कचारः-अपनेयः, तृणबुसपांशुविकारः ।। ४०५ ।।

त्रः कादिः ॥ ४०६ ॥

तॄ प्लवनतरणयोः, इत्यस्मात् ककारादिरारः प्रत्ययो भवति । तर्कारः-वृक्षः ।४०६।

कृगो मादिश्च ॥ ४०७ ॥

करोतेर्मकारादिः ककारादिश्च आरः प्रत्ययो भवति । कर्मारः-लोहकारः । कर्कारः-वृक्षः ।।४०७।।

तुषि-कुठिभ्यां कित् ॥ ४०८ ॥

आभ्यां किद् आरः, प्रत्ययो भवति । तषंच् तुष्टौ, तुषारः-हिमम् । कुठिः सौत्रः, कुठारः-परशुः ।। ४०८ ।।

कमेरत उच्च ॥ ४०९ ॥

कमूङ् कान्तौ इत्यस्माद् आरः प्रत्ययो भवत्यकारस्य चोकारो भवति । कुमारः–महासेनः, अभ्रष्टः, बालश्च ।। ४०९ ।।

कनेः कोविद-कर्बुद-काञ्चनाश्च ॥ ४१० ॥

कनै दीप्तौ इत्यस्माद् आरः प्रत्ययो भवति, अस्य च कोविद कर्बुद काञ्चन इत्यादेशा भवन्ति । कोविदारः, कर्बुदारः, काञ्चनारश्च वृक्षविशेषाः ।। ४१० ।।

द्वार-शृङ्गार-भृङ्गार-कह्लार-कान्तार-केदार–खारडादयः ॥ ४११ ॥

एते आरप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते । उम्भत् पूरणे द्वादेशश्च, द्वारं-द्वाः । श्रयतेस्ता-लव्यादिः शृङ्गश्च, शृङ्गारः–रसविशेषः, विदग्धता च । भृगो भृङ्ग् च, भृङ्गारः-हस्ति-मुखाकारगलन्तिका । कलेर्हश्च स्वरात् परः, कह्लारः–उत्पलविशेषः । कमेस्तोऽन्तो दीर्घश्च कान्तारं–अरण्यम् । कदेः सौत्रस्यात एच्च, केदारः-वप्रः । खनेर्डिच्च, खारी-चतुर्द्रोणम् । खारडिति डकारो ङ्यर्थः । आदिग्रहणात् शिशुमारादयो भवन्ति ।। ४११ ।।

मदि-मन्दि-चन्दि-पदि-खदि-सहि-वहि-कु-सृभ्य इरः ॥ ४१२ ॥

एभ्य इरः प्रत्ययो भवति । मदैच् हर्षे, मदिरासुरा । मदुङ् स्तुत्यादौ, मन्दिरं–वेश्म, नगरं च । चदु दीप्त्याह्लादनयोः, चन्दिरः-चन्द्रमाः हस्ती च, चन्दिरं-चन्द्रिकावत्, जलं च । पदिच् गतौ, पदिरः–मार्गः । खद हिंसायाम्, खदिरः–वृक्षविशेषः । षहि मर्षणे, सहिरः–पर्वतः । वहीं प्रापणे, वहिरः–बलीवर्दः । कुंक् शब्दे, कविरः–अक्षिकोणः । सृ गतौ, लत्वे सलिलम्–जलम् ।। ४१२ ।।

शव-शशेरिच्चातः ॥ ४१३ ॥

आभ्याम् इरः प्रत्ययो भवत्यकारस्य चेकारो भवति । शव गतौ तालव्यादिः, शिबिरम्-सैन्यसंनिवेशः । शश प्लुतिगतौ, शिशिरं-शीतलम्, ऋतुश्च ॥ ४१३ ॥

श्रन्थेः शिथ् च ॥ ४१४ ॥

श्रथुङ् शैथिल्ये, इत्यस्माद् इरः प्रत्ययो भवत्यस्य च शिथ् इत्यादेशो भवति । शिथिरं-श्लथम् । लत्वे-शिथिलम् ॥ ४१४ ॥

अशेर्णित् ॥ ४१५ ॥

अश्नातेरश्नोतेर्वा णिद् इरः प्रत्ययो भवति । आशिरः विष्णुः, आदित्यश्च । प्राशिरः बह्वाशी ॥ ४१५ ॥

शुषीषि--बन्धि-रुधि-रुचि-मुचि-मुहि-मिहि-तिमि--मुदि--खिदि--च्छिदि--भिदि-स्थाभ्यः कित् ॥ ४१६ ॥

एभ्यः किदिरः प्रत्ययो भवति । शुषंच् शोषणे, शुषिरं-छिद्रम् । इषत् इच्छायाम्, इषिरं-तृणम्, इषिरः-अग्निः, आहारः-क्षिप्रः, सेव्यश्च । बन्धंश् बन्धने, बधिरः-श्रुतिविकलः । रुधृंपी-आवरणे, रुधिरं-द्वितीयो धातुः । रुचि अभिप्रीत्यां च, रुचिरं-दयितं, दीप्तिमच्च । मुच्लृंती मोक्षणे, मुचिरः-धर्मः, सूर्यः, मेघश्च । मुहौच् वैचित्ये, मुहिरः कन्दर्पः, सूर्यश्च, मुहिरं-तमः । मिहं सेचने, मिहिरः-मेघः सूर्यश्च, मिहिरं-तोयम् । तिमच् आर्द्रभावे, तिमिरं-तमः, तोयं, रोगश्च कश्चित् । मुदि हर्षे, मुदिरः-मेघः, सूर्यश्च । खिदंत् परिघाते, खिदिरः-त्रासः तस्करश्च । छिदृंपी द्वैधीकरणे, छिदिरः उन्दुरः, अग्निश्च, छिदिरं-शस्त्रम् । भिदृंपी विदारणे, भिदिरः-अशनिः, भेदश्च । ष्ठां गतिनिवृत्तौ, स्थिरः-अचलः ॥ ४१६ ॥

स्थविर-पिठिर-स्फिराजिरादयः ॥ ४१७ ॥

एते किदिर प्रत्ययान्ता निपात्यन्ते, तिष्ठतेर्वोऽन्तो ह्रस्वश्च । स्थविरः-वृद्धः । पचतेरत इत्वं ठश्च पिठिरं-साधनभाण्डम्, पटेर्वा रूपम् । स्फायतेर्डिच्च, स्फिरः-स्फारो वृद्धिश्च । अजेर्वीभावाभावश्च, अजिरम्-अङ्गणम्, नगरं, देववेश्म च आदिग्रहणादन्येऽपि ॥४१७॥

कॄ-शॄ-पॄ पूग्-मञ्जि-कुटि-कटि-पटि-कण्डि-शौण्डि-हिंसिभ्यः ईरः ॥ ४१८ ॥

एभ्य ईरः प्रत्ययो भवति । कॄत् विक्षेपे, करीरः-वनस्पतिविशेषः, वंशाद्यङ्कुरश्च । शॄश् हिंसायाम्, शरीरं-वपुः । पॄश्-पालनपूरणयोः, परीरं-बलं, लाङ्गलमुखं च । पूग्श् पवने, पवीरं-रज्जुस्थानं, फलं, पवित्रं-बीजावपनं च । मञ्जिः सौत्रः, मञ्जीरं-नूपुरः । कुटत् कौटिल्ये, कुटीरम्-आलयः, कर्कटकः, चन्द्राश्रयराशिश्च, कोटीरं-मुकुटः । बाहुलकाद् गुणः । कटे वर्षावरणयोः, कटीरं-जनपदः, जघनं जलं च । पट गतौ, पटीरः-कन्दर्पः,

पटीरं-कार्मुकम्, स्फिक् च। कडु मदे, कण्डीरं–हरितकम्। शौण्डृ गर्वे, शौण्डीरः–गर्वितः, सत्त्ववान्, तीक्ष्णश्च। हिसुप् हिंसायाम्, हिंसीरः-श्वापदः, हिंस्रश्च ॥ ४१८ ॥

घसि-वशि-पुटि-कुरि-कुलिकाभ्यः कित् ॥ ४१९ ॥

एभ्यः किद् ईरः प्रत्ययो भवति। घस्लृं अदने, क्षीरं–दुग्धं, मेघश्च। वशक् कान्तौ, उशीरं-वीरणीमूलम्। पुटत् संश्लेषणे, पुटीरः–कूर्मः। कुरत् शब्दे, कुरीरं–मैथुनं, वेश्म च, कुरीरः–मालाविशेषः, कम्बलश्च। कुल बन्धुसंस्त्यानयोः, कुलीरः- कर्कटः। कैं शब्दे, कीरः-शुकः, काश्मीरकश्च ॥ ४१९ ॥

कशेर्मोऽन्तश्च ॥ ४२० ॥

कश शब्दे इत्यस्मात्तालव्यान्ताद् ईरः प्रत्ययो मश्चान्तो भवति। कश्मीरा—जनपदः ॥ ४२० ॥

वनि-वपिभ्यां णित् ॥ ४२१ ॥

आभ्यां णिद् ईरः प्रत्ययो भवति। वन-भक्तौ, वानीरः-वेतसः। डुवपीं बीजसंताने वापीरः–मेघः, अमोघनिष्पत्तिः क्षेत्रं च ॥ ४२१ ॥

जम्बीराभीर-गभीर-गम्भीर-कुम्भीर-भडीर-भण्डीर-डिण्डीर-किर्मीरादयः ॥४२२॥

एते ईरप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते जनेर्बोऽन्तश्च, जम्बीरः–वृक्षविशेषः। आप्नोतेर्भश्च आभीरः-शूद्रजातिः। गमेर्भः स्वरान्नस्तु वा गभीरः-अगाधः, अचपलश्च। गम्भीरः स एव। स्कुम्भेः सौत्रात् सलोपश्च, कुम्भीरः-जलचरः। भडुङ् परिभाषणे, अस्य नलुक् च वा, भडीरः, भण्डीरश्च–योद्धवचने। डीङो डित् द्वित्वं पूर्वस्य नोऽन्तश्च, डिण्डीरः-फेनः। किरतेर्मोऽन्तश्च, कीर्मीरः–कर्बुरः। आदिग्रहणात् तृणीर-नासीर-मन्दीर करवीरादयो भवन्ति ॥ ४२२ ॥

वाश्यसि-वासि-मसि-मथ्युन्दि-मन्दि-चति-चङ्क्यङ्कि-कर्बि-चकि-बन्धिभ्य उरः ॥ ४२३ ॥

एभ्य उरः प्रत्ययो भवति। वाशिच् शब्दे वाशुरः-शकुनिः, गर्दभश्च, वाशुरा–रात्रिः। असूच् क्षेपणे, असुरः-दानवः। वासण् उपसेवायाम् वासुरा, रात्रिः मसैच् परिमाणे, मसुरा–पण्यस्त्री; मसुरं-चर्मासनम्, धान्यविशेषश्च। मथे विलोडने, मथुरा–नगरी। उन्दैप् क्लेदने उन्दुरः–मूषिकः। मदुङ् स्तुत्यादौ, मन्दुरा-वाजिशाला। चतेग् याचने चतुरः-विदग्धः। चङ्किः सौत्रः, चङ्कति चेष्टते, चङ्कुरः-रथः, अनवस्थितश्च। अकुङ् लक्षणे, अङ्कुरः-प्ररोहः, तरुप्रतानभेदश्च। घञ्युपसर्गस्य बहुलमिति बहुलवचनाद् दीर्घत्वे अङ्कूरः। कर्ब गतौ, कर्बुरः-शबलः। चकि तृप्ति-प्रतीघातयोः, चकुरः–दशनः। बन्धंश् बन्धने, बन्धुरः-मनोज्ञः, नम्रश्च ॥ ४२३ ॥

मङ्केर्नलुक् वोच्चास्य ॥ ४२४ ॥

मकुङ् मण्डने, इत्यस्मादुरः प्रत्ययो भवति, नकारस्य लुक् अकारस्य चोकारो वा भवति । मुकुरः-आदर्शः, मुकुलं च, मुकुरः-आदर्शः, कल्कः, बालपुष्पं च ॥ ४२४ ॥

विधेः कित् ॥ ४२५ ॥

विधत् विधाने, इत्यस्मात् किद् उरः प्रत्ययो भवति । विधूरं-वैशसम् ॥ ४२५ ॥

श्वशुर-कुकुन्दुर-दर्दुर-निचुर-प्रचुर-चिकुर-कुकुर--कुक्कुर--कुर्कुर--शर्कुर—नूपुर-निष्ठुर-विथुर-मद्गुर—वागुरादयः ॥ ४२६ ॥

एते किद् उरप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते । आशुपूर्वात् शुपूर्वाद्वा अश्नोतेरश्नातेर्वा आकार-लोपश्च । श्वशुरः-जम्पत्योः पिता । कुपूर्वात् स्कुदुङ् आप्रवणे, इत्यस्मात् सलुक् च, कुकुन्दुरौ-नितम्बकूपौ । दृणातेर्दोऽन्तश्च, दर्दुरः-मण्डूकः, मेघश्च । निपूर्वात् प्रपूर्वात् चिनोतेः चरतेर्वा डिच्च, निचुरः-तरुविशेषः । लत्वे निचुलः, प्रचुरं-प्रायः । चकेरिच्चास्य चिकुरं युवतीनामीषन्निमिलितमक्षि, चिकुराः-केशाः । कुकेः कोन्तो वा, कुकुरः-यादवः, कुक्कुरः-श्वा, किरः कुर् कोऽन्तश्च कुर्कुरः-शॄश् हिंसायाम्, गुणः कोऽन्तश्च शर्कुरस्तरुणः । णूत् स्तवने, पोऽन्तश्च । नूपुरः-तुलाकोटिः । निपूर्वात् तिष्ठतेः निष्ठुरः-कर्कशः, निष्ठुरं काहलम् । व्यथेर्विथ् च, व्यथन्तेऽस्माज्जनाः इत्यापादानेऽपि विथुरः-राक्षसः । मदिवा-स्योर्गोऽन्तश्च, मद्गुरः-मत्स्यविशेषः, वागुरा-मृगानायः । आदिग्रहणान्मन्यतेर्धश्च, मधुरः-रसविशेष इत्यादि ॥ ४२६ ॥

मीमसि-पशि-खटि-खडि-खर्जि-कर्जि-सर्जि-कृपि-वल्लि-मण्डिभ्य ऊरः ॥४२७॥

एभ्य ऊरः प्रत्ययो भवति । मीङ्च् हिंसायाम्, मयूरः-शिखी । मह्यां रौति मयूर इति पृषोदरादिषु संज्ञाशब्दानामनेकधा व्युत्पत्तिं लक्षयति । मसैच् परिमाणे, मसूरः-अवर-धान्यजातिः, चर्मासनं च । पशिः सौत्रः, पश्यते गम्यते इति पशूरः-ग्रामः । खट काङ्क्षे, खटूरः-मणिविशेषः । खडण् भेदे, खडूरः-खुरलीस्थानम् । खर्ज मार्जने च, खर्जूरः-वृक्ष-विशेषः । कर्ज व्यथने, कर्जूरः-स एव, मलिनश्च । सर्ज अर्जने, सर्जूरः-अहः । कृपौङ् सामर्थ्ये, कर्पूरः-गन्धद्रव्यम् । वल्लि संवरणे, वल्लूरः-शुष्कमांसम् । मडु भूषायाम्, मण्डूरः धातुविशेषः ॥ ४२७ ॥

महि कणि-चण्यणि-पल्यलि-तलि-मलि-शलिभ्यो णित् ॥ ४२८ ॥

एभ्यो णिद् ऊरः प्रत्ययो भवति । मह पूजायाम्, माहूरः-शैलः । कण गतौ काणूरः-नागः । चण हिंसादानयोश्च, चाणूर -मल्लो विष्णुहृतः । अण शब्दे, आणूरः-ग्रामः । पल गतौ, पालूरं नाम नगरमान्ध्रराज्ये । अली भूषणादौ, आलूरः-विटः । तलण् प्रतिष्ठायाम्, तालूरः-जलावर्तः । मलि धारणे, मालूरः-दानवः बिल्वश्च शल गतौ, शालूरः-दुर्दुरः ॥ ४२८ ॥

स्था-विडेः कित् ॥ ४२९ ॥

आभ्यां किद् ऊरः प्रत्ययो भवति । ष्ठां गतिनिवृत्तौ । स्थूरः-बठरः, उच्चश्च, स्थूरा-जङ्घाप्रदेशः विड आक्रोशे, विडूरः-बालवाये ग्रामः ॥ ४२९ ॥

सिन्दूर-कच्चूर-पत्तूर-धुत्तूरादयः ॥ ४३० ॥

एते ऊरप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते । स्यन्देः सिन्द् च, सिन्दूरं-चीनपिष्टम् । करोतेश्चोऽन्तश्च, कर्चूरः-औषधविशेषः । पतेस्तोऽन्तश्च, पत्तूरं-गन्धद्रव्यम् । धुवो द्विरुक्तस्तोऽन्तो ह्रस्वश्च, धुत्तूरः-उन्मत्तकः, दधातेर्धत्तूर इत्यन्ये । आदिग्रहणात् कस्तूरहारहूरादयो भवन्ति ॥ ४३० ॥

कु-गु-पति-कथि-कुथि-कठि-कुठि-कुटि-गडि-गुडि-मुदि-मूलि-दंशिभ्यः केरः ॥ ४३१ ॥

एभ्यः किद् एरः प्रत्ययो भवति । कुंङ् शब्दे, कुबेरः-धनदः गुंत् पुरीषोत्सर्गे, गुबेरं-युद्धम् । पत्लृ गतौ, पतेरः-पक्षी, पवनश्च । कथण् वाक्यप्रबन्धे, कथेरः-कथकः, कुहकः, शकुन्तश्च । कुथच् पूतिभावे, कुथेरः-शिडाकीसंभारः । कठ कृच्छ्रजीवने कठेरः-दरिद्रः । कुठिः सौत्रः, कुठेरः-निःसृतसारः, अर्जकश्च । कुटत् कौटिल्ये, कुटेरः-शठः । गड सेचने, गडेरः-मेघः प्रस्रवणशीलश्च । गुडत् रक्षायाम् , गुडेरः-राजा पण्यं च बालभक्ष्यम् । मुदि हर्षे, मुदेरः-मूर्खः । मूल प्रतिष्ठायाम् , मूलेरः-वनस्पतिः, मूलेरं-पण्यम् । दंशं दशने, दशेरः-सर्पः, सारमेयः, जनपदश्च ॥ ४३१ ॥

शतेरादयः ॥ ४३२ ॥

शतेर इत्यादयः शब्दाः केरप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते । शद्लृ शातने तश्च, शतेरः-वायुः, तुषारश्च । आदिग्रहणाद् गुधेर-शृङ्बेर-नालिकेरादयो भवन्ति ॥ ४३२ ॥

कठि-चकि-सहिभ्य ओरः ॥ ४३३ ॥

एभ्य ओरः प्रत्ययो भवति । कठ-कृच्छ्रजीवने; कठोरः-अमृदुः, चिरंतनश्च । चकि तृप्तौ च, चकोरः-पक्षिविशेषः पर्वतविशेषश्च । षहि मर्षणे, सहोरः-विष्णुः, पर्वतश्च ॥ ४३३ ॥

कोर-चोर-मोर-किशोर-घोर-होरा-दोरादयः ॥ ४३४ ॥

कोर इत्यादयः शब्दा ओरप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते । कायतेश्चरतेर्म्रियतेश्च डिच्च, कोरः-बालपुष्पम् , चोरः-तस्करः । मोरः-मयूरः । कृशेरिच्चोपान्त्यस्य, किशोरः-तरुणः, बालाश्वश्च । हन्तेर्डित् घश्च घोरं-कष्टम् । हृंग् हरणे, होरा-निमित्तवादिनां चक्ररेखा । डुदांग्क् दाने, दोच् छेदने वा, दोरः-कटिसूत्रं-तन्तुगुणश्च । आदिग्रहणादन्येऽपि । ४३४ ॥

कि-शॄ-वृभ्यः करः ॥ ४३५ ॥

एभ्यः करः प्रत्ययो भवति । किः सौत्रः, केकरः-वक्रदृष्टिः । शॄश् हिंसायाम् , शर्करा-मत्स्यण्डिकादिः, कर्कशः, क्षुद्रापाषाणावयवश्च । वृग्ट् वरणे, वर्करः-छागशिशुः ॥ ४३५ ॥

सृ-पुषिभ्यां कित् ॥ ४३६ ॥

आभ्यां कित् करः प्रत्ययो भवति । षूत् प्रेरणे, सूकरः-वराहः । पुष् पुष्टौ, पुष्करं, पद्म', तूर्यमुखं, हस्तिहस्ताग्रम् , आकाशं, मुरजः-तीर्थनाम च ।। ४३६ ।।

अनि-काभ्यां तरः ॥ ४३७ ॥

आभ्यां कित् तरः प्रत्ययो भवति । अनक् प्राणने, अन्तरं-बहिर्योगोपसंव्यानयोः, छिद्रमध्यविरहविशेषेषु च । कैं शब्दे, कातरः-भीरुः ।। ४३७ ।।

इण्-पूभ्यां कित् ॥ ४३८ ॥

आभ्यां कित् तरः प्रत्ययो भवति । इण्क् गतौ, इतरः-निर्दिष्टप्रतियोगी । पूग्श् पवने, पूतरः-जलतन्तुः ।। ४३८ ।।

मी-ज्यजि-मा-मद्यशौ-वसि किभ्यः सरः ॥ ४३९ ॥

एभ्यः सरः प्रत्ययो भवति । मीङच् हिंसायाम् , मेसरः-वर्णविशेषः । जि अभिभवे, जेसरः-शूरः । अज क्षेपणे च, वेसरः-अश्वतरः । वेसृ गतौ, इत्यस्य वा जठरेत्यादिनिपातनादरे रूपम् । मांक् माने, मासरः-आयामः । मदैच् हर्षे, मत्सरः-क्रोधविशेषः । अशौटि व्याप्तौ, अक्षरं वर्णः, मोक्षपदम् , आकाशं च । अक्षर्वा अरे रूपम् । वसं निवासे, वत्सरः, संवत्सरः, परिवत्सरः, अनुवत्सरः, विवत्सरः, उद्वत्सरः-वर्षाभिधानानि । इडामानेन वसन्त्यत्र कालावयवा इति इड्वत्सरः, इडया मानेन वसन्त्यत्रेति इडावत्सरः-वर्षविशेषाभिधाने । परिवत्सरादीन्यपि वर्षविशेषाभिधानानीत्येके । कि इत्यदादौ स्मरन्ति केसरः-सिंहसटः, पुष्पावयवः, बकुलश्च । बाहुलकान्न षत्वम् ।। ४३९ ।।

कृ-धू-तन्यृषिभ्यः कित् ॥ ४४० ॥

एभ्यः कित् सरः प्रत्ययो भवति । डुकृग् करणे, कृसरः कृसरा वा विलेपिकाविशेषः वर्णविशेषश्च । धूत् विधूनने, धूसरः-भिन्नवर्णः, वायुः, धान्यविशेषश्च । तनूयी विस्तारे, तसरः-कौशेयसूत्रम् । ऋषैत् गतौ, ऋक्षरः-कण्टकः, ऋत्विक् च, ऋक्षरा-तोयधारा ।४४०।

कॄ-गॄ-शॄ-दॄ-वृग्-चति-खटि-निषदिभ्यो वरट् ॥ ४४१ ॥

एभ्यष्टिद्वरः प्रत्ययो भवति । कॄत् विक्षेपे, कर्बरः-व्याघ्रः, विष्किरः, अञ्जलिश्च, कर्बरी-भूमिः, शिवा च । गॄत् निगरणे, गर्वरः-अहंकारः महिषश्च, गर्वरी-महिषी, संख्या च । शॄश् हिंसायाम् , शर्वरः-सायाह्नः-रुद्रः, हिंस्रश्च, शर्वरं-तमः, अन्नं च, शर्वरी-रात्रिः । दॄश् विदारणे, दर्वरं-वज्रम् , दर्वरी-सेवा । वृग्ट् वरणे, वर्वरः-कामः, चन्दनं, केशविशेषः-लुब्धकश्च, वर्वरी-नदी, भार्या च । चतेग् याचने, चत्वरं-चतुष्पथम् अरण्यं च । चत्वरी-रथ्या, देवता, वेदिश्च । खट काङ्क्षे, खट्वरं-रससंकीर्णशाकपाकः । कटे वर्षावरणयोः, कट्वरः-व्यालाश्वः, कट्वरी-दधिविकारः । षद्लृं विशरणादौ, निपूर्वः, निषद्वरः-कर्दमः-वह्निः, कर्मकरः, कन्दर्पः, इन्द्रश्च । निषद्वरम्-आसनम् ,-निषद्वरी-प्रपा, रात्रिः, प्रमदा इन्द्राणी च ।। ४४१ ।।

अश्नोतेरीच्चादेः ॥ ४४२ ॥

अशौटि व्याप्तौ, इत्यस्माद्वरट् प्रत्ययो भवति, ईकारश्चादेर्भवति। ईश्वरः-विभुः, ईश्वरी-स्त्री ॥ ४४२ ॥

नी-मी-कु-तु-चेर्दीर्घश्च ॥ ४४३ ॥

एभ्यो वरट् प्रत्ययो दीर्घश्चैषां भवति। णींग् प्रापणे, नीवरः-पुरुषकारः। मींग्श् हिंसायाम्, मीवरः-हिंस्रः, समुद्रश्च। कुंङ् शब्दे, कूवरः-रथावयवः तुंक् वृत्त्यादिषु, तूवरः-मन्दश्मश्रुः, अजननीकश्च। चिंग्ट् चयने, चीवरं मुनिजनवासः, निःसारकन्था च ॥ ४४३ ॥

तीवर-धीवर-पीवर-छित्वर-छत्वर-गह्वरोपह्वर-संयद्वरोदुम्बरादयः ॥ ४४४ ॥

एते वरट् प्रत्ययान्ता निपात्यन्ते। तिम्यतेस्ती च तीक्तेर्वाऽरे तीवरं जलं, व्यञ्जनं च। ध्यायतेर्धी च। धीवरः, कैवर्तः, प्यायः प्यैङो वा पी च, पीवतेर्वा किदरः, पीवरः-मांसलः। छिनत्तेस्तः-किच्च, छित्वरः-शठः, जर्जरः, पिटकश्च छादेर्णिलुकि ह्रस्वश्च, छत्वरः, निर्भर्त्सकः, निकुञ्जश्च। छत्वरं-कुड्यहीनं गृहम्, शयनप्रच्छदः, छदिश्च। गुहेरच्चोतः गह्वरं-गहनं, महाबिलं, भयानकं, प्रत्यन्तदेशश्च। उपपूर्वात् ह्वो वादेर्लुक् च, उपह्वरं-संधिः, समीपं, रहःस्थानं च। सम्पूर्वाद्यमेर्दश्च, संयद्वरः-रणः, संयमी, नृपश्च। उन्देः किदुम् चान्तः, उदुम्बरः-वृक्षविशेषः। आदिग्रहणाद् उम्बर-शम्बरादयो भवन्ति ॥ ४४४ ॥

कडेरेवराङ्गरौ ॥ ४४५ ॥

कडत् मदे, इत्यस्माद् एवर अङ्गर इति प्रत्ययौ भवतः। कडेवरं-मृतशरीरम्, लत्वे कलेवरम्। कडङ्गरः-वनस्पतिः ॥ ४४५ ॥

त्रट् ॥ ४४६ ॥

सर्वधातुभ्यस्त्रट् प्रत्ययो भवति। छादयतीति छत्रम् छत्री वा घर्मवारणम्। पातीति पात्रम् ऊर्जितगुणाधारः साध्वादिः। पात्री-भाजनम्। स्नायतेः-स्नात्रं स्नानम्। राजते इति-राष्ट्रं-देशः। शिष्यतेऽनेन-शास्त्रं-ग्रन्थः। अस्च् क्षेपणे, अस्त्रं-धनुः ॥४४६॥

जि-भृ-सृ-भ्रस्जि-गमि-नमि-नश्यशि-हनिविषेर्वृद्धिश्च ॥ ४४७ ॥

एभ्यस्त्रट् प्रत्ययो भवति, वृद्धिश्चैषां भवति। जि अभिभवे, जैत्रः-जयनशीलः, जैत्रं-द्यूतम्। टुडुभृंग्क् पोषणे च, भार्त्रं-पोषः, यश्च भृतिं गृहीत्वा वहति। सृं गतौ, सार्त्रः-आलयः। भ्रस्जींत् पाके, भ्राष्ट्रम्-अम्बरीषम्। गम्लृं गतौ, गान्त्रं-मनः, शरीरं, लोकश्च। णमं प्रह्वत्वे, नान्त्रं-शिरः, शाखा, वैचित्र्यं च। नशौच् अदर्शने नशो धुटीति नोन्तः, नांष्ट्रा-यातुधानाः। अश्नोतेरश्नातेर्वा आष्ट्रम्-आकाशः, रश्मिश्च। हनंक् हिंसागत्योः, हान्त्रं-रक्षः, युद्धं, वधश्च। विष्लृंकी व्याप्तौ, वैष्ट्रः-विष्णु, वायुश्च। वैष्टं-यकृत्, त्रिदिवं, वेश्म च ॥ ४४७ ॥

दिवेर्द्यौ च ॥ ४४८ ॥

दीव्यतेस्त्रट् प्रत्ययो भवति, द्यौ चास्यादेशो भवति। द्यौत्रं-त्रिदिवं, ज्योतिः, विमानं, प्रमाणं, प्रतोदश्च ॥ ४४८ ॥

सू-मू-खन्युषिभ्यः कित् ॥ ४४९ ॥

एभ्यः कित् त्रट् प्रत्ययो भवति। षूत् प्रेरणे, सूत्रं-तन्तुः, शास्त्रं च। मूङ् बन्धने, मूत्रं-प्रस्रावः। खनूग् अवदारणे, खात्रं-कूर्दालः, तडाकं, ग्रामाधानमृत्, चौरकृतं च छिद्रम्। उष् दाहे, उष्ट्रः-क्रमेलकः ॥ ४४९ ॥

स्त्री ॥ ४५० ॥

स्यतेः सूतेः स्त्यायतेस्तृणातेर्वा त्रट् स्यात् डिच्च। स्त्री-योषित् ॥ ४५० ॥

हु-या-मा-श्रु-वसि-भसि-गु-वी-पचि-वचि-धृ-यम्यमि-मनि-तनि-सदि--छादि--क्षि-क्षदि-लुपि-पति-धूभ्यस्त्रः ॥ ४५१ ॥

एभ्यस्त्रः प्रत्ययो भवति हुंक् दानादनयोः, होत्रं-हवनं, होत्रा-ऋचः। यांक् प्रापणे, यात्रा-प्रस्थानं यापनम्, उत्सवश्च। मांक् माने, मात्रा-प्रमाणं, कालविशेषः, स्तोकः, गणना च। श्रुंट् श्रवणे, श्रोत्रं-कर्णः। वसिक् आच्छादने, वस्त्रं-वासः। भसि जुहोत्यादौ स्मरन्ति, भस्त्रा-चर्ममयम्-आवपनम्, उदरं च। गुंङ् शब्दे, गोत्रः-पर्वतः, गोत्रा-पृथ्वी, गोत्रम्-अन्वयः। वींक् प्रजननादौ, वेत्रं-वीरुद्विशेषः। डुपचींष् पाके, पक्त्रं-पिठरं, गार्हपत्यं च। वचंक् भाषणे, वक्त्रम्-आस्यम्, छन्दोजातिश्च। धृङत् स्थाने, धर्त्रः-धर्मः, वृक्षः, रविश्च। धर्त्रं-नभः, गृहसूत्रं च, धर्त्रा-द्यौः। यमूं उपरमे, यन्त्रं-शरीरसंधानम्-अरघट्टादि च। अम गतौ, अन्त्रं-पुरीतत्। मनिच् ज्ञाने, मन्त्रः-छन्दः। तनूयी विस्तारे, तन्त्रं-प्रसारितास्तन्तवः, शास्त्रं-समूहः, कुटुम्बं च। षद्लृं विशरणगत्यवसादनेषु, सत्रं-यज्ञः, सदः, दानं छद्म, यागविशेषश्च। छदण्-संवरणे, छादयतीति-छात्रः-शिक्षकः। क्षित् निवासगत्योः, क्षेत्रं-कर्षणभूमिः, भार्या, शरीरम्, आकाशं च। क्षद संरवणे सौत्रः, क्षत्रं-राजबीजम्। लृप्लृंती छेदने, लोप्त्रम्-अपहृतं द्रव्यम्। पत्लृ गतौ, पत्रं-पर्णं, यानं च। धूग्श् कम्पने, धोत्रं-रज्जुः ॥ ४५१ ॥

श्वितेर्वश्च मो वा ४५२ ॥

श्विताङ् वर्णे, इत्यस्मात् त्रः प्रत्ययो भवति, वकारस्य च मकारो वा भवति। श्मेत्रं च श्वेत्रं च-रोगौ ॥ ४५२ ॥

गमेरा च ॥ ४५३ ॥

गम्लृं गतौ इत्यस्मात् त्रः प्रत्ययो भवति, आकारश्चान्तादेशो भवति। गात्रं-शरीरम्। गात्रा-खट्वावयवः ॥ ४५३ ॥

चि-मि-दि-शंसिभ्यः कित् ॥ ४५४ ॥

एभ्यः कित् त्रः प्रत्ययो भवति। चिंग्ट् चयने चित्रम्-आश्चर्यम्, आलेख्यं, वर्णश्च। ञिमिदांच् स्नेहने, मित्रं-सुहृत्, अमित्रः-शत्रुः, मित्रः-सूर्यः। शंसू स्तुतौ च, शस्त्रं-स्तोत्रम्, आयुधं च ॥ ४५४ ॥

पुत्रादयः ॥ ४५५ ॥

पुत्र इत्यादयः शब्दाः त्रप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते। पुनाति पवते च पितॄपूतिमिति पुत्रः-सुतः, यदाहुः-"पूतीति नरकस्याख्या दुःखं च नरकं विदुः।" पुन्नाम्नो नरकात् त्रायत इति व्युत्पत्तिस्तु संज्ञाशब्दानामनेकधा व्याख्यानं लक्षयति। आदिग्रहणादन्येऽपि ॥ ४५५ ॥

वृग्-नक्षि-पचि-वच्यमि-नमि-वमि-वपि-बधि-यजि-पति-कडिभ्योऽत्रः ॥४५६॥

एभ्यः अत्रः प्रत्ययो भवति। वृग्ट् वरणे, वरत्रा-चर्मरज्जुः। णक्ष गतौ नक्षत्रम्-अश्विन्यादि। डुपचींष् पाके, पचत्रं-रन्धनस्थाली। वचंक्-भाषणे, वचत्रं वचनम्। अम गतौ, अमत्रं-भाजनम्। णमं प्रह्वत्वे, नमत्रं-कर्मारोपकरणम्। टुवम् उद्गिरणे, वमत्रं-प्रक्षेपः। डुवपीं बीजसंताने, वपत्रं-क्षेत्रम्। बधि बन्धने, बधत्रम्-आयुधं, वस्त्रं, विषं, शूरश्च। यजीं देवपूजादौ, यजत्रः-यज्वा, यजत्रम्-अग्निहोत्रम्। पत्लृ गतौ, पतत्रं-बर्ह-वाहनं व्योम च। कडत् मदे, कडत्रं दाराः, जघनं च ॥ ४५६ ॥

सोर्विदः कित् ॥ ४५७ ॥

सुपूर्वाद् विदः किद् अत्रः प्रत्ययो भवति। सुष्ठु वेत्ति विन्दति विद्यते वा सुविदत्रं-कुटुम्बं, धनं, मङ्गलं च ॥ ४५७ ॥

कृतेः कृन्त च ॥ ४५८ ॥

कृतैच् छेदने, इत्यस्माद् अत्रः प्रत्ययो भवति। अस्य च कृन्तादेशो भवति। कृन्तत्रः-मशकः। कृन्तत्रं-छेदनं, लाङ्गलाग्रं च ॥ ४५८ ॥

बन्धि-वहि-कट्यशयादिभ्य इत्रः ॥ ४५९ ॥

एभ्यः इत्रः प्रत्ययो भवति। बन्धंश् बन्धने, बन्धित्रं-मन्थः। वहीं प्रापणे, वहित्रं-वाहनं च। कटे वर्षावरणयोः, कटित्रं-लेख्यचर्म। अशौटि व्याप्तौ, अशश् भोजने वा। अशित्रं रश्मिः, हविः अग्निः, अन्नपानं च। आदिग्रहणाद् लुनातेः लवित्रम्-कर्मद्रव्यम्, पुनातेः-पवित्रं-मङ्गल्यम्। भटतेः भटित्रं-शूले, पक्वमांसम्। कडतेः कडित्रं-कटित्रमेव। अमतेः अमित्रः-रिपुः इत्यादि ॥ ४५९ ॥

भू-गॄ-वदि-चरिभ्यो णित् । ४६० ॥

एभ्यो णिद् इत्रः प्रत्ययो भवति। भू सत्तायाम्, भावित्रं त्रैलोक्यं, निधानं, भद्रं च। गॄत् निगरणे, गारित्रं-नभः, अन्नपानम्, आश्चर्यं च। वद व्यक्तायां वाचि, वादित्रम्-आतोद्यम्। चर भक्षणे। चारित्रं-वृत्तं, स्थित्यभेदश्च ॥ ४६० ॥

तनि-तृ-ला-पात्रादिभ्य उत्रः ॥ ४६१ ॥

एभ्य उत्रः प्रत्ययो भवति । तनूयी विस्तारे, तनुत्रं-कवचम् । तॄ प्लवनतरणयोः, तरुत्रं-प्लवः, घासहारी च । लांक् आदाने, लोत्रम्-अपहृतद्रव्यम् । पां पाने, पोत्रं हलसूकरयोर्मुखम् । त्रैङ् पालने, त्रोत्रम्-अभयक्रिया । आदिग्रहणाद् वृणोतेः वरुत्रम्-अभिप्रेतमित्यादयः ॥ ४६१ ॥

शा-मा-श्या-शक्यम्भ्यमिभ्यो लः ॥ ४६२ ॥

एभ्यो लः प्रत्ययो भवति । शोंच् तक्षणे, शाला-सभा । मांक् माने, माला-स्रक् । श्यैङ् गतौ, श्यालः-पत्नीभ्राता । शक्लृंट् शक्तौ, शक्लः-मनोज्ञदर्शनः, मधुरवाक्, शक्तश्च । अम्बुङ शब्दे, अम गतौ अम्बलः, अम्लश्च-रसः ॥ ४६२ ॥

शुक-शी-मूभ्यः कित् ॥ ४६३ ॥

एभ्यः किद् लः प्रत्ययो भवति । शुक गतौ, शुल्कः-सितो वर्णः । शीङक् स्वप्ने, शीलं-स्वभावः, व्रतं, धर्मः, समाधिश्च । मुङ् बन्धने मूलम्-वृक्षपादावयवः, आदिः, हेतुश्च ॥ ४६३ ॥

भिल्लाच्छभल्ल-सौविदल्लादयः ॥ ४६४ ॥

भिल्लादयः शब्दाः किद् लप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते । भिदेर्लश्च भिल्लः-अन्त्यजातिः । अच्छपूर्वाद् भलेः, अच्छभल्लः ऋक्षः, सुपूर्वाद्विदेरलोऽन्तः सोश्च वृद्धिः । सौविदल्लः कञ्चुकी । आदिग्रहणादल्लपल्लीरल्लादयोऽपि भवन्ति ॥ ४६४ ॥

मृदि-कन्दि-कुण्डि-मण्डि-मङ्गि-पटि-पाटि-शकि-केवृ-देवृ-कमि-यमि-शलि-कलि-पलि-गुध्वञ्चि-चञ्चि-चपि-वहि-दिहि-कुहि-तृ-सृ-पिशि-तुसि-कुस्यनि-द्रमेरलः ॥४६५॥

एभ्यः अलः प्रत्ययो भवति । मृदश् क्षोदे, मर्दलः-मुरजः । कदु रोदनाह्वानयोः, कन्दलः-प्ररोहः । कुडुङ् दाहे, कुण्डलं-कर्णाभरणम् । मडु भूषायाम्, मण्डलं-देशः, परिवारश्च । मगु गतौ, मङ्गलं शुभम् । पट गतौ, पटलं-छदिः, समूहः, आवपनं, नेत्ररोगश्च । ण्यन्तात् पाटलः-वर्णः । शक्लृंट् शक्तौ, शकलं-भित्तम् असारं च, केवृङ् सेवने, केवलं परिपूर्णं ज्ञानम्, असहायं च । देवृङ् देवने, देवलः-ऋषिः, देवत्रातः, क्रीडनश्च । कमूङ्-कान्तौ, कमलं पद्मम् । णिङि, कामलः-नेत्ररोगः । यमू उपरमे, यमलं युग्मम् । शल गतौ, शललं-सेधाङ्गरुहशङ्कुः । कलि शब्दसंख्यानयोः, कललं-गर्भप्रथमावस्था । पल गतौ, पललम्-भृष्टतिलातसीचूर्णम् । गुङ् शब्दे, गवलः महिषः । धूग्श् कम्पने, धवलः-श्वेतः । अञ्चू गतौ च, अञ्चलः वस्त्रान्तः । चञ्चू गतौ, चञ्चलः-अस्थिरः । चप सान्त्वने, चपलः स एव । वहीं प्रापणे, बहलं-सान्द्रम् । दिहींक् लेपे, देहली-द्वाराधः पट्टः, कुहणि विस्मापने, कोहलः-भरतपुत्रः, बाहुलकाद् गुणः । तॄ प्लवनतरणयोः, तरलः-अधीरः, हारमध्यमणिश्च । सृं गतौ, सरलः-अकुटिलः, वृक्षविशेषश्च । पिशत् अवयवे, पेशलः-

मनोज्ञः । तुस शब्दे, तोसला: जनपद: । कुसच् श्लेषे, कोशला-जनपद: । अनक् प्राणने, अनलः अग्निः । द्रम गतौ, द्रमलं-जलम् ।। ४६५ ।।

नहि-लङ्गेर्दीर्घश्च ॥ ४६६ ॥

आभ्याम् अलः प्रत्ययो भवत्यनयोश्च दीर्घो भवति । णहींच् बन्धने, नाहलः म्लेच्छः । लगु गतौ लाङ्गलं-हलम् ।। ४६६ ।।

ऋ-जनेर्गोऽन्तश्च ॥ ४६७ ॥

आभ्याम् अलः प्रत्ययो गकारश्चान्तो भवति । ऋक् गतौ, अर्गला-परिघः । जनैचि प्रादुर्भावे, जङ्गलं निर्जलो देशः ।। ४६७ ।।

तृपि-वपि-कुपि-कुशि-कुटि-वृषि-मुसिभ्यः कित् ॥ ४६८ ॥

एभ्यः किद् अलः प्रत्ययो भवति । तृपौच्प्रीतौ, तृपला-लता, तृपलं-शुष्कपर्णं, शुष्कतृणं च । डुवपीं बीजसंताने, उपलः-पाषाणः । कुपच् कोपे, कुपलः प्रवालः । कुशच् श्लेषणे, कुशलः-मेधावी । कुशलम् आरोग्यम् । कुटत् कौटिल्ये-कुटलः-ऋषिः । वृषू सेचने, वृषलः-दासजातिः । मुसच् खण्डने, मुसलम् अवहननम् ।। ४६८ ।।

कोर्वा ॥ ४६९ ॥

कुंङ् शब्दे इत्यस्माद् अलः, स च प्रत्ययो किद्वा भवति । कुवलं-बदरम् , कुवली-क्षुद्रबदरी, कवलः ग्रासः ।। ४६९ ।।

शमेर्ब च वा ॥ ४७० ॥

शमूच् उपशमे, इत्यस्माद् अलः प्रत्ययो भवति मकारस्य च बकारो वा भवति । शबलः-कल्माषः, शमलं-पुरीषम् , दुरितं च ।। ४७० ।।

छोर्डगादिर्वा ॥ ४७१ ॥

छोच् छेदने, इत्यस्मात् किद् अलः प्रत्ययो भवति । स च डगादिर्गादिर्वा भवति । छगलः-छागः, छागलः-ऋषिः । छलं-वचनविघातोऽर्थविकल्पोपपत्त्या ।। ४७१ ।।

मृजि-खन्याहनिभ्यो डित् ॥ ४७२ ॥

एभ्यः डिद् अलः प्रत्ययो भवति । मृजौक् शुद्धौ मलं बाह्यं रजः-अन्तर्दोषश्च । खनूग् अवदारणे, खलः दुर्जनः, निष्पीडितरसं पिण्याकादि, खलं-सस्यफलग्रहणभूमिः । हनंक् हिंसागत्योः, आङ्पूर्वः, आहलः-विषाणं, नखरश्च ।। ४७२ ।।

स्थो वा ॥ ४७३ ॥

तिष्ठतेः अलः प्रत्ययो भवति, स च डिद्वा भवति । स्थलं प्रदेशविशेषः । स्थालं-भाजनम् ।। ४७३ ।।

मुरलोरल-विरल-केरल-कपिञ्जल-कज्जलेज्जल-कोमल-भृमल-सिंहल-काहल-शूकल-पाकल-युगल-भगल-विदल-कुन्तलोत्पलादयः ॥ ४७४ ॥

एते अलप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते । मुर्व्युर्व्योर्वलोपः किच्च, मुरलाः- जनपदः । उरलः- उत्कटः । विपूर्वाद्रमेर्डिच्च, विरलः-असंहतः । किरः केर च केरला-जनपदः । कम्पेरिञ्जो-ऽन्तो नलोपश्च, कपिञ्जलः-गौरतित्तिरिः । कषीषोर्जोऽन्तोजश्च, कज्जलं मषी इज्जलः- वृक्षविशेषः । कमेरत ओच्च कोमलं-मृदु । भ्रमेर्भृम् च, भृमलः वायुः, कृमिजातिश्च, भृमलं चक्रम् । हिंसेराद्यन्तविपर्ययश्च, सिंहला-जनपदः । कणेर्हो दीर्घश्च, काहलः अव्यक्त-वाक्, काहला वाद्यविशेषः । शकेरूच्चास्य, शूकलः-अश्वाधमः । पचेः पाक् च पाकलः- हस्तिज्वरः युजेः किद् ग च, युगलं-युग्मम् । भातेर्गोऽन्तो ह्रस्वश्च, भगलः-मुनिः । विन्दे-र्नलोपश्च, विदलं वेणुदलम् । कनेरत उत् तोऽन्तश्च कुन्तला-जनपदः, केशाश्च । उत्पूर्वात् पिबतेर्ह्रस्वश्च, उत्पलं-पद्मम् । आदिग्रहणात् सुवर्चलादयो भवन्ति ॥ ४७४ ॥

ऋ-कृ-मृ-वृ-तनि-तमि-चषि-चपि-कपि-कीलि-पलि-बलि-पञ्चि-मङ्गि-गण्डि-मण्डि-चण्डि-तण्डि-पिण्डि-नन्दि-नदि-शकिभ्य-आलः ॥ ४७५ ॥

एभ्य आल प्रत्ययो भवति ऋक् गतौ, अरालं वक्रम् । डुकृंग् करणे करालम् उच्चम् । मृत् प्राणत्यागे, मरालः-हंसः, महांश्च । वृग्ट् वरणे, वरालः वदान्यः । तनूयी विस्तारे, तनालं जलाशयः । तमूच् काङ्क्षायाम् तमालः-वृक्षः, व्यालश्च । चषी भक्षणे, चषालं यूपशिरसि द्रव्यम् । चप सान्त्वने, चपालं-यज्ञद्रव्यम् । कपिः सौत्रः, कपालं घटाद्य-वयवः-शिरोऽस्थि च । कील बन्धे, कीलालं मद्यं, जलम्, असृक् च । पल गतौ, पलालम् । अकणो व्रीह्यादिः । बल प्राणनधान्यावरोधयोः बलालो वायुः । पचुङ् व्यक्तीकरणे पञ्चालः ऋषिः, राजा च, पञ्चाला जनपदः मगु गतौ, मङ्गलः-देशः । गडु वदनैकदेशे, गण्डालः-मत्तहस्ती । मडु भूषायाम् मण्डाल ऋषि, राजा च । चडुङ् कोपे, चण्डालः- श्वपचः ।

अकृतज्ञमकार्यज्ञं दीर्घरोषमनार्जवम् ।
चतुरो विद्धि चण्डालान् जन्मना चेति पञ्चमम् ॥१॥

तडुङ् अघाते, तण्डालः-क्षुपः । पिडुङ् सङ्घाते, पिण्डालः-कन्दजातिः । टुनदु समृद्धौ, नन्दालः-राजा । णद अव्यक्ते शब्दे, नन्दालः-नादवान् । शक्लृंट् शक्तौ, शकाला- जनपदः, मूर्खधनी च ॥

कुलि-पिलि-विशि-विडि-मृणि-कुणि-पी-प्रीभ्यः कित् ॥ ४७६ ॥

एभ्यः किद् आलः प्रत्ययो भवति । कुल बन्धुसंस्त्यानयोः, कुलालः कुम्भकारः । पिलण् क्षेपे, पिलालं-श्लिष्टम् । विशंत् प्रवेशने, विशालं-विस्तीर्णम् । बिड आक्रोशे, बिडालः-मार्जारः । लत्वे बिलालः स एव । मृणत् हिंसायाम्, मृणालं-बिसम् । कुणत् शब्दोपकरणयोः, कुणालः-कृतमालः, कटविशेषश्च, कुणालं-नगरं, कठिनं च । पीङ्च् पाने, पियालः-वृक्षः, पियालं-शाकं, वीरुच्च । प्रीङ्च् प्रीतौ, प्रियालः-पियालः ॥ ४७६ ॥

भजेः कगौ च ॥ ४७७ ॥

भजीं सेवायाम्, इत्यस्मात् किद् अलः प्रत्ययो भवति, कगौ चान्तादेशौ भवतः। भकालं, भगालम् उभयं-कपालम् ॥ ४७७ ॥

सर्तेर्गोऽन्तश्च ॥ ४७८ ॥

सृं गतौ, इत्यस्मात् किद् आलः प्रत्ययो भवति, गश्चान्तः । सृगालः-क्रोष्टा ।४७८।

पति-कृ-लूभ्यो-णित् ॥ ४७९ ॥

एभ्यो णिद् अलः प्रत्ययो भवति । पत्लृं गतौ, पातालं रसातलम् । डुकृंग् करणे, करालं-लेपद्रव्यम् । लूग्श् छेदने, लावालः-उद्दन्तः ॥ ४७९ ॥

चात्वाल-कङ्काल-हिन्ताल-वेताल-जम्बाल-शब्दाल-ममाप्तालादयः ॥ ४८० ॥

एते आलप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते । चतेर्वोन्तो दीर्घश्च । चात्वालः-यज्ञगर्तः । कचेः स्वरान्नोऽन्तः कश्च, कङ्कालः-कलेवरम् । हिंसेस्तश्च हिन्तालः-वृक्षविशेषः । वियस्तोऽन्तो गुणश्च, वेतालः-रजनीचरविशेषः । जनेर्वोऽन्तश्च, जम्बालः-कर्दमः, शैवलं च । शमेर्ऋ-षेर्वा शब्दभावश्च, शब्दालः-शब्दनशीलः । मलेर्वलोपो माप्तश्चान्तः । ममाप्तालः मतिः, स्नेहः-पुत्रादिषु स्नेहबन्धनं च । आदिशब्दाच्चक्रवालकरवालालवालादयो भवन्ति । ४८०॥

कल्यनि-महि-द्रमि-जटि-भटि-कुटि-चण्डि-शण्डि-तुण्डि-पिण्डि-भू-कुकिभ्य इलः ॥ ४८१ ॥

एभ्य इलः प्रत्ययो भवति । कलि शब्दसंख्यानयोः, कलिलं-गहनं, पापम्, आत्माधिष्ठितं च शुक्रार्तवम् । अनक् प्राणने, अनिलः-वायुः । मह पूजायाम्, महिला-स्त्री । द्रम गतौ, द्रमलाः-त्रैराज्यवासिनः । जट झट संघाते, जटिलः-जटावान् । भटभृतौ, भटिलः-श्वा, सेवकश्च । कुटत् कौटिल्ये, कुटिलम्-वक्रम् । चडुङ् कोपे, चण्डिलः-श्वा, क्रोधनः, नापितश्च । शडुङ् रुजायाम्, शण्डिलः-ऋषिः । तुडुङ् तोडने, तुण्डिलः-वाग्जाली । पिडुङ् सङ्घाते, पिण्डिल-मेघः, हिस्रः, हिमः, गणकश्च । भू सत्तायाम्, भविलः-मुनिः, समर्थः, गृहम्, बहुनेता च कुकि आदाने, कोकिलः-परभृतः ॥ ४८१ ॥

भण्डेर्नलुक् च वा ॥ ४८२ ॥

भडुङ् परिभाषणे, इत्यस्माद् इलः प्रत्ययो भवति, नकारस्य लुग् वा भवति । भडिलः ऋषिः, पिशाचः, शत्रुश्च । भण्डिलः-श्वा, दूतः, ऋषिश्च ॥ ४८२ ॥

गुपि-मिथि-ध्रुभ्यः कित् ॥ ४८३ ॥

एभ्यः किद् इलः प्रत्ययो भवति । गुपौ रक्षणे, गुपिलं-गहनम् । मिथृग् मेधा-हिंसनयोः, मिथिला-नगरी । ध्रुं स्थैर्ये च, ध्रुविलः-ऋषिः ॥ ४८३ ॥

स्थण्डिल-कपिल-विचकिलादयः ॥ ४८४ ॥

स्थण्डिलादयः शब्दा इलप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते । स्थलेः स्थण्ड् च, स्थण्डिलं-व्रतिशयनवेदिका । कबेः प् च, कपिलः-वर्णः, ऋषिश्च । विचेरकोऽन्तश्च, विचकिलः-मल्लिकाविशेषः । आदिग्रहणाद् गोभिलनिकुम्भिलादयोऽपि भवन्ति ॥ ४८४ ॥

हृषि-वृति-चटि-पटि-शकि-शङ्कि-तण्डि-मङ्ग्युत्कण्ठिभ्य उलः ॥ ४८५ ॥

एभ्य उलः प्रत्ययो भवति । हृषच् तुष्टौ, हृष्ट अलीके वा, हर्षुलः-हर्षवान्, कामी, मृगश्च । वृतूङ् वर्तने, वर्तुलः-वृत्तः । चटण् भेदे, चटुलः-चञ्चलः । पट गतौ, पटुलः-वाग्मी । शक्लृंट् शक्तौ, शकुलः-मत्स्यः । शङ्कु शङ्कायाम्, शङ्कुला-क्रीडनशङ्कु, बन्धनभाण्डम्, आयुधं च । तडुङ् ताडने, तण्डुलो निस्तुषो व्रीह्यादिः । मगु गतौ, मङ्गुलं-न्यायापेतम् कठुङ् शोके, उत्पूर्वः उत्कण्ठुलः-उत्कण्ठावान् ॥ ४८५ ॥

स्था-वङ्कि-बंहि-बिन्दिभ्यः किन्नलुक् च ॥ ४८६ ॥

एभ्यः किद् उलः प्रत्ययो नकारस्य च लुग् भवति । ष्ठां गतिनिवृत्तौ, स्थुलं-पटकुटीविशेषः । वकुङ् कौटिल्ये, वकुलः-केसरः, ऋषिश्च । बहुङ वृद्धौ, बहुलं-प्रचुरम्-बहुलः-प्रासकः, कृष्णपक्षश्च । बहुलाः-कृत्तिकाः, बहुला-गौः । विदु अवयवे, विदुलः-वेतसः ॥ ४८६ ॥

कुमुल-तुमुल-निचुल-वञ्जुल-मञ्जुल-पृथुल-विशंस्थु-लाङ्गुल-मुकुल-शष्कुलादयः ॥ ४८७ ॥

एते उलप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते । कमितम्योरत उच्च, कुमुलं-कुसुमम्, हिरण्यं च, कुमुलः-शिशुः, कान्तश्च । तुमुलं-व्यामिश्रयुद्धम्, संकुलं च । निजेः किच्चश्च । निचुलः-वञ्जुलः । वजेः स्वरान्नोऽन्तश्च, वञ्जुलः-निचुलः । मञ्जिः सौत्रः, मञ्जुलं मनोज्ञम् । प्रथेः पृथ् च, पृथुलः-विस्तीर्णः । विपूर्वात् शसेस्थोऽन्तश्च, विशंस्थुलः-व्यग्रः । अञ्जेर्गश्च अङ्गुलम् अष्टयवप्रमाणम् । मुचेः कित् कश्च, मुकुलः-अविकसितपुष्पम् । शकेः स्वरात् षोऽन्तश्च, शष्कुली-भक्ष्यविशेषः, कर्णावयवश्च । आदिग्रहणाल्लकुल-वल्गुलादयो भवन्ति ॥ ४८७ ॥

पिञ्जि-मञ्जि-कण्डि-गण्डि-बलि-बधि-वञ्चिभ्य ऊलः ॥ ४८८ ॥

एभ्यः ऊलः प्रत्ययो भवति । पिजुण् हिंसाबल-दान-निकेतनेषु, पिञ्जूलः हस्तिबन्धनपाशः, राशिः, कुलपतिश्च । मञ्जिः सौत्रः, मञ्जूला-मृदुभाषिणी । कडुङ् मदे, कण्डूलः-अशिष्टो जनः । गडु वदनैकदेशे, गण्डूलः-कृमिजातिः । बल प्राणन-धान्यावरोधयोः, बलूलः-ऋषिः, मेघः, मासश्च । बधि बन्धने, बधूलः हस्ती, घातकः रसायनं, तन्त्रकारश्च । वञ्चिण् प्रलम्भने, वञ्चूलः हस्ती, मत्स्यमारपक्षी च । ४८८ ॥

तमेर्वोऽन्तो दीर्घस्तु वा ॥ ४८९ ॥

तमूच् काङ्क्षायाम् , इत्यस्माद् ऊल: प्रत्ययो भवति, वोऽन्तश्च भवति, दीर्घस्तु वा । ताम्बूलं, तम्बूलम्-उभयं पूगपत्रचूर्णसंयोग: ।। ४८९ ।।

कुल-पुल-कुसिभ्यः कित् ॥ ४९० ॥

एभ्य ऊल: प्रत्ययो भवति, स च किद् भवति । कुल बन्धु-संस्त्यानयो:, कुलूल: कृमिजाति: । पुल महत्त्वे, पुलूल:-वृक्षविशेष: । कुशच् श्लेषे, कुशूल:-कोष्ठ: ।। ४९० ।।

दुकूल-कुकूल-बब्बूल-लाङ्गूल-शार्दूलादयः ॥ ४९१ ॥

दुकूलादय: शब्दा ऊलप्रत्यान्ता निपात्यन्ते । दुक्वो: कोऽन्तश्च, दुकूलं-क्षौमं वास: । कुकूलं कारीषोऽग्नि: । बधेर्बोऽन्तो बश्च । बब्बूल:-वृक्षविशेष: । लङ्गेर्दीर्घश्च लाङ्गूलं वालधि: । शृणातेर्दोऽन्तो वृद्धिश्च, शार्दूल: व्याघ्र: । आदिग्रहणाद् मार्जूल: कञ्चूलादयो भवन्ति ।। ४९१ ।।

महेरेलः ॥ ४९२ ॥

मह पूजायाम् , इत्यस्मादेल: प्रत्ययो भवति । महेला स्त्री ।। ४९२ ।।

कटि-पटि-कण्डि-गण्डि-शकि-कपि-चहिभ्य ओलः ॥ ४९३ ॥

एभ्य ओल: प्रत्ययो भवति । कटे वर्षावरणयो:, कटोल:-कटविशेष:, वादित्र-विशेषश्च । कटोला औषधि: । पट गतौ, पटोला वल्लीविशेष: । कडु मदे कण्डोल:-विदलभाजनविशेष: । गडु वदनैकदेशे, गण्डोल: कृमिविशेष: । शक्लृट् शक्तौ, शकोल:-शक्त:, कपि: सौत्र:, कपोल:-गण्ड: । चह कल्कने, चहोल:-उपद्रव: ।। ४९३ ।।

ग्रह्यादृभ्यः कित् ॥ ४९४ ॥

ग्रहेराकारान्तेभ्यश्च धातुभ्य: किदोल: प्रत्ययो भवति । ग्रहीश् उपादाने, गृहोल:-बालिश: । कायते: कोल:-बदरी, वराहश्च । गायते: गोल:-वृत्ताकृति:, गोला-गोदावरी, बालरमणकाष्ठं च । पाते: पोला: तालाख्यं कपाटबन्धनं, परिखा च । लाते: लोल:-चपल: । ददातेर्दयतेर्द्यतेर्वा दोला-प्रेङ्खणम् ।। ४९४ ।।

पिञ्छोल-कल्लोल-कक्कोल-मक्कोलादयः ॥ ४९५ ॥

पिञ्छोलादय: शब्दा ओलप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते । पीडै: पिञ्छच् पिञ्छोल:-वादित्रविशेष: । कलेर्लोऽन्तश्च, कल्लोल:-ऊर्मि: । कचि मच्यो: कादि:, कक्कोली लता-विशेष: । मक्कोल:-सुधाविशेष: । आदिग्रहणादन्येऽपि ।। ४९५ ।।

वलि-पुषेः कलक् ॥ ४९६ ॥

आभ्यां कित् कल: प्रत्ययो भवति । वलि संवरणे, वल्कलं तरुत्वक् । पुष् पुष्टा, पुष्कलं, समग्रं युद्धं, शोभनं, हिरण्यं, धान्यं च ।। ४९६ ।।

मिगः खलश्चैच ॥ ४९७ ॥

डुमिंग्ट् प्रक्षेपणे, इत्यस्मात् खलश्चकारात् कलश्च प्रत्ययौ भवतः, एकारश्चान्तादेशो भवति । मेखला-गिरिनितम्बः, रशना च । मेकलः-नर्मदाप्रभवोऽद्रिः । मिग एत्ववचनामात्वबाधनार्थम् ॥ ४९७ ॥

शृो नोऽन्तो ह्रस्वश्च ॥ ४९८ ॥

शॄश् हिंसायाम्, इत्यस्मात् खलः प्रत्ययो भवति, नकारोऽन्तो ह्रस्वश्च भवति । शृङ्खला लोहरज्जुः, शृङ्खलः शृङ्खलं वा ॥ ४९८ ॥

शमि-कमि-पलिभ्यो बलः ॥ ४९९ ॥

एभ्यो बलः प्रत्ययो भवति । शमूच् उपशमे शम्बलं-पाथेयम् । कमूङ् कान्तौ, कम्बलः-ऊर्णापटः । पल गतौ, पल्वलम् अकृत्रिमोदकस्थानविशेषः ॥ ४९९ ॥

तुल्वलेल्वलादयः ॥ ५०० ॥

तुल्वलादयः शब्दा वलप्रत्यान्ता निपात्यन्ते । तुलील्योर्णि-लुग्गुणाभावश्च । तुल्वलः-ऋषिः, यस्य तौल्वलिः पुत्रः । इल्वलः-असुरः, योऽगस्त्येन जग्धः, मत्स्यः, यूपश्च । इल्वलाः-तिस्रो मृगशिरःशिरस्ताराः । आदिग्रहणात् शाल्वलादयो भवन्ति ॥ ५०० ॥

शीङस्तलक्पाल-वालण्-वलण्-वलाः ॥ ५०१ ॥

शीङ्क् स्वप्ने, इत्यस्मात् तलक्-पाल-वालण्-वलण् वल इत्येते प्रत्यया भवन्ति । शीतलं-अनुष्णम्, शेपालम्, जपादित्वात् पस्य वत्वे शेवालम्, शैवालम्, शैवलम्, शेवलं पञ्चकमपि जलमलवाचि ॥ ५०१ ॥

रुचि-कुटि-कुषि-कशि-शालि-द्रुभ्यो मलक् ॥ ५०२ ॥

एभ्यः किन् मलः प्रत्ययो भवति । रुचि अभिप्रीत्यां च, रुक्मलं-सुवर्णम्, न्यङ्क्वादित्वात् कत्वम् । कुटत् कौटिल्ये, कुट्मलम् मुकुलम् । कुषृश् निष्कर्षे, कुष्मलं तदेव, बिलं च । कश शब्दे तालव्यान्तः, कश्मलं-मलिनम् । शाडृङ् श्लाघायाम्, लत्वे शाल्मलः-वृक्षविशेषः । द्रुं गतौ, द्रुमलं-जलं, वनं च ॥ ५०२ ॥

कुशि-कमिभ्यां कुल-कुमौ च ॥ ५०३ ॥

आभ्यामलक् प्रत्ययो भवति । अनयोश्च यथासंख्यं कुल-कुम इत्यादेशौ च । कुश्च् श्लेषणे, कुल्मलं—छेदनम् । कमूङ् कान्तौ, कुम्मलं-पद्मम् ॥ ५०३ ॥

पतेः सलः ॥ ५०४ ॥

पत्लृ गतौ, इत्यस्मात् सलः प्रत्ययो भवति । पत्सलः-प्रहारः, गोमान्, आहारश्च ॥ ५०४ ॥

लटि-खटि-खलि-नलि-कण्यशौ-सृ-शॄ-कॄ-गॄ-दॄ-पॄ-शपि-श्या-शा-ला-पदि-हृसीण्भ्यो वः ॥ ५०५ ॥

एभ्यः वः प्रत्ययो भवति । लट बाल्ये, लट्वा-क्षुद्रचटका कुसुम्भं च । खट काङ्क्षे, खट्वा-शयनयन्त्रम् । खल संचये च । खल्वं-निम्नं खलीनं च, खल्वा-दृतिः । णल गन्धे, नल्वः-भूमानविशेषः । कण शब्दे, कण्वः-ऋषिः, कण्वं-पापम् । अशौटि व्याप्तौ, अश्वः-तुरगः । सृं गतौ, सर्वः-शम्भुः । सर्वादिश्च कृत्स्नार्थे । शॄष् हिंसायाम्, शर्वः-शम्भुः । कॄत् विक्षेपे, कर्वः-आखुः समुद्रः, निष्पत्तिक्षेत्रं च । गॄत् निगरणे, गर्वः-अहंकारः । दॄश् विदारणे, दर्वाः-जनपदः, दर्वः-हिंस्रः । पॄश् पालन-पूरणयोः, पर्वः-रुद्रः, काण्डं च । शपीं आक्रोशे, शप्वः-आक्रोशः । श्यैङ् गतौ, श्यावः वर्णः । शोंच् तक्षणे, शावः-तिर्यग्बालः । लांक् आदाने लाव-पक्षिजातिः । पदिच् गतौ पद्वः-रथः, वायुः, भूर्लोकश्च । हृसः शब्दे, हृस्वः-लघुः । इण्क् गतौ, एवः-केवलः एवेत्येवधारणे निपातश्च ॥ ५०५ ॥

शीङापो ह्रस्वश्च वा ॥ ५०६ ॥

आभ्यां वः प्रत्ययो ह्रस्वश्च वा भवति । शीङ्क् स्वप्ने, शिवं-क्षेमम्, सुखं, मोक्षपदं च, शिवा-हरीतकी च, शेवं-धनम्, शेवः-अजगरः, सुखकृच्च, शेवा-प्रचला निद्राविशेषः, मेढ्रश्च । आप्लृंट् व्याप्तौ, अप्वा-देवायुधम्, आप्वा-वायुः ॥ ५०६ ॥

उर्देर्ध च ॥ ५०७ ॥

उर्दि मान-क्रीडयोश्च, इत्यस्माद् वः प्रत्ययो भवति, धकारश्चान्तादेशो भवति । ऊर्ध्वः-उद्वर्ष्मा, ऊर्ध्वम्-उपरि, ऊर्ध्वं परस्तात् ॥ ५०७ ॥

गन्धेरर्चान्तः ॥ ५०८ ॥

गन्धिण् अर्दने, इत्यस्माद् वः प्रत्ययोऽर् चान्तो भवति । गन्धर्वः-गाथकः, देवविशेषश्च ॥ ५०८ ॥

लषेर्लिष् च वा ॥ ५०९ ॥

लषी कान्तौ, इत्यस्माद् वः प्रत्ययोऽस्य च लिष् इत्यादेशो वा भवति । लिष्वः-लम्पटः, कान्तः, दयितश्च । लष्वः-अपत्यम्, ऋषिस्थानं च ॥ ५०९ ॥

सलेर्णिद् वा ॥ ५१० ॥

सल गतौ, इत्यस्माद् वः प्रत्ययो भवति, स च णिद्वा भवति । साल्वाः, सल्वाश्च-जनपदः क्षत्रियाश्च ॥ ५१० ॥

निघृषीष्युषि-श्रु-प्रुषि-क्रिणि-विशि-विल्यविपॄभ्यः कित् ॥ ५११ ॥

एभ्यः किद् वः प्रत्ययो भवति । घृषू संघर्षे, निपूर्वः निघृष्वः-अनुकूलः, सुवर्णनिकषोपलः, वायुः, क्षुरश्च । इषत् इच्छायाम्, इष्वः-अभिलषितः, आचार्यश्च, इष्वा-

अपत्यसंततिः । ऋषैत् गतौ, ऋष्वः-रिपुः, हिंस्रश्च । रिषेर्व्यञ्जनादेः केचिदिच्छन्ति, रिष्वः । स्रु गतौ, स्रुवः-हवनभाण्डम् । प्रुषू दाहे, प्रुष्वा-निवृत्तिः जललवश्च । किणः सौत्रः, किण्वं-सुराबीजम् । विशंत् प्रवेशने, विश्वं-जगत् सर्वादि च । बिलत् भेदने, बिल्वः-मालूरः । अव रक्षणादौ, अवेति, अव्ययम् । पॄश् पालन-पूरणयोः, पूर्वः-दिक्कालनिमित्तः ॥ ५११ ॥

नञो भुवो डित् ॥ ५१२ ॥

नञ्पूर्वाद् भवतेर्डिद् वः प्रत्ययो भवति । अभ्वम्-अद्भुतम् ॥ ५१२ ॥

लिहेर्जिह च ॥ ५१३ ॥

लिहींक् आस्वादने, इत्यस्माद् वः प्रत्ययो भवत्यस्य च जिह इत्यादेशो भवति । जिह्वा-रसना ॥ ५१३ ॥

प्रह्वाह्वायह्वा-स्व-च्छेत्रा-ग्रीवा-मीवाऽवादयः ॥ ५१४ ॥

प्रह्वादयः शब्दा वप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते, प्रपूर्वस्य ह्वयतेर्वादेर्लोपो यततेर्वा ह्वादेशश्च । प्रह्वः-प्रणतः, आह्वयतेराह च आह्वा-कण्ठः । यमेर्यसेर्वा हश्च, यह्वा-बुद्धिः । अस्यतेरलोपश्च । स्वः-आत्मा, आत्मीयं, ज्ञातिः, धनं च । छ्यतेश्छिदेर्वा छेभावश्च, छेवा-उच्छित्तिः । ग्रन्थतेर्गिरतेर्वा ग्रीभावश्च ग्रीवा । अमेरीच्चान्तो दीर्घश्च वा अमीवा-बुभुक्षा, आमीवा-व्याधिः । मिनोतेर्दीर्घश्च । मीवा-मनः, उदकं च । तदेतत् त्रयमपि तन्त्रेणावृत्त्या वा निर्दिष्टम् । अवतेर्वलोपाभावश्च, अव्वा-माता । आदिशब्दाद् प्वादयो भवन्ति ।५१४।

वडि-वटि-पेलृ-चणि-पणि-पल्ल-वल्लेरवः ॥ ५१५ ॥

एभ्यः अवः प्रत्ययो भवति । वड आग्रहणे सौत्रः, वडवा-अश्वा । वट वेष्टने, वटवा-सैव । पेलृ गतौ, पेलवं-निःसारम् । चण हिंसादानयोश्च चणवः-अवरधान्यविशेषः । पणि व्यवहार-स्तुत्योः, पणवः-वाद्यजातिः । पल्ल गतौ, पल्लवः-किसलयम् । वल्लि संवरणे, वल्लवः-गोपः ॥ ५१५ ॥

मणि-वसेर्णित् ॥ ५१६ ॥

आभ्यां णिद् अवः प्रत्ययो भवति । मण शब्दे, माणवः-शिष्यः । वसं निवासे, वासवः-शक्रः ॥ ५१६ ॥

मलेर्वा ॥ ५१७ ॥

मलि धारणे, इत्यस्माद् अवः प्रत्ययो भवति, स च णिद्वा भवति । मालवाः-जनपदः, मलवः-दानवः ॥ ५१७ ॥

किति-कुडि-कुरि-मुरि-स्थाभ्यः कित् ॥ ५१८ ॥

एभ्यः किद् अवः प्रत्ययो भवति । कित् निवासे, कितवः-द्यूतकारः । कुडत् बाल्ये

च । कुडव:-मानम्, लत्वे कुलवः-स एव, नालीद्वयं च । कुरत् शब्दे, कुरवः-पुष्पवृक्ष-जातिः । मुरत् संवेष्टने, मुरवः-मानविशेषः, वाद्यजातिश्च । ष्ठां गतिनिवृत्तौ, स्थवः-अजावृषः ॥ ५१८ ॥

कैरव-भैरव-मुतव-कारण्डवादीनवादयः ॥ ५१९ ॥

कैरवादयः शब्दा अवप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते । कृभृगोः कैर-भैरावादेशौ । कैरवं-कुमुदम्, भैरवः-भर्गः, भयानकश्च । मिनोतेर्मुत् च, मुतवः-मानविशेषः । कृगाऽण्डोऽन्तो वृद्धिश्च, कारण्डवः-जलपक्षी । आङ्पूर्वाद् दीङो नोऽन्तश्च । आदीनवः-दोषः । आदि-ग्रहणात् कोद्रवः-कोटवादयोपि भवन्ति ॥ ५१९ ॥

शृणातेरावः ॥ ५२० ॥

शृश् हिंसायाम्, इत्यस्माद् आवः प्रत्ययो भवति । शरावः–मल्लकः ॥ ५२० ॥

प्रथेरिवट् पृथ् च ॥ ५२१ ॥

प्रथिष् प्रख्याने, इत्यस्मादिवट्प्रत्ययो भवत्यस्य च पृथ् इत्यादेशो भवति । पृथिवी–भूः ॥ ५२१ ॥

पलि-सचेरिवः ॥ ५२२ ॥

पलण् रक्षणे, षचि सेवने, इत्याभ्यामिवः प्रत्ययो भवति । पलिवः-गोप्ता । सचिवः-सहायः ॥ ५२२ ॥

स्पृशेः श्वः पार् च ॥ ५२३ ॥

स्पृशंत् संस्पर्शे, इत्यस्मात् श्वः प्रत्ययो भवत्यस्य च पार् इत्यादेशो भवति । पार्श्वं-स्वाङ्गम्, समीपं च । पार्श्वः-भगवांस्तीर्थङ्करः ॥ ५२३ ॥

कुडि-तुडयडेरुवः । ५२४ ॥

एभ्य उवः प्रत्ययो भवति । कुडत् बाल्ये च, कुडुवं-प्रसृतहस्तमानं च । तुडत् तोडने, तुडुवम् अपनेयद्रव्यम् । अड उद्यमे, अडुवः–प्लवः ॥ ५२४ ॥

नी-ह्विण्-ध्यै-प्या-पा-दा-माभ्यस्त्वः ॥ ५२५ ॥

एभ्यः त्वः प्रत्ययो भवति । णींग् प्रापणे, नेत्वं-द्यावा-पृथिव्यौ, चन्द्रश्च । हुंक् दानादनयोः, होत्वं–यजमान, समुद्रश्च । इंण्क् गतौ, एत्वम्–गमनपरम् । ध्यैं चिन्तायाम्, ध्यात्वं-ब्राह्मणः । प्यैङ् वृद्धौ, प्यात्वं-ब्राह्मणः, समुद्रः, नेत्रं च । पां पाने, पात्वम्-पात्रम् । डुदांग्क् दाने, दात्वः-आयुक्तः, यज्वा, यज्ञश्च । मांक् माने, मात्वम्–प्रमेयद्रव्यम् ॥५२५॥

कृ-जन्येधि-पाभ्य इत्वः ॥ ५२६ ॥

एभ्यः इत्वः प्रत्ययो भवति । डुकृंग् करणे, करित्वः-करणशीलः । जनैचि प्रादु-

भावे, जनित्वः-लोकः, माता-पितरौ, द्यावा-पृथिव्यौ च। जनित्वं-कुलम्। एधि वृद्धौ, एधित्वः-अग्निः, समुद्रः, शैलश्च पां पाने, पेत्वम्-तप्तभूमिप्रदेशः, अमृतं, नेत्रं, सुखं, मानं च ॥ ५२६ ॥

पा-दा-वम्यमिभ्यः शः ॥ ५२७ ॥

एभ्यः शः प्रत्ययो भवति। पांक् रक्षणे, पाशः-बन्धनम्। डुदांग्क् दाने, दाशः-कैवर्तः। टुवम् उद्गिरणे, वंशः-वेणुः। अम गतौ, अंशः-भागः ॥ ५२७ ॥

कृ-वृ-भृ-वनिभ्यः कित् ॥ ५२८ ॥

एभ्यः कित् शः प्रत्ययो भवति। डुकृंग् करणे, कृशः-तनुः। वृग्ट् वरणे, वृशं-शृङ्गबेरम्, मूलकं, लशुनं च। टुडुभृंग्क् पोषणे च, भृशम्-अत्यर्थम्। वन भक्तौ, वशः-आयत्तः ॥ ५२८ ॥

कोर्वा ॥ ५२९ ॥

कुङ् शब्दे, इत्यस्मात् शः प्रत्ययो भवति, स च किद्वा भवति। कुशः-दर्भः। कोशः-सारम्, कुड्मलं च ॥ ५२९ ॥

क्लिशः के च ॥ ५३० ॥

क्लिशौश् विबाधने, इत्यस्मात् शः प्रत्ययो भवत्यस्य च के इत्यादेशो भवति। केशाः मूर्धजाः ॥ ५३० ॥

उरेरशक् ॥ ५३१ ॥

उर गतौ इत्यस्मात्, सौत्राद् अशक् प्रत्ययो भवति। उरशः ऋषिः ॥ ५३१ ॥

कलेष्टित् ॥ ५३२ ॥

कलि शब्द-संख्यानयोः, इत्यस्मात् टिद् अशक् प्रत्ययो भवति। कलशः-कुम्भः। कलशी दधिमन्थनभाजनम् ॥ ५३२ ॥

पलेराशः ॥ ५३३ ॥

पल गतौ, इत्यस्माद् आशः प्रत्ययो भवति। पलाशः-ब्रह्मवृक्षः ॥ ५३३ ॥

कनेरीश्चातः ॥ ५३४ ॥

कनै दीप्त्यादौ, इत्यस्माद् आशः प्रत्ययो भवति, ईकारश्चाकारस्य भवति। कीनाशः-कर्षकः, वर्णसङ्करः, कदर्यश्च, तथा—

लुब्धः कीनाशः स्यात् कीनाशोऽप्युच्यते कृतघ्नश्च।
योऽश्नात्यामं मांसं स च कीनाशो यमश्चैव ॥ ५३४ ॥

कुलि-कनि-कणि-पलि-वडिभ्यः किशः ॥ ५३५ ॥

एभ्यः किद् इशः प्रत्ययो भवति । कुल बन्धुसंस्त्यानयोः, कुलिशं-वज्रम् । कनै दीप्त्यादौ, कण शब्दे, कनिशं, कणिशं च-सस्यमञ्जरी । पल गतौ, पलिशं-यत्र स्थित्वा मृगाः व्यापाद्यन्ते । वड आग्रहणे सौत्रः, बडिशं-मत्स्यग्रहणम् ।। ५३५ ।।

बलेर्णिद्वा ॥ ५३६ ॥

बल प्राणन-धान्यावरोधयोः, इत्यस्मात् किशः स च णिद्वा भवति । बालिशः-मूर्खः, बलिशः-मूर्खः, बलिशं-बडिशम् ।। ५३६ ।।

तिनिशेतिशादयः ॥ ५३७ ॥

तिनिशादयः शब्दाः किशप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते, तनेरिश्चातः । तिनिशः–वृक्षः । इणस्तोऽन्तश्च, इतिशः-गोत्रकृदृषिः । आदिग्रहणादन्येऽपि ।। ५३७ ।।

मस्ज्यङ्किभ्यामुशः ॥ ५३८ ॥

आभ्याम् उशः प्रत्ययो भवति । टुमस्जोंत् शुद्धौ, 'न्यङ्कुद्गमेघादयः' इति गः । मद्गुशः-नकुलः । अकुङ् लक्षणे, अङ्कुशः-सृणिः ।। ५३८ ।।

अर्तीण्भ्यां पिश-तशौ ॥ ५३९ ॥

आभ्यां यथासंख्यं पिश तश इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः । ऋक् गतौ, अर्पिशम्–आर्द्रमांसम् , बालवत्साया दुग्धं च । इंण्क् गतौ, एतशः–अश्वः, ऋषिः, वायुः, अग्निः, अर्कश्च ।। ५३९ ।।

वृ-कॄ-तॄ-मीङ्-माभ्यः षः ॥ ५४० ॥

एभ्यः षः प्रत्ययो भवति । वृग्ट् वरणे वर्षः-भर्ता, वर्षः- संवत्सरः । वर्षाः–ऋतुः । कॄत् विक्षेपे, कर्षः–उन्मानविशेषः । तॄ प्लवनतरणयोः, तर्षः-प्लवः, हर्षश्च । मीङ्च् हिंसायाम् , मेषः–उरभ्रः । मांक् माने, माषः–धान्यविशेषः, हेमपरिमाणं च ।। ५४० ।।

योरूच्च वा ॥ ५४१ ॥

युक् मिश्रणे, इत्यस्मात् षः प्रत्ययो भवति, ऊकारश्चान्तादेशो वा भवति । यूषः–पेयविशेषः, यूषा-छाया, योषा-स्त्री ।। ५४१ ।।

स्नु-पू-सूमूदर्कलूभ्यः कित् ॥ ५४२ ॥

स्न्वादिभ्योऽर्कपूर्वाच्च लुनातेः कित् षः प्रत्ययो भवति । स्नुक् प्रस्रवणे, स्नुषा-पुत्रवधूः । पूग्श् पवने, पूषः-पवनभाण्डम् , शूर्पादिः । षूत् प्रेरणे, सूषः-बलम् । मूङ् बन्धने मूषा-लोहरक्षणभाजनम् । लूग्श् छेदने, अर्कपूर्वः, अर्कलूषः-ऋषिः ।। ५४२ ।।

श्लिषेः शे च ॥ ५४३ ॥

श्लिषंच् आलिङ्गने, इत्यस्मात् षः प्रत्ययो भवत्यस्य च शे इत्यादेशो भवति । शेषः-नागराजः । ५४३।।

कोरषः ।। ५४४ ।।

कुङ् शब्दे, इत्यस्माद् अषः प्रत्ययो भवति । कवषः-क्रोधी, शब्दकारश्च ।।५४४।।

युजलेराषः ।। ५४५ ।।

आभ्याम् आषः प्रत्ययो भवति । युक् मिश्रणे, यवाषः-दुरालभा । जल घात्ये, जलाषं-जलम् ।। ५४५ ।।

अर्पेरिषः ।। ५४६ ।।

ऋक् गतौ, इत्यस्माण्ण्यन्ताद् इषः प्रत्ययो भवति । अर्पिषम्-आर्द्रमांसम् ।।५४६।।

मह्यविभ्यां टित् ।। ५४७ ।।

आभ्यां टिद् इषः प्रत्ययो भवति । मह् पूजायाम्, महिषः-सैरिभः, राजा च, महिषी-राजपत्नी, सैरिभी च । अव रक्षणादौ, अविषः-समुद्रः, राजा, पर्वतश्च । अविषी-द्यौः, भूमिः, गङ्गा च ।। ५४७ ।।

रुहेर्वृद्धिश्च ।। ५४८ ।।

रुहं जन्मनि, इत्यस्मात् टिद् इषः प्रत्ययो भवति, वृद्धिश्चास्य भवति । रौहिषं-तृणविशेषः, अन्तरिक्षं च, रौहिषः-मृगः । रौहिषी-वात्या, मृगी, दूर्वा च ।। ५४८ ।।

अमिमृभ्यां णित् ।। ५४९ ।।

आभ्याम् इषः प्रत्ययो भवति, स च णिद् भवति । अम गतौ, आमिषं-भक्ष्यम् । मृश् हिंसायाम्, मारिषः-हिंस्रः ।। ५४९ ।।

तवेर्वा ।। ५५० ।।

तव गतौ, इत्यस्मात् सौत्रात् टिद् इषः प्रत्ययो भवति, स च णिद्वा भवति । ताविषः, तविषश्च-स्वर्गः । ताविषं, तविषं च बलं तेजश्च । ताविषी, तविषी च वात्या, देवकन्या च ।। ५५० ।।

कलेः किल्ब च ।। ५५१ ।।

कलि शब्द-संख्यानयोः, इत्यस्मात् टिद् इषः प्रत्ययो भवत्यस्य च किल्ब इत्यादेशो भवति । किल्बिषं-पापम् , किल्बिषी-वेश्या, रात्रिः, पिशाची च ।।५५१।।

नञो व्यथेः ।। ५५२ ।।

नञ्पूर्वात् व्यस्थिष् भय-चलनयोः, इत्यस्मात् टिद् इषः प्रत्ययो भवति । अव्यथिषः-क्षेत्रज्ञः, सूर्यः, अग्निश्च । अव्यथिषी-पृथिवी ।। ५५२ ।।

कृतृभ्यामीषः ।। ५५३ ।।

आभ्याम् ईषः प्रत्ययो भवति । कॄत् विक्षेपे, करीषः-शुष्कगोमयरजः । तॄ प्लवन-तरणयोः, तरीषः-समर्थः स्तम्भः, प्लवश्च ।। ५५३ ।।

ऋजि-शॄ-पॄभ्यः कित् ॥ ५५४ ॥

एभ्यः किद् ईषः प्रत्ययो भवति । ऋजि गत्यादौ, ऋजीषः-अवस्करः ऋजीषम्-घनम् । शॄश् हिंसायाम्, शिरीषः-वृक्षः । पॄश् पालन-पूरणयोः, पुरीषं शकृत् ।। ५५४ ।।

अमेर्वरादिः ॥ ५५५ ॥

अम गतौ, इत्यस्माद् वरादिः ईषः प्रत्ययो भवति। अम्बरीषं-भ्राष्ट्रं, व्योम च । अम्बरीषः-आदिनृपः ।। ५५५ ।।

उषेर्णोऽन्तश्च ॥ ५५६ ॥

उषू दाहे, इत्यस्माद् ईषः प्रत्ययो भवति, णकारश्चान्तो भवति । उष्णीषः मुकुटं, शिरोवेष्टनं च ।। ५५६ ।।

ऋ-पॄ-नहि-हनि-कलि-चलि-चपि-वपि-कृपि-हयिभ्य उषः ॥ ५५७ ॥

एभ्यः उषः प्रत्ययो भवति । ऋश् गतौ, अरुषः-व्रणः, हयः, आदित्यः, वर्णः, रोषश्च । पॄश् पालन-पूरणयोः, परुषः-कर्कशः । णहींच् बन्धने, नहुषः-पूर्वः राजा । हनंक् हिंसा-गत्योः, हनुषः-क्रोधः, राक्षसश्च । कलि शब्द-संख्यानयोः, कलुषम्-अप्रसन्नं, पापं च । चल कम्पने, चलुषः-वायुः । चप सान्त्वने, चपुषः-शकुनिः । डुवपीं बीजसंताने, वपुषः-वर्णः । कृपौङ् सामर्थ्ये, कल्पुषः-क्रियानुगुणः । हय क्लान्तौ च, हयुषा-औषधिः ।।५५७।।

वि-दि-पॄभ्यां कित् ॥ ५५८ ॥

आभ्यां किद् उषः प्रत्ययो भवति । विदक् ज्ञाने, विदुषो-विद्वान् । पॄश्-पालन-पूरणयोः, पुरुषः-पुमान्, आत्मा च ।। ५५८ ।।

अपुष-धनुषादयः ॥ ५५९ ॥

अपुषादयः शब्दा उषप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते । आप्नोतेर्ह्रस्वश्च, अपुषः-अग्निः, सरोगश्च । दधातेर्धन् च, धनुषः-शैलः । आदिग्रहणाल्लसुषादयो भवन्ति ।। ५५९ ।।

खलि-फलि-वृ-पॄ-कॄ-जॄ-लम्बि-मञ्जि-पीयि-हन्यङ्गि-मङ्गि-गण्डयतिभ्य ऊषः ।५६०।

एभ्यः ऊषः प्रत्ययो भवति । खल संचये च, खलूषः-म्लेच्छजातिः । फल निष्पत्तौ, फलूषः-वीरुत् । वृग्ट् वरणे, वरूषः-भाजनम् । पॄश् पालन-पूरणयोः-परूषः, वृक्षविशेषः । कॄत् विक्षेपे, करूषाः-जनपदः । जॄष्च् जरसि, जरूषः-आदित्यः । लबुङ् अवस्रंसने च, लम्बूषः-नीरकदम्बः, निचुलश्च । मञ्ज , पीयिश्च सौत्रौ, मञ्जूषा काष्ठकोष्ठः, पीयूषं-प्रत्यग्रप्रसवक्षीरविकारः, अमृतं, घृतं च । हनंक् हिंसा-गत्योः, हनूषः-राक्षसः । अगु, गतौ

अङ्गूषः-शकुनिजातिः, हस्ती, बाणः, वेगश्च । मगु गतौ, मङ्गूषः-जलचरशकुनिः । गडु वदनैकदेशे, गण्डूषः-द्रवकवलः । ऋक् गतौ, अरूषः रविः ।। ५६० ।।

कोरदूषाटरूष-कारूष-शैलूषपिञ्जूषादयः ॥ ५६१ ॥

एते ऊषप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते । कुरेरदोऽन्तश्च, कोरदूषः-कोद्रवः । अटेराङ्पूर्वस्य चारोऽन्तश्च, आटरूषः-वासः । अटनं रूषतीति तु अटरूषः, पृषोदरादित्वात् । कृगो वृद्धिश्च, कारूषाः-जनपदः । शलेरै चातः, शैलूषः-नटः । पिजुण् हिंसादौ, पिञ्जूषः-कर्णशष्कुल्याभोगः । आदिशब्दात् प्रत्यूषाभ्यूषादयो भवन्ति ।। ५६१ ।।

कलेर्मषः ॥ ५६२ ॥

कलि शब्द-संख्यानयोः, इत्यस्मात् मषः प्रत्ययो भवति । कल्मषं-पापम् ।।५६२।।

कुलेश्च माषक् ॥ ५६३ ॥

कुल बन्धु-संस्त्यानयोः, इत्यस्मात् कलेश्च किद् माषः प्रत्ययो भवति । कुल्माषः-अर्धस्विन्नमाषादि, कल्माषः-शबलः ।। ५६३ ।।

मा-वा-वद्यमि-कमि हनि-मानि-कष्यशि-पचि-मुचि-यजि-वृ-तृभ्यः सः ।५६४।

एभ्यः सः प्रत्ययो भवति । मांक् माने, मासः-त्रिंशद्रात्रः । वांक् गति-गन्धनयोः, वासः-आटरूषकः । वद व्यक्तायां वाचि, वत्सः-तर्णकः, ऋषिः, प्रियस्य च पुत्रस्याख्यानम् । अम गतौ, अंसः-भुजशिखरम् । कमूङ् कान्तौ, कंसः-लोहजातिः, विष्णोररातिः, हिरण्यमानं च । हनंक् हिंसा-गत्योः, हंसः-श्वेतच्छदः । मानि पूजायाम्, मांसं-तृतीयो धातुः । कष हिंसायाम्, कक्षः-तृणम्, गहनारण्यं, शरीरावयवश्च । अशौटि व्याप्तौ, अक्षाः-प्रासकाः (पाशकाः), अक्षाणि-इन्द्रियाणि, रथचक्राणि च । डुपचींष् पाके, पक्षः-अर्धमासः, वर्गः, शकुन्यवयवः, सहायः, साध्यं च । मुच्लृंती मोक्षणे, मोक्षः-मुक्तिः । यजीं देवपूजादौ, यक्षः-गुह्यकः । वृग्श् वरणे, वर्सः-देशः, समुद्रश्च । तॄ प्लवन-तरणयोः, तर्सः-वीतंसः, सूर्यश्च । वर्सतर्सयोर्बाहुलकान्न षत्वम् ।। ५६४ ।।

व्यवाभ्यां तनेरीच्च वेः ॥ ५६५ ॥

वि अव इत्येताभ्यां परात् तनोतेः स प्रत्ययो भवति । वेरीकारश्चान्तादेशो भवति । वीतंसः-शकुन्यवरोधः । अवतंसः-कर्णपूरः ।। ५६५ ।।

प्लुषेः प्लष् च ॥ ५६६ ॥

प्लुषू दाहे, इत्यस्मात् सः प्रत्ययो भवत्यस्य च प्लष् इत्यादेशो भवति । प्लक्षं-नक्षत्रं, वृक्षश्च ।। ५६६ ।।

ऋजि-रिषि-कुषि-कृति-व्रश्च्युन्दि-शृभ्यः कित् ॥ ५६७ ॥

एभ्यः कित् सः प्रत्ययो भवति । ऋजि गत्यादौ, ऋक्षं-नक्षत्रम्, ऋक्षः-अच्छ-

भल्ल: । रिष हिंसायाम्, रिक्षा-यूकाण्डम्, लत्वे लिक्षा सैव । कुष्श् निष्कर्षे, कुक्ष:-गर्भ:, कुक्षं-गर्त: । कृतैत् छेदने, कृत्स:-गोत्रकृत्, ओदनं, वक्त्रं, दु:खजातं च । ओव्रश्चौत् छेदने, वृक्ष:-पादप: । उन्दैप् क्लेदने, उत्स:-समुद्र:, आकाशं, जलं, जलाशयश्च, उत्सं-स्रोत: । शॄश् हिंसायाम्, शीर्ष-शिर: ।। ५६७ ।।

गुधि-गृधेस्त च ॥ ५६८ ॥

आभ्यां कित् स: प्रत्ययस्तकारश्चान्तादेशो भवति । गुधच् परिवेष्टने, गुत्स:-रोष:, तृणजातिश्च । गृधूच् अभिकाङ्क्षायाम्, गृत्स:-विप्र:, श्वा, गृध्र:, अभिलाषश्च । तकारविधानमादिचतुर्थबाधनार्थम् ।। ५६८ ।।

तप्यणि-पन्यल्यवि-रधि-नभि-नम्यमि-चमि-तमि-चट्यति-पतेरस: ॥ ५६९ ॥

एभ्योऽस: प्रत्ययो भवति । तपं संतापे, तपस:-आदित्य:, पशु:, घर्म:, धर्मश्च । अण शब्दे, अणस:-शकुनि: । पनि स्तुतौ, पनस:-फलवृक्ष: । अली भूषणादौ, अलस:-निरुत्साह: । अव रक्षणादौ, अवस:-भानु:, राजा च । अवसं चापं, पाथेयं च । रधौच् हिंसा-संराद्ध्यो:, रध इटि तु परोक्षायामेव इति नागमे, रन्धस:-अन्धक-जाति: । णभच् हिंसायाम्, नभस:-ऋतु:, आकाश:, समुद्रश्च । णमं प्रह्वत्वे, नमस:-वेत्र:, प्रणामश्च । अम गतौ, अमस: काल:, आहार:, संसार:, रोगश्च । चमू अदने, चमस:-सोमपात्रम्, मन्त्रपूतं, पिष्टं च । चमसी-मुद्गादिभित्तकृता । तमूच् आङ्क्षायाम्, तमस: अन्धकार:, तमसा नाम नदी । चटण् भेदे, चटस:-चर्मपुट: । अत सातत्यगमने, अतस:-वायु:, आत्मा, वनस्पतिश्च, अतसी-ओषधि: । पत्लृं गतौ, पतस: पतङ्ग: ।। ५६९ ।।

सृ-वयिभ्यां णित् ॥ ५७० ॥

आभ्यां णिद् अस: प्रत्ययो भवति । सृं गतौ, सारस:-पक्षिविशेष: । वयि गतौ, वायस:-काक: ।। ५७० ।।

वहि-युभ्यां वा ॥ ५७१ ॥

आभ्याम् अस: प्रत्यय:, स च णिद्वा भवति । वहीं प्रापणे, वाहस:-अनड्वान्, शकटम्, अजगर:, वहनजीवश्च । वहस: अनड्वान्, शकटश्च । युक् मिश्रणे, यावसं-भक्तम्, तृणम्, मित्रं च, यवसम्-अश्वादिघास:, अन्नं च ।। ५७१ ।।

दिवादि-रभि-लभ्युरिभ्य: कित् ॥ ५७२ ॥

दिवादिभ्यो रभि-लभ्युरिभ्यश्च किद् अस: प्रत्ययो भवति । दीव्यते:, दिवस:-वासर: । व्रीड्यते: लत्वे, व्रीलस:-लज्जावान् । नृत्यते:, नृतस:-नर्तक: । क्षिप्यते:, क्षिपस:-योद्धा । सीव्यते:, सिवस:-श्लोक:, वस्त्रं च । श्रीव्यते:, श्रिवस:-गतिमान् । इष्यते:, इषस:-इष्वाचार्य: । रभिं राभस्ये, रभस: संरम्भ:, उद्धर्ष:, अगम्भीरश्च । डुलभिष् प्राप्तौ, लभस:-याचक:, प्राप्तिश्च । उरि: सौत्र:, उरस:-ऋषि: ।। ५७२ ।।

फनस-तामरसादयः ॥ ५७३ ॥

फनासादयः शब्दा असप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते । फण गतौ नश्च, फनसः-पनसः । तमेररोऽन्तो वृद्धिश्च, तामरसं-पद्मम् । आदिग्रहणात् कीकस-बुक्कसादयो भवन्ति ॥५७३॥

यु-बलिभ्यामासः ॥ ५७४ ॥

आभ्याम् आसः प्रत्ययो भवति । युक् मिश्रणे, यवासः-दुरालभा । बल प्राणन-धान्यावरोधयोः, बलासः-श्लेष्मा ॥ ५७४ ॥

किलेः कित् ॥ ५७५ ॥

किलत् श्वैत्य-क्रीडनयोः, इत्यस्मात् किद् आसः प्रत्ययो भवति । किलासं-सिध्मम्, किलासी-पाक-कर्परम् ॥ ५७५ ॥

तलि-कसिभ्यामीसण् ॥ ५७६ ॥

आभ्याम् ईसण् प्रत्ययो भवति । तलण् प्रतिष्ठायाम्, तालीसं-गन्धद्रव्यम् । कस गतौ, कासीसं-धातुजमौषधम् ॥ ५७६ ॥

सेर्डित् ॥ ५७७ ॥

षिंग्ट् बन्धने, इत्यस्मात् डिद् ईसण् प्रत्ययो भवति । सीसं-लौहजातिः ॥ ५७७ ॥

त्रपेरुसः ॥ ५७८ ॥

त्रपौषि लज्जायाम्, इत्यस्माद् उसः प्रत्ययो भवति । त्रपुसं-कर्कटिका । विधान-सामर्थ्यात् षत्वाभावः ॥ ५७८ ॥

पटि-वीभ्यां-टिस-डिसौ ॥ ५७९ ॥

आभ्यां यथासंख्यं टिसो डिद् इसश्च प्रत्ययौ भवति । पट गतौ, पट्टिसः-आयुध-विशेषः । वींक् प्रजनादौ, बिसं मृणालम् ॥ ५७९ ॥

तसः ॥ ५८० ॥

पटि-वीभ्यां तसः प्रत्ययो भवति । पट्टसः-त्रिशूलम् । वेतसः-वानीरः ॥ ५८० ॥

इणः ॥ ५८१ ॥

एतेस्तसः प्रत्ययो भवति । एतसः-अध्वर्युः ॥ ५८१ ॥

पीङो नसक् ॥ ५८२ ॥

पीङ्च् पाने, इत्यस्मात् किन्नसः प्रत्ययो भवति । पीनसः-श्लेष्मा ॥ ५८२ ॥

कृ-कुरिभ्यां पासः ॥ ५८३ ॥

आभ्यां पासः प्रत्ययो भवति । डुकृंग् करणे, कर्पासः-पिचुप्रकृतिः, वीरुच्च । कुरत् शब्दे, कूर्पासः-कञ्चुकः ॥ ५८३ ॥

कलि-कुलिभ्यां मासक् ॥ ५८४ ॥

आभ्यां किद् मासः प्रत्ययो भवति । कलि शब्दसंख्यानयोः, कल्मासं-शबलम् । कुल बन्धु-संस्त्यानयोः, कुल्मासः-अर्धस्विन्नं माषादि ।। ५८४ ।।

अलेरम्बुसः ॥ ५८५ ॥

अली भूषणादौ, इत्यस्माद् अम्बुसः प्रत्ययो भवति । अलम्बुसः-यातुधानः, अलम्बुसा नाम औषधिः ।। ५८५ ।।

लूगो हः ॥ ५८६ ॥

लुनातेर्हः प्रत्ययो भवति । लोहं-सुवर्णादि ।। ५८६ ।।

कितो गे च ॥ ५८७ ॥

कित् निवासे, इत्यस्मात् हः प्रत्ययो भवत्यस्य च गे इत्यादेशो भवति । गेहं-गृहम् ।। ५८७ ।।

हिंसेः सिम् च ॥ ५८८ ॥

हिसुप् हिंसायाम्, इत्यस्माद् हः प्रत्ययो भवत्यस्य च सिमित्यादेशो भवति । सिंहः-मृगराजः ।। ५८८ ।।

कॄ-पॄ-कटि-पटि-मटि-लटि-ललि-पलि-कल्यनि-रगि-लगेरहः ॥ ५८९ ॥

एभ्यः अहः प्रत्ययो भवति । कॄत् विक्षेपे, करहः-धान्यावपनम् । पॄश् पालन-पूरणयोः, परहः-शंकरः । कटे वर्षावरणयोः, कटहः-पर्जन्यः, कर्णवच्च कालायसभाजनम् । पट गतौ, पटहः-वाद्यविशेषः । मट सादे सौत्रः, मटहः-ह्रस्वः । लट बाल्ये, लटति-विलसति, लटहः-विलासवान् । ललिण् ईप्सायाम्, ललहः-लोलावान् । पल गतौ, पलहः-आवापः । कलि शब्दसंख्यानयोः, कलहः-युद्धम् । अनक् प्राणने, अनहः-नीरोगः । रगे शङ्कायाम्, रगहः-नटः । लगे सङ्गे, लगहः-मन्दः ।। ५८९ ।।

पुलेः कित् ॥ ५९० ॥

पुल महत्त्वे, इत्यस्मात् किद् अहः प्रत्ययो भवति । पुलहः-प्रजापतिः ।। ५९० ।।

वृ-कटि-शमिभ्य आहः ॥ ५९१ ॥

एभ्य आहः प्रत्ययो भवति । वृग्ट् वरणे, वराहः-सूकरः । कटे वर्षावरणयोः, कटाहः-कर्णवत् कालायसभाजनम् । समूच् उपशमे, शमाहः-आश्रमः ।। ५९१ ।।

विलेः कित् ॥ ५९२ ॥

विलत् वरणे, इत्यस्मात् किद् आहः प्रत्ययो भवति । विलाहः-रहः ।। ५९२ ।।

निर इण ऊहश् ॥ ५९३ ॥

निर्पूर्वात् इंणक् गतौ, इत्यस्मात् शिद् ऊहः प्रत्ययो भवति । निर्यूहः-सौधादि-काष्ठनिर्गमः ।। ५९३ ।।

दस्त्यूहः ॥ ५६४ ॥

ददातेः त्यूहः प्रत्ययो भवति । दात्यूहः-पक्षिविशेषः ।। ५९४ ।।

अनेरोकहः ॥ ५६५ ॥

अनक् प्राणने, इत्यस्मादोकहः प्रत्ययो भवति । अनोकहः-वृक्षः ।। ५९५ ।।

वलेरक्षः ॥ ५६६ ।

वलि संवरणे, इत्यस्माद् अक्षः प्रत्ययो भवति । वलक्षः-शुक्लः ।। ५९६ ।।

लाक्षा-द्राक्षामिक्षादयः ॥ ५६७ ॥

लाक्षादयः शब्दा अक्षप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते । लसेरा च, लाक्षा जतु । रसेर्द्रा च, द्राक्षा-मृद्वीका । आङ्पूर्वान्मृदेरन्त्यस्वरादेर्लुक् प्रत्ययादेरित्वं च । आमिक्षा-हविर्विशेषः । आदिग्रहणात् चुप मन्दायां गतौ इत्यस्य चोक्षः-ग्रामरागः, शुद्धं च । एवं पीयूक्षादयोऽपि भवन्ति ।। ५९७ ।।

समिण्-निकषिभ्यामाः ॥ ५६८ ॥

सम्पूर्वादिण्क् गतौ, इत्यस्माद् निपूर्वात् कष हिंसायाम्, इत्यस्माच्च आः प्रत्ययो भवति । समया पर्वतम्, निकषा पर्वतम् । समीप-असूयावाचिनावेतौ ।। ५९८ ।।

दिवि-पुरि-वृषि-मृषिभ्यः कित् ॥ ५६९ ॥

एभ्यः किद् आः प्रत्ययो भवति । दिवूच् क्रीडा-जयेच्छा-पणि-द्युति-स्तुति-गतिषु, दिवा-अहः । पुरत् अग्रगमने, पुरा-भूतकालवाची । वृषू सेचने, वृषा-प्रबलमित्यर्थः । मृषीच् तितिक्षायाम्, मृषा-अभूतमित्यर्थः ।। ५९९ ।।

वेः साहाभ्याम् ॥ ६०० ॥

विपूर्वाभ्यां षोंच् अन्तकर्मणि, ओहांक् त्यागे, इत्येताभ्याम् आः प्रत्ययो भवति । विसाः-चन्द्रमाः, बुद्धिश्च । तालव्यान्तोऽयमित्येके विहाः-विहगः, स्वर्गश्च ।। ६०० ।।

वृ-मिथि-दिशिभ्यस्थ-य-ष्ट्याश्चान्ताः ॥ ६०१ ॥

एभ्यः किद् आः प्रत्ययो भवति । यथासंख्यं थकार-यकार-ष्ट्यकाराश्चान्ता भवन्ति । वृग्ट् वरणे, वृथा-अनर्थकम् । मिथृग् मेधा-हिंसयोः, मिथ्या-मृषा, निष्फलं च । दिशींत् अतिसर्जने: दिष्ट्या-प्रीतिवचनम् ।। ६०१ ।।

मुचि-स्वदेर्ध च ॥ ६०२ ॥

आभ्यां किद् आः प्रत्ययो भवति, धकारश्चान्तस्य भवति । मुच्लृंती मोक्षणे, मुधा-अनिमित्तम् । ष्वदि आस्वादने, स्वधा-पितृबलिः ।। ६०२ ।।

सोर्ब्रूग आह च ॥ ६०३ ॥

सुपूर्वात् ब्रुतेः आः प्रत्ययो भवत्यस्य चाहादेशो भवति । स्वाहा-देवतातर्पणम् ।६०३।

सनि-क्षमि-दुषेः ॥ ६०४ ॥

एभ्यो धातुभ्य आः प्रत्ययो भवति । षणूयी दाने, सना-नित्यम् । क्षमौषि सहने, क्षमा-भूः, क्षान्तिश्च । दुषंच् वैकृत्ये, दोषा-रात्रिः ॥ ६०४ ॥

डित् ॥ ६०५ ॥

धातोर्बहुलम् आः प्रत्ययो भवति, स च डिद् भवति । मनिच् ज्ञाने, मा-निषेधे । षोंच् अन्तकर्मणि, सा-अवसानम् । अनक् प्राणने, आ-स्मरणादौ । प्रीङ्च् प्रीतौ, प्रा स्मयने । हनक् हिंसागत्योः, हा-विषादे । वन भक्तौ, वा-विकल्पे । रांक् दाने, रा-दीप्तिः । भांक् दीप्तौ, भा-कान्तिः सह पूर्वः सभा-परिषत् । नाम्नीति सहस्य सः ॥ ६०५ ॥

स्वरेभ्य इः ॥ ६०६ ॥

स्वरान्तेभ्यो धातुभ्य इः प्रत्ययो भवति । जि अभिभवे, जयिः-राजा । हिंट् गति-वृद्ध्योः, हयिः-कामः । रुक् शब्दे, रविः-सूर्यः । कुंक् शब्दे, कविः-काव्यकर्त्ता । ष्टुंग्क् स्तुतौ, स्तविः-उद्गाता । लूगश् छेदने, लविः-दात्रम् । पूग्श् पवने, पविः-वायुः, वज्रं, पवित्रं च । भू सत्तायाम् , भविः-सत्ता, चन्द्रः, विधिश्च । ऋक् गतौ, अरिः-शत्रुः । हृंग् हरणे, हरिः-इन्द्रः, विष्णुः, चन्दनम् , मर्कटादिश्च । हरयः-शक्राश्वाः । टुडुभृंग्क् पोषणे च, भरिः-वसुधा । सृं गतौ, सरिः-मेघः । पॄश् पालनपूरणयोः, परिः-भूमिः । तॄ प्लवन-तरणयोः, तरिः-नौः । दॄश् विदारणे, दरिः-महाभिदा । मॄश् हिंसायाम् , ण्यन्तः, मारिः-अशिवम् । वॄग्श् वरणे, वरिः-विष्णुः । ण्यन्ताद् वारिः-हस्तिबन्धनम् , वारि-जलम् ।६०६।

पदि-पठि-पचि-स्थलि-हलि-कलि-बलि-वलि-वल्लि-पल्लि-कटि-चटि-वटि-बधि-गाध्यर्चि-वन्दि-नन्द्यवि-वशि-वाशि--काशि-छर्दि--तन्त्रि-मन्त्रि--खण्डि-मण्डि-चण्डि-यत्यञ्जि-मस्यसि-वनि-ध्वनि-सनि-गमि-तमि-ग्रन्थि-श्रन्थि-जनि-मण्यादिभ्यः ॥६०७॥

एभ्यः इः प्रत्ययो भवति । पदिच् गतौ, पदिः-राशिः, मोक्षमार्गश्च । पठ व्यक्तायां वाचि, पठिः-विद्वान् । डुपचींष् पाके, पचिः-अग्निः । ष्ठल स्थाने, स्थलिः-दानशाला । हल विलेखने, हलिः-हलः । कलि शब्द-संख्यानयोः, कलिः-कलहः, युगं च । बल प्राणन-धान्यावरोधयोः, बलिः-देवतोपहारः दानवश्च । वलि-वल्लि संवरणे, वलिः-त्वक्तरङ्गः । वल्लिः-हिरण्य शलाका, लता च । पल्ल गतौ, पल्लिः-मुनीनामाश्रमः, व्याधसंस्त्यायश्च । कटे वर्षावरणयोः, कटिः-स्वाङ्गम् । चटण् भेदे, चटिः-वर्णः । वट वेष्टने, वटिः-गुलिका, तन्तुः सूना च, नाभिः, वर्णश्च । बधि बन्धने, बधिः-क्रियाशब्दः । गाधृङ् प्रतिष्टालिप्सा-ग्रन्थेषु, गाधिः-विश्वामित्रपिता । अर्च पूजायाम् , अर्चिः-अग्निशिखा । वदुङ् स्तुत्यभि-वादनयोः, वन्दिः-ग्रहणिः । टुनदु समृद्धौ, नन्दिः-ईश्वरप्रतीहारः, भेरिश्च । अव रक्षणादौ, अविः-ऊर्णायुः । वशक् कान्तौ, वशिः-वशिता । वाशिच् शब्दे, वाशिः-प्रकान्तिः, रश्मिः-

गोमायुः, अग्निः, शब्दः, प्रजनप्राप्ता, चतुष्पात्, जलदश्च। काश्टृङ् दीप्तौ, काशयः-जनपदः। छर्दण् वमने, छर्दिः-वमनम्। तन्त्रिण् कुटुम्बधारणे, तन्त्रिः-वीणासूत्रम्। मन्त्रिण् गुप्तभाषणे, मन्त्रिः-सचिवः। खडुण् भेदे, खण्डिः-प्रद्वारम्। मडु भूषायाम्, मण्डिः-मृद्भाजनपिधानम्। चडुङ् कोपे, चण्डिः-भामिनी। यतैङ् प्रयत्ने, यतिः-भिक्षुः। अञ्जौप् व्यक्तिम्रक्षणगतिषु, अञ्जिः-सज्जः, पेषणी, पेजः, गतिश्च। समञ्जिः-शिश्नः। मसैच् परिणामे, मसिः-शस्त्री। असूच् क्षपणे असिः-खड्गः। वनूयी याचने, वनिः-साधुः, याच्ञा, शकुनिः, अग्निश्च। ध्वन शब्दे, ध्वनिः-नादः। षण भक्तौ, सनिः-संभक्ता, पन्थाः, दानं, म्लेच्छः, नदीतटं च। गम्लृं गतौ, गमिः-आचार्यः। तमूच् काङ्क्षायाम्, तमिः-अलसः। ग्रन्थश् संदर्भे, श्रन्थश् मोचन-प्रतिहर्षयोः, ग्रन्थिः, श्रन्थिश्च पर्व संघ्यादि। जनैचि प्रादुर्भावे, जनिः-वधूः, कुलाङ्गना, भगिनी, प्रादुर्भावश्च। मण शब्दे, मणिः-रत्नम्। आदिग्रहणात् वहीं प्रापणे, वहिः-अश्वः। खादृ भक्षणे, खादिः-श्वा। दधि धारणे, दधि-क्षीरविकारः। खल संचये च, खलिः-पिण्याकः। शचि व्यक्तायां वाचि, शची-इन्द्राणी, 'इतोऽक्त्यर्थात्' इति गौरादित्वाद् वा ङीः इत्यादयोऽपि भवन्ति ॥ ६०७ ॥

किलि-पिलि-पिशि-चिटि-त्रुटि-शुण्ठि-तुण्डि-कुण्डि-भण्डि-हुण्डि-हिण्डि-पिण्डि-चुल्लि-बुधि-मिथि-रुहि-दिवि-कीर्त्यादिभ्यः ॥ ६०८ ॥

एभ्यः इः प्रत्ययो भवति। किलत् श्वैत्य-क्रीडनयोः, केलिः-क्रीडा। पिलण् क्षेपे, पेलिः-क्षुद्रपेला। पिशत् अवयवे, पेशिः-मांसखण्डम्। चिट प्रेष्ये, चेटिः-दारिका, प्रेष्या च। त्रुटत् छेदने, ण्यन्तः, त्रोटिः चञ्चुः। शुठु शोषणे, शुण्ठिः-विश्वभेषजम्। तुडुङ् तोडने, तुण्डिः-आस्यम्, प्रवृद्धा च नाभिः। कुडुङ् दाहे, कुण्डिः-जलभाजनम्। भडुङ परिभाषणे, भण्डिः-शकटम्। हुडुङ् संघाते, हुण्डिः-पिण्डितः ओदनः। हिडुङ गतौ च, हिण्डिः-रात्रौ रक्षाचारः। पिडुङ् संघाते, पिण्डिः-निष्पीडितस्नेहः पिण्डः। चुल्ल हावकरणे, चुल्लिः-रन्धनस्थानम्। बुधिंच् ज्ञाने, बोधिः-सम्यग्ज्ञानम्। मिथृङ्-मेधाहिंसयोः, मेथिः-खलमध्यस्थूणा। रुहं बीजजन्मनि, रोहिः-सस्यं, जन्म च। दिवूच् क्रीडादौ, देविः-भूमिः। कृतण् संशब्दने, णिजन्तः, कीर्तिः-यशः। आदिग्रहणादन्येऽपि ॥ ६०८ ॥

नाम्युपान्त्यकृ-गॄ-शॄ-पॄ-पूङ्भ्यः कित् ॥ ६०९ ॥

नाम्युपान्त्येभ्यः कादिभ्यश्च किदिः प्रत्ययो भवति। लिखत् अक्षरविन्यासे, लिखिः-शिल्पम्। शुच् शोके, शुचिः-पूतः, विद्वान्, धर्मः, आषाढश्च। रुचि अभिप्रीत्यां च, रुचिः-दीप्तिः, अभिलाषश्च। भुजंप् पालनाभ्यवहारयोः, भुजिः-अग्निः, राजा, कुटिलं च। कुणत् शब्दोपकरणयोः, कुणिः-विकलो हस्तः, हस्तविकलश्च। सृजंत् विसर्गे, सृजिः-पन्थाः। द्युति दीप्तौ, द्युतिः-दीप्तिः। ऋत् घृणागतिस्पर्धेषु, ऋतिः-यतिः। छदृंपी द्वैधीकरणे, छिदिः-छेत्ता, परशुश्च। मुदि हर्षे, मुदिः-बालः। भिदृंपी विदारणे, भिदिः-वज्रं, सूचकः भेत्ता च। ऊछृदृपी दीप्तिदेवनयोः, छृदिः-रथकारः। लिपींत् उपदेहे लिपिः-अक्षरजातिः। तुर त्वरणे, सौत्रः, तुरिः-तन्तुवायोपकरणम्। डुलण् उत्क्षेपे, डुलिः-कच्छपः। त्विषीं दीप्तौ,

त्विषिः-दीप्तिः, त्विषिमान्, राजवर्चस्वी च । कृषींत् विलेखने, कृषिः-कर्षणम्, कर्षण-भूमिश्च । ऋषत्, गतौ, ऋषिः-मुनिः, वेदश्च । कुषश् निष्कर्षे, कुषिः-शुषिरम् । शुषंच् शोषणे, शुषिः-छिद्रम्, शोषणं च । हृषू अलीके हृषिः-अलीकवादी, दीप्तिः तुष्टिश्च । ष्णुहौच् उद्गिरणे, स्नुहिः-वृक्षः । कॄत् विक्षेपे, किरिः-सूकरः, मूषिकः, गन्धर्वः गर्तश्च । गॄत् निगरणे, गिरिः-नगः, कन्दुकश्च । शॄश् हिंसायाम्, शिरिः-हिंस्रः, खड्गः, शोकः, पाषाणश्च । पॄश् पालनपूरणयोः, पुरि-नगरं, राजा, पूरयिता च । पूङ् पवने, पुविः-वातः ।। ६०९ ।।

विदि-वृतेर्वा ।। ६१० ।।

आभ्याम् इः प्रत्ययो भवति, स च किद्वा । विदक् ज्ञाने, विदिः शिल्पी, वेदिः-इज्यादिस्थानम् । वृतूङ् वर्तने, वृतिः-कण्टकशाखावरणम् । निर्वृतिः-सुखम्, वर्तिः-द्रव्यम्, दीपाङ्गं च ।। ६१० ।।

तॄ-भ्रम्यद्यापि-दम्भिभ्यस्तित्तिरभृमाधाप-देभाश्च ।। ६११ ।।

एभ्यः किद् इः प्रत्ययो भवति । एषां च यथासंख्यं तित्तिर-भृम-अध अप-देभ इत्यादेशा भवन्ति तॄ प्लवनतरणयोः, तित्तिरिः-पक्षिजातिः, प्रवक्ता च वेदशाखाया । भ्रमू चलने, भृमिः-वायु, हस्ती, जलं च । बाहुलकाद् भृमादेशाभावे, भ्रमिः-भ्रमः । अदं प्सांक् भक्षणे, अधि-उपरिभावे, अध्यागच्छति । आपॢंट् व्याप्तौ, अपि समुच्चयादौ, प्लक्षोऽपि-न्यग्रोधोऽपि । दम्भूट् दम्भे, देभिः-शरासनम् ।। ६११ ।।

मने-रुदेतौ चास्य वा ।। ६१२ ।।

मनिच् ज्ञाने, इत्यस्माद् इः प्रत्ययो भवत्यकारस्य च ऊकारैकारौ वा भवतः । मुनिः-ज्ञानवान् । मेनिः-संकल्पः । मनिः-धूमवर्तिः ।। ६१२ ।।

क्रमि-तमि-स्तम्भेरिच्च नमेस्तु वा ।। ६१३ ।।

एभ्यः किद् इः प्रत्ययो भवत्यकारस्य चेकारो भवति । नमेः पुनरकारस्येकारो विकल्पेन । क्रमू पादविक्षेपे, क्रिमिः-क्षुद्रजन्तुः । तमूच् काङ्क्षायाम्, तिमिः-महामत्स्यः । स्तम्भिः सौत्रः, स्तिभिः-केतकादिसूची, हृदयं, समुद्रश्च । णमं प्रह्वत्वे, निमिः-राजा, नमिः-विद्याधराणामाद्यः तीर्थकरश्च ।। ६१३ ।।

अम्भि-कुण्ठि-कम्प्यंहिभ्यो नलुक् च ।। ६१४ ।।

एभ्य इः प्रत्ययो नकारस्य च लुग् भवति । अभूङ् शब्दे अभि आभिमुख्येऽव्ययम्, अभ्यग्नि शलभाः पतन्ति । कुठु आलस्ये च, कुठिः-वृक्षः, पापं, वृषलः, देह, गेहं, कुठारश्च । कपुङ् चलने, कपिः, अग्निः, वानरश्च । अहुङ् गतौ, अहिः-सर्पः, वृत्रः वप्रश्च ।। ६१४ ।।

उभेर्द्रत्रौ च ।। ६१५ ।।

उभत् पूरणे, इत्यस्माद् इः प्रत्ययो भवत्यस्य च द्व त्र इत्यादेशौ, भवतः। द्वौ द्वितीयः, द्विमुनि व्याकरणस्य। त्रयः तृतीयः, त्रिमुनि व्याकरणस्य ॥ ६१५ ॥

नी-वी-प्रहृभ्यो डित् ॥ ६१६ ॥

एभ्यो डिद् इः प्रत्ययो भवति। णींग् प्रापणे, निवसति। वींक् प्रजनादौ, विः-तन्तुवायः, पक्षी, उपसर्गश्च, यथा विभवति। हृंग् हरणे, प्रपूर्वः, प्रहिः-कूपः, उदपानं च ॥ ६१६ ॥

वौ रिचेः स्वरान्नोऽन्तश्च ॥ ६१७ ॥

वावुपसर्गे सति रिचृंपी विरेचने, इत्यस्माद् इः प्रत्ययः स्वरात् परो नोऽन्तश्च भवति। विरिञ्चिः-ब्रह्मा ॥ ६१७ ॥

कमि-वमि-जमि-घसि-शलि-फलि-तलि-तडि-वजि-व्रजि-ध्वजि-राजि-पणि-वणि-वदि-सदि-हदि-हनि-सहि-वहि-तपि-वपि-भटि-कञ्चि-संपतिभ्यो णित् ॥ ६१८ ॥

एभ्यो णिद् इः प्रत्ययो भवति। कमूङ् कान्तौ, कामिः-वसुकः, कामी च। टुवमू उद्गिरणे, वामिः-स्त्री। जमू अदने, जामिः-भगिनी, तृणं, जनपदश्चंकः। घस्लृं अदने, घासिः-संग्रामः, गर्तः, अग्निः, बहुभुक् च शल गतौ, शालिः-व्रीहिराजः। फल निष्पत्तौ, फालिः-दलम्। तलण् प्रतिष्ठायाम्, तालिः-वृक्षजातिः। तडण् आघाते, ताडिः- स एव। वज व्रज ध्वज गतौ, वाजिः-अश्वः, पुङ्खावसानं च। व्राजिः-पद्धतिः, पिटकजातिश्च। ध्वाजिः-पताका, अश्वश्च। राजृग् दीप्तौ, राजिः-पङ्क्तिः, लेखा च। पणि व्यवहारस्तुत्योः, पाणिः-करः। वण शब्दे, वाणिः-वाक्, ङ्याम् वाणी। वद वक्तायां वाचि, वादिः वाग्मी, वीणा च। षद्लृं विशरणगत्यवसादनेषु, सादिः-अश्वारोहः, सारथिश्च। हदिं पुरीषोत्सर्गे, हादिः लूता। हनंक् हिंसागत्योः, घातिः-प्रहरणम्। केचित्तु हानिः- अर्थनाशः, उच्छित्तिश्चेति उदाहरन्ति तत्र बाहुलकात् 'ञ्णिति घात्' इति घाद् न भवति। बाहुलकादेव णित्वविकल्पे, हनिः-आयुधम्। षहि मर्षणे, साहिः-शैलः। वहीं प्रापणे, वाहिः-अनड्वान्। तपं संतापे, तापिः-दानवः। डुवपीं बीजसंताने वापिः-पुष्पकरिणी। भट भृतौ, भाटिः-सुरतमूल्यम्। कचुङ दीप्तौ काञ्चिः-मेखला, पुरी च। णित्करणादनुपान्त्यस्यापि वृद्धिः। पत्लृ गतौ, सपूर्वः संपातिः-पक्षिराजः ॥ ६१८ ॥

कृ-शृ-कुटि-ग्रहि-खन्यणि-कष्यलि-पलि-चरि-वसि-गण्डिभ्यो वा ॥ ६१९ ॥

एभ्य इः प्रत्ययः स च णिद्वा भवति। डुकृंग् करणे, कारिः-शिल्पी, करिः-हस्ती, विष्णुश्च। शृश् हिंसायाम्, शारिः-द्यूतोपकरणम्, हस्तिपर्याणम्, शारिका च। शरिः-हिंसा, शूलश्च। कुटत् कौटिल्ये, कोटिः-अस्त्रिः, अग्रभागः, अष्टमं वाङ्कस्थानं च, कुटिः-गृहं, शरीराङ्गं च। ग्रहीण् उपादाने, ग्राहिः-पतिः, ग्रहिः-वेणुः। खनूग् अवदारणे, खानिः, खनिश्च, निधिः, आकरः, तडागं च। अण शब्दे, आणिः, अणिश्च-द्वारकीलिका। कष हिंसायाम्, काषिः-कर्षकः। कषिः-निकषोपलः, काष्ठम्, अश्वकर्णः, खनित्रं च। अली

भूषणादौ, आलिः-पङ्क्तिः, सखी च, अलिः-भ्रमरः । पल गतौ, पालिः-जलसेतुः, कर्णपर्यन्तश्च, पलिः-संस्त्यायः । चर भक्षणे च, चारिः-पशूनां भक्ष्यम् । चरिः-प्राकारशिखरम्, विषयः, वायुः, पशुः, केशोर्णा च । वसं निवासे, वासिः-तक्षोपकरणम्, वसिः-शय्या, अग्निः, गृहं, रात्रिश्च । गडु वदनैकदेशे, गण्डिः-गण्डिका । णित्त्वपक्षे तु अनुपान्त्यस्यापि वृद्धौ गाण्डिः-धनुष्पर्व ॥ ६१९ ॥

पादाच्चात्यजिभ्याम् ॥ ६२० ॥

पादशब्दपूर्वाभ्यां केवलाभ्यां चाऽत्यजिभ्यां णिद् इः प्रत्ययो भवति । अत सातत्यगमने, अज क्षेपणे च । पादाभ्यामतत्यर्जात वा पदातिः, पदाजिः । 'पदः पादस्याज्यातिगोपहते' इति पदभावः । उभावपि पत्तिवाचिनौ । आतिः-पक्षी, सुपूर्वात् स्वातिः-वायव्यनक्षत्रम् । आजिः-संग्रामः-स्पर्धाऽवधिश्च ॥ ६२० ॥

नहेर्भ् च ॥ ६२१ ॥

णहींच् बन्धने, इत्यस्माण्णिद् इः प्रत्ययो भवति । भकारश्चान्तादेशो भवति । नाभिः-अन्त्यकुलकरः, चक्रमध्यं, शरीरावयवश्च ॥ ६२१ ॥

अशो रश्चादिः ॥ ६२२ ॥

अशौटि व्याप्तौ इत्यस्माण्णिद् इः प्रत्ययो भवति, रेफश्च धातोरादिर्भवति । राशिः-समूहः, नक्षत्रपादनवकरूपश्च मेषादिः ॥ ६२२ ॥

कायः किरिच्च वा ॥ ६२३ ॥

कैं शब्दे, इत्यस्मात् किः प्रत्ययो भवति । इकारश्चान्तादेशो वा भवति । किकिः-पक्षी, विद्वांश्च । काकिः-स्वरदोषः ॥ ६२३ ॥

वर्द्धेरकिः ॥ ६२४ ॥

वर्धण् छेदन-पूरणयोः, इत्यस्माद् अकिः प्रत्ययो भवति । वर्धकिः-तक्षा ॥६२४॥

सनेर्डखिः ॥ ६२५ ॥

षणूयी दाने, इत्यस्माद् डिद् अखिः प्रत्ययो भवति । सखा-मित्रम्, सखायौ, सखायः ॥ ६२५ ॥

कोर्डिखिः ॥ ६२६ ॥

कुंक् शब्दे, इत्यस्माद् डिद् इखिः प्रत्ययो भवति । किखिः-लोमसिका ॥ ६२६ ॥

मृ-श्वि-कण्यणि-दध्यविभ्यः ईचिः ॥ ६२७ ॥

एभ्य ईचिः प्रत्ययो भवति । मृंत् प्राणत्यागे, मरीचिः-मुनिः, मयूखश्च । ट्वोश्वि गति-वृद्धयोः, श्वयीचिः-चन्द्रः, श्वयथुश्च । कण अण शब्दे, कणीचिः-प्राणी, लता, चक्षुः,

शकटं, शङ्खश्च । अणीचिः-वेणुः, शाकटिकश्च । दधि धारणे, दधीचिः-राजर्षिः । अव रक्षणादौ, अवीचिः-नरकविशेषः ।। ६२७ ।।

वेगो ङित् ।। ६२८ ।।

वेंग् तन्तुसंताने, इत्यस्माद् ङिद् ईचिः प्रत्ययो भवति । वीचिः-ऊर्मिः ।। ६२८ ।।

वणेर्णित् ।। ६२९ ।।

वण शब्दे, इत्यस्माद् णिद् ईचिः प्रत्ययो भवति । वाणीचिः-छाया, व्याधिश्च ।६२९।

कृपि-शकिभ्यामटिः ।। ६३० ।।

आभ्याम् अटिः प्रत्ययो भवति । कृपौङ् सामर्थ्ये, कर्पटिः-निःस्वः । शक्लृंट् शक्तौ, शकटिः-शकटः ।। ६३० ।।

श्रेढिः ।। ६३१ ।।

श्रिग् सेवायाम् , इत्यस्माद् ढिः प्रत्ययो भवति । श्रेढिः-गणितव्यवहारः ।।६३१।।

चमेरुच्चातः ।। ६३२ ।।

चमू अदने, इत्यस्माद् ढिः प्रत्ययो भवत्यस्योकारश्च । चुण्ढिः-क्षुद्रवापी ।।६३२।।

मुषेरुण् चान्तः ।। ६३३ ।।

मुषश् स्तेये, इत्यस्माद् ढिः प्रत्यय उण् चान्तो भवति । मुषुण्ढिः-प्रहरणम् । उणो न गुणो विधानसामर्थ्यात् ।। ६३३ ।।

का-वा-वी-क्री-श्रि-श्रु-क्षु-ज्वरि-तूरि-चूरि-पूरिभ्यो णिः ।। ६३४ ।।

एभ्यो णिः प्रत्ययो भवति । कैं शब्दे, काणिः-वैलक्ष्याननुसर्पणम् । वेंग् तन्तुसन्ताने, वाणिः-व्यूतिः । वींक् प्रजनादौ, वेणिः-कबरी । डुक्रींग्श् द्रव्यविनिमये, क्रेणिः-क्रयविशेषः । श्रिग् सेवायाम् , श्रेणिः-पङ्क्तिः, बलविशेषश्च, श्रेणयः-अष्टादश गणविशेषाः । निपूर्वात् निश्रेणिः-संक्रमः । श्रुंट् श्रवणे, श्रोणिः-जघनम् । टुक्षुक् शब्दे, क्षोणिः पृथ्वी । ज्वर रोगे, जूर्णिः-ज्वरः, वायुः, आदित्यः, अग्निः, शरीरं, ब्रह्मा, पुराणश्च । तूरैचि त्वरायाम् , तूर्णिः-त्वरा, मनः, शीघ्रश्च । चूरैचि दाहे, चूर्णिः-वृत्तिः । पूरैचि आप्यायने, पूर्णिः-पूरः ।। ६३४ ।।

ऋत्-घृ-सृ-कु-वृषिभ्यः कित् ।। ६३५ ।।

ऋकारान्तेभ्यो घृ इत्यादिभ्यश्च किद् णिः प्रत्ययो भवति । शॄश् हिंसायाम् शीर्णिः-रोगः, अवयवश्च । स्तॄग्श् आच्छादने, स्तीर्णिः-संस्तरः । घृं सेचने, घृणिः-रश्मिः, ज्वाला, निदाघश्च । सृं गतौ सृणिः-आदित्यः, वज्रम्, अनिलः, अङ्कुशः, अग्निश्च । कुंक् शब्दे, कुणिः-विकलो हस्तः, हस्तविकलश्च । वृषू सेचने, वृष्णिः-बस्तः, मेषः, यदुविशेषश्च । पर्षतेरपीच्छन्त्येके । पृष्णिः-रश्मिः ।।६३५।।

पृषि-हृषिभ्यां वृद्धिश्च ॥ ६३६ ॥

आभ्यां णिः प्रत्ययोऽनयोश्च वृद्धिर्भवति । पृषू सेचने, पार्ष्णिः-पादपश्चाद्भागः, पृष्ठप्रदेशश्च । हृषंच् तुष्टौ, हार्ष्णिः-हरणम् ।। ६३६ ।।

हूर्णिः-धूर्णि-भूर्णि-घूर्ण्यादयः ॥ ६३७ ॥

एते णिप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते । हृंग् हरणे, धृंग् धारणे, भू सत्तायाम् घृं सेचने, ऊत्वं रश्चान्तो निपात्यते । हूर्णिः कुल्या । धूर्णिः-धृतिः । भूर्णिः-चेतनं, भूमिः, कालश्च । घूर्णिः-भ्रमः । आदिग्रहणादन्येऽपि ।। ६३७ ।।

ऋ-हृ-सृ-मृ-धृ-भृ-कृ-तॄ-ग्रहेरणिः ॥ ६३८ ॥

एभ्योऽणिः प्रत्ययो भवति । ऋंक् गतौ, अरणिः अग्निमन्थनकाष्ठम् । हृंग् हरणे, हरणिः-कुल्या, मृत्युश्च । सृं गतौ, सरणिः-ईषद् गतिः, पन्थाः, आदित्यः, शिरा, संघातश्च । मृत् प्राणत्यागे, मरणिः-रात्रिः । धृंग् धारणे, धरणिः-क्षितिः । डुभृंग्क् पोषणे च, भरणिः-नक्षत्रम् । डुकृंग् करणे, करणिः-सादृश्यम् । तॄ प्लवन-तरणयोः, तरणिः-संक्रमः, आदित्यः, यवागूः, पतितगोरूपोत्थापनी च यष्टिः । वै दुःखार्थः, दुःखेन तीर्यत इति, वैतरणी-नदी । ग्रहीश् उपादाने, ग्रहणिः-जठराग्निः, तदाधारो व्याधिः, मेढ्ं, मृत्युश्च ।। ६३८ ।।

कङ्केरिच्चास्य वा ॥ ६३९ ॥

ककुङ् गतौ, इत्यस्माद् अणिः प्रत्ययो भवति, धातोरस्य चेकारो वा भवति । कङ्कणिः, कङ्कणम् , किङ्कणिः-घण्टा ।। ६३९ ।।

ककेर्णित् ॥ ६४० ॥

ककि लौल्ये, इत्यस्माद् णिद् अणिः प्रत्ययो भवति । काकणिः-मानविशेषः ।६४०।

कृषेश्च चादेः ॥ ६४१ ॥

कृषींत् विलेखने, इत्यस्माद् अणिः प्रत्ययो भवत्यादेश्च चकारो भवति । चर्षणिः-चमूः, अग्निः, बुद्धिः, व्यवसायः, वेश्या, वृषश्च ।। ६४१ ।।

क्षिपेः कित् ॥ ६४२ ॥

क्षिपींत् प्रेरणे, इत्यस्मात् किद् अणिः प्रत्ययो भवति । क्षिपणिः-आयुधं, बडिश-बन्धकः, कर्मकृता पाषाणसर्जनी च ।। ६४२ ।।

आङः-कृ-हृ-शुषेः-सनः ॥ ६४३ ॥

आङः परेभ्यो डुकृंग् करणे, हृंग् हरणे, शुषंच् शोषणे, इत्येतेभ्यः सन्नन्तेभ्योऽणिः प्रत्ययो भवति । आचिकार्षणिः-व्यवसायः । आजिहीर्षणिः-श्रीः । आशुशुक्षणिः-अग्निः, वायुश्च ।। ६४३ ।।

वारिसत्र्यादेरिणिक् ॥ ६४४ ॥

एभ्यः किद् इणिः प्रत्ययो भवति । वृग्ट् वरणे, ण्यन्तः । वारिणिः-पशुः, पशुवृत्तिश्च । सृं गतौ, स्रिणिः-अग्निः, वज्रं च । आदिग्रहणादन्येऽपि ॥ ६४४ ॥

अदेस्त्रीणिः ॥ ६४५ ॥

अदंक् भक्षणे, इत्यस्मात् त्रीणिः प्रत्ययो भवति । अत्रीणिः-कृमिजातिः ॥६४५॥

प्लु-ज्ञा-यजि-षपि-पदि-वसि-वितसिभ्यस्तिः ॥ ६४६ ॥

एभ्यः तिः प्रत्ययो भवति । प्लुङ् गतौ, प्लोतिः-चीरम् । ज्ञांश् अवबोधने, त्रैलोक्यस्य त्रातेति ज्ञातिः-इक्ष्वाकुवृषभः, स्वजनश्च । यजीं देवपूजादौ, यष्टिः-दण्डः, लता च । षप समवाये, सप्तिः-अश्वः । पदिच् गतौ, पत्तिः-पदातिः । वसं निवासे, वस्तिः-मूत्राधारः, चर्मपुटः, स्नेहोपकरणं च । तसूच् उपक्षये विपूर्वः, वितस्तिः-अर्धहस्तः ।६४६।

प्रथेलुक् च वा ॥ ६४७ ॥

प्रथिष् प्रख्याने, इत्यस्मात् तिः प्रत्ययो भवति, अन्तस्य च लुग् वा भवति । वृक्षं प्रति विद्योतते-प्रतिष्ठितः । पक्षे प्रत्तिः-प्रथनं, भागश्च ॥ ६४७ ॥

कोर्यषादिः ॥ ६४८ ॥

कुंक् शब्दे, इत्यस्माद् यषादिः तिः प्रत्ययो भवति । कोयष्टिः-पक्षिविशेषः ।६४८।

ग्रो गृष् च ॥ ६४९ ॥

गॄत् निगरणे, इत्यस्मात् तिः प्रत्ययो भवत्यस्य च गृष् इत्यादेशो भवति । गृष्टिः-सकृत् प्रसूता गौः ॥ ६४९ ॥

सोरस्तेः शित् ॥ ६५० ॥

सुपूर्वात् असक् भुवि, इत्यस्मात्, शित् तिः प्रत्ययो भवति । स्वस्ति-कल्याणम् । शित्वाद् भूभावाल्लुगभावः ॥ ६५० ॥

दृ-मुषि-कृषि-रिषि-विषि-शो-शुच्यसि-पूयीण्-प्रभृतिभ्यः कित् ॥ ६५१ ॥

एभ्यः कित् तिः प्रत्ययो भवति । दृङ्त् आदरे, दृतिः छागादित्वङ्मयो जलाधारः । मुषश् स्तेये, मुष्टिः-अङ्गुलिसंनिवेशविशेषः । कृषींत् विलेखने, कृष्टिः-पण्डितः । रिष् हिंसायाम्, रिष्टिः-प्रहरणम् । विष्लृंकी व्याप्तौ, विष्टिः-अवेतनकर्मकरः । शोंच् तक्षणे, शितिः-कृष्णः, कृशश्च । शुच् शोके, शुक्तिः-मुक्तादिः । अशौटि व्याप्तौ, अष्टिः-छन्दोविशेषः । पूयैङ् दुर्गन्ध-विशरणयोः, पूतिः-दुर्गन्ध, दुष्टम्, तृणजातिश्च । इंण्क् गतौ, इति हेत्वादौ । टुडुभृंग्क् पोषणे च प्रपूर्वः, प्रभृतिः-आदिः ॥ ६५१ ॥

कु-च्योर्नोऽन्तश्च ॥ ६५२ ॥

आभ्यां कित् तिः प्रत्ययो भवति नकारश्चान्तो भवति । कुङ् शब्दे, कुन्तिः-राजा, कुन्तयः-जनपदः । चिगट् चयने, चिन्तिः-राजा ॥ ६५२ ॥

खल्यमि-रमि-वहि-वस्यर्तेरतिः ॥ ६५३ ॥

एभ्योऽतिः प्रत्ययो भवति । खल संचये च, खलतिः-खल्वाटः । अम् गतौ, अमतिः-चातकः, छागः, प्रावृट्, मार्गः, व्याधिः, गतिश्च । रमिं क्रीडायाम्, रमतिः-क्रीडा, कामः, स्वर्गः, स्वभावश्च । वहीं प्रापणे, वहतिः-गौः, वायुः, अमात्यः, अपत्यं, कुटुम्बं च । वसं निवासे, वसतिः-निवासः, ग्रामसंनिवेशश्च । ऋक् गतौ, अरतिः-वायुः, सरणम्, असुखं क्रोधः, वर्म च ॥ ६५३ ॥

हन्तेरंह् च ॥ ६५४ ॥

हनंक् हिंसागत्योः, इत्यस्मादतिः प्रत्ययो भवत्यस्य च अंह्, इत्यादेशो भवति । अंहतिः-व्याधिः, पन्थाः, कालः, रथश्च ॥ ६५४ ॥

वृगो व्रत् च ॥ ६५५ ॥

वृग्ट् वरणे, इत्यस्माद् अतिः प्रत्ययो भवत्यस्य च व्रत् इत्यादेशो भवति । व्रततिः-वल्ली ॥ ६५५ ॥

अञ्चेः क च वा ॥ ६५६ ॥

अञ्चू गतौ चेत्यस्माद् अतिः प्रत्ययो भवत्यस्य च क् इत्यन्तादेशो वा भवति । अङ्कतिः-वायुः, अग्निः, प्रजापतिश्च । अञ्चतिः-अग्निः ॥ ६५६ ॥

वातेर्णिद्वा ॥ ६५७ ॥

वांक् गतिगन्धनयोः, इत्यस्माद् अतिः प्रत्ययो भवति, स च णिद् वा भवति । वायतिः-वातः, वातिः-गन्धमिश्रपवनः ॥ ६५७ ॥

योः कित् ॥ ६५८ ॥

युक् मिश्रणे, इत्यस्माद् अतिः प्रत्ययः किद् भवति । युवतिः तरुणी ॥ ६५८ ॥

पातेर्वा ॥ ६५९ ॥

पांक् रक्षणे, इत्यस्माद् अतिः प्रत्ययः स च किद्वा भवति । पतिः-भर्ता, पातिः-भर्ता, रक्षिता, प्रभुश्च ॥ ६५९ ॥

अगि-विलि-पुलि-क्षिपेरस्तिक् ॥ ६६० ॥

एभ्यः किद् अस्तिः प्रत्ययो भवति । अग कुटिलायां गतौ, अगस्तिः । विलत् वरणे, विलस्तिः । पुल महत्त्वे, पुलस्तिः । क्षिपींत् प्रेरणे, क्षिपस्तिः । एते लौकिका ऋषयः । अगस्तिः-वृक्षजातिश्च ॥ ६६० ॥

गृधेर्गभ् च ॥ ६६१ ॥

गृधूच् अभिकाङ्क्षायाम्, इत्यस्माद् अस्तिक् प्रत्ययो भवति, गभ् चास्यादेशो भवति। गभस्तिः-रश्मिः ॥ ६६१ ॥

वस्यर्तिभ्यामातिः ॥ ६६२ ॥

आभ्याम् आतिः प्रत्ययो भवति। वसं निवासे, वसातयः-जनपदः। ऋंक् गतौ, अरातिः-रिपुः ॥ ६६२ ॥

अभेर्यामाभ्याम् ॥ ६६३ ॥

अभिपूर्वाभ्यामाभ्याम् आतिः प्रत्ययो भवति। यांक् प्रापणे, मांक् माने, अभियातिः, अभिमातिश्च-शत्रुः ॥ ६६३ ॥

यजो य च ॥ ६६४ ॥

यजीं देवपूजादौ, इत्यस्माद् आतिः प्रत्ययो भवत्यस्य च यकारोऽन्तादेशो भवति। ययातिः-राजा ॥ ६६४ ॥

वद्यवि-च्छदि-भूभ्योऽन्तिः ॥ ६६५ ॥

एभ्योऽन्तिः प्रत्ययो भवति। वद व्यक्तायां वाचि, वदन्तिः-कथा। अव रक्षणादिषु, अवन्तिः-राजा। अवन्तयः-जनपदः। छदण् अपवारणे, युजादिर्विकल्पितणिजन्तत्वादण्यन्तः, छदन्तिः-गृहाच्छादनद्रव्यम्, भू सत्तायाम्, भवन्तिः-कालः, लोकस्थितिश्च ।६६५।

शकेरुन्तिः ॥ ६६६ ॥

शक्लृंट् शक्तौ, इत्यस्माद् उन्तिः प्रत्ययो भवति। शकुन्तिः-पक्षी ॥ ६६६ ॥

नञो दागो डितिः ॥ ६६७ ॥

नञ्पूर्वात् डुदांग्क् दाने, इत्यस्माद् डिद् इतिः प्रत्ययो भवति। अदितिः-देवमाता ॥ ६६७ ॥

देङः ॥ ६६८ ॥

देङ् रक्षणे, इत्यस्माद् डिद् इतिः प्रत्ययो भवति। दितिः-असुरमाता ॥ ६६८ ॥

वीसञ्ज्यसिभ्यस्थिक् ॥ ६६९ ॥

एभ्यः थिक् प्रत्ययो भवति। वींक् प्रजनादिषु, वीथिः-मार्गः। षञ्जं सङ्गे, सक्थिः-ऊरुः, शकटाङ्गं च। असूच् क्षेपणे, अस्थि-पञ्चमो धातुः ॥ ६६९ ॥

सारेरथिः ॥ ६७० ॥

सृं गतौ, इत्यस्माद् ण्यन्तादथिः प्रत्ययो भवति। सारथिः-यन्ता ॥ ६७० ॥

निषञ्जेर्घित् ॥ ६७१ ॥

निपूर्वात् षञ्जं सङ्गे, इत्यस्माद् घिद् अथिः प्रत्ययो भवति । निषङ्गथिः–रुद्रः, धनुर्धरश्च । घित्करणं गत्वार्थम् ॥ ६७१ ॥

उदर्तेर्णिद् वा ॥ ६७२ ॥

उत्पूर्वाद् ऋक् गतौ, इत्यस्माद् अथिः प्रत्ययो भवति, स च णिद्वा भवति । उदारथिः–विष्णुः, उदरथिः–विप्रः, काष्ठं, समुद्रः, अनड्वांश्च ॥ ६७२ ॥

अतेरिथिः ॥ ६७३ ॥

अत सातत्यगमने, इत्यस्माद् इथिः प्रत्ययो भवति । अतिथिः–पात्रतमः, भिक्षावृत्तिः ॥ ६७३ ॥

तनेर्डित् ॥ ६७४ ॥

तनूयी विस्तारे, इत्यस्माद् डिद् इथिः प्रत्ययो भवति । तिथिः–प्रतिपदादिः ।६७४।

उषेरधिः ॥ ६७५ ॥

उषू दाहे, इत्यस्माद् अधिः प्रत्ययो भवति । औषधिः–उद्भिद्विशेषः ॥ ६७५ ॥

विदो रधिक् ॥ ६७६ ॥

विदक् ज्ञाने, इत्यस्मात् किद् रधिः प्रत्ययो भवति । विद्रधिः–व्याधिविशेषः ।६७६।

वी-यु-सु-वह्यगिभ्यो निः ॥ ६७७ ॥

एभ्यो निः प्रत्ययो भवति । वींक् प्रजनादौ, वेनिः–व्याधिः, नदी च । युक् मिश्रणे, योनिः प्रजननमङ्गम्, उत्पत्तिस्थानं च । षुंग्ट् अभिषवे, सोनिः–सवनम् । वहीं प्रापणे, वह्निः–पावकः, बलीवर्दश्च । अग कुटिलायां गतौ, अग्निः–पावकः ॥ ६७७ ॥

धूशाशीङो ह्रस्वश्च ॥ ६७८ ॥

एभ्यो निः प्रत्ययो भवति, ह्रस्वश्चैषां भवति । धूग्श् कम्पने, धुनिः–नदी । शोंच् तक्षणे, शनिः–सौरिः । शीङ्क् स्वप्ने, शिनिः–यादवः, वर्णश्च ॥ ६७८ ॥

लू-धू-प्रच्छिभ्यः कित् ॥ ६७९ ॥

एभ्यः किद् निः प्रत्ययो भवति । लुग्श् छेदने, लूनिः–लवनः । धूग्श् कम्पने, धूनिः–वायुः । प्रच्छंत् ज्ञीप्सायाम्, पृश्निः–वर्णः, अल्पतनुः, किरणः, वर्गश्च ॥ ६७९ ॥

सदि-वृत्यमि-धम्यश्यटि-कट्यवेरनिः ॥ ६८० ॥

एभ्योऽनिः प्रत्ययो भवति । षद्लृं विशरणादौ, सदनिः–जलम् । वृतूङ् वर्तने, वर्तनिः–पन्थाः, देशनाम च । अम गतौ, अमनिः–अग्निः । धमः सौत्रः, धमनिः–मन्या, रसवहा च शिरा । अशौटि व्याप्तौ, अशनिः–इन्द्रायुधम् । अट गतौ । अटनिः–चापकोटिः । कटे वर्षावरणयोः, कटनिः–शैलमेखला । अव रक्षणादौ, अवनिः–भूः ॥ ६८० ॥

रञ्जेः कित् ॥ ६८१ ॥

रञ्जीं रागे, इत्यस्मात् किद् अनिः प्रत्ययो भवति । रजनिः-रात्रिः ॥ ६८१ ॥

अर्तेरत्निः ॥ ६८२ ॥

ऋं क् गतौ, इत्यस्माद् अत्निः प्रत्ययो भवति । अरत्निः- बाहुमध्यम् शमः, उत्क-निष्ठश्च हस्तः ॥ ६८२ ॥

एधेरिनिः ॥ ६८३ ॥

एधि वृद्धौ, इत्यस्माद् इनिः प्रत्ययो भवति । एधिनिः-मेदिनी ॥ ६८३ ॥

शकेरुनिः ॥ ६८४ ॥

शक्लृं ट् शक्तौ, इत्यस्माद् उनिः प्रत्ययो भवति । शकुनिः—पक्षी ॥ ६८४ ॥

अदेर्मनिः ॥ ६८५ ॥

अदंक् भक्षणे, इत्यस्माद् मनिः प्रत्ययो भवति । अद्मनिः-पशूनां भक्षणद्रोणी, अग्निः, जयः, हस्ती, अश्वः, तालु च ॥ ६८५ ॥

दमेर्दुभिर्दुम् च ॥ ६८६ ॥

दमूच् उपशमे, इत्यस्माद् दुभिः प्रत्ययो भवत्यस्य च दुमित्यादेशो भवति । दुन्दुभिः-देवतूर्यम् ॥ ६८६ ॥

नी-सा-वृ-यु-शॄ-वलि-दलिभ्यो मिः ॥ ६८७ ॥

एभ्यो मिः प्रत्ययो भवति । णींग् प्रापणे, नेमिः-चक्रधारा । षोंच् अन्तकर्मणि, सामि-अर्धवाचि अव्ययम् । वृग्ट् वरणे, वर्मिः-वल्मीककृमिः । युक् मिश्रणे, योमिः-शकुनिः । शॄश् हिंसायाम्, शर्मिः-मृगः । वलि संवरणे, वल्मिः-इन्द्रः, समुद्रश्च । दल विशरणे, दल्मिः—आयुधम् , इन्द्रः, समुद्रः, शक्रः, विषं च ॥ ६८७ ॥

अशो रश्चादिः ॥ ६८८ ॥

अशौटि व्याप्तौ, इत्यस्माद् मिः प्रत्ययो भवति, रेफश्च धातोरादिर्भवति । रश्मिः-प्रग्रहः, मयूखश्च ॥ ६८८ ॥

सर्तेरूच्चातः ॥ ६८९ ॥

आभ्यां मिः प्रत्ययो भवति, गुणे च कृतेऽकारस्योकारो भवति । सृं गतौ, सूर्मिः-स्थूणा । ऋं क् गतौ, ऊर्मिः-तरङ्गः ॥ ६८९ ॥

कृ-भूभ्यां कित् ॥ ६९० ॥

आभ्यां किद् मिः प्रत्ययो भवति । डुकृं ग् करणे, कृमिः-क्षुद्रजन्तुजातिः । भू सत्तायाम् , भूमिः-वसुधा ॥ ६९० ॥

क्वणेर्डयिः ॥ ६९१ ॥

क्वण शब्दे, इत्यस्माद् डिद् अयिः प्रत्ययो भवति । क्वयिः-पक्षिविशेषः ॥६९१॥

तङ्कि-वङ्क्यङ्कि-मङ्क्यंहि-शद्यदि-सद्यशौ-वपि-वशिभ्यो रिः ॥ ६९२ ॥

एभ्यो रिः प्रत्ययो भवति । तकु कृच्छ्रजीवने । तङ्क्रिः-युवा । वकुङ् कौटिल्ये, वङ्क्रिः-शल्यं, परशुका, रथः, अहः कुटिलश्च । अकुङ् लक्षणे, अङ्क्रिः-चिह्नम्, वंशकठिनिकश्च । मकुङ् मण्डने, मङ्क्रिः-मण्डनम्, शठः, प्रवकश्च । अहुङ् गतौ, अंह्रिः-पादः, अङ्घ्रिरप्येके । अघुङ् गत्याक्षेपे, अङ्घ्रिः । शद्लृं शातने, शद्रिः-वज्रः, भस्म, हस्ती, गिरिः, ऋषिः, शोभनश्च । अदंक् भक्षणे, अद्रिः-पर्वतः । षद्लृं विशरणादौ, सद्रिः-हस्ती, गिरिः, मेषश्च । अशौटि व्याप्तौ, अश्रिः-कोटिः । डुवपीं बीजसंताने, वप्रिः-केदारः । वशक् कान्तौ वश्रिः-समूहः ॥ ६९२ ॥

भू-सू-कुशि-विशि-शुभिभ्यः कित् ॥ ६९३ ॥

एभ्यः किद् रि प्रत्ययो भवति । भू सत्तायाम्, भूरि-प्रभूतं, काञ्चनं च । षूत् प्रेरणे, सूरिः-आचार्यः, पण्डितश्च । कुशच्-श्लेषणे, कुश्रिः-ऋषिः । विशंत् प्रवेशने, विश्रिः-मृत्युः, ऋषिश्च । शुभि दीप्तौ, शुभ्रिः-यतिः, विप्रः, दर्शनीयं, शुभं सत्यं च ।६९३।

जॄषो-रश्च वः ॥ ६९४ ॥

जॄष् जरसि, इत्यस्मात् किद् रिः प्रत्ययो भवति, ईरि सति रेफस्य वकारश्च भवति । जीव्रिः-शरीरम् ॥ ६९४ ॥

कुब्रि-कुद्र्यादयः ॥ ६९५ ॥

कुब्र्यादयः शब्दाः किद् रिप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते । कुपेः-कौतेश्च दश्चान्तः । कुब्रिः-ऋषिः । कुद्रिः-पर्वतः, ऋषिः समुद्रश्च । आदिग्रहणात् क्षौतेर्दोऽन्तः, क्षुद्रिः-समुद्रः । अर्तेर्गोऽन्तः, ऋग्रिः लोकनाथः । शकेः शक्रिः-बलवानित्यादयोऽपि भवन्ति ॥ ६९५ ॥

रा-शदि-शकि-कद्यदिभ्यस्त्रिः ॥ ६९६ ॥

एभ्यः त्रिः प्रत्ययो भवति । रांक् दाने, रात्रिः-निशा । शद्लृं शातने, शत्त्रिः-कुञ्जरः, क्रौञ्चश्च । शक्लृंट् शक्तौ, शक्त्रिः-क्रौञ्चः, ऋषिश्च । कद वैक्लव्ये सौत्रः, कत्त्रिः-ऋषिः । अदंक् भक्षणे, अत्त्रिः-ऋषिः ॥ ६९६ ॥

पतेरत्रिः ॥ ६९७ ॥

पत्लृं गतौ, इत्यस्माद् अत्रिः प्रत्ययो भवति । पतत्रिः-पक्षी ॥ ६९७ ॥

नदि-वल्ल्यर्तिकृतेररिः । ६९८ ॥

एभ्योऽरिः प्रत्ययो भवति । णद अव्यक्ते शब्दे, नदरिः-पटहः । वल्लि संवरणे,

वल्लरिः-लता, वीणा, सस्यमञ्जरी च । ऋंक् गतौ, अररिः-कपाटम् । कृतैत् छेदने, कर्तरिः-केशादिकर्तनयन्त्रम् ।। ६९८ ।।

मस्यसि-घसि-जस्यङ्गि-सहिभ्य-उरिः ॥ ६९९ ॥

एभ्य उरिः प्रत्ययो भवति । मसैच् परिणामे, मसुरिः-मरीचिः । असूच् क्षेपणे, असुरिः-संग्रामः । घस्लृं अदने, घसुरिः-अग्निः । जसूच् मोक्षणे, जसुरिः-समाप्तिः, अशनिः, अरणिः, क्रोधश्च । अगु गतौ, अङ्गुरिः-करशाखा, लत्वे अङ्गुलिः । षहि मर्षणे, सहुरिः-पृथ्वी, अक्रोधनः, अनड्वान्, संग्रामः, अन्धकारः, सूर्यश्च ।। ६९९ ।।

मुहेः कित् ॥ ७०० ॥

मुहौच् वैचित्ये, इत्यस्मात् किद् उरिः प्रत्ययो भवति । मुहुरिः-सूर्यः, अनड्वांश्च ।। ७०० ।।

धू-मूभ्यां लिक्-लिणौ ॥ ७०१ ॥

आभ्यां यथासंख्यं लिक् लिण् एतौ प्रत्ययौ भवतः । धूग्श् कम्पने, धूलिः-पांसुः । मूङ् बन्धने, मौलिः-मुकुटः ।। ७०१ ।।

पाट्यञ्जिभ्यामलिः ॥ ७०२ ॥

आभ्याम् अलिः प्रत्ययो भवति । पट गतौ ण्यन्तः, पाटलिः-वृक्षविशेषः । अञ्जौप् व्यक्त्यादौ, अञ्जलिः-पाणिपुटः, प्रणामहस्तयुग्मं च ।। ७०२ ।।

मा-शालिभ्यामोकुलि-मली ॥ ७०३ ॥

आभ्यां यथासंख्यम् ओकुलि-मलि इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः । मांक् माने, मोकुलिः-काकः । शल गतौ ण्यन्तः, शाल्मलिः-वृक्षविशेषः ।। ७०३ ।।

दृ-पॄ-वृ-भ्यो विः ॥ ७०४ ॥

एभ्यो विः प्रत्ययो भवति । दृश् विदारणे, दर्विः-तर्दूः । पॄश् पालनपूरणयोः, पर्विः-कङ्कः, हिंस्रश्च । वृग्श् वरणे, वर्विः-शकटं, धात्री, काकः, श्येनश्च ।। ७०४ ।।

जॄ-शॄ-स्तॄ-जागृ-कृ-नी-घृषिभ्यो ङित् ॥ ७०५ ॥

एभ्यो ङिद् विः प्रत्ययो भवति । जॄषूच् जरसि, जीर्विः-वायुः, पशुः, कण्टकः, शकटः, मद्गुः, कायम्, गुल्मं, शङ्खा, वृद्धः, वृद्धभावश्च । शॄश् हिंसायाम्, शीर्विः-हिंस्रः, कृमिः, न्यङ्कुश्च । स्तॄग्श् आच्छादने, स्तीर्विः-गर्विष्ठः, अध्वर्युः, भगः, तनुः, रुधिरं, भयम्, तृणजातिः, नभः, अजश्च । जागृक् निद्राक्षये, जागृविः-राजा, अग्निः, प्रबुद्धश्च । ङित्वान्न गुणः । डुकृंग् करणे, कृविः-रुद्रः, तन्तुवायः, तन्तुवायद्रव्यम्, राजा च । यदुपज्ञं कृवय इति पुरा पञ्चालानाचक्षते । णींग् प्रापणे, नीविः-परिधानग्रन्थिः, मूलधनं च । घृषू संघर्षे, घृष्विः-वराहः, वायुः, अग्निश्च ।। ७०५ ।।

छवि-छिवि-स्फवि-स्फिवि-स्थवि-स्थिवि-दवि-दीवि-किकिवि-दिदिवि-दीदिवि-किकीदिवि-किकिदीवि-शिव्यटव्यादयः ॥ ७०६ ॥

एते ङिद् विप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते । छ्यतेर्ह्रस्वश्च, छविः-त्वक्, छाया, आवरणं च । छिदेर्लुक् च, छिविः-फल्गुद्रव्यम् । स्फायतेः, स्फ-स्फिभावौ च, स्फविः-वृक्षजातिः, स्फिविः-वृक्षः, उदश्विच्च । तिष्ठतेः स्थ-स्थिभावौ च, स्थविः-प्रसेवकः, तन्तुवायः, सीमा, अग्निः, अजङ्गमः, स्वर्गः, कुष्ठी, कुष्ठिमांसं, फलं च, स्थिवि -सीमा । दमेर्लुक् च, दविः-धर्मशीलः, दाता, स्थानं, फालश्च । दीव्यतेर्दीर्घश्च, दीविः कितवः, द्युतिमान्, कालः, व्याघ्रजातिश्च । कितेर्दित्वं पूर्वस्य चत्वाभावो लुक् च, किकिविः-पक्षिविशेषः । दिवेर्द्वित्वं पूर्वस्य दीर्घश्च वा, दिदिविः-स्वर्गः । दीदिविः-अन्नं स्वर्गश्च । किते किकीदिभावश्च, किकीदिविः-वर्णः, पक्षी च । किकिपूर्वात् दीव्यतेदीर्घश्च । किकीति कुर्वन् दीव्यतीति किकिदीविः-चाषः । शीङो ह्रस्वश्च । शिविः-राजा । अटेरत् चान्तः अटविः-अरण्यम् । आदिग्रहणादन्येऽपि ॥ ७०६ ॥

प्रुषि-प्लुषि-शुषि-कुष्यशिभ्यः सिक् ॥ ७०७ ॥

एभ्यः कित् सिः प्रत्ययो भवति । प्रुषू प्लुषू दाहे, प्रुक्षि-अग्निः, उदपानश्च । प्लुक्षिः-अग्निः, जठरं कुशूलश्च । शुषंच् शोषणे, शुक्षिः-वायुः, निदाघः, यवासकः, तेजश्च । कुषश् निष्कर्षे, कुक्षिः-जठरम् । अशौटि व्याप्तौ, अक्षि-नेत्रम् ॥ ७०७ ॥

गोपादेरनेरसिः ॥ ७०८ ॥

गोप इत्यादिभ्यः पराद् अनक् प्राणने, इत्यस्माद् असिः प्रत्ययो भवति । गोपानसिः-सौधाग्रभागच्छदिः । चित्रानसिः-जलचरः । एकानसिः-उज्जयनी । वाराणसिः-काशीनगरी ॥ ७०८ ॥

वृ-धृ-पॄ-वॄ-साभ्यो नसिः ॥ ७०९ ॥

एभ्यो नसिः प्रत्ययो भवति । वृग्ट् वरणे, वर्णसिः-तरुः । धृंग् धारणे, धर्णसिः-शैलः, लोकपालः, जलं, माता च । पॄश् पालनपूरणयोः, पर्णसिः-जलधरः, उलूखलं, शाकादिश्च । वॄश् वरणे, वर्णसिः-भूमिः । षोंच् अन्तकर्मणि, सानसिः-स्नेहः, नखः, हिरण्यम्, ऋणं, सखा सनातनश्च ॥ ७०९ ॥

व्रियो हिक् ॥ ७१० ॥

व्रीश् वरणे, इत्यस्माद् किद् हिः प्रत्ययो भवति । व्रीहिः-धान्यविशेषः ॥ ७१० ॥

तॄ-स्तॄ-तन्द्रि-तन्त्र्यविभ्य ईः ॥ ७११ ॥

एभ्यः ईः प्रत्ययो भवति । तॄ प्लवनतरणयोः, तरीः-नौः, अग्निः, वायुः, प्लवनश्च । स्तॄग्श् आच्छादने, स्तरीः-तृणं, धूमः, मेघः, नदी, शय्या च । तन्द्रिः सादमोहनयोः सौत्रः,

तन्द्रीः-मोहनिद्रा । तन्त्रिण् कुटुम्बधारणे, तन्त्रीः-शुष्कस्नायुः, वादित्रं, वीणा, आलस्यं च । अव रक्षणादौ, अवीः-प्रकाशः, आदित्यः, भूमिः, पशुः, राजा, स्त्री च ।। ७११ ।।

नडेर्णित् ॥ ७१२ ॥

नडैः सौत्राद् ईः प्रत्ययो भवति, स च णिद् भवति । नाडी-आयतशुषिरं, द्रव्यम्, अर्धमुहूर्तश्च ।। ७१२ ।।

वातात् प्रमः कित् ।। ७१३ ॥

वातपूर्वपदात् प्रेणोपसृष्टात् मांक् माने, इत्यस्मात् किद् ईः प्रत्ययो भवति । वातप्रमीः-वात्या, अश्वः, वातमृगः, पक्षी, शमीवृक्षश्च ।। ७१३ ।।

या-पाभ्यां द्वे च ॥ ७१४ ॥

आभ्यां किद् ईः प्रत्ययो भवत्यनयोश्च द्वे रूपे भवतः । यांक् प्रापणे, ययीः-मोक्षमार्गः, दिव्यवृष्टिः, आदित्यः, अश्वश्च । पां पाने, पपीः-रश्मिः, सूर्यः, हस्ती च ।।७१४।।

लक्षेर्मोऽन्तश्च ।। ७१५ ॥

लक्षीण् दर्शनाङ्कनयोः, इत्यस्मात् ईः प्रत्ययो भवति । मकारश्चान्तो भवति लक्ष्मीः-श्रीः ।। ७१५ ।।

भृ-मृ-तॄ-त्सरि-तनि-धन्यनि-मनि-मस्जि-शी-वटि-कटि-पटि-गडि-चञ्च्यसि-वसि-त्रपि-शॄ-स्वॄ-स्निहि-क्लिदि-कन्दीन्दि-विन्द्यन्धि-बन्ध्यणि-लोष्टि-कुन्थिभ्य उः ॥ ७१६ ॥

एभ्यः उः प्रत्ययो भवति । डुभृंग्क् पोषणे च, भृंग् भरणे वा । भरुः-समुद्रः, वर्णिः, भर्ता, च । मृंत् प्राणत्यागे, मरुः-निर्जलो देशः, गिरिश्च । तॄ प्लवनतरणयोः, तरुः-वृक्षः । त्सर छद्मगतौ, त्सरुः-आदर्शखड्गादिग्रहणप्रदेशः, वञ्चकः, क्षुरिका च । तनूयी विस्तारे, तनुः-देहः, सूक्ष्मश्च । धन धान्ये सौत्रः, धनुः-अस्त्रं, दानमानं च । अनक् प्राणने, अनुः-प्राणः, अनु पश्चादाद्यर्थेऽव्ययम्, मनिच् ज्ञाने, मनूयी बोधने वा, मनुः-प्रजापतिः । टुमस्जोंत् शुद्धौ । मद्गुः-जलवायसः । शीङ्क् स्वप्ने, शयुः-अजगरः स्वप्नः, आदित्यश्च । वट वेष्टने, वटुः-माणवकः । कटे वर्षावरणयोः, कटुः-रसविशेषः । पट गतौ, पटुः-दक्षः । गड सेचने, गडुः-घाटामस्तकयोर्मध्ये मांसपिण्डः, स्फोटश्च । चञ्चू गतौ, चञ्चुः-पक्षिमुखम् । असूच् क्षेपणे, असवः-प्राणाः । वसं निवासे, वसु-द्रव्यं, तेजो, देवता च । वसुः कश्चिद्राजा । त्रपौषि लज्जायाम्, त्रपु-लोहविशेषः । शॄश् हिंसायाम्, शरुः-क्रोधः, आयुधः, हिंस्रश्च । औस्वॄ शब्दोपतापयोः, स्वरुः-प्रतापः, वज्रः-वज्रा-स्फालनं च । ष्णिहौच् प्रीतौ, स्नेहुः-चन्द्रमाः, सन्निपातजो व्याधिविशेषः, पित्तं, वनस्पतिश्च । क्लिदौच् आर्द्रभावे, क्लेदुः-क्षेत्रं, चन्द्रः, भगम्, शरीरभङ्गश्च, क्लेदयतीति क्लेदुः-चन्द्रमा इत्यन्ये । कदु रोदनाह्वानयोः, कन्दुः-पाकस्थानम्-सूत्रोतं च क्रीडनम् । इदु परमैश्वर्ये, इन्दुः-चन्द्र । विदु अवयवे, विन्दुः-विप्रुट् । अन्धण् दृष्टय पसंहारे, अन्धुः-कूपः, व्रणश्च । बन्धंश् बन्धने,

बन्धुः–स्वजनः, बन्धु–द्रव्यम् । अण शब्दे, अणुः–पुद्गलः, सूक्ष्मः, रालकादिश्च, धान्य-विशेषः । लोष्टि संघाते, लोष्टुः–मृत्पिण्डः । कुन्थश् संक्लेशे । कुन्थुः–सूक्ष्मजन्तुः ॥७१६॥

स्यन्दि-सृजिभ्यां सिन्धू-रज्जौ च ॥ ७१७ ॥

आभ्याम् उः प्रत्ययो भवत्यनयोश्च यथासंख्यं सिन्ध् रज्ज इत्यादेशौ भवतः । स्यन्दौङ् स्रवणे सिन्धुः–नदः, नदी, समुद्रश्च । सृंजत् विसर्गे, सृंजिच् विसर्गे वा, रज्जुः–दवरकः ॥ ७१७ ॥

पंसेर्दीर्घश्च ॥ ७१८ ॥

पसुण् नाशने, इत्यस्माद् उः प्रत्ययो भवति, दीर्घश्चास्य भवति । पांशुः–पार्थिवं रजः ॥ ७१८ ॥

अशेरान्नोऽन्तश्च ॥ ७१९ ॥

अशौटि व्याप्तौ, इत्यस्माद् उः प्रत्ययो भवत्यकाराच्च परो नोऽन्तो भवति । अंशुः–रश्मिः, सूर्यश्च । प्रांशुः–दीर्घः ॥ ७१९ ॥

नमेर्नाक् च ॥ ७२० ॥

णमं प्रह्वत्वे, इत्यस्माद् उः प्रत्ययो भवत्यस्य च नाक् इत्यादेशो भवति । नाकुः–व्यलीकम्, वनस्पतिः, ऋषिः, वल्मीकश्च ॥ ७२० ॥

मनि-जनिभ्यां धतौ च ॥ ७२१ ॥

आभ्याम् उः प्रत्ययो भवत्यनयोश्च यथासंख्यं धकार-तकारौ भवतः । मनिच् ज्ञाने, मधु–क्षौद्रम्, शीधु च, मधुः–असुरः, मासश्च चैत्रः । जनैचि प्रादुर्भावे, जतु–लाक्षा ॥ ७२१ ॥

अजेर्ऋज् च ॥ ७२२ ॥

अर्ज अर्जने, इत्यस्माद् उः प्रत्ययो भवत्यस्य च ऋज् इत्यादेशो भवति । ऋजु–अकुटिलम् ॥ ७२२ ॥

कृतेस्तर्क् च ॥ ७२३ ॥

कृतैत् छेदने, कृतैप् वेष्टने, इत्यस्माद्वा उः प्रत्ययो भवति, अस्य च तर्क् इत्यादेशो भवति । तर्कुः–चुन्दः सूत्रवेष्टनशलाका च ॥ ७२३ ॥

नेरञ्चेः ॥ ७२४ ॥

निपूर्वादञ्चतेः उः प्रत्ययो भवति । न्यङ्कुः–मृगः, ऋषिश्च ॥ ७२४ ॥

किमः श्रो णित् ॥ ७२५ ॥

किम्पूर्वात् शॄश् हिंसायाम्, इत्यस्माद् णिद् उः प्रत्ययो भवति । किंशारुः–शूकः धान्यशिखा, उष्ट्रः हिंस्रः, इषुश्च ॥ ७२५ ॥

मि-वहि-चरि-चटिभ्यो वा ॥ ७२६ ॥

एभ्यः उः प्रत्ययो भवति, स च णिद्वा भवति । टुमिंग्ट् प्रक्षेपणे, मायुः पित्तं, मानं, शब्दश्च । गोमायुः शृगालः, मयुः-किन्नरः, उष्ट्रः, प्रक्षेपः, आकूतं च । बाहुलकादात्वाभावः । वहीं प्रापणे । बाहुः-भुजः, बहु-प्रभूतम् । चर भक्षणे च, चारु-शोभनम् , चरन्ति अस्माद् देव-पितृ-भूतानि इति अपादानेऽपि भीमादित्वात् , चरुः-देवतोद्देशेन पाकः स्थाली च । चटण् भेदे, चाटु-प्रियाचरणं, पटुजनः, प्रियवादी, स्फुटवादी, दर्व्यग्रम् , शिष्यश्च । चटुः प्रियाचरणम् ॥ ७२६ ॥

ऋ-तॄ-शॄ-मृ-भ्रादिभ्यो रो लश्च ॥ ७२७ ॥

एभ्यो णिद् उः प्रत्ययो भवति, रेफस्य च लकारो भवति । ऋंक् गतौ, ऋंत् प्रापणे च वा, आलुः-श्लेष्मा, श्लेष्मातकः, कन्दविशेषश्च । तॄ प्लवनतरणयोः, तालुः-काकुदम् । शॄश् हिंसायाम् , शालुः-हिंस्रः, कषायश्च । मृंत् प्राणत्यागे, मालुः-पत्रलता, यस्या मालुधानीति प्रसिद्धिः । टुडुभृंग्क् पोषणे च भालुः-इन्द्रः । आदिग्रहणादन्येऽपि ॥ ७२७ ॥

कृक-स्थूराद्वचः क् च ॥ ७२८ ॥

आभ्यां पराद् वचो णिद् उः प्रत्ययो भवति, ककारश्चान्तादेशो भवति । वचंक् भाषणे, ब्रूग्क् व्यक्तायां वाचि, कृकमव्यक्तं ब्रूते वक्ति वा । कृकवाकुः, कुक्कुटः, कृकलासः खञ्जरीटश्च । एवं स्थूरवाकुः उच्चैर्ध्वनिः ॥ ७२८ ॥

पॄ-का-हृषि-धृषीषि-कुहि-भिदि-विदि-मृदि-व्यधि-गृध्यादिभ्यः कित् ॥ ७२९ ॥

एभ्यः किद् उः प्रत्ययो भवति । पॄश् पालनपूरणयोः पुरुः, महान् लोकः, समुद्रः, यजमानः राजा च कश्चित् । कैं शब्दे, कुः-पृथ्वी । हृषच् तुष्टौ हृषू अलीके वा, हृषु-तुष्टः, अलीकः, सूर्य-अग्नि-शशिनश्च । ञिधृषाट् प्रागल्भ्ये, धृषुः-प्रगल्भः संतापः, उत्साहः, पर्वतश्च । इषत् इच्छायाम् , इषुः-शरः । कुहणि विस्मापने, कुहुः-नष्टचन्द्रामावास्या । भिदुंपी विदारणे, भिदुः, वज्रः, कन्दर्पश्च । विदक् ज्ञाने, विदुः-हस्तिमस्तकैकदेशः । मृदश् क्षोदे, मृदुः-अकठिनः । व्यधंच् ताडने, विदुः-चन्द्रः, वायुः, अग्निश्च । गृधूच् अभिकाङ्क्षायाम् , गृधुः-कामः । आदिग्रहणात् पूरैचि आप्यायने, पूरण् आप्यायने वा । पूरितमनेन यशसा सर्वमिति पूरुः-राजर्षिः एवमन्येऽपि ॥ ७२९ ॥

रभि-प्रथिभ्यामृच्च रस्य ॥ ७३० ॥

आभ्यां किद् उः प्रत्ययो भवति, रेफस्य च ऋकारो भवति । रभिं राभस्ये, ऋभवः-देवाः । प्रथिष् प्रख्याने, पृथुः-राजा, विस्तीर्णश्च ॥ ७३० ॥

स्पशि-भ्रस्जेः स्लुक् च ॥ ७३१ ॥

आभ्यां किद् उः प्रत्ययो भवति, सकारस्य लुक् च भवति । स्पशिः सौत्रः ताल-

व्यान्तः, पशुः-तिर्यङ्, मन्त्रवध्यश्च जनः । भ्रस्जीत् पाके, भृगुः-प्रपातः, ब्रह्मणश्च सुतः । कित्वात् 'ग्रह-व्रश्च-भ्रस्ज-प्रच्छ' इति य्वृत् 'न्यङ्कुद्गमेघादय.' इति गत्वम् ॥ ७३१ ॥

दुःस्वप-वनिभ्यः स्थः ॥ ७३२ ॥

दुस्, सु, अप, वनि इत्येतेभ्यः परात् ष्ठां गतिनिवृत्तौ, इत्यस्मात् किद् उः प्रत्ययो भवति । दुष्ठु-अशोभनम्, सुष्ठु-सातिशयम्, अपष्ठु-वामम्, वनिष्ठुः-वपासंनिहितोऽवयवः, अश्वः, संभक्तः, अपानं च ॥ ७३२ ॥

हनि-या-कृ-भृ-पॄ-तॄ-त्रो-द्वे च ॥ ७३३ ॥

एभ्यः किद् उः प्रत्ययो भवत्येषां द्वे रूपे भवतः । हनंक् हिंसागत्योः, जघ्नुः-इन्द्रः, वेगवांश्च । यांक् प्रापणे, ययुः-अश्वः, यायावरः, स्वर्गमार्गश्च । डुकृंग् करणे, चक्रुः-कर्मठः, वैकुण्ठश्च । टुडुभृंगक् पोषणे च, भृंग् भरणे वा, बभ्रुः-ऋषिः, नकुलः, राजा, वर्णश्च । पॄश् पालनपूरणयोः, पुपुरुः-समुद्रः, चन्द्रः, लोकश्च । तॄ प्लवनतरणयोः, तितिरुः-पतङ्गः । त्रैङ् पालने, तत्रुः-नौका ॥ ७३३ ॥

कॄ-गॄ ऋत उर् च ॥ ७३४ ॥

आभ्यां किद् उ. प्रत्ययो भवति, ऋकारस्य च उर् भवति । कॄत् विक्षेपे, कुरुः-राजर्षिः, कुरवः-जनपदः । गॄश् शब्दे, गुरुः-आचार्यः, लघुप्रतिपक्षः, पूज्यश्च जनः ।७३४।

पचेरिच्चातः ॥ ७३५ ॥

डुपचींष् पाके, इत्यस्माद् उः प्रत्ययो भवत्यकारस्य च इकारो भवति । पिचुः-निरस्थीकृतः कर्पासः ॥ ७३५ ॥

अर्तेरूर्च ॥ ७३६ ॥

ऋंक् गतौ, इत्यस्माद् उः प्रत्ययो भवत्यस्य च ऊर् इत्यादेशो भवति । ऊरुः-शरीराङ्गम् ॥ ७३६ ॥

महत्युर्च ॥ ७३७ ॥

अर्तेर्महत्यभिधेये उः प्रत्ययो भवत्यस्य च उर् इत्यादेशो भवति । उरु-विस्तीर्णम् ॥ ७३७ ॥

उड् च भे ॥ ७३८ ॥

अर्तेर्भे नक्षत्रेऽभिधेये उः प्रत्ययो भवति, धातोश्च उडादेशो भवति । उडु-नक्षत्रम् ॥ ७३८ ॥

श्लिषेः क च ॥ ७३९ ॥

श्लिषंच् आलिङ्गने, इत्यस्मात् किद् उः प्रत्ययो भवति, ककारश्चान्तादेशो भवति । श्लिकुः-मृगास्थि, सव्यवसायः, राज्यं, ज्योतिषं, सेवकश्च ॥ ७३९ ॥

रङ्घि-लङ्घि-लिङ्गेर्नलुक् च ॥ ७४० ॥

एभ्य उः प्रत्ययो भवति, नकारस्य च लुग् भवति । रघु लघुङ् गतौ । रघुः-राजा । लघु-तुच्छं, शीघ्रं च । लिगुण् चित्रीकरणे, लिगुः-ऋषिः, सेवकः, मूर्खः, भूमिविशेषश्च ॥ ७४० ॥

पी-मृग-मित्र-देव-कुमार-लोक-धर्म-विश्व-सुम्नाश्मावेभ्यो युः ॥ ७४१ ॥

पी मृग-मित्र-देव-कुमार लोक-धर्म-विश्व-सुम्न-अश्मन्-अव इत्येतेभ्यः परात् यांक् प्रापणे, इत्यस्मात् किद् उः प्रत्ययो भवति । पीयुः-उलूकः, आदित्यः, सुवर्णं, कालश्च । मृगयुः-व्याधः, मृगश्च । मित्रयुः-ऋषिः, मित्रवत्सलश्च । देवयुः-धार्मिकः । कुमारयुः-राजपुत्रः । लोकयुः-वाक्यकुशलः जनः । धर्मयुः-धार्मिकः । विश्वयुः-वायुः । सुम्नयुः-यजमानः । अश्मयु -मूर्खः । अवयुः-काव्यम् ॥ ७४१ ॥

पराङ्भ्यां शृ-खनिभ्यां डित् ॥ ७४२ ॥

पर-आङ्पूर्वाभ्यां यथासंख्यं शृ-खनिभ्यां डिद् उः प्रत्ययो भवति । शृश् हिंसायाम्, परान् शृणाति परशुः-कुठारः । खनूग् अवदारणे, आखुः-मूषिकः ॥ ७४२ ॥

शुभेः स च वा ॥ ७४३ ॥

शुभि दीप्तौ, इत्यस्माद् डिद् उः प्रत्ययो भवति, अस्य च दन्त्यः सो वा भवति । सुः शुश्च पूजायाम्, सुपुरुषः-शुनासीरः ॥ ७४३ ॥

द्यु-द्रुभ्याम् ॥ ७४४ ॥

आभ्यां डिद् उः प्रत्ययो भवति । द्युंक् अभिगमे, द्युः-स्वर्गक्रीडा, स्वर्गश्च । द्रुं गतौ, द्रुः- वृक्षशाखा, वृक्षश्च ॥ ७४४ ॥

हरि-पीत-मित-शत-वि-कु-कद्रुयो द्रुवः ॥ ७४५ ॥

हरि-पीत-मित शत-वि-कु-कद् इत्येतेभ्यः पराद् द्रुं गतौ, इत्यस्माद् उः प्रत्ययो भवति । हरिद्रुः-वृक्षः, ऋषिः, पर्वतश्च । पीतद्रुः, देवदारुः । मितद्रुः-समुद्रः, तुरगः, मितङ्गमश्च । शतद्रुर्नाम नदः, नदी च । विद्रुः-दारुप्रकारः, वृक्षश्च । कुद्रुः-विकलपादः । कद्रुः-नागमाता, वह्निजातिः, गृहगोधा, वर्णश्च ॥ ७४५ ॥

केवयु-भुरण्य्वध्वर्यादयः ॥ ७४६ ॥

केवय्वादयः शब्दा डिदुप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते । केवलपूर्वाद्यातेर्ललोपश्च । केवलो याति केवयुः-ऋषिः । भूपूर्वाद्यातेर्भुरण् चादौ, भुवं याति भुरण्युः-अग्निः । अध्वरं याति पूर्वपदान्तलोपे, अध्वर्युः-ऋत्विक् । आदिग्रहणात् चरन् याति चरण्युः-वायुः अभिपूर्वस्य चाश्नातेः, अभीशुः-रश्मिः ॥ ७४६ ॥

शः सन्वच्च ॥ ७४७ ॥

शोंच् तक्षणे, इत्यस्माद् डिद् उः प्रत्ययो भवति, स च सन्वद् भवति। सनि इवास्मिन् द्वित्वं पूर्वस्य च इत्वं भवतीत्यर्थः शिशुः-बालः ॥ ७४७ ॥

तनेर्डउः ॥ ७४८ ॥

तनूयी विस्तारे, इत्यस्माद् डिद् अउः प्रत्ययो भवति, स च सन्वत्। तितउः-परिपवनम् ॥ ७४८ ॥

कै-शी-शमि-रमिभ्यः कुः ॥ ७४९ ॥

एभ्यः कुः प्रत्ययो भवति। कैं शब्दे, काकुः-स्वरविशेषः। शीङ्क् स्वप्ने, शेकुः-उद्भिद्विशेषः। शमूच् उपशमे, शङ्कुः-कीलकः, बाणः, शूलम्, आयुधं, चिह्नम्, छलकश्च। रमिं क्रीडायाम्, रङ्कुः-मृगः ॥ ७४९ ॥

ह्रियः किद्रो लश्च वा ॥ ७५० ॥

ह्रींक् लज्जायाम्, इत्यस्मात् कित् कुः प्रत्ययो भवति, रेफस्य च लकारो वा भवति। ह्रीकुः ह्लीकुश्च त्रपुजतुनी लज्जायांश्च-ह्रीकुः-वनमार्जारः ॥ ७५० ॥

किरः ष च ॥ ॥ ७५१ ॥

कॄत् विक्षेपे, इत्यस्मात् कित् कुः प्रत्ययो भवति, षकारश्चान्तादेशो भवति। किष्कुः-छायामानद्रव्यम् ॥ ७५१ ॥

चटि-कठि-पर्दिभ्यः आकुः ॥ ७५२ ॥

एभ्य आकुः प्रत्ययो भवति। चटण् भेदे, चटाकुः-ऋषिः, शकुनिश्च। कठ कृच्छ्रजीवने, कठाकुः-कुटुम्बपोषकः। पर्दि कुत्सिते शब्दे। पर्दाकुः-भेकः, वृश्चिकः, अजगरश्च ॥ ७५२ ॥

सिवि-कुटि-कुठि-कु-कुषि-कृषिभ्यः कित् ॥ ७५३ ॥

एभ्यः किद् आकुः प्रत्ययो भवति। षिवूच् उतौ, सिवाकुः-ऋषिः। कुटत् कौटिल्ये, कुटाकुः-विटपः। कुठिः सौत्रः, कुठाकुः-श्वभ्रम्। कुङ् शब्दे, कुवाकुः-पक्षी। कुषश् निष्कर्षे, कुषाकुः-मूषिकः, अग्निः, परोपतापी च। कृषींत् विलेखने, कृषाकुः कृषीवलः ॥ ७५३ ॥

उपसर्गाच्चेर्डित् ॥ ७५४ ॥

उपसर्गपूर्वात् चिंग्ट् चयने, इत्यस्माद् डिद् आकुः प्रत्ययो भवति। उपचाकुः-संचाकुश्च ऋषिः। निचाकुः-निपुणः, ऋषिश्च ॥ ७५४ ॥

शलेरङ्कुः ॥ ७५५ ॥

शल गतौ, इत्यस्मात् अङ्कुः प्रत्ययो भवति । शलङ्कुः-ऋषिः ॥ ७५५ ॥

सृ-पृभ्यां-दाकुक् ॥ ७५६ ॥

आभ्यां किद् दाकुः प्रत्ययो भवति । सृं गतौ, सृदाकुः-दावाग्निः, वायुः, आदित्यः, व्याघ्रः, शकुनिः, अस्तः, भर्ता, गोत्रकृच्च । पृंक् पालनपूरणयोः, पृदाकुः-सर्पः, गोत्रकृच्च ॥ ७५६ ॥

इषेः स्वाकुक् च ॥ ७५७ ॥

इषत् इच्छायाम्, इत्यस्मात् कित् स्वाकुः प्रत्ययो भवति । इक्ष्वाकुः-आदिक्षत्रियः ॥ ७५७ ॥

फलि-वल्यमेर्गुः ॥ ७५८ ॥

एभ्यो गुः प्रत्ययो भवति । फल निष्पत्तौ, फल्गु-असारम् । वलि संवरणे, वल्गु-मधुरम्, शोभनं च, वल्गुः-पक्षी । अम गतौ, अङ्गुः-शरीरावयवः ॥ ७५८ ॥

दमेर्लुक् च ॥ ७५९ ॥

दमूच् उपशमे, इत्यस्माद् गुः प्रत्ययो भवत्यन्त्यस्य च लुग् भवति । दगुः-ऋषिः ॥ ७५९ ॥

होर्हिन् च ॥ ७६० ॥

हिंट् गतिवृद्ध्योः, इत्यस्माद् गुः प्रत्ययो भवत्यस्य च हिन् इत्यादेशो भवति । हिङ्गुः-रामठः ॥ ७६० ॥

प्री-कै-पै-नीलेङ्गुक् ॥ ७६१ ॥

एभ्य किद् अङ्गुः प्रत्ययो भवति । प्रींग्श् तृप्तिकान्त्योः, प्रियङ्गुः-फलिनी, रालकश्च । कैं शब्दे, कङ्गुः-अणुः । पैं शोषणे, पङ्गुः-खञ्जः । णील वर्णे, नीलङ्गुः-कृमिजातिः, शृगालश्च ॥ ७६१ ॥

अव्यर्ति-गृभ्योऽटुः ॥ ७६२ ॥

एभ्योऽटुः प्रत्ययो भवति । अव रक्षणादौ, अवटुः-कृकाटिका । ऋंक् गतौ, अरटुः-वृक्षः । गॄत् निगरणे, गरटुः-देशविशेषः, पक्षी, अजगरश्च ॥ ७६२ ॥

शलेराटुः ॥ ७६३ ॥

शल गतौ, इत्यस्माद् आटुः प्रत्ययो भवति । शलाटुः-कोमलं फलम् ॥ ७६३ ॥

अञ्ज्यवेरिष्टुः ॥ ७६४ ॥

आभ्यामिष्ठुः प्रत्ययो भवति । अञ्जौप् व्यक्त्यादौ, अञ्जिष्ठुः-भानुः, अग्निश्च । अव रक्षणादौ, अविष्ठुः-अश्वः, होता च ।। ७६४ ।।

तमि-मनि-कणिभ्यो डुः ॥ ७६५ ॥

एभ्यो डुः प्रत्ययो भवति । तनूयी विस्तारे, तण्डुः-प्रथमः । मनिच् ज्ञाने, मण्डुः-ऋषिः । कण शब्दे, कण्डुः-वेदनाविशेषः ।। ७६५ ।।

पनेर्दीर्घश्च ॥ ७६६ ॥

पनि स्तुतौ, इत्यस्माद् डुः प्रत्ययो भवति, दीर्घश्च भवति । पाण्डुः-वर्णः, क्षत्रियश्च ।। ७६६ ।।

पलि-मृभ्यामाण्डुकण्डुकौ ॥ ७६७ ॥

आभ्यां यथासंख्यमाण्डुः कण्डुक् इति प्रत्ययौ भवतः । पल गतौ, पलाण्डुः-लशुनभेदः । मृं त् प्राणत्यागे मृकण्डुः-ऋषिः ।। ७६७ ।।

अजि-स्था-वृ-रीभ्यो णुः ॥ ७६८ ॥

एभ्यो णुः प्रत्ययो भवति । अज क्षेपणे च, वेणुः-वंशः । ष्ठां गतिनिवृत्तौ, स्थाणुः-शिवः, ऊर्ध्वं च दारु । वृग्ट् वरणे, वर्णुः-नदः, जनपदश्च । रींश् गतिरेषणयोः, रेणुः-धूलिः ।। ७६८ ।।

विषेः कित् ॥ ७६९ ॥

विष्लृंकी व्याप्तौ, इत्यस्मात् किद् णुः प्रत्ययो भवति । विष्णुः- हरिः ।। ७६९ ।।

क्षिपेरणुक् ॥ ७७० ॥

क्षिपींत् प्रेरणे, इत्यस्मात् किद् अणुः प्रत्ययो भवति । क्षिपणुः-समीरणः, विद्युच्च ।। ७७० ।।

अञ्जेरिष्णुः ॥ ७७१ ॥

अञ्जौप् व्यक्त्यादौ, इत्यस्माद् इष्णुः प्रत्ययो भवति । अञ्जिष्णुः-घृतम् ।।७७१।।

कृ-हृ-भू-जीवि-गम्यादिभ्य एणुः ॥ ७७२ ॥

एभ्य एणुः प्रत्ययो भवति । कृंग्ट् हिंसायाम्, डुकृंग् करणे वा, करेणुः-हस्ती । हृंग् हरणे, हरेणुः-गन्धद्रव्यम् । भू सत्तायाम्, भवेणुः-भव्यः । जीव प्राणधारणे, जीवेणुः-औषधम् । गम्लृं गतौ, गमेणुः-गन्ता । आदिग्रहणात् शमूच् उपशमे, शमेणुः-उपशमनम् । यजीं देवपूजादौ, यजेणुः-यज्ञादिः । डुपचींष् पाके, पचेणुः-पाकस्थानम् । पदेणुः, वहेणुरित्यादि ।। ७७२ ।।

कृ-सि--कम्यमि--गमि-तनि-मनि-जन्यसि-मसि-सच्यवि-भा-धा-गा-ग्ला-म्ला-हनि-हा-या-हि-क्रुशि-पूभ्यस्तुन् ॥ ७७३ ॥

एभ्यः तुन्प्रत्ययो भवति । डुकृंग् करणे, कर्तुः-कर्मकरः । षिंग्ट् बन्धने, सेतुः-नदीसंक्रमः । कमूङ् कान्तौ, कन्तुः-कन्दर्पः, कामी, मनः, कुसूलश्च । अम गतौ, अन्तुः-रक्षिता, लक्षणं च । गम्लृं गतौ, गन्तुः-पथिकः, आगन्तुः अवास्तव्यो जनः । तनूयी विस्तारे, तन्तुः-सूत्रम् । मनिच् ज्ञाने, मन्तुः-वैमनस्यम्, प्रियंवदः, मानश्च । जनैचि प्रादुर्भावे, जन्तुः प्राणी । असक् भुवि, अस्तुः-अस्तिभावः । बाहुलकाद् भूभावाभावः । मसैच् परिणामे, मस्तुः-दधिमूलवारि । षचि सेचने, सक्तुः-यवविकारः । अव रक्षणादौ, ओतुः-बिडालः । भांक् दीप्तौ, भातुः-दीप्तिमान्, शरीरावयवः, अग्निः, विद्वांश्च । डुधांग्क् धारणे च, धातुः-लोहादिः, रसादिः, शब्दप्रकृतिश्च । गैं शब्दे, गातुः-गायनः, उद्गाता च । ग्लैं हर्षक्षये, ग्लातुः-सरुजः । म्लैं गात्रविनामे, म्लातुः-दीनः । हनंक् हिंसागत्योः, हन्तुः-आयुधं, हिमश्च । ओहांक् त्यागे, हातुः-मृत्युः, मार्गश्च । यांक् प्रापणे, यातुः-पाप्मा जनः, राक्षसश्च । हिंट् गतिवृद्ध्योः हेतुः-कारणम् । क्रुशं आह्वान-रोदनयोः, क्रोष्टा-शृगालः । पूग्श् पवने । पोतुः पविता । नित्करणम् 'क्रुशस्तुनस्तृच् पुंसि' इत्यत्र विशेषणार्थम् ।। ७७३ ।।

वसेर्णिद्वा ॥ ७७४ ॥

वंस निवासे, इत्यस्मात् तुन् प्रत्ययो भवति, स च णिद्वा भवति । वास्तु-गृहं, गृहभूमिश्च । वस्तु सत्, निवेशभूमिश्च ।। ७७४ ।।

पः पीप्यौ च वा ॥ ७७५ ॥

पां पाने, इत्यस्मात् तुन्प्रत्ययो भवति । अस्य च पी पि इत्यादेशौ वा भवतः । पीतुः-आदित्यः, चन्द्रः, हस्ती, कालः, चक्षुः, बालघृतपानभाजनं च । पितुः-प्रजापतिः, आहारश्च । पातुः-रक्षिता, ब्रह्मा च ।। ७७५ ।।

आपोऽप् च ॥ ७७६ ॥

आप्लृंट् व्याप्तौ, इत्यस्मात् तुन्प्रत्ययो भवत्यस्य च अप् इत्यादेशो भवति । अप्तुः-देवताविशेषः, कालः, याजकः, यज्ञयोनिश्च ।। ७७६ ।।

अञ्ज्यर्तेः कित् ॥ ७७७ ॥

आभ्यां कित् तुन्प्रत्ययो भवति । अञ्जौप् व्यक्त्यादिषु । अक्तुः-इन्द्रः, विष्णुः, रात्रिश्च । ऋंक् गतौ, ऋतुः-हेमन्तादिः, स्त्रीरजः, तत्कालश्च ।। ७७७ ।।

चायः के च ॥ ७७८ ॥

चायृग् पूजा-निशामनयोः, इत्यस्मात् तुन्प्रत्ययः भवत्यस्य च के इत्यादेशो भवति । केतुः-ध्वजः, ग्रहश्च ।। ७७८ ।।

वहि-महि-गुह्येधिभ्योऽतुः ॥ ७७९ ॥

एभ्योऽतुः प्रत्ययो भवति । वहीं प्रापणे, वहतुः विवाहः, अनड्वान्, अग्निः, कालश्च । मह पूजायाम्, महतुः-अग्निः । गुहौग् संवरणे, गूहतुः-भूमिः । एधि वृद्धौ, एधतुः-लक्ष्मीः, पुरुषः, अग्निश्च ।। ७७९ ।।

कृ-लाभ्यां कित् ॥ ७८० ॥

आभ्यां किद् अतुः प्रत्ययो भवति । डुकुंग् करणे, क्रतुः-यज्ञः । लांक् आदाने, लतुः-पाशः ।। ७८० ।।

तनेर्यतुः ॥ ७८१ ॥

तनूयी विस्तारे, इत्यस्माद् यतुः प्रत्ययो भवति । तन्यतुः-विस्तारः, वायुः, पर्वतः, सूर्यश्च ।। ७८१ ।।

जीवेरातुः ॥ ७८२ ॥

जीव प्राणधारणे, इत्यस्मादातुः प्रत्ययो भवति । जीवातुः-जीवनम्, औषधम्, अन्नम्, उदकं, द्रव्यं च ।। ७८२ ।।

यमेर्दुक् ॥ ७८३ ॥

यमूं उपरमे, इत्यस्मात् किद् दुः प्रत्ययो भवति । यदुः-क्षत्रियः ।। ७८३ ।।

शीङो धुक् ॥ ७८४ ॥

शीङ्क् स्वपने, इत्यस्मात् किद् धुः प्रत्ययो भवति । शीधु-मद्यविशेषः ।। ७८४ ।।

धूगो धुन् च ॥ ७८५ ॥

धूग्श् कम्पने, इत्यस्माद् धुक् प्रत्ययो भवत्यस्य च धुन् इत्यादेशो भवति । धुन्धुः-दानवः ।। ७८५ ।।

दा-भाभ्यां नुः ॥ ७८६ ॥

आभ्यां नुः प्रत्ययो भवति । डुदांग्क् दाने, दानुः-गन्ता, यजमानः, वायुः, आदित्यः, दक्षिणार्थं च धनम् । भांक् दीप्तौ, भानुः-सूर्यः, रश्मिश्च । चित्रभानु -अग्निः । स्वर्भानुः-राहुः । विश्वभानुः-आदित्यः ।। ७८६ ।।

धेः शित् ॥ ७८७ ॥

ट्धें पाने, इत्यस्माद् नुः प्रत्ययो भवति, स च शिद् भवति, शित्वादाद् 'आत् संध्यक्षरस्य' इति अकारो न भवति । धेनुः-अभिनवप्रसवा गवादिः ।। ७८७ ।।

सूङः कित् ॥ ७८८ ॥

षूङौक् प्राणिगर्भविमोचने, इत्यस्मात् किद् नुः प्रत्ययो भवति । सुनुः-पुत्रः ।७८८।

ह्वो जह्नु च ॥ ७८९ ॥

ओहांक् त्यागे, इत्यस्मात् किद् नुः प्रत्ययो भवत्यस्य च जह्न् इत्यादेशो भवति । जह्नुः-गङ्गापिता ॥ ७८९ ॥

वचेः कगौ च ॥ ७९० ॥

वचंक् भाषणे, इत्यस्माद् नुः प्रत्ययो भवति, ककार-गकारौ चान्तादेशौ भवतः । वक्नुः, वग्नुश्चवाग्मी ॥ ७९० ॥

कृ-हनेस्तुक्-नुकौ ॥ ७९१ ॥

आभ्यां कितौ तु-नु इति प्रत्ययौ भवतः । डुकृंग् करणे, कृतुः-कर्मकारः । कृणुः-कोशकारः, कारुश्च । हनंक् हिंसागत्योः, हतुः-हिमः, हनुः-वक्त्रैकदेशः । बाहुलकान्नलोपः ॥ ७९१ ॥

गमेः सन्वच्च ॥ ७९२ ॥

गम्लृं गतौ, इत्यस्मात् तुक्-नुकौ सन्वत् च भवतः । जिगन्तुः-ब्राह्मणः, दिवसः, मार्गः, प्राणः, अग्निश्च । जिगन्नुः-प्राणः, बाणः, मनः, मीनः, वायुश्च ॥ ७९२ ॥

दा-भू-क्षण्युन्दि-नदि-वदिपत्यादेरनुङ् ॥ ७९३ ॥

एभ्यो ङिद् अनुः प्रत्ययो भवति । डुदांग्क् दाने । दनुः-दानवमाता । भू सत्तायाम्, भुवनुः-मेघः, चन्द्रः, भवितव्यता, हंसश्च । क्षणूयी हिंसायाम्, क्षणनुः-यायावरः । उन्दैप् क्लेदने, उदनुः-शुकः । णद अव्यक्ते शब्दे, नदनुः-मेघः, सिंहश्च । वद व्यक्तायां वाचि, वदनुः-वक्ता । पत्लृ गतौ, पतनुः-श्येनः । आदिग्रहणादन्येऽपि । कित्त्वमकृत्वा ङित्करणं वदेर्वृद्धभावार्थम् ॥ ७९३ ॥

कृशेरानुक् ॥ ७९४ ॥

कृशच् तनुत्वे, इत्यस्मात् किद् आनुः प्रत्ययो भवति । कृशानुः-वह्निः ॥ ७९४ ॥

जीवेरदानुक् ॥ ७९५ ॥

जीव प्राणधारणे, इत्यस्मात् किद् रदानुः प्रत्ययो भवति । जीरदानुः । कित्करणं गुणप्रतिषेधार्थम् । वलोपे हि नाभ्यन्तत्वाद् गुणः स्यात् ॥ ७९५ ॥

वचेरक्नुः ॥ ७९६ ॥

वचंक् भाषणे, इत्यस्मादक्नुः प्रत्ययो भवति । वचक्नुः वाग्मी, आचार्यः, ब्राह्मणः, ऋषिश्च ॥ ७९६ ॥

हृषि-पुषि-घुषि-गदि-मदि-नन्दि-गडि-मण्डि-जनि-स्तनिभ्यो णेरित्नुः ॥७९७॥

एभ्यो ण्यन्तेभ्य इत्नुः प्रत्ययो भवति । हृषंच् तुष्टौ, हृषू अलीके वा, हर्षयित्नुः-

आनन्दः, स्वजनः, रङ्गोपजीवी, प्रियंवदश्च । पुषंच् पुष्टौ, पोषयित्नुः-भर्ता, मेघः, कोकिलश्च । घुषृण् विशब्दने, घोषयित्नुः-कोकिलः, शब्दश्च । गदण् गर्जे, गदयित्नुः-पर्जन्यः, वावदूकः, भ्रमरः कामश्च । मदैच् हर्षे, मदयित्नुः-मदिरा, सुवर्णम् अलंकारश्च । टुनदु समृद्धौ, नन्दयित्नुः-पुत्रः, आनन्दः, प्रमुदितश्च । गड सेचने, गडयित्नुः-बलाहकः । मडु भूषायाम्, मण्डयित्नुः-मण्डयिता, कामुकश्च । जनैचि प्रादुर्भावे, जनयित्नुः-पिता । स्तनण् गर्जे, स्तनयित्नुः-मेघः, मेघगर्जितं च ।। ७९७ ।।

कस्यर्तिस्यामिपुक् ॥ ७६८ ॥

आभ्यां किद् इपुः प्रत्ययो भवति । कस गतौ, कसिपुः-अशनम् । ऋक् गतौ, रिपुः-शत्रुः ।। ७९८ ।।

कम्यमिभ्यां बुः ॥ ७६६ ॥

आभ्यां बुः प्रत्ययो भवति । कमूङ् कान्तौ, कम्बुः-शङ्खः । अम गतौ, अम्बु-पानीयम् ।। ७९९ ।।

अभ्रेरमुः ॥ ८०० ॥

अभ्र गतौ, इत्यस्यादमुः प्रत्ययो भवति । अभ्रमुः-देवहस्तिनी ।। ८०० ।।

यजि-शुन्धि-दहि-दसि-जनि-मनिभ्यो युः ॥ ८०१ ॥

एभ्यो युः प्रत्ययो भवति । यजीं देवपूजादौ, यज्युः अग्निः, अध्वर्युः, यज्वा, शिष्यश्च । शुन्ध् शुद्धौ, शुन्ध्युः-अग्निः, आदित्यः पवित्रं च । दहं भस्मीकरणे, दह्युः-अग्निः । दसूच् उपक्षये, दस्युः-चौरः । जनैचि प्रादुर्भावे, जन्युः-अपत्यं, पिता, वायुः, प्रादुर्भावः, प्रजापतिः, प्राणी च । मनिच् ज्ञाने, मन्युः-कृपा, क्रोधः-शोकः, क्रतुश्च ।८०१।

भुजेः कित् ॥ ८०२ ॥

भुजंप् पालनाभ्यवहारयोः, इत्यस्मात् किद् युः प्रत्ययो भवति । भुज्युः-अग्निः, आदित्यः, गरुडः, भोगः, ऋषिश्च ।। ८०२ ।।

सर्तेरय्वन्यू ॥ ८०३ ॥

सृं गतौ, इत्यस्माद् अयु, अन्यु इति प्रत्ययौ भवतः । सरयुः-नदी वायुश्च । दीर्घान्तमिममिच्छन्त्येके । सरयूः । श्लिष्टनिर्देशात् तदपि संगृहीतमेव । सरण्युः-मेघः, अश्विनोर्माता, समेघो वायुश्च ।। ८०३ ।।

भू-क्षिपि-चरेरन्युक् ॥ ८०४ ॥

एभ्यः किदन्युः प्रत्ययो भवति । भू सत्तायाम्, भुवन्युः-ईश्वरः, अग्निश्च । क्षिपींत् प्रेरणे, क्षिपण्युः-वायुः, वसन्तः, विद्युत्, अर्थः, कालश्च । चर भक्षणे च, चरण्युः वायुः ।। ८०४ ।।

मुस्त्युक् ॥ ८०५ ॥

मृं त् प्राणत्यागे, इत्यस्मात् कित् त्युः प्रत्ययो भवति । मारयतीति मृत्युः, कालः, मरणं च ॥ ८०५ ॥

चि-नी-पी-म्यशिभ्यो रुः ॥ ८०६ ॥

एभ्यो रुः प्रत्ययो भवति । चिग्ट् चयने, चेरुः मुनिः । णींग् प्रापणे, नेरुः-जनपदः । पींङ्च् पाने, पेरुः-सूर्यः, गिरिः-कलविङ्कश्च । मीङ्च् हिंसायाम्, मेरुः-देवाद्रिः । अशौटि व्याप्तौ, अश्रु-नेत्रजलम् ॥ ८०६ ॥

रु-पूभ्यां कित् ॥ ८०७ ॥

आभ्यां किद् रुः प्रत्ययो भवति । रुक् शब्दे । रुरुः-मृगजातिः । पूग्श् पवने, पुरुः-राजा ॥ ८०७ ॥

खनो लुक् च ॥ ८०८ ॥

खनूग् अवदारणे, इत्यस्माद् रुः प्रत्ययो भवति, अन्त्यस्य च लुग् भवति । खरुः-दर्पः क्रूरः, मूर्खः दृप्तः, गीतविशेषश्च ॥ ८०८ ॥

जनि-हनि-शद्यर्तेस्त च ॥ ८०९ ॥

एभ्यो रुः प्रत्ययो भवति, तकारश्चान्तादेशो भवति । जनैचि प्रादुर्भावे, जत्रुः-शरीरावयवः, मेघः, घर्मावसानं च । हनंक् हिंसागत्योः हत्रुः-हिंस्रः । शद्लृ शातने, शत्रुः-रिपुः । बाहुलकात् तादेशविकल्पे शद्रुः-पुरुषः । ऋंक् गतौ, अत्रुः-क्षुद्रजन्तुः ॥ ८०९ ॥

श्मनः शीङो डित् ॥ ८१० ॥

श्मन्पूर्वात् शीङ्क् स्वप्ने, इत्यस्माद् डिद् रुः प्रत्ययो भवति । श्मश्रु-मुखलोमानि ॥ ८१० ॥

शिग्रु-गेरु-नमेर्वादयः ॥ ८११ ॥

शिग्र्वादयः शब्दा रुप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते । शिग्ट् निशाने, कित् गोऽन्तश्च । शिग्रुः सौभाञ्ज,-नकः हरितकविशेषश्च । गिरतेरेच्च, गेरुः-धातुः । नमेर्नञ्पूर्वस्य मयतेर्वा एच्चान्तः, नमेरुः-देववृक्षः । आदिग्रहणादन्येऽपि ॥ ८११ ॥

कटि-कुट्यर्तेररुः ॥ ८१२ ॥

एभ्योऽरुः प्रत्ययो भवति । कटे वर्षावरणयोः, कटरुः-शकटम् । कुटत् कौटिल्ये, कुटरुः-पक्षिविशेषः, मर्कटः, वृक्षः, वर्धकिश्च । कुटादित्वान्न गुणः । ऋंक् गतौ, अररुः-असुरः, आयुधं, मण्डलं च ॥ ८१२ ॥

कर्केरारुः ॥ ८१३ ॥

कर्के सौत्रादारुः प्रत्ययो भवति । कर्कारुः-क्षुद्रचिर्भटी ॥ ८१३ ॥

उर्वेरादेरूदेतौ च ॥ ८१४ ॥

उर्वै हिंसायाम्, इत्यस्मादारुः प्रत्ययो भवति, आदेश्च ऊकार-एकार आदेशौ भवतः। ऊर्वत्यार्तिमिति ऊर्वारुः-कटुचिर्भटी। एर्वारुः-चारुचिर्भटी ॥ ८१४ ॥

कृपि-क्षुधि-पी-कुणिभ्यः कित् ॥ ८१५ ॥

एभ्यः किदारुः प्रत्ययो भवति। कृपौङ् सामर्थ्ये, कृपारुः-दयाशीलः। क्षुधंच् बुभुक्षायाम्, क्षुधारुः-क्षुधमसहमानः, लत्वे कृपालुः, क्षुधालुः। पीङ्च् पाने। पियारुः-वृक्षः। कुणत् शब्दोपकरणयोः, कुणारुः-वनस्पतिः ॥ ८१५ ॥

श्यः शीत च ॥ ८१६ ॥

श्यैङ् गतौ, इत्यस्माद् आरुः प्रत्ययो भवति। अस्य च शीत इत्यादेशो भवति। शीतारुः-शीतासह, लत्वे शीतालुः ॥ ८१६ ॥

तुम्बेरुरुः ॥ ८१७ ॥

तुबु अर्दने, इत्यस्मादुरुः प्रत्ययो भवति। तुम्बुरुः-गन्धर्वः, गन्धद्रव्यं च ॥ ८१७ ॥

कन्देः कुन्द् च ॥ ८१८ ॥

कदु रोदनाह्वानयोः, इत्यस्माद् उरुः प्रत्ययो भवत्यस्य च कुन्द् इत्यादेशो भवति। कुन्दुरुः-सल्लकीनिर्यासः ॥ ८१८ ॥

चमेरूरुः ॥ ८१९ ॥

चमू अदने, इत्यस्माद् ऊरुः प्रत्ययो भवति। चमूरुः-चित्रकः ॥ ८१९ ॥

शीङो लुः ॥ ८२० ॥

शीङ्क् स्वप्ने, इत्यस्माद् लुः प्रत्ययो भवति। शेलुः-श्लेष्मातकः ॥ ८२० ॥

पीङः कित् ॥ ८२१ ॥

पीङ्च् पाने, इत्यस्मात् कित् लुः प्रत्ययो भवति। पीलुः-हस्ती, वृक्षश्च ॥ ८२१ ॥

लस्जीर्ष्यि-शलेरालुः ॥ ८२२ ॥

एभ्य आलुः प्रत्ययो भवति। ओलस्जैति व्रीडे, लज्जालुः-लज्जनशीलः। ईर्ष्य ईर्ष्यार्थः, ईर्ष्यालुः-ईर्ष्याशीलः। शल गतौ, शलालुः-वृक्षावयवः ॥ ८२२ ॥

आपोऽप् च ॥ ८२३ ॥

आप्लृंट् व्याप्तौ, इत्यस्मादालुः प्रत्ययो भवत्यस्य च अप् इत्यादेशो भवति। अपालुः-वायुः ॥ ८२३ ॥

गूहलु-गुग्गुलु-कमण्डलवः ॥ ८२४ ॥

एते आलुप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते। गूहतेर्ह्रस्वश्च प्रत्ययादेः, गूहलुः-ऋषिः। गुङ्

शब्दे, अस्यादेर्गुग्गुः लोपश्च प्रत्ययादेः, गुग्गुलुः-वृक्षविशेषः, अश्वश्च । कम्पूर्वादनितेर्डोऽन्तः ह्रस्वश्च प्रत्ययादेः, कमण्डलुः-अमत्रम् ॥ ८२४ ॥

पृः शुः ॥ ८२५ ॥

पृश् पालनपूरणयोः, इत्यस्मात् शुः प्रत्ययो भवति । पर्शुः-वङ्क्रिसंज्ञं वक्रास्थि ॥ ८२५ ॥

मस्जीष्यशिभ्यः सुक् ॥ ८२६ ॥

एभ्यः कित् सुः प्रत्ययो भवति । टुमस्जोंत् शुद्धौ, 'मस्जेः सः' इति नोऽन्तः, मङ्क्षुः-मुनिः । इषश् आभीक्ष्ण्ये, इक्षुः-गुडादिप्रकृतिः । अशौटि व्याप्तौ, अक्षुः-समुद्रः, वप्रश्च ॥ ८२६ ॥

तॄ-पलि-मलेरक्षुः ॥ ८२७ ॥

एभ्योऽक्षुः प्रत्ययो भवति । तॄ प्लवनतरणयोः, तरक्षुः-श्वापदविशेषः । पल गतौ, मलि धारणे, पलक्षुः, मलक्षुश्च वृक्षः ॥ ८२७ ॥

उलेः कित् ॥ ८२८ ॥

उल दाहे, इत्यस्मात् सौत्रात् किद् अक्षुः प्रत्ययो भवति । उलक्षुः-तृणजातिः ।८२८।

कृषि-चमि-तनि-धन्यन्दि-सर्जि-खर्जि-भर्जि-लस्जीर्ष्यिभ्य ऊः ॥ ८२९ ॥

एभ्य ऊः प्रत्ययो भवति । कृषींत् विलेखने, कर्षूः-कुल्या, अङ्गारः, परिखा, गर्तश्च । चमू अदने, चमूः-सेना । तनूयी विस्तारे, तनूः-शरीरम् । धन शब्दे, धन धान्ये सौत्रो वा, धनूः-धान्यराशिः ज्या, वरारोहा च स्त्री । अदु बन्धने, अन्दूः-पादकटकः । सर्ज अर्जने, सर्जूः-अर्थः, क्षारः, वनस्पतिः, वणिक् च । खर्ज मार्जने च, खर्जूः-कण्डूः, विद्युच्च । भृजैङ् भर्जने, भ्रस्जींत् पाके वा, भर्जूः-यवविकारः । ओलस्जैति व्रीडे, लज्जूः-लज्जालुः । ईर्ष्य ईर्ष्यार्थः, ईर्ष्यूः-ईर्ष्यालुः ॥ ८२९ ॥

फलेः फेल् च ॥ ८३० ॥

फल निष्पत्तौ, इत्यस्मादूः प्रत्ययो भवत्यस्य च फेल् इत्यादेशो भवति । फेलूः-होमविशेषः ॥ ८३० ॥

कषेण्ड-च्छौ च षः ॥ ८३१ ॥

कष हिंसायाम्, इत्यस्माद् ऊः प्रत्ययो भवति । षकारस्य च ण्ड-च्छश्चादेशो भवति । कण्डूः, कच्छूश्च-पामा ॥ ८३१ ॥

वहेर्ध् च ॥ ८३२ ॥

वहीं प्रापणे, इत्यस्माद् ऊः प्रत्ययो धश्चान्तादेशो भवति । वधूः-पतिमुपसंपन्ना कन्या, जाया च ॥ ८३२ ॥

मृजेर्गुणश्च ॥ ८३३ ॥

मृजौक् शुद्धौ, इत्यस्माद् ऊः प्रत्ययो भवति, गुणश्चास्य भवति । मर्जूः-शुद्धिः, रजकः, नद्यास्तीरं, शिला च । गुण सिद्धे गुणवचनमकारस्य वृद्धिबाधनार्थम् ॥ ८३३ ॥

अजेर्जोऽन्तश्च ॥ ८३४ ॥

अज क्षेपणे, इत्यस्माद् ऊः प्रत्ययो भवति, जकारश्चान्तो भवति । अज्जूः-जननी ॥ ८३४ ॥

कसि-पद्यर्त्यादिभ्यो णित् ॥ ८३५ ॥

एभ्यो णिद् ऊः प्रत्ययो भवति । कस गतौ, कासूः-शक्तिर्नामायुधम्, वाग्विकलः, बुद्धिः, व्याधिः, विकला च वाक् । पदिंच् गतौ, पादूः-पादुका । ऋंक् गतौ, आरूः-वृक्षविशेषः, कच्छूः, गतिः, पिङ्गलश्च । आदिग्रहणात् कचतेः-काचूः । शलतेः-शालूः इत्यादयोऽपि ॥ ८३५ ॥

अणेर्डोऽन्तश्च ॥ ८३६ ॥

अणेर्धातोर्णिद् ऊः प्रत्ययो भवति, डश्चान्तः । अण शब्दे, आण्डूः-जलभृङ्गारः ॥ ८३६ ॥

अडो ल् च वा ॥ ८३७ ॥

अड उद्यमे, इत्यस्माण्णिद् ऊः प्रत्ययो भवति, लश्चान्तादेशो वा भवति । आलूः-भृङ्गारः, करकश्च । आडूः-दर्वी, टिट्टिभः, वनस्पतिः, जलाधारभूमिः, पादभेदनं च ।८३७।

नञो लम्बेर्नलुक् च ॥ ८३८ ॥

नञ्पूर्वात् लबुङ् अवस्रंसने, इत्यस्माद् णिद् ऊः प्रत्ययो भवति । नकारस्य च लुक् भवति । अलाबूः-तुम्बी ॥ ८३८ ॥

कफादीरेर्ल च ॥ ८३९ ॥

कफपूर्वाद् ईरिक् गति-कम्पनयोः, इत्यस्माद् ऊः प्रत्ययो भवति, लकारश्चान्तादेशो भवति । कफेलूः-श्लेष्मातकः, यवलाजाः, मधुपर्कः, छादिषेयं च तृणम् ॥ ८३९ ॥

ऋतो रत् च ॥ ८४० ॥

ऋत् घृणागतिस्पर्धेषु, इत्यस्माद् ऊः प्रत्ययो भवति, रत् चास्यादेशो भवति । रतूः-नदीविशेषः, सत्यवाक्, दूतः, कृमिविशेषश्च ॥ ८४० ॥

दृभिचपेः स्वरान्नोऽन्तश्च ॥ ८४१ ॥

आभ्यां पर ऊः प्रत्ययो भवति, स्वरात् परो नोऽन्तश्च भवति । दृभैत् ग्रन्थे, दृन्भूः-सर्पजातिः, वनस्पतिः, वज्रः, ग्रन्थकारः, दर्भणं च । बाहुलकाद् 'म्नां धुड्वर्गेऽन्त्योऽपदान्ते' इति नकारस्य लुग् न भवति । चप सान्त्वने, चम्पूः-कथाविशेषः ॥ ८४१ ॥

धृषेर्दिधिष-दिधीषौ च ॥ ८४२ ॥

ञिधृषाट् प्रागल्भ्ये, इत्यस्माद् ऊः प्रत्ययो भवति, दिधिष् दिधीष् इत्यादेशौ चास्य भवतः। दिधिषूः-ज्यायस्याः पूर्वपरिणीता, पुंश्चली च। दिधीषूः ऊढायाः, कनिष्ठाया अनूढा, ज्येष्ठा, पुनर्भूः, आहुतिश्च ॥ ८४२ ॥

भ्रमि-गमि-तनिभ्यो डित् ॥ ८४३ ॥

एभ्यो डिद् ऊः प्रत्ययो भवति। भ्रमूच् अनवस्थाने, भ्रूः-अक्ष्णोरुपरि रोमराजिः। गम्लृं गतौ, अग्रेगच्छत्यग्रेगूः-पुरस्सरः। तनूयी विस्तारे, कुत्सितं तन्यते कुतूः-चर्ममयमावपनम् ॥ ८४३ ॥

नृति-शृधि-रुषि-कुहिभ्यः कित् ॥ ८४४ ॥

एभ्यः किद् ऊः प्रत्ययो भवति। नृतैच् नर्तने, नृतूः-नर्तकः, कृमिजातिः, प्लवः, प्रतिकृतिश्च। शृधूङ् शब्दकुत्सायाम्, शृधूः-शर्धनः, कृमिजातिः, अपानं, बलिश्च दानवः। रुषंच् रोषे, रुषूः-भर्त्सकः। कुहणि विस्मापने, कुहूः-अमावास्या ॥ ८४४ ॥

तॄ-खडिभ्यां डूः ॥ ८४५ ॥

आभ्यां डूः प्रत्ययो भवति। तॄ प्लवनतरणयोः, तर्डूः-द्रोणी, प्लवः, परिवेषणभाण्डं च। खडण् भेदे, खड्डूः-बालानामुपकरणम्, स्त्रीणां पादाङ्गुष्ठाभरणं च ॥८५४॥

तॄ-दॄभ्यां दूः ॥ ८४६ ॥

आभ्यां दूः प्रत्ययो भवति। तॄ प्लवनतरणयोः, तर्दूः-दर्वी। दॄश् विदारणे, दर्दूः-कुष्ठभेदः ॥ ८४६ ॥

कमि-जनिभ्यां बूः ॥ ८४७ ॥

आभ्यां बूः प्रत्ययो भवति। कमूङ् कान्तौ, कम्बूः-भूषणम्, आदर्शत्सरुः, कुरुविन्दश्च। जनैचि प्रादुर्भावे, जम्बूः-वृक्षविशेषः ॥ ८४७ ॥

शकेरन्धूः ॥ ८४८ ॥

शक्लृंट् शक्तौ, इत्यस्मादन्धूः प्रत्ययो भवति। शकन्धूः-वनस्पतिः, देवताविशेषश्च ॥ ८४८ ॥

कृगः कादिः ॥ ८४९ ॥

डुकृंग् करणे, इत्यस्मात् ककारादिरन्धूः प्रत्ययो भवति। कर्कन्धूः-बदरी, व्रणं, यवलाजाः, मधुपर्कः, विष्टम्भश्च ॥ ८४९ ॥

योरागूः ॥ ८५० ॥

युक् मिश्रणे, इत्यस्माद् आगूः प्रत्ययो भवति। यवागूः-द्रवौदनः ॥ ८५० ॥

काच्छीङो डेरूः ॥ ८५१ ॥

कपूर्वात् शीङ्क् स्वप्ने, इत्यस्माद् डिद् एरूः प्रत्ययो भवति । कशेरूः-कन्द-विशेषः, वीरुच्च ॥ ८५१ ॥

दिव ऋः ॥ ८५२ ॥

दिवूच् क्रीडादौ, इत्यस्माद् ऋः प्रत्ययो भवति । देवा-देवरः, पितृव्यस्त्री, अग्निश्च ॥ ८५२ ॥

सोरसेः ॥ ८५३ ॥

सुपूर्वादसूच् क्षेपणे, इत्यस्माद् ऋः प्रत्ययो भवति । स्वसा-भगिनी ॥ ८५३ ॥

नियो डित् ॥ ८५४ ॥

णींग् प्रापणे, इत्यस्माद् डिद् ऋः प्रत्ययो भवति । ना-पुरुषः ॥ ८५४ ॥

सव्यात् स्थः ॥ ८५५ ॥

सव्यपूर्वात् ष्ठां गतिनिवृत्तौ, इत्यस्माद् डिद् ऋः प्रत्ययो भवति । सव्येष्ठा-सारथिः ॥ ८५५ ॥

यति-ननन्दिभ्यां दीर्घश्च ॥ ८५६ ॥

यतेर्नञ्पूर्वाद् नन्देश्च ऋः प्रत्ययो भवति, दीर्घश्चानयोर्भवति । यतैङ् प्रयत्ने, याता-पतिभ्रातृभगिनी, देवरभार्या, ज्येष्ठभार्या च । टुनदु समृद्धौ, ननान्दा-भर्तृ-भगिनी । नखादित्वान्नञोऽन्न भवति ॥ ८५६ ॥

शासि-शंसि-नी-रु-क्षु-हृ-भृ-धृ-मन्यादिभ्यस्तृः ॥ ८५७ ॥

एभ्यः तृः प्रत्ययो भवति । शासूक् अनुशिष्टौ, शास्ता-गुरुः, राजा च; प्रशास्ता-राजा, ऋत्विक् च । शंसू स्तुतौ च, शंस्ता-स्तोता । णींग् प्रापणे, नेता-सारथिः । रुक् शब्दे, रोता-मेघः । टुक्षुक् शब्दे, क्षोता-मुसलम् । हृंग् हरणे, हर्ता-चौरः । टुडुभृंग्क् पोषणे च, भर्ता-पतिः । धृङ्त् अवध्वंसने, धर्ता-धर्मः । मनिच् ज्ञाने, मन्ता-विद्वान्, प्रजापतिश्च । आदिग्रहणादुपद्रष्टा-ऋत्विक्, विशस्ता-घातकः इत्यादयोऽपि ॥ ८५७ ॥

पातेरिच्च ॥ ८५८ ॥

पांक् रक्षणे, इत्यस्मात् तृः प्रत्ययो भवति, धातोश्चेकारोऽन्तादेशो भवति । पिता-जनकः ॥ ८५८ ॥

मानिभ्राजेर्लुक् च ॥ ८५९ ॥

आभ्यां तृः प्रत्ययो भवति, लुक् चान्तस्य भवति । मानि पूजायाम्, माता-जननी । भ्राजि दीप्तौ, भ्राता-सोदर्यः ॥ ८५९ ॥

जाया मिगः ॥ ८६० ॥

जाशब्दपूर्वाद् डुमिंग्ट् प्रक्षेपणे, इत्यस्मात् तृः प्रत्ययो भवति । जायां–प्रजायां, मिन्वन्ति तमिति जामाता–दुहितृपतिः ॥ ८६० ॥

आपोऽप् च ॥ ८६१ ॥

आप्लृंट् व्याप्तौ, इत्यस्मात् तृः प्रत्ययो भवति । अप् चास्यादेशो भवति । अप्ता–यज्ञः, अग्निश्च ॥ ८६१ ॥

नमेः प च ॥ ८६२ ॥

णमं प्रह्वत्वे, इत्यस्माद् तृः प्रत्ययो भवति, पश्चास्यान्तादेशो भवति । नप्ता–दुहितुः, पुत्रस्य वा पुत्रः ॥ ८६२ ॥

हु-पुग्-गोन्नी-प्रस्तु-प्रतिहृ-प्रतिप्रस्थाभ्य ऋत्विजि ॥ ८६३ ॥

एभ्य ऋत्विज्यभिधेये तृः प्रत्ययो भवति । हुंक् दानादनयोः, होता । पूग्श् पवने, पोता । गैं शब्दे, णींग्–प्रापणे उत्पूर्वः, उद्गाता, उन्नेता । ष्टुंग्क् स्तुतौ, प्रपूर्वः–प्रस्तोता । हृंग् हरणे प्रतिपूर्वः, प्रतिहर्ता । ष्ठां गतिनिवृत्तौ, प्रतिप्रपूर्वः, प्रतिप्रस्थाता । एते ऋत्विजः ॥ ८६३ ॥

नियः षादिः ॥ ८६४ ॥

णींग् प्रापणे, इत्यस्मात् षकारादिः तृः प्रत्ययो भवति । ऋत्विज्यभिधेये । नेष्टा–ऋत्विक् ॥ ८६४ ॥

त्वष्टृ-क्षत्तृ-दुहित्रादयः ॥ ८६५ ॥

एते तृप्रत्यायान्ता निपात्यन्ते । त्विषेरितोऽच्च । त्वष्टा देववर्धकिः, प्रजापतिः, आदित्यश्च । क्षद खदने सौत्रः, क्षत्ता–नियुक्तः, अविनीतः, दौवारिकः, मुसलः, पारशवः, रुद्रः, सारथिश्च । दुहेरिट् किच्च, दुहिता–तनया । आदिग्रहणादन्येऽपि ॥ ८६५ ॥

रातेर्डैः ॥ ८६६ ॥

रांक् दाने, इत्यस्माद् डिद् ऐः प्रत्ययो भवति । राः द्रव्यम् । रायौ, रायः ।८६६।

द्यु-गमिभ्यां डोः ॥ ८६७ ॥

आभ्यां डिद् ओः प्रत्ययो भवति । द्युंक् अभिगमे, द्यौः–स्वर्गः, अन्तरिक्षं च । गम्लृं गतौ, गौः–पृथिव्यादिः ॥ ८६७ ॥

ग्ला-नुदिभ्यां डौः ॥ ८६८ ॥

आभ्यां डिद् औः प्रत्ययो भवति । ग्लैं हर्षक्षये, ग्लौः–चन्द्रमाः, व्याधितः, शरीरग्लानिश्च । णुदंत् प्रेरणे, नौः–जलतरणम् ॥ ८६८ ॥

तोः किक् ॥ ८६९ ॥

तुंक् वृत्त्यादौ, इत्यस्मात् किक् प्रत्ययो भवति । ककारः कित् कार्यार्थः, इकार उच्चारणार्थः, तुक्-अपत्यम् ॥ ८६९ ॥

द्रागादयः ॥ ८७० ॥

द्राक् इत्यादयः शब्दाः किक् प्रत्ययान्ता निपात्यन्ते, द्रवतेरा च । द्राक्-शीघ्रम् । एवं सरतेः स्राक् स एवार्थः । इयर्तेरर्वादेशश्च, अर्वाक्-अचिरन्तनम् । आदिग्रहणादन्येपि ॥ ८७० ॥

स्रोश्चिक् ॥ ८७१ ॥

स्रुं गतौ, इत्यस्मात् चिक् प्रत्ययो भवति । स्रुक्जुहू-प्रभृति अग्निहोत्रभाण्डम् । स्रुचौ । स्रुचः । इकार उच्चारणार्थः । ककारः कित्कार्यार्थः ॥ ८७१ ॥

तनेर्डवच् ॥ ८७२ ॥

तनूयी विस्तारे इत्यस्माद् डिद् वच् प्रत्ययो भवति । त्वक्-शरीरादिवेष्टनम् ॥ ८७२ ॥

पारेरज् ॥ ८७३ ॥

पारण् कर्मसमाप्तौ, इत्यस्मादज्प्रत्ययो भवति । पारक् शाकविशेषः, प्राकारः, सुवर्णं, रत्नं च । पारजौ, पारजः ॥ ८७३ ॥

ऋधि-पृथि-भिषिभ्यः कित् ॥ ८७४ ॥

एभ्यः किद् अज्प्रत्ययो भवति । ऋधौच् वृद्धौ, ऋधक्-समीपवाचि अव्ययम् । प्रथिष् प्रख्याने, निर्देशादेव ऋवृत् । पृथग् नानार्थेऽव्ययम् । भिष् सौत्रः, भिषक्-वैद्यः, भिषजौ, भिषजः ॥ ८७४ ॥

भृ-पणिभ्यामिज्भुर-वणौ च ॥ ८७५ ॥

भृ-पणिभ्यामिज्प्रत्ययो यथासंख्यं भुर वण इत्यादेशौ भवतः । भृंग् भरणे, भुरिक्-बाहुः, शब्दः, भूमिः, वायुः, एकाक्षराधिकपादं च ऋक्छन्दः । पणि व्यवहार-स्तुत्योः, वणिक्-वैदेहिकः ॥ ८७५ ॥

वशेः कित् ॥ ८७६ ॥

वशक् कान्तौ, इत्यस्मात् किद् इज् प्रत्ययो भवति । उशिक्-कान्तः, उशीरम्, अग्निः, गौतमश्च ऋषिः ॥ ८७६ ॥

लङ्घेरट् नलुक् च ॥ ८७७ ॥

लघुङ् गतौ, इत्यस्माद् अट्प्रत्ययो भवति, नलोपश्चास्य भवति । लघट्-वायुः, लघु च शकटम् ॥ ८७७॥

सर्तेरड् ॥ ८७८ ॥

सृं गतौ, इत्यस्मादड्प्रत्ययो भवति । सरड्वृक्षविशेषः, मेघः, उष्ट्रजातिश्च ।८७८।

ईडेरविड् ह्रस्वश्च ॥ ८७९ ॥

ईडिक् स्तुतौ, इत्यस्माद् अविड्प्रत्ययो भवति, ह्रस्वश्चास्य भवति । इडविट्- विश्रवाः ॥ ८७९ ॥

क्विपि म्लेच्छश्च वा ॥ ८८० ॥

म्लेच्छेरीडेश्च क्विपि प्रत्यये वा ह्रस्वो भवति । अत एव वचनात् क्विप् च । म्लेच्छ अव्यक्ते शब्दे, म्लेट् म्लिट्-उभयं म्लेच्छजातिः । इट्, ईट्-स्वामी, मेदिनी च ॥ ८८० ॥

तृपेः कत् ॥ ८८१ ॥

तृपौच् प्रीतौ, इत्यस्मात् किद् अत्प्रत्ययो भवति । तृपत्-चन्द्रः, समुद्रः, तृण- भूमिश्च ॥ ८८१ ॥

संश्चद्-वेहत्-साक्षादादयः ॥ ८८२ ॥

एते कत्प्रत्ययान्ता निपात्यन्ते । संपूर्वाच्चिनोतेर्डित् समो मकारस्यानुस्वारपूर्वः शकारश्च । संश्चत् अध्वर्युः, कुहकश्च । अनुस्वारं नेच्छन्त्येके, संश्चत्-कुहकः । विपूर्वा- द्धन्तेर्डिद्वेश्च गुणः, विहन्ति गर्भमिति वेहत्-गर्भघातिनी अप्रजाः, स्त्री, अनड्वांश्च । संपूर्वादीक्षतेः साक्षाभावश्च साक्षात्-समक्षमित्यर्थः । आदिग्रहणाद् रेहत्, वियत्, पुरीतदादयोऽपि ॥ ८८२ ॥

पटच्छपदादयोऽनुकरणाः ॥ ८८३ ॥

पटदित्यादयोऽनुकरणशब्दाः कत्प्रत्ययान्ता निपात्यन्ते । पट गतौ, पटत् छुपत् संस्पर्शे उकारस्याकारश्च । छपत् । पत्लृ गतौ, पतत् । शॄश् हिंसायाम्, शरत् । शल गतौ, शलत् । खट काङ्क्षे, खटत् । दहेः प च, दपत् । डिपेः डिपत् खनतेरश्च, खरत् । खादतेः खादत्, सर्वं एते कस्यचिद्विशेषस्य श्रुतिप्रत्यासत्त्याऽनुकरणशब्दाः । अनुकरणमपि हि साध्वेव कर्तव्यम्, न यत्किञ्चित्, यथाऽनक्षरमिति शिष्टाः स्मरन्ति ॥ ८८३ ॥

द्रुहि-वृहि महि-पृषिभ्यः कतृः ॥ ८८४ ॥

एभ्यः किद् अतृः प्रत्ययो भवति । द्रुहौच् जिघांसायाम्, द्रुहन्-ग्रीष्मः, वृह वृद्धौ, वृहन्-प्रवृद्धः, बृहती छन्दः । मह पूजायाम्, महान्-पूजितः, विस्तीर्णश्च । महान्तौ, महान्तः, महती । पृष् सेचने, पृषत्-तन्त्रं, जलबिन्दुः, चित्रवर्णजातिः, दध्युपसिक्तमाज्यं च । पृषती-मृगी । स्थूलपृषतिमालभेत । ऋकारो ङ्याद्यार्थः ॥ ८८४ ॥

गमेर्डिद् द्वे च ॥ ८८५ ॥

गम्लृं गतौ, इत्यस्मात् कतृप्रत्ययो डिद् भवति, द्वे चास्य रूपे भवतः। जगत्-स्थावरजङ्गमो लोकः, जगती पृथ्वी ।। ८८५ ।।

भातेर्डवतुः ॥ ८८६ ॥

भांक् दीप्तौ, इत्यस्माद् डिद् अवतुः प्रत्ययो भवति । भवान् । भवन्तौ । भवन्तः । उकारो दीर्घत्वादिकार्यार्थः ।। ८८६ ।।

हृ-सृ-रुहि-युषि-तडिभ्य इत् ॥ ८८७ ॥

एभ्यः इत्प्रत्ययो भवति । हृंग् हरणे, हरित्–हरितो वर्णः, ककुप्, वायुः, मृगजातिः, अश्वः, सूर्यश्च । सृं गतौ, सरित्-नदी । रुहं जन्मनि, रोहित्-वीरुत्प्रकारः, मत्स्यः, सूर्यः, अग्निः, मृगः, वर्णश्च । युषः सौत्रः, योषति-गच्छति पुरुषमिति योषित् स्त्री । तडण् आघाते, तडित्-विद्युत् ।। ८८७ ।।

उदकाच्छ्वेर्डित् ॥ ८८८ ॥

उदकपूर्वात्-ट्वोश्वि गति-वृद्धयोः, इत्यस्माद् डिद् इत्प्रत्ययो भवति । उदकेन श्वयति उदश्वित्–तक्रम् । 'नाम्न्युत्तरपदस्य च' इति उदकस्य उदभावः ।। ८८८ ।।

म्र उत् ॥ ८८९ ॥

मृंत् प्राणत्यागे, इत्यस्माद् उत् प्रत्ययो भवति । मरुत् वायुः, देवः, गिरिशिखरं च ।। ८८९ ।।

ग्रो म्रादिर्वा ॥ ८९० ॥

गॄत् निगरणे, इत्यस्माद् उत् प्रत्ययो भवति, स च मकारादिर्वा भवति । गर्मुत्-गरुडः, आदित्यः, मधुमक्षिका, तक्षा, तृणं, सुवर्णं च । गरुत्-बर्हः, अजगरः, मरकतमणिः, वेगः, तेजसां वर्तिश्च ।। ८९० ।।

शकेर्ऋत् ॥ ८९१ ॥

शक्लृंट् शक्तौ, इत्यस्माद् ऋत्प्रत्ययो भवति । शकृत्-पुरीषम् ।। ८९१ ।।

यजेः क च ॥ ८९२ ॥

यजीं देवपूजादौ, इत्यस्माद् ऋत् प्रत्ययो भवति, कश्चान्तादेशो भवति । यकृत्-अन्त्रम् ।। ८९२ ।।

पातेः कृथ् ॥ ८९३ ॥

पांक् रक्षणे, इत्यस्मात् किद् ऋथ् प्रत्ययो भवति । पृथो नाम क्षत्रियाः । ८९३ ।

शॄ-दॄ-भसेरद् ॥ ८९४ ॥

एभ्योऽद्प्रत्ययो भवति । शॄश् हिंसायाम्, शरद्-ऋतुः । दॄ भये, दरत्-जनपद-

समानशब्दः क्षत्रियः । दरदः-जनपदः । भस भर्त्सन-दीप्त्योः सौत्रः, भसत्-जघनम्, आस्यम्, आमाशयस्थानं च । भषेरपीच्छन्त्येके भषत् ॥ ८९४ ॥

तनि-त्यजि-यजिभ्यो डद् ॥ ८९५ ॥

एभ्यो डिद् अद्प्रत्ययो भवति । तनूयी विस्तारे, तद्, सः । त्यजं हानौ, त्यद्, स्यः । एतौ निर्देशवाचिनौ । यजीं देवपूजादौ, यद्, यः । अयमुद्देशवाची ॥ ८९५ ॥

इणस्तद् ॥ ८९६ ॥

इणंक् गतौ, इत्यस्मात् तद् प्रत्ययो भवति । एतद्-एषः, समीपवाची शब्दः ।८९६।

प्रः सद् ॥ ८९७ ॥

पृश् पालनपूरणयोः, इत्यस्मात् सद् इत्येवं प्रत्ययो भवति । पर्षत् सभा ॥ ८९७॥

द्रो ह्रस्वश्च ॥ ८९८ ॥

दृश् विदारणे, इत्यस्मात् सद् प्रत्ययो भवति । ह्रस्वश्चास्य भवति, दृषत्-पाषाणः ॥ ८९८ ॥

युष्यसिभ्यां क्मद् ॥ ८९९ ॥

आभ्यां किद् मद् इत्ययं प्रत्ययो भवति । युषः सौत्रः सेवायाम्, युष्मद्, यूयम् । असूच् क्षेपणे, अस्मद्-वयम् ॥ ८९९ ॥

उक्षि-तक्ष्यक्षीशि-राजि-धन्वि-पश्चि-पूषि-क्लिदि-स्निहि-नु-मस्जेरन् ॥९००॥

एभ्यः अन् प्रत्ययो भवति । उक्ष सेचने उक्षा-वृषः । तक्षौ तनूकरणे, तक्षा-वर्धकिः । अक्षौ व्याप्तौ च, अक्षा-दृष्टिनिपातः । ईशिक् ऐश्वर्ये, ईशा-परमात्मा । राजृग् दीप्तौ, राजा-ईश्वरः । धन्विः सौत्रो गतौ, धवु गतौ वा, धन्वा-मरुः, धनुश्च । पचुङ् व्यक्तीकरणे, पञ्च संख्या । पूष वृद्धौ, पूषा-आदित्यः । क्लिदौच् आर्द्रभावे, क्लेदा-मुख-प्रसेकः, चन्द्रः, इन्द्रश्च । ष्णिहौच् प्रीतौ । स्नेहा-स्वाङ्गम्, सुहृत्, वशा च गौः । णुक् स्तुतौ नव-संख्या । टुमस्जोंत् शुद्धौ, मज्जा-षष्ठो धातुः ॥ ९०० ॥

लू-पू-यु-वृषि-दंशि-द्यु-दिवि-प्रतिदिविभ्यः कित् ॥ ९०१ ॥

एभ्यः किद् अन् प्रत्ययो भवति । लुग्श् छेदने, लुवा-दात्रं, स्थावरश्च । पूग्श् पवने, पुवा-वायुः । युक् मिश्रणे, युवा-तरुणः । वृषू सेचने, वृषा-इन्द्रः, वृषभश्च । दंशं दशने, दश-संख्या । द्युंक् अभिगमे, द्युवा-अभिगमनीयः, राजा सूर्यश्च । दिवूच् क्रीडादौ, दिवा-दिनम् । प्रतिपूर्वात् प्रतिदिवा-अहः अपराह्णश्च ॥ ९०१ ॥

श्वन्-मातरिश्वन्-मूर्धन्-प्लीहन्नर्यमन्--विश्वप्सन् परिज्वन्-महन्नहन्-मघवन्नथर्वन्निति ॥ ९०२ ॥

एते अन् प्रत्ययान्ता निपात्यन्ते । श्वयतेर्लुक् च, श्वा–कुक्कुरः । मातरि अन्तरिक्षे श्वयति, मातरिश्वावायुः । अत्र 'तत्पुरुषे कृति' इति सप्तम्या अलुप् इकारलोपश्च पूर्ववत् । मूर्छेर्ध च, मूर्छन्त्यस्मिन्नाहताः प्राणिन इति, मूर्धा–शिरः । प्लिहे र्दीर्घश्च, प्लीहा–जठरान्तरावयवः । अरिपूर्वादमेर्ण्यन्ताद् अरीन् आमयतीति, अर्यमा–सूर्यः । विश्वपूर्वात् प्सातेः कित् च, विश्वप्सा–कालः, वायुः, अग्निः, इन्द्रश्च । परिपूर्वात् ज्वलतेर्डिच्च परिज्वा–सूर्यः, चन्द्रः, अग्निः, वायुश्च । महीयतेरीयलोपश्च महा–महत्त्वम् । अंहेर्नलोपश्च, अंहते अहः–दिवसः । मङ्घेर्नलोपोऽव् चान्तः मङ्घते इति, मघवा–इन्द्रः । नञ्पूर्वात् खर्वेः खस्थश्च, न खर्वति, अथर्वा–वेद,, ऋषिश्च । इतिकरणादन्येऽपि भवन्ति ।। ९०२ ।।

षप्यशौभ्यां तन् ॥ ९०३ ॥

आभ्यां तन् प्रत्ययो भवति । षप समवाये, अशौटि व्याप्तौ । सप्त, अष्ट उभे–संख्ये ।। ९०३ ।।

स्ना-मदि-पद्यति-पॄ-शकिभ्यो वन् ॥ ९०४ ॥

एभ्यो वन् प्रत्ययो भवति । ष्णांक् शौचे, स्नावाशिरा, नदी च । मदैच् हर्षे, मद्वा–दृप्तः, पानं, कान्तिः, क्रीडा, मुनिः, शिरश्च । मद्वरी–मदिरा । बाहुलकाद् ङीः, वनोरश्च । पदिंच् गतौ, पद्वा–पत्तिः, वत्सः, रथः, पादः, गतिश्च । ऋंक् गतौ, अर्वा–अश्वः, अशनिः, आसनं, मुनिश्च । पॄश् पालनपूरणयोः, पर्व–सन्धिः, पूरणं, पुण्यतिथिश्च । शक्लृंट् शक्तौ, शक्वा–वर्धकिः, समर्थः । शक्वरी–नदी, विद्युत्, छन्दोजातिः, युवतिः, सुरभिश्च । शाक्वरः–वृषः ।। ९०४ ।।

ग्रहेरा च ॥ ९०५ ॥

ग्रहीश् उपादाने, इत्यस्माद् वन् प्रत्ययो भवति । आकारश्चान्तादेशो भवति । ग्रावा–पाषाणः, पर्वतश्च ।। ९०५ ।।

ऋ-शी-क्रुशि-रुहि-जि-क्षि-हृ-सृ-धृ-दृभ्यः क्वनिप् ॥ ९०६ ॥

एभ्यः क्वनिप् प्रत्ययो भवति । ऋंक् गतौ, ऋत्वा ऋषिः । शीङ्क् स्वप्ने, शीवा–अजगरः । क्रुशं आह्वान-रोदनयोः, क्रुश्वा–सृगालः । रुहं बीजजन्मनि, रुह्वा–वृक्षः । जि अभिभवे, जित्वा–धर्मः, इन्द्रः, योद्धा च । जित्वरी–नदी, वणिजश्च, वाराणसीं जित्वरीमाहुः । क्षि क्षये, क्षित्वा–वायुः, विष्णुः, मृत्युश्च । क्षित्वरी–रात्रिः । हृंग् हरणे, हृत्वा–रुद्रः, मत्स्यः, वायुश्च । सृं गतौ, सृत्वा–कालः, अग्निः, वायुः, सर्पः, प्रजापतिः, नीचजातिश्च । सृत्वरी–वेश्यामाता । धृंङ्त् स्थाने, धृत्वा–विष्णुः, शैलः, समुद्रश्च । धृत्वरी–भूमिः । दृंङ्त् आदरे, दृत्वा–दृप्तः । पकरस्तागमार्थः ।। ९०६ ।।

सृजेः स्रज्-सृकौ च ॥ ९०७ ॥

सृजंत् विसर्गे, इत्यस्मात् क्वनिप् प्रत्ययो भवति । स्रज्–सृक् इत्यादेशौ चास्य भवतः । स्रज्वा मालाकारः, रज्जुश्च । सृक्वणी–आस्योपान्तौ ।। ९०७ ।।

ध्या-प्योर्धी पी च ॥ ९०८ ॥

ध्यैं चिन्तयाम्, प्यैंङ् वृद्धौ, इत्याभ्यां क्वनिप् प्रत्ययो यथासंख्यं च धी पी इत्येतावादेशौ भवतः । ध्यायतीति, धीवा-मनीषी, निषादः, व्याधिः, मत्स्यश्च । प्यायतेः, पीवा-पीनः ॥ ९०८ ॥

अतेर्ध च ॥ ९०९ ॥

अत सातत्यगमने, इत्यस्मात् क्वनिप् प्रत्ययो भवति, धश्चान्तादेशो भवति । अध्वा-मार्गः ॥ ९०९ ॥

प्रात्सदि-रीरिणस्तोऽन्तश्च ॥ ९१० ॥

प्रपूर्वेभ्यः सद्यादिभ्यः क्वनिप् प्रत्ययो भवति, तोऽन्तश्च भवति । षद्लृं विशरण-गत्यवसादनेषु, प्रसत्वा मूढः, वायुश्च । प्रसत्वरी-माता, प्रतिपत्तिश्च । रीङ् गति-रेषणयोः, प्ररीत्वा वायुः । प्ररीत्वरी-स्त्रीविशेषः । ईरिक् गति-कम्पनयोः, प्रेत्वा-सागरः, वायुश्च । प्रेत्वरी-नगरी । इंण्क् गतौ, प्रेत्वरी नगरीत्याहुः ॥ ९१० ॥

मन् ॥ ९११ ॥

सर्वधातुभ्यो बहुलं मन् प्रत्ययो भवति । डुकृंग् करणे, कर्म-व्यापारः । वृंग्ट् वरणे, वर्म-कवचम् । वृतूङ् वर्तने, वर्त्म पन्थाः । चर भक्षणे च, चर्म-अजिनम् । भस भर्त्सन-दीप्त्योः सौत्रः, भसितं तदिति, भस्म-भूतिः । जनैंचि प्रादुर्भावे, जन्म-उत्पत्तिः । शॄश् हिंसायाम्, शर्म-सुखम् । वसवोऽस्य दुरितं, शीर्यासुरिति वसुशर्मा, एवं हरिशर्मा । मृंत् प्राणत्यागे, मर्म-जीवप्रदेशप्रचयस्थानम्, यत्र जायमाना वेदना महती जायते । नॄश् नये, नर्म-परिहासकथा । श्लिषंच् आलिङ्गने श्लेष्मा-कफः । ऊष रुजायाम्, ऊष्मा-तापः । टुडुभृंग्क् पोषणे च, भर्म-सुवर्णम् । यांक् प्रापणे, यामा-रथः । वांक् गति-गन्धनयोः, वामा-करचरणह्रस्वः । पांक् रक्षणे, पामा-कच्छूः । वृषू, सेचने, वर्ष्म-शरीरम् । षद्लृं विशरणगत्यवसादनेषु, सद्म-गृहम् । विशंत् प्रवेशने, वेश्म-गृहम् । हिंट् गति-वृद्ध्योः, हेम-सुवर्णम् । छदण् अपवारणे, छद्म-माया । दीङ्च् क्षये, देङ् पालने वा, दाम-रज्जुः, माता च । दुधांग्क् धारणे च, धाम-स्थानं, तेजश्च । ष्ठां गतिनिवृत्तौ, स्थाम-बलम् । षुंग्ट् अभिषवे, सोमः-यक्षः, पयः, रसः, चन्द्रमाश्च । अशौटि व्याप्तौ, अश्मा-पाषाणः । लक्षीण् दर्शनाङ्कनयोः, लक्ष्म चिह्नम् । अयि गतौ अय्म-सङ्ग्रामः । तक् हसने, तक्मा-रतिः, आतपः, दीपश्च । हुंक् दानादनयोः, होम-हव्यद्रव्यम्, अग्निहोत्रशाला च । धृंग् धारणे, धर्म-पुण्यम् । विपूर्वात् विधर्मा अहितः, वायुः, व्यभिचारश्च । ध्यैं चिन्तायाम् । ध्याम-ध्यानम् ॥ ९११ ॥

कुष्युषि-सृपिभ्यः कित् ॥ ९१२ ॥

एभ्यः कित् मन् प्रत्ययो भवति । कुषश् निष्कर्षे, कुष्म-शल्यम् । उषू दाहे, उष्मा-दाहः । सृप्लृं गतौ, सृप्मा-सर्पः, शिशुः, यतिश्च ॥ ९१२ ॥

बृंहेर्नोऽच्च ॥ ९१३ ॥

बृहु शब्दे, इत्यस्माद् मन् प्रत्ययो भवति, नकारस्य च अकारो भवति । ब्रह्म-परं तेजः, अध्ययनं, मोक्षः, बृहत्वादात्मा । ब्रह्मा-भगवान् ॥ ९१३ ॥

व्येग एदोतौ च वा ॥ ९१४ ॥

व्येंग् संवरणे, इत्यस्माद् मन् प्रत्ययो भवति, एदोतौ चान्तादेशौ वा भवतः । व्येम-वस्त्रम् , व्येमा-संसारः, कुविन्दभाण्डं च । व्योम-नभः । पक्षे व्याम-न्यग्रोधाख्यं प्रमाणम् ॥ ९१४ ॥

स्यतेरी च वा ॥ ९१५ ॥

षोंच् अन्तकर्मणि, इत्यस्माद् मन् प्रत्ययो, ईकारश्चान्तादेशो वा भवति । सीमा-अघाटः । पक्षे साम-प्रियवचनं, वामदेव्यादि च ॥ ९१५ ॥

सात्मन्नात्मन्-वेमन्-रोमन्-क्लोमन्-ललामन्-नामन्-पाप्मन्-पक्ष्मन्-यक्ष्मन्निति ।९१६।

एते मन्प्रत्ययान्ता निपात्यन्ते । स्यतेस्तोऽन्तश्च । सात्म अत्यन्ताभ्यस्तं प्रकृतिभूतम् , अन्तकर्म च, अतेः, दीर्घश्च, आत्मा-जीवः । वेग आत्वाभावश्च, वेम तन्तुवायोपकरणम् । रुहेलुक् च, रोम-तनूरुहम् । लत्वे लोम-तदेव । क्लमेरोच्च क्लोम-शरीरान्तरवयवः । लातेर्द्वित्वं च ललाम-भूषणादि । नमेरा च, नाम-संज्ञा, कीर्तिश्च । पातयतेस्तः प् च, पाप्मा-पापं रक्षश्च । पञ्चेः कः षोऽन्तो नलोपश्च, पक्ष्म-अक्ष्यादिलोम । यस्यतेः यक्षिणो वा, यक्ष्मा-रोगः । इतिकरणात् तोक्म-रुक्म-शुष्मादयो भवन्ति ॥ ९१६ ॥

हृ-जनिभ्यामिमन् ॥ ९१७ ॥

आभ्याम् इमन्प्रत्ययो भवति । हृंग् हरणे, हरिमा-पापविशेषः, मृत्युः, वायुश्च । जनैचि प्रादुर्भावे, जनिमा-धर्मविशेषः, संसारश्च ॥ ९१७ ॥

सृ-हृ-भृ-धृ-स्तृ-सुभ्य-ईमन् ॥ ९१८ ॥

एभ्य ईमन्प्रत्ययो भवति । सृं गतौ, सरीमा-कालः । हृंग् हरणे, हरीमा-मातरिश्वा । टुडुभृंग्क् पोषणे च, भरीमा क्षमी, राजा, कुटुम्बं च । धृंग् धारणे, धरीमा-धर्मः । स्तृग्श् आच्छादने, स्तरीमा-प्रावारः । षूत् प्रेरणे, सवीमा गर्भः, प्रसूतिश्च ॥ ९१८ ॥

गमेरिन् ॥ ९१९ ॥

गम्लृं गतौ, इत्यस्माद् इन् प्रत्ययो भवति । गमिष्यतीति गमी-जिगमिषुः ।९१९।

आङश्च णित् ॥ ९२० ॥

आङ्पूर्वात् केवलाच्च गमेर्णिद् इन् प्रत्ययो भवति । आगमिष्यतीति आगामी-प्रोषितादिः । गमिष्यतीति गामी प्रस्थितादिः ॥ ९२० ॥

सुवः ॥ ९२१ ॥

षूङौच् प्राणिप्रसवे, इत्यस्माद् णिद् इन् प्रत्ययो भवति । आसावी, आसविष्यमाणः, जनिष्यमाण इत्यर्थः ॥ ९२१ ॥

भुवो वा ॥ ९२२ ॥

भू सत्तायाम्, इत्यास्माद् इन् प्रत्ययो भवति, स च णिद्वा भवति । भविष्यतीति, भावी–कर्मविपाकादिः । भवी–भविष्यन् ॥ ९२२ ॥

प्र-प्रतेर्या-बुधिभ्याम् ॥ ९२३ ॥

प्रपूर्वात् प्रतिपूर्वाच्च यांक् प्रापणे, बुधि, मनिच् ज्ञाने, इत्यस्माच्च णिद् इन् प्रत्ययो भवति । प्रयास्यतीति-प्रयायी, प्रतियास्यतीति-प्रतियायी, प्रभोत्स्यत इति प्रबोधी, प्रतिबोधी-बालादिः ॥ ९२३ ॥

प्रात् स्थः ॥ ९२४ ॥

प्रपूर्वात् ष्ठां गतिनिवृत्तौ, इत्यस्माद् णिद् इन् प्रत्ययो भवति । प्रस्थास्यते इति प्रस्थायी-गन्तुमनाः ॥ ९२४ ॥

परमात् कित् ॥ ९२५ ॥

परमपूर्वात् तिष्ठतेः किद् इन् प्रत्ययो भवति । परमे पदे तिष्ठतीति परमेष्ठी–अर्हदादिः । भीरुष्ठानादित्वात् षत्वम्, सप्तम्या अलुप् च ॥ ९२५ ॥

पथि-मन्थिभ्याम् ॥ ९२६ ॥

आभ्यां किद् इन् प्रत्ययो भवति । पथे गतौ, पन्थाः-मार्गः, पन्थानौ, पन्थानः, पथिप्रियः । मन्थश् विलोडने, मन्थाः–क्षुब्धः, वायुः, वज्रश्च । मन्थानौ, मन्थानः, मथिप्रियः ॥ ९२६ ॥

होर्मिन् ॥ ९२७ ॥

हुंक् दानादनयोः, इत्यस्माद् मिन् प्रत्ययो भवति । होमी-ऋत्विक्, घृतं च ॥९२७॥

अर्तेर्भुक्षिनक् ॥ ९२८ ॥

ऋंक् गतौ, इत्यस्माद् भुक्षिनक् प्रत्ययो भवति । ऋभुक्षा-इन्द्रः । ऋभुक्षाणौ, ऋभुक्षाणः ॥ ९२८ ॥

अदेस्त्रिन् ॥ ९२९ ॥

अदंक् भक्षणे, इत्यस्मात् त्रिन् प्रत्ययो भवति । अत्रिः ऋषिः ॥ ९२९ ॥

पतेरत्रिन् ॥ ९३० ॥

पत्लृ गतौ, इत्यस्माद् अत्रिन् प्रत्ययो भवति । पतत्री पक्षी ॥ ९३० ॥

आपः क्विप् ह्रस्वश्च ॥ ९३१ ॥

आप्लृंट् व्याप्तौ, इत्यस्मात् क्विप् प्रत्ययो भवति, ह्रस्वश्चास्य भवति । आपः-अम्भः । स्वभावाद् बहुत्वम् ॥ ९३१ ॥

ककुप्-त्रिष्टुबनुष्टुभः ॥ ९३२ ॥

एते क्विप् प्रत्ययान्ता निपात्यन्ते । कपूर्वात् स्कुम्नातेः सलोपश्च-कं-वायुं, ब्रह्म च, स्कुम्नन्तीति ककुभः-दिशः । ककुप्-उष्णिक्छन्दः । त्र्यनुपूर्वात् स्तुम्नातेः सः षश्च, त्रिष्टुप् छन्दः, अनुष्टुप् छन्दः बहुवचनान्निजि-विजि-विषां क्विप् शित्, नेनिक्-प्रजापतिः । वेविक्-शुचिः । वेविट्-चन्द्रमाः ॥ ९३२ ॥

अवेर्मः ॥ ९३३ ॥

अव रक्षणादौ, इत्यस्माद् मः प्रत्ययो भवति । अवतीति ओम्-ब्रह्म, प्रणवश्च । ९३३ ।

सोरेतेरम् ॥ ९३४ ॥

सुपूर्वाद् इणंक् गतौ, इत्यस्माद् अम् प्रत्ययो भवति । स्वयम्-आत्मना ॥ ९३४ ॥

नशि-नूभ्यां नक्त-नूनौ च ॥ ९३५ ॥

नशौच् अदर्शने, णूत् स्तवने, आभ्याम् अम् प्रत्ययो भवति, नक्त नून इत्यादेशौ चाऽनयोर्भवतः । नक्तं-रात्रौ । नूनं-वितर्के ॥ ९३५ ॥

स्यतेर्णित् ॥ ९३६ ॥

षोंच् अन्तकर्मणि, इत्यस्माद् णिद् अम् प्रत्ययो भवति । सायम्-दिवसावसानम् ॥ ९३६ ॥

गमि-जमि-क्षमि-कमि-शमि-समिभ्यो डित् ॥ ९३७ ॥

एभ्यो डिद् अम् प्रत्ययो भवति । गम्लृं गतौ, गम् । जमू अदने, जम् । क्षमौषि सहने, क्षम्-एतानि भार्यानामानि । कमूङ् कान्तौ, कम्-पानीयम् । शमूच् उपशमे, शम्-सुखम् । षम वैक्लव्ये, सम्-संभवति ॥ ९३७ ॥

इणो दमक् ॥ ९३८ ॥

इणंक् गतौ, इत्यस्मात् कित् दम् प्रत्ययो भवति । इदम् प्रत्यक्षनिर्देशे ॥ ९३८ ॥

कोर्डिम् ॥ ९३९ ॥

कुंङ् शब्दे, इत्यस्माद् डिद् इम् प्रत्ययो भवति । किम्-अनेनाविज्ञातं वस्तु पर्यनुयुज्यते ॥ ९३९ ॥

तूषेरीम् णोऽन्तश्च ॥ ९४० ॥

तूष तुष्टौ, इत्यस्माद् ईम् प्रत्ययो भवति, णकारश्चास्यान्तो भवति । तूष्णीम्-वाङ्नियमे ॥ ९४० ॥

ईङ्-कमि-शमि-समिभ्यो डित् ॥ ९४१ ॥

एभ्यो डिद् ईम् प्रत्ययो भवति । ईङ् च गतौ, ईम् । कमूङ् कान्तौ, कीम् । शमूच् उपशमे, शीम् । षम वैक्लव्ये, सीम्-अभिनयव्याहरणान्येतानि । ईम् शीम्-अव्यक्ते । कीम्-संशयप्रश्नादिषु । सीम्-अमर्ष-पादपूरणयोः ॥ ९४१ ॥

क्रमि-गमि-क्षमेस्तुमाच्चातः ॥ ९४२ ॥

एभ्यः तुम् प्रत्ययो भवति, अकारस्य चाकारो भवति । क्रमू पादविक्षेपे, क्रान्तुं-गमनम् । गम्लृं गतौ, गान्तुम्-पान्थः । क्षमौषि सहने, क्षान्तुम्-भूमिः । तुमर्थश्च सर्वत्र ॥ ९४२ ॥

गॄ-पॄ-दुर्वि-धुर्विभ्यः क्विप् ॥ ९४३ ॥

एभ्यः क्विप् प्रत्ययो भवति । गॄश् शब्दे, गीः-वाक् । पॄश् पालनपूरणयोः, पूः-नगरी । दुर्वै धुर्वै हिंसायाम्, दूः-देहान्तरवयवः, धूः-शकटाङ्गम्, आदिश्च ॥ ९४३ ॥

वार्द्वारौ । ९४४ ॥

एतौ क्विप्प्रत्ययान्तौ निपात्येते । वृणोतेर्वृ द्विश्च । वाः-पानीयम् । कर्मणि दश्च धात्वादिः । वृण्वन्ति तामिति द्वाः-द्वारम् । वृं वरणे, इत्यस्य च णिगन्तस्य रूपम् ॥९४४।

प्रादतेरर् ॥ ९४५ ॥

प्रपूर्वाद् अत सातत्यगमने, इत्यस्माद् अर् प्रत्ययो भवति । प्रातः-प्रभातम् ।९४५।

सोरर्तेर्लुक् च ॥ ९४६ ॥

सुपूर्वात् ऋक् गतौ, इत्यस्माद् अर् प्रत्ययो भवति, धातोश्च लुग् भवति । स्वः-स्वर्गः ॥ ९४६ ॥

पू-सन्यमिभ्यः पुनसनुतान्ताश्च ॥ ९४७ ॥

पूग्श् पवने, षण् भक्तौ, अम गतौ, इत्येतेभ्यः अर् प्रत्ययो भवति, यथासंख्यं च पुन्, सनुत्, अन्त् इत्यादेशा एषां भवन्ति । पुनः-भूयः । सनुतः-कालवाची । अन्तः-मध्ये ।९४७।

चतेरुर् ॥ ९४८ ॥

चतेग् याचने, इत्यस्माद् उर् प्रत्ययो भवति । चत्वारः-संख्या । चत्वारि, चतस्रः ॥ ९४८ ॥

दिवेर्डिव् ॥ ९४९ ॥

दिवूच् क्रीडादौ, इत्यस्माद् डिद् इव् प्रत्ययो भवति । द्यौः-स्वर्गः, अन्तरिक्षं च । दिवौ, दिवः ॥ ९४९ ॥

विशि-विपाशिभ्यां क्विप् ॥ ९५० ॥

आभ्यां क्विप् प्रत्ययो भवति । विशंत् प्रवेशने, विशः-प्रजाः, विट्-वैश्यः, पुरीषं अपत्यं च । पशण् बन्धने, विपूर्वः, विपाशयति स्म वशिष्ठमिति विपाट्-नदी ॥ ९५० ॥

सहेः षष् च ॥ ९५१ ॥

षहि मर्षणे, इत्यस्मात् क्विप् प्रत्ययो भवति, षष् चास्यादेशो भवति । षट्-संख्या ॥ ९५१ ॥

अस् ॥ ९५२ ॥

सर्वधातुभ्यो बहूलम् अस् प्रत्ययो भवति । तपं संतापे, तपः-संतापः, माघमासः, निर्जराफलं च अनशनादि । सुष्ठु तपतीति, सुतपाः । एवं महातपाः । णमं प्रह्वत्वे, नमः-पूजायाम् । तमूच् काङ्क्षायाम्, तमः-अन्धकारः, तृतीयगुणः, अज्ञानं च । इणंक् गतौ, अयः-काललोहम् । वींक् प्रजनादौ, वयः पक्षी, प्राणिनां कालकृता शरीरावस्था च यौवनादिः । वर्चि दीप्तौ, वर्चः-लावण्यम्, अन्नमलं, तेजश्च । सुष्ठु वर्चत इति सुवर्चाः । रक्ष पालने, रक्षः-निशाचरः । ञिमिदाच् स्नेहने, मेदः-चतुर्थो धातुः । रह त्यागे, रहः-प्रच्छन्नम् । षहि मर्षणे, सहाः-मार्गशीर्षमासः । णभच् हिंसायाम्, नभः-आकाशं श्रावणमासश्च । चितै संज्ञाने, चेतः-चित्तम् । प्रचेताः-वरुणः । मनिच् ज्ञाने, मनः-नोइन्द्रियम् । ब्रूग्क् व्यक्तायां वाचि, वचः-वचनम् । रुदृक् अश्रुविमोचने, रोदः-नभः, रोदसी-द्यावापृथिव्यौ । रुधृम्पी आवरणे, रोधः-तीरम् । अनक् प्राणने, अनः-शकटम्, अन्नं, भोजनं च । सृं गतौ, सरः-जलाशयविशेषः । तॄ प्लवन-तरणयो, तरः-वेगः, बलं च । रहु गतौ, रहः-जवः । तिजि क्षमा-निशानयोः, तेजः-दीप्तिः । मयि दीप्तौ, मयः-सुखम् । मह पूजायाम्, महः-तेजः । अर्चिण् पूजायाम्, अर्चः-पूजा । षद्लृं विशरण-गत्यवसादनेषु, सदः-सभा, भवनं च । अञ्जौप् व्यक्त्यादौ, अञ्जः-स्नेहः ॥ ९५२ ॥

पा-हाक्भ्यां पय-ह्यौ च ॥ ९५३ ॥

पां पाने, ओहांक् त्यागे, इत्येताभ्याम् अस् प्रत्ययो भवति, यथासंख्यं च पय् ह्य इत्यादेशावनयोर्भवतः । पयः-क्षीरं, जलं च । ह्यः-अनन्तरातीते दिने ॥ ९६३ ॥

छदि-वहिभ्यां छन्दोधौ च ॥ ९५४ ॥

छदण् संवरणे, वहीं प्रापणे, इत्येताभ्याम् अस् प्रत्ययो भवति, यथासंख्यं चानयोः छन्द् ऊध् इत्यादेशौ भवतः । छन्दः-वेदः, इच्छा, वाग्बन्धविशेषश्च । ऊधः-धेनोः क्षीराधारः ॥ ९५४ ॥

श्वेः शव् च वा ॥ ९५५ ॥

ट्वोश्वि गति-वृद्ध्योः, इत्यस्माद् अस् प्रत्ययो भवति, अस्य च शव् इत्यादेशो वा भवति । शवः-रोगाभिधानं, मृतदेहश्च । शवसी, शवांसि । श्वयः-शोफः, बलं च । श्वयसी, श्वयांसि ॥ ९५५ ॥

विश्वाद् विदि-भुजिभ्याम् ॥ ९५६ ॥

विश्वपूर्वाभ्यामाभ्याम् अस् प्रत्ययो भवति । विदक् ज्ञाने, विश्ववेदाः-अग्निः । भुजंप् पालनाभ्यवहारयोः, विश्वभोजाः, अग्निः, लोकपालश्च ।। ९५६ ।।

चायेर्नो ह्रस्वश्च वा ॥ ९५७ ॥

चायृग् पूजा-निशामनयोः, इत्यस्माद् अस् प्रत्ययो भवति, नकारोऽन्तादेशो ह्रस्वश्चास्य वा भवति । चणः-चाणश्चान्नम् । बाहुलकाण्णत्वम् । णत्वं नेच्छन्त्येके ।। ९५७ ।।

अशेर्यश्चादिः ॥ ९५८ ॥

अशश् भोजने, अशौटि व्याप्तौ, इत्यस्माद् वा अस् प्रत्ययो भवति, यकारश्च धात्वादिर्भवति । यशः-माहात्म्यम्, सत्त्वं, श्रीः, ज्ञानं, प्रतापः, कीर्तिश्च । एवं शोभनम् अश्नाति, अश्नुते वा इति सुयशाः । नागमेवाश्नाति नागयशाः । बृहदेनोऽश्नाति बृहद्यशाः । श्रुत एनोऽश्नाति श्रुतयशाः एवमन्येऽपि द्रष्टव्याः ।। ९५८ ।।

उषेर्ज च ॥ ९५९ ॥

उषू दाहे, इत्यस्मादस् प्रत्ययो भवति, जकारश्चान्तादेशो भवति । ओजः-बलं, प्रभावः, दीप्तिः, शुक्रं च ।। ९५९ ।।

स्कन्देर्ध च ॥ ९६० ॥

स्कंद् गति-शोषणयोः, इत्यस्माद् अस् प्रत्ययो भवति । धकारश्चान्तादेशो भवति । स्कन्धः-स्वाङ्गम् ।। ९६० ।।

अवेर्वा ॥ ९६१ ॥

अव रक्षणादौ, इत्यस्माद् अस् प्रत्ययो भवति, धकारश्चान्तादेशो वा भवति । अधः-अवरम्, अवः-रक्षा ।। ९६१ ।।

अमेर्भ्हौ चान्तौ ॥ ९६२ ॥

अम गतौ, इत्यस्माद् अस् प्रत्ययो भवति, भकार-हकारौ चान्तौ भवतः । अम्भः-पानीयम् । अंहः-पापम्, अपराधः, दिनश्च ।। ९६२ ।।

अदेरन्ध च वा ॥ ९६३ ॥

अदंक् भक्षणे, इत्यस्मादस् प्रत्ययो भवति, अन्धादेशश्चास्य वा भवति । अद्यते तदिति अन्धः-अन्नम् । अद्यते दृशा मनसा च तद् इति अदः, अनेन प्रत्यक्षविप्रकृष्टम् अप्रत्यक्षं च बुद्धिस्थमपदिश्यते ।। ९५३ ।।

आपोऽपाप्साप्सराब्जाश्च ॥ ९६४ ॥

आप्लृंट् व्याप्तौ, इत्यस्माद् अस् प्रत्ययो भवति । अप्, अप्त्, अप्सर्,

अब्ज् इत्यादेशाश्चास्य भवन्ति । अपः-सत्कर्म, अप्तः-तदेव, अप्सरसः-देवगणिकाः, अब्जः-जलजम् , अजर्यं च रूपम् ॥ ९६४ ॥

उच्यञ्चेः क च ॥ ९६५ ॥

उचच् समवाये, अञ्चू गतौ चेत्याभ्याम् अस् प्रत्ययो भवत्यनयोश्च कोऽन्तादेशो भवति । ओकः-आलयः, जलौकसश्च । अङ्कः-स्वाङ्गम् , रणश्च ॥ ९६५ ॥

अञ्ज्यजि-युजि-भृजेर्ग च ॥ ९६६ ॥

एभ्यः अस् प्रत्ययो भवति, गकारश्चान्तादेशो भवति । अञ्जौप् व्यक्त्यादौ, अङ्गः-क्षत्रियनाम, गिरिपक्षी, व्यक्तिश्च । अज क्षेपणे च, अगः-क्षेमम् । युजूंपी-योगे, योगः-मनः-युगं च । भृजैङ् भर्जने, भर्गः-रुद्रः, हविः, तेजश्च ॥ ९६६ ॥

अर्तेरुराशौ च ॥ ९६७ ॥

ऋं क् गतौ, इत्यस्माद् अस् प्रत्ययो भवत्यस्य च उरिति अर्श् इति च तालव्य-शकारान्तः आदेशो भवति । उरः-वक्षः । अर्शांसि-गुह्यादिकीलाः ॥ ९६७ ॥

येन्धिभ्यां यादेधौ च ॥ ९६८ ॥

यांक् प्रापणे, ञिइन्धैपि दीप्तौ, इत्याभ्याम् अस् प्रत्ययो भवति, यथासङ्ख्यं च याद् एध् इत्यादेशौ भवतः । यादः-जलदुष्टसत्त्वम् । एधः-इन्धनम् ॥ ९६८ ॥

चक्षः शिद्वा ॥ ९६९ ॥

चक्षिङ्क् व्यक्तायां वाचि, इत्यस्माद् अस् प्रत्ययो भवति, स च शिद्वा भवति । चक्षः, ख्याः, उभे अपि रक्षोनाम्नी । आचक्षाः-वाग्मी । आख्याः, प्रख्याश्च-बृहस्पतिः । संचक्षाः-ऋत्विक् । नृचक्षाः-राक्षसः ॥ ९६९ ॥

वस्त्यगिभ्यां णित् ॥ ९७० ॥

वस्त्यगिभ्यां णिद् अस् प्रत्ययो भवति । वसिक् आच्छादने, वासः-वस्त्रम् । अग कुटिलायां गतौ, आगः-अपराधः ॥ ९७० ॥

मिथि-रञ्ज्युषि-तॄ-पॄ-शॄ-भूवश्टिभ्यः कित् ॥ ९७१ ॥

एभ्यः किद् अस् प्रत्ययो भवति । मिथृग् मेधा हिंसयोः, मिथः-परस्परम् , रहसि चेत्यर्थः । रञ्जीं रागे, रजः-गुणः, अशुभम् , पांसुश्च । उष दाहे, उषा सन्ध्या, अरुणः, रात्रिश्च । तॄ प्लवन-तरणयोः, तिरस्करोति-तिरः कृत्वा काण्डं गतः । तिर इति अन्तर्धावनृजुत्वे च । पॄश् पालन-पूरणयोः, पुरः पुजायाम् । तथा च पठन्ति नमः पूजायां पुरश्चेति । शॄश् हिंसायाम् , शृणाति-तद्वियुक्तमिति, शिरः-उत्तमाङ्गम् । भू सत्तायाम् , भुवः-लोकः, अन्तरिक्षम् , सूर्यश्च । वशक् कान्तौ, उशा-रात्रिः ॥ ९७१ ॥

विधेर्वा ॥ ९७२ ॥

विधत् विधाने, इत्यस्माद् अस् प्रत्ययो भवति, स च किद्वा भवति । वेधाः-विद्वान्, सर्ववित्, प्रजापतिश्च । विधाः-स एव ॥ ९७२ ॥

नुवो धथादिः ॥ ९७३ ॥

णूत् स्तवने, इत्यस्माद् धकारादिस्थकारादिश्च किद् अस् प्रत्ययो भवति । नूधा नूथाश्च-सूतमागधौ । धादौ गुणमिच्छन्त्येके । नोधाः-ऋषिः, ऋत्विक् ॥ ९७३ ॥

वयः-पयः-पुरोरेतोभ्यो धागः ॥ ९७४ ॥

एभ्यः पराद् डुधांग्क् धारणे, इत्यस्मात् किद् अस् प्रत्ययो भवति । वयोधाः-युवा, चन्द्रः, प्राणी च । पयोधाः-पर्जन्यः । पुरोधाः-पुरोहितः, उपाध्यायश्च । रेतोधाः-जनकः ॥ ९७४ ॥

नञ ईहेरेहेधौ च ॥ ९७५ ॥

नञ् पूर्वाद् ईहि चेष्टायाम्, इत्यस्माद् अस् प्रत्ययो भवति, अस्य च एह् एध् इत्यादेशौ भवतः । अनेहाः-कालः, इन्द्रः, चन्द्रश्च । अनेधाः-अग्निः, वायुश्च ॥ ९७५ ॥

विहायस्-सुमनस्-पुरुदंशस्-पुरूरवो-ऽङ्गिरसः ॥ ९७६ ॥

एतेऽस् प्रत्ययान्ता निपात्यन्ते । विपूर्वाज्जहातेर्जिहीतेर्वा योऽन्तश्च । विजहातीति विहाय-आकाशम्, विजिहीत इति विहायाः-पक्षी । सुपूर्वान्मानेर्ह्रस्वश्च । सुष्ठु मानयन्ति मान्यन्ते वा, सुमनसः-पुष्पाणि । पुरुं दशतीति पुरुदंशाः-इन्द्रः । पुरुपूर्वाद्रौतेर्दीर्घश्च, पुरु रौति पुरूरवाः-राजा, यमुर्वशीं चकमे । अङ्गेरिरोऽन्तश्च । अङ्गतीति-अङ्गिराः-ऋषिः ॥ ९७६ ॥

आतेर्जस्थसौ ॥ ९७७ ॥

पांक् रक्षणे, इत्यस्माद् जस् थस् इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः । पाजः-बलम् । पाथः-उदकम् अन्नं च ॥ ९७७ ॥

स्रुरीभ्यां तस् ॥ ९७८ ॥

आभ्यां तस् प्रत्ययो भवति । स्रुं गतौ, स्रोतः-निर्झरणम्, सुष्ठु स्रवतीति सुस्रोताः । रीश् गतिरेषणयोः, रेतः-शुक्रम् ॥ ९७८ ॥

अर्तीण्भ्यां नस् ॥ ९७९ ॥

आभ्यां नस् प्रत्ययो भवति । ऋंक् गतौ, अर्णः-जलम् । इणंक् गतौ, एनः-पापम्, अपराधश्च ॥ ९७९ ॥

रिचेः क च ॥ ९८० ॥

रिचृंपी विरेचने, इत्यस्माद् नस् प्रत्ययो भवति, अस्य च ककारोऽन्तादेशो भवति। रेक्णः-पापं, धनं च ॥ ९८० ॥

री-वृभ्यां पस् ॥ ९८१ ॥

अस्यां पस् प्रत्ययो भवति। रीश् गति-रेषणयोः, रेपः-पापम्। वृग्ट् वरणे, वर्पः-रूपम् ॥ ९८१ ॥

शीङः फस् च ॥ ९८२ ॥

शीङ्क् स्वप्ने, इत्यस्मात् फस्, चकारात् पस् प्रत्ययो भवति। शेफः, शेपश्च मेण्ढ्रम् ॥ ९८२ ॥

पचि-वचिभ्यां सस् ॥ ९८३ ॥

आभ्यां सस् प्रत्ययो भवति। डुपचींष् पाके, पक्षः-चक्रम्, इन्धनं च। वचंक् भाषणे, वक्षः-उरः, शरीरं च ॥ ९८३ ॥

इणस्तशस् ॥ ९८४ ॥

इणंक् गतौ, इत्यस्मात् तशस् प्रत्ययो भवति। एतशाः सोमः, अध्वर्युः, वायुः, अग्निः, अर्कः इन्द्रश्च ॥ ९८४ ॥

वष्टेः कनस् ॥ ९८५ ॥

वशक् कान्तौ, इत्यस्माद् किद् अनस् प्रत्ययो भवति। उशनाः-शुक्रः ॥ ९८५ ॥

चन्दो रमस् ॥ ९८६ ॥

चदु दीप्त्याह्लादयोः, इत्यस्माद् रमस् प्रत्ययो भवति। चन्द्रमाः शशी ॥ ९८६ ॥

दमेरुनसूनसौ ॥ ९८७ ॥

दमूच् उपशमे, इत्यस्माद् उनस् ऊनस् इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः। दमुनाः-अग्निः। दमूनाः-सूर्यः, देवः, उपशान्तश्च ॥ ९८७ ॥

इण आस् ॥ ९८८ ॥

इणंक् गतौ, इत्यस्माद् आस् प्रत्ययो भवति। अयाः-कालः, आदित्यश्च ॥ ९८८ ॥

रुच्यर्चि-शुचि-हु-सृ-पि-छादि-छृदिभ्य इस् ॥ ९८९ ॥

एभ्य इस् प्रत्ययो भवति। रुचि अभिप्रीत्यां च, रोचिः-किरणः। वसुपूर्वाद् वसुरोचिः-वासवः, किरणः, ऋतुश्च। अर्च पूजायाम्, अर्चिः-ज्वाला। शुच् शोके, शोचिः-रश्मिः, शोकः, पिङ्गलभावः, विविक्तं च। हुंक् दानादनयोः, हविः-पुरोडाशादि। सृप्लृ गतौ, सर्पिः-घृतम्। छदण् संवरणे, छादयतीति छदिः। 'छदेरिस् मन् त्रट् क्वौ' इति ह्रस्वः। बाहुलकाद्दीर्घत्वे छादिः-उभयं गृहच्छादनम्। ऊछृदृपी दीप्ति-देवनयोः, छर्दिः-वमनम् ॥ ९८९ ॥

बंहि-बृंहेर्नलुक् च ॥ ९९० ॥

आभ्याम् इस् प्रत्ययो भवति, नकारस्य च लुक् भवति । बहुङ् वृद्धौ, बहिः-अनभ्यन्तरे, वृहु शब्दे च, बर्हिः-शिखी, दर्भश्च ॥ ९९० ॥

द्युतेरादेश्च जः ॥ ९९१ ॥

द्युति दीप्तौ, इत्यस्माद् इस् प्रत्ययो भवति, धात्वादेश्च वर्णस्य जकारो भवति । ज्योतिः-तेजः, सूर्यः, अग्निः, तारका च ॥ ९९१ ॥

सहेर्ध च ॥ ९९२ ॥

षहि मर्षणे, इत्यस्माद् इस् प्रत्ययो भवति, घकारश्चान्तादेशो भवति । सघिः-सत्त्वम्, भूमिः, संयोगः, सहिष्णुः, अग्निः, अनड्वांश्च ॥ ९९२ ॥

पस्थोऽन्तश्च ॥ ९९३ ॥

पां पाने, इत्यस्माद् इस् प्रत्ययो भवति, थकारश्चान्तो भवति । पाथिः-पानं, नदी, आदित्यः, ज्योतिः, स्वर्गलोकश्च ॥ ९९३ ॥

नियो डित् ॥ ९९४ ॥

णींग् प्रापणे, इत्यस्माद् डिद् इस् प्रत्ययो भवति । निश्चिनोति । निरुपसर्गोऽयं पृथग्भावे ॥ ९९४ ॥

अवेर्णित् ॥ ९९५ ॥

अव रक्षणादौ, इत्यस्माद् णिद् इस् प्रत्ययो भवति । आविः-प्राकाश्ये, आविरभूत् आविष्करोति ॥ ९९५ ॥

तु-भू-स्तुभ्यः कित् ॥ ९९६ ॥

एभ्यः, किद् इस् प्रत्ययो भवति । तुंक् वृत्यादौ, तुविः-समुद्रः, सरित्, विवस्वान्, प्रभुसंयोगश्च । भू सत्तायाम् , भुविः-क्रतुः, समुद्रः, सरित् , विवस्वांश्च । ष्टुंग्क् स्तुतौ, स्तुविः-स्तोता, यज्ञश्च ॥ ९९६ ॥

रुघर्ति-जनि-तनि-घनि-मनि-ग्रन्थि-पॄ-तपि-त्रपि-वपि-यजि-प्रादि-वेपिभ्य उस् ॥९९७॥

एभ्य उस् प्रत्ययो भवति । रुदृक् अश्रुविमोचने, रोदुः-अश्रुनिपातः । ऋक् गतौ, अरुः-व्रणः, आदित्यः, प्राणः, समुद्रश्च । जनैचि प्रादुर्भावे, जनुः, अपत्यं, पिता, माता, जन्म, प्राणो, च । तनूयी विस्तारे, तनुः-शरीरम् । घन धान्ये सौत्रः, घनुः-चापम् । मनिच् ज्ञाने, मनुः-प्रजापतिः । ग्रन्थश् संदर्भे, ग्रन्थुः-ग्रन्थः । पॄश् पालन-पूरणयोः, परुः, पर्व, समुद्रः, धर्मश्च । तपं संतापे, तपुः त्रपुः, शत्रुः, भास्करः, अग्निः, कृच्छ्रादि च । त्रपौषि लज्जायाम् , त्रपुः-त्रपु । डुवपीं बीजसंताने, वपुः-शरीरम् , लावण्यं, तेजश्च । यजीं देव-

पूजा-संगति-करणदानेषु, यजुः-अच्छन्दा श्रुतिः, यज्ञोत्सवश्च । अदंक् भक्षणे, प्रपूर्वः, प्रादुः-प्राकाश्ये, उत्पत्तौ च, प्रादुर्बभूव । प्रादुरासीत् । टुवेपृङ् चलने, वेपुः-वेपथुः ॥ ९९७ ॥

इणो णित् ॥ ९९८ ॥

इणंक् गतौ, इत्यस्माद् णिद् उस् प्रत्ययो भवति । आयुः-जीवितम् । जटापूर्वादपि जटायुः-अरुणात्मजः ।

'तं नीलजीमूतनिकाशवर्णं, सपाण्डुरोरस्कमुदारधैयम् । ददर्श लङ्काधिपतिः पृथिव्यां, जटायुषं शान्तमिवाग्निदाहम्' ॥ ९९८ ॥

दुषेर्डित् ॥ ९९९ ॥

दुषंच् वैकृत्ये, इत्यस्माद् डिद् उस् प्रत्ययो भवति । दुः-निन्दायाम्, दुष्पुरुषः ।९९९।

मुहि-मिथ्यादेः कित् ॥ १००० ॥

आभ्यां किदुस् प्रत्ययो भवति । मुहौच् वैचित्ये, मुहुः-कालावृत्तिः मिथृग् मेधा-हिंसयोः, मिथुः-संगमः । आदिग्रहणादन्येभ्योऽपि भवति ॥ १००० ॥

चक्षेः शिद्वा ॥ १००१ ॥

चक्षिक् व्यक्तायां वाचि, इत्यस्मात् किद् उस् प्रत्ययो भवति, स च शिद्वा भवति । चक्षुः, परिचक्षुः, अवचक्षुः, अवसंचक्षुः, अचक्षुः, अवख्युः । बाहुलकाद् द्विर्वचने सचचक्षुः, विचख्युः ॥ १००१ ॥

पातेर्डुम्सुः ॥ १००२ ॥

पांक् रक्षणे, इत्यस्माद् डिदुम्सुः प्रत्ययो भवति । पुमान् पुरुषः, पुमांसौ, पुमांसः । उकार उदित् कार्यार्थः ॥ १००२ ॥

न्युद्भ्यामञ्चेः ककाकैसष्टावच्च ॥ १००३ ॥

न्युद्भ्यां परादञ्चू गतौ, इत्यस्मात् कितः अ आ ऐस् इत्येते प्रत्यया भवन्ति, ते च टावत्, टायामिव एषु कार्यं भवतीत्यर्थः । तेन 'अच्च प्राग्दीर्घश्च' इति भवति । नीचम्, उच्चम् । नीचा, ऊच्चा । नीचैः, उच्चैः प्रसिद्धार्था एते । लाघवार्थं सन्ताधिकारेऽप्यकार-आकारप्रत्ययविधानम् ॥ १००३ ॥

शमो नियो डैस् मलुक् च ॥ १००४ ॥

शम्पूर्वात् णींग् प्रापणे, इत्यस्माद्डिदैस् प्रत्ययो भवति, शमो मकारस्य लुग् भवति । शनैर्मन्दम् ॥ १००४ ॥

यमि-दमिभ्यां डोस् ॥ १००५ ॥

आभ्यां डिदोस् प्रत्ययो भवति । यमूं उपरमे । योर्विषयसुखम् । दमूच् उपशमे । दोर्बाहुः ।। १००५ ।।

अनसो वहेः क्विप् सश्चडः ।। १००६ ।।

अनस्शब्दपूर्वात् वहीं प्रापणे, इत्यस्मात् क्विप्-प्रत्ययो भवति, सकारस्य च डो भवति । अनो वहति । अनड्वान् वृषभः ।। १००६ ।।

इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्रकृतं स्वोपज्ञोणादिगणसूत्रविवरणं परिसमाप्तम् ।

अकृत्वासननिर्बन्धमभित्वा पावनीं गतिम् ।
सिद्धराजः परपुरप्रवेशवशितां ययौ ॥

॥ ॐ अर्हं नमः ॥

卐 परिशिष्टं प्रथमम् 卐

कलिकालसर्वज्ञश्री हेमचन्द्राचार्यविरचित धातुपाठः ।

१ भू सत्तायाम् ।
२ पां पाने ।
३ घ्रां गन्धोपादाने ।
४ ध्मां शब्दा-ऽग्निसंयोगयोः ।
५ ष्ठां गतिनिवृत्तौ ।
६ म्नां अभ्यासे ।
७ दां दाने ।
८ जिं ९ ज्रिं अभिभवे ।
१० क्षिं क्षये ।
११ इं १२ दुं १३ द्रुं १४ शुं ।
१५ स्रुं गतौ ।
१६ ध्रुं स्थैर्ये च ।
१७ सुं प्रसवैश्वर्ययोः ।
१८ स्मृं चिन्तायाम् ।
१९ गृं २० घृं सेचने ।
२१ औस्वृ शब्दोपतापयोः ।
२२ ह्वृं वरणे ।
२३ ध्वृं २४ ह्वृं कौटिल्ये ।
२५ सृं गतौ ।
२६ ॠं प्रापणे च ।
२७ तॄं प्लवन-तरणयोः ।
२८ ट्धें पाने ।
२९ दैव् शोधने ।
३० ध्यैं चिन्तायाम् ।
३१ ग्लैं हर्षक्षये ।
३२ म्लैं गात्रविनामे ।
३३ द्यैं न्यङ्करणे ।
३४ द्रैं स्वप्ने ।
३५ ध्रैं तृप्तौ ।

३६ कैं ३७ गैं ३८ रैं शब्दे ।
३९ ष्टयैं ४० स्त्यैं सङ्घाते च ।
४१ खैं खदने ।
४२ क्षैं ४३ जैं ४४ सैं क्षये ।
४५ स्रैं ४६ श्रैं पाके ।
४७ पैं ४८ ओवैं शोषणे ।
४९ ष्णैं वेष्टने ।
५० फक्क नीचैर्गतौ ।
५१ तक हसने ।
५२ तकु कृच्छ्रजीवने ।
५३ शुक गतौ ।
५४ बुक्क भाषणे ।
५५ ओखृ ५६ राखृ ५७ लाखृ
५८ द्राखृ ५९ ध्राखृ
शोषणालमर्थयोः ।
६० शाखृ ६१ श्लाखृ व्याप्तौ ।
६२ कक्ख हसने ।
६३ उख ६४ नख ६५ णख
६६ वख ६७ मख ६८ रख
६९ लख ७० मखु ७१ रखु
७२ लखु ७३ रिखु ७४ इख
७५ इखु ७६ ईखु ७७ वल्ग
७८ रगु ७९ लगु ८० तगु
८१ श्रगु ८२ श्लगु ८३ अगु
८४ वगु ८५ मगु ८६ खगु
८७ इगु ८८ उगु ८९ रिगु
९० लिगु गतौ ।
९१ त्वगु कम्पने च ।
९२ युगु ९३ जुगु

९४ वुगु वर्जने । ९५ गग्घ हसने ।
९६ दघु पालने ।
९७ शिघु आघ्राणे ।
९८ लघु शोषणे ।
[अत्र 'मघु मण्डने' इत्येके पठन्ति]
९९ शुच शोके ।
१०० कुच शब्दे तारे ।
१०१ क्रुञ्च गतौ ।
१०२ कुञ्च च कौटिल्याल्पी-
भावयोः ।
१०३ लुञ्च अपनयने ।
१०४ अर्च पूजायाम् ।
१०५ अञ्चू गतौ च ।
१०६ वञ्चू १०७ चञ्चू
१०८ तञ्चू १०९ त्वञ्चू
११० मञ्चू १११ मुञ्चू
११२ म्रञ्चू ११३ म्रचू
११४ म्लुचू ११५ ग्लुञ्चू
११६ षस्च गतौ ।
११७ ग्रुचू ११८ ग्लुचू स्तेये ।
११९ म्लेछ अव्यक्तायां वाचि ।
१२० लछ १२१ लाछु लक्षणे ।
१२२ वाछु इच्छायाम् ।
१२३ आछु आयामे ।
१२४ ह्रीछ लज्जायाम् ।
१२५ हुर्छा कौटिल्ये ।
१२६ मुर्छा मोह-समुच्छ्राययोः ।
१२७ स्फुर्छा १२८ स्मुर्छा
विस्मृतौ ।

१२९ युछ प्रमादे ।
१३० धृज १३१ धृजु
१३२ ध्वज १३३ ध्वजु
१३४ ध्रज १३५ ध्रजु
१३६ वज १३७ व्रज
१३८ षस्ज गतौ ।
१३९ अज क्षेपणे च ।
१४० कुजू १४१ खुजू स्तेये ।
१४२ अर्ज १४३ सर्ज अर्जने ।
१४४ कर्ज व्यथने ।
१४५ खर्ज मार्जने च ।
१४६ खज मन्थे ।
१४७ खजु गतिवैकल्ये ।
१४८ एजृ कम्पने ।
१४९ ट्वोस्फूर्जा वज्रनिर्घोषे ।
१५० क्षीज १५१ कूज १५२ गुज
१५३ गुजु अव्यक्ते शब्दे ।
१५४ लज १५५ लजु
१५६ तर्ज भर्त्सने ।
१५७ लाज १५८ लाजु
भर्जने च ।
१५९ जज १६० जजु युद्धे ।
१६१ तुज हिंसायाम् ।
१६२ तुजु बलने च ।
१६३ गर्ज १६४ गुजु
१६५ गृज १६६ गृजु
१६७ मुज १६८ मुजु
१६९ मृज १७० मज शब्दे ।
१७१ गज मदने च ।
१७२ त्यजं हानौ ।
१७३ षञ्जं सङ्गे ।
१७४ कटे वर्षावरणयोः ।
१७५ शट रुजाविशरणगत्यव-
शातनेषु ।
१७६ वट वेष्टने ।
१७७ किट १७८ खिट उत्त्रासे ।
१७९ शिट १८० षिट अनादरे ।
१८१ जट १८२ झट संघाते ।
१८३ पिट शब्दे च ।
१८४ भट भृतौ ।
१८५ तट उच्छ्राये ।
१८६ खट काङ्क्षे ।
१८७ णट नृत्तौ ।
१८८ हट दीप्तौ ।
१८९ षट अवयवे ।
१९० लुट विलोटने ।
१९१ चिट प्रैष्ये ।
१९२ विट शब्दे ।
१९३ हेट विबाधायाम् ।
१९४ अट १९५ पट
१९६ इट १९७ किट
१९८ कट १९९ कटु
२०० कटै गतौ ।
२०१ कुटु वैकल्ये ।
२०२ मुट प्रमर्दने ।
२०३ चुट २०४ चुटु अल्पीभावे ।
२०५ वटु विभाजने ।
२०६ रुटु २०७ लुटु स्तेये ।
२०८ स्फट २०९ स्फुटु विसरणे ।
२१० लट बाल्ये ।
२११ रट २१२ रठ च
परिभाषणे ।
२१३ पठ व्यक्तायां वाचि ।
२१४ वठ स्थौल्ये ।
२१५ मठ मद-निवासयोश्च ।
२१६ कठ कृच्छ्रजीवने ।
२१७ हठ बलात्कारे ।
२१८ उठ २१९ रुठ
२२० लुठ उपघाते ।
२२१ पिठ हिंसा-संक्लेशयोः ।
२२२ शठ कैतवे च ।
२२३ शुठ गतिप्रतीघाते ।
२२४ कुठु २२५ लुठु
आलस्ये च ।
२२६ शुठु शोषणे ।
२२७ अठ २२८ रुठु गतौ ।
२२९ पुडु प्रमर्दने ।
२३० मुडु खण्डने च ।
२३१ मडु भूषायाम् ।
२३२ गडु वदनैकदेशे ।
२३३ शौडृ गर्वे ।
२३४ यौडृ सम्बन्धे ।
२३५ मेडृ २३६ म्रेडृ
२३७ म्लेडृ २३८ लोडृ
२३९ लौडृ उन्मादे ।
२४० रोडृ २४१ रौडृ
२४२ तौडृ अनादरे ।
२४३ क्रीडृ विहारे ।
२४४ तुडृ २४५ तूडृ
२४६ तोडृ तोडने ।
२४७ हुडृ २४८ हूडृ
२४९ हूडृ २५० हौडृ गतौ ।
२५१ खोडृ प्रतीघाते ।
२५२ विड आक्रोशे ।
२५३ अड उद्यमे ।
२५४ लड विलासे ।
२५५ कडु मदे ।
२५६ कड्ड कार्कश्ये ।
२५७ अड्ड अभियोगे ।
२५८ चुड्ड हावकरणे ।
२५९ अण २६० रण
२६१ वण २६२ व्रण
२६३ बण २६४ भण
२६५ भ्रण २६६ मण
२६७ धण २६८ ध्वण
२६९ ध्रण २७० कण
२७१ क्वण २७२ चण शब्दे
२७३ ओणृ अपनयने ।

२७४ शोणृ वर्ण-गत्योः ।
२७५ श्रोणृ २७६ श्लोणृ संघाते
२७७ पैणृ गति-प्रेरण-श्लेषणेषु ।
२७८ चितै संज्ञाने ।
२७९ अत सातत्यगमने ।
२८० च्युतृ आसेचने ।
२८१ चुतृ २८२ स्चुतृ
२८३ स्च्युतृ क्षरणे ।
२८४ जुतृ भासने ।
२८५ अतु बन्धने ।
२८६ कित निवासे ।
२८७ ऋत घृणा-गति-स्पर्द्धेषु ।
२८८ कुथु २८९ पुथु
२९० लुथु २९१ मथु
२९२ मन्थ २९३ मान्थ
हिंसा-संक्लेशयोः ।
२९४ खाद्द भक्षणे ।
२९५ बद स्थैर्ये ।
२९६ खद हिंसायां च ।
२९७ गद व्यक्तायां वाचि ।
२९८ रद विलेखने ।
२९९ णद ३०० ञिक्ष्विदा
अव्यक्ते शब्दे ।
३०१ अर्द गति-याचनयोः ।
३०२ नर्द ३०३ णर्द
३०४ गर्द शब्दे ।
३०५ तर्द हिंसायाम् ।
३०६ कर्द कुत्सिते शब्दे ।
३०७ खर्द दशने ।
३०८ अदु बन्धने ।
३०९ इदु परमैश्वर्ये ।
३१० विदु अवयवे ।
३११ णिदु कुत्सायाम् ।
३१२ टुनदु समृद्धौ ।
३१३ चदु दीप्तयाह्लादयोः ।
३१४ त्रदु चेष्टायाम् ।

३१५ कदु ३१६ क्रदु
३१७ क्लदु रोदनाह्वानयोः ।
३१८ क्लिदु परिदेवने ।
३१९ स्कन्दृ गति-शोषणयोः ।
३२० षिधू गत्याम् ।
३२१ षिधौ शास्त्र-माङ्गल्ययोः ।
३२२ शुन्ध शुद्धौ ।
३२३ स्तन ३२४ धन
३२५ ध्वन ३२६ चन
३२७ स्वन ३२८ वन शब्दे ।
३२९ वन ३३० षन भक्तौ ।
३३१ कनै दीप्ति-कान्ति-गतिषु ।
३३२ गुपौ रक्षणे ।
३३३ तपं ३३४ धुप संतापे ।
३३५ रप ३३६ लप
३३७ जल्प व्यक्ते वचने ।
३३८ जप मानसे च ।
३३९ चप सान्त्वने ।
३४० शप समवाये ।
३४१ सृप्लृं गतौ ।
३४२ चुप मन्दायाम् ।
३४३ तुप ३४४ तुम्प
३४५ त्रुप ३४६ त्रुम्प
३४७ तुफ ३४८ तुम्फ
३४९ त्रुफ ३५० त्रुम्फ
हिंसायाम् ।
३५१ वर्फ ३५२ रफ
३५३ रफु ३५४ अर्ब
३५५ कब ३५६ खर्ब
३५७ गर्ब ३५८ चर्ब
३५९ तर्ब ३६० नर्ब
३६१ पर्ब ३६२ वर्ब
३६३ शर्ब ३६४ षर्ब
३६५ सर्ब ३६६ रिवु
३६७ रबु गतौ ।
३६८ कुबु आच्छादने ।

३६९ लुबु ३७० तुबु अर्दने ।
३७१ चुबु वक्त्रसंयोगे ।
३७२ सृभू ३७३ सृम्भू
३७४ स्रिभू ३७५ षिम्भू
३७६ भर्भ हिंसायाम् ।
३७७ शुम्भ भाषणे च ।
३७८ यभ ३७९ जभ मैथुने ।
३८० चमू ३८१ छमू
३८२ जमू ३८३ झमू
३८४ जिमू अदने ।
३८५ क्रमू पादविक्षेपे ।
३८६ यमूं उपरमे ।
३८७ स्यमू शब्दे ।
३८८ णमं प्रह्वत्वे ।
३८९ षम ३९० ष्टम वैक्लव्ये ।
३९१ अम शब्द-भक्त्योः ।
३९२ अम ३९३ द्रम
३९४ हम्म ३९५ मिमृ
३९६ गम्लृं गतौ ।
३९७ हय ३९८ हर्य क्लान्तौ च ।
३९९ मव्य बन्धने ।
४०० सूर्क्ष्य ४०१ ईर्क्ष्य
४०२ ईर्ष्य ईर्ष्यार्थाः ।
४०३ शुच्यै ४०४ चुच्यै
अभिषवे ।
४०५ त्सर छद्मगतौ ।
४०६ क्मर हूर्छने ।
४०७ अभ्र ४०८ बभ्र
४०९ मभ्र गतौ ।
४१० चर भक्षणे च ।
४११ घोरृ गतेश्चातुर्ये ।
४१२ खोरृ प्रतीघाते ।
४१३ दल ४१४ ञिफला
विशरणे ।
४१५ मील ४१६ श्मील
४१७ स्मील ४१८ क्ष्मील निमेषणे ।

४१९ पील प्रतिष्टम्भे ।
४२० णील वर्णे ।
४२१ शील समाधौ ।
४२२ कील बन्धे ।
४२३ कूल आवरणे ।
४२४ शूल रुजायाम् ।
४२५ तूल निष्कर्षे ।
४२६ पूल संघाते ।
४२७ मूल प्रतिष्ठायाम् ।
४२८ फल निष्पत्तौ ।
४२९ फुल्ल विकसने ।
४३० चुल्ल हावकरणे ।
४३१ चिल्ल शैथिल्ये च ।
४३२ पेलृ ४३३ फेलृ ४३४ शेलृ
४३५ षेलृ ४३६ सेलृ ४३७ वेल्ल
४३८ सल ४३९ तिल ४४० तिल्ल
४४१ पल्ल ४४२ वेल्ल गतौ ।
४४३ वेलृ ४४४ चेलृ ४४५ केलृ
४४६ क्वेलृ ४४७ खेलृ
४४८ स्खल चलने ।
४४९ खल संचये च ।
४५० श्वल ४५१ श्वल्ल आशुगतौ
४५२ गल ४५३ चर्व अदने ।
४५४ पूर्व ४५५ पर्व
४५६ मर्व पूरणे ।
४५७ मर्व ४५८ थर्वु
४५९ शव गतौ ।
४६० कर्व ४६१ खर्व
४६२ गर्व दर्पे ।
४६३ ष्टिवु ४६४ क्षिवु निरसने ।
४६५ जीव प्राणधारणे ।
४६६ पीव ४६७ मीव ४६८ तीव
४६९ नीव स्थौल्ये ।
४७० उर्वै ४७१ तुर्वै ४७२ थुर्वै
४७३ दुर्वै ४७४ धुर्वै ४७५ जुर्वै
४७६ अर्व ४७७ भर्व
४७८ शर्व हिंसायाम् ।
४७९ मुर्वै ४८० मव बन्धने ।
४८१ गुर्वै उद्यमे । ४८२ पिवु
४८३ मिवु ४८४ निवु सेचने ।
४८५ हिवु ४८६ दिवु
४८७ जिवु प्राणने ।
४८८ इवु व्याप्तौ च ।
४८९ अव रक्षण-गति-कान्ति-तृप्त्यवगमन-प्रवेश-श्रवण स्वाम्यर्थ-याचन क्रियेच्छा-दीप्त्यवाप्त्या-ऽऽलिङ्गन-हिंसा-दहन-भाव-वृद्धिषु [एकोनविंशतावर्थेषु] ॥
४९० कश शब्दे ।
४९१ मिश ४९२ मश रोषे च ।
४९३ शश प्लुतिगतौ ।
४९४ णिश समाधौ ।
४९५ दृशृ प्रेक्षणे ।
४९६ दंशं दशने ।
४९७ घुषृ शब्दे ।
४९८ चूष पाने ।
४९९ तूष तुष्टौ ।
५०० पूष वृद्धौ ।
५०१ लुष ५०२ मूष स्तेये ।
५०३ षूष प्रसवे ।
५०४ ऊष रुजायाम् ।
५०५ ईष उञ्छे ।
५०६ कृषं विलेखने ।
५०७ कष ५०८ शिष ५०९ जष
५१० झष ५११ वष ५१२ मष
५१३ मुष ५१४ रुष ५१५ रिष
५१६ यूष ५१७ जूष ५१८ शष
५१९ चष हिंसायाम् ।
५२० वृषू संघाते च ।
५२१ भष भर्त्सने ।
५२२ जिषू ५२३ विषू ५२४ मिषू
५२५ निषू ५२६ पृषू ५२७ वृषू
५२८ मृषू सहने च ।
५२९ उषू ५३० श्रिषू ५३१ श्लिषू
५३२ प्रुषू ५३३ प्लुषू दाहे ।
५३४ घृषू संहर्षे ।
५३५ हृषू अलीके ।
५३६ पुष पुष्टौ ।
५३७ भूष ५३८ तसु अलङ्कारे ।
५३९ तुस ५४० ह्रस ५४१ ह्लस
५४२ रस शब्दे ।
५४३ लस श्लेषण-क्रीडनयोः ।
५४४ घस्लृ अदने ।
५४५ हसे हसने ।
५४६ पिसृ ५४७ पेसृ
५४८ वेसृ गतौ ।
५४९ शसु हिंसायाम् ।
५५० शंसु स्तुतौ च ।
५५१ मिहं सेचने ।
५५२ दहं भस्मीकरणे ।
५५३ चह कल्कने ।
५५४ रह त्यागे ।
५५५ रहु गतौ ।
५५६ दह ५५७ दहु
५५८ बृह वृद्धौ ।
५५९ बृहृ ५६० बृहु शब्दे च ।
५६१ उहृ ५६२ तुहृ
५६३ दुहृ अर्दने ।
५६४ अर्ह ५६५ मह पूजायाम् ।
५६६ उक्ष सेचने ।
५६७ रक्ष पालने ।
५६८ मक्ष ५६९ मुक्ष सङ्घाते ।
५७० अक्षौ व्याप्तौ च ।
५७१ तक्षौ ५७२ त्वक्षौ तनूकरणे ।
५७३ णिक्ष चुम्बने ।
५७४ तृक्ष ५७५ स्तृक्ष
५७६ णक्ष गतौ ।

५७७ वक्ष रोषे ।
५७८ त्वक्ष त्वचने ।
५७९ सूर्क्ष अनादरे ।
५८० काक्षु ५८१ वाक्षु
५८२ माक्षु काङ्क्षायाम् ।
५८३ द्राक्षु ५८४ ध्राक्षु
५८५ ध्वाक्षु घोरवाशिते च ।

।। इति परस्मैभाषा ।।

५८६ गांङ् गतौ ।
५८७ ष्मिङ ईषद्धसने ।
५८८ डीङ् विहायसां गतौ ।
५८९ उंङ् ५९० कुंङ् ५९१ गुंङ्
५९२ घुंङ् ५९३ ङुङ् शब्दे ।
५९४ च्युंङ् ५९५ ज्युंङ्
५९६ जुंङ् ५९७ प्रुंङ्
५९८ प्लुंङ् गतौ ।
५९९ रुंङ् रेषणे च ।
६०० पूङ् पवने ।
६०१ मूङ् बन्धने ।
६०२ धृंङ् अविध्वंसने ।
६०३ मेंङ् प्रतिदाने ।
६०४ देंङ् ६०५ त्रैङ् पालने ।
६०६ श्यैंङ् गतौ ।
६०७ प्यैंङ् वृद्धौ ।
६०८ वकुङ् कौटिल्ये ।
६०९ मकुङ मण्डने ।
६१० अकुङ् लक्षणे ।
६११ शीकृङ् सेचने ।
६१२ लोकृङ् दर्शने ।
६१३ श्लोकृङ् सङ्घाते ।
६१४ द्रेकृङ् ६१५ ध्रेकृङ् शब्दोत्साहे ।
६१६ रेकृङ् ६१७ शकुङ् शङ्कायाम् ।
६१८ ककि लौल्ये ।
६१९ कुकि ६२० वृकि आदाने ।
६२१ चकि तृप्ति-प्रतीघातयोः ।
६२२ ककुङ् ६२३ श्वकुङ्
६२४ त्रकुङ् ६२५ श्रकुङ्
६२६ श्लकुङ् ६२७ ढौकृङ्
६२८ त्रौकृङ् ६२९ ष्वष्कि
६३० वस्कि ६३१ मस्कि
६३२ तिकि ६३३ टिकि
६३४ टीकृङ ६३५ सेकृङ्
६३६ स्रेकृङ् ६३७ रघुङ्
६३८ लघुङ् गतौ ।
६३९ अघुङ् ६४० वघुङ् गत्याक्षेपे
६४१ मघुङ् कैतवे च ।
६४२ राघृङ् ६४३ लाघृङ् सामर्थ्ये ।
६४४ द्राघृङ् आयासे च ।
६४५ श्लाघृङ् कत्थने ।
६४६ लोचृङ् दर्शने ।
६४७ षचि सेचने ।
६४८ शचि व्यक्तायां वाचि ।
६४९ कचि बन्धने ।
६५० कचुङ् दीप्तौ च ।
६५१ श्वचि ६५२ श्वचुङ् गतौ ।
६५३ वर्चि दीप्तौ ।
६५४ मचि ६५५ मुचुङ् कलूने ।
६५६ मचुङ् धारणोच्छ्राय-पूजनेषु
६५७ पचुङ् व्यक्तीकरणे ।
६५८ ष्टुचि प्रसादे ।
६५९ एजृङ् ६६० भ्रेजृङ्
६६१ भ्राजि दीप्तौ ।
६६२ इजुङ् गतौ ।
६६३ ईजि कुत्सने च ।
६६४ ऋजि गतिस्थानार्जनोर्जनेषु
६६५ ऋजुङ ६६६ भृजैङ् भर्जने ।
६६७ तिजि क्षमा-निशानयोः ।
६६८ घट्टि चलने ।
६६९ स्फुटि विकसने ।
६७० चेष्टि चेष्टायाम् ।
६७१ गोष्टि ६७२ लोष्टि संघाते ।
६७३ वेष्टि वेष्टने ।
६७४ अट्टि हिंसा-ऽतिक्रमयोः ।
६७५ एठि ६७६ हेठि विबाधायाम्
६७७ मठुङ् ६७८ कठुङ् शोके ।
६७९ मुठुङ् पलायने ।
६८० वठुङ एकचर्यायाम् ।
६८१ अठुङ् ६८२ पठुङ् गतौ ।
६८३ हुडुङ् ६८४ पिडुङ् सङ्घाते ।
६८५ शडुङ् रुजायां च ।
६८६ तडुङ् ताडने ।
६८७ कडुङ् मदे ।
६८८ खडुङ् मन्थे ।
६८९ खडुङ् गतिवैकल्ये ।
६९० कुडुङ् दाहे ।
६९१ वडुङ ६९२ मडुङ् वेष्टने ।
६९३ भडुङ् परिभाषणे ।
६९४ मुडुङ् मज्जने ।
६९५ तुडुङ् तोडने ।
६९६ भुडुङ् वरणे ।
६९७ चडुङ् कोपे ।
६९८ द्राडृङ् ६९९ ध्राडृङ् विशरणे
७०० शाडृङ् श्लाघायाम् ।
७०१ वाडृङ् आप्लाव्ये ।
७०२ हेडृङ् ७०३ होडृङ् अनादरे ।
७०४ हिडुङ् गतौ च ।
७०५ घिणुङ् ७०६ घुणुङ्
७०७ घृणुङ् ग्रहणे ।
७०८ घुणि ७०९ घूर्णि भ्रमणे ।
७१० पणि व्यवहार-स्तुत्योः ।
७११ यतैङ् प्रयत्ने ।
७१२ युतृङ् ७१३ जुतृङ् भासने ।
७१४ विथृङ् ७१५ वेथृङ् याचने ।
७१६ नाथृङ् उपतापैश्वर्याशीःषु च
७१७ श्रथुङ् शैथिल्ये ।

७१८ ग्रथुङ् कौटिल्ये ।
७१९ कत्थि श्लाघायाम् ।
७२० श्विदुङ् श्वैत्ये ।
७२१ वदुङ् स्तुत्यभिवादनयोः ।
७२२ भदुङ् सुख-कल्याणयोः ।
७२३ मदुङ् स्तुति-मोद मद-स्वप्न-गतिषु ।
७२४ स्पदुङ् किञ्चिच्चलने ।
७२५ क्लिदुङ् परिदेवने ।
७२६ मुदि हर्षे ।
७२७ ददि दाने ।
७२८ हृदि पुरीषोत्सर्गे ।
७२९ ष्वदि ७३० स्वर्दि
७३१ स्वादि आस्वादने ।
७३२ उर्दि मान-क्रीडयोश्च ।
७३३ कुर्दि ७३४ गुर्दि
७३५ गुदि क्रीडायाम् ।
७३६ षूदि क्षरणे ।
७३७ ह्रादि शब्दे ।
७३८ ह्लादङ् सुखे च ।
७३९ पर्दि कुत्सिते शब्दे ।
७४० स्कुदुङ् आप्रवणे ।
७४१ एधि वृद्धौ ।
७४२ स्पर्द्धि सङ्घर्षे ।
७४३ गाधृङ् प्रतिष्ठा लिप्सा-ग्रन्थेषु ।
७४४ बाधृङ् रोटने ।
७४५ दधि धारणे ।
७४६ बधि बन्धने ।
७४७ नाधृङ् नाथृङ्वत् ।
७४८ पनि स्तुतौ ।
७४९ मानि पूजायाम् ।
७५० तिपृङ् ७५१ ष्टिपृङ्
७५२ ष्टेपृङ् क्षरणे ।
७५३ तेपृङ् कम्पने च ।
७५४ टुवेपृङ् ७५५ केपृङ्
७५६ गेपृङ् ७५७ कपुङ् चलने ।
७५८ ग्लेपृङ् दैन्ये च ।
७५९ मेपृङ् ७६० रेपृङ्
७६१ लेपृङ् गतौ ।
७६२ त्रपौषि लज्जायाम् ।
७६३ गुपि गोपन कुत्सनयोः ।
७६४ अबुङ् ७६५ रबुङ् शब्दे ।
७६६ लबुङ् अवस्रंसने ।
७६७ कबृङ् वर्णे ।
७६८ क्लीबृङ् अधाष्ट्र्ये ।
७६९ क्षीबृङ् मदे ।
७७० शीभृङ् ७७१ चीभृङ्
७७२ शल्भि कत्थने ।
७७३ वल्भि भोजने ।
७७४ गल्भि धाष्ट्र्ये ।
७७५ रेभुङ् ७७६ अभुङ्
७७७ रभुङ् ७७८ लभुङ् शब्दे ।
७७९ ष्टभुङ् ७८० स्कभुङ्
७८१ ष्टुभुङ् स्तम्भे ।
७८२ जभुङ् ७८३ जभैङ्
७८४ जृभुङ् गात्रविनामे ।
७८५ रभि राभस्ये ।
७८६ डुलभिष् प्राप्तौ ।
७८७ भामि क्रोधे ।
७८८ क्षमौषि सहने ।
७८९ कमूङ् कान्तौ ।
७९० अयि ७९१ वयि
७९२ पयि ७९३ मयि
७९४ नयि ७९५ चयि
७९६ रयि गतौ ।
७९७ तयि ७९८ णयि रक्षणे च ।
७९९ दयि दान गति-हिंसा दह-नेषु च ।
८०० ऊयैङ् तन्तुसन्ताने ।
८०१ पूयैङ् दुर्गन्ध-विशरणयोः ।
८०२ क्नूयैङ् शब्दोन्दनयोः ।
८०३ क्ष्मायैङ् विधूनने ।
८०४ स्फायैङ् ८०५ ओप्यायैङ् वृद्धौ ।
८०६ तायृङ् सन्तान-पालनयोः ।
८०७ वलि ८०८ वल्लि संवरणे ।
८०९ शलि चलने च ।
८१० मलि ८११ मल्लि धारणे ।
८१२ भलि ८१३ भल्लि परिभा-षण-हिंसा-दानेषु ।
८१४ कलि शब्द-संख्यानयोः ।
८१५ कल्लि अशब्दे ।
८१६ तेवृङ् ८१७ देवृङ् देवने ।
८१८ षेवृङ् ८१९ सेवृङ्
८२० केवृङ् ८२१ खेवृङ्
८२२ गेवृङ् ८२३ ग्लेवृङ्
८२४ पेवृङ् ८२५ प्लेवृङ्
८२६ मेवृङ् ८२७ म्लेवृङ् सेवने ।
८२८ रेवृङ् ८२९ पवि गतौ ।
८३० काशृङ् दीप्तौ ।
८३१ क्लेशि विबाधने ।
८३२ भाषि च व्यक्तायां वाचि ।
८३३ ईष गति-हिंसा-दर्शनेषु ।
८३४ गेषृङ् अन्विच्छायाम् ।
८३५ येषृङ् प्रयत्ने ।
८३६ जेषृङ् ८३७ णेषृङ्
८३८ एषृङ् ८३९ ह्लेषृङ् गतौ ।
८४० रेषृङ् ८४१ हेषृङ् अव्यक्ते शब्दे ।
८४२ पर्षि स्नेहने ।
८४३ घुषुङ् कान्तीकरणे ।
८४४ स्रंसूङ् प्रमादे ।
८४५ कासृङ् शब्दकुत्सायाम् ।
८४६ भासि ८४७ टुभ्रासि
८४८ टुभ्लासृङ् दीप्तौ ।
८४९ रासृङ् ८५० णासृङ् शब्दे ।
८५१ णसि कौटिल्ये ।

८५२ भ्यसि भये ।
८५३ आङः शसुङ् इच्छायाम् ।
८५४ ग्रसूङ् ८५५ ग्लसूङ् अदने
८५६ घसुङ् करणे ।
८५७ ईहि चेष्टायाम् ।
८५८ अहुङ् ८५९ प्लिहि गतौ ।
८६० गर्हि ८६१ गल्हि कुत्सने ।
८६२ वर्हि ८६३ वल्हि प्राधान्ये ।
८६४ बर्हि ८६५ बल्हि परिभाषण-हिंसा-च्छादनेषु ।
८६६ वेहृङ् ८६७ जेहृङ्
८६८ वाहृङ् प्रयत्ने ।
८६९ द्राहृङ् निक्षेपे ।
८७० ऊहि तर्के ।
८७१ गाहौङ् विलोडने ।
८७२ ग्लहौङ् ग्रहणे ।
८७३ बहुङ् ८७४ महुङ् वृद्धौ ।
८७५ दक्षि शैघ्ये च ।
८७६ धुक्षि ८७७ धिक्षि सन्दीपन-क्लेशन-जीवनेषु ।
८७८ वृक्षि वरणे ।
८७९ शिक्षि विद्योपादाने ।
८८० भिक्षि याञ्चायाम् ।
८८१ दीक्षि मौण्ड्येज्योपनयन-नियम-व्रतादेशेषु ।
८८२ ईक्षि दर्शने ।

।। इति आत्मनेभाषाः ।।

८८३ श्रिग् सेवायाम् ।
८८४ णींग् प्रापणे ।
८८५ हृंग् हरणे ।
८८६ भृंग् भरणे ।
८८७ धृंग् धारणे ।
८८८ डुकृंग् करणे ।
८८९ हिक्की अव्यक्ते शब्दे ।
८९० अञ्चूग् गतौ च ।
८९१ डुयाचृग् याञ्चायाम् ।
८९२ डुपचींष् पाके ।
८९३ राजृग् ८९४ टुभ्राजि दीप्तौ
८९५ भजीं सेवायाम् ।
८९६ रञ्जीं रागे ।
८९७ रेटृग् परिभाषण-याचनयोः
८९८ वेणृग् गति ज्ञान-चिन्ता-निशामन-वादित्र-ग्रहणेषु ।
८९९ चतेग् याचने ।
९०० प्रोथृग् पर्याप्तौ ।
९०१ मिथृग् मेधा-हिंसयोः ।
९०२ मेथृग् सङ्गमे च ।
९०३ चदेग् याचने ।
९०४ ऊबुन्दृग् निशामने ।
९०५ णिदृग् ९०६ णेदृग् कुत्सा-सन्निकर्षयोः ।
९०७ मिदृग् ९०८ मेदृग् मेधा-हिंसयोः ।
९०९ मेधृग् सङ्गमे च ।
९१० शृधूग् ९११ मृधूग् उन्दे ।
९१२ बुधृग् बोधने ।
९१३ खनूग् अवदारणे ।
९१४ दानी अवखण्डने ।
९१५ शानी तेजने ।
९१६ शपीं आक्रोशे ।
९१७ चायृग् पूजा-निशामनयोः ।
९१८ व्ययी गतौ ।
९१९ अलो भूषण-पर्याप्ति-वारणेषु ।
९२० धावूग् गति-शुद्ध्योः ।
९२१ चीवृग् झषीवत् ।
९२२ दाशृग् दाने ।
९२३ झषी आदान संवरणयोः ।
९२४ भेषृग् भये ।
९२५ भ्रेषृग् चलने च ।
९२६ पषी बाधन-स्पर्शनयोः ।
९२७ लषी कान्तौ ।
९२८ चषी भक्षणे ।
९२९ छषी हिंसायाम् ।
९३० त्विषीं दीप्तौ ।
९३१ अषी ९३२ असी गत्यादानयोश्च ।
९३३ दासृग् दाने ।
९३४ माहृग् माने ।
९३५ गुहौग् संवरणे ।
९३६ भ्लक्षी भक्षणे ।

।। इति उभयतो भाषाः ।।

९३७ द्युति दीप्तौ ।
९३८ रुचि अभिप्रीत्यां च ।
९३९ घुटि परिवर्त्तने ।
९४० रुटि ९४१ लुटि
९४२ लुठि प्रतीघाते ।
९४३ श्विताङ् वर्णे ।
९४४ ञिमिदाङ् स्नेहने ।
९४५ ञिक्ष्विदाङ् ।
९४६ ञिष्विदाङ् मोचने च ।
९४७ शुभि दीप्तौ ।
९४८ क्षुभि संचलने ।
९४९ णभि ९५० तुभि हिंसायाम्
९५१ स्रम्भूङ् विश्वासे ।
९५२ भ्रंशूङ् ९५३ स्रंसूङ् -अवस्रंसने ।
९५४ ध्वंसूङ् गतौ च ।
९५५ वृतूङ् वर्तने ।
९५६ स्यन्दौङ् स्रवणे ।
९५७ वृधूङ् वृद्धौ ।
९५८ शृधूङ् शब्दकुत्सायाम् ।
९५९ कृपौङ् सामर्थ्ये ।

।। वृत् द्युतादयः ।।

९६० ज्वल दीप्तौ ।
९६१ कुच् सम्पर्चन-कौटिल्य-प्रतिष्टम्भ-विलेखनेषु ।

९६२ पत्लृ ९६३ पथे गतौ ।
९६४ क्वथे निष्पाके ।
९६५ मथे विलोडने ।
९६६ पद्लृं विशरण-गत्यवसादनेषु ।
९६७ शद्लृं शातने ।
९६८ बुध अवगमने ।
९६९ टुवमू उद्गिरणे ।
९७० भ्रमू चलने ।
९७१ क्षर संचलने ।
९७२ चल कम्पने ।
९७३ जल घात्ये ।
९७४ टल ९७५ ट्वल वैक्लव्ये ।
९७६ ष्ठल स्थाने ।
९७७ हल विलेखने ।
९७८ णल गन्धे ।
९७९ बल प्राणनधान्यावरोधयोः
९८० पुल महत्वे ।
९८१ कुल बन्धु-संस्त्यानयोः ।
९८२ पल ९८३ फल
९८४ शल गतौ ।
९८५ हुल हिंसा-संवरणयोश्च ।
९८६ क्रुशं आह्वान-रोदनयोः ।
९८७ कस गतौ ।
९८८ रुहं जन्मनि ।
९८९ रमिं क्रीडायाम् ।
९९० षहि मर्षणे ।

॥ वृत् ज्वलादिः ॥

९९१ यजीं देवपूजा-सङ्गति-करणदानेषु ।
९९२ वेंग् तन्तुसन्ताने ।
९९३ व्येंग् संवरणे ।
९९४ ह्वेंग् स्पर्धा-शब्दयोः ।
९९५ टुवपीं बीजसन्ताने ।
९९६ वहीं प्रापणे ।
९९७ ट्वोश्वि गति-वृद्धयोः ।
९९८ वद व्यक्तायां वाचि ।
९९९ वसं निवासे ।

॥ वृत् यजादिः ॥

१००० घटिष् चेष्टायाम् ।
१००१ क्षजुङ्-गति-दानयोः ।
१००२ व्यथिष् भय-चलनयोः ।
१००३ प्रथिष् प्रख्याने ।
१००४ म्रदिष् मर्दने ।
१००५ स्खदिष् खदने ।
१००६ कदुङ् १००७ क्रदुङ्
१००८ क्लदुङ् वैक्लव्ये ।
१००९ क्रपि कृपायाम् ।
१०१० ञित्वरिष् सम्भ्रमे ।
१०११ प्रसिष् विस्तारे ।
१०१२ दक्षि हिंसा-गत्योः ।
१०१३ श्रां पाके ।
१०१४ मृं आध्याने ।
१०१५ दृ भये ।
१०१६ नृ नये ।
१०१७ ष्टक १०१८ स्तक प्रतीघाते ।
१०१९ तृप्तौ च ।
१०२० अक कुटिलायां गतौ ।
१०२१ कखे हसने ।
१०२२ अग अकवत् ।
१०२३ रगे शङ्कायाम् ।
१०२४ लगे सङ्गे ।
१०२५ ह्रगे १०२६ ह्लगे
१०२७ षगे १०२८ सगे
१०२९ ष्टगे १०३० स्थगे संवरणे
१०३१ वट १०३२ भट परिभाषणे
१०३३ णट नतौ ।
१०३४ गड सेचने ।
१०३५ हेड वेष्टने ।
१०३६ लड जिह्वोन्मन्थने ।
१०३७ फण १०३८ कण
१०३९ रण गतौ ।
१०४० चण हिंसा-दानयोश्च ।
१०४१ शण १०४२ श्रण दाने ।
१०४३ स्नथ १०४४ क्नथ
१०४५ क्रथ १०४६ क्लथ हिंसार्थाः ।
१०४७ छद ऊर्जने ।
१०४८ मदै हर्ष ग्लपनयोः ।
१०४९ ष्टन १०५० स्तन
१०५१ ध्वन शब्दे ।
१०५२ स्वन अवतंसने ।
१०५३ चन हिंसायाम् ।
१०५४ ज्वर रोगे ।
१०५५ चल कम्पने ।
१०५६ ह्वल १०५७ ह्मल चलने
१०५८ ज्वल दीप्तौ च ।

॥ वृत् घटादिः ॥
॥ इति भ्वादयो निरनुबन्धा धातवः समाप्ताः ॥

१०५९ अदं १०६० प्सांक् भक्षणे ।
१०६१ भांक् दीप्तौ ।
१०६२ यांक् प्रापणे ।
१०६३ वांक् गति-गन्धनयोः ।
१०६४ ष्णांक् शौचे ।
१०६५ श्रांक् पाके ।
१०६६ द्रांक् कुत्सितगतौ ।
१०६७ पांक् रक्षणे ।
१०६८ लांक् आदाने ।
१०६९ रांक् दाने ।
१०७० दांव्क् लवने ।
१०७१ ख्यांक् प्रथने ।
१०७२ प्रांक् पूरणे ।

१०७३ मांक् माने ।
१०७४ इंक् स्मरणे ।
१०७५ इंण्क् गतौ ।
१०७६ वींक् प्रजन-कान्त्यसन-खादने च ।
१०७७ द्युंक् अभिगमे ।
१०७८ षुंक् प्रसवैश्वर्ययोः ।
१०७९ तुंक् वृत्ति-हिंसा-पूरणेषु
१०८० युक् मिश्रणे ।
१०८१ णुक् स्तुतौ ।
१०८२ क्ष्णुक् तेजने ।
१०८३ स्नुक् प्रस्नवने ।
१०८४ टूक्षु १०८५ रु
१०८६ कुंक् शब्दे ।
१०८७ रुदृक् अश्रुविमोचने ।
१०८८ ञिष्वपंक् शये ।
१०८९ अन १०९० श्वसक् प्राणने ।
१०९१ जक्षक् भक्ष-हसनयोः ।
१०९२ दरिद्राक् दुर्गतौ ।
१०९३ जागृक् निद्राक्षये ।
१०९४ चकासृक् दीप्तौ ।
१०९५ शासूक् अनुशिष्टौ ।
१०९६ वचंक् भाषणे ।
१०९७ मृजौक् शुद्धौ ।
१०९८ सस्तुक् स्वप्ने ।
१०९९ विदक् ज्ञाने ।
११०० हनंक् हिंसा-गत्योः ।
११०१ वशक् कान्तौ ।
११०२ असक् भुवि ।
११०३ षसक् स्वप्ने ।
यङ्लुप् च ।

॥ इति परस्मैभाषाः ॥

११०४ इंङ्क् अध्ययने ।
११०५ शीङ्क् स्वप्ने ।
११०६ ह्नुंङ्क् अपनयने ।
११०७ षूङौक् प्राणिगर्भविमोचने
११०८ पृचैङ् ११०९ पृजुङ्
१११० पिजुकि संपर्चने ।
११११ वृजैकि वर्जने ।
१११२ णिजुकि शुद्धौ ।
१११३ शिजुकि अव्यक्ते शब्दे ।
१११४ ईडिक् स्तुतौ ।
१११५ ईरिक् गति-कम्पनयोः ।
१११६ ईशिक् ऐश्वर्ये ।
१११७ वसिक् आच्छादने ।
१११८ आङः शासूकि इच्छायाम्
१११९ आसिक् उपवेशने ।
११२० कसुकि गति-शातनयोः ।
११२१ णिसुकि चुम्बने ।
११२२ चक्षिक् व्यक्तायां वाचि ।

॥ इति आत्मनेभाषाः ॥

११२३ ऊर्णुंग्क् आच्छादने ।
११२४ ष्टुंग्क् स्तुतौ ।
११२५ ब्रूंग्क् व्यक्तायां वाचि ।
११२६ द्विषींक् अप्रीतौ ।
११२७ दुहींक् क्षरणे ।
११२८ दिहींक् लेपे ।
११२९ लिहींक आस्वादने ।

॥ इति उभयतोभाषाः ॥

११३० हुंक् दाना-ऽदनयोः ।
११३१ ओहांक् त्यागे ।
११३२ ञिभींक् भये ।
११३३ ह्रींक् लज्जायाम् ।
११३४ पृंक् पालन-पूरणयोः ।
११३५ ऋंक् गतौ ।

॥ इति परस्मैभाषाः ॥

११३६ ओहांङ्क् गतौ ।
११३७ मांङ्क् मान-शब्दयोः ।

॥ इति आत्मनेभाषाः ॥

११३८ डुदांग्क् दाने ।
११३९ डुधांग्क् धारणे च ।
११४० टुडुभृंग्क् पोषणे च ।
११४१ णिजूंकी शौचे च ।
११४२ विजूंकी पृथग्भावे ।
११४३ विष्लृंकी व्याप्तौ ।

॥ इति उभयतोभाषाः ॥

वृत्ह्वादयः

इति अदादयः कितो धातवः ॥

११४४ दिवूच् क्रीडा-जयेच्छा-पणि-द्युति-स्तुति-गतिषु ।
११४५ जॄष् ११४६ झॄच् जरसि ।
११४७ शोंच् तक्षणे ।
११४८ दों ११४९ छोंच् छेदने ।
११५० षोंच् अन्तकर्मणि ।
११५१ व्रीडच् लज्जायाम् ।
११५२ नृतंच् नर्तने ।
११५३ कुथच् पूतिभावे ।
११५४ पुथच् हिंसायाम् ।
११५५ गुधच् परिवेष्टने ।
११५६ राधंच् वृद्धौ ।
११५७ व्यधंच् ताडने ।
११५८ क्षिपंच् प्रेरणे ।
११५९ पुष्पच् विकसने ।
११६० तिम ११६१ तीम
११६२ ष्टिम ११६३ ष्टीमच् आर्द्रभावे ।
११६४ षिवूच् उतौ ।
११६५ श्रिवूच् गति-शोषणयोः ।
११६६ ष्ठिवू ११६७ शिवूच् निरसने ।
११६८ इषच् गतौ ।
११६९ ष्णसूच् निरसने ।
११७० क्नसूच् ह्वृति-दीप्त्योः ।

११७१ त्रसैच् भये ।
११७२ प्युसच् दाहे ।
११७३ षह ११७४ षुहच् शक्तौ ।

११७५ पुषंच् पुष्टौ ।
११७६ उचच् समवाये ।
११७७ लुटच् विलोटने ।
११७८ ष्विदांच् गात्रप्रक्षरणे ।
११७९ क्लिदौच् आर्द्रभावे ।
११८० ञिमिदाच् स्नेहने ।
११८१ ञिक्ष्विदाच् मोचने च ।
११८२ क्षुधंच् बुभुक्षायाम् ।
११८३ शुधंच् शौचे ।
११८४ क्रुधंच् कोपे ।
११८५ षिधूंच् संराद्धौ ।
११८६ ऋधूच् वृद्धौ ।
११८७ गृधूच् अभिकाङ्क्षायाम् ।
११८८ रधौच् हिंसा-संराद्ध्योः ।
११८९ तृपौच् प्रीतौ ।
११९० दृपौच् हर्ष-मोहनयोः ।
११९१ कुपच् क्रोधे ।
११९२ गुपच् व्याकुलत्वे ।
११९३ युप ११९४ रुप
११९५ लुपच् विमोहने ।
११९६ डिपच् क्षेपे ।
११९७ ष्टूपच् समुच्छ्राये ।
११९८ लुभच् गार्ध्ये ।
११९९ क्षुभच् संचलने ।
१२०० णभ १२०१ तुभच् हिंसायाम् ।
१२०२ नशौच् अदर्शने ।
१२०३ कुशच् श्लेषणे ।
१२०४ भृशू १२०५ भ्रंशूच् अधः पतने ।
१२०६ वृशच् वरणे ।
१२०७ कृशच् तनुत्वे ।
१२०८ शुषंच् शोषणे ।
१२०९ दुषंच् वैकृत्ये ।
१२१० श्लिषंच् आलिङ्गने ।
१२११ प्लुषूच् दाहे ।
१२१२ ञितृषच् पिपासायाम् ।
१२१३ तुष १२१४ हृषच् तुष्टौ ।
१२१५ रुषच् रोषे ।
१२१६ प्युष् १२१७ प्युस्
१२१८ पुसच् विभागे ।
१२१९ विसच् प्रेरणे ।
१२२० कुसच् श्लेषे ।
१२२१ असूच् क्षेपणे ।
१२२२ यसूच् प्रयत्ने ।
१२२३ जसूच् मोक्षणे ।
१२२४ तसू १२२५ दसूच् उपक्षये ।
१२२६ वसूच् स्तम्भे ।
१२२७ वुसच् उत्सर्गे ।
१२२८ मुसच् खण्डने ।
१२२९ मसैच् परिणामे ।
१२३० शमू १२३१ दमूच् उपशमे ।
१२३२ तमूच् काङ्क्षायाम् ।
१२३३ श्रमूच् खेद-तपसोः ।
१२३४ भ्रमूच् अनवस्थाने ।
१२३५ क्षमौच् सहने ।
१२३६ मदैच् हर्षे ।
१२३७ क्लमूच् ग्लानौ ।
१२३८ मुहौच् वैचित्त्ये ।
१२३९ द्रुहोच् जिघांसायाम् ।
१२४० ष्णुहौच् उद्गिरणे ।
१२४१ ष्णिहौ च प्रीतौ ।

।। वृत् पुषादिः ।।

।। इति परस्मैभाषाः ।।

१२४२ षूङौच् प्राणिप्रसवे ।
१२४३ दूङ्च् परितापे ।
१२४४ दींङ्च् क्षये ।
१२४५ धींङ्च् अनादरे ।
१२४६ मींङ्च् हिंसायाम् ।
१२४७ रींङ्च् स्रवणे ।
१२४८ लींङ्च् श्लेषणे ।
१२४९ डीङ्च् गतौ ।
१२५० व्रींङ्च् वरणे ।

।। वृत् स्वादिः ।।

१२५१ पींङ्च् पाने ।
१२५२ ईङ्च् गतौ ।
१२५३ प्रींङ्च् प्रीतौ ।
१२५४ युजिच् समाधौ ।
१२५५ सृजिच् विसर्गे ।
१२५६ वृतूचि वरणे ।
१२५७ पदिच् गतौ ।
१२५८ विदिच् सत्तायाम् ।
१२५९ खिदिच् दैन्ये ।
१२६० युधिच् सम्प्रहारे ।
१२६१ अनो रुधिच् कामे ।
१२६२ बुधि १२६३ मनिच् ज्ञाने
१२६४ अनिच् प्राणने ।
१२६५ जनैचि प्रादुर्भावे ।
१२६६ दीपैचि दीप्तौ ।
१२६७ तपि च ऐश्वर्ये वा ।
१२६८ पूरैचि आप्यायने ।
१२६९ घूरैङ् १२७० जूरैचि जरायाम् ।
१२७१ धूरैङ् १२७२ गूरैचि गतौ
१२७३ शूरैचि स्तम्भे ।
१२७४ तूरैचि त्वरायाम् ।
घूरादयो हिंसायां च ।
१२७५ चूरैचि दाहे ।
१२७६ क्लिशिच् उपतापे ।
१२७७ लिशिच् अल्पत्वे ।

१२७८ काशिच् दीप्तौ ।
१२७९ वाशिच् शब्दे ।

॥ इति आत्मनेभाषाः ॥

१२८० शकींच् मर्षणे ।
१२८१ शुचृगैंच् पूतिभावे ।
१२८२ रञ्जींच् रागे ।
१२८३ शपींच् आक्रोशे ।
१२८४ मृषीच् तितिक्षायाम् ।
१२८५ णहींच् बन्धने ।

॥ उभयतोभाषाः ॥

॥ इति दिवादयश्चितो धातवः ॥

१२८६ षुंग्ट् अभिषवे ।
१२८७ षिग्ट् बन्धने ।
१२८८ शिग्ट् निशाने ।
१२८९ डुमिग्ट् प्रक्षेपणे ।
१२९० चिग्ट् चयने ।
१२९१ धूग्ट् कम्पने ।
१२९२ स्तृंग्ट् आच्छादने ।
१२९३ कृंग्ट् हिंसायाम् ।
१२९४ वृग्ट् वरणे ।

॥ इति उभयतोभाषाः ॥

१२९५ हिंट् गति-वृद्धयोः ।
१२९६ श्रुंट् श्रवणे ।
१२९७ टुदुंट् उपतापे ।
१२९८ पृंट् प्रीतौ ।
१२९९ स्मृंट् पालने च ।
१३०० शकलृंट् शक्तौ ।
१३०१ तिक १३०२ तिग
१३०३ षघट् हिंसायाम् ।
१३०४ राध १३०५ साधट् संसिद्धौ ।
१३०६ ऋधूट् वृद्धौ ।
१३०७ आप्लृंट् व्याप्तौ ।
१३०८ तृपट् प्राणने ।
१३०९ दम्भूट् दम्भे ।
१३१० कृवुट् हिंसा-करणयोः ।
१३११ धिवुट् गतौ ।
१३१२ ञिधृषाट् प्रागल्भ्ये ।

॥ इति परस्मैभाषाः ॥

१३१३ ष्टिघिट् आस्कन्दने ।
१३१४ अशौटि व्याप्तौ ।

॥ इति आत्मनेभाषाः ॥

॥ इति स्वादयष्टितो धातवः ॥

१३१५ तुदींत् व्यथने ।
१३१६ भ्रस्जींत् पाके ।
१३१७ क्षिपींत् प्रेरणे ।
१३१८ दिशींत् अतिसर्जने ।
१३१९ कृषींत् विलेखने ।

१३२० मुच्लृंती मोक्षणे ।
१३२१ षिचींत् क्षरणे ।
१३२२ विद्लृंती लाभे ।
१३२३ लुप्लृंती छेदने ।
१३२४ लिपींत् उपदेहे ।

॥ इति उभयतोभाषाः ॥

१३२५ कृतैत् छेदने ।
१३२६ खिदंत् परिघाते ।
१३२७ पिशत् अवयवे ।

॥ वृत् मुचादिः ॥

१३२८ रिं १३२९ पिंत् गतौ ।
१३३० धिंत् धारणे ।
१३३१ क्षिंत् निवास-गत्योः ।
१३३२ षूत् प्रेरणे ।
१३३३ मृंत् प्राणत्यागे ।
१३३४ कृत् विक्षेपे ।
१३३५ गृत् निगरणे ।
१३३६ लिखत् अक्षरविन्यासे ।
१३३७ जर्च १३३८ झर्चत् परिभाषणे ।
१३३९ त्वचत् संवरणे ।
१३४० रुचत् स्तुतौ ।
१३४१ ओव्रस्चौत् छेदने ।
१३४२ ऋछत् इन्द्रियप्रलय-मूर्त्ति-भावयोः ।
१३४३ विछत् गतौ ।
१३४४ उछैत् विवासे ।
१३४५ मिछत् उत्क्लेशे ।
१३४६ उछुत् उञ्छे ।
१३४७ प्रछंत् ज्ञीप्सायाम् ।
१३४८ उब्जत् आर्जवे ।
१३४९ सृजत् विसर्गे ।
१३५० रुजोंत् भङ्गे ।
१३५१ भुजोंत् कौटिल्ये ।
१३५२ टुमस्जोंत् शुद्धौ ।
१३५३ जर्ज १३५४ झर्झत् परिभाषणे ।
१३५५ उद्झत् उत्सर्गे ।
१३५६ जुडत् गतौ ।
१३५७ पृड १३५८ भृडत् सुखने ।
१३५९ कृडत् मदे ।
१३६० पृणत् प्रीणने ।
१३६१ तुणत् कौटिल्ये ।
१३६२ मृणत् हिंसायाम् ।
१३६३ द्रुणत् गति कौटिल्ययोश्च ।
१३६४ पुणत् शुभे ।
१३६५ मुणत् प्रतिज्ञाने ।
१३६६ कुणत् शब्दोपकरणयोः ।
१३६७ घुण १३६८ घूणत् भ्रमणे
१३६९ चृतैत् हिंसा-ग्रन्थयोः ।
१३७० णुदंत् प्रेरणे ।
१३७१ षद्लृंत् अवसादने ।
१३७२ विधत् विधाने ।
१३७३ जुन १३७४ शुनत् गतौ ।
१३७५ छुपत् स्पर्शे ।

१३७६ रिफत् कथन-युद्ध-हिंसादानेषु ।
१३७७ तृफ १३७८ तृम्फत् तृप्तौ
१३७९ ऋफ १३८० ऋम्फत् हिंसायाम् ।
१३८१ दृफ १३८२ दृम्फत् उत्क्लेशे ।
१३८३ गुफ १३८४ गुम्फत् ग्रन्थने ।
१३८५ उभ १३८६ उम्भत् पूरणे ।
१३८७ शुभ १३८८ शुम्भत् शोभार्थे ।
१३८९ दृभैत् ग्रन्थे ।
१३९० लुभत् विमोहने ।
१३९१ कुरत् शब्दे ।
१३९२ क्षुरत् विखनने ।
१३९३ खुरत् छेदने च ।
१३९४ घुरत् भीमार्थशब्दयोः ।
१३९५ पुरत् अग्रगमने ।
१३९६ मुरत् संवेष्टने ।
१३९७ सुरत् ऐश्वर्य-दीप्त्योः ।
१३९८ स्फर १३९९ स्फलत् स्फुरणे ।
१४०० किलत् श्वैत्य-क्रीडनयोः ।
१४०१ इलत् गति-स्वप्न-क्षेपणेषु
१४०२ हिलत् हावकरणे ।
१४०३ शिल १४०४ सिलत् उञ्छे
१४०५ तिलत् स्नेहने ।
१४०६ चलत् विलसने ।
१४०७ चिलत् वसने ।
१४०८ विलत् वरणे ।
१४०९ बिलत् भेदने ।
१४१० णिलत् गहने ।
१४११ मिलत् श्लेषणे ।
१४१२ स्पृशंत् संस्पर्शे ।
१४१३ रुशं १४१४ रिशंत् हिंसायाम् ।
१४१५ विशंत् प्रवेशने ।
१४१६ मृशंत् आमर्शने ।
१४१७ लिश १४१८ ऋषैत् गतौ ।
१४१९ इषत् इच्छायाम् ।
१४२० मिषत् स्पर्द्धायाम् ।
१४२१ वृहौत् उद्यमे ।
१४२२ तृहौ १४२३ तृंहौ
१४२४ स्तृहौ १४२५ स्तृंहौत् हिंसायाम् ।

१४२६ कुटत् कौटिल्ये ।
१४२७ गुंत् पुरीषोत्सर्गे ।
१४२८ ध्रुंत् गति-स्थैर्ययोः ।
१४२९ णूत् स्तवने ।
१४३० धूत् विधूनने ।
१४३१ कुचत् संकोचने ।
१४३२ व्यचत् व्याजीकरणे ।
१४३३ गुजत् शब्दे ।
१४३४ घुटत् प्रतीघाते ।
१४३५ चुट १४३६ छुट
१४३७ त्रुटत् छेदने ।
१४३८ तुटत् कलहकर्मणि ।
१४३९ मुटत् आक्षेप-प्रमर्दनयोः ।
१४४० स्फुटत् विकसने ।
१४४१ पुट १४४२ लुठत् संश्लेषणे । [डान्तोऽयनित्यन्ये ।]
१४४३ कृडत् घसने ।
१४४४ कुडत् बाल्ये च ।
१४४५ गुडत् रक्षायाम् ।
१४४६ जुडत् बन्धने ।
१४४७ तुडत् तोडने ।
१४४८ लुड १४४९ थुड
१४५० स्थुडत् संवरणे ।
१४५१ वुडत् उत्सर्गे च ।
१४५२ व्रुड १४५३ भ्रुडत् संघाते
१४५४ दुड १४५५ हुड
१४५६ त्रुडत् निमज्जने ।
१४५७ चुणत् छेदने ।
१४५८ डिपत् क्षेपे ।
१४५९ छुरत् छेदने ।
१४६० स्फुरत् स्फुरणे ।
१४६१ स्फुलत् संचये च ।

॥ इति परस्मैभाषाः ॥

१४६२ कुंङ् १४६३ कूङ्त् शब्दे ।
१४६४ गुरैति उद्यमे ।

॥ वृत् कुटादिः ॥

१४६५ पृंङ्त् व्यायामे ।
१४६६ दृंङ्त् आदरे ।
१४६७ धृंङ्त् स्थाने ।
१४६८ ओविजैति भय-चलनयोः ।
१४६९ ओलजैङ्
१४७० ओलस्जैति व्रीडे ।
१४७१ ष्वञ्जित् सङ्गे ।
१४७२ जुषैति प्रीति-सेवनयोः ।

॥ इति आत्मनेभाषाः ॥

॥ इति तुदादयस्तितो धातवः ॥

१४७३ रुधृंपी आवरणे ।
१४७४ रिचृंपी विरेचने ।
१४७५ विचृंपी पृथग्भावे ।
१४७६ युजृंपी योगे ।
१४७७ भिदृंपी विदारणे ।
१४७८ छिदृंपी द्वैधीकरणे ।
१४७९ क्षुदृंपी संपेषे ।
१४८० ऊछृदृंपी दीप्ति-देवनयोः
१४८१ ऊतृदृंपी हिंसा-ऽनादरयोः

॥ इति उभयतोभाषाः ॥

१४८२ पृचैप् संपर्के ।
१४८३ वृचैप् वरणे ।

१४८४ तञ्चू १४८५ तञ्जौप् संकोचने ।
१४८६ भञ्जोंप् आमर्दने ।
१४८७ भुजप् पालना-ऽभ्यवहारयोः ।
१४८८ अञ्जौप् व्यक्ति-म्रक्षण-गतिषु ।
१४८९ ओविजैप् भय-चलनयोः ।
१४९० कृतैप् वेष्टने ।
१४९१ उन्दैप् क्लेदने ।
१४९२ शिष्लृंप् विशेषणे ।
१४९३ पिष्लृंप् संचूर्णने ।
१४९४ हिसु १४९५ तृहप् हिंसायाम् ।

॥ **इति परस्मैभाषाः** ॥

१४९६ खिदिंप् दैन्ये ।
१४९७ विदिंप् विचारणे ।
१४९८ ञिइन्धैंपि दीप्तौ ।

॥ **इति आत्मनेभाषाः** ॥

॥ **इति रुधादयः पितो धातवः** ॥

१४९९ तनूयी विस्तारे ।
१५०० षणूयी दाने ।
१५०१ क्षणूग् १५०२ क्षिणूयी हिंसायाम् ।
१५०३ ऋणूयी गतौ ।
१५०४ तृणूयी अदने ।
१५०५ घृणूयी दीप्तौ ।

॥ **इति उभयतोभाषाः** ॥

१५०६ वनूयि याचने ।
१५०७ मनूयि बोधने ।

॥ **इति आत्मनेभाषाः** ॥

॥ **इति तनादयो यितो धातवः** ॥

१५०८ डुक्रींग्श् द्रव्यविनिमये ।
१५०९ षिग्श् बन्धने ।
१५१० प्रींग्श् तृप्ति-कान्त्योः ।
१५११ श्रींग्श् पाके ।
१५१२ मींग्श् हिंसायाम् ।
१५१३ युंग्श् बन्धने ।
१५१४ स्कुंग्श् आप्रवणे ।
१५१५ क्नूग्श् शब्दे ।
१५१६ द्रूग्श हिंसायाम् ।
१५१७ ग्रहीश् उपादाने ।
१५१८ पूग्श् पवने ।
१५१९ लूग्श् छेदने ।
१५२० धूग्श् कम्पने ।
१५२१ स्तॄग्श् आच्छादने ।
१५२२ कॄग्श् हिंसायाम् ।
१५२३ वॄग्श् वरणे ।

॥ **इति उभयतोभाषाः** ॥

१५२४ ज्यांश् हानौ ॥
१५२५ रींश् गति-रेषणयोः ।
१५२६ लींश् श्लेषणे ।
१५२७ ब्लींश् वरणे ।
१५२८ ल्वींश् गतौ ।
१५२९ कॄ १५३० मॄ
१५३१ शॄश् हिंसायाम् ।
१५३२ पॄश् पालन-पूरणयोः ।
१५३३ बॄश् भरणे ।
१५३४ भॄश् भर्जने च ।
१५३५ दॄश् विदारणे ।
१५३६ जॄश् वयोहानौ ।
१५३७ नॄश् नये ।
१५३८ गॄश् शब्दे ।
१५३९ ॠश् गतौ ।

॥ **वृत् प्वादिः** ॥

॥ **वृत् ल्वादिः** ॥

१५४० ज्ञांश् अवबोधने ।
१५४१ क्षिष्श् हिंसायाम् ।
१५४२ व्रींश् वरणे ।
१५४३ भ्रींश् भरणे ।
१५४४ हेठश् भूतप्रादुर्भावे ।
१५४५ मृडश् सुखने ।
१५४६ श्रन्थश् मोचन-प्रतिहर्षयोः ।
१५४७ मन्थश् विलोडने ।
१५४८ ग्रन्थश् संदर्भे ।
१५४९ कुन्थश् संक्लेशे ।
१५५० मृदश् क्षोदे ।
१५५१ गुधश् रोषे ।
१५५२ बन्धंश् बन्धने ।
१५५३ क्षुभश् संचलने ।
१५५४ णभ् १५५५ तुभश् हिंसायाम् ।
१५५६ खवश् हेठश्वत् ।
१५५७ क्लिशौश् विबाधने ।
१५५८ अशश् भोजने ।
१५५९ इषश् आभीक्ष्ण्ये ।
१५६० विषश् विप्रयोगे ।
१५६१ प्रुष् १५६२ प्लुषश् स्नेह सेचन-पूरणेषु ।
१५६३ मुषश् स्तेये ।
१५६४ पुषश् पुष्टौ ।
१५६५ कुषश् निष्कर्षे ।
१५६६ ध्रसूश् उञ्छे ।

॥ **इति परस्मैभाषाः** ॥

१५६७ वृङश् सम्भक्तौ ।

॥ **इति आत्मनेभाषाः** ॥

॥ **इति क्र्यादयः शितो धातवः** ॥

१५६८ चुरण् स्तेये ।
१५६९ पृण् पूरणे ।
१५७० वृण् स्रवणे ।
१५७१ श्वल्क १५७२ वल्कण् भाषणे ।
१५७३ नक्क १५७४ धक्कण् नाशने ।

१५७५ चक्क १५७६ चुक्कण् व्यथने ।
१५७७ टकुण् बन्धने ।
१५७८ अर्कण् स्तवने ।
१५७९ पिच्चण् कुट्टने ।
१५८० पचुण् विस्तारे ।
१५८१ म्लेच्छण् म्लेच्छने ।
१५८२ ऊर्जण् बल-प्राणनयोः ।
१५८३ तुजु १५८४ पिजुण् हिंसा-बल-दान-निकेतनेषु ।
१५८५ क्षजुण् कृच्छ्रजीवने ।
१५८६ पूजण् पूजायाम् ।
१५८७ गज १५८८ मार्जण् शब्दे
१५८९ तिजण् निशाने ।
१५९० वज १५९१ व्रजण् मार्गणसंस्कारगत्योः ।
१५९२ रुजण् हिंसायाम् ।
१५९३ नटण् अवस्यन्दने ।
१५९४ तुट १५९५ चुट
१५९६ चुटु १५९७ छुटण् छेदने ।
१५९८ कुट्टण् कुत्सने च ।
१५९९ पुट्ट १६०० चुट्ट
१६०१ षुट्टण् अल्पीभावे ।
१६०२ पुट १६०३ मुटण् संचूर्णने ।
१६०४ अट्ट १६०५ स्मिटण् अनादरे ।
१६०६ लुण्टण् स्तेये च ।
१६०७ स्निटण् स्नेहने ।
१६०८ घट्टण् चलने ।
१६०९ खट्टण् सवरणे ।
१६१० षट्ट १६११ स्फिट्टण् हिंसायाम् ।
१६१२ स्फुटण् परिहासे ।
१६१३ कीटण् वर्णने ।
१६१४ वटुण् विभाजने ।
१६१५ रुटण् रोषे ।
१६१६ शठ १६१७ श्वठ
१६१८ श्वठुण् संस्कार-गत्योः ।
१६१९ शुठण् आलस्ये ।
१६२० शुठुण् शोषणे ।
१६२१ गुटुण् वेष्टने ।
१६२२ लडण् उपसेवायाम् ।
१६२३ स्फुडुण् परिहासे ।
१६२४ ओलडुण् उत्क्षेपे ।
१६२५ पीडण् गहने ।
१६२६ तडण् आघाते ।
१६२७ खड १६२८ खडुण् भेदे ।
१६२९ कडुण खण्डने च ।
१६३० कुडुण् रक्षणे ।
१६३१ गुडुण् वेष्टने च ।
१६३२ चुडुण् छेदने ।
१६३३ मडुण् मूषायाम् ।
१६३४ मडुण् कल्याणे ।
१६३५ पिडुण् संघाते ।
१६३६ ईडण स्तुतौ ।
१६३७ चडुण् कोपे ।
१६३८ जुड १६३९ चूर्ण
१६४० वर्णण् प्रेरणे ।
१६४१ चूण् १६४२ तूणण् संकोचने ।
१६४३ श्रणण् दाने ।
१६४४ पूणण् संघाते ।
१६४५ चितुण् स्मृत्याम् ।
१६४६ पुस्त १६४७ बुस्तण आदरा-ऽनादरयोः ।
१६४८ मुस्तण् संघाते ।
१६४९ कृतण् संशब्दने ।
१६५० स्वर्त १६५१ पथुण् गतौ ।
१६५२ श्रथण् प्रतिहर्षे ।
१६५३ पृथण् प्रक्षेपणे ।
१६५४ प्रथण् प्रख्याने ।
१६५५ छदण् संवरणे ।
१६५६ चुदण् संचोदने ।
१६५७ मिदुण् स्नेहने ।
१६५८ गुर्दण् निकेतने ।
१६५९ छर्दण् वमने ।
१६६० बुधुण् हिंसायाम् ।
१६६१ वधण् छेदन-पूरणयोः ।
१६६२ गर्धण् अभिकाङ्क्षायाम् ।
१६६३ बन्ध १६६४ बधण् संयमने ।
१६६५ छपुण् गतौ ।
१६६६ क्षपुण् क्षान्तौ ।
१६६७ ष्टूपण् समुच्छ्राये ।
१६६८ डिपण् क्षेपे ।
१६६९ ह्वपण् व्यक्तायां वाचि ।
१६७० डपु १६७१ डिपुण् संघाते ।
१६७२ शूर्पण् माने ।
१६७३ शुल्बण् सर्जने च ।
१६७४ डबु १६७५ डिबुण् क्षेपे ।
१६७६ सम्बण् सम्बन्धे ।
१६७७ कुबुण् आच्छादने ।
१६७८ लुबु १६७९ तुबुण् अर्दने ।
१६८० पुर्बण् निकेतने ।
१६८१ यमण् परिवेषणे ।
१६८२ व्ययण् क्षये ।
१६८३ यत्रुण् संकोचने ।
१६८४ कुद्रुण् अनृतभाषणे ।
१६८५ श्वभ्रण् गतौ ।
१६८६ तिलण् स्नेहने ।
१६८७ जलण् अपवारणे ।
१६८८ क्षलण् शौचे ।
१६८९ पुलण् समुच्छ्राये ।
१६९० बिलण् भेदे ।
१६९१ तलण् प्रतिष्ठायाम् ।

१६९२ तुलण् उन्माने ।
१६९३ दुलण् उत्क्षेपे ।
१६९४ बुलण् निमज्जने ।
१६९५ मूलण् रोहणे ।
१६९६ कल १६९७ किल
१६९८ पिलण् क्षेपे ।
१६९९ पलण् रक्षणे ।
१७०० इलण् प्रेरणे ।
१७०१ चलण् भृतौ ।
१७०२ सान्त्वण् सामप्रयोगे ।
१७०३ धूशण् कान्तीकरणे ।
१७०४ श्लिषण् श्लेषणे ।
१७०५ लूषण् हिंसायाम् ।
१७०६ रुषण् रोषे ।
१७०७ प्युषण् उत्सर्गे ।
१७०८ पसुण् नाशने ।
१७०९ जसुण् रक्षणे ।
१७१० पुंसण् अभिमर्दने ।
१७११ ब्रूस १७१२ पिस
१७१३ जस १७१४ बर्हण् हिंसायाम् ।
१७१५ ष्लिहण् स्नेहने ।
१७१६ म्रक्षण् म्लेच्छने ।
१७१७ भक्षण् अदने ।
१७१८ पक्षण् परिग्रहे ।
१७१९ लक्षीण् दर्शनाङ्कनयोः ।

इतोऽर्थविशेषे आलक्षिणः ।

१७२० ज्ञाण् मारणादिनियोजनेषु
१७२१ च्युण् सहने ।
१७२२ भूण अवकल्कने ।
१७२३ बुक्कण भषणे ।
१७२४ रक १७२५ लक
१७२६ रग १७२७ लगण् आस्वादने ।
१७२८ लिगुण् चित्रीकरणे ।
१७२९ चर्चण् अध्ययने ।
१७३० अञ्चण् विशेषणे ।
१७३१ मुचण् प्रमोचने ।
१७३२ अर्जण् प्रतियत्ने ।
१७३३ भजण् विश्राणने ।
१७३४ चट १७३५ स्फुटण् भेदे ।
१७३६ घटण् संघाते (हन्त्यर्थाश्च)
१७३७ कणण् निमीलने ।
१७३८ यतण् निकारोपस्कारयोः (निरश्च प्रतिदाने ।)
१७३९ शब्दण् उपसर्गाद् भाषा-विष्कारयोः ।
१७४० षूदण् आस्रवणे ।
१७४१ आङः क्रन्दण् सातत्ये ।
१७४२ ष्वदण् आस्वादने । [आस्वदः सकर्मकात्]
१७४३ मुदण संसर्गे ।
१७४४ शृधण् प्रसहने ।
१७४५ कृपण् अवकल्पने ।
१७४६ जमुण् नाशने ।
१७४७ अमण् रोगे ।
१७४८ चरण् असंशये ।
१७४९ पूरण् आप्यायने ।
१७५० दलण् विदारणे ।
१७५१ दिवण् अर्दने ।
१७५२ पश १७५३ पषण् बन्धने ।
१७५४ पुषण् धारणे ।
१७५५ घुषूण् विशब्दने । (आङः क्रन्दे ।)
१७५६ भूष १७५७ तसुण् अलंकारे ।
१७५८ जसण् ताडने ।
१७५९ त्रसण् वारणे ।
१७६० वसण् स्नेह-छेदा-ऽवहरणेषु
१७६१ ध्रसण् उत्क्षेपे ।
१७६२ ग्रसण् ग्रहणे ।
१७६३ लसण् शिल्पयोगे ।
१७६४ अर्हण् पूजायाम् ।
१७६५ मोक्षण् असने ।
१७६६ लोकृ १७६७ तर्क
१७६८ रघु १७६९ लघु
१७७० लोचृ १७७१ विछ
१७७२ अजु १७७३ तुजु
१७७४ पिजु १७७५ लजु
१७७६ लुजु १७७७ भजु
१७७८ पट १७७९ पुट
१७८० लुट १७८१ घट
१७८२ घट्ट १७८३ वृत
१७८४ पुथ १७८५ नद
१७८६ वृध १७८७ गुप
१७८८ धूप १७८९ कुप
१७९० चीव १७९१ दशु
१७९२ कुशु १७९३ त्रसु
१७९४ पिसु १७९५ कुसु
१७९६ दसु १७९७ वर्ह
१७९८ बृहु १७९९ वल्ह
१८०० अहु १८०१ बहु
१८०२ महुण् भासार्थाः ।

।। इति परस्मैभाषाः ।।

१८०३ युणि जुगुप्सायाम् ।
१८०४ गृणि विज्ञाने ।
१८०५ वञ्चिण् प्रलम्भने ।
१८०६ कुटिण् प्रतापने ।
१८०७ मदिण् तृप्तियोगे ।
१८०८ विदिण् चेतना-ऽऽख्यान-निवासेषु ।
१८०९ मनिण् स्तम्भे ।
१८१० बलि १८११ भलिण् आभण्डने ।

१८१२ दिविण् परिकूजने ।
१८१३ वृषिण् शक्तिबन्धे ।
१८१४ कुत्सिण् अवक्षेपे ।
१८१५ लक्षिण् आलोचने ।
१८१६ हिष्कि १८१७ किष्किण् हिंसायाम् ।
१८१८ निष्किण् परिमाणे ।
१८१९ तर्जिण् संतर्जने ।
१८२० कूटिण् अप्रमादे ।
१८२१ त्रुटिण् छेदने ।
१८२२ शठिण् श्लाघायाम् ।
१८२३ कूणिण् संकोचने ।
१८२४ तूणिण् पूरणे ।
१८२५ भ्रूणिण् आशायाम् ।
१८२६ चितिण् संवेदने ।
१८२७ वस्ति १८२८ गन्धिण् अर्दने ।
१८२९ डपि १८३० डिपि
१८३१ डम्पि १८३२ डिम्पि
१८३३ डम्भि १८३४ डिम्भिण् संघाते ।
१८३५ स्यमिण् वितर्के ।
१८३६ शमिण् आलोचने ।
१८३७ कुस्मिण् कुस्मयने ।
१८३८ गूरिण् उद्यमे ।
१८३९ तन्त्रिण् कुटुम्बधारणे ।
१८४० मन्त्रिण् गुप्तभाषणे ।
१८४१ ललिण् ईप्सायाम् ।
१८४२ स्पशिण् ग्रहण-श्लेषणयोः
१८४३ दंशिण् दशने ।
१८४४ दंसिण् दर्शने च ।
१८४५ भर्त्सिण् संतर्जने ।
१८४६ यक्षिण् पूजायाम् ।

।। इति आत्मनेभाषाः ।।

१८४७ अङ्कण् लक्षणे ।
१८४८ श्लेष्कण् दर्शने ।
१८४९ सुख १८५० दुःखण् तत्क्रियायाम् ।
१८५१ अङ्गण् पद-लक्षणयोः ।
१८५२ अघण् पापकरणे ।
१८५३ रचण् प्रतियत्ने ।
१८५४ सूचण् पैशून्ये ।
१८५५ भाजण् पृथक्कर्मणि ।
१८५६ समाजण् प्रीति-सेवनयोः
१८५७ लज १८५८ लजुण् प्रकाशने ।
१८५९ कूटण् दाहे ।
१८६० पट १८६१ वटण् ग्रन्थे ।
१८६२ खेटण् भक्षणे ।
१८६३ खोटण् क्षेपे ।
१८६४ पुटण् संसर्गे ।
१८६५ वटुण् विभाजने ।
१८६६ शठ १८६७ श्वठण् सम्यग्भाषणे ।
१८६८ दण्डण् दण्डनिपातने ।
१८६९ व्रणण् गात्रविचूर्णने ।
१८७० वर्णण् वर्णक्रिया-विस्तार-गुणवचनेषु ।
१८७१ पर्णण् हरितभावे ।
१८७२ कर्णण् भेदे ।
१८७३ तूणण् संकोचने ।
१८७४ गणण् सङ्ख्याने ।
१८७५ कुण १८७६ गुण
१८७७ केतण् आमन्त्रणे ।
१८७८ पतण् गतौ वा ।
१८७९ वातण् गति सुखसेवनयोः
१८८० कथण् वाक्यप्रबन्धे ।
१८८१ श्रथण् दौर्बल्ये ।
१८८२ छेदण् द्वैधीकरणे ।
१८८३ गदण् गर्जे ।
१८८४ अन्धण् दृष्टयुपसंहारे ।
१८८५ स्तनण् गर्जे ।
१८८६ ध्वनण् शब्दे ।
१८८७ स्तेनण् चौर्ये ।
१८८८ ऊनण् परिहाणे ।
१८८९ कृपण् दौर्बल्ये ।
१८९० रूपण् रूपक्रियायाम् ।
१८९१ क्षप १८९२ लाभण् प्रेरणे
१८९३ भामण् क्रोधे ।
१८९४ गोमण् उपलेपने ।
१८९५ सामण् सान्त्वने ।
१८९६ श्रामण् आमन्त्रणे ।
१८९७ स्तोमण् श्लाघायाम् ।
१८९८ व्ययण् वित्तसमुत्सर्गे ।
१८९९ सूत्रण् विमोचने ।
१९०० मूत्रण् प्रस्रवणे ।
१९०१ पार १९०२ तीरण् कर्मसमाप्तौ ।
१९०३ कत्र १९०४ गात्रण शैथिल्ये ।
१९०५ चित्रण् चित्रक्रिया-कदाचिद्दृष्ट्योः ।
१९०६ छिद्रण् भेदे ।
१९०७ मिश्रण् संपर्चने ।
१९०८ वरण् ईप्सायाम् ।
१९०९ स्वरण् आक्षेपे ।
१९१० शारण् दौर्बल्ये ।
१९११ कुमारण् क्रीडायाम् ।
१९१२ कलण् सख्यान-गत्योः ।
१९१३ शीलण् उपधारणे ।
१९१४ वेल १९१५ कालण् उपदेशे ।
१९१६ पल्यूलण्-लवन-पवनयोः ।
१९१७ अंशण् समाघाते ।
१९१८ पषण् अनुपसर्गः ।
[पषो बाधन-स्पर्शनयोः, पषण् बन्धने]

१६१९ गवेषण् मार्गणे ।
१६२० मृषण् क्षान्तौ ।
१९२१ रसण् आस्वादन-स्नेहनयोः
१६२२ वासण् उपसेवायाम् ।
१९२३ निवासण् आच्छादने ।
१९२४ चहण् कल्कने ।
१६२५ महण् पूजायाम् ।
१६२६ रहण् त्यागे ।
१९२७ रहुण् गतौ ।
१६२८ स्पृहण् ईप्सायाम् ।
१९२९ रुक्षण् पारुष्ये ।

।। इति परस्मैभाषाः ।।

१९३० मृगणि अन्वेषणे ।
१९३१ अर्थणि उपचायने ।
१६३२ पदणि गतौ ।
१६३३ संग्रामणि युद्धे ।
१६३४ शूर १६३५ वीरणि विक्रान्तौ ।
१९३६ सत्रणि सन्दानक्रियायाम् ।
१९३७ स्थूलणि परिवृंहणे ।
१६३८ गर्वणि माने ।
१९३९ गृहणि ग्रहणे ।
१६४० कुहणि विस्मापने ।

।। इति आत्मनेभाषाः ।।

१६४१ युजण् संपर्चने ।
१६४२ लीण् द्रवीकरणे ।
१९४३ मीण् मतौ ।
१९४४ प्रीग्ण् तर्पणे ।
१६४५ धूग्ण् कम्पने ।
१९४६ वृग्ण् आवरणे ।
१६४७ जॄण् वयोहानौ ।
१६४८ चीक १६४९ शीकण् आमर्षणे ।
१६५२ रिचण् वियोजने च ।
१९५० मार्गण् अन्वेषणे ।
१६५१ पृचण् संपर्चने ।
१९५३ वचण् भाषणे ।
१९५४ अर्चिण् पूजायाम् ।
१६५५ वृजैण् वर्जने ।
१६५६ मृजौण् शौचा-ऽलङ्कारयोः
१९५७ कठुण् शोके ।
१९५८ श्रन्थ १६५९ ग्रन्थण् सन्दर्भे ।
१९६० क्रथ १९६१ अदिण् हिंसायाम् ।
१९६२ श्रथण् बन्धने च ।
१९६३ वदिण् भाषणे ।
(संदेशने इत्यन्ये ।)
१९६४ छदण् अपवारणे ।

१९६५ आङः सदण् गतौ ।
१९६६ छृदण् संदीपने ।
१९६७ शुन्धिण् शुद्धौ ।
१९६८ तनूण् श्रद्धाघाते ।
(उपसर्गाद् दैर्घ्ये ।)
१६६९ मानण् पूजायाम् ।
१६७० तपिण् दाहे ।
१९७१ तृपण् पृणने ।
१९७२ आप्लृण् लम्भने ।
१६७३ त्भैण् भये ।
१६७४ ईरण् क्षेपे ।
१६७५ मृषिण् तितिक्षायाम् ।
१६७६ शिषण् असर्वोपयोगे ।
(विपूर्वो अतिशये ।)
१६७७ जुषण् परितर्कणे ।
१९७८ धृषण् प्रसहने ।
१९७९ हिंसुण् हिंसायाम् ।
१६८० गर्हण् विनिन्दने ।
१६८१ षहण् मर्षणे ।

❀ बहुलमेतन्निदर्शनम् ।

वृत् युजादिः परस्मैभाषाः

।। इत्याचार्यहेमचन्द्रानुस्मृता चुरादयो णितो धातवः ।।

❀ यदेतद् भवत्यादिधातुपरिगणनं तद्बाहुल्येन निदर्शनत्वेन ज्ञेयम् । तेनाऽत्राऽपठिता अपि क्लविप्रभृतयो लौकिकाः, स्तम्भूप्रभृतयः सौत्राश्चुलुम्पादयश्च वाक्यकरणीया धातव उदाहार्याः । वर्धते हि धातुगणः—

(क्लविप्रभृतयो लौकिका धातवः)
१६८२ क्लवि विच्छायीभवने ।
१९८३ क्षीङ्च् क्षये ।
१६८४ मृगच् अन्वेषणे ।
१९८४ मृगच् अन्वेषणे ।
(स्तम्भूप्रभृतयः सौत्रा धातवः)
१९८५ स्तम्भू १९८६ स्तुम्भू

१९८७ स्कम्भू १९८८ स्कुम्भू रोधनार्थाः ।
१९८९ कगे । क्रियासामान्यार्थोऽयमित्येके । अनेकार्थोऽयमित्यन्ये । (सौत्रः)
१९९० जुं गतौ । (सौत्रः)
१९९१ कण्डूग् गात्रविघर्षणे ।

१९९२ महीङ् वृद्धौ पूजायाञ्च ।
१९९३ हृणीङ् रोष-लज्जयोः ।
१९९४ वेङ् धौर्त्ये पूर्वभावे स्वप्ने च ।
१९९५ लाङ् वेङ्वत् ।
१६६६ मन्तु रोष वैमनस्ययोः ।
१९९७ वल्गु माधुर्य-पूजयोः ।

१९९८ असु मानसोपतापे ।
(अत्र असू असूग् इत्येके । अन्ये तु असूङ् दोषाविष्कृतौ रोगे चेत्याहुः ।)
१९९९ वेट् २००० लाट् वेङ्वत् ।
(लाट् जीवने इत्येके । वेट्लाट् इत्यन्ये ।)
२००१ लिट् अल्पार्थे कुत्सायाञ्च
२००२ लोट् दीप्तौ ।
(लेट् लोट् धौत्यै पूर्वभावे स्वप्ने चेत्येके । लेला दीप्ताविति केचित्)
२००३ उरस् ऐश्वर्ये ।
२००४ उषस् प्रभातीभावे ।
२००५ इरस् ईर्ष्यायाम् ।
(इरज् इरग् इत्यपि केचित्)
२००६ तिरस् अन्तर्द्धौ ।
२००७ इयस् २००८ इमस्
२००९ पयस् २०१० अस् प्रसृतौ ।
२०११ सम्भूयस् प्रभूतभावे ।
२०१२ दुवस् परिताप-परिचरणयोः ।
२०१३ दुरज् २०१४ भिषज् चिकित्सायाम् ।
२०१५ भिष्णुक् उपसेवायाम् ।
(भिष्णज् उपसेवायामित्येके)
२०१६ रेखा श्लाघा-सादनयोः ।
२०१७ लेखा विलास-स्खलनयोः ।
(अदन्तोऽयमित्यपरे ।)
२०१८ एला २०१९ वेला
२०२० केला २०२१ खेला विलासे
(इला इत्यन्ये । खल इत्येके ।)

२०२२ गोधा २०२३ मेधा आशुग्रहणे ।
२०२४ मगध परिवेष्टने ।
(नीचदास्ये इत्यन्ये ।)
२०२५ इरध २०२६ इषुध शरधारणे ।
२०२७ कुसुभ क्षेपे ।
[श्रीहैमशब्दानुशासने 'कुषुम्भ' इति, क्रियारत्नसमुच्चये च 'कुरुरु क्षेपे' इति पाठः ।]
२०२८ सुख २०२९ दुःख तत्क्रियायाम् ।
२०३० अगद निरोगत्वे ।
२०३१ गद्गद वाक्स्खलने ।
२०३२ तरण २०३३ वरण गतौ
२०३४ उरण २०३५ तुरण त्वरायाम् ।
२०३६ पुरण गतौ ।
२०३७ भुरण धारण-पोषण-युद्धेषु
२०३८ चुरण मति-चौर्ययोः ।
(हैमशब्दानुशासने-'चुरण' इति)
२०३९ भरण प्रसिद्धार्थः ।
२०४० तपुस २०४१ तम्पस् दुःखार्थः ।
(तन्तस पम्पस इत्यन्यत्र) ।
२०४२ अरर आराकर्मणि ।
२०४३ सपर पूजायाम् ।
२०४४ समर युद्धे ।
।। इति कण्ड्वादयः ।।
२०४५ अन्दोलण्
२०४६ प्रेरङ्खोलण् अन्दोलने ।
४०४७ वीजण् वीजने ।
[एते त्रयोऽप्यदन्ताः]।

२०४८ रिखिलिखेः समानार्थः ।
२०४९ लुक कम्पने ।
२०५० चुलुम्प विनाशे ।

सौत्रधातुव्याख्या–

क्रियावाचित्वे सति पाठाऽपठितत्वे सति सूत्रगृहीतत्वं सौत्रत्वम् ।

अर्थ–जो क्रियावाचक हो, धातुपाठ में नहीं कहे गए हो और सूत्र में जिनका ग्रहण नहीं हुआ हो उन्हें **'सौत्रधातु'** कहते हैं ।

वाक्यकरणीयधातुव्याख्या–

क्रियावाचित्वे सति पाठापठितत्वे सति सूत्रागृहीतत्वे सति शिष्टप्रयोगप्रयोज्यग्रहविषयत्वं वाक्यकरणीयत्वम् ।

अर्थ–जो क्रियावाचि हो, धातुपाठ में अपठित हो और सूत्र में ग्रहण नहीं किए हो, फिर भी शिष्टप्रयोग से प्रयोज्य ज्ञान के विषय हो उन्हें **वाक्यकरणीयधातु** कहते हैं ।

लौकिकधातुव्याख्या–

क्रियावाचित्वे सति पाठापठितत्वे सति सूत्रागृहीतत्वे सति केवललोकप्रयुक्तत्वं लौकिकत्वम् ।

अर्थ–क्रियावाचक होने पर भी धातुपाठ में अपठित हो, सूत्र में अगृहीत हो और केवल लोक में प्रयुक्त हो उसे **'लौकिकधातु'** कहते है ।

।। इति कलिकालसर्वज्ञश्रीहेमचन्द्राचार्यविरचितधातुपाठः समाप्तः ।।

——

शुद्धि-पत्र

अशुद्धि	शुद्धि	पेज नं.	पं. नं.
कारोदयो	कारादयो	१	१७
तस्यासवर्थो	तस्यासावर्थो	२	२१
विभागावात्	विभागाभावात्	३	१८
कर्त्तु मित्यादिषु	कर्त्तु मित्यादिषु साध्ये	४	२
कृते	प्रकृते	४	३०
परिच्छन्नेति	परिच्छिन्नेति	५	५
उत्सुसुकायते	उत्सुसुकायिषते	५	३१
सीष्ठ	सीष्ट	७	२०
स्यत्	स्यत	८	९
शब्दपरा–	शब्दस्पर्धात् परा–	८	२४
मात्राशय	मात्राश्रय	९	३
भवता, भवती ।	भवता शयनीयम्, भवता	११	८
प्रतिपादित्वात्	प्रतिपादितत्वात्	११	३१
शयनः	शयानः	१२	१०
अपौन	अथ पौन	१३	१४
कर्तात्मने	कर्तर्यात्मने	१३	१९
परा	परि	१४	१२
कत	कर्त	१६	१२
भुङ्क्ते, परि	भुङ्क्ते, उपभुङ्क्ते, परि	१७	८
निर्देश	निर्देशो	१७	११
समवाययि	समवायि	१९	२
क्रोधरया	क्रोधजया	१९	६
ददाति	ददाति, प्रददाति	२२	६
लेशषः	श्लेषः	२३	१७
गणाते	गृणाते	२४	२८
सूत्रं	सूत्रं न	२६	१८
चिकर्षति	चिकीर्षति	२६	३०
कर्तया	कर्तर्या	२९	४६
स्मरसि, केनो । केनोल्लेखेन सभविष्याव इति वाक्यस्याप्यकर्मकत्वम् । स्वमते त्वभिजानासि किं तत् संभविष्याव इति वाक्यकर्मत्वान्नात्मनेपदं इति शब्दोऽध्याहर्त्तव्यः । कोपपराङ्मुखीति । तन्मतेऽजाहं जाने केनोल्लेखेन ।		३०	२४
शब्दं	शब्दे	३१	१६
ङ्गति	इङ्गेति	३१	२८
चेतयति	सेचयति	३२	२५
गमयते	गणयते	३३	२
इति	इति तु	३३	२३
शब्दात्	शब्दात्, सहार्थे	३५	३०
ज्यायस्त्वम्	ज्यायस्त्वात्	३९	२
तष्टु	तुष्टु	४०	१५
पङ्	यङ्	४१	६
दिकत्वेन	दिकत्वेन शविषयत्वात्	४१	१०
व्याकुल्वे	व्याकुलत्वे	४१	१८
शृशा	भृशा	४४	५
भृशब्देन	भृशशब्देन	४४	३०
मपादाय	मुपादाय	४५	२०
चंक्रपीति	चंक्रमीति	४६	१०

शुद्धि	अशुद्धि	पेज नं.	पं. नं.
भृष्	भूष्-	४७	२०
भर्त्सिण्	भर्स्तिण्	४७	२९
मृण्	मृजौण्	४८	२१
बाधते	बाध्यते	५०	२
किची	चिकी	५०	११
किम्	क्विप्	५१	११
दुपादानं	दुपमादानं	५१	२९
उद्गोर्य	उद्गीर्य	५४	१२
कोटो	कीटो	५४	१३
मुद्रमति	मुद्वमति	५४	१७
परिधार्जने	परिधानार्जने	५६	१२
षष्ठो	षष्ठी	५६	२४
पुत्रो	पुत्री	५६	२६
तीत्याष्व	तीत्यादिष्व	५९	६
नियम	नियमा	५९	२७
श्लेशीत्	श्लेषीत्	६२	२२
शिलक्षन्त	शिलक्षत	६२	२५
कर्तय	कर्तर्य	६३	२५
वृद्धि	वृंद्धि	६४	१८
अस्तुभत्	अस्तुभवत्, अस्तुम्भीत्	६५	१३
खङ्	त्वङ्	६५	१५
पुषच्	पुसच्	६७	२६
भ्रमूच्	भ्रमूच्	६७	२८
शिता	शिती	६८	१३
प्रत्यये	प्रत्ययो	६८	२३
गुधश्	गुधश्, बन्धंश्	६९	२२
स्कनुंगश्	स्कुंगश्	६९	१९
गुरति	गुरैति	७०	१५
कशूल	कुशूल	७१	१८
भित्सात्	भित्सीत्	७४	२८
द्रण्डी	दण्डी	७५	२
एकत्सूत्रं	एतत्सूत्रं	७७	२५
कारियत्व	कार्यित्व	७८	१४
चश्चोत	चुश्चोत	८७	८

अशुद्धि	शुद्धि	पेज नं.	पं. नं.
लालस्ये	लालस्यते	८७	१२
चलीक्कृप्यते	चलीक्लृप्यते	८९	२४
दृपद	दृषद	९२	२६,२७
कषि	कपि	९२	२७
तस्पशेर:	तृस्पशेर	९३	१०
तयाऽस्यो	तयाऽस्य	९४	१२
भज्यते	भृज्ज्यते	९७	२५
तन्मत	तन्मते	९९	२८
तद्वनि	तद्वति	१००	२८
यवाग्:	यवागूः	१०२	२
कृति	कृते	१०४	१०
पिधूच्	षिधूच्	११०	१६
विलालयति	विलाययति	१११	१४
वत्य	वृत्य	११२	१२
श्लेषयति	श्लेपयति	११२	२७
हीं	ह्रीं	११२	२७
क्रूयि	क्नूयि	११२	२७
क्रोप	क्नोप	११२	२८
व्ययति	व्यथयति	११३	१२
वेषने	वेष्टने	११३	३०
दयमति	दमयति	११४	२५
दुपात्त्य	दुपान्त्य	११७	६
उदुदुषा	उद्दुषों	१२०	१०
विगलित	विलगित	१२१	२५
विगल्यते	विलग्यते	१२१	२५
वनपण	वनषण	१२४	१२
मेषां	इदमेषां	१२८	२
स्य	स्थ	१३२	१७
इवं	इत्वं	१३४	२३
लोपे	लोपेऽनेन	१३६	३
सीदति	सीदति,सीदन्	१३६	१७
तिच्	तिव्	१४२	३१
संग्रा	संग्र	१४३	१२
तृषित्वा	तर्षित्वा	१४६	२५
कृपीष्ट, ह्वपीष्ट	कृषीष्ट ह्वषीष्ट	१४९	३०

अशुद्धि	शुद्धि	पेज. नं.	पं. नं.
धु	ध्रु	१५१	२५
मिलि	सिचि	१५२	३०
बघते	वधते	१५४	१३
पूर्वस्य	वि पूर्वस्य	१५५	२
ककारा	रुकारा	१५६	१७
पिग	पिब	१५७	१६
स्या	स्था	१५७	२०
घ्राशा	घ्राशा० सों सें वेति	१५८	७
कसा	ववसा	१६०	२५
मूच्यिता	सूच्यिता	१६१	२५
स्थात्तदा	स्यात्तदा	१६१	२६
सकरादौ	सकारादौ	१६४	१७
ह्य भयो:	ह्यु भयो:	१६७	३२
विशेषण	विशेषेण	१६८	६
च्वो	च्वौ	१६८	२१
थथा	यथा	१६८	२९
वृप	वृष	१६९	७
सयज:	समज:	१७०	२७
भूज्यते	भृज्यते	१७१	२५
श्वादि	श्ववादि	१७२	३१
यवा	यबा	१७४	२१
शदप:	शदृप्र:	१७५	१२
पूङौ	षूङौ	१८०	२३
अनात्मेनाम्	अनात्मने	१८६	२७
विषश्	विषश्, पुषंच् पुषश्	१८७	२१
संवनूद्धा	संबनूद्धा	१८८	१२
वुधिच्	बुधिच्	१८८	१२
तुसंच्	तुषंच्	१८८	२६
वृगत्र्	वृगश्	१८८	३६
त्रिक्ष्विदाच् वा स्वेदिता, ञिक्ष्विदाङ्	ञिक्ष्विदाङ् ञिक्ष्विदाच् वा स्वेदिता	१८९	४
सुधी	क्षुधी	१८९	१८

अशुद्धि	शुद्धि	पेज नं.	पं. नं.
उद्दन्ता	उद्दन्त	१८६	११
युजि	युंजि	१८६	१४
लस्जौ	लस्जै	१९०	१२
२-३-६३	२-३-६३ इतिणः 'तवर्गस्य'	१९०	३१
जिहेषु	जिह्वेषु	१९२	३१
जुहति	जुह्वति	१९२	३१
वणत्व	वणत्वं	१९४	११
वणत्वं	वर्णत्वं	१९४	११
चत्र:	चैत्र:	१९४	२१
कसो	क्वसो	१९७	६
वमयोनि	वमयोर्नि	१९७	१४
वभू	बभू	१९७	१२
प्रतिकीर्ण	प्रतिकीर्णं, उपकीर्ण	२०१	२
प्रात्त	प्रात्तु	२०१	१८
ङनि	ङ्वनि	२०५	१३
पून्वु:	पून्यु:	२०७	११
कृतैत् वा	कृतैत् कृतैप्वा	२०७	२५
कत्तयव	कर्त्तयेव	२०८	२४
ममेन	मनेन	२०९	१६
धावत	धातव	२१०	७
चरु:	वरु:	२११	१६
क्रिया व्य- तिहारे	क्रियाव्य- तिहारे द्योतिते	२१२	३०
राजा	राज्ञा	२१३	२४
या	य	२१८	४
सवदमन:	सर्वदमन:	२२०	१३
अव्याहारी	अव्याहारी, असंव्याहारी	२२०	२५
मिन्त्र	मित्र	२२४–१०–११–१२	
निर्वत्य	निर्वर्त्य	२२४	१९
द्वारपाल	द्वारपाल:	२२४	२१
अङ्ग	अङ्गु	२२५	२५

अशुद्धि	शुद्धि	पेज नं.	पं. नं.
भोजन	भाजन	२२६	१५
घृतम्	घृतम्	२२७	७
छत्रधार	छत्रधारः	२२६	६
अनुद्यमे-अंशहरो दायादः	अंशहरो दायादः, अनुद्यमे	२२९	१२
ऐम्यो	एम्यो	२३२	२
प्रियंभावुकः,	प्रियंभावुकः, अन्धभविष्णु अन्धं भावुकः	२३५	७
नाग्नी	नग्नी	२३५	२०
हस्ती	मुनिः	२३६	१४
भित्	भित् प्रभित्	२४०	७
खरनादी	खरनादी, सिहनादी	२४१	२३
रम्ये	रभ्ये	२४३	१९
६-१-१४८	५-१-१४८	२४३	२६
ऽर्थे	ऽर्थे वर्तमानात्	२४५	२९
कुर्व्वन्	कुर्वन्न	२५०	२७
पर्षं	वर्षं	२५२	३
वतिष्णु	वर्तिष्णुः	२५९	१२
चाल	चल	२६२	१६
घिणन्	घिनण्	२६६	५
इत्यत	इत्यत्र पचिधातोः	२६९	१३
धीः	धीः, सुधीः	२७०	९
सहाऽतेः	सहाऽर्तेः	२७१	११
तीर्यति	तीर्यति	२७१	१५
रक्षतिः	रक्षितः	२७२	११
शृ	शॄ	२८१	२
५-३-६४	५-१-८३	२८३	२६
त्वडैव	त्वनडैव	२८३	१५
घा	वा	२८५	२
प्रकाणः	प्रक्वाणः	२८५	८
भिक्षः	भिक्षुः	२८६	१४

अशुद्धि	शुद्धि	पेज सं.	पं. सं.
आकायभग्निं	चितौ आकायभग्नि	२८९	३०
डित	ड्वित	२९१	६
संवरणं	संरवणं	२९२	५
श्वा	श्रवा	२९६	१६
तूतिः	तिर्तिः	२९७	१७
मूतिः	मूतिः, पचले: पूः पूतिः	२९७	१८
इति-	इति- प्रणुवन्त्यनेन	३०१	२०
प्रसादः	प्रासादः	३०२	७
तेन	तेन तस्मिन् वा	३०२	२१
भंयते	भूंयते	३०५	१८
भाव	भवा	३०६	१३
प्रबन्धा	तर्ह्यद्यतनः प्रबन्धा	३०८	१९
यत्	तत्	३०९	३
यच्च	यच्च यत्र	३१३	२४
विधिः	यतो विधिः	३१६	३१
स्पष्टाथः	स्पष्टार्थः	३१७	२९
स्प्त	स्म	३२०	१४
भुंङ्क्त	भुंङ्क्ते	३२४	२०
तावदुवतं	तावदुक्तम्	३२६	२
सूयसा	सूयया	३२६	११
दण्ड	दण्डै	३३२	२२
तहिं	तर्हि	३३६	१०
वृत्तेः	वृत्तौ	३३८	२५
उण	उण्	३३९	७
°विषैः°	°विशषै	३३९	१५
गुहिम्य,	गुहिभ्यः	३४०	१४
रर्जाषिः	राजर्षिः	३४१	७
°प्रत्र°	°पत्र	३४१	७
सृप्लृ	सृप्लृ	३४२	२७
विलन°	विलसन°	३४३	१

अशुद्ध:	शुद्ध	पेज नं.	पं. नं.	अशुद्धिः	शुद्ध	पेज नं.	पं. नं.
स्वम्भ°	स्तम्भ°	३४३	२८	स्वयथुः	श्वयथु:	३८८	२४
धु–यु	घु–यु	३४४	१४	भोक्षं	क्षोमं	३८९	१
झृष् च	जृष् च	३४९	५	एव	स एव	३८९	८
पृश्	पॄश्	३४९	६	डित:	डिम:	३९१	४
शृश्	शॄश्	३४९	८	°वस्यमि°	°वस्यनि°	३९१	२१
मृत्	मृंत्	३४९	१०	श्रां पाके	श्रैं पाके	३९२	२६
पूगतरु	पूगतरु:	३५०	१५	तषंच्	तुषंच्	४००	११
चते°	चूते°	३५१	२	क्षुद्रा°	क्षुद्र°	४०४	२९
नरम्	नगरम्	३५३	५	अक्षर्वा	अक्षेर्वा	४०५	१३
उष्	उषू	३५४	२३	भ्रास्जींत्	भ्रस्जींत्	४०६	२८
गृत्	गॄत्	३६३	९	भाष्ट्रम्	भ्राष्ट्रम्	४०६	२८
क्रोडाडय:	क्रोडादय:	३६५	१०	विष्लृंको	विष्लृंकी	४०६	३१
सूर्य; सारथि:	सूर्यसारथि:	३६८	२९	संरवणे	संवरणे	४०७	२२
वृश्	वॄश्	३६८	३०	लृप्लृंती	लुप्लृंती	४०७	२३
कृत्	कॄत्	३६८	३०	पुष्टा	पुष्टौ	४१४	२८
वृजिनम्	वृजनम्	३७९	२२	कर्मकृता	चर्मकृता	४३४	२५
युजॄंपी	युजॄंपी	३८०	९	°लौह°	°लोह°	४४३	२७
धेयम्	धैर्यम्	४७८	६	परम°	परमे°	४४३	३१
ताम्यते°	ताम्यते°	३८५	२९	अजे°	अर्जे°	४४४	२०
गत्	गॄत्	३८६	२८	वंस	वसं	४५१	१७